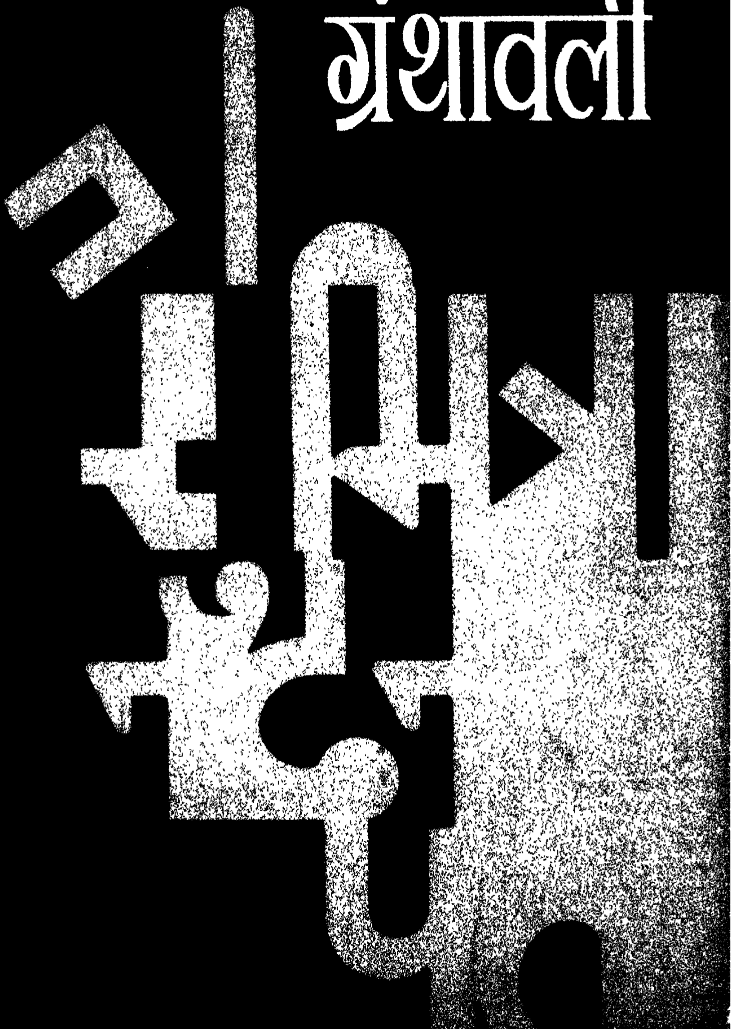
6

सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली



ग्रंथावली के इस छठे खंड में पंतजी की मात्र गद्य रचनाएँ समाविष्ट हैं। इनसे उनके गद्य-लेखन का शिल्प ही स्पष्ट नहीं होता बल्कि उनकी वैचारिकता पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। **पाँच कहानियाँ** की पाँचों कहानियों में कवि-मन की वे ऊर्मिल आकांक्षाएँ ध्वनित हुई हैं जो 'ज्योत्स्ना' और 'गुंजन' जैसी कृतियों की सृजन-प्रेरणा के केन्द्र मे हैं। ये कहानियाँ जड़ीभूत सामाजिक यथार्थ का कलात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करती हैं। **छायावाद : पुनर्मूल्यांकन** के निबन्ध अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं, क्योंकि एक ऐसे कवि की लेखनी ने वह मूल्यांकन प्रस्तुत किया है जो स्वयं छायायुग का एक प्रवर्तक है। ये निबन्ध आधुनिक हिन्दी कविता के प्रति सही समझ जगाने में सक्षम हैं। **साठ वर्ष : एक रेखांकन** पंतजी के उन संस्मरणात्मक निबन्धों का संग्रह है जिनमें उन्होंने अपना साठ-वर्षीय जीवन-वृत्त रेखांकित किया है। ये निबन्ध उनकी 'साठ वर्ष और अन्य निबन्ध' की पुस्तक से लिये गए हैं। उक्त पुस्तक के शेष निबन्धों तथा 'शिल्प और दर्शन' और 'कला और संस्कृति' नामक पुस्तकों के सारे निबन्धों को ग्रथावली के इस खंड में एक साथ **निबन्ध** शीर्षक के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है। सभी निबन्धों मे विषय-सन्दर्भ की दृष्टि से एक क्रमबद्धता लाने का प्रयास किया गया है। इनसे आधुनिक कविता के अनेक रहस्यों का उद्घाटन होता है तथा कवि की रचनात्मक दृष्टि सुस्पष्ट होती है।

ग्रंथावली के इस छठे खंड
रचनाएँ समाविष्ट हैं। इन
शिल्प ही स्पष्ट नहीं होता
पर भी पर्याप्त प्रकाश प
की पाँचों कहानियों में
आकांक्षाएँ ध्वनित हुई हैं ज
जैसी कृतियों की सृजन-प्रे
कहानियाँ जड़ीभूत सामाजि
विश्लेषण प्रस्तुत करती हैं।
के निबन्ध अपना ऐतिह
क्योंकि एक ऐसे कवि की
प्रस्तुत किया है जो स्वयं
है। ये निबन्ध आधुनिक
सही समझ जगाने में स
रेखांकन पंतजी के उन स
संग्रह है जिनमें उन्होंने अप
रेखांकित किया है। ये
और अन्य निबन्ध' की
उक्त पुस्तक के शेष नि
दर्शन' और 'कला और
के सारे निबन्धों को ग्रंथ
साथ निबन्ध शीर्षक के
गया है। सभी निबन्धों
से एक क्रमबद्धता लाने
इनसे आधुनिक कवित
उद्घाटन होता है तथा
सुस्पष्ट होती है।

सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली

खण्ड : छह

सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली

खण्ड : छह

पाँच कहानियाँ   छायावाद : पुनर्मूल्यांकन
साठ वर्ष : एक रेखांकन   निबन्ध



राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली   पटना

मूल्य :
प्रति खड   रु 600 00
सात खडो का राम्पूर्ण सैट . रु. 4200.00

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.
1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग
नई दिल्ली-110 002

मुद्रक : बी.के. ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

आवरण : नरेंद्र श्रीवास्तव

SUMITRANANDAN PANT GRANTHAVALI
Collected works of Shri Sumitranandan Pant

ISBN : 81-267-0994-4
ISBN : 81-267-0987-1 सम्पूर्ण सैट

अनुक्रम

अनुक्रम : पुस्तक-क्रमानुसार

पाँच कहानियाँ

पानवाला

यह पानवाला और कोई नहीं, हमारा चिर-परिचित पीताम्बर है। बचपन से उसे वैसा ही देखते आये हैं। हम छोटे लड़के थे—स्थानीय हाई स्कूल में चौथे-पाँचवें क्लास में पढ़ते थे। मकान की गली पार करने पर सड़क पर पहुँचते ही जो सबसे पहली दूकान मिलती, वह पीताम्बर की। हम कई लड़के रहते, मास्टरों से लुक-छिपकर वहाँ पान का बीड़ा खाते कुछ दूकान के अन्दर आलमारी की आड़ में खड़े-खड़े सिगरेट-बीड़ी की भी दो-चार कश लेते; पर मुख्य आकर्षण की सामग्री पीताम्बर की दूकान में आलू और मिठाइयाँ रहतीं। कभी-कभी वह स्कूल से लौटने तक हम लोगों के लिए औटाये हुए दूध में केले मिलाकर रखता, कभी रबड़ी बना देता। स्कूल से लौटने पर थका-माँदा, भूख से व्याकुल हम लोगों का दल टिड्डियों की तरह पीताम्बर की दूकान पर टूट पड़ता, कोई मिठाई और रायता खाता, कोई कचालू, मटर, दूध-केला, रबड़ी इत्यादि। पान खाना, बीड़ी-सिगरेट फूक लेना भी किसी-किसी के लिए आवश्यक हो जाता था। घर में हमारी उम्र के लड़कों को ये नियामतें कहाँ नसीब हो सकतीं? पीताम्बर हमें हँसाता, बहलाता, खुद हँसता, परिहास करता और थोड़ी-बहुत छेड़खानी करने एवं ताना मारने में भी न चूकता। हममें से सभी को घर से पैसे तो मिलते न थे, हम उधार खाते और पीताम्बर को भी खिलाते। वह हम लोगों का दोस्त था, वह सभी का दोस्त था—छोटे, बड़े, बच्चे, बूढ़े सभी से वह परिहास करता, उन पर मीठी फबतियाँ कसता और सबको खुश रखता।

पीताम्बर तब किस उम्र का था, अब किस उम्र का है, यह बात हम तब भी नहीं जानते थे, अब भी नहीं जानते। उससे पूछने का किसी को साहस भी हो? वह तो सबको हँसी में उड़ा देता है। ऐसी खरी-खोटी सुनाता, ऐसे ताने और व्यंग-बाण मारता है कि अपने व्यक्तित्व को, निजी याद को, पास ही नहीं फटकने देता। लोग हँसकर, घिघिया-कर, खिसियाकर, कुढ़कर चुप हो जाते हैं। दूसरे ही क्षण वह उन्हें फिर खुश कर लेता है। वह कैसा ही आत्माभिमानी हो; परन्तु यह कभी नहीं भूलता कि उन्हीं लोगों से उसकी गुजर चलती है, लेकिन पीताम्बर को हो क्या गया?—

तब से बीस साल बीत गये, हममें से बहुतों की शादियाँ और बाल-बच्चे भी हो गये, मित्र लोग कालेज की डिग्रियाँ लेकर बड़े-बड़े ओहदों पर पहुँच गये, भारी-भारी वेतन पाने लगे; कइयों ने कोठियाँ खड़ी कर दीं, मोटर गाड़ियाँ खरीद लीं,—पर पीताम्बर! पीताम्बर वैसा ही

रह गया है। तब कौन जानता था कि हमारे ही लिए विधाता ने भविष्य बनाया है, पीताम्बर के वास्ते भविष्य-सी किसी वस्तु का आविष्कार नहीं हुआ है, अथवा वह भूत, भविष्य और वर्तमान से अतीत है। सावन सूखा न भादों हरा। अर्थशास्त्र के नियमों के लिए तो उसकी दूकान अपवाद थी ही, पर क्या प्रकृति के नियमों ने भी उसके लिए बदलना छोड़ दिया है ? किसी तरह का भी तो बदलाव उसमें इन बीस सालों में नहीं आया—लेशमात्र नहीं, चिह्न तक नहीं। वही आकृति, वही प्रकृति, वही कद, वही आदतें और वही दूकान !—किसी में भी उन्नति-अवनति के कोई लक्षण नहीं। वह अब आलू और मिठाई नहीं रखता, तो इसलिए कि मुहल्ले में अब वैसे चटोर, खाने के शौकीन लड़के ही नहीं रह गये। लेकिन पान, सुपारी, सिगरेट, बीड़ी—अब भी उसी प्रकार, उन्हीं जगहों पर दूकान में रक्खे हैं। चूने-कत्थे के बर्तन भी वही पुराने पहचाने हुए हैं। चूने की लकड़ी घिस-कटकर पतली पड़ गयी है, कत्थे की पपड़ी जम जाने से और भी मोटी हो गयी है। दूकान के बीचो-बीच वही पुराना लैम्प टँगा है जो उसके किसी मित्र की इनायत है, चिमनी के ऊपर का भाग टीन की पत्ती का बना हुआ है। सामने एक मझोले आकार का शीशा लगा है, जिसके पारे में धब्बे और चकत्तियाँ पड़ जाने के कारण काँच के पीछे से बीच में द्रौपदी का तिरछा रंगीन चित्र चिपका दिया गया है। अन्दर के कमरे में मूंज की एक चारपाई और बिस्तरा, खूंटी पर टँगा कोट, सिगरेट-दियासलाई के खाली डिब्बे, एक लोहे की अँगीठी और कुछ चाय का सामान रहता है, बाहर वही पुराना काठ का बेंच पड़ा है, जिस पर सुबह, शाम, दोपहर हर वक्त, दो-चार दोस्त लोग बैठे गप-शप करते, एक-दूसरे की खिल्ली उड़ाते और शहर-भर की बुराइयों एवं खराबियों की चरचा करते हैं। उस बेंच से नित्य नयी अफ़वाहों का आविष्कार एवं प्रचार होता, न जाने कितनी स्त्रियों की कलंक-कथाएँ, युवकों-रसिकों की लीलाएँ, भाग्यों के बनने-बिगड़ने के खेल, जन्म-मृत्यु के समाचार, गाँव, शहर, देश, एवं विश्व के इतिहास का प्रवाह आने-जानेवालों के मुखों से निस्सृत हो पीताम्बर के कर्ण-कुहरों में जाह्नवी की तरह समा गया उसका क्या पता, क्या पार ? वही उसका मानसिक भोजन है, जो उसकी अस्थि, रक्त, मज्जा, मांस बन गया है।

अपने लड़कपन के मित्रों के साथ उसकी एक तस्वीर है जो दूकान में गद्दी के ऊपर लटकी रहती है। कोई भी उस चित्र के गोल, सुडौल, भरे हुए मुख को, अंगों की गठन, बनाव-शृंगार को देखकर यह नहीं विश्वास करेगा कि वह यही पीताम्बर है ! वह यह पीताम्बर है भी नहीं। वह सोलह-सत्रह साल का, यूनीफ़ार्म पहने, हाथ में हाकी की स्टिक लेकर, अकड़कर, कुर्सी पर बैठा अमीरों और रईसों का अमीरदिल मित्र इस तंगदिल कोठरी में बैठा हुआ गरीब पनवारी कैसे हो सकता है ? उसकी गोल चमकदार आँखों में गर्व और चालाकी भरी है; दृष्टि-गरिमा बाहर को फूट रही है, इसकी आँखें धँसी हुईं, लाल डोरों से भरी, छिलका निकाल देने पर पिचकी हुई लीची की तरह गँदली, करुणा, क्षोभ, प्रतिहिंसा बरसा रही हैं। उनके कोनों में कौओं के पंजे

बन गये हैं। उस सोलह साल के नवयुवक के मुखमण्डल पर सुख-सौकुमार्य, स्वास्थ्य, आशा और उत्साह की आभा है, इस अधेड़ का मुख—जिसकी उम्र तीस से पचास साल तक कुछ भी कही जा सकती है—दुःख, दारिद्र्य, निराशा, आत्मपीड़न, असन्तोष का भग्न जीर्ण खण्डहर है। गालों की गोल रेखाओं को संसार ने नींबू की तरह चूसकर टेढ़ा-मेढ़ा विकृत कर दिया है। दुःख से काटे हुए रात-दिन के शेष चिह्नों की तरह बेमेल स्याह, सुफ़ेद, घनी दाढ़ी-मूछों ने—जिन्हें हफ्ते में एक बार बनाने की भी नौबत नहीं आती—उस सोलह साल के फूल को सुखाकर, काँटों की झाड़ी से घेर लिया है। दुर्भाग्य के स्रोत की शीर्ण शुष्क धाराओं की तरह, सिकुड़े हुए भाल पर गहरी चिन्ता की रेखाएँ पड़ गयी हैं। नीले मुरझाये हुए ओठों के दोनों ओर नाक से मिली हुई दो लकीरों ने मनचाहा खाना न मिलने के कारण अनावश्यक मुख को दोनों ओर से दो घेरों में बन्द कर दिया है। मुख का रंग धूप से जलकर काला पड़ गया है, और उसका प्रत्येक चर्म-अणु सूजी के दाने की तरह शोक-ताप में पककर फूल गया है। रोड़े की तरह गले में अटकी हुई हड्डी मांस के सूख जाने से बाहर निकल आयी है। वह चित्र भले ही हो, वास्तविक पीताम्बर यही है। दुबला, नाटा, अविकसित हड्डियों का ढाँचा यह पीताम्बर—उसकी कलाइयाँ दो अंगुल से अधिक चौड़ी नहीं, वे भी जैसे कसकर तंग चमड़े में बाँध दी गयी हों। उसके इकहरे जीर्ण चमड़े के अन्दर से चरबी का अस्तर कभी का गायब हो चुका है। रक्तहीन हाथों में नीली-नीली फूली नाड़ियाँ और हथेलियों में चूने-कत्थे से कटी रेखाओं की जालियाँ पड़ गयी हैं। दुःख, दैन्य और दुर्भाग्य के जीवन-प्रवाह के तट पर ठूँठ की तरह खड़ा उसके तीक्ष्ण, कटु आघातों से लड़ता हुआ पीताम्बर उस अभाव-वाचक स्थिति पर पहुँच गया है, जहाँ उस पर आशा, तृष्णा, लोभ, जीवनेच्छा, सौन्दर्य, स्पर्धा, मोह, ममता, उम्र आदि भाववाचक विभूतियों के अत्याचार-उत्पात का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। वर्तमान मनुष्यता, सामाजिकता, नैतिकता, धर्म, आचार, रूढ़ि-रीतियों की कला का वह एक साधारण नमूना मात्र है। अपने देश के वर्तमान जीवन ने कुशल कलाकार की तरह भिन्न-भिन्न अवस्थाओं एवं परिस्थितियों की कूचियों से उसमें रूप, रंग, रेखाएँ भरकर उसे हमारी पैशाचिकता, पशुत्व, अन्धकार का निर्मम सजीव चित्र बना दिया है। उस षोडशवर्षीय किशोर का चित्र इस चित्र से कैसे मिल सकता है? वह सब समय की मानवीय प्रकृति की कला का नमूना था, यह हमारी इस समय की सभ्यता की मानवीय विकृति का नमूना है।

पीताम्बर जात का तम्बोली नहीं, वह अच्छे घराने का है। छुटपन में ही माँ-बाप के मर जाने के कारण पीताम्बर अयाचित स्नेह के संरक्षण से वंचित हो गया। उसके भाई को, जो उससे पाँच साल बड़ा था, यह समझते देर नहीं लगी कि अब उसे दूसरों की चापलूसी, खुशामद कर, उनकी करुणा, दया को जाग्रत कर, उनके स्वभाव और इच्छाओं को अपनाकर, दूसरों की बुरी वृत्तियों के सामने अपनी अच्छी प्रवृत्तियों का बलिदान कर, दबकर, सहकर, कुटकर, पिसकर जीवन निर्वाह करना

है। मुक्ति-श्रेयी माँ-बाप उसकी शादी कर गये थे। एक असहाय, मूक, पंगु, अपढ़, अन्ध-विश्वासों से निर्मित मांस की लोथ, निष्प्राण, पतिप्राण सती का भार उस पर था। इसलिए लाचार हो वाणी में दीनता, आँखों में याचना, होंठों में शरमायी हुई करुण हँसी भरकर सबके सामने आँखें झुकाना, माथा नवाना सीखकर यज्ञदत्त ने अपना स्वरूप बदल डाला। पड़ोस और शहर के लोग उसकी नम्रता, सेवा तत्परता पर मुग्ध हो गये, उसे जिला बोर्ड में दफ्तरी का काम दिला दिया। पन्द्रह रुपये वेतन मिलता, जिसमें चार प्राणी किसी तरह जीवन व्यतीत करते। यज्ञदत्त में कोई खास बात न थी, वह जैसे ऐसे ही छोटे-मोटे काम के लिए बना था।

पर इसी यज्ञदत्त का भाई, उन्हीं माँ-बाप की दरिद्र कोख से पैदा हुआ पीताम्बर अपने आत्माभिमान को न छोड़ सका, वह उस निर्धन घर का अमीरदिल प्रकाश था। उसके वैसे ही संस्कार थे। सृष्टिकर्ता ने उसे निर्माण करने में किसी प्रकार का संकोच या संकीर्णता न दिखायी थी। प्रकृति ने रईसों के लड़कों को और उसे समान-रूप से अपने मुक्तदान, अपनी गुप्त शक्तियों का अधिकारी बनाया था। उसके स्वभाव मे आत्मसम्मान प्रमुख, और इच्छाएँ गौण हो गयी थीं। किसी के सामने झुकना, किसी के रोब में आना उससे न हो सकता था। माँ को वह खो ही चुका था, जिसके हाथों का स्नेह-स्पर्श उसके अभिमान और हठीले स्वभाव के तीखे कोनों को कोमल, चिकना बना सकता। अभिमान केवल स्नेह के सामने झुक सकता है, उसे सहिष्णु साथी की जरूरत होती है। पर अपने भले-बुरे के ज्ञान से अनभिज्ञ उस गरीब के लडके को ऐसा कुछ भी न मिल सकने के कारण उसका अतृप्त अभिमान आत्म-निर्माण करने के बदले आत्म-संहारक हो गया। पीताम्बर उच्छृंखल, स्वतन्त्र तबियत का हो गया। आत्महीनता के पीड़ाजनक ज्ञान से बचने के लिए वह धनी युवकों से मित्रता स्थापित कर झूठा सन्तोष ग्रहण करने लगा। जीवनोपाय के लिए कोई हुनर, कोई उद्योग सीखने की ओर उसने कभी ध्यान ही नहीं दिया, जिससे पीछे उसे सच्चा सन्तोष मिल सकता। वह बड़ा तेज और होशियार था। बात की बात में शहर के अमीर लडकों को अपने वश में कर, उनकी स्नेह-सहानुभूति पर अधिकार प्राप्त कर, मौज उड़ाया करता। वह मनोरंजन के उन्हें नित्य नवीन उपाय बतलाता; जवानी की बहार लूटने को उत्साहित करता, उनमें साहस भरता और मुश्किल को आसान बनाकर अपने को उनके लिए आवश्यक बना लेता था। वह उनसे दबता न था, बराबरी का व्यवहार रखता था। उनके साथ पिकनिक में जाता, ताश खेलता, हाकी, फुटबाल, क्रिकेट में अपनी दक्षता दिखलाता, किसी के कुछ कहने पर या छेड़ने पर बिगड़ भी उठता। यदि वह वैसा उद्दण्ड, स्वतन्त्र एवं आत्माभिमानी न होता, और अपने मित्रों की जरा भी खुशामद कर सकता, तो आज वह फटेहाल न होता!

अमीरजादों के साथ ऐश-आराम में रहना सीखकर शीघ्र ही वह जीवन-संग्राम की कठिनाइयों को झेलने और कठोर परिश्रम कर सकने में अक्षम साबित हो गया। जवानी का खुमार उतरने और होश आने

पर उसने अपने को मोर के पर लगाये हुए कौए की तरह और भी दयनीय, कुरूप, एवं निकम्मा पाया। अपने भाई की गरीब गृहस्थी से, पास-पड़ोस से, शहर से और खुद अपने से उसे घृणा होने लगी, वह और भी चिड़चिड़ा, दुराग्रही, हठी, निन्दक, आत्म-घातक और परद्रोही हो गया। उसके धनी मित्रों ने भी, जिनके साथ रहकर उसे अनेक प्रकार की कुटेवें और बुरी आदतें पड़ गयी थीं, उसकी ऐसी दशा देखकर उसका साथ छोड़ दिया। वह न घर का रह गया न घाट का। चाय, पान, सिगरेट के लिए, सुस्वादु भोजन के लिए अब उसका जी तरसने लगा। सिनेमा, थियेटर उसे और भी जोर से अपनी ओर खीचने लगे। लाचार हो, अपने से तंग आकर उसने अपने गरीब भाई की जेब पर हाथ साफ करना शुरू किया। भाई उससे पहले से ही रुष्ट था, अब उसका ऐसा पतन देखकर उसने उसका घर में आना बन्द कर दिया।

सब तरह से निराश हो, अपमान, भय, लज्जा, क्षोभ, यातना, आत्म-सम्मान, दारुण भूख-प्यास से एक साथ ही ग्रस्त, पीड़ित, क्लान्त एवं पराजित हो अन्त में पीताम्बर ने एक तम्बोली की दूकान में पान लगाने की नौकरी कर ली, पर वहाँ भी वह अधिक समय तक न ठहर सका। उसकी कुटेवें उसका दुर्भाग्य बन गयी थीं। और एक रोज दूकान पर पान खाने को आयी हुई एक वेश्या के रूप-सम्मोहन के तीर से बुरी तरह घायल हो उसने शाम के वक्त चुपचाप गल्ले की सन्दूकची से पाँच रुपये का नोट चुराकर अपनी विपत्ति-निशा की कालिमा को एक रात के कलंक से और भी कलुषित कर डाला। उसका स्वास्थ्य अभी खराब नहीं हुआ था। उसके अविवाहित जीवन, सबल इन्द्रियों की स्वस्थ प्रेरणाओं का समाज अथवा संसार क्या मूल्य आँक सकता था, क्या सदुपयोग कर सकता था? फूल की मिलनेच्छा सुगन्ध कही जाती है, मनुष्य की प्रणयेच्छा दुर्गन्ध, उसे निर्मल समीर वाहित करता है, इसे कलुषित लोकापवाद। नर-पुष्प के वीर्य को गीत गाता हुआ भौंरा, नृत्य करता हुआ मलयानिल स्त्री-पुष्प के गर्भ में पहुँचा आता है, मनुष्य का वीर्य वैवाहिक स्वेच्छाचार की अन्धी कोठरियों, पाशविक वेश्याचार की गन्दी नालियों में, सहस्र प्रकार के गर्हित, नीरस, कृत्रिम, मैथुनों द्वारा छिपे-छिपे प्रवाहित होता है। यह इसलिए कि हम सभ्य हैं, मनुष्य के मूल्य को, जीवन की पवित्रता को समझ सकते है। असंख्य जीवों से परिपूर्ण यह सृष्टि एक ही अमर, दिव्य शक्ति की अभिव्यक्ति है, प्रकृति के सभी कार्य पुनीत हैं, मनुष्य-मात्र की एक ही आत्मा है — हम ऐसे-ऐसे दार्शनिक सत्यों के ज्ञाता एवं विधाता हैं, हम प्रकाशवादी हैं!

खैर, दूकान का मालिक पीताम्बर को पुलिस के हवाले करने जा रहा था, उसके बड़े भाई ने बीच-बचाव कर, हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाकर तम्बोली के रुपये भर दिये और पीताम्बर को धिक्कारकर, उस पर गालियों की बौछार कर, अन्त में लोगों के समझाने पर तरस खाकर उसके लिए निजी पान की दूकान खोल दी। तभी से हमारे कथानायक इस दूकान की गद्दी पर बैठकर पानवाले की उपाधि से विभूषित हुए। अवश्य ही वह कोई शुभ मुहूर्त रहा होगा कि उस पानवाले की गद्दी अभी तक बनी हुई है; भले ही वह नाम-मात्र को हो।

पर यहाँ से पीताम्बर का दूसरा दुर्भाग्य शुरू हुआ। वह क्रियाशील, निरंकुश पीताम्बर अब विचारशील और गम्भीर हो गया। उसका रुद्ध आत्माभिमान कुण्ठित हो गया; वह निर्जीव, निर्बलात्मा, निश्चेष्ट, अस्थि-मांस का पुतला मात्र रह गया। उसने यथाशक्ति अपने स्वभाव और प्रवृत्तियों के अनुसार अपने परिस्थितियों के संसार से लड़ने, जीवन-संग्राम में विजय पाने का प्रयत्न किया था, पर वह निष्फल हुआ,—ससार ने ही अन्त में उस पर विजय पायी।

क्या वह निर्धन युवक किसी भाग्य-दोष से या अपने दोष से निरंकुश, उच्छृङ्खल अथवा आत्माभिमानी था? क्या गरीब के लड़के मे ऐसे गुण शोभा नही देते? नही-नहीं, वह सुन्दर, स्वस्थ, सशक्त, सचेष्ट, आत्म-सम्मान से पूर्ण युवक गरीब का लडका कैसे हो सकता है? जब प्रकृति ने अपने सब विभवों से सँवारकर उसे धनी-मानी बनाया था। वह युवक अपना सौन्दर्य पहचानता था, अपने सुन्दर स्वस्थ शरीर के प्रभाव से वह अनजान न था, युवावस्था की प्रवृत्तियों ने उसके मन.चक्षुओं के सामने जो एक सौन्दर्य का स्वर्ग, आशा-आकांक्षाओं का इन्द्रजाल उछाल दिया था, अपने और संसार के प्रति जो एक प्रगाढ़ अनुरक्ति एवं उपभोग की सामर्थ्य पैदा कर दी थी,—उसकी अमन्द मादकता से, प्रबल आकर्षण से वह कैसे आत्म-विस्मृत न होता? बाह्य-जगत के जीवन-संघर्ष का आघात लगते ही उसकी सहज-प्रेरणा उसके अन्दर एक आत्मविश्वास पैदा करती रहती थी कि उसके अभिमान का, उसके अस्तित्व का मूल्य आँकनेवाला कोई मिलेगा; कोई अवश्य मिलेगा जो उसकी समस्त आशा, आकांक्षाओं के लिए, प्रवृत्तियों की चेष्टाओं के लिए मार्ग खोल देगा। उनके सौन्दर्य से वशीभूत होकर उन्हें चरितार्थ कर देगा, तृप्त कर देगा। प्रत्येक युवक के भीतर स्वभावतः यह स्फुरणा जन्म पाती है।

पर इस आत्म-सन्तोष के लिए धनी युवकों के पास जाना पीताम्बर की अनुभव-शून्यता एवं भ्रम था। वे इस काम के लिए उसमे भी निर्धन थे। यह काम किसी एक व्यक्ति के करने का था भी नही। इसका संचालक या सम्पादक हो सकता है हमारा सुव्यवस्थित, सामाजिक या सामूहिक व्यक्तित्व। सामाजिक एकता, सामाजिक सुव्यवस्था एवं समुन्नति व्यक्ति का विशद व्यक्तित्व है, जिसकी छत्र-छाया में वह आत्मोन्नति कर सकता है, आत्म-तृप्ति पा सकता है। समाज व्यक्ति की सीमा का सापेक्ष नि.सीम है। वह बूँदों की सम्मिलित शक्ति का समुद्र है, जिसमें मिलकर प्रत्येक बूंद एकत्रित ऐश्वर्य का उपभोग कर सकता है, पर अपने देश में वह सामूहिक आधार है ही नहीं जिसकी विशद भूमि पर व्यक्ति निर्भीक रूप से खड़ा होकर आगे बढ सके। हम सब अनाथ, यतीम हैं, हमारा देश एक महान् सभ्यता का विशाल भग्नावशेष है। हमारे यहाँ प्रत्येक व्यक्ति एक व्यक्ति-मात्र, मांसपिण्ड-मात्र है—वह कुलीन हो या अकुलीन धनी हो या निर्धन। वह समाज नहीं है, वह देश नहीं है, उसके पीछे इन सबका सम्मिलित बल काम नहीं करता। वह निराधार है, वह क्षुद्र है।

हम केवल व्यक्तिगत उन्नति, व्यक्तिगत सम्मान, व्यक्तिगत शक्ति को ही समझ सकते हैं, उसी का उपभोग भी करते हैं—अपने सामाजिक

व्यक्तित्व का सम्मान, उसकी शक्ति एवं उन्नति का महत्व अभी हमें मालूम नहीं हो पाया, इसीलिए हम कच्चे सूत की लच्छी के उन उलझे और बिखरे तागों की तरह हैं, जो अपनी एकता से बननेवाली रस्सी के बल से अपरिचित हैं।

फलतः इस विशाल पृथ्वी पर जटिल जीवन-संग्राम की कठिनाइयों का सामना हममे से प्रत्येक को केवल अपने बल पर करना पड़ता है। अर्थात् प्रत्येक तिनके को बाढ़ का सामना पृथक्-पृथक् रूप से करना पड़ता है! व्यक्ति के लिए देश के व्यक्तित्व का, मनुष्य के लिए विश्व के व्यक्तित्व का अभाव होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति की इकाई केवल व्यक्ति ही रह जाता है, और उसके लिए बाह्य जगत के जीवन-संग्राम के घात-प्रतिघात, उत्थान-पतनों को सहना कठिन ही नही असम्भव हो जाता है। दो-एक बार निष्फल होकर वह शीघ्र ही अपने को अयोग्य समझने लगता है, और हतबुद्धि हो अन्त में निराशावादी, भाग्यवादी, दु:खवादी, विरक्त, उदास, द्रोही, द्वेषी, निन्दक सभी कुछ बन जाता है। सभ्यता के ह्रास के युग मे, राष्ट्र के या समाज के अवनति के युगों मे ऐसी ही विचारधारा जनसाधारण की बन जाती है।

इसी विचारधारा के प्रवाह में प्रताड़ित, प्रतिहत, पीताम्बर भी तिनके की तरह बह गया। समाज की दुर्बलता को वह अपनी दुर्बलता, उनके दोषों को अपने ही दोष समझने लगा। वह अपनी ही आँखों मे गिर गया। ईश्वर ने उसे क्यो वैसा हेय, जघन्य और निकम्मा बनाया, यह उसकी समझ में नहीं आया। वह उसे अपने ही कर्मों का, पापों का फल, पूर्व-जन्म का, भाग्य का दोष मानने लगा। अपने चारों ओर व्याप्त वातावरण में उसे ऐसे ही विचार और भावनाएँ मिलीं, जो उसके भीतर भी जड़ जमा गयी। उसे अपने से घृणा, अच्छाई से घृणा—जीवन, संसार सब से विरक्ति हो गयी। वह अपने अन्तर की जीवनोत्पादक प्रेरणाओं, अभिलाषाओं, आशाओं, रुचियों को बलपूर्वक दबाने लगा। मन ही मन जीवन-इच्छा के लिए आत्मा का तिरस्कार करने लगा। यह जीवन माया है, ससार भ्रम है, इच्छाओं का अन्त दु:ख है; जीवन, संसार, आत्म-उन्नति सब कुछ दु:खमय है, यह सब निर्मम भाग्य का छल है। ऐसी ही बातों में उसका विश्वास बढ़ने लगा। उसके भीतर कार्य में प्रवृत्त करनेवाली स्फुरणा निश्चेष्ट पड गयी, मन की सब स्फूर्ति सदैव के लिए जाती रही। उसने अपने से भी गये-बीतों, दुर्भाग्य-पीड़ितों को देखना, उन पर सोचना प्रारम्भ किया; ऐसे विचारों से उसे सान्त्वना मिलने लगी और उसका विश्वास जीवन और संसार की निस्सारता पर बढ़ने लगा। व्यक्ति के जिस क्षुद्र रूप को उसने जीवन और संसार का स्वरूप समझ लिया था, वह अवश्य ही निस्सार एवं दु:खप्रद है। व्यक्ति के विशद रूप का, उसके सामाजिक, दैशिक, विश्व-व्यक्तित्व का चिरन्तन स्वरूप उसे अपने यहाँ कही देखने को नहीं मिला। जीवन की समग्रता से कटकर वह अलग हो गया, और पेड़ की डाली से विच्छिन्न पुष्प की तरह मुरझाने और सूखने लगा।

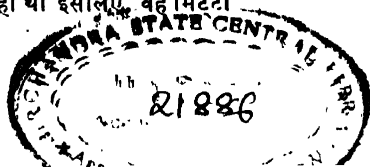
किसी को सुन्दर, स्वस्थ, संसार में रत, आशा, सदिच्छा, सदाशयता में तत्पर देखकर उसके भीतर से एक विद्रूप हंसी निकलने लगी, वह

सबका उपहास करने लगा। सभी पर ताने कसना, व्यंग्य बौछार करना उसका स्वभाव ही बन गया। उसका समस्त विश्वास भाव के विश्व से उठ गया, अभाव का विश्व कठोर है सही, पर वही सत्य है। सुख, सफलता, सम्पत्ति का स्वप्न देखना अज्ञान है। अब वह मनुष्यों की खोट, उनकी बुराइयों को खोजने लगा। जो कोई सुखी-सम्पत्तिशाली दीखता, समाज जिसे आदर-सम्मान देता उसमें भी दो-चार दोष निकालकर वह अपने मन को सन्तोष देने लगा। उसके पड़ोस में उसके किसी सम्बन्धी ने एक विशाल दो-मंजिला कोठी खड़ी कर दी थी। वह आधुनिक ढंग की, बड़ी ही सुन्दर, उस गरीब बस्ती में अपना गर्वोन्नत मस्तक उठाये हुए थी, पर पीताम्बर ने वह सड़क के किनारे है, उसमें पर्दा नहीं, उसके मालिक ने मजदूरों की तनख्वाह काटी इत्यादि, उसमें कई दोष निकाल दिये। वह जब मकान जाता उस कोठी की ओर कभी नहीं देखता, पहले ही से आँखें फेर लेता।

हम कभी से इस अभावात्मक सत्य पर विश्वास करते चले आ रहे हैं। ऐसा करने से हम सक्रिय जीवन के घात-प्रतिघात, उसकी स्वास्थ्यवर्धक स्पर्धाओं का सामना करने से बच जाते हैं, हम अपने विराट व्यक्तित्व के उज्ज्वल परिमाणों से अनभिज्ञ होने के कारण क्षुद्र व्यक्तित्व को अपनाये हुए हैं, अपने को सर्व न बना सकने के कारण हम शून्यवत् हो गये हैं। पर सूरज, चांद और तारे हमें शून्य बन जाने का उपदेश नहीं देते। नीला आकाश, हरी धरती, इठलाती वायु, रंग-बिरंगे फूल, गाते हुए पक्षी, दौडती हुई लहरें, हमें दूसरा ही सन्देश देते, दूसरे ही सत्य का दर्शन कराते हैं। वहाँ अजेय जीवन, अविराम सृजन हमारे मरणशील व्यक्तित्व का, हमारे जड़त्व और निर्जीवता का प्रत्येक क्षण उपहास उड़ाया करते हैं, हमें विश्व की समग्रता की ओर, हमारे अमर व्यक्तित्व की ओर आकर्षित करते रहते हैं। पारस्परिक स्पर्धा, द्वेष, द्रोह, छोटे-मोटे सुख-दुःख, हानि-लाभ, भेद-भाव के अन्धकार से घिरे हम सर्वत्र-प्रकाशमान सम्पूर्णता से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर नाशवान् हो गये हैं।

इसी अभावात्मक सत्य की निर्जीव-सजीव मूर्ति पीताम्बर को हम छुटपन से इस पानवाले के रूप में देखते आये हैं। उसे अब निश्चेष्ट, निर्जीव रहने ही में आराम मिलता है। उसका स्वास्थ्य अब नहीं के बराबर रह गया है। लगातार पान चबाने मे दाँत सड़ गये, दिन-रात बैठे रहने मे जठराग्नि बुझ गयी है। वह केवल जीवित रहने के अभ्यास से जीता है। स्वास्थ्य गँवा बैठने एवं हृदय में निर्जीवता व्याप्त हो जाने के कारण वह अपनी पत्नी से भी प्रसन्न नहीं रह सका। पानवाला बन जाने के कुछ ही महीनों बाद भाई ने उसकी शादी कर दी थी। जब तेल टपककर समाप्त हो चुका था तब केवल बत्ती को जलाने के लिए मानो दीपक को शिखा के पाश में बाँध दिया गया। पीताम्बर का निर्बल रुग्ण बच्चा जब जाता रहा तब उसने सन्तोष की ही साँस ली।

आज दीवाली के रोज दूकान सजाते हुए उसने एक पुराना मिट्टी का खिलौना कपड़े की तहों से बाहर निकाल गद्दी के पास रक्खा है। जिसके लिए पाँच साल पहिले यह खिलौना लाया था वह तो रहा नहीं, यह खिलौना रह गया है। "वह मिट्टी का नहीं था इसलिए, वह मिट्टी



का नहीं था !" ऐसा कहते हुए पीताम्बर उसी तरह ठठाकर हँस रहा है।

उस बार

सुबोध मसूरी में अपने मामा के यहाँ उस बार गर्मी बिताने गया था। मामा सगे न थे, पर नाते की कमी भरकर अपने उदार स्नेहशील स्वभाव के कारण सगों से भी घनिष्ठ लगते थे। साधारण स्थिति से अपने ही परिश्रम के बल पर उठकर वह अच्छे सम्पन्न हो गये थे। उन्होंने मसूरी में अपना निज का सुन्दर-सा बँगला भी बनवा लिया था। जीवन-यात्रा में सुख-दुख, ऊँच-नीच पार कर चुकने पर एक सफल, सम्पन्न, पक्व अवस्था का लाभ मनुष्य में जिन लोक-प्रिय गुणों का प्रादुर्भाव कर देता है, वे उनमें पर्याप्त मात्रा में थे। वह उदार थे, मधुर थे, मिलनसार और स्वाभिमानी थे। उनके पुट्ठों और आगे बढ़े हुए सीने से अब भी युवापन टपकता था। वे नये विचारों से सहानुभूति रखते थे।

मामीजी का अपना कोई व्यक्तित्व न था, वह पति की छाया थीं, जैसा कि अपने देश की नारियाँ प्रायः हुआ करती हैं। इसलिए घर के वातावरण में काफी सन्तोष और शान्ति व्याप्त रहती। नलिन उनका सबसे बड़ा लड़का था, सुबोध का ममेरा भाई। लम्बा, हँसमुख, फुर्तीला और कुशाग्र-बुद्धि। उस साल प्रयाग विश्वविद्यालय मे एम० एस-सी० फाइनल में सर्वप्रथम आया था। खेलने का सबसे बडा शौकीन, यूनि-वर्सिटी में हाकी, फुटबाल का कैप्टन रह चुका था। खिलाडीपन उसका स्वभाव ही बन गया था। नलिन का फुफेरा भाई गिरीन्द्र भी उन दिनों वहीं था, उसने हाल में ही एल० एल० बी० पास किया था और गर्मियों के बाद वकालत शुरू करने की सोच रहा था।

नलिन और गिरीन्द्र के यूनिवर्सिटी के और भी कई मित्र उस साल मसूरी आये हुए थे। सब प्रायः नित्य ही आपस में मिला करते थे; सुबोध अनायास ही उनमें हिलमिल गया था, और अपनी सरल, सहनशील प्रकृति के कारण उसकी सबसे खासी मित्रता हो गयी थी। यूनिवर्सिटी के लड़कों में जो एक स्वतंत्रता, पारस्परिकता, आत्मविश्वास, बेतकल्लुफी, गपशप, हास-परिहास का वातावरण मिलता है वह विचारशील सुबोध को अप्रिय न था। उसके जीवन का काफी बडा भाग विद्यार्थियों के साथ बीता था पर फिर भी वह जैसे उनसे पूर्णतः परिचित न था। भाव-प्रवण होने के कारण वह आत्म-चिन्तन में अधिक लीन रहता था। परीक्षा के कठिन श्रम के बाद जी खोलकर, छककर, छुट्टियों का उपभोग करते हुए विद्यार्थियों के आमोद-प्रमोद में जो थोड़ी-बहुत उच्छृंखलता स्वभावतः रहती है वह सुबोध को अधिक रुचिकर न थी। पर तटस्थ रहना उसे अच्छा न लगता था; और निःसंग रहकर वह उनकी रँगरेलियों में भाग लेने का प्रयत्न करता था। विद्यार्थियों की रँगरेलियों और परिहासों में पर्याप्त कदर्यता और भद्दापन रहता है, जिसे वे जानते हैं, परवाह नहीं करते; पर सूक्ष्म एवं सौन्दर्य-प्रिय सुबोध को कभी-

कभी उस भद्देपन को निगल जाने में भीतर ही भीतर कठिनाई मालूम देती थी।

नलिन का मित्र सतीश एक लड़की के प्रेम-पाश में था। उस लड़की के माँ-बाप भी उस साल मसूरी आये हुए थे। और सतीश के बँगले के सामने ही उन्होंने बँगला लिया था। सुबह-शाम सतीश को अपनी खिड़की से लड़की के रूप की झलक मिलती रहती थी। वह सतीश के प्रेम से शायद थोड़ी-बहुत परिचित थी। प्रेमियों की चेष्टाएं कम छिपती हैं, इसी से कभी-कभी खिडकी से मुख निकालकर सतीश को झाँकी दे देती थी।

विजया की चर्चा सतीश कम या अधिक मात्रा में अपने अन्तरंग मित्रों से कर दिया करता, उसके मन में कुछ भी नहीं रहता था। धीरे-धीरे यह बात सभी साथियों में फैल गयी, और मित्र लोग भी टहलते समय विजया के कमरे के कुसुमित झरोखे की ओर प्राय: देख लिया करते थे। इस प्रणय-चर्चा के कारण धीरे-धीरे नलिन के यहाँ एक बैचलर्स क्लब की सृष्टि हो गयी। प्राय: सभी अविवाहित लोग थे, सभी का उससे मनोरंजन होने लगा। एक-दूसरे की शादी ठहराना, कौन किसकी प्रणयिनी है, इस रहस्य को ढूंढ निकालना,---ऐसी ही बातों के लिए सब साथी उत्सुक रहते। सतीश की तरह गिरीन्द्र, विलास, उपेन्द्र, नलिन सबकी प्रेमिकाओं का धीरे-धीरे पता लग गया, जिसकी कोई प्रेयसी न मिली उसके लिए भी एक कहानी की प्रेमिका गढ़ दी गयी। इसी प्रकार कुमारों के क्लब की मीटिंगों, हाकी, फुटबाल, टेनिस की मैचों, सिनेमा, पिकनिक तथा सैर-सपाटों में गर्मी प्राय: बीत गयी, बरसात शुरू हो गयी। मसूरी की घाटियाँ मखमल की हरियाली के उज्ज्वल, चौड़े हास्य से भर गयीं। मित्रों में से बहुत से विद्यार्थी छुट्टियों की बहार लूटकर प्रयाग, लखनऊ बनारस पढ़ने चले गये।

नलिन, गिरीन्द्र, सुबोध और सतीश वहाँ रह गये सही, पर परस्पर का मिलना काफी कम हो गया। गिरीन्द्र वकालत शुरू करने की चिन्ता में पड गया कि किसी सीनियर के नीचे काम सीखे; सतीश, जो इस वर्ष लखनऊ से एम० ए०, एल-एल० बी० की डिग्रियाँ ले चुका था, मुन्सिफ़ी का इम्तिहान देने की सोचने लगा। नलिन आई० सी० एस० की तैयारी कर ही रहा था। कभी शाम को घूम-फिरकर लौटने के बाद जब चारों मित्र सुबोध के कमरे में घण्टे-आध घण्टे के लिए मिलते, तो कुआँरों के क्लब की सुप्तप्राय आत्मा फिर जगा दी जाती।

एक रोज सतीश ने परिहास में विजया पर अपना प्रेमाधिकार सुबोध के नाम सौंप दिया, और यह बात एक कापी में, जो नाम-मात्र को बैचलर्स क्लब का रजिस्टर बना दी गयी थी, लिख दी गयी। तब से सुबोध के विवाह की चर्चा भी आपस में छिड़ने लगी। सुबोध उन तीनों मित्रों में से उम्र में आठ-दस साल बडा था, इसलिए, संकोच न मानते हुए भी, नलिन और गिरीन्द्र उसके ब्याह की चर्चा कम करते। यह मान लिया गया था कि सुबोध प्रकृति का कुआँरा है, वैसा ही रहेगा। सुबोध की बातों और तटस्थ हाव-भावों से उन्हें ऐसा विश्वास हो गया था कि वह किसी को प्यार नहीं करता, पर बात कुछ और ही थी। सतीश की तरह

वह भी एक लड़की को प्यार करता था।

प्रेम तत्वत: एक होते हुए भी भिन्न स्वभावों में भिन्न रूप से काम करता है। सतीश के लिए विजया का जो मूल्य था, वही मूल्य सुबोध के लिए सरला का होते हुए भी, दोनों का प्रेम-पदार्थ भिन्न-भिन्न तन्तुओं का बना था। सतीश के प्रेम का प्रवाह शरीर से हृदय की ओर, सुबोध का हृदय से शरीर की ओर था। एक फ्रायड के सिद्धान्तों का नमूना था, दूसरा प्लेटो के। यह नहीं कि एक प्रेमी था, दूसरा कामी-मात्र— दोनों में आदर्श-भेद था। सतीश प्रेम को विजया के लिए संचित रखते हुए भी अन्य स्त्रियों से शारीरिक स्वतन्त्रता लेना बुरा नहीं समझता था। वह मनुष्यत्व और पशुत्व को दो अलग राहों से ले चलने का पक्षपाती था। सुबोध देह के संसर्ग को सच्चे प्रेम के अधीन रखना चाहता था। आत्म-दान से ही उसका पशु मनुष्यत्व की पवित्रता पा सकता था। एक को आत्म-त्याग द्वारा भोग का अधिकारी बनना पसन्द था, दूसरे को आत्म-त्याग भोग के लिए केवल साधन-मात्र था। दोनों की मानसिक स्थिति दोनों के लिए सत्य थी।

विजया साँवले रंग की, गदबदे सुडौल अंगों की, रूपसी से अधिक मोहिनी थी। उसकी उभरी छाती, पीन कटि-प्रदेश सतीश के आनन्द के दो संग्रहालय थे। उसके कोमल उरोज-स्तबकों पर गाल रखकर प्रेम की विस्मृति का सुख लूटने के स्वप्न सतीश प्राय: देखा करता था। विजया अपनी चारित्रिक दृढ़ता के लिए मित्रवर्ग में प्रसिद्ध थी। वह स्थिर-चित्त, प्रेम की अधिक गम्भीर परिभाषा में विश्वास रखनेवाली, प्रेम को एक सुव्यवस्थित, सम्मानित गार्हस्थ्य का भाग—सर्वोज्ज्वल भाग माननेवाली शिक्षित लड़की थी। उसके मुख पर उसके मनोभावों की कान्ति थी। उसकी सखियों का कहना था कि सतीश का यौवन-जन्य चांचल्य, दृष्टि, भाव, इंगित एवं अन्य चेष्टाओं से विजया को सदैव घेरे रहना, घूमने में उसका पीछा करना,—जैसा वह प्रेमी युवक प्रारम्भ में किया करता था, उसे पसन्द न था। उसे भले ही सतीश के उन्मुख प्रेम का तिरस्कार करना न सुहाता हो, पर अपने विवाह का प्रश्न उसने अपने वयोवृद्ध दादा की ही रुचि पर छोड़ दिया था। उसके दादा उसके संस्कृत के शिक्षक थे, भारतीय प्रथा के पक्के पक्षपाती; अपने दादा के सहस्रों स्नेहों के एहसानों से दबी विजया उनकी इच्छा को पीछे, अपनी इच्छा को आगे रखना उचित नहीं समझती थी। सतीश विजया की इस वृत्ति का कारण उसका हठ या गर्व समझता था। वह अपने प्रति उसके मनोभावों को जानने को उत्कण्ठित था। वह अपने को उसका प्रेम पाने के सर्वथा योग्य समझता था। वह सुरूप, सुशिक्षित, उम्र में उससे चार साल बड़ा, उससे किसी बात में कम न था। वह महत्वाकांक्षी, अपने भविष्य के लिए यश:कामी भी था। वह विजया पर विजय प्राप्त करना चाहता था। अपने विद्यार्थी-जीवन में वह कई सहपाठिनियों की ओर आकर्षित हुआ था, प्राय: सबने उसकी इस युवकोचित भावना को आदर की दृष्टि से देखा था। वह विजया की इस अननुभूत विरक्ति को सहने में असमर्थ था। वास्तव में विजया ने अपने सौन्दर्य और दृढ़ता से, जिसका

सतीश में अभाव था, उसे अभिभूत एवं पराजित कर दिया था। वह उसका सामना पड़ते ही कर्तव्य-विमूढ़ एवं अस्थिर हो उठता था। अन्य युवतियों ने उसकी तरुण-लालसा का सोत्कण्ठ आवाहन कर जिस प्रकार उसके मन में सौन्दर्य की पवित्रता एवं कौमार्य की दिव्यता के प्रति एक सस्ता, वयस-सुलभ, प्राणिशास्त्र के भीतर से आँका जानेवाला मूल्य निश्चित कर दिया था, विजया ने ठीक उसके विपरीत अपने सौन्दर्य और कौमार्य को जीवशास्त्र एवं मनोविज्ञान से ऊपर उठाकर सतीश की पूर्व-धारणाओं को अस्त-व्यस्त कर दिया था।

इन सब दुर्बलताओं के वशीभूत होने पर भी सतीश अत्यन्त अकपट हृदय का था। उसके मन में कोई बात नहीं रहती थी। वह दूसरे की सहानुभूति पाते ही पिघल उठता था। सहानुभूति का दिखावा करके उसके मित्र उसकी द्रवणशीलता का अपने मनोरंजन के लिए तरह-तरह से दुरुपयोग करते थे। सुबोध आत्म-चिन्तन एवं अच्छे-बुरे के विचार में पड़े रहने के कारण लोगों से कुछ खिचा रहता था और किसी तरह अपनी रक्षा स्वयं कर लेता था। सतीश दूसरों के सौजन्य के स्वाँग के वशीभूत हो एकदम उनसे घुल-मिल जाता था, वह अपनी सीमा गँवा बैठता था, दूसरे की सीमाओं पर उसे अधिकार न मिलता था। इसीलिए वह जितनी जल्दी विश्वास कर लेता उतनी ही जल्दी अविश्वास एवं शंका भी करने लगता था। वह मित्र लोगों का मनोरंजन था, मित्र लोग उसके संचालन-शक्तियों के समूह। सुबोध बाहर से बड़ा सीधा लगता था, पर वह सरलपन उसने अध्ययन, मनन एवं विचार करने के बाद अपने लिए अर्जित कर लिया था। वह समझता सब था, सतीश की तरह सहज विश्वास के प्रवाह में बह नहीं जाता था, पर अत्यन्त सहनशील होने एवं समाज के विशद भविष्य में विश्वास रखने के कारण दूसरों की दुर्बलताओं से विचलित एवं व्यथित न होता था। मानापमान, हर्ष-विषाद चुपचाप सह लेता था, दूसरों को केवल सीधा लगता था।

सहज-विश्वास का जीवन मानव-समाज के पूर्ण विकास की ही स्थिति पर सम्भव हो सकता है। तब तक जन-समूह आत्म-पर की सीमाओं को रखने के लिए विवश है। हम सबको दुहरा होकर रहना पड़ता है। सतीश को अपने प्रेम के स्वर्ग का निर्माण करने के लिए विजया को प्राप्त करना आवश्यक हो गया था, वह उस पर अपना एकमात्र दावा समझता था, वही उसे अपनी अविचल दृढ़ता के आलिंगन-पाश में घेरकर उसके सतत बहते हुए हृदय की, पहाड़ों की कारा में बँधे हुए सरोवर की तरह, रक्षा कर सकती थी। विजया जितना ही खिंचती, वह उतना ही उसकी ओर ढुलक पड़ता था। अपने उत्तेजित क्षणों में वह यहाँ तक कह बैठता था कि विजया से शादी करने का जो अन्य युवक साहस करेगा उसका जीवन सुरक्षित नहीं रहेगा। कभी-कभी वह उसकी रुखाई से चिढ़कर उस पर कुढने भी लगता, उसे घृणा करने की कोशिश करता, उसके लिए अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करता, उसके सौन्दर्य और चरित्र की अवहेलना करता, और कुछ समय के लिए उसे मन से भुला देता। क्षोभ और खीझ के वश वह अपने जीवन की हड्डी को हृदय से बाहर निकालकर अन्य युवकों की श्वानेच्छा के आँधी-तूफान के बीच फेंक देना चाहता था,

पर दूसरे ही क्षण उसका प्रेमोन्माद उसे पूर्णतः वशीभूत कर लेता था।

सरला और सुबोध की दूसरी ही कहानी थी। सरला सुबोध से पन्द्रह साल छोटी थी। वह गोरी, अनति दीर्घ, हँसमुख, चंचल, श्वेत लिलियों की सुकुमार सृष्टि थी। कम-से-कम देह की सामग्री में जैसे आत्मा उतर आयी हो। संसार बसाने के लिए कैसे साथी, किन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है, इन बातों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वह सदैव के लिए, स्वभाव-वश, असमर्थ थी। वह केवल भाव की, प्रेम की क्रीड़ा थी, खिलौना थी। वह सुबोध में लीन हो गयी थी। उसके बिना अपने अस्तित्व की कल्पना करना उसके लिए असम्भव था। वह जैसे सुबोध के प्रेम के समुद्र के बीच भाग्य की आँधी से उड़कर गिर पड़ी थी। उसी के भीतर ऊब-डूब करना, उसी की भावनाओं की लहरों में बहना उसका जीवन बन गया था। वह उस अकूल समुद्र के बाहर निकल ही नहीं सकती थी, यदि सुबोध स्वयं हाथ पकड़कर उसे किनारे लगाना भी चाहता तो वह उसे स्वीकार ही न करती थी। सुबोध के प्रेम का समुद्र उसकी मुक्ति था, सरला चाहे अन्दर जितना गहरे पैठे, चाहे बाहर जिस छोर तक पैरे—वह अकूल अतल था, सरला पूर्णतः स्वतन्त्र !

सरला सबको प्यार करना, सबसे प्यार पाना चाहती थी। वह एक विशद सामाजिक, सामूहिक व्यक्तित्व का उपभोग करना चाहती थी, जिसके लिए उसको चारों ओर से घेरा हुआ समाज अभी तैयार न था। फलतः, स्थिति-ज्ञान से शून्य, जब-जब वह अपने पाँवों को पंक में गड़ जाने की आशंका से भयभीत होकर सुबोध के पास लौट आती, तब-तब सुबोध, अबोध सरला के पाँवों को अपने अविराम सहज स्नेह की धारा से धोकर स्वच्छ कर देता, वह प्रेमी से भी अधिक उसका अभिवावक था। सरला अत्यन्त शृंगार-प्रिय और सौन्दर्य-प्रिय थी। किसमें कहाँ सौन्दर्य छिपा है, इसे उसकी आँखें सबसे पहले ढूंढ़ निकालती थीं। वह सबकी साथिन और सुबोध की प्रेमिका थी।

सुबोध कलाकार था। प्रेम उसका जीवन था। जीवन की प्रत्येक विकासोन्मुख अवस्था का, उसके समस्त स्वरूपों का, वह प्रेमी था। सबसे उसकी सहानुभूति थी। जिस वस्तु पर उसका प्रेम पड़ता वह स्वयं प्रेम में परिणत हो जाती, अपने ही प्रेम में वह सुरक्षित था। प्रेम उसकी आत्मा था, मन था, शरीर था। अतः सुबोध सरला को प्यार करता था या नहीं, यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। सरला सुबोध को अनन्य हृदय से, अपने सम्पूर्ण अस्तित्व से प्यार करती थी, यही बात उन दोनों के सम्बन्ध में प्रधान थी। सुबोध प्रेम था तो सरला उसकी सार्थकता। फलतः सरला सार थी, रस थी, सुबोध उस प्रेम के मधुर फल का छिलका, जिसमें सरला की मधुरता और रस स्वयं आ गया था। सुबोध से भेंट होते ही सरला दूसरे ही क्षण उसमें मिल गयी, उसमें गिर पड़ी, तब वह बारह साल की थी। सुबोध अनन्त शून्य था, वह अजस्र शक्ति; वह निश्चल कूलों की सहिष्णुता, वह चंचल, उद्वेलित जल-धारा। दोनों कब मिल गये, कैसे मिल गये,—दोनों इससे अनभिज्ञ थे !

यह बात तब प्रकट हुई जब सरला की शादी की चर्चा छिड़ी। वह

अब युवती हो चुकी थी, कालेज में पढ़ती थी। उसके पिता सम्पन्न थे। सुबोध से सभी बातों में योग्य, यूनिवर्सिटी की डिग्री लिये स्वस्थ, सुन्दर, समवयस्क, धनी युवक उसके प्रेम के प्रार्थी हुए। उसके माँ-बाप की हार्दिक इच्छा थी कि सरला इनमें से किसी एक को अपना मनोनीत साथी बनाये। सुबोध और सरला के प्रेम की बातों से उसके माँ-बाप परिचित थे; वे उससे सन्तुष्ट न थे। उस कोरी भावुकता को वे मूल्य-हीन ही न समझते थे, उसे सरला और सुबोध की दुर्बलता, अनुभव-शून्यता और शायद इससे भी अधिक मानते थे,—उनकी दुर्बुद्धि और दुखान्त नाटक का सूत्रपात ! पर फिर भी उन्हें सरला की वयस-प्राप्त वृत्ति एवं सुबोध की सच्चाई और सौजन्य पर आन्तरिक विश्वास था। वे जानते थे कि सुबोध सरला को इस विपत्ति से बचायेगा, उसके प्रेम का एवं उनके विश्वास का इस प्रकार दुरुपयोग नहीं करेगा। उससे अनुचित लाभ न उठायेगा। यह बात ठीक भी थी। यदि केवल सुबोध की बुद्धि एवं आत्म-संयम पर यह बात निर्भर होती तो वह सरला को उसके माँ-बाप के मनोनीत युवक के साथ स्वर्ण-बन्धन में बाँधकर अपने कर्तव्य को चरितार्थ करता। वह अत्यन्त सहिष्णु था और उसकी धारणा थी कि वह सरला के सुख के लिए भारी से भारी त्याग, और कष्ट उठा सकता है।

प्रेम और कर्तव्य, श्रेय और प्रेय की समस्याएँ भी मानव-जीवन की अन्य समस्याओं की तरह कभी न सुलझनेवाली समस्याओं में से हैं। सच तो यह है कि मानव-जीवन न श्रेय और प्रेय के ज्ञान से चलता है, न श्रेय-प्रेय के सामंजस्य से, चाहे प्रेम के लिए कर्तव्य की बलि कीजिए और कर्तव्य के लिए प्रेम की। मानव-जीवन शायद किसी दूसरे ही सत्य से चलता है, पर वह इस कहानी का विषय नहीं। सरला और सुबोध का एक दूसरे को छोड़ देना उनकी शक्ति का परिचायक भी हो सकता था, उनकी दुर्बलता का भी। पर सशक्त और निःशक्त ये मनुष्य के विभाग या विशेषण हो सकते हैं, प्रेम के नहीं; प्रेम न शक्त है, न अशक्त। सुबोध के लिए सरला का त्याग कर देना कठिन न था, पर वह उसके वश में न था। क्योंकि उस प्रेम का कोमल या कठोर, दुर्बल या सबल छोर था अबला-सबला सरला के हाथ में। वह सुबोध से विच्छिन्न होने की कल्पना ही नहीं कर सकती थी। सुबोध की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक एवं वयोगत सभी अवस्थाओं से वह पूर्णत परिचित थी। पर उसका सुबोध तो इन सबसे परे केवल उसके प्रेम की निःसीमता था। वह समय-स्थिति से पीडित व्यक्ति नहीं, उसके प्रेम का अमर व्यक्तित्व था। सरला तो उसके साथ भोग की, सुख की, कल्पना भी नहीं कर सकती, वह तो उसके लिए त्याग और दुख भोगना चाहती है। इसी में उसकी प्रेम-प्रज्वलित आत्मा को तृप्ति मिलती थी। सुबोध के लिए मरना, मिटना, तड़पना, रोना, उसके लिए अपने को नष्ट कर देना, जो कुछ उसमें अपना रह गया है उसका विनाश कर देना चाहती थी। अरे, सुबोध तो सरला है, वही है। सरला को कोई प्यार करे इस असंगत बात को तो वह सह ही नहीं सकती, दूसरे का प्रेम तो उसके लिए बोझ है, दुःसह भार। वह तो स्वयं प्यार करना जानती है, अपने को देकर उसे मुक्ति का आनन्द मिलता है, दूसरे का प्रेम पाकर बन्धन की यातना ! दूसरे के प्रेम की कल्पना को

सार्थक करने के लिए अपने में प्रेमिका की दिव्यता की साधना करना उसके वश की बात नहीं है। वह कैसी स्वतन्त्र, क्रियात्मक, चंचल, प्रगतिशील है ! —वह तो स्वयं बहना, अविराम, अबोध रूप से बहना चाहती है। वह वेग है, दुःसह वेग, सुबोध निःसीम, निस्तल आकर्षण। वह प्रेमिका है, सुबोध प्रेम !

सरला हृदय है, उसके पिता विवेक—वह बुद्धिवादी नहीं विवेकवादी हैं। सरला उन्हें अपदार्थ, दुराग्रही, निर्बुद्धि लगती है तो क्या आश्चर्य ? सरला के पिता अच्छे-बुरे का गणित जानते हैं, सरला प्रेम का गणित। वह इकाई से आगे कुछ देख ही नहीं सकती, उसकी वह इकाई है सुबोध ! प्रबोध बाबू संसार को समझते हैं, सुख-दुख, हानि-लाभ, गुण-दोष—परिणाम को सदैव सामने रखकर विचार करते हैं। वह सरला-सुबोध पर अन्याय करना नहीं चाहते, उनसे सहानुभूति भी रखते हैं। उनके भी हृदय है, उनके कार्यों, विचारों में उसका ऊष्ण स्पन्दन-कम्पन स्पष्ट सुनने को मिलता है, पर प्रधानता वह सदैव विवेक को देते हैं। कर्त्तव्य विवेक का औरस है, दुख-सुख प्रेम के भाई-बहिन। सरला-सुबोध से सहानुभूति रखते हुए भी प्रबोध बाबू उनसे सन्तुष्ट नहीं रहते थे। वे जानते थे कि सुबोध का सांसारिक मूल्य नहीं के बराबर है; और कोई मूल्य है या नहीं, वह विचारणीय है, कहा नहीं जा सकता था। ऐसी हालत में सरला को जान-बूझकर अन्धे कुएँ में गिरने देना कैसे बुद्धिमानी कही जा सकती थी ! उसमें पानी न निकला तो ? कन्या के भविष्य के लिए पितृ-हृदय शंका और स्नेह से भर उठता था।

पर घर में दीप जलाकर प्रकाश का उपभोग करना एक बात है, स्वयं दीप की तरह जल उठकर प्रकाश बन जाना दूसरी बात ! प्रेम ज्वाला है, वह जिस पर पड़ता है उसी को भस्म कर ज्वाला में बदल देता है। वह प्रकाश-पुत्र है। या प्रेम की सेवा कीजिए, या संसार से सेवा करवाइए ! या स्वर्ग की सृष्टि कीजिए या स्वर्ग का उपभोग कीजिए ! या पतंग की तरह से अपना सर्वस्व स्वाहा कर असीम प्रकाश बन जाइए, या सुख, सम्पत्ति, संस्कृति और स्वर्ग में सीमित हो जानेवाले संसार की कामना कीजिए। एक मरणशील है, दूसरा अमर। एक सुख से दुःख की ओर ले जाता है, दूसरा दुःख से सुख की ओर। सूक्ष्मतः दोनों भिन्न भी हैं, अभिन्न भी।

गिरीन्द्र किसी विशेष लड़की को प्यार नहीं करता था। वह वकालत जम जाने पर किसी सुन्दर लड़की के साथ शादी करना चाहता था। उसका स्वभाव ही ऐसा था कि वह प्रेम में सतीश की तरह कभी आत्म-विस्मृत नहीं हो सकता था। मानवात्मा के प्रायः दो स्वरूप देखने को मिलते हैं। एक प्रवृत्तियों के समुचित उपभोग के लिए साधना करता है, दूसरा प्रवृत्तियों से ऊपर उठ जाने के लिए। एक और भी स्वरूप होता है जो प्रवृत्तियों के हाथ का खिलौना होता है; पर इससे हमारी कहानी का सम्पर्क नहीं। गिरीन्द्र पहले रूप का द्योतक था, सतीश दूसरे रूप का। जीवन की आवश्यकताओं के लिए मार्ग मिल जाने पर गिरीन्द्र के किसी सुन्दरी के पाश में सीमित हो जाने की सम्भावना थी, पर सतीश प्रवृत्तियों

के विषयों के बीच कूदकर, उनको थकाकर, एवं उनके सम्मोहन से उठ-कर, विशद जीवन में प्रवेश करना चाहता था। वह अपने स्वभाव से विवश था, संयम से काम चलाना नहीं जानता था।

एक रोज कुँआरों के क्लब में पास-पड़ोस, जान-पहचान की लड़कियों को सौन्दर्य-प्रतियोगिता के अनुसार नम्बर दिये गये। उस रोज गिरीन्द्र ने अपने लिए नम्बर दो सुन्दरी कन्या को चुना था। नम्बर एक कुछ बीमार रहती थी। उस पीढ़ी के कुमारों में नलिन की ऐसी ऐहिक स्थिति थी कि वह सर्व-प्रथम या द्वितीय कुमारी को अधिकृत कर सकता था। प्राय: सभी कुमारियों के पिता नलिन के पिता से उनके पुत्र के प्रार्थी थे। दयाशंकर ने इसका भार नलिन की ही रुचि पर छोड़ रक्खा था। वह स्वयं पुत्र के आई० सी० एस० की परीक्षा समाप्त कर लेने तक उस पर विवाह के बारे में किसी प्रकार का दबाव नहीं डालना चाहते थे। नलिन छिपे-छिपे गीता को प्यार करता था। यद्यपि वह अपने प्रेम की बात किसी पर प्रकट होने नहीं देता था। वह गीता को छोड़कर और सभी सम्भव-असम्भव कुमारियों के प्रति अपना अनुराग मित्रवर्ग पर प्रकट करता रहता था। और उनके सौन्दर्य-सम्मोहन एवं अपने प्रेम के बारे में छोटे-मोटे कल्पित किस्से भी गढ़ लेता था। इस प्रवृत्ति के दो कारण थे, एक तो उसका खिलाड़ीपन, दूसरा अपने मित्रों में छैला अथवा डान जुआन की प्रसिद्धि पाने की इच्छा। पर मित्रवर्ग उसकी चारित्रिक दृढ़ता से अपरिचित न थे, इसलिए उसकी इस युवकोचित लिप्सा पर हँस देते थे। डान जुआन की मूल भावना है शैतान के प्रति सहानुभूति या प्रेम; उसे कला लोकोत्तर, भाववाचक सौन्दर्य प्रदान कर चुकी है। नलिन चरित्र की आड़ में चरित्रहीनता का अभिनय कर अपनी चारित्रिकता का उपभोग करने के साथ-साथ हमारे युवकों में प्रचलित आधुनिक छैलापन की वृत्ति को भी कुण्ठित नहीं करना चाहता था, क्योंकि हमारा बेकार, ज्ञान-सन्दिग्ध युवक-समाज शिष्ट और शालीन कहलाये जाने में झेंपता है। स्वयं दूसरों की प्रेमिकाओं के बारे में जानने की उत्कण्ठा नहीं तो इच्छा रखते हुए भी वह अपनी प्रेम-कथा को अत्यन्त सुरक्षित रखना चाहता था। उसका यह दुहरा भाव खटकता हो यह बात न थी, क्योंकि उसके पीछे कोई बुरी भावना न थी। मित्रवर्ग में प्रेमी-प्रेमिकाओं के बारे में हास-परिहास लगा ही रहता है, नलिन भी उसमें खूब दिलचस्पी लेता था। पर अपनी प्रेमिका को विनोद का केन्द्र बनाना, या अपने प्रेम अथवा अनुरक्ति की बात को दूसरों के मनोरंजन की सामग्री बना देना, उसे परिहास के रंगों, व्यंग्यबाणों के सस्ते, साधारण, प्रकट और पक्व रूप में देखना वह नहीं सह सकता था,—उसे संकोच भले ही न होता हो। यह तो उसके युवक-हृदय में प्रतिष्ठित उस प्रथम प्रेम की प्रतिमा कुमारी को जो पवित्रता, दिव्यता, रहस्य, मधुरता, सुकुमारता, सौन्दर्य, अपार्थिवत्व, चाँदनी, इन्द्र-धनुष, स्वप्न, उषा, लहर, बिजली—सबकी सार है, उसे एकदम, जनसाधारण जिस पर चलते हैं, उस राह की धूल में मिला देना, सामान्य प्रतिदिन के प्रकाश में खोल देना, उसकी अमूल्यता को मूल्य-हीन बना देना हुआ। वह तो असामान्य है, अप्रतिम है! दाम्पत्य का मधुर गुह्य स्वर्ग जो अभी उसके लिए कल्पना-मात्र था,

पीछे वास्तविक होकर भी आधी कल्पना ही रहता है; नारी जो अज्ञेय है, गुलाब की तरह, सौन्दर्य की तरह सदैव अज्ञेय ही रहती है; जो रहस्य एवं कल्पना की बनी है, छूने पर भी छुई नहीं जा सकती, बाहुओं में बाँध लेने पर भी बाँधी नहीं जा सकती,—वह सृष्टि में सबसे सारमयी, पूर्णतामयी, नित्य नयी, प्रत्येक पल बदलती हुई, नारी—कुमारी-प्रेमिका-देवी-परी-प्रभात-सन्ध्या, बसन्त-शरद की सार्थकता—संसार के, जीवन के समस्त अभावों की पूर्ति—उसका नाम ? उसका नाम भी है ? वह रूपसी अरूप, वह नामवती अनाम है ! अनिर्वचनीय है ! रहस्य है ! नहीं, नहीं—नलिन ! वह दुहरा भाव ही अच्छा ! उसका नाम नहीं लिया जा सकता ! हाय रे नवयुवक ! यौवन की समस्त उद्दाम आशा-आकांक्षाओं, रक्त-मांस, श्वासोच्छ्वासों, स्वप्न-जागृति, रोमांस-कवित्व से निर्मित कुमारी—कामिनी !—वह परिहास, प्रमोद, गद्य, प्रत्येक क्षण की वस्तु बनायी जा सकती है ? इसके लिए और बहुत-सी सामग्री संसार में है ! नवयुवक की आँखों का सम्मोहन क्यों मिट्टी कर दिया जाय ?—दूसरों की प्रेमिकाओं की चर्चा हो, वह उन्हें नहीं जानता, वह तो केवल एक मुख को जानता है, एक मूर्ति को, एक सौन्दर्य की देवबाला को ! वही तो प्रेमिका है, प्रेम की वस्तु हो सकती है। दूसरी कुमारियों का परिहास होने न होने का उसके मन में प्रश्न ही नहीं उठ सकता, वे प्रेमिका, प्रणयिनी हो ही नहीं सकतीं, ईश्वर ने ही उन्हें नहीं बनाया है ! और किसी के आँखें नहीं, किसी को परख नहीं,—आदर्श को वही पहचान सका, अपना सका है ! औरों पर वह दया करता है, तरस खाता है, उनसे सहानुभूति रखता है।

पर समय बदलेगा,—जब छरहरा और गदबदा शरीर, गोल और लम्बा मुख, काले और भूरे बाल, नीली और काली आँखें, चंचल और गम्भीर स्वभाव, मीठी और पतली आवाज—सभी का भेद, सभी तरह की नारियों का सौन्दर्य-रहस्य धीरे-धीरे उसके हृदय में प्रस्फुटित हो सकेगा, और सबके भीतर समान-रूप से उसे आदर्श के, प्रेमिका के, अप्सरा के, देवी के दर्शन मिलेंगे। वह समय शायद उसके लिए अपनी प्रेमिका के प्रति सच्चे अनुराग को एकान्त भाव से सजीव रखने, उसका प्रमाण देने का, कठिन परीक्षा-काल होगा। पर तब गार्हस्थ्य का सत्य, उसके सुनहले बन्धन, उसकी गौरव-गरिमा नलिन के तुलनात्मक विचारों एवं आवेगों को सीमित एवं केन्द्रित करने में सहायक होंगे। गार्हस्थ्य का रूप, अपने-पराये का भाव, मिट जायेगा, उसका सर्व-व्यापक भाव जाग्रत हो उठेगा। तब मोह और ममत्व के छिलके के भीतर छिपे हुए प्रेम को अविराम लगन एवं आसक्ति के पंखों से घेरकर सेंकना नहीं पड़ेगा, अण्डे के बन्धन खुल जायेंगे और उसके भीतर से जो जीवन का प्रेम मुक्त हो बाहर निकलेगा वह अपनी रक्षा करने में स्वयं समर्थ हो सकेगा।

बरसात समाप्त हो जाने पर सुबोध मसूरी छोड़कर प्रयाग चला आया था। कुछ ही सप्ताह बाद उसे जो दो पत्र मिले उनका सारांश क्रमशः नीचे दिया जाता है :

(पहला पत्र)

···दिल्ली।
१० सितम्बर, ३५

प्रिय सुबोध,

मैं आजकल यहाँ हूँ। विजया से अब मेरा दिल हट गया है। उसका कारण यह है कि··

··

अब मुझे स्पष्ट जान पड़ता है कि उससे मुझे प्रेम नहीं था, केवल फैन्सी थी। यहाँ आने पर मेरा जी बिलकुल ही बदल गया है। यह लड़की विजया से कहीं सुन्दर है। इस थोड़े से समय में ही मेरी उससे गहरी मित्रता हो गयी है। सब से बड़ी बात यह है कि यह वैसी सूखी और हठी नहीं।··

······ ········· ·········तुम्हारी क्या राय है, शीघ्र लिखना।

तुम्हारा—सतीश।

(दूसरा पत्र)

······मसूरी
१५ सितम्बर, ३५

प्रिय सुबोध दद्दा,

तुम्हारे पत्र का उत्तर देने में विलम्ब हुआ, क्षमा करना। तुम्हारे चले जाने के बाद··

················उन लोगों का पिताजी पर बड़ा जोर पड़ रहा है कि इसी जाड़ों में शादी कर दी जाय। तुम्हें मेरी पसन्द पसन्द है। आशा है उस अवसर पर तुम अवश्य आवोगे।··································

··

तुम्हारा—
नलिन।

दम्पति

पार्वती की शादी छुटपन में हो गयी थी। वह गाँव की लड़की थी। पिता खेती-बारी का काम देखते थे। जात के ब्राह्मण थे, थोड़ी-सी जमीन थी, स्वयं खेती का काम न कर सकने के कारण उन्होंने असामी रख लिये थे। जो कुछ उससे पैदा हो जाता उसी में किसी तरह गुजर कर लेते। कुटुम्ब कुछ छोटा न था। माँ अभी जीती थी। एक विधवा भावज थी, जिसके दो बच्चे थे। उनके भरण-पोषण का भार पार्वती के पिता पर था, पार्वती से बड़े चार भाई-बहनें थीं। भगवान की कृपा से किसी तरह दिन अच्छी तरह कट जाते थे। अधिकांश समय भजन-पूजन, भागवत-रामायण के पठन-पाठन में व्यतीत होता था। गाँव में मान भी अच्छा था। छोटे-बड़े सबमें अपने नेक स्वभाव के लिए प्रसिद्ध थे। दान-दक्षिणा में जो धन मिलता था उसी से पार्वती के बड़े भाई इन्ट्रेन्स तक पढ़ सके थे। एक

गाँव के ब्रांच आफिस में पोस्टमास्टर था, दूसरा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में क्लर्क। दोनों अपनी बहुओं-बच्चों का पालन-पोषण करने लायक हो गये थे। पार्वती की बड़ी बहनों की शादी भी अच्छे ही घरों में हुई। दोनों खुशहाल थीं। यही सन्तोष उसके नेक दरिद्र पिता की मानसिक सम्पत्ति थी।

पार्वती की शादी भी शहर ही में हो गयी। उसके पिता की नेकी में प्रभाव था। अब वह निश्चिन्त हो और भी तल्लीनता से भगवान की आराधना में समय-यापन करते थे। पार्वती के पति शहर के डाकखाने में क्लर्क थे, पुराने अंग्रेजी मिडिल पास थे। दुबले-पतले थे सही, पर स्वास्थ्य अच्छा था। पार्वती के भाग से ही उसे ऐसे स्वामी मिले थे। पार्वती के सिवा उनके और कोई विनोद न था, पोस्ट आफिस से सीधे घर आते और बालिका पार्वती के सहवास का सुख लूटते। और किसी ओर उनकी आसक्ति या रुचि नहीं पायी जाती थी।

पार्वती का रंग साँवला था। लम्बी नाक, लम्बा मुख, काली-चिकनी स्नेह-करुणा-मिश्रित आँखें, हँसी में लाज, लालसा और कुछ-कुछ विजय-दर्प था। नवयुवती होने के कारण सुन्दर न होने पर भी बुरी न लगती थी। शादी के बाद चौदह साल की होने पर पार्वती स्वामी के घर आयी थी, गौना तभी हुआ था। उसके स्वामी के लिए उसका स्त्रीत्व काफी था, सुन्दरता की उन्हें ऐसी परवाह न थी। जिस प्रकार गाँव के साधारण संसार में, पिता के सात्विक गृह में पली हुई पार्वती के मन में पति के घर के लिए कोई विशेष कल्पना न थी, केवल ब्याह का अनिर्वचनीय भाव और पति मिलने का लालसा-हीन, अज्ञात, गुप्त सुख ही सब कुछ था, उसी तरह पार्वती के पति के लिए भी स्त्री की सुन्दरता और गुणों का अधिक मूल्य नहीं था, केवल किसी स्त्री के अपनी पत्नी होने के भाव में ही सबसे अधिक मोहिनी थी। सम्भव है यह नयी जवानी के कारण हो या साधारण वातावरण में पलने के कारण। दूसरी अपनी बन गयी है, कैसा मधुर रहस्य है! दूर एकदम समीप आ गया, नहीं दूर-पास का भेद भी नहीं रह गया, कल्पना ने सत्य का आसन ग्रहण कर लिया, अपने ही साथ, एक ही आसन! उसे छिपाकर, कल्पना ही रखकर, उसकी मनोहरता को चारों ओर से घेरकर उसकी रक्षा करनी चाहिए। पत्नी के प्रति उनके अस्पष्ट भावों का ऐसा ही कुछ अर्थ था। वह स्वभाव से थे भी स्त्री-प्रिय। उस स्त्री के बड़े भाग्य हैं जिसे स्त्री-प्रिय स्वामी मिलता है, पुरुष तो बाहर ही के संसार में खोया रहता है। गाँव की पार्वती के और भी बड़े भाग्य थे जो वह शहर का घर और स्त्रैण पति पा गयी! बाहर की सारी सम्पत्ति जैसे उसे अपनी मुट्ठी के भीतर मिल गयी। पति का समस्त लाड़-प्यार और ध्यान अपनी ओर खिंचा पाकर पार्वती आत्म-विजय, दर्प और आनन्द से पूर्ण होकर जीवन व्यतीत करने लगी। गाँव की लड़की होने के कारण वह घर का सारा काम-काज बात की बात में पूरा कर डालती, इसमें उसे जरा भी आलस न लगता था। वह हृष्ट-पुष्ट थी। अपने ही हाथ से खाना पकाती, रोटी बनाकर बड़े चाव से पति को खिलाती। कभी-कभी, पेट में अधिक न समा सकने के कारण, विवश हो पत्नी का आग्रह टाल देने पर, दम्पति में मधुर-कलह का भी उदय हो जाता, पर

वह दोनों की आँखें मिलते ही डूब भी जाता था। पार्वती के प्रेम में समानता के भाव से अधिक आदर ही का भाव था। इसीलिए, जिस प्रकार प्रेमी-युगल परस्पर विश्वास एवं प्रेम का उपभोग करने, प्राय: लड़ने, एक-दूसरे को उत्तेजित करने एवं खिझाने में किसी प्रकार का संकोच या कसर नहीं रखते, उस प्रकार का दृश्य पार्वती कभी अपने सरल दाम्पत्य-नाटक में न उपस्थित होने देती। पति के कटाक्षों, तानों, उत्तेजनाओं को वह हँसकर, सिर झटकाकर, सहकर निर्मूल कर देती।

पार्वती को कपड़ों का अधिक शौक न था। बनाव-शृंगार की ओर कभी उसका ध्यान ही न जाता। वह हमेशा सीधे-सादे लिबास में रहती। दूसरी स्त्रियों के रूप से उसने कभी अपने रूप की तुलना भी नहीं की। सुन्दरता, साज और शृंगार के परे उसके स्वामी ने अपने समस्त हृदय से उसे जिस रूप में अपना लिया था, स्वीकार कर लिया था, उसी से उसकी आत्म-तृप्ति हो जाती थी। पति के अधिक प्रेम के कारण उसकी शृंगार और भोग की लालसाएँ सीमित हो गयीं। गृहस्थी के खर्च से जो कुछ बचता उससे पार्वती अपने लिए गहने बनवा लेती थी, उन्हें वह सम्पत्ति समझती थी, जिससे लक्ष्मी स्थिर रहती थी। वे गहने पति को रिझाने के काम में नहीं आते थे, हाँ, कभी तिथि-त्योहार के रोज या पास-पड़ोस में ब्याह-काज के समय पार्वती गहनों के चलन का खूब सदुपयोग करती थी। उसके स्वामी उसे अधिक देर तक बाहर नहीं रहने देते थे। पार्वती का भी कहीं जी नहीं लगता था। भीतर-ही-भीतर उसे जान पड़ता था कि बाहर जिन सब वस्तुओं से स्त्री का मूल्य आँका जाता है, वैसा उसमें कुछ नहीं है। केवल उसके स्वामी की ही ऐसी दिव्य-दृष्टि है कि जिसने आत्मा के भीतर छिपा उसका गौरव पहचान लिया, और उस पर निछावर हो गये। इसीलिए पार्वती भी सखी-सहेलियों से कटकर स्वामी के ही पास जीवन का अनुभव करती, उसे पति को घेरे रहने की आदत पड़ गयी थी।

इस दम्पति के बीच कुछ अधिक बातें या रसालाप नहीं होता था। दोनों केवल एक दूसरे की उपस्थिति के प्यासे थे। दोनों अपने को एक दूसरे की आँखों से, एक दूसरे के सम्बन्ध में देखकर केन्द्रित एवं आत्मस्थ हो सुख पाते थे। दोनों के बीच दूरी रहने पर भी जैसे शरीर शरीर को छुए रहता था। वह भले ही किसी उच्च श्रेणी का असीम बन जाने का आनन्द या भाववाचक उल्लास न हो, पर वह सीमित बन जाने का सुख था, और पूर्ण सुख था, मांस का सुख था। एक का मन दूसरे का शरीर-रूप धारण कर लेता था, दोनों के मन एक-दूसरे की गन्ध से भरे रहते थे,—इसीलिए दूर रहने पर भी दोनों के शरीर मिले रहते थे।

उनकी आपस में बिलकुल सामान्य बातें हुआ करती थीं। न उनमें कला रहती, न संस्कृति और न भाव-व्यञ्जना। सत्य को दोनो अपने भीतर—गहरे भीतर—छिपाये रहते, और उस असलियत के परस्पर छिपाव का दोनों उपभोग करते। वे पति-पत्नी हैं, सब तरह से एक हैं, एक को दूसरे पर अधिकार है, पूर्ण स्वतन्त्रता और···प्रेम! उँह, इन बातों को कहने की भी जरूरत है? इन बातों की याद भी क्यों आये? जीवन का सार अन्तस्तल में छिपा रहे। क्या हृदय में धड़कन नहीं है? कौन

हर समय उस पर मन देता है, वह तो जीवन का रहस्य ही है ! गुप्त, अति गुह्य ! उस पर विस्मृति के जितने परदे पड़ सकें उतना ही सुख है, आनन्द है, स्वतन्त्रता है। याद आने से जैसे मन दबने लगता है, हृदय पर बोझ आ जाता है, आशंका, भय, ताप—न जाने क्यों ? नहीं, नहीं, वे एक नहीं, दो हैं, अपरिचित हैं, भिन्न हैं, उन्हें आपस में कुछ बोलना चाहिए, स्वाँग करना चाहिए, सहानुभूति, आदर रखना चाहिए—कुछ व्यापार तो हो। एक होना तो चुप्पी है,—वे दो हैं।

ओह, उनकी कैसे बातें होती थीं ? उनमें केवल वाणी होती, शब्द होते, मन की गर्मी और ठण्डक होती। प्रेम-प्रकाशन नहीं, भाव नहीं, अलंकार नहीं और अर्थ भी क्या होता ? उनकी बातें वस्तुएँ होतीं, यही आटा-दाल, घर-बरतन, तरकारी इत्यादि। उनकी बातें कार्य होतीं—आँखों का मिलना, झँपना, हाथों का उठना-गिरना, परस्पर सेवा इत्यादि। फिर भी न जाने कैसे इन्हीं जड़ चेष्टाओं द्वारा उनके भीतर रस छलकता रहता था, गुप्त रूप से ! क्या लिखूँ ? कुछ भी तो प्रकट नहीं है—सब कुछ एकदम छिपा हुआ, साधारण, प्रचलित, प्रतिदिन का। कला के लिए उनकी कहानी में स्थान भी है ? कला को छिपाना ही कला है या नहीं, पर अपने को छिपाना ही उनका जीवन था। एक क्लर्क की गृहस्थी का, गाँव की अशिक्षित साँवली पत्नी और शहर के नाममात्र को शिक्षित निर्बल पति के जीवन का जो साधारण, सुन्दरता-हीन गद्य था उसे उन्होंने इतना अधिक अपना लिया था या भुला दिया था कि वह उनका सर्वस्व बनकर, कुछ न बनकर, पद्य हो गया था, उनकी लय में मिल गया था। ओह, कितना सामान्य, सस्ता, प्रतिदिन का, सबका, कामकाज-मात्र का उनका वह कवित्व होता था ! वे दोनों मांस के टुकड़े या पिण्ड थे। आत्मा और मन भी मांस बनकर मूक, जड़, विचार-बुद्धि-शून्य बन गये थे, या उनसे ऊपर उठ गये थे ? वे शायद चेतना भी खो बैठे थे—हम हैं, इसका ज्ञान भी। केवल दो मांस-लोथ परस्पर घुल-मिलकर अपने को भूल गये थे, घुलने-मिलने का संस्कार बन गये थे। एक-दूसरे को अति-अधिक पहचानते थे, स्वयं खो गये थे।

यह सब तो मैंने ज्यों का त्यों लिख दिया, पर इस बीच समय और सृष्टि-चक्र भी तो अपना काम करते रहे। मनुष्य-प्रकृति, प्रवृत्तियों, शारीरिक सम्पर्क, ब्याह की युक्ति सभी ने मिलकर, चिर-परिचितों की तरह आकर, पार्वती के संसार को बदलने में, बड़ा बनाने में मदद दी। इतिहास, शास्त्र और स्वभाव की दुहाई देनी व्यर्थ है। जनसंख्या का प्रश्न, सन्तान-निग्रह, कृत्रिम-अकृत्रिम उपाय कल की बातें हैं। यह सत्य से भी अधिक दम्पति के लिए मानी और जानी हुई बात थी—यही कि दोनों अब अधेड़ हो गये, पार्वती कई लड़के-लड़कियों की माँ बन गयी। ऐसा ही तो होता आया है, हो रहा है और होगा। भगवान न करे कि किसी के कुछ और हो ! हाँ, तो वित्तानुसार कई छोटे-बड़े उत्सव आये, गृहस्थी में रोना आया, हँसी आयी; कलरव-किलोल, पुचकार-फटकार, सुख-दुःख सबमें अभ्युदय के ही चिह्न प्रकट हुए। नये रूप, रंग, नयी इच्छा, आशाएँ। नये-नये कलह और नयी चिन्ताएँ ! बहुत बड़ा परिवर्तन उपस्थित हो गया। प्रारम्भ की छोटी-सी गृहस्थी नयी हुई कि पुरानी, आगे बढ़ी कि

पिछड़ी, ये बातें किस काम की हैं ? जैसा होता है, हुआ। दम्पति की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक दशा धीरे-धीरे अच्छे के लिए बदली कि बुरे के लिए, दोनों का रूप-रंग निखरकर कहाँ चला गया, या क्या हुआ; कितने रोग आये, शोक आये, हर्ष आये, अभ्युदय आये,— शिशिर आये, बसन्त आये ! किस पहलू पर जोर दिया जाय, किस दृष्टिकोण से देखा जाय ? क्या कहा जाय, क्या छिपाया जाय ? यह तो इस दम्पति की गृहस्थी की कहानी नहीं, यह कथा तो एक दूसरी ही कथा है। इसके लिए इतिहास पढ़िए, दर्शन पढ़िए, ज्ञान-विज्ञान देखिए। हाँ, तो समय-समय पर वह सब-कुछ होता रहा।

पर पार्वती के पुत्रशोक की बात लिखनी ही पड़ेगी। बीस-बाईस साल के लड़के का मस्तिष्क खराब हो गया और अन्त में यक्ष्मा का शिकार बन परलोकवासी बन गया। पार्वती ने उसके लिए जितने आँसू बहाये उतनी रोगी की सेवा नहीं की। पागल लड़का मनुष्य तो समझा नहीं जाता। उसकी ओर से ध्यान वैसे ही खिंच जाता है। वह तो दैवी प्रकोप की बात है; दुःसाध्य, उसमें किसी का क्या वश ? और यक्ष्मा का रोग भी तो काल ही का निमन्त्रण है। रोगी तो पहले ही मरा समझ लिया जाता है। विदेशी दवाओं के लिए वैद्य एकदम नाहीं भरते हैं। और साधारण स्थिति के डाकखाने के बाबू के लड़के के लिए बहुमूल्य रसादि दवाएँ भी कहाँ तक खर्च की जा सकती हैं। सैनेटोरियम और स्वच्छ जलवायु के स्वप्न देखना भी ऐसे लोगों के लिए संगत नहीं। तिस पर भी लड़का पागल ठहरा ! भई, सच्ची बात है, मृत्यु की चापलूसी करने से क्या फ़ायदा ? सभी लोग भीतर ही भीतर ठीक बात अच्छी तरह समझते हैं। क्या किया जाय, सब तरह से लाचारी ही लाचारी थी। आँसू बहाने में मातृ-हृदय ने किसी प्रकार की कमी नहीं रक्खी। धीरे-धीरे समय ने कब बिचारी के हृदय का घाव किस तरह भर दिया इसे कोई नहीं जानता। बाहर से तो ये गूंगे दम्पति दुरुस्त ही दीखते हैं। भीतर अब भी छिपी हुई कसक हो कौन जाने ? शादी के बाद प्रसूति-बाधा से एक लड़की भी पार्वती की जाती रही। जन्म-मृत्यु किसके हाथ में है ? अब उसके लिए दो लड़के और एक लड़की रह गये हैं। बड़े लड़के ने स्कूल लीविंग के बाद पिता के पद का अनुसरण कर लिया। पिता को अब पेंसन हो गयी है। लड़के की शादी अच्छे घर हुई, पर स्त्री रुग्ण ही रहती है। सुनता हूँ, दो-तीन बच्चों की माँ भी बन गयी है। कोई कहते हैं कि गरीबों के लिए स्त्री-प्रसंग ही एकमात्र मनोरंजन रह जाता है; सम्भव है। पर पुत्र ने भी स्त्री के बारे में सोलहों आने पिता का स्वभाव पाया है। पार्वती दूसरी कन्या का विवाह भी सम्पन्न कर चुकी है। छोटा पुत्र जो अभी विद्यार्थी ही है, माँ के पास रहता है।

पार्वती के स्वामी का बुढ़ापा मैं ठीक-ठीक न लिख सकूँगा। कला को उससे शायद ही सहानुभूति हो सके, उसकी आलोचना कर सकता हूँ। उनके मन में सन्तान के लिए रत्ती-भर अनुराग देखने को नहीं मिलता। पत्नी के बाद उनके हृदय में धन-संग्रह करने की इच्छा ने घर कर लिया है, बुढ़ापे के साथ-साथ यह रोग और भी बढ़ रहा है। वह अँगूठे को तर्जनी से रगड़ते हुए सांकेतिक भाषा में सब पर यही प्रकट करते हैं कि रुपयों के बिना कुछ नहीं होता. रुपयों का बड़ा प्रभाव है। दूसरों के बारे में भी वह केवल

उनकी माली हालत जानना पसन्द करते हैं। अपने छोटे-से वेतन में उन्होंने थोड़ा-बहुत अवश्य संचय कर लिया है।

दूसरों के सामने पार्वती के पति अपने को सदैव रुग्ण, निःशक्त, निकम्मा एवं दयनीय दिखलाया करते हैं। जैसे वह सीधे-सादे, कुछ न समझनेवाले, अबोध एवं इस जटिल संसार में जीवन-यापन करने के लिए एकदम अयोग्य और अक्षम हों। इस प्रकार वह दूसरों की सहानुभूति भी अर्जन करने का शौक रखते हैं।

वे सदैव स्वस्थ अवस्था में भी रोगी से बने रहते हैं। उठने-बैठने में कराहना, आँखों में याचना का भाव भर लेना, मुख सिकोड़कर उसे झुर्रियों की जाली में छिपा लेना, यह उनका बुढ़ापे का अभिनय है। इस प्रकार का दिखावा और स्वाँग पार्वती को भी अब बहुत देखना और सहना पड़ता है। इसी के बहाने वह उससे अब छोटी से छोटी सेवा और काम करवा लेते हैं। सम्भव है युवावस्था के उनके गूंगे प्रेम की ऐसी ही अपाहिज परिणति हुई हो।

पार्वती ने उनके प्रेम और धन-संचय के भाव को अपना लिया है। पति के प्रेम पर वह मुग्ध है, उनकी ज्यादतियों और दुर्बलताओं के प्रति अनजान, पर सम्भव है यह उसका व्यवहार का चित्र हो, भीतर ही भीतर वह उन पर खीझती, ऊबती हो। किन्तु अपने पति के प्रेम-प्रदर्शन से उसे कभी तृप्ति नहीं होती। जब कभी उसके पति उसका नाम लेकर, या बेटे-बेटी को सम्बोधन कर उसे पुकार लगाते, अथवा औरतों के गिरोह की परवाह न कर उसके पास जाकर खड़े हो जाते, अथवा घर का काज करते समय उसका पल्ला पकड़े रहते—जैसा कि बुढ़ापे में, पेंशन पाने के बाद, उनका अभ्यास हो गया है, तब पार्वती लाज, संकोच, खीझ, ऊब का अभिनय करती हुई भी भीतर ही भीतर उनकी उस अनुरक्ति का उपभोग करती देखी गयी। वह उनसे उलाहने के स्वर में कहती—मेरे साथ-साथ क्या फिर रहे हो, कोई कागज या अखबार हाथ में क्यों नहीं लेते। या अपने लड़के से कहती— गिरीन्द्र, बेटा, जरा इनसे कह तो दे सही कि कागज बाँचें, जरा घूमें-फिरें, धूप का मुंह देखें, कह तो दे बेटा!

अभी हाल में पार्वती के स्वामी बीमार पड़ गये थे। रोग ने अचानक भयंकर रूप पकड़ लिया। पार्वती ने जिस लगन, साहस और दिन-रात के अथक परिश्रम से उनकी सेवा-शुश्रूषा की वह अवर्णनीय है। काल से लड़कर जैसे उसने अपने स्वामी को फिर से लौटा लिया। पड़ोस के पढ़े-लिखों का कहना है कि अपने समाज में स्त्री की परवशता ही पार्वती के इस भगीरथ प्रयत्न का कारण है। पुत्र के लिए यह सेवा-परायणता की प्रवृत्ति उसकी कहाँ सो रही थी? अतः उसे अधिक श्रेय नहीं देते। पर पढ़े-लिखे सन्दिग्ध जो रहते हैं। पुराने लोग तो इसका कारण पार्वती की अनन्य पतिभक्ति ही बतलाते हैं, और इसके लिए उस सावित्री की प्रशंसा करते हैं। पार्वती को स्वयं उसका कारण ज्ञात नहीं। आश्चर्य उसे भी होता है कि पति को मृत्यु के मुख में देखकर उसके दीर्घ जीवन के परिश्रम से थके, गले बूढ़े अंगों में वैसी प्रबल शक्ति कहाँ से आ गयी, नींद-भूख भी कहाँ खो गयी! जो कुछ भी हो, पति को जीवन-दान मिल गया, भगवान दया-निधान हैं।

बीमारी के बाद, कुछ बुढ़ापे के कारण भी, पार्वती के स्वामी की स्मृति बहुत क्षीण हो गयी है। कभी-कभी भ्रान्त भी हो जाते हैं। स्वप्न को जाग्रत अवस्था की घटना समझने लगते हैं। आँखों में शक्ति-हीन चमक आ गयी है। मस्तिष्क की नाड़ियों पर अधिकार खो रहे हैं। अब वे पार्वती के बिना क्षण भर नहीं रह सकते। वही माँ है, वही मन्त्री, वही सखी। पार्वती के स्वामी खुली हुई ग्राम्य हँसी हँसते हैं, हँसने में हाथ पर हाथ भी मारते हैं। उस हँसी ने अब भी उनका साथ नहीं छोड़ा है। उनमें एक प्रकार की रसिकता की मात्रा भी है। पार्वती को अब प्रायः उसका स्वाद मिला करता है। अब भी पार्वती का जीवन ही दम्पति का जीवन है। पेंशन के बाद छोटी-सी आर्थिक दशा में और भी कमी आ जाने के कारण बूढ़ी पार्वती पर घर के प्रबन्ध का भार और बढ़ गया है। वह स्वयं पानी खींचती, बरतन माँजती है। उसके सिर पर बात का गोला निकल आया है। कभी मैंने उसे खिन्न, विरक्त, ऊबा-खीझा, नहीं पाया। कष्टों के प्रति यह पुरुषार्थवादी विरक्ति उसकी श्लाघनीय है। अब भी स्वामी का मुसकुराते मुख से स्वागत करती है। वह आधार है, स्वामी चित्र; वह रूप, रेखा, रंग है, स्वामी मूर्ति। वह गृहस्थ की अस्थि का ढाँचा है, स्वामी मांसपिण्ड; वह निद्रा है, स्वामी स्वप्न; वह चेतना, स्वामी अनुभूति।

उस रोज स्वामी के पास, सुबह के समय, पानी का लोटा रखते हुए पार्वती ने मधुर उपदेश के साथ कहा—

"लीजिए, हाथ-मुँह धो लीजिए। एक लोटा बदन पर भी डाल लीजिए। ब्राह्मण का चोला ठहरा। कहा है, धन की शुद्धि दान से, देह की शुद्धि स्नान से।"

स्वामी ने जैसे सोते से जगकर पूछा—"क्या कहा? धन की शुद्धि स्नान—?"

पार्वती ने वात्सल्य भाव से दुहराकर, समझाते हुए कहा—"हाँ, हाँ, धन की शुद्धि···स्नान से।" उसके स्वामी ने फिर से उस वाक्य को दुहराया, और साश्चर्य मुग्ध-दृष्टि से, सिर हिलाते हुए, बार-बार उसकी नीतिमत्ता और बुद्धि की प्रशंसा की—"वाह, तुम बहुत ही होशियार हो।"

पार्वती ने आत्म-प्रशंसा से बचने के लिए मधुर विरक्ति से उत्तर दिया—"उँह, मुझसे कैसी-कैसी होशियार औरतें हैं।"

स्वामी ने आश्चर्य से आँखें फाड़कर कहा—"अच्छा? मैंने शहर और गाँव में तुम्हारी तरह होशियार किसी को नहीं देखा।"

पार्वती ने प्रसन्न होकर विरोध किया—"तुमने और किसी की ओर देखा भी!"

सम्भव है पार्वती के स्वामी ने केवल रसिकतावश वह नाटकीय कथोपकथन गढ़ा हो जिससे पार्वती को आत्म-तुष्टि मिली।

बन्नू

स्वामी की मृत्यु के बाद सब तरह से आश्रयहीन हो जिस समय कामना

अपनी दो साल की बच्ची को छाती से चिपकाकर अपने जेठ दीनानाथ के यहाँ पहुँची उस समय वृष्टि से धुले शरद के आकाश की क्रोड़ में दूज की कला मन्द-मन्द मुसकुरा रही थी। दीनानाथ बाग में अपनी झोपड़ी की देहरी पर बैठा एक स्वच्छ भूरी रंग की बछिया का गला सहला रहा था। जान पड़ता था कि शरद की कोमल सन्ध्या ही उस पिंगल बछिया का रूप धरकर अपने काले, चिकने नयनों की तन्द्रिल चितवन उस पर डाले हुए उसके स्नेह का उपभोग करने झोपड़ी के द्वार पर आयी हो।

यकायक सामने से एक अधेड़ स्त्री को अपनी ओर आते देखकर वृद्ध दीनानाथ उठने का उपक्रम करने लगा। कामना ने पास पहुँचकर बच्ची को उसकी गोद में रख दिया और उसके पाँव छूकर अपने स्वामी के स्वर्ग-वास की कथा कहते-कहते उन्हें आँसुओं की झड़ी से धो डाला।

अपने भाई की अकाल मृत्यु का समाचार पाकर दीनानाथ के भी आँसू न रुके। उसने कामना को प्रबोध दिया और लड़की को घुटनों पर चढ़ाकर खिलाने लगा। लड़की उससे रत्ती-भर भी नहीं सहमी, और बात की बात में उस स्नेह में सुफ़ेद बुड्ढे से हिल गयी। उस हँसमुख चाँद के टुकड़े पर रीझकर, सामने नवोदित दूज की कला को देख, दीनानाथ ने उस लड़की का नाम कला रख दिया।

दस साल पहले, पत्नी के स्वर्गवासी हो जाने के कारण, दीनानाथ संसार से विरक्त होकर घर से निकल आया था। वह चालीस पार कर चुका था, सन्तान-सुख से वंचित था, छोटे भाई की शादी हो गयी थी, मुट्ठी भर खेती भी उसी को सौंपकर वह तीर्थ-यात्रा करने चला आया था। प्राय: सन्तान, स्त्री, सम्पत्ति ही वस्तु-जगत में मनुष्य को संसार से बाँधे रहती हैं।

दो-एक साल साधुओं की संगत में रहकर अन्त में वह गाँव से दस कोस दूरी पर कान्तार वन में एकलिंग स्वामी की सेवा में जीवन-यापन करने लगा।

कान्तार एकलिंग शिव के मन्दिर के कारण चारों ओर प्रसिद्ध था, वह बहुत पुराना मन्दिर था, उसके पुजारी उसी के नाम से पुकारे जाते थे।

परिश्रमशील दीनानाथ अधिक समय तक निष्क्रिय, निश्चेष्ट जीवन व्यतीत न कर सका, पत्नी का वियोग-दुख कम हो जाने पर उसे मालूम पड़ने लगा जैसे मिलन-विछोह, मोह-ममता, सुख-दुख के संसार से कटकर इस प्रकार विरक्त और तटस्थ हो काल-यापन करने से उसके भीतर शान्ति के बदले सूनापन आ रहा है। प्रकृति ममत्व की जिस इकाई को देकर मनुष्य को जीवन-संग्राम के लिए अग्रसर करती है, उस इकाई का त्याग कर सुख-शान्ति ग्रहण करने की कल्पना उसे ठीक नहीं जान पड़ी। वास्तविक अभाव की पूर्ति न कर काल्पनिक भाव में रहना उसने पसन्द नहीं किया। उसे मालूम पड़ने लगा कि अनेक प्रकार के धार्मिक, नैतिक, सत्य, आचार-व्यवहार के नियम-बन्धन, जिनकी चर्चा उसे अब नित्य सुनने को मिलती थी, उसी मोह-ममत्व के संसार को स्थित एवं सुव्यवस्थित रखने के लिए बनाये गये हैं। वे जैसे अन्तस्तल की भूमि में छिपे हुए कन्द-मूल मात्र हैं। बाहर का क्रियाशील, सुख-दुख की शाखा-प्रशाखाओं से पूर्ण जीवन ही उनका वास्तविक स्वरूप है। तीर्थ के लिए आये हुए अनेक तरह के स्त्री-

पुरुषों के सम्पर्क में आने से उसकी यह धारणा और भी दृढ़ होती गयी। उसे अपने गाँव, घर और खेतों की याद आती, पड़ोसियों के मैत्री-कलह, दैनिक जीवन के घात-प्रतिघात, भाई का स्नेह, उसके गाय-बैल और बछड़े आँखों के सामने खड़े हो जाते, खेतों की लहराती हुई हरियाली उसे अपनी ओर खींचती—उन सबमें जैसे उसी का व्यक्तित्व मिला था, उन सबके द्वारा वह जैसे अपनी सृजनशील आत्मा की प्रवृत्तियों का, अपनी शक्तियों का परिचय पाकर सुखी होता था। फलत: उसने धीरे-धीरे कान्तार का एक बड़ा-सा भाग साफ़ कर डाला और उसमें बारी-बारी से आम, सन्तरा, नींबू, लीची, अमरूद, कटहल, केले आदि के पेड़ लगाना शुरू कर दिया। बाग के बीच में उसने अपने लिए एक छोटी-सी झोपड़ी भी बना ली, जिसके सामने गेंदा, चमेली, बेला आदि के पौधे और आसपास मौलसिरी, हरसिंगार, कचनार आदि के वृक्ष लगा दिये।

खाना-पीना उसका एकलिंग स्वामी के पास से हो जाता था। मन्दिर में पर्याप्त चढ़ावा चढ़ता था, दिन-रात दूर-पास के यात्री आते-जाते रहते थे, साल में दो बार मेला भी लगता था। कुछ ही सालों में दीनानाथ का बाग फूलने-फलने लगा और धीरे-धीरे उसमें यात्रियों के ठहरने के लिए इधर-उधर अनेक छोटी-मोटी झोपड़ियाँ भी पड़ गयीं। पत्र-पुष्प, फल-तोय से अतिथियों की सेवा कर दीनानाथ सन्तुष्ट रहने लगा। यात्रियों की सुविधा के लिए उसने एकलिंग स्वामी से दो-एक गायें भी लेकर पाल ली थीं। इस प्रकार पेड़-पौधों, पशु-पक्षी और आने-जानेवाले बटोहियों की सेवा में पन्द्रह साल और व्यतीत कर वह अपनी सेवावृत्ति के लिए चारों ओर प्रसिद्ध हो चुका था। उसका भाई भी इस बीच कई बार आकर उससे मिल गया था। पर आज अचानक उसके मृत्यु-समाचार ने आकर वृद्ध के मन में अपने पुराने जीवन, गाँव और गृह की याद को फिर से जाग्रत कर अपने भाई की उस छोटी-सी स्मृति कला के प्रति उसके हृदय को मोह-ममता से पूर्ण कर दिया था।

कला, शुक्लपक्ष की कला की तरह, दीनानाथ की देख-रेख में बढ़ने लगी, कामना का समय भी तीर्थ-यात्रियों की सेवा और भजन-पूजन में निश्चिन्त रूप से व्यतीत होने लगा। कला के आने से उस वृद्ध की झोपड़ी में चन्द्रोदय हो गया, गृहिणी के हाथों के स्पर्श से घर की सुव्यवस्था, स्वच्छता और सुप्रबन्ध में सजीवता आ गयी। गायें मोटी, चिकनी और स्वच्छ हो गयीं, फुलवाड़ी के पौधे हरे-भरे और लहलहे होकर फूलों से लद गये।

कान्तार और बाग के बीच एक छोटी-सी जल-धारा बहती थी, जिसे रेवती कहते थे। रेवती के ऊपर छोटी-सी कच्ची पुलिया बनी थी। उसी से केवल आने-जाने का रास्ता था। पुलिया की लकड़ियाँ दीनानाथ बदलता रहता था, वे पानी से काली पड़ जाती थीं, बरसात में उनमें हरी-हरी काई जम जाती, और थोड़ी-सी फिसलन भी पैदा हो जाती थी।

कान्तार के उत्तुंग, निर्भीक वृक्ष महाशून्य की ओर विशाल बाहों की तरह अपनी शाखाएँ फैलाये मानो आकाश के गौरव की स्पर्धा करते थे। बाग के हरे-भरे पेड़ फल और फूलों के भार से विनत हो मानो पृथ्वी से मिलने को झुक-झुक पड़ते थे। वे जैसे स्वर्ग से वरदान पाने के अजस्र प्रार्थी

थे, ये पृथ्वी को दान देने के निरन्तर अभिलाषी। कान्तार के घने पत्तों की सांय-सांय में वन की विषण्ण, निश्चेष्ट वायु का सूनापन, और कांपते हुए छाया-प्रकाश में उस विराट वन की निष्क्रिय, निष्फल आत्मा अपने ही भय और शंका से सिहर उठती थी; बाग के पेड़ों की टहनियों पर पक्षियों का मधुर कलरव, पुष्पों पर भंवरों की गूंज बाटिका के सफल सक्रिय जीवन में संगीत और रस की सृष्टि करते थे। वहां एकलिंग के मन्दिर का शंख-नाद चारों ओर दिशाओं में कम्पन पैदा करता, यहां कला का वीणा-विनिन्दक स्वर उस छोटी-सी झोपड़ी के भीतर मधुरता बरसाता था। एक प्रकृति का विशाल, विशृंखल क्रीड़ास्थल था, दूसरा मनुष्य के हाथों से संवारा हुआ छोटा-सा आंगन।

कला इसी आंगन में खेल-कूद कर बड़ी हुई थी। वसन्त के सुन्दर फूल उसके साथी थे, वर्षा ऋतु के उड़ते हुए मेघ उसकी बाल-भावनाओं की तरह अनेक आकार-प्रकार धारण कर उसका मन बहलाते थे। शरद की उज्ज्वल, स्वप्नमयी चांदनी और पूस के कोमल दिनमानों से उसका एक अज्ञात, गूढ़ साहचर्य था, उसकी कल्पना चुपचाप उनमें मिल जाती थी। ग्रीष्म की अलसाई दोपहर और हेमन्त की लम्बी उनींदी रातों के साथ-साथ बढ़कर अब वह यौवन की पहली सीढ़ी पर पांव रख चुकी थी। उसकी मां ने उसे गृह के छोटे-मोटे कामों में दक्ष बना दिया था। कण्व के तपोवन की शकुन्तला की तरह वह रेवती के जल से वृक्षों के आलवाल भरती, पूजा के लिए फूलों की मालाएं गूंथती और दीना के अतिथियों का स्वागत-सत्कार एवं सेवा करती। वह पढ़ना-लिखना नहीं जानती थी, पर भले-बुरे को पहचानती थी। गेंदा, गुलदावदी, बेला, जूही की तरह वह वस्तुओं का मूल्य उनके आकार-प्रकार रूप-रंग से, मनुष्यों का मूल्य उनके हाव-भाव, चेष्टाओं द्वारा आंक लेती थी। दीनानाथ के यहां सभी स्वभाव, सभी अवस्थाओं के यात्री आकर ठहरते थे, कला स्वभावतः उनके गुण-दोषों को जान लेती थी। उसमें विचार-बुद्धि न थी, सहज बुद्धि थी। संक्षेप में, वह सहज सुन्दर परिस्थितियों की सहज सुन्दर सृष्टि थी।

कान्तार में मन्दिर से कुछ दूर एकलिंग स्वामी का निवास था। वह इस समय अत्यन्त जीर्णावस्था में था। उसका एक भाग गिर गया था, पर दूसरा भाग रहने योग्य था, और सब तरह से साफ़-सुथरा रक्खा जाता था। चारों ओर एक छोटा-सा बगीचा था जिसकी देख-रेख न हो सकने के कारण उसमें झाड़-झंखाड़ और बनैले पेड़ उग आये थे। बीच की पुष्करिणी की हालत भी अच्छी न थी, बरसात में उसमें पानी भर जाता, गर्मियों में वह प्रायः सूख जाती, और महीनों में उसमें मच्छरों से गूंजती हुई काई जमी रहती।

एकलिंग स्वामी वृद्ध हो चले थे। वे बाल-ब्रह्मचारी, उद्भट विद्वान, धर्म और नीति के ज्ञाता तथा सौजन्य की प्रतिमूर्ति थे। उनके मुख-मण्डल पर कान्ति विराजमान रहती, आंखों में तेज; उनके कांस-गुच्छ के समान सुफ़ेद दाढ़ी-मूछों और सिर के बालों ने उनकी मुखाकृति को और भी शारद, प्रशान्त और दर्शनीय बना दिया था। अपना समस्त जीवन इसी निःसंग, निजन वन में व्यतीत कर वह वन ही की तरह गम्भीर, गहन

एवं शून्य हो गये थे। उनका शिष्य विनोदानन्द, जिसका व्यक्तित्व बन्नू शब्द से अधिक स्पष्ट होता था—जो उसके सम्बोधन का नाम था—उनके भावी पद का अधिकारी था। दस साल की उम्र में उसके माँ-बाप उसे एकलिंग भगवान की सेवा में समर्पित कर गये थे। गुरु ने उसे दीक्षा देकर नवीन रूप से उसका नामकरण किया। अब वह पच्चीस साल का हो चुका था और गुरु की कृपा से धर्म, शास्त्र, वेदान्त, नीति, दर्शन सभी में पारंगत हो चुका था।

विनोदानन्द के स्वभाव में विनोद कभी प्रवेश न कर पाया था। समस्त वन की विषण्ण निर्विकार क्रिया-शून्य स्वच्छन्द आत्मा—उसका स्वप्न-पूर्ण, सशंक, रहस्यमय छायालोक—उसके निर्भीक, बलिष्ठ, विविध रूप के वृक्षों का मौन साहचर्य—उस विशाल, भयावह, जनहीन एकान्त का गम्भीर अभेद्य वैचित्र्य किसी प्रबल झंझा के झोकों से शब्दायमान होकर जैसे उस बन्नू शब्द में सजीव एवं साकार हो गया था। वन की घनी छाया के रंग का उसका श्यामल वर्ण, विटप स्कन्धों से सशक्त मांसल अंग, पेशल हरीतिमा-सा भरा हुआ गोल आनन, कृष्ण, ओज-स्निग्ध नयन, भय-शून्य दृष्टि, मत्त गति—सभी कुछ वन की कला के प्रतिरूप था।

वह वन के छाया-गम्भीर विषाद से अपने मन को भरकर अपने को भूला रहता था। कभी-कभी नीचे के बदन में मृग-चर्म और उत्तराग में बाघ की खाल लपेटे वह वन्य मृगों और नील-गायों के पीछे दौड़कर उन्हें भयभीत किया करता था। और उन्हें पूँछ उठाकर आत्मविस्मृत हो भागते हुए देखकर अपने घन-घोष अट्टहास से कान्तार के एकान्त मौन को कम्पित कर देता था।

कामना व्रत के दिनों में एकलिंग के दर्शन करने कान्तार में प्रायः जाया करती थी। आज भी तीसरे पहर के समय हाथ में पूजा का थाल लिये कन्या के साथ-साथ उसने मन्दिर में प्रवेश किया। कला का जी अन्दर नहीं लगा, वह वन की शोभा देखने बाहर चली आयी। वास्तव में आज कान्तार की शोभा दर्शनीय थी। वसन्तागम से पेड़ों में रुपहरे, सुनहरे, हरे, पीले सिन्दूरी रंग के नये-नये कोंपल और पत्ते निकल आये थे। इधर-उधर अमलतास, कचनार, सिरिस, मदार और नीम के फूलों ने अनेक वर्णों की श्री का इन्द्रजाल फैलाया था। वन्य पुष्पों की उन्मत्त सौरभ से वायु झूम रहा था। आज किसी अज्ञात स्पर्श से जैसे कान्तार में नवीन जीवन का संचार हो उठा। पलाश की ज्वाला में मानो उसकी चिर सुप्त कामनाएँ सुलग उठी थीं, और कोकिल की पंचम कूक रह-रहकर उसकी शून्य आत्मा में सक्रिय कल्पनाओं की कम्पन एवं आवेश पैदा कर देती थी। प्रकृति के गूढ़ रहस्यों की वह विराट सौन्दर्य-भूमि आज नववसन्त की उद्दाम आकांक्षाओं से उद्वेलित हो उठी थी।

नीम के एक बड़े से पेड़ की छाया में बन्नू उस समय कुहुनी, हथेली और सिर का तिकोन बनाये, लेटे-लेटे किसी अज्ञात स्वप्न-लोक में विचर रहा था। वन की आत्मा उसके जीवन को भी संचालित करती थी। कान्तार का नवीन जीवन-सौन्दर्य उसके भीतर प्रवेश कर अन्तस्तल में अनेक अस्पष्ट, आकुल, अपूर्व भावनाओं की सृष्टि कर रहा था। उसमें न रूप था न अर्थ, केवल अनुभूति थी, संवेदना थी। शीतोष्ण अनिल के

कोमल स्पर्शों से उसके अंगों में बार-बार मधुर-वेदना जग उठती थी। पृथ्वी से एक अनजान आकांक्षा निकलकर, उसकी टाँगों से ऊपर को प्रवेश कर, उस अनभिज्ञ युवक की आत्मा को अपनी कोमल, ऊष्ण, मधुर पूर्व-स्मृति में, अज्ञेय अनुभूति में लपेट लेती थी; उसके अंगों में स्वास्थ्य की मादकता भर जाती, उसके मुख में रस का स्रोत फूट पड़ता था। उस मधुर अशान्ति का रहस्य उसकी समझ में कुछ भी न आता था, वह चुपचाप जैसे उसी में आविष्ट हो गया था।

जिस समय कला की चंचल दृष्टि बन्नू की ओर फिरी उस समय उसके सिरहाने की ओर से एक लम्बा, मोटा, काला चितकबरा साँप लहर की तरह टेढ़ी-मेढ़ी क्षिप्र-गति से उसकी ओर जा रहा था। उसकी मूर्तिमान भयंकरता देखकर, कला के हृदय को चीरकर, अचानक एक जोर की चीख निकल पड़ी। हठात् स्वप्न से जगकर उस युवती की भय-भीत दृष्टि का अनुसरण करते ही बन्नू ने भी उस सर्प को देख लिया। वह बायें हाथ के बल पर उठकर उसी तरह निर्भय होकर वहाँ बैठा रहा; साँप चुपके से उसके पास से होकर निकल गया। उस सुन्दर निर्भीक युवक की ओर दृष्टि गड़ाये, कला विस्मय से अवाक् हो, आत्मविस्मृत-सी, वहीं खड़ी रह गयी। बन्नू की बलिष्ठ देह, अदोष अंगों की गोलाई, तैलाक्त वर्ण, स्वस्थ सौन्दर्य, अकृत्रिम स्वरूप, कान्तिमान मुख एवं निर्दोष दृष्टि ने जैसे उसे अज्ञात रूप से बरबस अपनी ओर खींचना शुरू किया। बन्नू की विजय-स्मित दृष्टि जब उस नवयुवती के विस्मित मुख पर पड़ी तो वह उस चित्रस्थ सौन्दर्य की प्रतिमा को देखता ही रह गया। कला की सुन्दर आँखें विस्मय से विकसित हो उठी थीं, उसकी समस्त आत्मा जैसे चितवन ही चितवन बन गयी थी। उसके नये पल्लवों-से अधर आधे खुल गये थे; उनके भीतर से बारीक दन्त-रेखा सेम्हर के फूल से रुई की तरह झलक रही थी, मुख भय से गुलाब की तरह लाल हो उठा था। उसका बायाँ पाँव आगे की ओर बढ़ा था, और दायाँ हाथ छाती तक उठकर, सीप के सम्पुट की तरह, वहीं रुक गया था। वह गुलाबी रंग की धोती पहने थी, हरे रंग की सादी कुरती। बन्नू को ऐसा मालूम होने लगा कि वसन्त के समस्त सौन्दर्य का, मलयानिल के कोमल स्पर्शों का, कोकिल की व्याकुल वाणी का, नवीन पल्लवों के विविध रंगों का, उसकी अस्पष्ट भावनाओं और मधुर अशान्ति का जैसे यही तात्पर्य, यही सन्देश और यही सार है। उस तरुणी के दर्पण में जैसे उसे अपना अदृष्ट अन्तर-जगत स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित दिखायी दिया। भाव रूप का आश्रय ग्रहण कर चरितार्थ हो गया, अर्थ शब्द के मिल जाने से अभिव्यक्त हो उठा।

पूजा समाप्त कर कामना लड़की की खोज में वहाँ पहुँच गयी थी। बन्नू ने आत्मस्थ होकर उसे प्रणाम किया। कला अन्यमनस्क हो माँ के साथ घर को चली गयी।

मनोविज्ञान के अनुसार मन तीन वस्तुओं से निर्मित है—बुद्धि, राग और संकल्प अथवा ज्ञान, भावना और कार्य-प्रेरणा। बन्नू का केवल ज्ञान-कोष विकसित था, उसका रागतत्व एक प्रकार से सुप्त ही था; छुटपन से वह वैसी ही परिस्थितियों में रहा था। आज जब कि कान्तार

की समस्त शिराओं में वसन्त का तरुण रक्त प्रभावित हो रहा था, जब शिशिर की सूखी डालियाँ नवीन यौवन के पल्लवों से मांसल हो उठी थीं, एक संवेदना-शील नवयुवती के पवित्र सम्पर्क एवं मधुर रूप-राशि ने उसकी चिर-निर्जीव भावनाओं को जाग्रत तथा प्रज्वलित कर दिया था।

वस्तुओं की क्षण-भंगुरता, एवं जीवन की निस्सारता का आधार लेकर जो ज्ञान उसे संसार को मिथ्या बतलाता आया है वही ज्ञान जैसे आज भावना की शक्ति से सार्थक हो उसे वस्तुओं की अमरणशीलता, जीवन की सारता और संसार के नित्य होने का सन्देश सुनाने लगा; आत्मा और शरीर, जन्म और मरण, निःसीम और असीम जैसे अपना विरोध खोकर भावना के एक ही पाश में बँधकर अभिन्न और अखण्ड हो गये हैं। आज सारा कान्तार उसके भीतर समा गया। उसके समस्त छोटे-बड़े विविध आकार-प्रकार के पेड़-पौधे, परस्पर गुँथी हुई शाखा-प्रशाखाएँ, लता-कुंज, फूल-पत्ते अपना अस्तित्व खोकर एक विराट आत्मा में विलीन हो अविराम सृजन-सौन्दर्य में बदल गये हैं। यह अनेक रूप-रंग, पुष्प-पल्लव, तृण-तरुओं में व्याप्त सत्य ही जैसे अमर सत्य है, शेष सब इसका अभाव है। अनादि काल से अनन्त शिशिर और पतझड़ों पर हँसते हुए, रूप-रंग भरते हुए, जीवन के वसन्त ने आज जैसे उसके हृदय में अपना अपरिवर्तनशील, भावात्मक रूप उद्भासित कर दिया। यही चिरन्तन सत्य वट के विशाल वृक्ष को एक छोटे से बीज में भरकर, उस क्षुद्र बीज को फिर से महान आकार में परिणत कर देता है।

अनेकप्रकार के त्याग-विराग, साधना-संयम, जप-तप, नीति-रीतियों के नियम-बन्धनों के सहारे हम जिस सत्य को ग्रहण करने का असम्भव, निष्फल प्रयत्न करते आये हैं, वही अज्ञेय, अग्रहणीय सत्य जैसे अनन्त अनुराग, आनन्द, सुख, सौन्दर्य, लीला, नृत्य, आशा, आकांक्षा, रूप-रंगों द्वारा अपने को सृष्टि के चिरन्तन बन्धनों में बाँध रहा है। आत्मा अपने को रूप में बँधने के लिए फिर फिर बलिदान कर रही है। हमारे दर्शनों ने सत्य के जिस महाभाव का हमें बोध कराया है, हमने उसे न समझ सकने के कारण उस महाभाव को अभाव और शून्य में घटित कर दिया है। ज्ञान का निष्क्रिय प्रयोग कर हमने निःसीम को ससीम से, भाव को रूप से विच्छिन्न कर उन्हें भिन्न मान लिया है। ज्ञान के सक्रिय-प्रयोग द्वारा हम उस महाभाव का नाम-रूप में, निःसीम का ससीम में साक्षात् नहीं कर पाये हैं।

आज कान्तार की अपार वसन्त-श्री एक क्षुद्र तरुणी की सरल मधुर मूर्ति बनकर बन्नू के हृदय में सदैव के लिए नवीन रूप से प्रतिष्ठित हो गयी। सृष्टि का समस्त तात्पर्य उसके सामने मूर्ति धर स्पष्ट हो गया। उसका निःसीम ससीम में साकार हो गया। वह मन ही मन सोचने लगा—आत्मा की मुक्ति जैसे मांस के सुन्दर कोमल बन्धनों में बँधकर चरितार्थ होती रहती है। भावना निरन्तर रूप में, विनाश सृजन में, काल क्षण में अभिव्यक्ति पाकर अपनी सम्पूर्णता सार्थक करता रहता है।

कला सुबह के समय फुलवाडी में फूल बीनने गयी थी। माँ की पूजा के लिए फूल चुनना और ठाकुरजी के प्रसाद की माला बनाना उसका नित्य का

काम था। वह फुलवाड़ी के बीच में पत्थर के छोटे-से चबूतरे पर बैठी जूही की माला गूँथ रही थी। ग्राम के बौरों की सुगन्ध से सारा बाग महक रहा था। पक्षी कलरव कर रहे थे। प्रभात की कोमल स्वर्ण आभा उसके सुन्दर अरुण मुख पर पड़कर उस में लीन हो गयी थी। उसके माथे से धोती खिसक गयी थी, और दो-एक लटें जूड़े से निकलकर चार-वायु में डोल रही थीं। उसके अन्तस्तल में भी रह-रहकर एक अज्ञात लहर-सी दौड़ पड़ती थी। अपनी उस चंचल भावना का रहस्य उसे मालूम न था, पर उसके हृदय में वही सबसे वेगवती थी, उसमें एक तीव्रता और व्याकुलता मिली थी। कला के मन का संसार केवल थोड़ी-सी कशोर स्मृतियों का बना था। उसके बाबा का मधुर व्यवहार, माँ का लाड़-प्यार, तीर्थ-यात्रियों के कुछ क्षीण संस्मरण, आस-पास के कुछ पेड़, फुल-वाड़ी के फूल-पौधे, कुछ चिड़ियों की बोलियाँ, काली-धौली गाय, मुन्नी बछिया और उसका प्यारा हिरनौटा कानू। इन्हीं के सम्बन्ध की कुछ मधुर बातें, कुछ आकार-प्रकार, कुछ रूप-रंग, कुछ वार्तालाप, कुछ सुखद-दुखद भावनाएँ उसके भीतर बार-बार घूम-फिरकर उदय और अस्त होती रहती थीं। पर पिछली साँप वाली घटना के बाद उसके अन्तःकरण में एक अज्ञात भय, अननुभूत आकुलता उठती रहती थी। जैसे उस भयंकर सर्प ने उसके भीतर घुसकर एक अचिन्त्य, सुप्त आवेश को जाग्रत कर दिया हो, चिर-विस्मृत के आवरण को चीरकर एक अवश-प्रवृत्ति के लिए हृदय में बिल बना दिया हो।

बन्नू को उसने शायद और भी कई बार संयोगवश देखा था। पर उस दिन का उसका विजय-दीप्त आनन, बलिष्ठ, सुगठित शरीर और सर्वोपरि उसके निर्भीक अन्तःकरण की छाप कला के कोमल, भीरु हृदय में अंकित हो गयी थी। उसके अन्तःस्तल की समस्त स्मृतियों में उस दिन की स्मृति जैसे सबसे प्रधान, सबसे स्पष्ट और सबसे अधिक अपनी बन गयी थी। उस स्मृति की छाया सबसे मनोरम रूप धरकर उसके ध्यान को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेती थी।

कानू ने दौड़ते हुए आकर अपनी सखी को मानो एक ही छलाँग में भीतर के संसार से बाहर के संसार में लाकर आसीन कर दिया। अरुई के कोमल अंकुरों के समान अपने छोटे-छोटे नये सींघों से वह कला के पैर सहलाने लगा। अपने प्यारे साथी को अपने ही पास पाकर कला ने मन्त्रमुग्ध की तरह हाथ की माला उसके गले में डालकर उसे छाती से चिपका लिया। कानू उस प्यार की अतिशयता के कारण घबड़ा उठा।

फूलों के लिए देर तक लड़की की प्रतीक्षा करने के बाद कामना उसकी खोज में जब फुलवाड़ी के पास पहुँची तो उसके मन से कन्या के इस आवेशपूर्ण एकान्त-मिलन का मर्म छिपा न रहा। एक अन्तःप्रेरणा ने उसके भीतर चुपचाप लड़की की अज्ञात मनोदशा का रहस्य खोल दिया। कामना ने गहरी साँस ली, उसका हृदय लड़की के प्रति ममता से भर गया। वह वहीं से उलटे पाँव लौट गयी। राह में कुछ फूल बीनकर उसने आकुल हृदय से ठाकुरजी पर चढ़ाये और देर तक उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम करती रही।

कामना ने दूसरे दिन अवकाश ढूँढ़कर दीनानाथ से कला के विवाह

की चर्चा की। वृद्ध को यद्यपि स्वयं इसकी चिन्ता थी पर उसने कामना को धीरज देने के लिए संयोग एवं नियत घड़ी के उपस्थित होने की प्रतीक्षा करने को कहा। 'विवाहं जन्म-मरणं' पर उसका विश्वास था।

वसन्त के बाद निदाघ चला गया, वर्षा ऋतु भी आधी से अधिक बीत गयी है। मौलसिरी, गिरगिट्टी एवं करौंदे की मादक सुगन्ध से बरसात का वाष्पाकुल वायु और भी अधीर हो उठा है। पेड़ की डाल पर बैठा पपीहा बार-बार मर्मभेदी स्वर में पूछ रहा है—पी कहाँ? साँझ का सुहावना समय है, वृक्षों के अन्तराल से अस्तमित सूर्य की किरणों ने बाग में सोने का जाल बिछा दिया है। अपने निःसंग, एकाकी जीवन के साथी कानू की खोज में इधर-उधर घूमकर, कला अन्त में पपीहे की हृदयस्पर्शी पुकार से विकल हो हरसिंगार के पेड़ के नीचे खड़ी, डाली का सहारा लिये, मानो उस विधुर, अनुभवशील पक्षी के प्रश्न का उत्तर सोचने में तल्लीन है। वह पक्षी जैसे उसी के अन्तःस्तल में छिपी हुई उसकी अज्ञात, गूढ़, अजेय आकांक्षा है। उसका मन चुपचाप रेवती के कच्चे पुल को पार कर कान्तार वन में पहुँच गया है। और एक स्वस्थ, सुन्दर, तरुण मूर्ति अपने-आप उसके हृदय में उदय होकर उस पक्षी के प्रश्न का उत्तर बन जा रही है। इस बीच उसका कई बार उस मूर्ति से साक्षात् हो चुका है, फिर भी वह उसकी गुप्त मोहिनी विद्या का मर्म नहीं जान सकी है। अपने हृदय की इस सबसे प्रबल, सबसे उन्मादक प्रवृत्ति के इंगित को समझने में वह जैसे असमर्थ है।

कला धानी रंग की धोती पहने है। दौडने से उसका आँचल सरक गया है, जूडा खुलकर सावन की घनी नील मेघमाला की तरह वक्ष और कटि-प्रदेश में फैल गया है। पपीहे की पुकार से चंचल हो उसने हरसिंगार की डालों को हिलाकर ढेर-ढेर फूल अपने ऊपर बरसा लिये हैं। फूलों की मेंहदी लगी हथेलियाँ उसके कोमल करतलों से तुलना नहीं पा सकतीं, पर उनकी मादक सौरभ से उसके भावोच्छ्वासों का सादृश्य है। हरसिंगार के पुष्प झर-झरकर उसके केशों, कन्धों, उरोजों और पैरों के नीचे बिखर गये हैं, वह मानो पावस की देवी है।

अपनी भावनाओं के उद्रेक में तल्लीन हो कला भूल गयी कि वह कानू की खोज में निकली है। उसका साथी तब तक भटकता हुआ वन में पहुँच गया था। जैसे वह भीतर-ही-भीतर समझता हो कि उसकी प्यारी सखी को वास्तव में किसकी खोज है। बन्नू उस समय वन और मिट्टी की भीनी गन्ध से भरे पावस की सन्ध्या के भारी विषाद को मिटाने के लिए पुल के पास खुली जगह में घूम रहा था। सहसा कानू को देखकर उसका उद्विग्न हृदय जैसे उस हिरन के बच्चे से भी अधिक चपल हो उठा। उस पावस के अवसाद में बन्नू का अपना अवसाद भी मिला हुआ था। उसका जीवन कुछ समय से वन की आत्मा के वृन्त से जंगली फूल की तरह विच्छिन्न हो चुका था। जिस त्याग, विराग एवं अनासक्ति की सार्थकता केवल भोग की रागात्मक प्रवृत्तियों से सामंजस्य प्राप्त करने में हो सकती है, अपने देश की संस्कृति के मूल में पैठे हुए उस निष्काम त्याग को जीवन का निरपेक्ष सत्य मानकर, उसकी भित्ति

पर इन्द्रिय-निग्रह के नियमों से निर्मित बन्नू का अब तक का जीवन जैसे सर्वभूतों में व्याप्त नैसर्गिक प्रवृत्तियों से बनी हुई, प्राणियों के सहजात संस्कारों से सँवारी हुई एक सरल बालिका के अस्तित्व के आघात से चूर्ण-चूर्ण हो गया था। भाव ने शून्य पर, कला ने प्राकृत पर विजय पायी थी। अपने और वन-देवता के बीच अज्ञात रूप से आ जानेवाली उस देवी के चरणों में वह उस छिन्नपुष्प को सदैव के लिए समर्पित कर कृतार्थ हो जाना चाहता था।

बन्नू जानता था कि कानू किसका लाड़ला है। जब उस मृगछौने ने अपनी भीत-चकित दृष्टि से उसकी ओर देखा तब बन्नू के अभ्यन्तर में जिस दूसरी ही स्तिमित, विस्मित दृष्टि ने उदित होकर उसका ध्यान बलपूर्वक अपनी ओर खींच लिया वही जैसे वास्तविक दृष्टि थी, यह दृष्टि उसकी उपमा, दूतिका, छाया थी। कानू के शरीर पर साँझ की स्वर्णाभा पड़ रही थी। एक बार ऐसे ही तो मायावी मृग से एक दानव का स्वरूप प्रकट हुआ था, पर इस बार इस चकित चितवन, चंचल ग्रीवाभंगी, सुकुमार कृश अंगोंवाले मृग-शावक से जिस दिव्य सौन्दर्य-मूर्ति का आविर्भाव हुआ वह दानवी नहीं थी, मानवी भी न थी। वह स्वर्ग की देवी थी कि पंचवटी की पुण्य-स्मृति, इसे समझने में बन्नू को देर न लगी।

उसके जड़ीभूत सशक्त टाँगों में इस छोटे-से छौने ने अपनी छलाँगों का वेग भर दिया। बन्नू ने उसे पुचकारकर गोद में ले लिया, उसके पाँव अपने आप रेवती के पुल के उस पार को बढ़ने लगे। उसे पहुँचाने के बहाने मानो अपनी चंचल अबोध लालसा को, उस उद्धत हिरनौटे के स्वरूप में, अपनी देवी को भेंट करने के लिए वह धीरे-धीरे बाग के अन्दर पहुँच गया।

मौलसिरी की आड़ से उसने देखा कि कन्या पास ही हरसिंगार के पेड़ के नीचे खड़ी है। उसका हृदय किसी अज्ञात कारणवश वेग से धड़कने लगा, वह वहीं पर खड़ा रह गया। अभी-अभी उदित हुए, लालिमा से पूर्ण चन्द्रमा की तरह कला का मुख डाली के सहारे हथेली पर रक्खा हुआ था। पावस सन्ध्या के कोमल नील अँधियाले की तरह फैले हुए उसके सघन कुन्तलों में हरसिंगार के फूल छोटे-छोटे तारों के समान हँस रहे थे। बन्नू कला के इस समय के अपूर्व सौन्दर्य को मुग्ध, अतृप्त दृष्टि से देखता रह गया। वह आत्म-विस्मृत की तरह, हिरन के बच्चे को छाती से चिपकाये, चुपचाप कब कला के पास पहुँच गया, उसे यह स्वयं नहीं मालूम हो सका। कला को भी उसके आने का पता न चला। बन्नू एकटक उसके मुख की ओर देख रहा था, कला चुपचाप सिर झुकाये ध्यान में मग्न थी।

बाग से घर लौटते हुए दीनानाथ ने आम के पेड़ो की अन्तराल से जब यह दृश्य देखा तो वृद्ध की आँखों में एक आनन्द नाचने लगा। उसने पीछे से आती हुई कामना को संकेत कर धीरे से कहा—'तुम्हारी लड़की के लिए वर मिल गया है।' कामना इस अपूर्व मिलन एवं चिर-इच्छित समाचार को अभिनव रूप से देख-सुनकर अवाक् रह गयी। उसकी आँखों से हर्ष के आँसू टप्-टप् टपक पड़े।

कानू अधिक देर तक इस मौन व्यापार का साक्षी न रह सका। वह चंचल पशु यकायक बन्नू की गोद से कूदकर कला के सामने खड़ा हो गया, और उसकी ओर विजय एवं उल्लास की दृष्टि से देखने लगा। कला भी जैसे उसके साथ ही स्वर्ग से पृथ्वी पर आ पड़ी। अपने ध्यान के स्वर्ग के देवता को अपने सामने साक्षात् खड़ा देखकर वह सिर से पाँव तक लज्जा और भय के ऊष्ण-शीतल झकोरों से लाल हो गयी। बन्नू की मुग्ध-दृष्टि उसकी अपनी दृष्टि बनकर जैसे उसे देखने लगी। वह क्षण-भर के लिए अपने में समा गयी। हरसिंगार के पेड़ की तरह जैसे वह भी पृथ्वी में गड़ गयी हो। आज उसे पहली बार जैसे अपने सौन्दर्य और यौवन की अनुभूति हुई।

सोलह वसन्त और सोलह शरद अब उसके जीवन में प्रवेश कर चुके थे। वसन्त ने उसके अंगों को सौन्दर्य, विकास और सौकुमार्य प्रदान किया था। शरद ने उसके स्वभाव को निर्मलता, स्निग्धता एवं पवित्रता दी थी। आकाश ने उसकी आँखों में नीलिमा, गुलाब ने गालों में लालिमा, पक्षियों ने वाणी में कलरव, पल्लवों ने अधरों में रंग, फूलों ने साँसों में सौरभ, शशि-किरणों ने दाँतों में मधुर हास भर दिया था। उसके कदम्ब के गेंद से उठे उरोज जुही की दो कोमल ढेरियाँ थे। उसकी बाँहों को लताओं ने आलिंगन की अभिलाषा से, अँगुलियों को पीपल ने रुपहली-सुनहली कलियों से, जंघाओं को कदली ने अपने पीन लावण्य से निर्माण किया था। उसकी चंचल गति रेवती की लहरियों का नृत्य-संगीत थी। कला प्रकृति की सजीव कला थी।

वृक्षों के झुरमुट से कामना को आते देखकर बन्नू चुपचाप वहाँ से चला गया। माँ ने पास आकर लड़की को छाती से लगा लिया और उसे अपने साथ घर लिवा ले गयी।

•

कुछ समय तक दीनानाथ की बातों पर विचार करने पर एकलिंग स्वामी ने वृद्ध का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। दीनानाथ के सक्रिय जीवन के सत्य ने विजय पायी। एकलिंग के पुजारियों के आजन्म अविवाहित जीवन व्यतीत करने की प्रथा बदल गयी। वन के शिव को घर की पार्वती मिल गयी। त्याग और भोग, प्रवृत्ति और निवृत्ति परस्पर आलिंगन-पाश में बँध गये।

निष्क्रिय ज्ञान द्वारा आत्मा को, व्यक्ति को, प्रकृति के बन्धनों से मुक्त करने के बदले सक्रिय ज्ञान के सदुपयोग से मानवात्मा के लिए प्राकृतिक सत्यों के बन्धनों को सुव्यवस्थित, सार्वलौकिक स्वरूप देकर मनुष्य-जीवन की सामूहिक मुक्ति के लिए उद्योग करना कहीं श्रेयस्कर है—वृद्ध एकलिंग स्वामी के मन में यह भाव स्पष्ट हो गया था।

विवाह के बाद वर-वधू को आशीर्वाद देते हुए दीनानाथ ने कहा—'एक दिन यह सारा वन हरे-भरे, लहलहे फल-फूलों से लदे हुए बाग में बदल जाये, मनुष्य के बाहुओं का श्रम और प्रकृति की शक्तियाँ वर-वधू की तरह मिलकर संसार के पारिवारिक सुख और शान्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहें—यही मेरी एकान्त कामना है।'

एकलिंग स्वामी ने प्रसन्न होकर कहा—'तथास्तु।'

अब के एम० ए० की परीक्षा समाप्त कर जब रामकुमार घर आया, तो स्नेह-प्राण माँ का एकान्त अनुरोध न टाल सका ! अभी दो साल पीछे, अचानक हृद्‌रोग से पिता की मृत्यु हो जाने के कारण सन्तोष-मूर्ति माँ के मर्म में जो चिरस्थायी घाव पड़ गया था, उसकी पीड़ा के चिह्नों को थोड़ा-बहुत मिटाने का एकमात्र उपाय यही था, कि घर में एक नया चाँद का टुकड़ा आकर नयी चाँदनी फैलाये । कुमार के पिता अपनी इकलौती सन्तान के लिए प्रचुर धन-सम्पत्ति छोड़ गये थे । केवल एक नवीन वयस, नवीन जीवन अपने नवीन उल्लास-उमंग के चंचल, मुखर पद-न्यास से उस जड़ सम्पत्ति को सजीव कर दे, उस विशाल नीरव भवन में स्वर भर दे—इसी की कमी थी ।

रामकुमार शिक्षा-प्राप्त युवक था । जात-पाँत, कुल-वंश का आडम्बर और विवाह-सम्बन्धी पुश्तैनी रीति-रस्म उसे रत्ती-भर पसन्द न थे । परदे की प्रथा से तो उसे एकदम घृणा थी । वह उसे आदिम-युग की आँखों पर पड़ हुए अन्धकार का चिह्न कहता था । जैसा कि प्रत्येक शिक्षित युवक सोचता है, रामकुमार भी अविद्या के अँधेरे में पले हुए इन अन्ध रीति-रिवाजों के डैने तोड़-मरोड़कर समाज के जीर्ण वृक्ष की ठूँठी टहनियों से उनकी उलूक बस्तियों को जड़ से उखाड़ फेंक देना अपना कर्तव्य समझता था, पर समय पर वैसा कुछ भी न हो सका । उन्हीं रीति-रस्मों की प्रसूति, उन्हीं अन्ध-संस्कारों में पली हुई, किन्तु उनसे कहीं अधिक सजीव, संस्कृत और शान्तमूर्ति माँ के हाथों से वे पुरानी रीति-नीतियाँ एकदम उतनी भद्दी नहीं लगीं । माँ ने उनकी कुरूपता के ऊपर जैसे अपना चिर-परिचित अंचल डाल दिया । एक दिन बहुत बड़ी धूम-धाम, सज-धज और बन्धु-बान्धवों के उत्सव-कोलाहल के बीच अपनी ही लज्जा की लपेटनों में खोयी हुई-सी नववधू ने चुपके उन्हीं पुराने रीति-रस्मों के झरोखे से रामकुमार के पिता शिवकुमार की विशाल अट्टालिका में प्रवेश कर उसे अपने नवीन सुहाग की मौन मधुरिमा से भर दिया । रामकुमार ने देखा, माँ के स्नेह और यत्नों से, आज दीर्घकाल के बाद, बिलकुल ही नये ढंग से सजे हुए घर के अन्तःपुर का विशाल कमरा जैसे अपना वास्तविक केन्द्र खो बैठा है, उसकी केन्द्रवाहिनी नाड़ियाँ आज अपने को सबसे अलग किये हुए एक कोने की ओर प्रवाहित हो रही हैं । कमरे की सभी वस्तुएँ, सभी सजावट का सामान, छत, फ़र्श और दीवारें तक उस कोने से सटे हुए एक लम्बे से घूँघट के भीतर झाँकने के प्रयत्न में संलग्न, किन्तु असफलप्राय दीख रही हैं ।

बरसात के बादलों में छिपे रहने के कारण चाँद के दर्शन सहज में नहीं होते; किन्तु यह कल्पना कि वह कहीं, इन्हीं बादलों के बीच में है, और यह उत्कण्ठा कि न जाने कब उनके विरल अन्तराल से उसकी झलक मिल जाये, उसे और भी मोहक बनाये रहती है । रामकुमार को भी जान पड़ा कि छुईमुई के पौधों की तरह, अस्तित्व-हीनप्राय, केवल अनुमान मात्र उसकी बहू, अपने संकोच में अत्यधिक सिमट जाने के कारण और भी व्यक्त एवं सर्वव्याप्त हो उठी है । इस अपने को छिपाने की कला ने मानो

उसका सौन्दर्य कहीं अधिक प्रस्फुटित कर दिया है। समस्त घर में, बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, न जाने किस माया-बल से उस संकोच में सिमटी हुई, अपने ही भीतर छिप जानेवाली बहू की उपस्थिति की बेलि पुष्पित-पल्लवित होकर फैल गयी है। सबको उसके आगमन की सूचना मिल गयी है, और सभी ओर नयी सज-धज के चिह्न दिखायी देने लगे हैं।

देश-काल की आलोचना और जनरव से दूर, अन्तःपुर की चहार-दीवारी के अन्दर नवीन अनुराग की उत्सुक आँखों से देखने में, भारतीय नारी और समस्त सभ्य संसार के बीच छाया की तरह पड़े हुए और बाहर के प्रकाश को छिपानेवाले उस घूँघट का सौन्दर्य रामकुमार को किसी प्रकार की अवहेलना करने योग्य नहीं जान पड़ा। घूँघट के मुख में—उसमें भी नववधू के—उन्हें बड़ी ही मधुर कविता जान पड़ने लगी। कला को छिपाना ही—रहस्य को रहस्य बनाये रखना ही—तो कला है! संसार में जहाँ कहीं सौन्दर्य है, वह उन्हें आवरण के ही अन्दर छिपा हुआ दिखायी देने लगा—वही तो उसके लिए उचित स्थान है। केवल तड़के, बहुत ही तड़के, जबकि संसार की आँखों में कोमल झुटपुटे का परदा पड़ा रहता है, छिपते हुए चाँद की छाया में, कली अपने हृदय का गूढ़ रहस्य खोलती है। उषा के कपोलों में, चुपके से, लाज की प्रथम लालिमा दौड़कर छिप जाती है!—दिन के पूर्ण खुले प्रकाश में सौन्दर्य?

रामकुमार की माँ पुरखिन का कर्तव्य जानती थी। बेटे के, एक पढ़े-लिखे लड़के की तरह, बार-बार स्पष्ट कह देने पर भी माँ ने अपने मन में शिक्षित वधू से ऊँचा स्थान सुन्दरी वधू को ही दिया। बहू पढ़ी-लिखी न हो, तो फिर भी पढ़ाई जा सकती है, अंगों में दुबारा लावण्य तो भरा नहीं जा सकता। मनश्चक्षुओं को कुछ भी पसन्द हो, चर्मचक्षुओं को जो अच्छा नहीं लगता, उसका सुन्दर लगना और नयी उम्र में, असम्भव न होने पर भी कठिन ही है। कल्याणी इस बार-बार परखी हुई बात को कैसे भुला देती? शिक्षा का सौन्दर्य देखने के लिए समय चाहिए, धीरज चाहिए—शरीर की सुन्दरता तो आते ही बोल उठती है – देखो, मैं हूँ!

मूक सौन्दर्य और स्वरित सौन्दर्य के अधिक जाँच-पड़ताल करने की आवश्यकता कल्याणी को नहीं थी। एक तो स्त्री, माँ, उस पर प्रौढ़ अनुभव-प्राप्त। जो एक सर्वसम्मत, सर्वनिर्दिष्ट संसार है, उसकी वह कैसे उपेक्षा करती? नब्बे प्रतिशत पुरुष और निन्यानबे सैकड़ा स्त्रियाँ संसार का एक ही अर्थ समझती हैं। उनकी धारणा ही नहीं, पक्का विश्वास है कि चिर-काल से इस संसार शब्द को मनुष्य ने अपने अनुभव के तराजू में तोल, मन के खरल में घोंट, बुद्धि की कपड़छान कर, उससे जो अर्थ, जो निचोड़ निकाला है, उसका एक शब्द में सारांश है—चर्म-जगत। यह त्वचा की सृष्टि है, इसमें शरीर का प्रथम स्थान है। मोटी आवश्यकताओं की पूर्ति पहले होनी चाहिए। मिट्टी के बदन को सूँघ-चाटकर ही इस मिट्टी के मनुष्य की तृप्ति होती है—यही सनातन रीति चली आयी है। घर-द्वार, जमीन-जानवर, सन्तान-सम्पत्ति और सुन्दर स्त्री—यह सब है, तो भगवान की कृपा है। जो इससे बाहर कुछ कल्पना भी करता है, वह संसार से ऊपर उठ गया। उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, स्नेहदृष्टि से नहीं। ठीक

भी है, माया कहते हैं; इस सुन्दरता के माया-पाश से मुक्त होना क्या आसान है ? विदुषी से विदुषी स्त्री को अपने सुन्दर न होने की कमी खटकती रहती है, और सुन्दर स्त्री बिना विद्या के सहज ही निभ जाती है। लोग कहते हैं—'भई मानसिक सौन्दर्य को हम ऊँचा स्थान भले ही दें, परितृप्ति सुन्दर अंग ही देते हैं।'

एक रोज बेटे के सिर में तेल लगाते हुए माता कल्याणी ने पूछा—"क्यों रे राम, मेरी चाँद-सी बहू तेरे पसन्द आयी कि नहीं ?"

स्पष्टभाषी लड़के ने कहा—"आयी क्यों नहीं, माँ, अपने राम के लिए तुमने जो सीता खोजकर ला दी।"

बहू के रूप-लावण्य की बात को प्रश्नातीत समझकर, लगे से लड़के के हृदय की थाह लेने के लिए माँ ने सहज ढंग से कहा—"कैसा मधुर स्वभाव पाया है, जैसे चाँदनी छिटक रही हो सभी कुछ जिसमें खिल उठता है। जैसा तू है, वैसी ही बहू भी मिल गयी। पानी की तरह खुद दब जाती है, दबाना किसी को नहीं चाहती।"

माता की प्रसन्नता से मन-ही-मन प्रसन्न होकर बेटे ने श्लेष से कहा—"कह तो चुका हूँ माँ, एकदम सीता है, हर समय जमीन ही में गड़ी रहती है। केवल इस परदे के रावण से उसका उद्धार करना है, जिसने उसे पाँच आदमियों की पंचवटी से हटाकर दूर अन्ध-संस्कारों की लंका में छिपा रक्खा है। इस अग्नि-परीक्षा में तुम्हीं उसे उत्तीर्ण करवा सकती हो, माँ !"

बेटे ने माँ को समझाने के लिए उस राम-रावण की चिर-परिचित तुलना को और भी आगे बढ़ाकर परदे और रावण में पूरा-पूरा सादृश्य दिखला दिया। कहा—"माँ, यह परदा और रावण एक ही पक्षी के दो पंख हैं। दोनों मनुष्य की पाशविक आकांक्षाओं के चिह्न-स्वरूप हैं। जिस स्थूल लालसाओं के दशमुख से, विश्व-माता का आसन देने के लिए, सीता के उद्धार की आवश्यकता समझी गयी थी, उन्हीं वासनाओं की दृष्टि से स्त्री को बचाने के लिए इस परदे का भी जन्म हुआ है। जिस तरह कबूतर आँखें मूँदकर बिल्ली के मुँह से नहीं बच सकता, उसी प्रकार इस परदे की अन्ध-दीवार के भीतर प्रकाश नहीं पल सकता। समस्त सभ्य संसार सौन्दर्य को अनिलातप की उपज, प्रकाश की प्रसूति मानता है।"

कल्याणी को यह समझने में देर न लगी कि केवल उसी की सम्मति न पा सकने के कारण बहू अपने स्वामी की आज्ञा पालन करने में आना-कानी कर रही है। उसके केवल संकेत कर देने से ही, राम, इस चिरकाल से अलंघ्य नारी-लज्जा के समुद्र में, बाहर-भीतर आने-जाने के लिए, अनायास ही पुल बाँध सकेगा—इसीलिए मानो वह उसकी सहायता का प्रार्थी हो रहा है। कल्याणी, स्नेहशील माँ की तरह, बहू के मामले में अपनी इच्छा से लड़के की इच्छाओं का अधिक मूल्य समझती थी। अतएव एक रोज बहू की ठोड़ी पकड़कर सास ने बड़े ही स्नेह से कहा—"तू अपने इस लावण्य में इतनी अधिक लाज कहाँ से लिपटा लायी बहू ! इस बड़े से घर में बाहर-भीतर—सर्वत्र तुझे देख सकूँ, यही तो मैं चाहती हूँ री।" सास ने सखी बनकर चुपके से यह भी संकेत कर दिया कि उसका स्वामी अपनी स्त्री की इस अतुल सौन्दर्य-राशि को इस अकेले से

घर में समा सकने के लिए बहुत ही बड़ी समझ, अपने इस अपार्थिव लाभ की प्रसन्नता और अधिकार के गर्व को जैसे सर्वत्र फैला देना चाहता है। चकित-संसार की आँखों से प्रशंसा का और कृतज्ञ मुग्ध अन्तःकरण से स्नेह-आदर का पुरस्कार न प्राप्त करना वह नवीन दम्पति के प्रति इन अन्धरूढ़ियों का अन्याय और अत्याचार समझता है।

सरला संकोच के मारे मर-सी गयी, और मन-ही-मन अपनी इस देवी-स्वरूपा सास की भूरि-भूरि स्तुति करने लगी।

रामकुमार की शिक्षा को सौन्दर्य का सम्मोहन अधिक समय तक परास्त नहीं कर सका था। प्रथम मिलन की स्वप्नमयी सन्ध्या में, देश-काल की आवश्यकता से परे, प्रेम के प्रथमोच्छ्वास की सतृष्ण-दृष्टि से देखने में घूंघट के आवरण में जो सुन्दरता दिखलायी दी थी, इन्हीं चार-पाँच महीनों में, धीरे-धीरे, नवीनता के माधुर्य के मिटते ही वह भी लुप्त होने लगी थी। रामकुमार को सरला का मुख धुली हुई मिश्री की डली-सा, चिकना-चुपड़ा और मधुर दिखायी देता—उसमें रूप, रंग, रेखाएँ, सब रहतीं, केवल भाव, केवल व्यंजना, केवल स्वर नहीं मिलता; या रामकुमार उसे देख न पाता। बादलों के परदे से प्रभात की तरह उस लावण्य ग्रह से एक प्रकार का मानसिक तेज फूट नहीं पड़ता था। सरला तो पत्थर की प्रतिमा न थी, तब रामकुमार कैसे सन्तुष्ट रहता?

हमारे समाज ने अपनी अबला स्त्री के चारों ओर जो सूक्ष्म-स्पष्ट रेखाएँ खींचकर उसके लिए जो स्थान नियत कर दिया है, जो दृढ़ मर्यादा चिरकाल से बाँध दी है, उसे हम जिस प्रकार दूर से देख सकते हैं, हमारी नारी, उस तरह अपने को उससे अलग कर, नहीं देख सकती—वह शिक्षित हो अथवा अशिक्षित। उस संकीर्ण कारा में रहते-रहते उसे अपनी संकीर्णता का अनुभव नहीं होता। वे यम-नियम चिर-अभ्यास के कारण उसका स्वभाव बन गये हैं। उसकी आत्मा समाज के लिए अपने इस आत्म-समर्पण में खो गयी है। केवल हमारे नियम-बन्धन उसके भीतर से हाथ-पाँव बढ़ाकर, उसके विचार-व्यवहार, मान-मर्यादा, शील तथा स्वभाव के रूप में प्रकट होकर, हमसे मिलते-जुलते और परस्पर, एक-दूसरे से, सम्बन्ध बनाये रखते हैं; इसीलिए हमारी नारी सबसे अधिक वस्तु-जगत में रहती है। वह केवल सब कुछ मानकर चलती है। सभी नियम, सभी आचार, सभी संस्कार, सभी अन्ध-विश्वास उसके लिए स्पष्ट हैं, सत्य हैं। उन्हीं का संसार उसका संसार है।

रामकुमार सरला को केवल अपने आदर्शों की प्रतिमा बना देना चाहता था। उसके भीतर समाज के आदर्शों की जो चिरकाल से प्रतिष्ठित प्रतिमूर्ति यन्त्र की तरह हँसती, बोलती और काम-काज चलाती थी, रामकुमार की आँखों में उसका असामयिक छाया-रूप अत्यन्त खटकता था। सरला यह कभी नहीं भूलती थी कि वह ससुराल में है। यह बात घर में ताई ने उसके हृदय में पीड़ा होने तक पहुँचा दी थी। वह अधिक समय सास के पास बैठने, घर का काम-काज सीखने और सास की छोटी-मोटी सेवाओं में बिता देती थी, यद्यपि कल्याणी को बहू से सेवा लेना पसन्द न था। रामकुमार को इन सब कारणों से, पत्नी को इच्छानुकूल

शिक्षा देने और बाहर के आकाश में शोभित होने योग्य मुख-चन्द्र को घूंघट के घन-रोध से मुक्त करने का अवकाश नहीं मिलता था। सरला धीरे-धीरे चलती, धीरे उठती, धीरे बैठती और बहुत ही धीरे से बोलती थी। रामकुमार को इस मन्द-गति, मन्थर-विलास अथवा अवकाश-चेष्टा में रत्ती-भर सौन्दर्य या मधुरिमा नहीं मिलती थी। वह उसे मन-ही-मन सरला की मानसिक निर्जीवता, जड़ता, दीर्घ-सूत्रता और जाने क्या-क्या समझता था।

जब रामकुमार का अभिन्न-हृदय मित्र सतीश सभ्य संसार और उन्नत देशों की उर्वरा भूमि में प्रस्फुटित, विकसित और उनकी दीर्घ आयास-अनुभूति से परिपुष्ट, आधुनिक नारी का परिष्कृत आदर्श-रूप अपने मित्र के सामने रखता, तो उसके रूप-रंग की तुलना में कुमार को सरला का सौन्दर्य बिलकुल फीका, नीरस और निस्सार लगने लगता था। सतीश साधारण कम्यूनिस्टिक टेम्परामेन्ट (स्वभाव) के अनुरूप अधिक-से-अधिक पक्षपात और घृणा-व्यंजक शब्दों में मध्यवर्ग की सभ्यता का जैसा खण्डन करता, इन भद्दी बर्बर प्रथाओं की जैसी ऐतिहासिक व्याख्या देता, संसार के भविष्य का जो स्वर्ण-चित्र खींचता, और श्रम-जीवी रूस की स्त्रियों के स्वतन्त्र जीवन का जैसा अतिरंजित दृश्य आँखों के सामने खड़ा कर देता, उसे कुमार बड़े ही ध्यानपूर्वक और कभी-कभी मुग्ध-भाव से सुनता था।

वाह, वह उन्मुक्त अनिल और उज्ज्वल आतप में पली हुई स्वतन्त्र नारी-मूर्ति! निर्मल आकाश जिसके नयनो को नित्य नवीन नीलिमा प्रदान करता है; सद्यःस्फुट सुमनों का सौरभ जिसकी साँसों में बसता है; पक्षियों का कलरव कण्ठ में कूक भरता है; उषा जिसके कपोलों में गुलाब बन जाती है; बार-बार स्वच्छ जल में तैरने से जिसके अंगों की तनिमा और सुकुमारता में सजीवता आ गयी है; छहों ऋतुएं जिसके सौन्दर्य को प्रस्फुटित करने के लिए अपना सर्वस्व निछावर करती रहती हैं—वह सबल, स्वस्थ, सुन्दर स्त्री के रूप का आदर्श! जिसका मानसिक सौन्दर्य अपनी ही अधिकता में फूटकर उसके स्त्रीत्व को अपनी उज्ज्वलता में छिपा लेता है; उस स्वतन्त्रता के आलोक में देह-ज्ञान जैसे छाया की तरह बिलकुल पीछे पड़ जाता है,—वह प्रशस्त आदर्श इन अन्ध-रूढ़ियों की संकीर्णता से परे है।

एक दिन, तीसरे पहर के समय, जब दोनों मित्र बैठे हुए आपस में बातें कर रहे थे, सरला ने अपने नित्य के अभ्यास के विपरीत, मानो अपने जन्म-जन्मान्तर के दुविधा-संकोच को एक ही क्षण में भगा, जिस सहज, संयत भाव से स्वामी के कमरे में प्रवेश कर, छोटी-सी मेज पर सुन्दर ढंग से चाय का सामान सजा दिया, उसे देखकर रामकुमार मानो विस्मय और आनन्द के मारे अवाक् हो गया। मानो रोज ही का अभ्यास हो पास से अपने लिए कुर्सी खिसका, उस पर बैठ, बात की बात में चाय तैयार कर और बड़ी ही स्वाभाविक सरल मुसकुराहट से मुख को मण्डित कर, उसने दोनों मित्रों के सामने दो प्याले तथा कुछ फल और मेवे रख दिये।

"तुम्हें भी साथ देना होगा, भाभी, जब देवता ने दर्शन दे ही दिये, तो इतना-सा वरदान भी दे जायें।"—भेंट को परिचय में बदलने के लिए सतीश ने हँसते हुए अपना प्याला सरला की ओर बढ़ा दिया।

सरला ने बड़े ही निःसंकोच भाव से चाय का प्याला सतीश को लौटा दिया, और तश्तरी से कुछ मेवे उठाकर मुंह में डाल लिये।

"यह तो साथ देने का अभिनय भर हुआ।"—सतीश ने अनुरोध किया।

"देवता मृत्युलोक की सुरा पीने के आदी नहीं होते, फल-फूल ही ग्रहण कर सन्तुष्ट रहते हैं।"—बेहला की तरह बजकर, हंसी से छलकती हुई भाभी, अपने को न रोक सकने के कारण, अपनी ही नवीन वयस के कूलों मे उमड़ते हुए सौन्दर्य की लहर की तरह, एक क्षण में, कमरे से बाहर हो गयी।

"वरदान पाने के लिए अभी बहुत बड़ी तपस्या की आवश्यकता है।"—उमड़ते हुए हृदय को मानो स्रोत देकर, हास्य से कमरे को भरते हुए कुमार ने प्रसन्नता की अतिशयता के कारण प्याले में और भी चाय उँडेल ली।

सरला का वह सहज संयत साहस रामकुमार के लिए वास्तव में बहुत बड़ी प्रसन्नता का कारण हो गया था। जिस बात को वह अपने ही अस्तित्व से सहमी रहनेवाली अपनी पत्नी के लिए दुरूह ही नहीं, एक प्रकार से असम्भव भी समझने लगा था, उसी को सरला ने चिर-अभ्यस्त की तरह जिस आसानी से कर दिखला दिया, वह कोई साधारण बात न थी। रामकुमार विस्मित ही नहीं, चकित हो गया था कि उस अपनी ही दृष्टि की लाज से कुम्हला-से जानेवाले प्राणों में इतना साहस, स्वतन्त्रता कहाँ से, कैसे आ गयी!

पर सरला के लिए वह सब उतना कठिन न था, नयी बात तो बिलकुल भी न थी। छुटपन में ही माँ की मृत्यु ने उसे पिता की गोद में दे दिया था। सरला के पिता उन लोगों में से थे, जिनमें सभी को अपनी ओर खींच लेने की क्षमता होती है। उन्हें देखकर मन में वही आनन्द-भाव उठता है, जो पूस के महीने में साँझ की स्निग्ध धूप से मण्डित पहाड़ की चोटी पर दृष्टि पड़ने से। नगर के प्रायः सभी प्रतिष्ठित लोग उनके सौजन्य का उपभोग करने, शाम के वक्त, उनकी बैठक में एकत्रित हो जाया करते थे। उनके आदर-सत्कार का भार सरला के ही ऊपर रहता था। इस प्रकार पुरुष-समाज में बरती जानेवाली शिष्टता-सभ्यता से वह अच्छी तरह परिचित थी। और, लोगों के सामने निकलने में उस झिझक या संकोच नाम को भी न था; लेकिन सरला को जहाँ एक ओर इतनी स्वतन्त्रता थी दूसरी ओर उसे वैसे ही कड़े शासन में भी रहना पड़ता था। गृहस्थी की शिक्षा उसे अपनी ताई से मिली थी। ससुराल शब्द का जिस सँकरी-से-सँकरी जगह से अभिप्राय है, और स्त्री-जगत् में ही क्या जन-साधारण में भी जो फूंक-फूंककर पाँव रखने का अर्थ प्रचलित है, उसे अनुभव की पीड़ा से असमय में ही प्रौढ़ ताई ने छोटी-सी बालिका सरला के मन में बैठाने में किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रक्खी थी। सास के शासन में जिस तरह बिलकुल सिकुड़कर काँटे की नोक पर रहना होता

है, उसका अभ्यास भी भावी वधू को घर ही में करा दिया गया था। सास की भौंहों के उठने-गिरने के साथ जिस तरह उठना-बैठना पड़ता, इशारे पर जिस तरह रहना होता और उसकी उच्चारण-हीन चुप्पी के जिस तरह भिन्न-भिन्न अर्थ लगाने पड़ते हैं, उन सबको लड़की के कानों में इतनी बार डाल दिया गया था कि रेल की यात्रा के बाद उसके घर-घर शब्द की तरह वे बातें सरला के मस्तिष्क में अपने-आप चक्कर खाती रहती थीं।

ससुराल में आकर सरला ने देख लिया था कि उसके यहाँ सास के शासन का पानी बिलकुल ही गहरा नहीं है। स्वामी के स्वभाव से भी धीरे-धीरे वह अच्छी तरह परिचित हो गयी थी। आरम्भ में उसे जिस अतिरंजित शील-संकोच का अभिनय करना पड़ा वह नव-वधू का था, उसका अपना नहीं, लेकिन रामकुमार को तो बहू बनना नहीं था, इसलिए वह इस गुप्त सीख की बात नहीं जानता था। अस्तु, सास की अनुमति पाने के बाद सरला ने सहसा अपने जिस व्यवहार से स्वामी को प्रसन्न करने के साथ-साथ चकित भी कर दिया था, उसका यही रहस्य था।

कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो पहले से ही चिर-परिचित-से लगते हैं; उनके हृदय में सभी कुछ समा सकता है। अन्त.पुर की संकीर्णता में अपनी ही सुविधा का सामान होता है। बैठक का कमरा सभी के लिए खुला रहता है, उसके भीतर आने-जाने में किसी को असुविधा नहीं मालूम पड़ती। इसी प्रकार की उदार सार्वजनिकता, एक सर्वदेशीय संस्कृति नवयुवकों के स्वभाव में प्राय: देखने को मिलती है। इसका कारण शायद यह हो कि उनके पाँव अभी सांसारिकता की स्थूल मिट्टी में नहीं गड़े होते। जो हो, सतीश मे यह बात एक स्पष्ट और प्रत्यक्ष मात्रा तक थी। उसका उज्ज्वल हास्यमण्डित मुख, उसके हृदय का दर्पण था। सभी देख लेते थे, वह साफ़-सुथरा स्फटिक का बना हुआ है। फलत: नयी भाभी सरला भी थोड़े ही समय में सतीश से आत्मीय की तरह परिचित हो गयी थी। घण्टों तक बैठकर दोनों आपस में बातें करते। सतीश की रसिकता बीच-बीच में अपना रंग देती रहती। उसकी परिहासप्रियता को अशिष्टता छू तक नहीं गयी थी। रामकुमार, कार्य न रहने पर भी, कभी-कभी उन दोनों को कमरे में छोड़ स्वयं बाहर चला जाता था। इस तरह वह सतीश के प्रति अपने विश्वास का प्रमाण देना चाहता हो, यह नहीं—वह इस प्रकार की स्वतन्त्रता को अस्वाभाविक अथवा अनुचित न मानकर मनुष्य के हृदय की संकीर्णता और क्षुद्रता को मिटा देने में अपना गौरव समझता था। मानव-स्वभाव की दुरूहता के कारण संसार ने स्त्री-पुरुष के बीच जो छोटी-बड़ी रेखाएँ खींच दी हैं, सीमाएँ बाँध दी हैं, उन पर विश्वास करना वह अपनी दुर्बलता समझता था। रामकुमार यह नहीं सोचता था कि यदि संकीर्णता सचमुच ही मनुष्य के भीतर हो, तो वह इस तरह नहीं मिटाई जा सकती। हाँ, भुलाई-छिपाई अवश्य जा सकती है।

लेकिन सब कुछ होने पर भी, सतीश जिस प्रकार सरला से एकदम हिल-मिल गया था, सरला उस तरह अपने को नहीं दे सकी थी। उसने

एक सूक्ष्म-रेखा अपने बीच बनी रहने दी, जिसे सतीश नहीं देख सकता था। सतीश का स्फटिक बिलकुल स्वच्छ था, इसमें उसे रत्तीभर सन्देह न था—और यही कारण था कि वह अपने स्वामी से उनके मित्र की प्रशंसा करने में कभी न थकती थी; यहाँ तक कि कभी-कभी रामकुमार, अपनी असावधानी के क्षणों में, उस प्रशंसा के उद्गम के बारे में सन्दिग्ध हो उठता था—लेकिन सतीश के स्फटिक में एक चकाचौंध भी थी, जिसे सरला नहीं समझती थी, और समझने का प्रयत्न करने में उसका हृदय, न जाने क्यों—डर जाता था। सतीश की स्वतन्त्रता में सीमा न थी, या वह इतने आगे बढ़कर थी कि सरला के लिए उसे देख सकना असम्भव था। वह निर्मल थी, पर उसका कूल न मिलने के कारण सरला को उसमें केवल दूर तक चमकता हुआ प्रसार-ही-प्रसार दिखायी देता था, जिसमें सरला के उचित-अनुचित की दोनों सीमाएँ बीच ही में डूब जाती थीं। इसीलिए उस चौंधिया देनेवाले प्रवाह में आँखें मूंदकर नहीं कूद सकी थी।

पर रामकुमार जो सतीश को इतनी अधिक स्वतन्त्रता दे रहा था, उसका एक और भी कारण था। जब कुमार के सुधार-प्रिय हृदय में पहले-पहल अपनी पत्नी को मित्र-मण्डली के सामने उपस्थित करने और खासकर सतीश से मिलाने की बालोचित उत्सुकता पैदा हुई थी, तब उसने बाहर की बैठक में, मित्रों के आस-पास, सरला के लिए कोई स्थान निश्चित-रूप से स्थिर नहीं कर लिया था। उसने कुछ भी नहीं सोचा था कि इस स्वाधीनता की सीमा कहाँ पर रखनी चाहिए। और इसकी आवश्यकता भी नहीं, लोकाचार को, लोक-रीति को सभी जानते, सभी समझते हैं। सरला सनातन मर्यादा से बँधी हुई, अन्तःपुर की देहली से बहुत आगे बढ़ आयी हो, यह बात न थी; स्वयं व्यवहार-ज्ञान-शून्य सतीश उनके बहुत समीप खिसक आया था। यह बात असुन्दर न लगने पर भी भीतर-ही-भीतर कुमार को स्पृहणीय नहीं जान पड़ती थी। पर इस सन्देहजनक भाव-परिवर्तन का कारण कहीं उसकी मानसिक संकीर्णता न हो, इसलिए कुमार उसपर कोई मत भी नहीं निर्धारित करना चाहता था; बल्कि उस द्विविधाभाव को अपने भीतर दबा देने के लिए वह सतीश की स्वतन्त्रता को सीमित करने के बदले और भी ढील देता जा रहा था।

सतीश क्यों इस तरह की स्वतन्त्रता ले रहा था?—हमें सतीश के मनोविकास को समझना होगा। कालेज के विद्यार्थी सतीश ने संसार का ज्ञान केवल इतिहास के पृष्ठों से संचित किया था, पर उसका ठीक-ठीक ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी न था। हृदय के संस्कार प्रबल होने के कारण उसने इतिहास-द्वारा सत्य के आदर्श-स्वरूप का दर्शन करना चाहा था, फलतः उसका भावुक हृदय बड़े वेग से साम्यवाद की ओर झुक पड़ा। साम्यवाद ने केवल ऐतिहासिक तत्वों का मनन कर संसार के कल्याण का मार्ग निश्चित किया है। उसने मनोविज्ञान को भी इतिहास के तीस डिग्री के कोण से देखा है, इसलिए उसका आदर्श साम्राज्य अथवा स्वर्ण-स्थिति की कल्पना भी केवल इतिहास के मनुष्य के लिए है। पूर्ण मनुष्य को देखने का उसने प्रयत्न ही नहीं किया। कहानी के संक्षेप-शब्दों में साम्यवाद केवल ऐतिहासिक आदर्शवाद है।

सतीश सुदूर भविष्य के अनिश्चित अन्धकार में टिमटिमाते हुए

उस आदर्श-आलोक मधुरिमा की ओर आँखें गड़ाये, अपने चारों ओर व्याप्त, कठिन सामाजिक बन्धनों में बँधे हुए इस हँसते-बोलते, काम-काज करते हुए सत्य के प्रत्यक्ष रूप को मानो देख ही नहीं पाता था। इसीलिए जब वह अपनी बालोचित सरलता से अनायास सरला के सामने ही कह बैठता था कि संसार में साम्यवाद और स्त्री के सिवा रक्खा क्या है, तो वह अनर्गल होने पर भी उसके मुँह से बुरा नहीं लगता था। वह बार-बार दुहराता—मानव-जाति के कल्याण के लिए कोई सत्य, सरल, संगत और साध्य पथ है तो वह साम्यवाद; मनुष्यों के सुख, स्नेह, सौहार्द्र और सहवास के लिए कोई सामग्री है तो स्त्री।

प्रत्येक युग के सामने सत्य का जो आदर्श स्वरूप प्रस्फुटित और विकसित होता है, वह वर्तमान की दृष्टि से केवल कल्पनामात्र है। वह केवल भविष्य में ही कार्यरूप में पुष्पित, पल्लवित हो सकता है; क्योंकि परिवर्तन का अर्थ विकास है, और विकास कामरूप, स्वत: प्रवर्तित होता है। हमारे दैनिक जीवन के आचार-विचार में छना हुआ जो सत्य बरता जाता है, उसकी उपेक्षा एक व्यक्ति कर सकता हो, समाज समष्टि-रूप से नहीं कर सकता; क्योंकि समाज के रूप में ही सत्य का विकास होता है, वह उसे नष्ट नहीं कर सकता। यही सामयिक सत्य समाज के कलेवर के भीतर बृहत् चुम्बक की तरह छिपा हुआ, उसकी कार्यकारिणी नाड़ियों को अपनी ओर प्रवाहित कर उन्हें एक सार्वलौकिक रूप देता रहता है।

सरला के जीवन में चाहे कोई सिद्धान्त ज्ञान-रूप से कार्य न करता हो, वह समाज के अन्तर्व्यापी इस चुम्बक के दर्शन भी भले ही न पाती हो, पर बाहर बरते जानेवाले सत्य के इस प्रत्यक्ष रूप का उसे अन्त:प्रेरणा से सहज ही में आभास मिल जाता था। सत्य को सार-रूप में समझना उसके लिए जितना कठिन था, शब्द-रूप में देखना-सुनना उतना ही आसान भी था। यह लोकाचार में बँटा हुआ सर्वसम्मत सत्य, उसके सामने अज्ञात-रूप से खड़ा होकर उसके सतीश के साथ अच्छी तरह घुल-मिल जाने में बाधा उपस्थित करता था। सरला सतीश की स्वच्छता से एकदम तिलमिलाकर, उसे अपनी समझ से बाहर समझ, उससे सदैव अपनी रक्षा करती रहती थी। उसने दो-चार ही रोज के भीतर बाहर के कमरे में अपने लिए अपना स्थान अपने आप नियत कर लिया था।

सतीश आज सुबह गुलाब का एक बडा-सा लाल फूल लेकर रामकुमार के यहाँ आ गया था। यह गुलाब उसे रास्ते में मिल गया हो, सो नहीं; उसने खास तौर पर कल शाम से ही माली से कहकर इसे मँगवाया था। आज सरला का जन्म-दिन था। गहरे लाल रेशम की साड़ी पहने हुए, आकांक्षा से प्रदीप्त, उन्मुख ज्वाला की तरह, सरला ने ज्योंही कमरे में प्रवेश किया, सतीश क्षण-भर के लिए उस नवीन सौन्दर्य के आलोक से जैसे अभिभूत हो गया। वह उस समय बराबर बैठा तो कुर्सी पर ही रहा, लेकिन उसे ऐसा मालूम पड़ा कि वह एकाएक, भीतर-ही-भीतर, अपने स्थान से उठकर, कुछ दूर आगे बढ़, फिर जैसे लौटकर बैठा हो।

आधुनिक बंगाल-स्कूल के चित्रों ने स्त्रियों के पहनावे के सम्बन्ध में जिस हल्के रंग का आदर्श सतीश के मन में स्थापित कर दिया था, उसके

ठीक विपरीत सिर से पाँव तक गहरे, चटकीले रंग के परिधान से भी सौन्दर्य की छटा इस तरह दस गुनी होकर छिटक सकती है, यह सतीश ने पहले कभी नहीं सोचा था। इसलिए जन्म-दिन के उपहारस्वरूप उस लाल गुलाब को भाभी के हाथ में न देकर, सतीश ने सरला के सिर पर से साड़ी को सरकाकर, काले-काले बालों के सघन अँधियाले में उषालोक की तरह उस लाल फूल को उसकी चोटी में खोंस दिया। सरला का मुख संकोच के मारे गुलाब से भी अधिक लाल हो, क्षण-भर के लिए सफेद हो गया। उजड्ड सतीश रंग के इस चढ़ाव-उतार पर ध्यान न दे सकने के कारण, परिहास के ढंग से भाभी को नीचे तक झुककर, सलाम कर अपनी कुर्सी पर बैठ गया।

रामकुमार को पहले तो ऐसा मालूम हुआ, जैसे धुएँ के भीतर से आग की लपट ने निकलकर उसके हृदय को झुलसा दिया है, पर वह शीघ्र ही सम्हल गया, और जब सरला ने गुलाब के फूल को चोटी से निकालकर मेज पर रख दिया और बाएं हाथ से साड़ी को सिर पर डालते हुए करुण, पर संयत स्वर में कहा—"सतीश बाबू, आपके हाथ से कोई काम बुरा न लगने पर भी आपको इस तरह सहसा, बिना सोचे-समझे कोई काम नहीं कर डालना चाहिए।"—उस समय कुमार ने जैसे मन-ही-मन पत्नी के इस निर्देश का पूर्णरूप से समर्थन किया, यहाँ तक कि उसका सिर भी अपने आप हिलकर उसकी सम्मति जताने में नहीं रुक सका।

सतीश के मुख की हँसी, कटी हुई पतंग की तरह, हृदय की डोर से अलग हो, होठों पर चक्कर खाती हुई, जैसे वहीं-की-वहीं निःस्पन्द हो गई। उसे मालूम पड़ा कि उसके सिद्धान्तों और सत्य-ज्ञान के प्रतिकूल कुछ न होने पर भी उसके चारों ओर व्याप्त अँधेरे में आज तक छिपा हुआ कोई छाया-सत्य सहसा अपना अस्पष्ट हाथ उसकी ओर बढ़ाकर जैसे उसका गला दबा रहा है। उसे जान पड़ा, सत्य-मिथ्या होने से ही कोई काम अच्छा-बुरा नहीं लगता, उसके और भी कारण हो सकते हैं। वह जैसे किंकर्तव्य-विमूढ़ हो, अपने स्थान पर, पत्थर की मूर्ति की तरह, ज्यों का त्यों बैठा रहा।

माली को खास तौर से हुक्म देकर उस लाल गुलाब के फूल को मँगवाने में सतीश का अभिप्राय केवल उपहार देने की प्रथा को निभाना था, अथवा उसमें और भी अन्तःकरण में छिपी हुई किसी अव्यक्त आकांक्षा की प्रेरणा मिली हुई थी—इसकी आलोचना करना हास्यप्रद है। सम्भव है कि सतीश के स्वभाव का नवयुवक सभी काम सोच-विचार कर नहीं कर सकता, तो क्या सरला में इतनी उदारता न थी ? थी पर नारी की मर्यादा ! एक बार तो उसके जी में आया कि उस फूल को नोच-नोचकर फ़र्श पर बखेर दे, यह नारी-स्वभाव की प्रेरणा थी; लेकिन सरला के शील ने नारी के उद्वेग को दबाकर उसे फूल नोचने से ही नहीं, मेज पर पटकने अथवा फेंकने से भी रोक दिया। उसने अपनी मधुर संस्कृति से फूल को केवल धीरे-से मेज पर रख दिया था। सरला को केवल अपने पत्नी होने की मर्यादा की रक्षा करनी थी।

स्त्री को और भी कई काम होते हैं, पर उसके जीवन का मुख्य काम

—जहाँ पर उसे अपने स्त्रीत्व का सबसे अधिक अनुभव होता है—अपने अन्तःकरण में लबालब भरे हुए स्नेह को ठीक-ठीक, यथारीति से बाँटना है, इसमें वह सबसे निपुण होती है। वह अपने प्रति किये गये समस्त उपकारों को स्नेह ही से पुरस्कृत करती है। पर उसके स्नेह में मात्राओं का भेद होता है। वह साथ ही कई आदमियों को अपना स्नेह दे सकती है; पर किसी को कम, किसी को अधिक। उसका मानदण्ड, उसका नापने का गिलास कैसा होता है, इसे कोई नहीं कह सकता।

सरला सतीश से कम स्नेह नहीं रखती थी। जब उसने सतीश के चिर-हास्य-मण्डित मुँह की हँसी को, वृन्तच्युत पुष्प की तरह, उसके सम्पूर्ण मुख-मण्डल से अलग होकर केवल होठों के बीच मुरझाते हुए देखा, तो उसे अपने स्नेहार्द्र हृदय में असीम व्यथा का अनुभव होने लगा। यहाँ तक कि वह अपने उमड़ते हुए आँसुओं के वेग को न रोक सकने के कारण चुपचाप कमरे से बाहर चली गयी।

किन्तु सबसे अधिक क्षुब्ध और आहत हुआ रामकुमार! अपनी जिस दुर्बलता के ऊपर राख डालकर वह भीतर-ही-भीतर दबा देना चाहता था, वह आज उस लाल गुलाब के रूप में अंगारे की तरह सुलगकर उसे सन्ताप पहुँचाने लगी। रामकुमार ने देखा कि जन्म-जन्मान्तर से संचित अपने इस पति होने के संस्कार को जैसे वह किसी तरह नहीं मिटा सकता। यही नहीं, उसका यह संस्कार अपने इस अधिकार का उससे अधिक-से-अधिक उपयोग करवाना चाहता है। उसे प्रतीत होने लगा कि सरला को बाहर के संसार में ले जाने की आकांक्षा में भी उसके इसी संस्कार की प्रेरणा छिपी थी कि चार आदमियों के सामने उसका यह अधिकार-गर्व सार्थक और अधिकार-तृष्णा सन्तुष्ट हो सके। रामकुमार ने देखा कि सबसे बड़ा अवगुण्ठन उसकी आत्मा के ऊपर पड़ा हुआ है, पत्नी का वह अवगुण्ठन केवल उसकी छायामात्र है। अपने हृदय के अवगुण्ठन को हटाये बिना वह पत्नी के सुख-स्वाधीनता का उपभोग नहीं कर सकता। उसने उठकर सतीश को गले लगा लिया, और बड़े ही व्यथित भाव से कहा—"मुझे क्षमा करो सतीश!"

सतीश इस क्षमा-याचना का ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझ सका। उसने मुसकुराते हुए बाधा दी—"स्त्रियों की तरह बर्ताव मत करो कुमार!"

सरला जब चाय का सामान लेकर अन्दर आयी, तो दोनों मित्रों को प्रसन्न देखकर उसके हृदय का भार हलका हो गया। उसे प्रतीत हुआ कि उसके भीतर छिपे हुए कुमार को ही मानो वह चोटी छूने का व्यापार बुरा लगा था, उसे नहीं; और सतीश का फूल सन्देह के काँटे से सर्वथा ही शून्य है, यह बात अपने-आप ही उसकी अनुपस्थिति में मानो सिद्ध हो गयी है।

सरला ने जल्दी से उस लाल फूल के ऊपर चा-पोची डालकर चाय तैयार कर दी। तीनों मित्र नित्य की तरह चाय पीने लगे। उस बिना नशे के प्याले में परिहास का रंग खासा रहा।

छायावाद : पुनर्मूल्यांकन

[प्रथम प्रकाशन-वर्ष : १९६५]

डॉ० रामकुमार वर्मा को
सस्नेह
जिनके आग्रह से
ये निबन्ध लिखे गये

ज्ञातव्य

प्रस्तुत पुस्तिका में छायावाद पर मेरे तीन निबन्ध संगृहीत हैं, जो प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग द्वारा आयोजित 'निराला व्याख्यान माला' के अन्तर्गत इस वर्ष पढ़े गये थे। इन निबन्धों द्वारा मैंने छायावाद के विषय में प्रचारित भ्रान्तियों का निराकरण करते हुए उस पर मूल्य-परक दृष्टिकोण से प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। ये विचार मेरे नवीन विचार नहीं हैं प्रत्युत 'शिल्प और दर्शन' तथा 'कला और संस्कृति' नामों से संकलित मेरे अनेक वार्ता निबन्धों में समय-समय पर छुटपुट रूप से वाणी पाते रहे हैं। यहाँ उन्हें एक व्यापक पट पर एकत्रित तथा संयोजित कर दिया गया है।

छायावाद पर लिखने की मेरी बिलकुल भी इच्छा नहीं थी, पर भाई रामकुमारजी के अनुरोध को टालना मेरे लिए सम्भव न हो सकने के कारण, छायावादी युग का होने का संकोच, असमंजस तथा असुविधा मन में होते हुए भी, मुझे इन निबन्धों में अपने विचारों को अभिव्यक्ति देने का दायित्व स्वीकार करना पड़ा। छायावादी जीवन मूल्य की दृष्टि से मध्ययुगीन भक्ति तथा सन्त सम्प्रदाय के कवियों का मूल्यांकन अपर्याप्त तथा एकांगी भले ही लगे पर उसमें सत्य का एक महत्त्वपूर्ण अंश निहित है और इतने थोड़े से पृष्ठों एवं समय में इतने बड़े काव्य संचरण का विश्लेषण करने में बाहरी दृष्टि से एक प्रकार की असंगति का आभास प्रतीत होना स्वाभाविक है। इन सब सीमाओं के होते हुए भी मुझे विश्वास है, छायावाद के अध्ययन, मनन एवं पुनर्मूल्यांकन में पाठकों को इन निबन्धों में एक नयी दृष्टि मिलेगी।

आज जब कि साहित्य रसनिधि में ह्रास और विघटन की अँधियाली का ज्वार उमड़ रहा है और मध्ययुगीन मान्यताएँ नयी मान्यताओं से टकराकर पर्वताकार जल स्तम्भों की तरह सहस्र फन उठाकर फूत्कार कर रही हैं, यदि प्रस्तुत निबन्धों से यत्किंचित् मात्रा में भी इन संक्रान्ति-कालीन समस्याओं को सुलझाने में सहायता मिल सकी तो मैं अपने श्रम को सफल समझूँगा।

१८—७ बी, के० जी० मार्ग,
इलाहाबाद — **सुमित्रानंदन पंत**

उद्‌भव और परिवेश

हिन्दी कविता में तथाकथित छायावाद के सम्बन्ध में लिखने के लिए मुझे अपनी दृष्टि को पचास साल पीछे—लगभग सन् १९१५ के आसपास ले जाना पड़ेगा, यद्यपि काव्य-वस्तु तथा जीवन-बोध आदि की दृष्टि से छायावाद के बीज सृजन-चेतना की भूमि में १९वीं शती के उत्तरार्द्ध से भी पहिले पड़ने प्रारम्भ हो गये थे और अब भी उन बीजों के विकास के लिए उपयुक्त भूमि विश्व-चेतना में तैयार न हो सकने के कारण उनका मूल्यगत स्वरूप, प्रस्फुटन तथा परिणति पूर्णरूपेण स्पष्ट तथा जीवन-मूर्त नहीं हो सकी है। सन् '१५ में हमारी शती एक अल्हड़ किशोरी-भर थी, एक मध्यवर्गीय अज्ञात-यौवना किशोरी, जिसकी चंचल पलकों में नये युग के रूप-बोध के स्वप्न साकार होने की चेष्टा में पंख फड़काना सीख रहे थे, हृदय की अकल्पनीय गहराइयों में लोक-जीवन के भाव-यौवन, तथा लोक-चेतना के उदात्त उन्मेष ने नयी संवेदनाओं की हिलोरों में मचलना आरम्भ कर दिया था, और उनके प्रतिपल विकासोन्मुख अंगों में अधखिले पारिजात मुकुलों के समान असंख्य रूपों में अविराम फूटता हुआ निरुपम-सौन्दर्य निरन्तर झर-झरकर अपने निःस्वर भाव-मौन स्पर्शों से देश-काल की सीमाओं को डुबाने का प्रयत्न करने लगा था। तब उसे ज्ञात न था, और उसके समर्थकों तथा विरोधियों में भी किसी को ज्ञात न था, कि वह किशोरी एक अन्तर्मूक ज्वालामुखी शिखर पर तथा बहिर्मुखर संघर्ष की भूकम्प-पीठिका पर खडी, अपने नव प्रबुद्ध हृदय के अस्पष्ट लगनेवाले अविज्ञेय स्वरों में नये विश्व जीवन के महान् स्वप्न को वाणी देने के लिए, तथा भावी मानव के लिए परिवर्तित परिस्थितियों में जीवन-मन का नया मूल्यांकन करने के लिए अवतीर्ण अथवा उत्तीर्ण हुई है, और इस विश्व-व्यापी विकास-क्रान्ति की शिखर-लहरियों पर चरण बढ़ाते हुए उसे स्वयं भी अपना विकास कर नये जीवन में मूर्त होना है। उस युग की कविता अथवा आधुनिक कविता को मैं इन निबन्धों में जिस दृष्टि से देखना चाहता हूँ उसके बारे में मैंने प्रारम्भ में ही संकेत कर दिया है, क्योंकि उस युग में जब कि हमारी राष्ट्रीय चेतना एवं साहित्य पर विश्व जीवन के प्रभावों की छाप या दिशा अपने स्पष्ट चरण-चिह्न छोड़ने लगी थी, उस काल की उपलब्धि को विश्व-बोध की संगति तथा विश्व शक्तियों की पृष्ठभूमि में न देखना उस नवीन विराट् संचरण के प्रति अन्याय करना होगा; और उसे बौने नाटे रूपों में सीमित कर एवं उसके अर्थ का अनर्थ कर उसकी उपयोगिता को व्यर्थ सिद्ध कर देना होगा, जैसा कि उस युग में हुआ भी है।

पहले हम उस नवीन काव्य-संचरण के छायावाद नाम और उसकी

व्याख्याओं को लेंगे। उस युग के काव्य में व्यक्त होने की चेष्टा कर रहे अन्तर्मूल्य तथा अन्तश्चेतना को न समझ सकने के कारण ही द्विवेदी युग के वयोवृद्ध साहित्यिकों तथा आलोचकों ने, अपने काव्य सम्बन्धी पूर्वाभ्यासों से उस नयी काव्य वस्तु की संगति न बिठा सकने के कारण, तथा नवीन कला-बोध के अपनी अधिक स्पष्टता में उन्हें अस्पष्ट प्रतीत होने के कारण, उस काव्य धारा का नाम छायावादी काव्य और उस धारा के कवियों को छायावादी कवि कहना आरम्भ कर दिया, जिसके कारण उनके विद्वत्ता सम्बन्धी आत्मतोष की परितृप्ति होती रहती थी। इस प्रकार छायावाद का जन्म उन विद्याचंचुओं की उपेक्षा, अल्पता-बोधक भाव तथा अभिमान को ठेस लगने की प्रतिक्रिया के पलने ही में प्रारम्भ में हुआ। किन्तु जब उस काव्य-सृष्टि ने अपनी ही अन्तःक्षमता के कारण अधिक व्यापक, ठोस तथा आकर्षक आयाम ग्रहण करने शुरू किये तो छायावाद शब्द के धन-समर्थन के लिए, जो कि मात्र उच्च साहित्यिक द्विजों की घृणा अपमान की सन्तति था, पीछे स्नेह सहानुभूति का सम्बल खोजा जाने लगा। किसी ने उसे रहस्यवाद का छोटा भाई किसी ने अंग्रेज़ी से उधार लिया हुआ 'फंनटेजमटा' का पानी मिला हुआ अनुवाद, और यहाँ तक कि उसके लिए मनगढ़न्त औचित्य तथा प्रमाण खोजने की दौड़-धूप में उसे बँगला साहित्य में प्रचलित छायावाद का ही, बंगाल से आये हुए यात्री के समान, हिन्दी संकरण के लिबास में उत्तर प्रदेश का हिन्दी नागरिक मान लिया। इस उतावली तथा अल्पज्ञता की बखिया उधेड़ने में आज कुछ भी सुख नहीं मिलता। पर बात का बतंगड़ या तिल का ताड़ बनाना इसी को कहते हैं; और छाया ही आनेवाले युगों में उस काव्य के भाव-वाचक अस्तित्व-प्रकाश का पर्याय बनकर सन् '२० तक हिन्दी साहित्य के इतिहास में सदैव के लिए आसीन हो गयी।

उस नयी काव्य-वस्तु का सम्यक् बोध न होने तथा, उस समारम्भ काल में, अपने युग के प्रति पर्याप्त प्रबुद्ध न हो सकने के कारण, कुछ छायावादी कवियों, और मुख्यतः उसके प्रवर्तक माने जानेवाले प्रसादजी ने, उस नाम के लिए अपनी स्वीकृति देकर उसकी अपने ढंग की व्याख्या भी कर दी। इस प्रकार भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर-स्पर्श करके भाव-समर्पण करनेवाली कान्तिमयी छाया ही काव्य-वस्तु तथा कला-बोध बनकर नवीन युग के रहस्यवाद, स्वच्छन्दतावाद अथवा अभिव्यंजनावाद के रूप में विज्ञों का आशीर्वाद तथा दया दाक्षिण्य भरा संरक्षण पाने लगी। यह कुछ ऐसा ही था जैसे किसी व्यक्ति को पहले तिरस्कार से बुद्धू कहकर पीछे उसमें व्यक्तित्व की झलक पाकर बुद्धू को बुद्ध का तद्भव या विस्तार या लोकप्रचलित रूप प्रमाणित करने का प्रयत्न किया गया हो। आगे हम भी इस युग की कविता के लिए इतिहास के पृष्ठों पर बलपूर्वक अंकित इस छायावाद शब्द का ही प्रयोग करेंगे। जिस प्रकार वाल्मीकि उलटा नाम रटकर ब्रह्म के समान हो गये उसी प्रकार काव्य में उस युग की ज्योति छाया बनकर हिन्दी साहित्य को सर्वसम्पन्न करने में सफल हुई और छायावाद युग को साहित्य के इतिहास में भक्ति-युग के बाद दूसरा गौरव-स्थान प्राप्त हो सका। यद्यपि एक दृष्टि से उसमें भक्तिकाल की भाव तन्मयता तथा समग्रता का अभाव हो, पर

दूसरी दृष्टि से वह भक्ति काल की साम्प्रदायिकता, एकांगिता आदि से मुक्त, व्यापक वैश्व-चैतन्य के स्पर्श से युक्त, निखिल मानव समाज के लिए अधिक भावात्मक बोध लिये हुए होने के कारण, काव्य-मूल्य की कसौटी में अधिक लोकप्रिय नहीं तो अधिक श्रेष्ठ अवश्य है, क्योंकि वह अपनी अंचल छाया में भावी मानव-मूल्य, एवं भावी जीवन ज्योति को अपनी कलात्मक शोभा में सँजोये हुए है। छायावाद के मूल्य आदि सम्बन्धी धारणाओं की चर्चा हम विस्तारपूर्वक इस व्याख्यान-माला के तृतीय निबन्ध में करेंगे।

छायावाद के नाम के अतिरिक्त उसके उद्भव के बारे में भी परस्पर-विरोधी तथा उलझे हुए मत रहे हैं। शुक्लजी, जिनकी दृष्टि की सीमा के सम्बन्ध में हम द्विवेदी-युग के वयोवृद्ध आचार्य के रूप में ऊपर संकेत कर चुके हैं, एक ओर उसका विकास सहज स्वाभाविक हिन्दी काव्य-वस्तु तथा दर्शन की परम्परा में मानते हैं तो दूसरी ओर शैली, सौन्दर्य-बोध आदि की दृष्टि से उसे बँगला के रवीन्द्र-काव्य तथा अंग्रेजी रोमेण्टिक काव्य से प्रभावित मानते हैं, जिसे वह स्वच्छन्दतावाद कहते हैं। उनके अनुसार छायावादियों और मुख्यतः प्रसादजी से भी पहले, सरसता-भंगिमा आदि की दृष्टि से, द्विवेदी-युग का काव्य अपनी नीरस इतिवृत्तात्मकता से बाहर निकलकर छायावाद के धरातल के आसपास मँडराने लगा था और उसमें स्निग्धता, भाव तरलता, शाब्दिक भंगिमा तथा अभिव्यक्ति की प्रसन्नता आदि धीरे-धीरे प्रवेश करने लगी थी, और श्रीमैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय तथा रामनरेश त्रिपाठी आदि खड़ी बोली के काव्य को अधिक कल्पनामय, चित्रमय और अन्तर्भावव्यंजक तथा रहस्यभाव सम्पन्न रूप-रंग देने में प्रवृत्त हो रहे थे। उनके अनुसार यह स्वच्छन्द नूतन पद्धति अपना रास्ता निकाल ही रही थी कि श्रीरवीन्द्रनाथ की रहस्यात्मक कविताओं की धूम मची और कई कवि, अर्थात् छायावादी कवि, एक साथ रहस्यवाद, प्रतीकवाद या चित्रभाषावाद एवं अभिव्यंजना पद्धति को ही एकान्त ध्येय बनाकर चल पड़े। जिस प्रकार छायावाद नाम को वह योरप के फेनटेज़्मटा से, बंगाल में ब्रह्म समाज की दीक्षा लेकर, हिन्दी काव्य की छतरी पर उतरा मानते हैं, उसी प्रकार प्रतीकवाद के प्रभाव को वह फ्रांस के रहस्यवादी कवियों के एक दल सिंबोलिस्ट्स् की देन मानते हैं, जैसे वेदों से लेकर संस्कृत-हिन्दी काव्यों में प्रतीकों का एकान्त अभाव रहा हो। अर्थात् शुक्लजी की दृष्टि में छायावाद काव्य-वस्तु की दृष्टि से स्वदेशी हिन्दी काव्य-परम्परा का विकास है और शैली की दृष्टि से बँगला की छलनी में छना हुआ और सीधा भी विदेशी स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव है। छायावाद को जिस बाहरी दृष्टि से शुक्लजी देख सके हैं उसमें तथ्यों का आग्रह भले ही हो पर वह इतनी सीमित दृष्टि थी कि उसमें अर्ध-सत्य क्या सत्य का छिलका ही देखने को मिलता है। वास्तव में उस युग के पास समग्र अन्तर्दृष्टि न होने के कारण आलोचना के विकसित मानदण्डों का भी अभाव रहा है और उस युग के प्रायः सभी आत्मतुष्ट आलोचक छायावाद की बाह्य परिक्रमा भर कर उसके सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करने की विवशता अनुभव करते रहे हैं। यह श्रेय भी सम्भवतः छायावाद को ही है कि उसने

आगे चलकर हिंदी समालोचना के स्तर को इतना समृद्ध तथा विचार-क्षम बनाकर उसे पिटी-पिटाई परम्परागत मान्यताओं की दृष्टि से मुक्त कर व्यापक विकास के पथ की ओर अग्रसर किया।

छायावाद की समय-समय पर अनेक व्याख्याएँ हुईं, पर कोई भी व्याख्या उस युग के कृतित्व के प्रति अथवा उस नये काव्य संचरण के मूल्यांकन के प्रति पूर्ण न्याय नहीं कर सकी। उसके गुण-दोषों का भी विवेचन हुआ और एक प्रकार से उसमें थोड़ा-बहुत सत्य भी है, पर उस काव्य-वस्तु की मर्म-सम्बन्धी मूल दृष्टि के अभाव में वे विवेचनाएँ उस व्यापक क्षितिज से अपना अर्थ ग्रहण नहीं कर सकीं जिससे छायावाद अपनी मौलिक प्रेरणा ग्रहण कर रहा था, अथवा जिस चैतन्य-शिखर से उस अमृत स्रोत की धाराएँ निःसृत हो रही थीं। वास्तव में, प्रारम्भ में ही उस संचरण के लिए एक त्रुटिपूर्ण तथा भ्रामक नाम स्वीकार कर पीछे उसके समर्थन के प्रायः सभी मूल्यवान् प्रयत्न उसके सारभूत-तत्त्व को और भी उलझाते रहे और उसके पास पहुँचने के बदले उससे और भी दूर होते रहे। साहित्य के मन्दिर में छाया या प्रेत की स्थापना कर लेने पर अनेक प्रयत्न करने पर भी उसमें प्राण प्रतिष्ठा नहीं कर सके, छाया नये जीवन की वास्तविकता नहीं बन सकी; वह छाया की भी परछाईं के रूप में ग्रहण की जाने लगी। जलधारा दृष्टि से ओझल हो गयी और समालोचकों तथा समीक्षको के दृष्टि-प्रसार की चमकीली रेती से उपजी मृग-तृष्णा का अध्ययन, मनन, संश्लेषण-विश्लेषण कर ज्यों-ज्यों उसे पकड़ने का प्रयत्न किया गया वह हाथ से छूटकर और भी दूर भागती रही; मिथ्या को सत्य प्रमाणित करने की चेष्टा में विद्वानों ने आकाश-पाताल की छानबीन कर डाली। अद्वैतवाद, ब्रह्म, सर्वात्मवाद, रहस्यवाद आदि अनेक दार्शनिक ऊहापोहों, सूफ़ी-सन्तों के अनुभवों, साधना के गूढ़-भेदों, निराकार निर्गुण से लेकर साकार सगुण तक सभी प्रकार के सिद्ध मन्त्रतन्त्रों की दुहाई दे डाली गयी पर मिथ्या सत्य न बन सका। और छायावाद के सर्प-रज्जु भ्रम में समीक्षक स्वयं भी भटकते रहे और दूसरों को भी भटकाते रहे। अनेक प्रबुद्ध कवि भी अपने मौलिक प्रेरणा स्रोत को छोड़कर तथा आलोचकों के सिद्धान्तों की भूलभुलैयाँ में पड़कर उनकी वेदों के युग से पोषित धारणाओं को अपने काव्य में उतारकर उनकी ही मरीचिका को सृजन-मूर्त करने में गौरव का अनुभव करने लगे। छायावाद शब्द ने जितनी भ्रान्ति काव्य-प्रेमियों तथा सामान्य पाठकों के मन में फैलायी और उसके बारे में जितनी निर्मूल बातों, आकाशकुसुम मूल्यों का प्रचार हुआ उसके एक शतांश का आभास भी मैं आपको यहाँ पर नहीं दे सकता—इस निबन्ध को सुनते समय आपको उस युग के संवेदनशील, भावप्रवण, युग स्वप्न द्रष्टा कवियों के हृदय के अन्तःसंघर्ष को नहीं भूल जाना चाहिए—जिनको उनकी वास्तविकता की भूमि से धकेलकर अधर पर लटका दिखलाया गया, पर वे अपने ही अन्तःकरण की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण केन्द्रच्युत होने से बच गये और उन पर जो निन्दनीय आक्षेप और निर्मम आघात तब हुए—उनमें से कुछ इतने व्यक्तिगत हैं कि मैं उस प्रसंग की यहाँ चर्चा ही नहीं करूँगा। उसके बदले अब हम छायावाद की कुछ प्रमुख व्याख्याओं के सम्बन्ध में विवेचन करें, यह अधिक

समीचीन होगा।

छायावाद का सम्बन्ध रहस्यवाद से माना जाता है, कोई उसे रहस्यवाद का पहला रूप कोई दूसरा रूप मानते हैं। अर्थात् छायावाद को आत्मा का परमात्मा के प्रति सीधा आत्म-निवेदन न मानकर—जो कि आलोचकों के अनुसार रहस्यवाद का क्षेत्र है—ब्रह्म या परमात्मा के व्यक्त या आत्मसृष्ट स्वरूप प्रकृति या भाव-सगुण के माध्यम से प्रणय निवेदन बतलाया जाता है। कोई इसमें दार्शनिक दृष्टि से सर्वात्मवाद तथा व्यापक सत्य के प्रति बौद्धिक जिज्ञासा का भाव भी बतलाते हैं। छायावाद की रहस्यवादी तथा दार्शनिक धरातल की विवेचना में आलोचकों ने अनेक पृष्ठ रँग डाले हैं या कहना चाहिए ग्रन्थ ही लिख डाले हैं। मैं केवल संक्षेप में ही उसकी चर्चा यहाँ कर सकता हूँ। मेरे विचार में उस युग की पुष्कल बहुमुखी काव्य सृष्टि को सामने रखते हुए छायावाद पर रहस्यवादी दृष्टि से विचार करना मात्र अतिरंजना है और उस युग की मुख्य काव्य प्रवृत्ति पर एक गलत मानदण्ड का प्रयोग करना है। मध्ययुगीन सन्तों की तरह छायावादी कवि आत्मब्रह्म और आत्म-परिष्कार की खोज में न जाकर विश्वात्मा तथा विश्व-जीवन की खोज की ओर अग्रसर हुए। अतः उनकी प्रेरणा का स्रोत मध्ययुगीन भारतीय अन्तश्चेतना (साइकी) ही न रहकर विश्वचेतना (युनिवर्सल साइकी) रही। क्योंकि उनके युग में राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता में परिणत हो रही थी और विज्ञान भी अपना दान विश्व-संयोजन तथा नये मूल्य की खोज के लिए अर्पित कर रहा था—जिस नये मूल्य को जीवन की वास्तविकता में मूर्त करना था। अतः छायावादी कवियों का व्यापक संघर्ष विश्वात्मा तथा नयी मानव-आत्मा की अभिव्यक्ति का संघर्ष था। वे उसके लिए नये परिवेश तथा वातावरण को जन्म देने में संलग्न थे जिसकी पीठिका पर नया विश्व जीवन प्रतिष्ठित हो सके। नये मूल्य की खोज ने छायावाद को नया कला-बोध तथा नयी चेतना का स्पर्श प्रदान किया। पुराने मानसिक भाविक परिवेश के प्रति इस नयी चेतना की प्रतिक्रिया ने द्विवेदीयुगीन जीर्ण वास्तविकता को नवीन सौन्दर्य प्लावन में मज्जित कर दिया। छायावाद कोई दर्शन विशेष तो नहीं दे सका—क्योंकि निर्माण युग में चेतना ही मुख्य होती है, दर्शन विकास-युग की परिणति है—पर वह अज्ञात रूप से औपनिषदिक दृष्टि को मध्ययुगीन सन्तों के रहस्यवादी पारलौकिक कुहासों से मुक्त कर सका। प्राचीन वास्तविकता की सीमाएँ थीं, यह वह पुनर्संयोजित समग्र-वास्तविकता नहीं थी जो वैज्ञानिक युग के नये मनुष्य का प्रतिनिधित्व करती। छायावाद ऐतिहासिक दृष्टि से अनुपयोगी विगत वास्तविकता को अपनी बोध-दृष्टि से अतिक्रम कर, नवीन यथार्थोन्मुख आदर्श की खोज में कला-शिल्प की दृष्टि से अमूर्त तथा अरूप हो गया। सामाजिक ढाँचे के बासी सौन्दर्य से ऊबकर वह प्रकृति की ओर मुड़ा और वहाँ से नया सौन्दर्य वैभव संचित कर कला को सौरभ मण्डित तथा भावना जगत् को सद्यः प्रस्फुटित कर सका। छायावादी पलायन वर्तमान की संकीर्ण विघटित होती हुई ह्रासोन्मुखी वास्तविकता से एक नवीन उच्च वास्तविकता की खोज के लिए पलायन था—यदि उसे पलायन कहना आवश्यक ही है तो। इसीलिए उसमें नये यथार्थ,

नयी काव्य-वस्तु की झलक के साथ पिछली रूढ़ि-रीतियों के ढाँचे में बन्दी सामाजिकता के प्रति घोर विद्रोह की भावना तथा क्रान्ति का शंखनाद मिलता है। वह मध्य युगों के आकाश में खोये परलोकवादी मुक्तिवादी अध्यात्म को—अध्यात्म, जो कि जीवन मन प्राणों के विभेदों को अतिक्रम कर चेतनात्मक एकता का बोध देता है—नये युग सन्दर्भ में मानव जीवन के निकट ही नहीं लाया, नयी चेतना की शक्ति द्वारा वह जीवन-निर्माण में भी नयी स्फूर्ति का संचार कराने में सफल हुआ। भावी प्रकाश को छाया कहकर हिन्दी साहित्य युगों के बाद नये कृतित्व के ऐश्वर्य से सम्पन्न हुआ। उसे भक्तिकाल के बाद स्थान देना मूल्य-दृष्टि के अज्ञान का द्योतक है। छायावाद में भक्तियुग की-सी तन्मयता तथा भावनात्मक गहराई न हो, पर व्यापकता तथा ऊर्ध्वता अधिक है। अपने सर्वोत्तम अंश में इसने भावी मानवता तथा नये मनुष्य के कैशोर सौन्दर्य-विस्मय को विश्व प्रकृति से तादात्म्य के द्वारा वाणी दी है। इतना सप्राण, आलोकवान, विश्व-चैतन्य से प्रेरित नवीन काव्य पाकर उस युग के आलोचक अपनी मध्ययुगीन काव्यशास्त्रीय कसौटी में उसका समुचित मूल्य न आँक सकने के कारण हतप्रभ तथा किंकर्तव्यविमूढ हो उठे। यह ठीक है कि उस युग के काव्य से कुछ ऐसा अंश खोजा जा सकता है जिसमें कबीर आदि मध्ययुगीन सन्तों, सूफियों या रवीन्द्रनाथ की व्यंजना शैली का विरल सघन प्रभाव मिलता हो, क्योंकि ये प्रभाव तब उस जागरण युग के वातावरण में छाये हुए थे, पर उस युग का अधिकांश काव्य विगत दर्शन तथा इतिहास की दृष्टि के प्रति एक वैचारिक तथा भावनात्मक क्रान्ति का काव्य रहा है जो एक अधिक परिष्कृत तथा संस्कृत मानव जीवन की धारणा से प्रेरित होकर अपने साथ एक नयी जीवन दृष्टि, नया सौन्दर्य बोध, नयी कला-भंगिमा तथा अधिक संवेदनशील अभिव्यंजना का माध्यम लाया। यदि आप इस नये काव्य के लिए प्राचीन मध्ययुगीन दार्शनिक एवं काव्यशास्त्रीय दृष्टि तथा परम्परागत मानदण्डों का उपयोग करना छोड दें तो आप देखेंगे कि बहुत कुछ जिसे आलोचकों ने रहस्यवाद आदि के अन्दर रख दिया है वह ईश्वर ब्रह्म या सर्वात्मा के प्रति जिज्ञासा न होकर केवल नवीन विश्व-जीवन का व्यापक संवेदन भर है, जिसका एक चेतनागत मूल्य है तो एक रूपगत अथवा कला सौन्दर्यगत मूल्य भी है। और जिसकी अभिव्यक्ति नयी इसलिए है कि उसमें नये विश्व जीवन, नये मनुष्यत्व की जीवन-श्वास प्रवाहित है और वह उस नये मूल्य को जीवन में मूर्त होने से पहिले उसे काव्य-भूमि में अंकुरित कर रूपायित करना चाहता है। वास्तव में उस युग के आलोचक छायावाद की नयी अभिव्यंजना शैली तथा सौन्दर्य दृष्टि से इतने चमत्कृत तथा उसके अन्तर्भाव-स्पर्श से ऐसे विमूढ़ हो गये कि उन्हें उस काव्य संचरण में सभी कुछ अस्पष्ट तथा रहस्यमय लगने लगा। क्योंकि स्पष्ट तो उनके भीतर केवल मध्ययुगीन एवं द्विवेदी-युग में यत्किंचित् रूपान्तरित परम्परागत जीवन-वास्तविकता तथा विगत भाव-बोध की ही धरती पर विचरनेवाले ठोस वस्तु-आयाम थे। इससे पृथक् तथा व्यापक वास्तविकता की रूपरेखाओं को एक ही दृष्टि में जल्दी हृदयंगम कर परख लेना भी सम्भव नहीं था—इसीलिए प्रत्येक लाक्षणिक प्रयोग,

वक्रोक्ति अथवा अन्योक्ति इस नयी अपरिचित भाव-भूमि में उन्हें रहस्यमय प्रतीत हुई और उसका सम्बन्ध तथा सन्दर्भ वह उस विकसनशील युग के पार्थिव-यथार्थ तथा विश्व-वास्तविकता में न खोजकर सन्तों और सूफ़ियों की रहस्यानुभूतियों तथा ब्रह्म, अद्वैत आदि के दार्शनिक शृंगों पर खोजने लगे। छायावाद में रहस्यानुभूति को यदि किसी हद तक वाणी भी मिली तो वह रहस्य-भावना मध्ययुगीन सन्तों की-सी निषेध-पोषित, जीवन-रस-वंचित, आत्मा या ब्रह्म के अस्पष्ट स्पर्श की अतीन्द्रिय अनुभूति न होकर नये विश्व जीवन तथा विश्व चैतन्य की खोज तथा जिज्ञासा की भावनानुभूति रही। मध्ययुगीन कबीर आदि के रहस्यवाद और छायावाद में सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि मध्ययुगीन रहस्यवाद लोक-निष्क्रिय तथा निवृत्तिमूलक था और छायावाद जीवन सक्रिय तथा प्रवृत्तिमूलक रहा है। आत्म-बोध के निर्गुण निरंजन सोपान पर चढ़ने के लिए जिस जीवन मन प्राण तथा राग-भावना के स्तर की मध्ययुगीन सन्तों ने उपेक्षा की, विश्वात्मा की वैचित्र्य भरी एकता के बोध की साधना में तत्पर छायावादी कवि ने मानव जीवन मन प्राण तथा राग भावना के स्तरों को अपने नवीन प्रवृत्तिमुखी सौन्दर्य वैभव के बोध से पुन: मण्डित कर मध्ययुगीन जीवन-विमुख दृष्टि को व्यापक विश्व जीवन की गरिमा की ओर उन्मुख किया। छायावादी कवियों का अदृश्य प्रियतम कोई मध्ययुगीन ब्रह्म या ऐसी रहस्यमयी शक्ति की धारणा नहीं थी जो विश्व-जीवन से विच्छिन्न अपने ही में स्थित है—वह तो ब्रह्म की साक्षी स्थिति भर है—छायावादी कवि तो वर्तमान विश्व विकास क्रम में एक नये मूल्य की खोज में रहा जिसकी प्राप्ति के लिए मानव आत्मा के भीतर वर्तमान संघर्ष चल रहा है और जिसकी अस्पष्ट अनुभूति से प्रेरित होकर आज पूर्व और पश्चिम में नये दर्शनों, नये विज्ञानों तथा नये विचारकों, कवियों एवं कलाकारों का जन्म हो रहा है। छायावादी कवियों के सामने आत्ममुक्ति की धारणा तुच्छ होकर, भाव मुक्ति, मानवमुक्ति, विश्वमुक्ति तथा लोकमुक्ति की सम्भावना अनेक मूल्यों, विचारों तथा भावनाओं में रूप धरकर, उनकी वाणी द्वारा स्वप्न-मूर्त होने का प्रयत्न कर रही थी। जिस स्वप्न को वायवीय कहकर उस युग के आलोचकों ने खिल्ली उड़ायी उस स्वप्न के ठोस व्यापक अक्षय आयामों पर तो ज़रा ध्यान दीजिए—वह मानव तथा विश्व-जीवन की कल की वास्तविकता का स्वप्न था। छायावादी कवि तो रहस्यवादी तब होता जब वह कबीर की तरह निर्गुण ब्रह्म की झीनी-झीनी चदरिया बुनने का प्रयत्न करता—और बुनते भी कबीर किन ज्ञान-सम्मत, रूढ़िगत तारों से हैं! वह सामन्ती परिस्थितियों के पाश में जकड़ा, पराधीन, जीवन-विकास के अक्षम मध्ययुगीन मन का आकाशकुसुम आत्ममुक्ति का लक्ष्य था—जीवन प्राण मन के रंगों को धोकर निर्गुण ब्रह्म का रिक्त मुख देखना। छायावादी तो स्वप्न-पथ से आँख-मिचौनी खेल रही नयी प्रेरणा किरणों तथा नये चैतन्य मूल्यों से नये विश्व जीवन, नये मानव मन का, स्थूल सामन्ती दृष्टि से अग्राह्य, नवीन आशाऽकांक्षा से रंजित सौन्दर्य-पट बुन रहा था। वह अपने युग की धरती पर खड़ा इसी विश्व के क्षितिज को व्यापक बनाने में संलग्न था।

ब्रह्म, सर्वात्मवाद अथवा परोक्ष सत्ता की जो भी किरणें नूतन चैतन्य के अंश के साथ, भारतीय जागरण के वातावरण में जन्म लेने के कारण, इस नये काव्य में छनकर आयीं वे इन उच्च प्रत्यय-शिखरों के प्रति तब आलोचकों के पास केवल किताबी दृष्टि होने के कारण एवं ब्रह्म आदि के प्रति मध्ययुगीन निर्जीव निष्क्रिय धारणाओं में अनूदित होने के कारण, अपना मौलिक रूप खो बैठीं और इस प्रकार नूतन काव्य-वस्तु का वास्तविक मूल्य नहीं ग्रहण किया जा सका। मध्ययुगों में भारतीय सामन्ती जीवन का संचरण विकास की दृष्टि से निष्क्रिय तथा गति शून्य हो जाने के कारण तथा उसके प्राणहीन मानस में विघटन आरम्भ हो जाने के ईश्वर ब्रह्म आदि तत्व, जीवन-सत्य के संचरण से विच्छिन्न होकर रिक्त तथा स्थाणु बन गये और 'अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये विद्यामुपासते' की आर्षवाणी अक्षरशः सत्य सिद्ध हो गयी, जिसका प्रमाण हमें मध्ययुगों के बाद भारतीय जीवन मन के सामाजिक दारिद्र्य, भारतीय चरित्र के स्खलन तथा अनेक साम्प्रदायिक मतमतान्तरों में विभाजित भारतीय चेतना की परिक्षीणता में मिलता है, जिसकी केन्द्रीय संयोजन की शक्ति निःशेष हो गयी थी। अतः छायावाद जिस नवीन विश्व मूल्य को अभिव्यक्ति देने के लिए उदय हुआ था उसका वह प्रयोजन ही नष्टप्राय हो गया और वह केवल एक मध्ययुगीन आध्यात्मिक मनोविनोद या लाक्षणिक वक्रोक्ति आदि से पूर्ण विशिष्ट बौना अभिव्यंजनावाद भर बनकर सन् '१८ से १९३६ तक के १९-२० वर्षों के बित्ते में ही आलोचकों की दृष्टि में ओझल भी हो गया।

उस युग की लाक्षणिक व्यंजना के कारण दर्शनज्ञ आलोचकों को कला के प्रत्येक संकेत तथा भंगिमा का रहस्यवादी अर्थ निकालने में और भी सहायता मिली और जिस कविता या प्रगीत में रहस्यवाद घटित न किया जा सके वह उन्हें मन ही मन महत्त्वहीन या उतना ऊँचा काव्य नहीं प्रतीत होता। उदाहरणार्थ, यदि किसी कवि ने किसी सुन्दरी को देखकर लिखा हो—चाहे वह सुन्दरी मानसिक कल्पना हो या वास्तविक रूपसी—कि तुम इतनी सुन्दर हो कि तुम्हें देखकर मन अवाक् हो उठता है, तो इस सौन्दर्य की अतिशयतासूचक कथन को आलोचक तुरन्त अवाक् मन से परम सौन्दर्य के अनिर्वचनीयता की व्याख्या कर तथा उसे परोक्ष सत्ता या परमात्मा के प्रति आत्मनिवेदन में परिणत कर उसमें रहस्यवाद की झाँकी प्रस्तुत कर देते। ऐसा उस युग मे तो हुआ ही है, अब भी स्कूल कालेजों के लिए निर्मित अनेक सहायक ग्रन्थों में इसी प्रकार की व्याख्याएँ प्रस्तुत की जा रही हैं। मेरी 'मौन निमन्त्रण', 'प्रथम रश्मि' आदि जिन अल्पसंख्यक रचनाओं को रहस्यवाद के अन्तर्गत रखा जाता है उनमें भी केवल उक्ति-वैचित्र्य, कला संकेत या लक्षणा के परिधान के कारण ही इस भ्रम को पोसा गया है। वैसे तो व्यापक अर्थ में प्रत्येक कविता किसी-न-किसी रहस्य का उद्घाटन करती है क्योंकि वह किसी भी वस्तु या विषय के मर्म का भावना की समग्रता में उद्घाटन करती है और उसे एक नवीन या प्रच्छन्न सौन्दर्य, प्रच्छन्न बोध तथा नवीन मूल्य का माध्यम बना देती है, पर मध्ययुगीन जिस प्रेम साधना या भाव योग आदि के लिए रहस्यवाद शब्द प्रयुक्त होता आया है उससे काव्य में वस्तु या भाव

के इस मर्मोद्घाटन या रहस्योद्घाटन की चूल किसी प्रकार भी नहीं बैंठती है। इसी प्रकार निरालाजी और प्रसादजी की प्रतिनिधि काव्य सृष्टि में भी भाव-सम्पत्ति के अतिरिक्त केवल दार्शनिक चैतन्य तथा मूल्यों की ही अभिव्यक्ति अधिकाधिक मिलती है। रह गयीं इस चतुष्टय में महादेवीजी, तो उनके कृतित्व को भी यदि मध्ययुगीन रहस्यवादी दृष्टि से न देखा जाय तो वह अधिक काव्यात्मक भाव-बोध से आपके हृदय को स्पर्श कर उसमें नवीन सौन्दर्य संवेदनाएँ तथा भावना-गाम्भीर्य जगा सकेगा।

वास्तव में छायावाद को कवि चतुष्टय तक ही सीमित रखना अनुचित है, उसके षड्मुख व्यक्तित्व के दो प्रमुख स्तम्भ श्री भगवतीचरण वर्मा तथा डा० रामकुमार वर्मा भी रहे हैं, जिनकी देन छायावाद को बहुमूल्य रही है। इन छः प्रथित कवियों को कुछ आलोचक बृहत्त्रयी तथा लघुत्रयी अथवा वर्मा त्रयी के नाम से भी सम्बोधित करते हैं। जहाँ भगवती बाबू में छायावाद का स्वतन्त्रचेता मानववादी रूप विकसित हुआ वहाँ डा० रामकुमार ने अपने उत्कृष्ट पुष्कल कृतित्व से—छायावाद को सम्पन्न बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

निरालाजी दर्शन तत्व या दार्शनिक चैतन्य को बोधात्मक अनुभूति से अपनी रचनाओं में अधिकतर अभिव्यक्त करते हैं। उनकी 'गीतिका' के अधिकांश गीत इसके उदाहरण हैं। प्रसादजी की तात्विक अनुभूति में बोध और भाव के स्तर अविच्छिन्न रूप से मिले रहते हैं; उनके अनेक गीतों के अतिरिक्त 'कामायनी' इसका सबल निदर्शन प्रस्तुत करती है। महादेवीजी में वही दार्शनिक बोध अधिकतर भावनात्मक अनुभूति द्वारा प्रकट होता है। 'जीवन दीप' को सम्बोधन कर महादेवीजी कहती हैं:

"किन उपकरणों का दीपक? किसका जलता है तेल?
किसकी वर्ति? कौन करता इसका ज्वाला से मेल?
शून्य काल के पुलिनों पर आकर चुपके से मौन,
इसे बहा जाता लहरों में, वह रहस्यमय कौन?" इत्यादि।

रहस्य शब्द इस गीत में प्रयुक्त होने पर भी यह केवल जीवन के प्रति दार्शनिक जिज्ञासा का रूपक भर है और मानव-जीवन में जो भी उपकरण जन्ममृत्यु, आवागमन, देह-मन, जड़-चैतन्य का संयोग हमें मानसिक बोध के स्तर पर भी देखने को मिलता है वे इस गीत में अत्यन्त कलात्मक संयम के साथ सँजोये गये हैं और जीवन तत्व की अभिव्यक्ति के लिए दीपक का रूपक चुनने में कवि की कला-दृष्टि की चरितार्थता है। जीवन विकास के उत्थान-पतन तथा कठोर दुर्धर्ष संघर्ष की ओर संकेत कर वह इसी गीत में कहती हैं—'इन उत्ताल तरंगों पर सह झंझा के आघात, जलना ही रहस्य है, बुझना है नैसर्गिक बात।' इतनी दुर्दमनीय परिस्थितियों के आघातों को सहकर भी जो यह अभी तक जीवित है, आँधी की गोद में भी जलता रहता है, यह एक रहस्य है—यदि यह मर जाता या बुझ जाता तो वह इसके पथ की बाधाओं को देखकर स्वाभाविक ही बात होती। इस क्षणभंगुर शिखा का जलते रहना ही उसके अमृतत्व की ओर इंगित करता है, उस अन्धकारजयी, मृत्युंजयी को कौन बुझा सकता है? यह गीत जीवन के आन्तरिक समग्र मूल्य पर प्रकाश डालता है। निश्चय

ही जीवन एक रहस्य है। कविता की भाषा ही में नहीं सामान्य बोध की भाषा में भी। पर यह रहस्यवाद नहीं है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण उनके ग्रन्थों से उपस्थित किये जा सकते हैं। महादेवीजी का अज्ञात प्रियतम की ओर इंगित भी केवल एक चिर-परिचित काव्य प्रतीक है— सामान्य भाषा में वह प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का ध्येय या इष्ट है। उनके लिए वह ध्येय भले ही अत्यन्त उच्च या उन्नत हो, किन्तु उसमें 'कर ले सिंगार चतुर अलबेली साजन के घर जाना होगा' का मध्ययुगीन 'साजन' से रहस्यवादी सम्बन्ध नहीं है जो आत्म मुक्ति या परलोकवाद या जीवन निर्वाण या ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या के लक्ष्य का प्रतीक है। उन्होंने जहाँ उस पार या निवृत्ति की इच्छा प्रकट भी की है वह इसी जीवन के कष्टों-तापों-संकीर्णताओं आदि से निवृत्ति के अर्थ में। जिस नये मूल्य के निराला निःसंग द्रष्टा रहे हैं, उसके प्रसाद समरस चितेरे और महादेवी तन्मय द्रष्टा और चितेरी दोनों रही हैं। यद्यपि इन सबकी अभिव्यंजना शैली में मध्ययुगीन भारतीय बोध के तत्व तथा अभिव्यक्ति के उपकरण पर्याप्त मात्रा में घुल-मिल गये हैं और कहीं-कहीं उनसे नया मूल्य दब भी गया है और नया बोध स्पष्टतः नहीं उभर पाया है, पर उनकी सौन्दर्य-दृष्टि निश्चय ही प्राचीन और मध्ययुगीन काव्य वस्तु की सीमाओं को अतिक्रम कर अधिक सद्यःस्फुट तथा व्यापक क्षितिज मन में खोलने की क्षमता रखती है, जो द्विवेदी-युग की काव्य दृष्टि या काव्य बोध नहीं कर पाया। उसके पास जागरण का आह्वान होने पर भी अन्तःक्रान्ति का सूक्ष्म तिग्म स्वर नहीं था। उसकी मानसी चेतना पौराणिक प्रतिष्ठाओं तथा मान्यताओं से मुक्त नहीं थी—उसके रूप-विधान की लोक-प्रचलित नैतिक मर्यादाओं की सीमाएँ थीं, उसका दिन-मान तिथि त्योहार, तीर्थ स्नान, नियम व्रत आदि कर्मकाण्ड की शृंखला से बद्ध था, उसका सौन्दर्य बोध, कलापक्ष आदि परम्परागत काव्यशास्त्रीय नियन्त्रणों की पिटीपिटाई पटरियों पर ही पुराने छन्दों के पहियों पर घिसपिट कर आगे बढ़ने का प्रयत्न करता था। उनकी सामाजिक चेतना भारतीय आचार-विचार सम्बन्धी सामन्ती पद्धति की मान्यताओं के अंकुश को अपने सिर पर से नहीं हटा सकी थी—अतः बोध-परिधान आदि की दृष्टि से प्राचीन परम्पराओं—सर्वात्मवाद आदि से प्रभावित होने पर भी छायावादी नया काव्य कला-बोध तथा अभिव्यंजना आदि की दृष्टि से निश्चय ही ज्ञात अज्ञात रूप से उस नये मूल्य से अनुप्राणित रहा जो तब नवीन युग की विश्वचेतना में जन्म ले रहा था। इस प्रकार संक्षेप में मैं छायावादी काव्य को रहस्यवाद की लपेटनों से मुक्त कर उसे नये मूल्य के आलोक में, उसकी प्रारम्भिक अभिव्यक्ति के रूप में देखने के पक्ष में हूँ।

दूसरी व्याख्या जो छायावाद की की जाती है वह है—स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह। छायावाद की यह व्याख्या भी मुझे अपर्याप्त तथा एकांगी के साथ ही अस्पष्ट प्रतीत होती है, यद्यपि इसमें भी तथ्य का एक अंश निहित है। यदि सूक्ष्म का अर्थ अभिव्यंजना के वैचित्र्य या चातुर्य से है तो वह सूक्ष्मता नहीं कही जा सकती। यदि हम किसी अनगढ़ मूर्ति को तराशकर उसे सुथरे ढंग से गढ़ दें तो उसका रूप-विधान सूक्ष्म न

कहलाकर पूर्ण कहलायेगा। यदि सूक्ष्म, चैतन्य या भाव तत्व से सम्बन्ध रखता है तो उसे स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह न कहकर अधिक-से-अधिक स्थूल का सूक्ष्म में रूपान्तर कहा जा सकता है। पर इससे भी छायावाद के अर्थ का पूर्णतः समाधान नहीं होता। वास्तव में छायावाद स्थूल के प्रति विद्रोह न कर, न उसका संस्कार या रूपान्तर ही कर, नये मूल्य की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न करता है। मध्ययुगीन सामन्ती स्थूल का परिष्कार या संस्कार तो भारतीय पुनर्जागरण के आलोक में द्विवेदी-युग का खड़ी बोली का काव्य ही करने लगा था। राष्ट्रीय जागरण का उद्बोधक होने के कारण उसमें विद्रोह के स्वर भी मिलते हैं। छायावाद भी 'जागो फिर एक बार' कहकर उस जागरण की चेतना को वाणी देता है—उसका भी एक स्तर राष्ट्रीय चेतना का अभिवादन कर उसे राजनैतिक स्तर से अधिक सांस्कृतिक स्तर पर संगठित तथा उद्घोषित करने का प्रयत्न करता है, पर मुख्यतः वह द्विवेदी युग के पौराणिक आदर्शों, मान्यताओं तथा परम्परागत कला-बोध से पोषित विषय-वस्तु से पृथक् एक नवीन विश्व-बोध तथा मानव-मूल्य से प्रेरित नयी भाव-वस्तु को काव्य रूप में उपस्थित करने का प्रयास करता है।

द्विवेदी-युग के काव्य के उदात्त नैतिक स्वर में एक अप्रत्यक्ष प्रभाव स्वामी दयानन्दजी के हिन्दू जागरण का भी था। पर वह जागरण काव्य-साहित्य की दृष्टि से कोई सौन्दर्य मूल्य या रस मूल्य नहीं रखता था। वह मुख्यतः एक धार्मिक, सामाजिक आन्दोलन था जो हिन्दू जाति-वर्ण के संकीर्ण घेरे को कुछ व्यापक बनाना चाहता था। उसका वैदिक निर्घोष, तथा निराकार-साकारवाद केवल मध्ययुगीन तार्किक सीमाओं से ही पीड़ित था और इसीलिए उसका व्यापक तथा गहरा प्रभाव सनातन-वादी पौराणिक संस्कारों में पले हिन्दू मानस पर अधिक नहीं पड़ा। वह एक सम्प्रदाय होकर ही रह गया। उसने निराकार साकार उपासना को जिस प्रकार एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा कर दिया वह केवल मध्ययुगीन बौद्धिक तथा तार्किक भ्रम था। क्योंकि ब्रह्म का साकार स्वरूप उसके निराकार स्वरूप का सीमित या स्वल्प रूप नहीं है, वह अपने साकार निराकार दोनों रूपों में ब्रह्म ही है, उसे निराकार साकार, असीम ससीम में विभक्त करना केवल शुष्क बौद्धिकता का दुष्परिणाम भर है। दूसरे शब्दों में वह पहिले ब्रह्म है तब निराकार या साकार है। जिसके लिए 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो' कहा गया है उसे निर्गुण सगुण, निराकार साकार की इकाइयों द्वारा लक्षित करना सम्भव नहीं है—मनोदृष्टि से ये ब्रह्म के उपादान हो सकते हैं, उसके द्योतक नहीं। इस प्रकार आर्यसमाज ने कुछ बौद्धिक तार्किक मनीषियों को ही जन्म दिया, भावग्राही, रस-समग्र हृदयों को नहीं; फिर भी उसने जड़ कर्मकाण्ड के ऊपर नैतिक मर्यादा को स्थान दिया, जिसका प्रभाव द्विवेदी-युग की काव्य-चेतना बहुत कुछ अंशों में ग्रहण कर सकी। आर्यसमाजी वेदों की व्याख्या भी उपयोगितावादी तथा साम्प्रदायिक थी—भले ही वह सम्प्रदाय एक नया सम्प्रदाय हो— वह व्याख्या सर्व रसग्राही वेदों के अन्तश्चैतन्य के अमृत स्पर्श से विहीन थी। गांधीजी का आन्दोलन भी सांस्कृतिक दृष्टि से पौराणिक मूल्यों तथा मध्ययुगीन सात्विक मान-मर्यादाओं के जागरण

का ही आन्दोलन था जिसने द्विवेदीयुगीन काव्य-चेतना में अन्तःसंगठन का संयम तथा राष्ट्रीय एकता का ओजपूर्ण आह्वान भरा, किन्तु उसका भाव-तत्व अन्तःसौन्दर्य के रसस्पर्शी पंखों की उड़ान से वंचित ही रहा। इसलिए गांधी युग में जन्म लेने पर एवं द्विवेदी-युग का उत्तराधिकारी होने पर भी छायावाद की प्रेरणा के स्रोत इस बहिर्मुखी राष्ट्रीय जागरण की शक्तियों से बहुत भीतर मानव के अन्तरतम रस-मूलों में, उनसे बहुत ऊपर उपनिषदों की सहज स्फुरित प्रज्ञा-ज्योति के शिखरों पर, और उनसे बहुत व्यापक विश्व-चेतना तथा विश्व-जीवन के धरातल पर जन्म ले रहे नवीन आशा-उल्लास-सौन्दर्य तथा भावी प्रगति-विकास के स्वप्न-सत्य-संवेदनों से उतरे हैं। उसने अतीतोन्मुखी यथार्थ की पीठिका के ऊपर भविष्य की कल्पना के सत्य की, सामन्ती ढाँचे के बाहरी रूप-विधान की जड़ता के ऊपर अन्तःसौन्दर्य के सजीव संकेत-वैभव की तथा पिटीपिटाई परम्परागत काव्यशास्त्रीय छन्द रस अलंकार पद्धति के ऊपर स्वतन्त्र रस-साधना से प्रसूत नवनवोन्मेषी कलाबोध की प्रतिष्ठा की। इस प्रकार स्थूल के प्रति सूक्ष्म के विद्रोह से अधिक आग्रह छायावाद में नवीन जीवन सौन्दर्य के मूल्य तथा भाव-सम्पद् की स्थापना के ही प्रति रहा है। वैसे भी पिछली और नयी वास्तविकता के लिए स्थूल और सूक्ष्म का उपयोग अर्थ-व्यंजकता की दृष्टि से संगत नहीं प्रतीत होता।

छायावाद को लाक्षणिक प्रयोगों, अमूर्त उपमानों या अप्रस्तुत विधानों की मात्र चित्र-भाषामयी शैली मानना भी केवल उसके बाह्य कलेवर पर दृष्टिपात करना अथवा उसकी कला बोध की प्रक्रिया के बारे में निर्णय देकर ही सन्तोष कर लेना है। जैसाकि हम ऊपर कह आये हैं, छायावाद केवल अभिव्यंजनापरक ही नहीं नवीन मूल्य-परक काव्य है। वास्तव में यदि वह अपने भीतर एक नये आलोक-जगत् को छिपाये न होता—छिपाये को मैं यहाँ 'लिये' के अर्थ में प्रयुक्त कर रहा हूँ— तो उसके रूप विधान एवं शैली में इतना अधिक कला वैभव तथा अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का होना सम्भव नहीं होता। उसका कलाबोध महार्घ इसलिए है कि उसका भावबोध तथा मूल्य-चैतन्य नये युग के लिए अत्यन्त बहुमूल्य अथवा अमूल्य है। उसकी भाव-मूक तन्त्री या युगाघात से छिन्न तन्त्री में मर्म-स्पर्शी झंकार है, इसलिए कि उसके हृदय में नवीन सौन्दर्य-प्रबुद्ध सत्य की धड़कन है। छायावादी काव्य को ताजमहल की तरह केवल एक निरु-पम सौन्दर्य शिल्प विधान मानना और उसके भीतर निवसित सजीव चेतना के स्पर्श का अनुभव न कर सकना या उस चेतना के स्वर्ण को मध्ययुगीन रहस्यवाद की कसौटी में निरखना-परखना केवल उस युग के काव्य सम्बन्धी परम्परागत अभ्यासों का द्योतक है। निश्चय ही उसकी शैली के सौन्दर्य-मांसल घट में अत्यन्त जीवन्त तथा प्राणवान चैतन्य-सागर रहा है जो अपने बाहरी कला-विधान की सीमा में न समा सकने के कारण अन्तःसंचित तथा अर्धव्यक्त ही रह गया। महादेवीजी के काव्य में यदि प्रियतम 'सजनि, कौन तम में परिचित-सा, सुधि-सा, छाया-सा आता है', तो यह एक प्रत्यय या आइडिया की अनुभूति की एक सामान्य मनो-वैज्ञानिक प्रतिक्रिया है।

छायावाद की अन्य गौण व्याख्याओं में भी एकांगीपन तथा अति-

रंजना मिलती है। उदाहरणार्थ, मूर्ति-विधायिनी कल्पना आदि की सहायता से अंकित जितने भी प्राकृतिक सौन्दर्य, प्राकृतिक घटनाओं तथा व्यापारों के चित्र उस युग के काव्य में मिलते हैं उन सबमें प्रकृति के आवरण में एक चेतन या परोक्ष सत्ता की अनुभूति या आभास का सिद्धान्त रहस्य-वादी व्याख्या के मस्तिष्क में छाये रहने के कारण आरोपित कर दिया गया है। जैसे निराला, प्रसाद अथवा मेरे 'सन्ध्या,' 'प्रभात,' 'छाया' आदि के चित्र। 'दिवसावसान का समय, मेघमय आसमान से उतर रही यह सन्ध्या सुन्दरी, परी-सी, धीरे-धीरे-धीरे।' इसमें सन्ध्या के व्यापार में चेतना का आरोप करने के बदले कवि ने केवल उसका रूपचित्र भर उपस्थित किया है। छाया को सजीव मानकर उससे बातें करना या 'हाँ, सखि आओ बाँह खोल हम लगकर गले जुड़ा लें प्राण'—आदि कहना, काव्य की दृष्टि से ऐसा ही है जैसे बालक लाठी को टट्टू मानकर उस पर सवारी कर आँगन भर में घूमकर आनन्द से किलकारी भरता है। यह बच्चे की कल्पनाशीलता का प्रमाण देता है, और वह कवि की। उसकी इस जॉन क्रिस्टोफ़ की सी अबोध भावना में भी एक कवित्व परिलक्षित होता है। वैसे भी प्रकृति में सभी कुछ जड़ नहीं है, उसमें वनस्पति जगत्, पशु-पक्षी जगत् आदि भी सम्मिलित है जो मानव चेतना से निम्न स्तर के एक उपचेतन बोध से संचालित है। समग्र प्रकृति को एक चेतन शक्ति मानना रहस्यवाद नहीं, आज के युग का वैज्ञानिक दृष्टि-कोण है। जहाँ तक छायावादी कल्पना का प्रश्न है, यदि उसे इमैजिनेशन का कोरा अनुवाद न मान लिया जाय, जो यथार्थ-बोध के विरोधी-बोध के लिए भी प्रयुक्त होता है, तो कल्पना ही वास्तव में वह अनुभूति ग्राहिणी तथा रूपविधायिनी शक्ति है जो काव्य का प्राण है। वस्तु के रूप में प्रच्छन्न कवित्व का उद्घाटन उसी की सहायता से सम्भव है। यहाँ तक कि वर्णनात्मक काव्य को सँजोने तथा मार्मिक बनाने में भी उसी का प्रमुख हाथ रहता है। छायावादी युग में कल्पना और अनुभूति के सम्बन्ध में भी बड़ी भ्रान्त धारणाएँ रही हैं। जैसे बच्चन की कविताएँ अनुभूति-प्रधान मानी जाती हैं और मेरी कल्पना-प्रधान। मेरी दृष्टि में हाड़-मांस की सीमाओं में बँधी अनुभूति छोटी अनुभूति है जैसे 'तुम समर्पण बन भुजाओं में पड़ी हो' में मिलती है—इस समय मुझे बच्चन की यही पंक्ति याद आ रही है। कोई भी गम्भीर व्यापक तथा महत्वपूर्ण अनुभूति काल्पनिक होती है। किसी भी महान् कवि के कृतित्व में आपको मेरे कथन के सत्य का प्रमाण मिल जायेगा। वाल्मीकि या तुलसी रामा-यण का राम रावण युद्ध या सीता अपहरण के बाद राम विलाप का चित्रण वाल्मीकि या तुलसी का व्यक्तिगत अनुभव न होकर मात्र काल्प-निक अनुभूति है। मानव सभ्यता तथा संस्कृति की प्रतिष्ठा के पथ में जो शिव तथा अशिव प्रवृत्तियों का संघर्ष रहा है अथवा कृषि जीवन की स्थायी मर्यादाओं की स्थापना के पूर्व जो अहेरियों तथा वनचरों द्वारा भिन्न जातियों तथा वर्गों की स्त्रियों का अपहरण होता था, मानव उपचेतन में स्थित उस पृष्ठभूमि से कल्पना-शक्ति द्वारा खींचकर ही उस जीवन संघर्ष की झलक को उपर्युक्त कवि अपने काव्यपटों में प्रस्तुत कर सके हैं। उसी प्रकार हैमलेट, इएगो, ओथेलो, मैकबेथ आदि

की मन:स्थितियों तथा चरित्रों को भी शेक्सपियर केवल अपनी कल्पना शक्ति द्वारा मानव जीवन मन की जटिल प्रवृत्तियों से भरे अन्तराल में प्रवेश कर जीवन के मंच पर मूर्तिमान कर सकने में सफल हो सका है। वे मन:स्थितियाँ उसकी व्यक्तिगत अनुभव की स्थितियाँ नहीं रही हैं। छायावादी कल्पना मध्ययुगीन बासी सामन्ती यथार्थ की सँड़ाध का आवरण हटाकर अपनी भविष्योन्मुखी प्रखर कल्पना दृष्टि से जिस नवीन वास्तविकता की सम्भावना के अप्रकट सौन्दर्य को अपनी रूप मांसल कला के उपादानों द्वारा रूपायित या अभिव्यक्त करने का प्रयत्न कर रही थी—वह केवल वायवीय नहीं था, उसमें भावी सांस्कृतिक वैभव तथा उच्च चैतन्य के उपकरण अन्तर्हित थे। वह मनुष्य के विकसित जीवन-बोध के सत्य के लिए इन्द्रधनुषी तृणों का स्वप्न-नीड़ बना रही थी जिससे वह सत्य आगे चलकर यथार्थ की भूमि पर भी अवतरित हो सके। अपने प्रथम उन्मेष में छायावाद जैसे कल्पना के वायुयान में ऊपर उठकर मनुष्य के मन में नयी उग रही धरती अथवा विश्व-चेतना सिन्धु से नये उभरते हुए धरती की एकता के कूल का विहंगावलोकन करने का प्रयास कर रहा था। इसीलिए वह अपने दृष्टि-संचय में नवीन क्षितिजों का प्रभात, नये शृंगों का प्रकाश, नवीन जीवन व्याप्ति का सौन्दर्यबोध तथा नवीन स्वर्गशिल्पियों या ऋभुओं का रूप-कला विधान उतार लाया। अत: छायावादी कल्पना के पास,—जो उसकी दुर्बलता मानी जाती है—निश्चय ही नयी वास्तविकता के स्वप्नस्पर्शी नये आयाम थे।

छायावाद को एक ओर व्यक्तिवादी अथवा व्यक्ति या आत्मनिष्ठ काव्य बतलाया गया है, दूसरी ओर सर्वात्मवादी, जिसकी असंगति स्वयं स्पष्ट है। उसका व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण वास्तव में मूल्य-केन्द्रिक होने के कारण छायावाद ने सामूहिक जीवन-संचरण को बहिर्मुखी अर्थ में ग्रहण न कर उसे उसके वैश्व-मूल्य या अन्तर्मूल्य के अर्थ में ग्रहण किया। स्वानुभूति उसके लिए विश्वात्मा एवं विश्व जीवन की अनुभूति का पर्याय बन गयी। चैतन्य के उच्च स्तर को, वर्तमान विकास की स्थिति में प्राय: व्यक्तिवादी स्तर समझ लिया जाता है। छायावाद के आलोचक यह समझने में असमर्थ रहे कि जिस वस्तुनिष्ठ यथार्थ को द्विवेदी युग के कवि काव्यवस्तु बनाते आये थे उसमें जागरण काल का स्पन्दन होने पर भी वह केवल मरणोन्मुख, जीवन-सौन्दर्यहीन, पौराणिक मान्यताओं में बद्ध, सामन्ती यथार्थ था, जिसकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी थी। छायावादी कवि के पास इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था कि वह अपने व्यक्ति को नये यथार्थ का माध्यम बनाकर सामने रखे। उसका व्यक्ति या उसकी मैं-शैली अपने चतुर्दिक व्याप्त अतीतमूलक वास्तविकता को अतिक्रम कर चुकी थी। भारत जैसे देश के लिए बाहर से परिस्थितियों के यथार्थ को बदलना और उसे नवीन जीवन मन के अनुरूप ढालना निश्चय ही काल सापेक्ष था, अत: नये को वह तब भाव-वस्तु के रूप में कवि-व्यक्ति के माध्यम से ही उपस्थित कर सकता था। बोध की दृष्टि से छायावादी कवि का व्यक्ति नये मूल्य का प्रतीक, नये मूल्य का अंश था। वह परिस्थितियों के बहिरन्तर बोध से आक्रान्त 'अब हौं नाच्यौ बहुत गुपाल' गानेवाला मध्ययुगीन

भक्त कवि नहीं था। छायावाद की व्यक्तिनिष्ठ शैली में जो आत्मीयता अथवा निजता का स्पर्श था उसने परिस्थितियों की कारा में बन्द उस युग के मन पर अनायास ही नयी भाव-वस्तु का जीवन-चेतन-सौन्दर्य उतार दिया। उसका दृष्टि-प्रवेश आन्तरिक था, क्योंकि बाह्य वास्तविकता को हिलने-डुलने में अभी समय लगता और फिर वह नये जीवन-बोध के लिए कितनी फीकी, बासी, अप्रिय, अरुचिकर तथा अनुपयोगी है इसे बताने के लिए भी युग मानव को नये प्रकाश, नये सौन्दर्य, नये भाव-बोध की आवश्यकता थी जो उसे नवीन सौन्दर्य और पुरानी पथराई कुरूपता को समझने के लिए दृष्टि देता। इसलिए छायावाद वास्तव में व्यक्तिनिष्ठ न होकर मूल्यनिष्ठ या मूल्य-केन्द्रिक काव्य रहा है।

छायावाद को पाश्चात्य काव्य तथा बँगला का अवांछनीय अनुकरण मानना ऐतिहासिक दृष्टि के प्रति आँख मूँद लेने के समान है। मध्य युगों से हमारे भीतर जो एक साम्प्रदायिक तथा प्रान्तीय दृष्टिकोण घर कर गया है उस मानदण्ड से हम इस युग की जीवन विकास की प्रणाली का मूल्यांकन नहीं कर सकते। और हिन्दी का हिन्दी के भीतर से विकास हो, वह बाहरी प्रभाव आत्मसात् न करे, यह स्वस्थ दृष्टि नहीं है। पहिले तो छायावाद न शुद्ध स्वच्छन्दतावाद है — जिसे शुक्लजी ने रोमेण्टिसिज्म के लिए व्यवहृत किया है — और न हू-ब-हू बँगला का अर्थात् रवीन्द्रनाथ का ही अनुकरण है। दूसरा यह कि जिन विश्व-विकास की शक्तियों से उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में अंग्रेजी कवियों को तथा बंगाल में रवीन्द्र-नाथ को प्रेरणा मिली, मूल-प्रेरणा छायावाद को भी, काल का व्यवधान पार करने के बाद, उन्हीं विकास के स्रोतों से मिली है। मूल्य की दृष्टि से यह नयी प्रेरणा विश्व-चेतना मे अवतरित हो चुकी थी। यह दूसरी बात है कि उस प्रेरणा के स्पर्श को हिन्दी काव्य में सँजोने के लिए भले ही प्रारम्भ में कीट्स, शेली, वर्ड्सवर्थ आदि अंग्रेज़ी कवियों तथा कवीन्द्र रवीन्द्र के अध्ययन से सहायता मिली हो। वैसे काव्य वस्तु के मूल्यांकन की दृष्टि से रवीन्द्र ने स्वयं अंग्रेजी कवियों का प्रभाव ग्रहण कर नये काव्य में भारतीय सांस्कृतिक जागरण को वाणी दी तो उसमें उपनिषदों के चैतन्य के अतिरिक्त मध्ययुगीन सन्तों कबीर आदि के रहस्यवाद, आत्म तथा व्यक्तित्ववादी अनुपयोगी प्रभावों को भी समेट लिया। हिन्दी में भी तब एक सर्वतोमुखी अन्तर्विकास तथा बहिर्विश्व क्रान्ति की भावना को अभिव्यक्ति मिलना स्वाभाविक ही था। रवीन्द्र की प्रतिभा अत्यन्त प्राणवान, विराट् तथा-पूर्व पश्चिम के सांस्कृतिक समन्वय के उत्साह से आशा-ऐश्वर्य गर्भित थी। उन्होंने भारतीय दार्शनिक नवोन्मेष को पश्चिम के यन्त्रयुग के सौन्दर्य-बोध से मण्डित कर उसे युग-जीवन मांसल बनाकर अपनी काव्य भूमि को सृजन उर्वर बनाया था। उस युग के व्यक्तित्व के सत्य से प्रेरित होकर उन्होंने पश्चिम के यन्त्रों से चालित जीवन का विरोध किया था, जो केवल उनके मध्यवर्गीय कवि संवेदना की सीमा थी, क्योंकि यन्त्रों के विकास की सर्वाधिक आवश्यकता तब धरती के विकासकामी लोक-जीवन को थी और भावी जन-भू-जीवन के निर्माता भी यन्त्र ही होंगे। उस युग में उनको दुहकर मध्योच्चवर्गीय जीवन तो माखन में पल रहा था, निम्न वर्गों को छूँछी छाँछ पीकर काल-यापन करना

पड़ रहा था, जो अब भी बहुत हद तक ठीक है। ब्रह्म समाज की भूमि पर पश्चिमी सभ्यता के प्रकाश में सँवारे भारतीय दार्शनिक बोध में भी तब अनेक मध्ययुगीन तत्व मिल गये थे क्योंकि मूलतः उस युग के समस्त सांस्कृतिक-सामाजिक-धार्मिक संयोजन के दृष्टिकोण मुख्यतः व्यक्तिवादी ही रहे और वह व्यक्ति केवल मध्यवर्गीय व्यक्ति ही रहा। छायावाद का सौन्दर्यवादी प्रभाव तो पश्चिम का है क्योंकि नये यन्त्र युग के जीवन-सौन्दर्य तथा आशा-उल्लास को सर्वप्रथम पश्चिम का ही साहित्य वाणी देने में सफल हुआ था— किन्तु रहस्यवादी प्रभाव निश्चय ही सर्वप्रथम उसमें कवीन्द्र रवीन्द्र से आया, जो भले ही पीछे कबीर आदि के अध्ययन से गहरा हो गया हो। रहस्यवाद वास्तव में मध्य-युगों के भू-जीवन-विमुख सन्तों ने जिस प्रकार उपनिषदों की दृष्टि को ग्रहण किया था उसका राहु कवलित या कहिए मेघावृत रूप था—जिसमें कहीं-कहीं इन्द्रधनुषी छटा के भी दर्शन होते रहे। एक प्रकार से बौद्ध दर्शन तथा शांकर दर्शन के बाद, जो स्वयं भी बौद्ध दर्शन से प्रभावित था, और दोनों ही मध्ययुगीन, विकास स्तम्भित, निष्क्रिय, गतिहीन, भारतीय सामन्ती स्थिति की घुटन तथा विघटन की उपज थे—भारतीय जीवन-बोध निषेध-वर्जन-पीड़ित, लोक-कर्म-विमुख, आत्मवादी—(और आत्मवाद की ही दृष्टि से जागतिक जीवन तत्व को समझने का खोखला प्रयत्न मायावाद भी था)—परलोकगामी तथा विरक्ति के रिक्त, लोक-जीवन-घाती विष से मूर्छित तथा जीवन-मृत हो गया था। छायावादी कवि भावना से तो वैश्व विकास के मूल्य से संयुक्त थे पर बुद्धि से वे तब उसे ग्रहण नहीं कर सके थे, जो स्वाभाविक ही था, क्योंकि जागरण काल में अतीत के मूल्य एक बार फिर पुनर्जीवित होकर मनुष्य के गत संस्कारों के प्रति विमोहित मन की परीक्षा लेते हैं— इस प्रक्रिया में उनमें से अनेक मूल्यों का रूपान्तरण तथा संस्कार भी होता है और वे प्रगतिकामी बनकर आगे के विकास को आढ्यता भी प्रदान करते हैं। फिर छायावाद के उदय-अभ्युदय के युग में देश में गांधीजी के नेतृत्व में जो राजनीतिक स्वतन्त्रता का आन्दोलन छिड़ा था उसका उस युग के स्रष्टाओं की चेतना में गम्भीर प्रभाव रहा और सांस्कृतिक तथा चेतनामूलक दृष्टि से गांधीजी का सत्य-अहिंसा का आन्दोलन अपने मूल्यांकन में इतना अस्पष्ट तथा अविकसित था कि उसे मध्ययुगीन सांस्कृतिक-पौराणिक मूल्यों का ही नवीन जागरण कहा जा सकता है। गांधीजी की सत्य के मूल्य के प्रति जो भी अन्तर्दृष्टि रही हो, राजनीतिक उत्थान-पतन तथा विश्व के सबसे सशक्त साम्राज्यवाद से लोहा लेने की घनघोर आँधी में, अन्तरतम मूल्यों एवं मन की दृष्टि के प्रति, राजनीतिक अवसाद, आशा-निराशा, ऊहापोह, संघर्ष आदि के धुन्ध के कारण, किसी का सम्यक् रूप से ध्यान ही नहीं जा सका और वह एक प्रकार से गांधीजी के आन्दोलन के क्षेत्र से बाहर की भी बातें थीं। जिस सात्विक, नैतिक, सौम्य, सांस्कृतिक जागरण ने गांधी युग में जन्म लिया छायावादी काव्य में उसका स्वस्थ ही प्रभाव पड़ा, क्योंकि उसमें वर्तमान जीवन की गति तथा ध्येय-धारणाओं की सक्रियता थी, वह रहस्यवादी मध्ययुगीन सन्तों के दृष्टिकोण की तरह निष्क्रिय, निवृत्तिमूलक तथा जगन्मिथ्या के बोध से जीवन-कुण्ठित नहीं था। वह एक प्रकार से

प्रवृत्ति-निवृत्ति का समन्वय था। वेदनावाद का एक बहुत बड़ा भाग उस युग के काव्य में इसी मध्ययुगीन साधना सत्य की प्रतिध्वनि तथा अनुगूँज है और बहुत सारी वेदना की अनुभूति उस युग के भावप्रवण मन में इसलिए भी थी कि वह उन शृंखला की कड़ियों के प्रति जाग्रत् था जो समस्त देश तथा समाज की चेतना को अपने दुर्निवार, निर्मम, नृशंस लौह बन्धनों में जकड़े हुए थीं और जिन्हें तोड़ने के लिए प्रबुद्ध सामूहिक कर्म तथा संयुक्त सामाजिक संघर्ष करना आवश्यक तथा अनिवार्य था। नये युग के भावमुक्ति कामी मन के उड़ान भरने वाले, पिंजरबद्ध, व्यक्ति-असमर्थ-पंख उन जीवन-शून्य ठण्डे सींकचों के सम्पर्क के कठोर आघात से लहूलुहान होकर कराहती हुई वेदना के स्वरों में गा उठे थे। वेदना को छायावादी कवियों ने पीड़ा के अतिरिक्त अनुभूति, संवेदन तथा बोध के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है—जैसे 'वेदना के ही सुरीले हाथ से है बना यह विश्व' इत्यादि।

छायावाद को रोमेण्टिक काव्य तक ही सीमित कर देना उसके मौलिक मूल्य के प्रति आँख मूँद लेना है। वह इस अर्थ में रोमेण्टिक कहा जा सकता है कि उसमें किशोर-विस्मय की भावना या स्वप्न हैं, उसमें रागात्मक संवेदन, प्रणय-तत्व तथा कल्पना का बाहुल्य और प्रवेग है, या वह कला-बोध की दृष्टि से परम्परागत नियमों के कूलों को डुबाकर स्वच्छन्द सौन्दर्य अभिव्यंजना की भूमि की ओर अग्रसर होता है. अथवा अभिव्यक्ति की प्रखरता के कारण उसमें कहीं-कहीं विषयवस्तु से अधिक सशक्त तथा प्रमुख शैली अथवा रूपविधान हो गया है। किन्तु छायावाद की कविता में इनसे कहीं अधिक गम्भीर निगूढ़ तथा व्यापक तत्वों की प्रधानता है; बल्कि मैं कहूँगा कि छायावाद की मुख्य तथा मध्यवर्तिनी धारा, चित्रमयी अभिव्यंजना आदि रोमेण्टिक प्रवृत्ति न होकर, राष्ट्रीय अन्तर्जागरण की चेतना तथा वैश्व विकास के नये मूल्य के रूप-स्पर्श को वाणी देने की ओर गतिशील रही है, जिसने निश्चय ही मानवीय-सम्बोधि को अपनी अभिव्यक्ति के पावन दोने में भरकर उन्मुक्त-भाव से वितरित किया है और जैसा कि कुछ लोग छायावाद को केवल पूँजीवादी राष्ट्रवादी मध्यवर्गीय सांस्कृतिक साहित्यिक आन्दोलन कहते हैं वे केवल अपने समाजवादी दर्शन की अपच तथा छायावाद के विकास कामी मानव-मूल्य के प्रति अपना अज्ञान ही प्रदर्शित करते हैं। वास्तव में, जैसा कि हम देख रहे हैं, उस युग के आलोचकों के मध्ययुगीन तथा अर्वाचीन पूर्व-ग्रहों के कारण छायावाद की प्रायः सभी व्याख्याएँ तथा परिभाषाएँ अपर्याप्त, एकांगी तथा असंगतिपूर्ण हुई हैं. जिनमें भावात्मक-तत्वों तथा मार्मिक सहानुभूति का एकान्त अभाव मिलता है। इसके अतिरिक्त भी छायावाद में तुलसीदास' तथा 'राम की शक्ति पूजा' आदि जैसी उच्च गाम्भीर्यपूर्ण क्लैसिकल रचनाएँ भी मिलती हैं और उसकी कई जरा-मरण-भय हीन कृतियों को तो धीरे-धीरे क्लैसिक्स की श्रेणी में रखना ही पड़ेगा। छायावादी प्रेम-काव्य को अतृप्त वासना या दमित काम-भावना की अभिव्यक्ति मानना तथा उसे प्रच्छन्न, शृंगार-मूलक रीतिकालीन काव्य का ही आधुनिक रूप समझना भी आलोचकों की व्यापक दृष्टि के अभाव का ही द्योतक है। तप्त भोग-लालसा से मर्दित, पुष्पों की शय्या

पर लेटी, विलुलित केश, स्वेद-सिक्त, नखक्षत अंकित, रीति काव्य की मध्ययुगीन ह्रासोन्मुखी राग-प्रवृत्ति की देह-मूर्ति निशाभिसारिका नारी को छायावाद ने गुह्य संकेत-स्थलों से प्रकृति के मुक्त लीला प्रांगण में बाहर निकालकर, दूतियों की चाटुकारी तथा परकीयत्व के कलंक से मुक्त कर, तथा मध्यवर्गीय कुंजों की सँड़ाध भरे केलि-कर्दम से ऊपर उठाकर, उसके अर्ध-नग्न रूप को अपनी पवित्र भावनाओं के अकलुष सौन्दर्य से मण्डित कर, उसे पुरुष के समकक्ष बिठाकर, स्वतन्त्र सामाजिक व्यक्तित्व की शील गरिमा प्रदान की है। छायावादी नारी में भारतीय जागरण का नैतिक बल ही नहीं, उसमें विश्व मानवी का व्यापक सहानुभूतिपूर्ण स्वस्थ स्नेह संवेदन भी है। वह घर की देहरी लाँघकर यमुना की कामना की गहराइयों में नीचे और नीचे उतरती हुई सीढ़ियों पर नहीं फिसल पड़ती। वह देह-बोध के परदे से बाहर निकलकर मध्ययुगीन काम-लाज का गुण्ठन मुख से हटाकर, सामाजिक दायित्व के प्रति जाग्रत्, स्त्री-स्वातन्त्र्य के राजपथ पर नये शील के चरण धरकर आगे बढ़ती है। छायावाद का प्रणय-निवेदन स्वस्थ स्वाभाविक राग-भावना का द्योतक प्रेम-प्रगीत है, वह राधा-माधव के वेष्टनों में निम्न प्रवृत्तियों का उच्छृंखल शृंगार-रस सम्मत, संचारी व्यभिचारी भावों द्वारा व्यक्त, रति-निमन्त्रण नहीं है। उसमें स्त्री-पुरुषों की सामाजिक उपयोगिता पर आधारित एक नवीन सांस्कृतिक चेतना का आह्वान मिलता है। जिस प्रकार मिर्च मसालेदार व्यंजनों के प्रेमियों को सात्विक पौष्टिक द्रव्यों से पूर्ण भोजन स्वादहीन लगता है, उसी प्रकार यदि रीतिकालीन पर्वताकार नितम्बों तथा स्तनों से टकराने वाले, नेत्रवाणों से आहत, शृंगार रस के प्रेमियों को छायावाद की रस-संस्कृत शोभा-मण्डित नारी वायवीय या अशरीरी लगती है तो इसमें आश्चर्य नहीं।

छायावाद के प्रवर्तक या जनक के बारे में भी जो युग ने निर्णय दिया है वह मुझे समीचीन नहीं प्रतीत होता। मेरे विचार में छायावाद की प्रेरणा छायावाद के प्रमुख कवियों को उस युग की चेतना से स्वतन्त्र रूप से मिली है। ऐसा नहीं हुआ कि किसी एक कवि ने पहिले उस धारा का प्रवर्तन किया हो और दूसरों ने उसका अनुगमन कर उसके विकास में सहायता दी हो। सामान्यतया छायावाद के प्रवर्तक होने का कीर्ति किरीट हमारे अग्रज प्रसादजी के मस्तक पर रखा जाता है और हम भावना की दृष्टि से उसका आदर करते हैं, पर तथ्य विश्लेषण की दृष्टि से यह उचित नहीं लगता। शुक्लजी के अनुसार भी "श्री जयशंकरप्रसाद पहिले ब्रजभाषा में लिखा करते थे, १९२३ सन् से वह खड़ी बोली की ओर आये, उनके कानन कुसुम, प्रेम पथिक आदि काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। कानन कुसुम में प्राय: उसी ढंग की रचनाएँ हैं जिस ढंग की द्विवेदी युग में निकलती थीं। सन् '१९ में 'झरना' के प्रथम संस्करण की २४ कविताओं में कोई ऐसी विशिष्टता नहीं थी जिस पर ध्यान जाता।" शुक्लजी ही के शब्दों में "पीछे १९२७ में पुस्तक का स्वरूप ही बदल गया। उसमें आधी से ऊपर ३१ नयी रचनाएँ जोड़ी गयीं, जिनमें पूरा रहस्यवाद, अभिव्यंजना का अनूठापन, व्यंजक चित्र विधान, सब कुछ मिल जाता है। 'झरना' के द्वितीय संस्करण में छायावाद कही जानेवाली विशेष-

ताएँ स्फुट रूप में दिखायी पड़ीं। इससे पहिले 'पल्लव' बड़ी धूमधाम से निकल चुका था, जिसमें रहस्य भावना तो कहीं-कहीं, पर अप्रस्तुत विधान, चित्रमयी भाषा, और लाक्षणिक वैचित्र्य आदि विशेषताएँ अत्यन्त प्रचुर परिमाण में सर्वत्र दिखायी पड़ी थीं।" मैं अपनी ओर से इसके अतिरिक्त इस ओर भी ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा कि 'पल्लव' से पूर्व—जिसका प्रकाशन सन् '२६ मई को मेरे जन्म-दिवस पर हुआ था—मेरी प्रायः सभी 'पल्लव' में प्रकाशित प्रमुख रचनाएँ दो वर्ष पूर्व से अर्थात् सन् '२३ के मध्य से सरस्वती में प्रकाशित होने लगी थीं, वैसे मेरी प्रथम लम्बी रचना 'स्वप्न' जो पीछे 'पल्लव' में निकली, सन् '२० की सरस्वती में प्रकाशित हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त वीणा नामक प्रगीत संकलन सन् १८-१९ में और ग्रन्थि सन् '१९ में लिखी जा चुकी थी। साथ ही 'उच्छ्वास' नामक मेरी रचना सन् '२२ के नवम्बर मास में प्रकाशित हो चुकी थी। हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार सन् २३-२४ में 'निराला' जी की रचनाएँ साप्ताहिक 'मतवाला' में धड़ल्ले से निकलने लगी थीं। सन् '२२ में उनका 'अनामिका' नामक काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुका था। उनके 'परिमल' में भी जिसका प्रकाशन सन् '२९ में हुआ, सन् '२३-२४ की रचनाएँ संकलित हैं, और 'जूही की कली' तो उनके अनुसार सन् '१६ की रचना है। महादेवीजी का 'नीहार' सन् '३० में निकला किन्तु उन्होंने बहुत पहिले से ही छायावादी कहलानेवाली रचनाएँ लिखना शुरू कर दिया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही समय के आसपास उस युग में व्याप्त वातावरण से, जिसके उच्चतम स्तरों में विश्वचेतना में उदित हो रही नवीन जीवन-मूल्य की प्रभात-किरणें नये उन्मेष का प्रकाश विकीर्ण कर रही थीं, और मध्य स्तरों में अंग्रेजी कवियों के मशीन-युग के सौन्दर्य-बोध तथा स्वच्छन्दता का स्वर्णिम गन्ध-पराग लिपटा था, तथा निचले निकटवर्ती स्तरों में स्वयं राष्ट्रीय जागरण का ओजस्वी शंखनाद छाया हुआ था, प्रायः सभी छायावादी कवियों ने स्वतन्त्र रूप से प्रेरणा ग्रहण कर अपने रुचि स्वभाव क्षमता के अनुरूप इस नये काव्य संचरण को जन्म देकर सँवारा और अनेक प्रकार के काव्योपकरणों का संचय कर वे उसके विकास की ओर प्रवृत्त हुए। और बहुत सम्भव ही नहीं यह स्वाभाविक भी है कि उन्होंने परस्पर एक-दूसरे की रचनाओं की तुलना में अपने-अपने काव्य-बोध को निरख-परखकर उसे अधिक परिपूर्ण बनाने में सहायता ली। और इसी से सम्भव है कि प्रसादजी 'झरना' के द्वितीय संस्करण में छायावादी उपादानों की अभिवृद्धि कर सके। सन् '३१-३२ में 'गुंजन' को समाप्त करने के बाद मैं बनारस में प्रसादजी के ही यहाँ ठहरा था और वहाँ 'गुंजन' कीकविताओं का पाठ भी अनेक बार हुआ था। उसके बाद 'आँसू' के दूसरे सस्करण में मैं देखता हूँ कि मेरी 'चाँदनी' की कुछ कल्पनाओं तथा बिम्बों का समावेश हो गया है। इसी प्रकार निरालाजी की 'यमुना' में मेरे 'स्वप्न,' 'छाया' आदि रचनाओं की स्पष्ट अनुगूँज मिलती है, उस कविता का निराला-काव्य के अन्तर्गत अपना पृथक् व्यक्तित्व है। इससे हम यह नहीं प्रमाणित कर सकते कि हमने एक-दूसरे का अनुगमन या अनुकरण किया है। स्वयं मेरे 'स्वप्न,' 'छाया' आदि के छन्दों में

'विरहिणी व्रजांगना' के छन्द का तथा मेरे 'तुम आती हो' प्रगीत में महादेवी के 'जो तुम आ जाते एक बार' का अप्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रायः सभी प्रमुख छायावादी कवि विकास-क्षमताशील रहे हैं और उन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में उस नये काव्य-मूल्य तथा अभिव्यंजना शैली का विकास किया, जिसकी विस्तार से चर्चा हम अगले निबन्ध में करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि चारों दिशाओं से स्वतन्त्र रूप से नयी काव्य चेतना की धाराएँ बहकर छायावाद के युगचरित-मानस में संचित हुईं। मुझे हिमालय के अंचल में प्राकृतिक सौन्दर्य-विस्मय के आकाशचुम्बी शिखरों ने गाने को बाध्य किया तो निरालाजी को बंगाल की कला-संस्कृति-उर्वर भूमि ने अपनी प्रतिभा के मृदंग में घनगम्भीर थाप देने को आमन्त्रित किया और प्रसादजी वरुणा-असी के तीर्थ स्थल, भारतेन्दु की भूमि में, भारत के महान् गौरवपूर्ण अतीत के सांस्कृतिक वैभव में अवगाहन कर अपनी धीरोदात्त स्वरों की साधना करने को प्रेरित हुए तो छायावादी काव्य के भावना-मंदिर परागों की गीति-मूर्ति महादेवीजी गंगा-यमुना की संगम-भूमि प्रयाग में नयी मानव संवेदना की सरस्वती की तरह प्रकट हुईं। इस नये काव्य का उठान इस प्रकार सन् '१६ से '१८ के बीच, और उसके शिखर का स्पष्ट रूप सन् '२४-२५ के आसपास प्रकट होता है। उससे पहिले की किसी की भी कोई रचना इस युग के प्रवर्तक की रचना के रूप में उपर्युक्त कारणों से नहीं मानी जा सकती। फिर भी एक प्रारम्भिक बिन्दु मानना यदि आवश्यक ही हो और चूंकि छायावादी पीढ़ी में प्रसादजी ने सर्वप्रथम ब्रजभाषा की निब उतारकर उत्तर द्विवेदीकालीन काव्य लिखना प्रारम्भ किया, इसलिए उन्हीं को छायावाद का प्रवर्तक मानना सुविधाजनक हो तो यह दूसरी बात है।

छायावाद को समझने के लिए छायावादी कवि के आत्म संघर्ष पर यत्किंचित् प्रकाश डालना अनुचित न होगा। छायावादी कवि का संघर्ष बहुमुखी था। एक उसका व्यक्तिगत पहलू था, जिसके दो रूप थे, एक बाहरी, दूसरा भीतरी। बाहर उसे अपनी आर्थिक परिस्थितियों तथा परिवार आदि के परिवेश से जूझना पड़ता था। प्रायः सभी छायावादी कवि सम्पन्न घरों में पैदा हुए थे, किन्तु महादेवीजी को छोड़कर, शेष तीनों कवियों को विभिन्न कारणों से, गृह-व्यवस्था का सन्तुलन खो जाने के कारण, प्रायः अपनी मध्य वयस तक आर्थिक संकटों से जूझना पड़ा। भीतरी संघर्ष की दृष्टि से मनोनुकूल परिस्थितियों के अभाव में उनको अपनी शिक्षा-दीक्षा तथा आत्म-संस्कार के पथ में भी दुर्लंघ्य बाधाओं का सामना करना पड़ा और बाहरी बौनी परिस्थितियों से समझौता करने की विवशता के कारण उनके व्यक्तित्व के यथोचित विकास में भी पर्याप्त विलम्ब हुआ। राष्ट्रीय जागरण के आत्मोन्नयन के युग में उन्हें अपने स्वभाव प्रवृत्ति तथा मनोवेगों से भी कसकर लोहा लेना पड़ा। उनमें से कुछ का अन्तःकरण समय-समय पर निर्मम राग द्वेष, स्पर्धा तथा महत्वाकांक्षा के आवेशों से भी मन्थित रहा और आत्म-बोध के क्षण में उनकी आत्मा को ग्लानि ने भी दंशित किया है। ब्रिटिश शासन के सम्मोहन से मूर्छित उस युग के आत्म-दर्प भरे नव मध्यवर्गीय समाज में तब हिन्दी के प्रति आदर का भाव नहीं पैदा हो सका था और अब

भी नहीं है, अपने वर्ग के अर्ध-संकुचित सदस्यों के प्रति, उनके मन में वर्तमान, उपेक्षा का भाव भी जब तब अभिव्यक्ति पाता रहता था। सरस्वती और लक्ष्मी के बैर की मध्ययुगीन किम्वदन्ती की पृष्ठभूमि में किसी भी मध्यवर्गीय परिवार का पिता या संरक्षक इस बात पर प्रसन्नता प्रकट नहीं करता था कि उसका पुत्र धनोपार्जन की विद्या प्राप्त करना छोड़कर, अनुर्वर साहित्य-सेवा की ओर प्रवृत्त होकर, अपने जीवन का दुरुपयोग करे और तथाकथित जीवन की वास्तविकता से शून्य, सरस्वती पुत्रों के प्रति, लक्ष्मी-पुत्रों का सौतेला-भाव छिपाये नहीं छिपता था। इस प्रकार सामाजिक परिवेश का समर्थन न मिल सकने के कारण उन्हें हीन-भावना का दंश भी झेलना पड़ा, तथा यथार्थ की दृष्टि से एक प्रभावहीन सामाजिक प्राणी का जीवन व्यतीत करने के कारण, पग-पग पर पैदा होनेवाली कुण्ठाओं से भी, प्रारम्भ में, अपनी रक्षा करनी पड़ी एवं बौद्धिक मानसिक बल के अभाव में कभी-कभी अतिरंजित भावुकता की छाया में अपने ध्येय को पोषित करना पड़ा। इस भावुकता ने पीछे आनेवाले नये युवक छायावादियों को और भी घेरा और उसने उनके विचित्र उपमानों में भी अभिव्यक्ति पायी। सबसे कठिन और दुरूह अन्तःसंघर्ष उस नये मूल्य से सम्पर्क स्थापित करने के लिए करना पड़ा, जो तब युग के उच्च वातावरण में व्याप्त तो था पर जिसने निम्न वातावरण में छाये अनेक मध्ययुगीन धारणाओं तथा विश्वासों के धूमों से घिरे रहने के कारण तब स्पष्ट ज्योतिर्मयी रूप रेखाएँ ग्रहण नहीं की थीं। यह भी एक कारण है कि उस युग के काव्य-संचरण में नये मूल्य की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त जो उसका मुख्य बोध-बिन्दु तथा ध्येय रहा, और भी अनेक प्रकार के गूढ़ अगूढ़ विचारों, भावनाओं तथा दार्शनिक दृष्टिकोणों की छायाएँ जागरण की आँधी से पुनर्जीवित होकर व्याप्त मिलती हैं, जिसमें रहस्यवाद की प्रतिध्वनियाँ भी सम्मिलित हैं। मानव चेतना के उच्च तथा सूक्ष्म संवेदनों को अपने अन्तरतम उन्मेषों के प्रकाश में नये बिम्बों तथा प्रतीकों एवं नयी काव्य-वस्तु के रूप में वाणी देने की कृच्छ् प्रसव-वेदना छायावाद के उत्कट साहस की द्योतक एक महत् युग-कर्म तथा सृजन-साधना की उपलब्धि एवं भाव-योग की सिद्धि रही है, जिसके चतुर्दिक् घिरे वाष्पों में, निःसन्देह, अनेक चित्रमयी अभिव्यंजना के इन्द्रधनु स्वतः अपने ही कलास्पर्श से स्फुरित हो उठे।

उस युग के अन्तरिक्ष में जिस महत् काव्य संचरण तथा संवेदन ने हिन्दी के भीतर जन्म लिया उसका नाम छायावाद देना उतना ही उत्तरदायित्वहीन तथ उपेक्षापूर्ण निर्णय था जितना उस युग के काव्य को सन् '१८ से '३८ तक के प्रायः २० वर्षों के बित्ते में बाँधकर उसका अन्त घोषित कर देना था। वास्तव में जिस आधुनिक काव्य-वस्तु तथा कला-बोध को तब छायावाद कहा गया वह आज भी उस युग की संकीर्णताओं तथा उपेक्षाओं को अतिक्रम कर निरन्तर विकास की ओर अग्रसर होने का प्रयास कर रहा है। समग्र भाव-बोध के अभाव में आलोचकों ने उस एक ही युग को उत्तरगामी अनेक युगों में विभक्त कर, एक सर्वांग संयोजित मूलगत काव्यमूल्य के सम्बन्ध में अधिक व्यापक सर्व-समन्वित प्रकाश डाल सकने की क्षमता तथा अन्तर्दृष्टि के अभाव में, उसके अंगों

का तुलनात्मक दृष्टि से मूल्यांकन कर एवं उन्हें परस्पर विरोधी साबित कर, उसकी एकान्विति को छिन्नभिन्न कर डाला। उस युग की आलोचना एवं समीक्षा पद्धति को देखकर उस दन्तकथा के अन्धों की याद आती है जिन्होंने हाथी को सूँड़, पूँछ और अपनी-अपनी क्षमता के स्पर्श अनुरूप उसे विभिन्न अंगों में बाँटकर उन्हीं को उसका सम्पूर्ण स्वरूप मान लिया। उस युग को अनेक युगों में बाँटने पर भी हम उसके केन्द्रीय मूलगत एकता के संचरण को दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते जो प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि के विभिन्न युगों का अन्त:प्रेरणा स्रोत रहा है, और जिनके बाह्य-दृष्टि से विरोधी वैचित्र्य में भी एक अन्त:संगति है, जिसके कारण ये विभिन्न युग केवल उसी एक सत्य के आरोहण-अवरोहण के सोपान भर हैं, जो एक महत्तर लक्ष्य की ओर ले जाते हैं। यदि हम छायावाद के अन्तर्मूल्य केन्द्रिक व्यक्ति, प्रगतिवाद के बहिर्यथार्थमुखी व्यक्ति और प्रयोगवाद आदि के ह्रास और विघटन के प्रति प्रबुद्ध व्यक्ति के सृजनात्मक कृतित्वों को एक अन्त:संगति में बाँधकर समवेत रूप में नहीं देख पायेंगे तो इस युग की रचना प्रक्रियाओं तथा आन्दोलित मानस का एक समग्र चित्र हमारी आँखों के सामने नहीं उतर सकेगा।

आज हम द्विवेदी युग, छायावादी युग, उत्तर छायावादी युग, प्रगति-वादी, प्रयोगवादी तथा नयी कविता के युगों में व्याप्त खड़ी बोली की कविता के युग पर जब आर-पार-व्यापी अधिक सर्वांगीण, समन्वित, प्रौढ़ तथा मूल्य-प्रबुद्ध दृष्टि डालते हैं तो हमारी अन्तर्दृष्टि के सम्मुख जो अनेक मंजिलों का भव्य भाव-गरिमा तथा कला-सौन्दर्य सौष्ठव में उठा, अपने विभिन्न कक्षों के वैचित्र्य में ढला, विविध सृजन उन्मेषों में बहिरन्तर संयोजित, विराट् काव्य-प्रासाद भविष्य के स्वप्न, तथा वर्तमान के विस्मय-सा, सहसा आविर्भूत हो उठता है वह निश्चय ही अपने विभिन्न अंगों की वैभव-विचित्रता में एक अन्तरैक्य को सँवारे तथा सँजोये हुए है, जिसकी नींव अतीत की स्वर्णिम परम्पराओं की है, जिसके विविध खण्ड या मंज़िलें, युग के विविध आयामों में वर्तमान की बहुमुखी जीवन-अनुभूतियों को शिल्प-मूर्त करती हैं और जिसके निरन्तर उठ रहे अन्तरिक्ष भेदी शिखर पर भावी भू-जीवन-मंगल के रस-चैतन्य के अमृत से पूर्ण अन्तर्ज्योतिर्मय, बहिरंत्नच्छाय स्वप्न-कलश, नवीन जीवन-सत्य की दिगन्त छटा बखेरता चला जा रहा है।

इसमें सन्देह नहीं कि तथाकथित छायावाद मात्र चित्रभाषामयी अभिव्यंजना शैली या सन्तों की आध्यात्मिक अनुभूतियों की अनुकृति, रहस्यवादी कल्पना या पश्चिम से उधार ली गयी स्वच्छन्दतावादी, व्यक्तिनिष्ठ, विद्रोह भरी आत्माभिव्यक्ति ही नहीं है, वह नवीन अन्त:-सौन्दर्य से प्रेरित कला-बोध के दीप-दान पर चर्तुदिक् नवीन जीवन-सौन्दर्य तथा भाव-प्रकाश बखेरती हुई चेतना की ऊर्ध्वमूल्य शिखा है जो व्यापक विश्व-ऐक्य तथा लोक-साम्य के अजस्र स्नेह धार से पोषित मूर्ति-मान मानव-मंगल का काव्य है। छायावाद मध्य-युगों के कुहासों से भरे आकाश में खोये हुए, परलोकवादी, जीवन-निषेध-कुण्ठित, आत्ममुक्ति-कामी अध्यात्म को पुन: जीवन-सक्रिय बनाकर मानव मन, तथा धरती के जीवन के निकट ही नहीं लाया, उसकी अन्त:प्रेरणा तथा रस-सौन्दर्य

की शक्ति के कारण युग जीवन तथा युग मानस के निर्माण में भी नवीन स्फूर्ति का संचार हो सका। उसकी अमृत चैतन्य की धारा के चतुर्दिक् फैले अनेक वादों, विमर्शों, सिद्धान्तों तथा आस्थाओं की रेती के चमकीले प्रसार में निःसन्देह छायावादी कवियों की अबोध मृगदृष्टि जब-तब सत्याभास की मृगतृष्णा में भटक गयी है, पर वे भ्रान्त-चरण छायावाद की मुख्य अभीप्सा के द्योतक कभी भी नहीं रहे हैं।

अपने अगले निबन्धों में हम इस निबन्ध की भावात्मक स्थापनाओं पर विस्तार से प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। और देखेंगे कि हमारे राष्ट्रीय कवि, उत्तर छायावादी कवि, प्रगतिवादी, प्रयोगवादी आदि किस प्रकार इस छायावाद की स्फटिक-शब्द-अट्टालिका के गुम्बदों को अपने नये भाव-स्वरों से गुंजरित करते रहे हैं और अनेक भाव, शिल्प, कला, दर्शन तथा स्फुरित-बोध की धाराएँ उसी मुख्य धारा की उपशाखाओं की तरह उससे पृथक् होकर बहुत दूर आगे तक अपनी ही भावभंगिमा तथा जीवन गति में प्रवाहित होकर, धीरे-धीरे, एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होकर किस प्रकार उसी में समाहित हो रही हैं। वास्तव में आलोचकों की दलीय तथा संकुचित दृष्टि के कारण हम इस युग की विभिन्न काव्य प्रवृत्तियों को व्यापक-पट में न सँजो सकने के कारण, उनका अंग भंग कर, उन्हें विकृत विरूप चित्रित करते रहे हैं। और नये आलोचकों तथा कवियों का तो आत्मरक्षा के लिए यह कर्तव्य ही हो गया है कि जब तक वे छायावाद को अशरीरी, अवास्तविक, कृत्रिम, मृग-मरीचिका आदि न बना दें, तब तक उनके लिए अपनी सशरीरी वास्तविकता का प्रतिपादन करना ही असम्भव हो गया है और अब भी उस वास्तविकता का भावात्मक पक्ष खोजने के लिए सम्भवतः अनुवीक्षण यन्त्र की आवश्यकता पड़े। छायावाद का बहिरंग विश्लेषण करने तथा उसके जन्म काल की पृष्ठभूमि का परिचय देने में अनेक मध्ययुगीन मान्यताओं का नव युग-दृष्टि के प्रकाश में मुझे खण्डन मण्डन करना पड़ा है। काल गति से प्रासाद खँडहर बन जाते है और खँडहरों से नये प्रासाद उगने लगते हैं। मध्ययुगीन समस्त भाव-वैभव तथा चित्-सम्पद् का हमें ऐतिहासिक दृष्टि से नवीन मूल्यांकन करना है, हमें इसे नहीं भूलना चाहिए। छायावाद के उद्‌भव को मैं मानव-जीवन की समृद्धि के लिए एक अनिवार्य ऐतिहासिक आवश्यकता मानता हूँ। जिस प्रकार वैज्ञानिक विचारधारा ने बाह्य जीवन के प्रति एक ऐतिहासिक-भौतिक दृष्टि दी है उसी प्रकार छायावाद भी मनुष्य के अन्तर्जीवन-विकास तथा विश्वसंयोजन के लिए नवीन चेतनात्मक ऐतिहासिक अनुभूति से अनुप्राणित है। उसके इस अन्तर्मूल्य सम्बन्धी दृष्टिकोण का, जैसा मै पहिले कह चुका हूँ—हम अपने अन्तिम निबन्ध में विश्लेषण संश्लेषण करेंगे। मेरा प्रथम निबन्ध एक भूमिका मात्र है, जिसमें मैंने छायावाद के प्रति विविध मतों तथा व्याख्याओं को एक व्यापक-पट में रखने का प्रयत्न किया है। अन्त में, आपने जिस धैर्य तथा शान्ति के साथ निराला व्याख्यान माला के अन्तर्गत लिखित मेरे निबन्ध को सुनने का कष्ट उठाया उसके प्रति मैं आभार प्रकट कर अपने कथन को समाप्त करता हूँ।

विकास और कवि चतुष्टय

छायावादी-काव्य, दिशा से अधिक, काल को वाणी देता रहा है। मध्य-युगीन विचारधारा दिशा के अंचल में मूल्य को खोजती रही और दिशा में व्याप्त काल-संचरण के विविध विरोधी रूपों में ही सामंजस्य अथवा समन्वय स्थापित करती रही। आज का दर्शन चाहे वह मानववादी हो या अस्तित्ववादी, कालके गर्भ में छिपे मूल्य के ही अनुसन्धान में रत है। मार्क्सवादी दर्शन भी अपनी विभिन्न अवस्थाओं द्वारा कालगत वैभव को ही दिशा में प्रतिष्ठित करना चाहता है और प्रयोगवादी काव्य भी काल के दिग्व्यापी ह्रास को ही अपने संशय, नैराश्य तथा नैतिक बिखराव में अभिव्यक्त करता आ रहा है। काल-मूल्य की दृष्टि से मैंने प्रारम्भिक छायावादी कविता को अल्हड़ किशोरी की संज्ञा दी है।

यद्यपि शैली की दृष्टि से शुक्लजी के अनुसार सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, बदरीनाथ भट्ट तथा मुकुटधर पाण्डेय आदि में नूतन चित्रमयी अभिव्यंजना के चिह्न प्रकट होने लगे थे किन्तु भारतीय जागरण काल का द्विवेदीयुगीन काव्य अथवा छायावाद से पूर्व का काव्य मूलत: पौराणिक मान्यताओं तथा सामाजिक मर्यादाओं के रूप में प्रतिष्ठित दिङ्मूल्यों को ही अभिव्यक्ति देता रहा और कालमूल्य से वंचित रहा। छायावाद नूतन अभिव्यंजना शैली ही नहीं था। नूतन अभिव्यंजना के चिह्न प्रतीक-बिम्ब-लाक्षणिकता आदि तो हमें वेदों से लेकर समस्त उच्च कोटि के संस्कृत कवियों में भी यत्रतत्र बिखरे मिलते हैं। शैली के अतिरिक्त छायावाद को हम इसलिए विशेष महत्व देते हैं, और एक नयी काव्य-वस्तु का प्रतिष्ठापक मानते हैं, कि उसने हिन्दी में सर्वप्रथम एक नये ऐतिहासिक मानव-मूल्य एवं वैश्य-काव्य युग की कल्पना तथा सम्भावना को जन्म दिया।

संस्कृत कवियों से लेकर द्विवेदी युग के कवियों तक हमें मूल्य की दृष्टि से प्राय: एक ही प्रकार के उपमा, रूपक, अलंकार, इनेगिने छन्दों की पुनरावृत्ति तथा प्राचीन प्रतीकों, बिम्बों आदि की पुनरुक्ति मिलती है, यदि उनमें नवीनता या परिवर्तन के चिह्न यदाकदा मिलते भी हैं तो वे नाम मात्र को, उनमें केवल मात्रा का भेद रहता है, प्रकार का नहीं। शब्दालंकार तथा अर्थालंकार एवं रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति आदि तो इतने दुहराये गये हैं कि वे काव्य रसिकों के प्रतिदिन की खाद्य सामग्री बन गये थे। प्रतीक तथा बिम्ब भी इतने प्राचीन तथा बासी पड़ गये थे कि उनके कवित्वमय रूप तथा भाव-सौन्दर्य से किसी प्रकार की नवीनता की प्रेरणा नहीं मिलती थी। शंख, चक्र, गदा, पद्म, हंस, मयूर, गरुड़, षड्मुख, चतुरानन, चतुर्भुज, गजवदन, सर्प, गंगा, त्रिशूल, सुदर्शन चक्र आदि जो कभी विभिन्न शक्तियों, चैतन्य-भावनाओं, समन्वयों आदि के लिए नये-नये प्रतीकों के रूप में प्रयुक्त होते रहे, और एक प्रकार से राम, कृष्ण, शिव पार्वती आदि के रूप भी जो महापुरुषों के ईश्वरीय गुणों के प्रतीक तथा बिम्ब रहे हैं, कला-बोध तथा काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि मे निरन्तर दुहराये जाने के कारण, जिस उच्च चैतन्य तत्व का वे प्रतिनिधित्व करते थे उसके विद्युत् वेग तथा प्रकाश-स्पर्श का संवेदन

हृदय में उतनी ही प्रभावोत्पादकता के साथ नहीं जगा पाते। वे सँवारी मिट्टी या प्रस्तर की प्रतिमाओं-से बन गये, जिनके सम्मुख मस्तक नवाना ही शेष रह गया था। भक्त-कवियों की नवधाभक्ति, भाव-द्रवित आत्म-निवेदन, आत्मसमर्पण आदि तथा सन्त कवियों के इड़ा पिंगला सुषुम्ना के साधना के तार तथा आठ कमल या चक्र या दस द्वार भी नवीन युग की जीवनोन्मुखी सामूहिक रचना साधना के लिए अपर्याप्त ही नहीं, विपरीत तथा व्यर्थ भी सिद्ध होने लगे थे। ऐसे युग में छायावाद ने मानव चेतना में विकसित हो रहे नये अरूप भाव-सत्य तथा सौन्दर्य-तत्व को नवीन प्रतीकों, बिम्बों, अप्रस्तुत विधानों, सूक्ष्म संकेतों द्वारा अभि-व्यक्ति देकर नये युग के भाव-जगत् की रूपरेखाओं का निर्माण करने तथा नये संवेदनों को लाक्षणिक प्रयोग द्वारा व्यंजित तथा नये कला-बोध द्वारा मूर्त कर इस बासी सामन्ती जीवन का नयी व्यापक भाव-दृष्टि से मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया, और पिछली काव्यात्मकता के शुष्क बालुका-तट को सृजन हिल्लोलित कर नये सौन्दर्य रस से आप्लावित किया। जिस जागरण की चेतना को द्विवेदी युग अपनी काव्य वस्तु में वाणी दे रहा था, वह विगत युग की वस्तु, घटना, परम्परागत रहन-सहन सम्बन्धी मान्यता, नैतिकता, पौराणिक सगुण तथा जन-समाज-अभ्यस्त आदर्श था, इसीलिए उसकी अभिव्यक्ति में इतिवृत्तात्मकता तथा गद्य-दृष्टि का प्राधान्य रहा। छायावाद का बहिरंग-अन्तरंग क्रमिक विकास किस प्रकार हुआ अब हम संक्षेप में इस सम्बन्ध में कुछ कहने का प्रयत्न करेंगे।

द्विवेदी युग के सर्वश्रेष्ठ कीर्ति-स्तम्भ श्री गुप्तजी मुख्यत: प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रस्तोता रहे हैं। छायावाद के महाकवि प्रसादजी ने भी भारत के सांस्कृतिक अतीत को वाणी दी है। दोनों में अन्तर यह है कि मैथिली बाबू ने प्राचीन भारतीय मानस के मध्ययुगीन रूप का गांधी युग के जागरण के आलोक में पुनरुद्धार कर उसे परम्परागत काव्य-शास्त्रीय अभिव्यंजना पद्धति से अभिव्यक्ति दी है और प्रसादजी प्राचीन सांस्कृतिक स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण कर अपने सर्वोच्च सृजन-क्षणों में उसे आधुनिक सौष्ठव प्रदान कर, नवीन अभिव्यंजना दे गये हैं। मूल्य की दृष्टि से गुप्तजी का भाव-बोध मुख्यत: पौराणिक मर्यादाओं से ही परि-चालित एवं नियन्त्रित रहा-- यद्यपि अपने 'पृथ्वीपुत्र' आदि काव्यों में वह नवीन युग-बोध के क्षितिज को भी छू सके हैं—और उपेक्षित नारियों का पक्ष लेने पर भी उन्होंने उन्हें परम्परागत मान्यताओं के ही आसन पर प्रतिष्ठित किया है। किन्तु प्रसादजी की काव्य सम्पद् भारतीय दार्श-निक चेतना, बौद्ध युग के कारुण्य और विशेषत: शैवागम के सामरस्य के स्पर्श से अनुप्राणित होने पर भी उन्होंने यथासम्भव नवीन सौन्दर्य मूल्य को आत्मसात् किया है। भावना की दृष्टि से जहाँ गुप्तजी में वस्तुनिष्ठ सात्विक नैतिकता का प्राधान्य मिलता है वहाँ प्रसादजी में रोमेण्टिक युग की आत्मनिष्ठ प्रेममुक्ति की व्याकुलता तथा आह्लाद के साथ एक विशिष्ट प्राणोन्मुखी आवेश मिश्रित रसिकता या लाजभरी मादकता भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है, जिसे मैं बनारसी रसिकता प्राय: कहा करता हूँ, जो भाव-सौन्दर्य के संस्कार की दृष्टि से बहुत ऊँची न होने पर भी प्रसादजी

के कवि-स्वभाव के साथ वातावरण की चेतना की भी उपज हो सकती है। नये मूल्य के रस-चैतन्य में प्रसादजी की कवि दृष्टि निमग्न नहीं हो सकी, उससे उसका वैचारिक परिचय भर था, जिससे वे अपनी सामरस्य के ढाँचे में ढली ज्ञान-व्यवस्थित चेतना को व्यापक अर्थवत्ता प्रदान कर सके। नये मूल्य के अन्तरतम में पैठ न हो सकने के कारण उन्हें नवीन कला-बोध तथा सौन्दर्य-बोध का भी भावनात्मक ही स्पर्श प्राप्त था, इसीलिए उसका उन्हें धीरे-धीरे विकास करना पड़ा और फिर भी यत्र-तत्र उसमें अनगढ़ता ही बनी रही। उदाहरणार्थ, उनकी कला के कटाक्ष में वह विद्युत् प्रकाश नहीं जो निरालाजी की कला से झलक मारता है और निराला की प्रथम रचना 'जूही की कली' की तरह जो सन् '१६ की रचना है, और जिसमें सम्भवत: रवीन्द्र के शब्द-चयन का प्रभाव हो—उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में वैसा प्रौढ़ शिल्प का निखार भी नहीं है। रागात्मकता की दृष्टि से वे रूमानी रंगीन भावना के स्तर से कभी ऊपर नहीं उठ सके। उनके सभी प्रगीतों में लुक-छिपकर चलनेवाले लाजभरे सौन्दर्यवाली नारी की विविध रूप-भंगिमाओं तथा उसके प्रति आकर्षण एवं अनुराग के लिए एक ही दृष्टिकोण मिलता है। कामायनी इस प्रकार की रागवृत्ति से कुछ हद तक अवश्य मुक्त है पर उसमें भी काम, लज्जा आदि सर्गों में कहीं-कहीं उसी रागस्तर की हलकी-सी मसलन तथा बिछलन मिलती है। नये मूल्य में आस्था न होने के कारण ही प्रसादजी नये सौन्दर्य तथा नयी नारी की भी स्पष्ट रूपरेखाएँ अंकित नहीं कर सके। नया सौन्दर्य-बोध उनकी भावना लहरियों में धूपछाँह की तरह तिरता भर था, पकड़ में नहीं आता था। नारी का आदर्श रूप उनके लिए वही सनातन श्रद्धा का अथवा देवी का है, पर व्यावहारिक जगत् में उसे आँसू से भीगे अंचल पर मन का सब कुछ रखकर अपनी स्मित रेखा से सन्धि पत्र लिखने का ही आदेश मिलता है। क्योंकि वह दुर्बलता में नारी है, अपनी सुन्दरता के कारण सबसे हारी है (बनारसी भावुकता!)। तभी तो विश्वास की महातरु छाया में उसे चुपचाप पड़ी रहना है या विश्वास रजत नग पग-तल में रेंगती रहकर सदैव बहती रहना है—वह विश्वास भले ही अन्धविश्वास की सीमा बन जाय क्योंकि उसके आत्मसमर्पण में तो केवल उत्सर्ग की ही भावना प्रधान है। उसे विश्वास को निरखने-परखने की क्या आवश्यकता? सामन्ती-गृहस्थ की पीठिका पर इस नारी प्रतिमा का भले ही उच्च स्थान हो, पर यह खोखली प्रतिमा समानधर्मा आधुनिक नारी की छाया-सी प्रतीत होती है और नवीन चैतन्य की शिखा, भावी नारी के हृदय स्पन्दन से बिलकुल ही वंचित लगती है।

हम अपनी उपर्युक्त भूमि की स्थापना अब छायावादी कवियों के काव्यों से उद्धरण प्रस्तुत कर करेंगे। सबसे पहिले मैं श्री गुप्तजी के प्रगीतों के कुछ उदाहरण उनके 'झंकार' नामक काव्य संग्रह से ले रहा हूँ जिसमें शुक्लजी के अनुसार नूतन अभिव्यंजना आदि गुण रूप ग्रहण करने लगे थे और जिसकी पृष्ठभूमि या तुलना में छायावादी काव्य का सौन्दर्य अधिक सरलता से हृदयंगम हो सकेगा। गुप्तजी की 'विराट् वीणा' एक प्रसिद्ध सफल प्रगीत है 'तुम्हारी वीणा है अनमोल, हे विराट्, जिसके दो तूँबे हैं भूगोल खगोल! ···इसे बजाते हो तुम जब लौं, नाचेंगे

हम सब भी तब लौं, चलने दो, न कहो कुछ कब लौं, यह क्रीड़ा कल्लोल, तुम्हारी वीणा है अनमोल !' इस सृष्टि या ब्रह्माण्ड को विराट् की वीणा का रूपक देना जिसके दो तूंबे भूगोल और खगोल हैं, निश्चय ही एक विराट् चित्र है और छायावादी अभिव्यंजना के निकट है, किन्तु इस विराट् की वीणा के प्रति कवि का दृष्टिकोण मध्ययुगीन ही है। यह सृष्टि तथा जीवों का आगमन विराट् की क्रीड़ा या लीला है, वह जब तक चाहेगा हम उसके इंगितों पर नाचेंगे। उसकी लीला को चलने दो, यह न पूछो इसका क्या होगा ? यह एक निष्क्रिय आत्म-समर्पण की स्थिति है, मानो इस विराट् लीला के अंग स्वरूप हम भी उसकी गतिविधि के संचालकों या विधायकों में न हों। छायावादी काव्य में भी इस प्रकार के अनेक मध्ययुगीन दृष्टिकोणों, आदर्शों तथा मान्यताओं की अवतारणा हुई है। पर उसके साथ कवि की या तो वेदनात्मक प्रतिक्रिया हुई है कि ऐसा क्यों है अथवा उसकी स्थिति के प्रति विद्रोह या नये बोध की भावना को अभिव्यक्ति मिली है। इसी प्रकार की ह्रासयुगीन व्यक्तिवादी दृष्टि हमें —प्रभो, तुम्हें हम कब पाते हैं—जब इस जनाकीर्ण जगती में एकाकी रह जाते हैं— आदि 'प्रभु की प्राप्ति' शीर्षक कविता में भी मिलती है, जिसमें कवीन्द्र रवीन्द्र के रहस्यवाद का प्रभाव भी प्रत्यक्ष है। द्विवेदी युग के काव्य में जागतिक धर्म, कर्म या कर्तव्य को प्रायः पौराणिक मान्यताओं तथा जीवन के प्रति मध्ययुगीन दृष्टिकोण के भीतर से ही वाणी मिली है। उस युग के जागरण के स्वरों में भी उन्हीं मान्यताओं तथा आदर्शों में सुधार एवं संस्कार लाने का प्रयत्न किया गया है, उनमें क्रान्तिकारी रूपान्तर करने का नहीं। 'झंकार' के प्रायः सभी प्रगीतों में काव्यात्मक अभिव्यंजना से अधिक पद्य और कहीं-कहीं गद्य ही अधिक मिलता है।

अब हम प्रसादजी के 'झरना' के द्वितीय संस्करण तथा 'लहर' और 'आँसू' आदि से कुछ उद्धरण लेकर उनकी काव्य भावना तथा अभिव्यंजना एवं कला-बोध आदि के विकास-क्रम पर दृष्टिपात करेंगे। 'झरना' अब प्रसादजी की सन्'१८ तक की रचनाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करता, उसमें अनेक नयी रचनाएँ सन्'२७ वाले दूसरे संस्करण में जोड़ दी गयी हैं और कई उससे निकाल भी दी गई हैं। हमें प्रसादजी के भावना जगत् तथा अभि-व्यंजना सम्बन्धी नवीनता का थोड़ा बहुत परिचय उससे मिल जाता है। 'झरना' की सर्वप्रथम परिचयात्मक रचना 'परिचय' में प्रसादजी लिखते हैं— 'उषा का प्राची में आभास, सरोरुह का सर बीच विकास, कौन परिचय था क्या सम्बन्ध ? गगन मण्डल में अरुण विलास' उसी कविता की अन्तिम पंक्तियाँ हैं राग से अरुण, घुला मकरन्द, मिला परिमल से जो सानन्द, वही परिचय था, वह सम्बन्ध, प्रेम का, मेरा तेरा छन्द।' इन चरणों में हम देखते हैं कि अभिव्यक्ति एक नयी दिशा लेने का प्रयत्न कर रही है। प्रकृति का सौन्दर्य छंदों से झांक ही नहीं रहा है वह भावना को व्यक्त करने के लिए उपादान की तरह प्रयुक्त भी किया जाने लगा है—और प्रेम, जो कि छायावादी काव्य में धीरे-धीरे ही विकसित मूल्य ग्रहण करता है, नये भाव-बोध के अन्तरिक्ष की अरुणिमा बनकर अपनी स्वतन्त्र उपस्थिति का आभास देने लगा है। इसी प्रकार 'खोलो द्वार' शीर्षक रचना की पंक्तियाँ —'शिशिर कणों से लदी हुई कमली के भीगे हैं सब तार, चलता है

पश्चिम का मारुत लेकर शीतलता का भार, भीग रहा है रजनी का वह सुन्दर कोमल कवरी भार, अरुण किरण सम कर से छू लो, खोलो, प्रियतम, खोलो द्वार !' इन चरणों में भी मन रजनी के सुन्दर कोमल कवरी भार को हटाकर अरुण करों से नये प्रकाश के शोभा-द्वार को खोलने की पुकार है। 'झरना' की आप कोई भी रचना क्यों न लें उसमें एक अस्पष्ट अवगुण्ठन के भीतर से नये युग के सौन्दर्य-बोध का मुख दिखायी पड़ता है। कला में उतना निखार नहीं है। लाक्षणिक प्रयोग, प्रतीक, बिम्ब आदि की ओर अभिरुचि बढ़ रही है। अतुकान्त रचनाएँ भी इस संग्रह की एक विशेषता हैं। भाव-बोध में किसी प्रकार की नवीनता के चिह्न नहीं दृष्टिगोचर होते, हाँ, यत्रतत्र 'स्वप्नलोक,' 'दर्शन' आदि अनेक रचनाओं में रवीन्द्रनाथ के भावों की छाया आँखमिचौनी खेलती-सी प्रतीत होती है। किन्तु द्विवेदी युग के काव्य की तुलना में इसमें मौलिक आत्माभिव्यक्ति के भी सम्वेदन मिलते हैं। कहीं-कहीं अत्यन्त गद्यमयी शैली भी हो गयी है—यथा, सुधा में मिला दिया ज्यों गरल, पिलाया तुमने वैसा तरल, माँगा होकर दीन, कण्ठ सींचने के लिए, गर्म झील का मीन, निर्दय, तुमने कर दिया; इत्यादि। 'झरना', 'वीणा' की तरह छायावाद की प्रयोगावस्था का काव्य संकलन है। उसमें जो शिल्प भावाभिव्यक्ति आदि सम्बन्धी शैथिल्य तथा उलझाव मिलता है उसी का तुलनात्मक दृष्टि से प्रौढ़ तथा व्यवस्थित स्वरूप हमें प्रसादजी का उनकी 'लहर' की रचनाओं में मिलता है जो अनेक दृष्टियों से छायावादी काव्य-बोध का सफल प्रतिनिधित्व करती है। 'आँसू' के बाद प्रसादजी की प्रौढ़ रचनाओं का संकलन 'लहर' नाम से सन् '३३ में प्रकाशित हुआ। इसकी गीतात्मक रचनाओं में प्रसादजी के कुछ प्रसिद्ध गीत सम्मिलित हैं—जिनमें 'बीतीविभावरी जाग री'; 'अब जागो जीवन के प्रभात'; 'अपलक जगती हो एक रात'; 'ले चल मुझे भुलावा देकर,' आदि गीतों में भावना जैसे अपने सहज रूप में स्वत: ही ढल गयी हो। फिर भी इनमें कला का वह निखार, भावना की तन्मयता या संवेदना की गहराई तथा श्लक्षण संगीतात्मकता नहीं है जो निराला तथा महादेवी के अनेक गीतों में पायी जाती है। 'खगकुल कुलकुल-सा बोल रहा' कोई प्रसन्न स्वरचित्र उपस्थित नहीं करता। सम्भवत: छायावादी कवियों में सबसे कम स्वर-साधना प्रसादजी की थी, जिसके कारण उनका शिल्प अन्त तक, कामायनी में भी, प्राय: अनगढ़ तथा अपरिपक्व ही रहा। 'लहर' के प्रगीतों में गाम्भीर्य, मार्मिक अनुभूति तथा बुद्ध की करुणा का भी प्रभाव है। प्रसादजी का भावजगत् 'झरना' की प्रेम-व्याकुलता तथा चंचल-भावुकता से बाहर निकलकर इसमें उनकी व्यापक जीवन-अनुभूति को अधिक सबल संगठित अभिव्यक्ति दे सका है। इसमें ऐतिहासिक भूमि पर प्रतिष्ठित तीन लम्बी रचनाएँ भी हैं जिनमें 'प्रलय की छाया' भावाभिव्यक्ति तथा शिल्प की दृष्टि से अधिक परिपूर्ण है, किन्तु इसका मुक्त छन्द निराला के मुक्त छन्द की गरिमा तथा प्रवाह नहीं प्राप्त कर सका। इन संकलनों के मध्यवर्ती काल में अर्थात् सन् '२५ में प्रसादजी का 'आँसू' प्रथम बार निकला। 'झरना' के बाद 'आँसू' में उनकी कला, सौन्दर्य-दृष्टि तथा अभिव्यंजना-शक्ति सभी में यथेष्ट निखार तथा परिणति देखने को मिलती है। भावना

का जो द्वन्द्व प्रसादजी में प्रारम्भ से ही मिलता है वह इसमें अधिक गहरा तथा व्यापक हो जाता है। किन्तु कोई सुस्पष्ट चेतना स्पर्श, चिन्तन या जीवन-दर्शन 'आँसू' मे भी देखने को नहीं मिलता और जब हम इसके प्रणय-व्यथा के नैराश्यपूर्ण अन्धकार से भरे प्रथम संस्करण तथा अदृश्य कथा-सूत्र में गुँथे, आशा-आस्था का पुट लिये, दूसरे संस्करण के संस्कार पर विचार करते है और साथ ही 'झरना' के प्रथम द्वितीय संस्करणों के आमूल रूपान्तर की बात पर ध्यान देते है तो हमें छायावाद के सौन्दर्य-चेता प्रसादजी के कृतित्व ही में छायावादी काव्य की अभिव्यक्ति तथा अन्तस्तत्व सम्बन्धी संघर्ष तथा साधना का यथेष्ट आभास मिल जाता है। अनेक उपमाओं, रूपकों, प्रतीकों, बिम्बों, अप्रस्तुत विधानों में परिधानित इस आध्यात्मिक-सी प्रतीत होने वाली अति काल्पनिक, अस्पष्ट, कारणहीन वियोग-व्यथा के कारण, मैं 'आँसू' को, उसमें अभि-व्यंजना का वैभव होते हुए भी, एक लक्ष्यहीन उड़ान एवं दुर्बल भावना की छटपटाहट भर मानता हूँ। फिर भी 'लहर' की रचनाओं से प्रसादजी के विकासशील व्यक्तित्व का परिचय, उनकी भाव-क्षमता, कलासाधना के प्रति निष्ठा तथा चिन्तन का स्पर्श स्पष्ट देखने को मिलता है। 'चित्राधार' से लेकर 'कानन कुसुम', 'प्रेम-पथिक' 'करुणालय' 'झरना', 'आँसू', 'लहर' आदि जैसे प्रसादजी की प्रतिभा के विकास सोपान है, जिन पर उनकी सृजन-प्रेरणा अपने उदात्त चरण बढ़ाती हुई, कामायनी के ऊर्ध्व स्वर्ण-शिखर पर आरोहण कर सकी, जहाँ श्रद्धा और मनु छायावादी भावना और चिन्तन के प्रतीक स्वरूप अपने कृच्छ्र साधना-पथ में अनेक रहस्यमय भाव भूमियों को पार कर आनन्द की स्थिति में अवस्थित दीखते है। जीवन सौन्दर्य से अन्तर्मुखी आनन्द में कूदना एक त्रुटि थी। आनन्द प्रेम-तत्व प्रेरित सौन्दर्य-स्पर्श का परिणाम भर है, चाहे वह अन्तःसौन्दर्य हो या बाह्य सौन्दर्य। रूप से भाव को, जगत् से ईश्वर को विच्छिन्न कर मध्य-युग आत्ममुक्ति के अमूर्त आकाश मे खो गया। उसने समाज विमुख होकर जन-जीवन को अथाह दारिद्र्य मे डुबो दिया, तथा जीवन-वियुक्त मन के वाष्प को सहस्रों मनों में विदीर्ण कर दिया। फिर भी 'कामायनी' निश्चय ही बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न प्रसादजी के कवि व्यक्तित्व की सर्व-श्रेष्ठ एवं चरम उपलब्धि है, जिसमें नवीन काव्य-चेतना का छायावाद कहा जाने वाला प्रथमोत्थान अपनी सम्पूर्ण क्षमताओं तथा दुर्बलताओं से प्रेरित होकर अपना सर्वोच्च लक्ष्य-शिखर प्राप्त कर सका है। तुलसी मानस के बाद हिन्दी का यह सर्वश्रेष्ठ कहा जानेवाला महाकाव्य उस बहुमुख स्फटिक मणि के समान है जिसमें प्रसादजी की प्रतिभा के भाव-बोध, वैचित्र्य भरे विविध आयाम, रूप, शिल्प तथा कला की रंगच्छाया-मैत्री तथा उनके चिन्तन-दर्शन का आलोकपूर्ण, तपःपूत, शान्त, सौम्य आनन स्पष्टतः अपने अनेक विराट् कोमल स्वरूपों, रहस्यमय प्रतीकों तथा भाव निगूढ़ बिम्बों में प्रतिच्छवित हो सका है। कामायनी भारतीय पुनर्जागरण का महाकाव्य है, इसमें भारत की अतीत साधना के नवनीत शैवागम-दर्शन के आनन्द चैतन्य का ही अमृत नहीं, आधुनिक युग के मनोविज्ञान, विकासवाद तथा भौतिक-राजनीतिक संघर्ष की अस्पष्ट प्रतिध्वनियाँ भी मिलती हैं: यह महाकाव्य कविदृष्टि के अन्तर्मुखी

आरोहण का सोपान है। मानव मन की मुख्य वृत्तियों एवं भावनाओं—चिन्ता लज्जा, काम, ईर्ष्या, निर्वेद आदि के स्वरूप-निरूपण व मानवीकरण में प्रसादजी ने जो रसात्मक-श्रम तथा शिल्प-कौशल दिखलाया है वह कवि की विकसित सौन्दर्य-दृष्टि तथा कला-बोध का साक्षी है, उसमें सभी कुछ उच्च श्रेणी का न हो, पर कुछ भी निम्न श्रेणी का नहीं है। मानव मन की प्रमुख चित्त वृत्तियों का विश्लेषण-संश्लेषण कर तथा उनके पारस्परिक जटिल सम्बन्धों पर प्रकाश डालकर प्रसादजी ने इच्छा, कर्म, ज्ञान का संयोजन या समन्वय कर सात्विक आनन्द की उपलब्धि के लिए श्रद्धापथ से जो सामरस्यमय समाधान उपस्थित किया है, वह केवल वैयक्तिक साधना पथ से ही सिद्ध हो सकता है। मनु की तरह एकान्तसेवी ही इस प्रकार का अधिमानस दर्शन प्राप्त कर सकता है। प्रसादजी ने मानव मनोवृत्तियों अथवा भावनाओं को तुलसीदास की तरह अपने युग-जीवन की परिस्थितियों में प्रवेश कराकर, आज की युग-चेतना के सामूहिक संघर्ष का चित्र नहीं अंकित किया है। उन्होंने केवल मनोभूमि पर भावनाओं को परिस्थितियों से स्वतन्त्र रखकर, उन्ही का ऊहापोह या संघर्ष एक दर्शनज्ञ मनोवैज्ञानिक की तरह दिखाया है। इसीलिए तुलसी मानस अन्तर्मुखी रामचैतन्य के बोध के साथ मध्ययुगीन भारतीय मानस का संघर्ष प्रतिबिम्बित कर सका है और मनु का मानस केवल अन्तर्मुखी व्यक्ति मन का। सारस्वत प्रदेश में भी केवल उसके व्यक्ति मन की प्रतिक्रिया या परिणति या पलायन का दिग्दर्शन मिलता है। तुलसी मानस जहाँ सामन्त युगीन पृष्ठभूमि में सशक्त आस्था तथा व्यवस्थित मानसिक मर्यादाओं के साथ महान् कृषि युग की मान्यताओं के संघर्ष के फलस्वरूप एक व्यापक बहिर्मुखी जीवन-दर्शन भी प्रस्तुत करता है, वहाँ कामायनी केवल व्यक्ति मनु की मानसी वृत्तियों के घात-प्रतिघात का चित्रण कर शैवागम पर आधारित एक अन्तर्मुखी मनोदर्शन स्वीकार कर लेती है। इसीलिए वह तुलसी मानस की तरह वास्तविक जीवन उपकरणों का, लोक मर्यादाओं तथा नीतियों का उन्नत प्रासाद न होकर अमूर्त भाविक तत्वों का, समरस जड़ चेतन उपकरणों से निर्मित, सिद्ध पीठ या आनन्द विहार है। तुलसी मानस लोक समाज के दृष्टिकोण की सर्वांगीण परिणति है। कामायनी व्यक्ति दृष्टि की ऊर्ध्वमुखी एक उपलब्धि। इड़ा-श्रद्धा के समन्वय या बुद्धि को श्रद्धा के अधीन रखने के सन्देश में भी कवि की दृष्टि केवल व्यक्तिगत अन्तःसंयोजन पर है। मनुष्य, जीवन-संघर्ष में सफल होने के लिए, बुद्धि को श्रद्धा दीप्त कर अपने को भीतर से बदले, यह मार्ग जीवन की परिस्थितियों को बदलने या विश्व परिस्थितियों में नवीन संयोजन भरने की आवश्यकता की ओर ध्यान नहीं आकृष्ट करता। मैं यह नहीं कहना चाहता कि कामायनी के स्रष्टा को केवल मानस-दृष्टि मिली थी, चेतना का अन्तःस्पर्श नहीं मिल सका था। किन्तु यह मुझे निर्विवाद लगता है कि कामायनी का रत्नप्रभ स्फटिक प्रासाद, जो जल-प्रलय की उत्ताल-तरंगों की नींव पर आदि पुरुष मनु की मनीषा तथा परिस्थितियों से प्रेरित, चिन्तन के सद्यः सौन्दर्य स्वप्नों से मण्डित होकर उठा था, नये मूल्य की आत्मा में अन्तर्दृष्टि के अभाव के कारण वह निर्वेद से लेकर अन्तिम चार अध्यायों में केवल एक

मध्ययुगीन ज्ञान व्यवस्था के विश्लेषण-संश्लेषण से विजड़ित दर्शन का—मुझे शुभ्र अस्थिपंजर कहना अच्छा नही लगेगा—सामरस्य ज्योति चुम्बित, आनन्द भरा, अतीत की पुण्य स्मृति का अस्थिकलश मात्र बनकर रह गया। सारस्वत प्रदेश के संघर्ष में युग-संघर्ष के एक गौण पक्ष का निर्बल छाया-दृश्य उपस्थित कर कवि मनु को संघर्ष-विमुख आत्म-पलायन के पथ मे जिस व्यक्तित्व-विस्तार का सन्देश देता है वह निश्चय ही आधुनिक नही। जीवन-संघर्ष का समाधान वह त्रिपुर में अन्तर्मुखी संयोजन स्थापित करने के रूप में ही दे सका, जिसके बाद ही रहस्यमयी आनन्द भूमि का आरोहण सम्भव हो सका है। सम्भवत: जीवन-आनन्द दूसरे ही उपादानों मे निर्मित है, और इच्छा-ज्ञान-कर्म की वृत्तियों का बाहरी जीवन परिस्थितियों से सम्बन्ध-मूल्य निर्धारण करने तथा बाह्य परिस्थितियों के विकास, उन्नयन तथा संयोजन की बात उन्हें इस वैज्ञानिक युग में नहीं सूझी। इसका भी मुख्य कारण यही है कि उनका जीवन बोध वस्तुमुखी न रहकर मात्र भावोन्मुखी तथा अन्तर्मुखी बन गया था। प्रसादजी मे हमे कहीं भी आधुनिक ऐतिहासिक-अर्थ में विकासशील सामूहिक जीवन-दृष्टि के दर्शन नही होते। उनकी दृष्टि जीवन की समस्याओं के स्तर पर उतरती भी है तो केवल व्यक्ति जीवन की समस्याओं को लेकर। व्यक्ति-मन के उलझावों एवं द्वन्द्वों के स्तर पर सामूहिक जीवन की समस्याओं का समाधान भी वह केवल वैयक्तिक ही दृष्टि से प्रस्तुत करते है या फिर वह स्वतन्त्र निरपेक्ष रूप से भावनाओं का या उनके द्वन्द्वों का अध्ययन-मनन, सौन्दर्य-निरूपण एवं स्वरूप-चित्रण करने में संलग्न रहते है। वे अमूर्त भावों के सिद्ध चितेरे हैं, उनकी प्रतिभा के जादू के स्पर्श से भावनाएँ साकार होकर, इन्द्रधनुष की तरह विविध रंग-शोभा मैत्रियों में सज्जित होकर आपके मनोनयनों को मुग्ध कर देती हैं। यह मनस्तत्व या अन्त:करण रहस्यमयी वृत्तियों का सम्पुंजन है, और वे किस प्रकार उसके भीतर कार्य करती है और अपने को बाहर जीवन के क्षितिज में प्रसरित करती हैं, इसके भी वे सूक्ष्म द्रष्टा हैं।

किन्तु यह सब होते हुए भी छायावादी काव्य की दृष्टि से – अर्थात् नये काव्य संचरण के प्रथम उत्थान की दृष्टि से—कामायनी इस युग की एक अद्भुत भाव सम्पद् तथा अपूर्व आकर्षण भरी कृति है। वह अपनी समस्त क्षमता, दुर्बलता, सुघरता, अनगढ़ता को लेते हुए भी एक अतुलनीय, अमर तथा महान् काव्य सृष्टि है और समस्त छायावादी कृतित्व में उसका गौरवपूर्ण स्थान हो तो कोई आश्चर्य नही। कला-बोध तथा शिल्प-सौन्दर्य की दृष्टि से वह प्रसादजी की चरम सिद्धि की सूचक है। अपने प्रचुर प्रतीकों, लाक्षणिक संकेतों, अप्रस्तुत विधानों, बिम्बों, विराट् कोमल चित्रणों, नवीन उपमानों, रूपकों, छन्द प्रयोगों तथा प्राणवान शब्द-चयन आदि की दृष्टि से भी वह इस युग की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। उसके भाव, कला, भाषा आदि सम्बन्धी गुण दोषों की विवेचना दिनकरजी इतने विस्तार से कर चुके हैं कि उनके विवरणों में जाना केवल पिष्ट-पेषण भर होगा। प्रसादजी का कृतित्व उनकी काव्य कृतियों तक ही सीमित नहीं, उनकी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय हमें उनके निबन्धों, काव्यात्मक नाटकों, उपन्यासों तथा अत्यन्त सफल कहानियों से

भी मिलता है। उनके व्यक्तित्व में जो सन्तुलन, मार्दव, गाम्भीर्य तथा बोधिसत्वों का सा निःसंग सौम्य ओज था, उसमें जो शील, सौजन्य, सौहार्द, सुहृदों के प्रति सहज स्नेह तथा उनके व्यवहार में जो अकुण्ठित स्वाभाविकता और उनके स्वभाव में जो विनोदप्रियता, जीवन का उपभोग करने की क्षमता थी वह उन्हें छायावादी चतुष्टय में एक विशिष्टता, महानता, सम्माननीयता तथा सर्वाधिक लोकप्रियता प्रदान करती है। प्रसादजी निश्चय ही हम सबके अग्रणी तथा शीर्षस्थ महाकवि थे।

जैसा कि हम ऊपर देख आये है, नये जीवन-मूल्य तथा नये भाव-बोध की दृष्टि से कामायनी केवल छायावादी हाथीदाँत की मीनार भर है, भले ही उसे कैलाश-शिखर की संज्ञा दी जाय। वास्तव में प्रसादजी की दृष्टि धीरे-धीरे अधिकाधिक भावोन्मुखी एवं अन्तर्मुखी होती रही— उन्होंने मध्ययुगीन चिन्तकों तथा दर्शनज्ञों की तरह भाव-तत्व को इस तरह निरखा-परखा, जिस तरह जौहरी रत्नों के खरेपन को या गन्धी इत्रों में विविध गन्धों के सम्मिश्रण की जाँच पड़ताल-करता है। किन्तु सांस्कृतिक मूल्य की दृष्टि से भावनाएँ, जो जीवन की नवनीत भर हैं, विकासशील जीवनतत्व से विच्छिन्न होकर अपना कोई भी प्रगतिशील मूल्य नहीं रखतीं। हमारे मध्ययुगीन सन्तों तथा कवियों ने, जब देश में जीवन की स्थितियाँ सामन्ती ढाँचे के ह्रास तथा देश की पराधीनता के कारण निष्क्रिय, गतिहीन तथा स्थिर हो गयी थीं, केवल भावना का ही व्यापार किया है। तब ज्ञान-व्यवस्थाएँ दर्शनों के अस्थिपजरों में, जीवन प्रणालियाँ अनेक मत-मतान्तरों तथा सम्प्रदायों के रहन-सहन में जड़ी-भूत हो गयी थीं, स्वयं वैष्णव तत्व जो सामन्ती संस्कृति का सारभूत पोषक द्रव्य रहा है, वह भी अनेक प्रकार के सम्प्रदायी ढाँचों में विभक्त हो चुका था। जिस प्रकार बिजली को खोज निकालना एक बात है और सामाजिक सुविधा के लिए उसका उपयोग दूसरी बात, उसी प्रकार भगवत् बोध प्राप्त करना एक बात है और उस बोध को जीवन मंगल के उपयोग के योग्य बनाना दूसरी बात। विगत युगों में यह आंशिक रूप से धर्मों के माध्यम से सम्भव हुआ है, किन्तु मध्ययुगों में आत्म मुक्ति या आत्मनिर्वाण के लिए उसका वैसा ही आत्म-ध्वंसक प्रयोग किया गया है जैसा हम वर्तमान युग में अणु-शक्ति का रचनात्मक उपयोग न कर उससे आणविक अस्त्र बनाकर उसका विश्व-ध्वंस के लिए उपयोग करना चाहते हैं। विज्ञान-भूमि पर साधु-सन्तों ने जो थोड़ी बहुत तान्त्रिक सिद्धियाँ प्राप्त कीं उनका महत्व इसकी तुलना में नगण्य के बराबर होता यदि वह केन्द्रीय सत्ता की एकता का उच्च-बोध व्यापक लोक-जीवन-निर्माण की साधना में प्रयुक्त किया जा सकता। पिछले युगों की धार्मिकता तो केवल धार्मिकता का उपहास भर रही है।

जब तक मनुष्यों के सम्बन्ध मनुष्यों के साथ शुद्ध न हों और मनुष्य की आन्तरिक भगवत्-एकता तथा दिव्यता का ऊर्ध्व-सिद्धान्त समदिक् लोक जीवन में सौमनस्य, सद्भाव, सहज स्नेहपूर्ण संगठन के लिए उपयोग में न लाया जाय, तब तक ज्ञान की उपलब्धि का वैसा ही दुरुपयोग करना है जैसा कि आधुनिक विज्ञान का, और जैसा तान्त्रिक-सिद्धियाँ प्राप्त कर तथाकथित साधक प्राणिक-शक्तियों को अधिकृत कर सामान्य जनों का

शोषण कर उसका दुरुपयोग करते रहे हैं। भारतीय जागरण के उपरान्त जिसमें कि भाव-बोध का फिर से एक बार पुनरुज्जीवित होकर या उभर-कर सामने आना स्वाभाविक था, जिस नयी जीवनोन्मुखी या नयी वस्तून्मुखी दृष्टि की आवश्यकता थी उसका मूल्य तब छायावादी कवि नहीं आँक सके और इसलिए उसे प्राप्त करने की ओर सचेष्ट भी नहीं रहे। द्विवेदी युग की वस्तु-निष्ठता, पौराणिक मध्ययुगीन मर्यादाओं में बँधी वस्तु-निष्ठता थी,— छायावादी जागरण में बोध-दृष्टि उससे ऊपर उठकर एक स्वच्छन्द भाव-बोध की आवश्यकता का अनुभव करने लगी। पर वह जागरण युग का भाव-बोध ही आनेवाले जीवन की वास्तविकता की दृष्टि से सब कुछ नहीं था। मैंने आधुनिक कवि की भूमिका में जिस छायावादी भावबोध की भर्त्सना की है वह यही भावबोध था। मानव चेतना को नवीन जीवन-यथार्थ का मूल्य आँकना था। पर प्रसादजी जैसे कवि जिनका कि भारत के सांस्कृतिक अतीत से इतना घनिष्ट सम्बन्ध रहा है, उसी सांस्कृतिक सम्पद् अर्थात् भावनागत मूल्यों को ही यदि एक सुव्यवस्थित शैवागम दर्शन के परिप्रेक्ष्य मे पुनर्निर्मित कर हमें कामायनी-सी महान् काव्य सृष्टि दे गये तो यह स्वाभाविक ही है।

प्रसादजी के बाद हमारे सामने निरालाजी का दीर्घ, सशक्त, उन्मुक्त व्यक्तित्व तथा वैविध्यपूर्ण उन्नत कृतित्व आता है। वैसे तो प्रत्येक रचनाकार और विशेषतः कवि के कृतित्व का उसके व्यक्तित्व से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है, पर निरालाजी के सम्बन्ध में यह और भी अधिक सत्य प्रमाणित होता है; उनका कृतित्व उनके व्यक्तित्व का दर्पण सा रहा है। इसलिए उनकी रचनाओं का संक्षिप्त मूल्यांकन करने से पहिले उनके व्यक्तित्व को समझ लेना अधिक लाभदायक होगा। निराला का आविर्भाव नयी काव्य-चेतना के आकाश में एक तेजोमय धूमकेतु के समान हुआ, एक प्रखर धूमकेतु, जिसका सिर अद्वैत दृष्टि की मणि के आलोक से देदीप्यमान रहा और जिसके पीछे अपनी ही व्याप्ति में खोयी ज्योति-वाष्पों की एक लम्बी धूमिल पूँछ भी लिपटी रही, जिसमें उनके उपचेतन व्यक्तित्व की वे सभी महत्वाकांक्षाएँ, विकृतियाँ, विषमताएँ—अहंमन्यता, स्पर्धा, प्रचण्डता तथा निर्मम जीवन परिस्थितियों के कृच्छ्र, कष्टपूर्ण संघर्षों की परछाइयाँ एक अस्पष्ट अचिन्त्य, समझ में न आनेवाले, रहस्य-मय इन्द्रजाल में-सी बँटी, प्रतिच्छवित रहीं। निराला का विकास प्रसाद की तरह मन्द गजगामी गति से नहीं हुआ। उन्होंने कविता-कानन में अपने समस्त प्रवेग के साथ सिंह की तरह प्रवेश किया और उनकी पहिली ही रचना 'जूही की कली' ने नयी अभिव्यंजना तथा शिल्प-कौशल के कारण आलोचकों की दृष्टि में हिन्दी जगत् में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया। इसका कारण यह था कि निरालाजी को प्रारम्भिक काव्य-प्रेरणा के लिए बंग-भाषा की काव्य-उर्वर भूमि और कवीन्द्र रवीन्द्र का नव युग के सौन्दर्य-बोध से परिष्कृत एवं भाव-संस्कृत वातावरण मिला था। 'जूही की कली', 'जागृति में सुप्त थी' तथा 'शेफालिका' आदि रचनाओं में, और एक प्रकार से निरालाजी की सभी स्वच्छन्द एवं मुक्त छन्दों की रचनाओं में जिनकी प्रेरणा निश्चय ही उनको बँगला-छन्दों से मिली, रवीन्द्र के अक्षर-मात्रिक संगीत का प्रसार एवं शब्द-चयन-बोध दृष्टिगोचर होता है।

इसीलिए उनकी कविताओं में प्रारम्भ से ही कला-शिल्प का सौष्ठव मिलता है। जिस प्रकार मेरी 'वीणा' में अथवा प्रसादजी के 'कानन कुसुम' या 'झरना' आदि रचनाओं में कला-दृष्टि की अपरिपक्वता मिलती है, वैसी निरालाजी में उस मात्रा में कहीं नहीं दृष्टिगोचर होती। जिस तरह मुझे प्रारम्भ में हिमालय के सान्निध्य से, और फिर अंग्रेज़ी कवियों के सम्पर्क में आने से काव्य-रुचि तथा कला-बोध सम्बन्धी प्रेरणा मिली उसी तरह निराला को भी बँगला के उन्नत साहित्य-महीधर-प्रांगण में रहने के कारण प्रथम प्रेरणा मिली हो तो यह बिल्कुल ही स्वाभाविक है।

निरालाजी के कृतित्व के अनेक पहलू हैं। सर्वप्रमुख तो उनकी सबल बौद्धिक रचनाएँ हैं, जिनमें उनकी अद्वैत-दृष्टि का अखण्ड तेज, असीम सौन्दर्य, तथा निगूढ़ सांकेतिक कला-वैभव है। यह उनके काव्य की ज्योतिर्मयी भूमि है, जिसमें कई अत्यन्त सफल गीत तथा अनेक लम्बे प्रगीत भी अंकुरित हुए हैं। इस ज्योति-संचरण को मुक्त अभिव्यक्ति निराला की मुख्यत: तीन कृतियों, गीतिका, अनामिका तथा तुलसीदास ही में मिल सकी है, जो निरालाजी की सन् '३६ से '३६ तक की रचनाएँ हैं। इसके बाद वह कला-संयम, भाव-सौष्ठव, शिल्प-सौन्दर्य, सांगोपांग प्रतीक रूपक विधान क्षमता उनकी अन्य, पूर्व कृतियों में भी, मेरी दृष्टि में नहीं पायी जाती है। 'परिमल' में उनका बौद्धिक तेज कला की दृष्टि से मन्द तथा भावना-गुण्ठित है। उसके गीतों में गीतिका के गीतियों का-सा ज्योतिस्पर्श नहीं मिलता, भाव-संवेदना भले ही मिलती हो। निरालाजी ने, उपर्युक्त तीन ग्रन्थों को छोड़कर, अपने समस्त कृतित्व काल में अपने संकल्प-बल से परिस्थितियों की चेतना पर आरूढ़ होकर, अपनी सृजन-कामना को अभिव्यक्ति दी है। वे अत्यन्त हठी, अहम्मन्य तथा कभी-कभी उद्धत होने के साथ ही अत्यन्त भाव-प्रवण तथा संवेदनशील तो थे ही, इसीलिए उनके हृदय में बाहरी भीतरी प्रभावों, व्यक्तिगत जीवन संघर्षों, महत्वाकांक्षाओं के दंशों तथा प्रवेगों के साथ आशा-निराशा, आह्लाद-विषाद के ज्योति-अन्धकार का इतना दुर्धर्ष उद्वेलन अधिकतर वर्तमान रहता था कि अत्यन्त सशक्त सृजन-क्षमता होने पर भी उनके पास अपने भीतर अन्त:स्थित होने को कोई ध्यान-बिन्दु या प्रत्यय-प्रबोध की भूमि स्थिर नहीं रह पाती थी। या कहिए कि सृजन के लिए जिस भाव-उर्वर शान्ति की आवश्यकता होती है वह उसकी पीठिका का, अपने आवेगशील स्वभाव के कारण, अपने भीतर निर्माण ही नहीं कर पाते थे, जिसके शुभ्र कल्पना-हंस-पंखों पर आरूढ़ हो उनकी सृजन चेतना उन्मुक्त विहार कर चिदाकाश में रंग पर रंग बखेर सकती। निरालाजी अन्त:केन्द्रित होकर केवल सन् '३६ से '३८ तक ही रह सके। उसके बाद उनमें कुछ तो बाहर की आर्थिक परिस्थितियों की कठिनाइयों तथा स्वजनों के वियोग के कारण, पर मुख्यत: उनके अत्यन्त स्वाभिमानी, महत्वाकांक्षी स्वभाव के कारण, उनके मन में बिखराव के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे, और सन् '४२ में जब वह मुझे एक दिन इलाहाबाद में बैंक रोड पर जाते हुए मिले तो मैं उनकी मन:स्थिति को देखकर विस्मय-विमूढ़ हो गया। उनकी निर्भीकता कहिए या औद्धत्य, उसके प्रमाण में उनका गांधीजी के साथ बर्ताव तथा अपने को हिन्दी का रवीन्द्रनाथ घोषित करना आदि घटनाएँ दी जा सकती

हैं। निःसन्देह वह शक्तिपुंज थे। अपनी उद्दाम प्रवृत्तियों के कारण प्रायः आत्म-सन्तुलन खोकर अत्यन्त उग्र हो उठते थे। वह सचमुच ही हिन्दी के रवीन्द्रनाथ होते या उनसे भी बड़े होते यदि जितनी व्यापक अद्वैत दृष्टि उनके पास थी, उतनी ही उनकी प्रवृत्तियाँ भी परिष्कृत होतीं अथवा उतना ही उनके स्वभाव में आत्म सन्तुलन भी होता। किन्तु निरालाजी के लिए यह सोचना कि वह कुछ और होते, यह सम्भवतः उनके लिए अन्याय करना है; वह अदम्य शक्तिदुर्ग थे, और हिन्दी ने उन्हें इसी रूप में श्रद्धानत, भाव-प्रणत होकर स्वीकार कर लिया और उन्होंने जो कुछ भी साहित्य को दिया उसका छायावादी युग की श्रेष्ठ उपलब्धि के रूप में मूल्यांकन कर उसे अकुण्ठित समादर दिया—यह उनके व्यक्तित्व के प्रति दुर्निवार आकर्षण का और साथ ही उनके विरामहीन कटु संघर्ष-मय जीवन के लिए उन्मुक्त, असंकुचित सहानुभूति का प्रमाण है।

'गीतिका' के कुछ गीत हिन्दी की अमूल्य सम्पत्ति हैं, संगीत की दृष्टि से उनमें वह मार्दवता या पूर्णता न हो, और सम्भवतः भाषा भी कहीं जटिल तथा गूढ़ हो पर भाव-मूल्य तथा ज्योतिस्पर्श की दृष्टि से इनमें से अधिकांश गीत अपूर्व है। जैसे—'मौन रही हार, प्रिय पथ पर चलती, सब कहते शृंगार'। जिस प्रेम की भूमिका पर अधिकतर गीत लिखे गये है उनकी अर्थवत्ता उस भूमिका को पार कर सुदूर किन्हीं दूसरे ही रश्मि क्षितिजों में आरोहण करती-सी प्रतीत होती है। यद्यपि लौकिक के माध्यम से अलौकिक और अलौकिक के माध्यम से लौकिक का चित्रण करने की परिपाटी हिन्दी कविता के लिए अपरिचित नहीं, किन्तु निरालाजी की ज्योति-द्रवित दृष्टि का सौन्दर्य इन गीतों को विशेष महत्व प्रदान करता है। निरालाजी की कला में रोमेंटिक के अतिरिक्त एक क्लैसिकल स्पर्श भी मिलता है. क्लैसिकल का प्रयोग मैं मुख्यतः काव्य की उत्कृष्टता तथा बौद्धिक गाम्भीर्य की दृष्टि से कर रहा हूँ। यद्यपि छन्द-बन्ध तोड़कर कला आदि की दृष्टि से उन्होंने प्राचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा का विद्रोह किया है, पर भारतीय दर्शन, चिन्तन तथा सांस्कृतिक परम्परा की दृष्टि से वह प्रसादजी की तरह स्वच्छन्दतावादी होते हुए भी अपने अन्तरतम में क्लैसिकल अभिरुचि के कलाकार है। उनका जो सर्वोत्कृष्ट है वह क्लैसिकल रुचि से प्रेरित है, उनका जो मध्यम अथवा उससे भी साधारण कोटि का कृतित्व है उसमें अवश्य वह उद्बोधक, विद्रोही, क्रान्तिकारी एवं कटु व्यंग्यकार के रूप में अधिक प्रकट हुए है। 'गीतिका' के अन्य उत्कृष्ट गीतों में, 'सखि बसन्त आया' भी कला का नवोत्कर्ष लिये हुए है। 'लतामुकुल हार गन्ध-भार भर, बही पवन बन्द मन्द मन्दतर'—ऐसी सौन्दर्य-सम्भार से झुकी पंक्तियाँ निराला ही हिन्दी में लिख सकते थे। यद्यपि उनकी शब्द-योजना में रवीन्द्र की छाप है, पर निखरी वह निराला की बनकर है। इसी प्रकार उनके 'कण कण कर कंकण, प्रिय किण किण रव किंकिणी, रणन रणन नूपुर, उर लाज, लौट रंकिणी' के स्वर संगीत में भी क्लैसिकल संगीत की प्रतिध्वनियाँ गूंजती हैं, जो संस्कृत काव्य को मुखरित करता रहा है। 'गीतिका' के अनेक गीत जैसे निराकार-चिदाकाश में प्रथम बार रूपगुण का ज्योतिसौन्दर्य परिधान पहनकर कला में ढले हों। जैसे—'पावन करो नयन, दृगों की कलियाँ नवल खुलीं,

स्पर्श से लाज लगी, वह रूप जगा उर में, मेघ के घन केश, बहती निराधार, जागा दिशा ज्ञान, लाज लगे तो'— आदि। ऐसे भी अनेक गीत है जिन्हे पढ़कर मध्ययुगीन निर्गुण पन्थियों की याद आती है। पर अनेक गीतों में निराला का अपनी ही दृष्टि से उतारा निराकार का सौन्दर्य स्पर्श है। गीतों की दृष्टि से प्रतीक और बिम्ब योजना सुबोध नहीं है, पर हम इन्हें महार्घ चैतन्य मणियों की तरह अपने काव्य रत्नागार में संचित करना चाहेंगे, ये सूर्य के प्रकाश के रंग-बिरंगे टुकड़े हैं। इन्हें अगर कोई विलम्बित ताल पर शास्त्रीय राग-रागिनियों में बाँधे तो इनके बहुत से अर्थ-संकेत सम्भवत: कुछ अंशों तक स्पष्ट हो सकें। इन तीन वर्षों की रचनाओं में स्थान-स्थान पर निरालाजी ने अपने चेतना पट का नयी भावानुभूति में रँग जाने का सुख व्यक्त किया है—जैसे, 'मार दी मुझे पिचकारी, कौन री, रँगी छवि वारी!' या 'भावना रँग दी तुमने प्राण, छन्द बन्धों में निज आह्वान!' या 'खुल गया रे अब अपनापन, रँग गया जो वह कौन सुमन?' या 'रश्मि ऋजु खींच दे चित्र शतरंग के', या 'रँग गयी पग पग धन्य धरा' इत्यादि—ऐसे और भी अनेक गीत उनके इस युग के काव्य में मिलेंगे जब उनकी ऊर्ध्व रुद्ध-दृष्टि एक नवीन भाव-बोध के जगत् में उतर सकी और जीवन से नया राग-सम्बन्ध स्थापित कर उनकी उच्च कोटि की प्रतिभा अनेक रचनाओं की सृष्टि कर अपने को सार्थक कर सकी। 'तुलसीदास' में वह कवि-चित्त के लिए कहते हैं—'वह उस शाखा का वन विहंग, उड़ गया मुक्त नव निस्तरंग, छोड़ता रंग पर रंग—रंग पर जीवन!' ऐसे रंग नि:सन्देह निराला की अद्वैत दृष्टि ही बरसा सकती है, जिसका अपना एक स्वतन्त्र काव्य-मूल्य है। इस युग के कृतित्व में 'सरोज स्मृति' आदि व्यक्तिगत कृतियों तथा कुछ अन्य रचनाओं को छोड़कर निराला की भाव-भूमि अत्यन्त उच्च तथा उनकी कला में एक भावमुक्त निखार तथा शिल्प में प्रौढ़ संयम आ गया है। निरालाजी का सौन्दर्य-बोध भाविक-चेतना से अधिक आत्मिक-चेतना का ओज तथा प्रकाश लिये हुए है। उनके कुछ भाव-भीगे प्रगीत भी हैं, जिनमें अधिकतर युग-परिवेश तथा जग-जीवन के प्रति उनके हृदय की करुणा प्रकट हुई है; और उनके व्यंग्यात्मक काव्य में यही भावना अपने व्यक्तिगत संघर्ष के कारण कटुता तथा तिक्तता में परिणत हो गयी है। उनका 'तुलसीदास' क्लिष्ट होने पर भी श्रेष्ठ काव्य-वैभव से ओतप्रोत है और उसमें उन्होंने 'तुलसीदास' के व्यक्तित्व द्वारा अत्यन्त उदात्त स्तर पर अपने युग तथा अपने जीवन संघर्ष को भी वाणी दी है। इस खण्ड काव्य में निराला के भाव-जगत् तथा रचनाशक्ति का अधिक सर्वांगपूर्ण उद्घाटन हुआ है। 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति पूजा' उनकी सूक्ष्म जटिल कलाकारिता तथा संकल्पशक्ति के द्योतक हैं। यद्यपि राम की शक्ति पूजा में तत्सम-बहुल सामासिक पदों के धरहरे से खड़े लगते हैं, और उसके सबसे मार्मिक अंश में—जब राम अपना राजीव नयन देवी को अर्पित करने को प्रस्तुत होते हैं, कृत्तिवास के रामायण की घटना को दुहराया गया है—फिर भी अपनी अबाध शिल्प-शक्ति के अदम्य वेग तथा पौरुष-सौन्दर्य-क्षमता के कारण वह हिन्दी में एक अभूतपूर्व लम्बी कविता है। इसी प्रकार 'सरोज स्मृति' कवि की आत्मव्यथा की मर्म-

स्पर्शी काव्य मंजूषा है। इसकी शैली से भी घनिष्ट आत्मीयता का परिचय मिलता है। इस रचना का निरालाजी की कृतियों में अत्यन्त कोमल तथा पवित्र स्थान है। इस प्रकार 'तुलसीदास', 'राम की शक्ति पूजा' तथा 'सरोज स्मृति' उनके व्यक्तित्व के विशद आयामों का एक महत्वपूर्ण त्रिकोण बनाते है जिसके केन्द्र-बिन्दु के रूप में हम निराला की जीवन-साधना के अद्वैत दृष्टि-बिन्दु को रख सकते हैं। निराला की बुद्धि-पक्ष से प्रेरित रचनाएँ ही मेरी दृष्टि में उनकी सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ हैं। उनकी भावना भी अधिकांशतः उनकी बुद्धि-रश्मि से विद्ध ही देखने को मिलती है, जिसमें मुख्यत. उनके कुछ प्रार्थनापरक तथा आत्मनिवेदन के प्रगीत है— जैसे, 'भर देते हो बार-बार', 'पथ पर मेरा जीवन भर दो' आदि, और कुछ हृदय की करुणा-व्यंजक, जैसे, 'विधवा' आदि, कुछ उद्बोधक जैसे, 'जागो फिर एक बार', तथा अधिकतर प्रेमगीत है, जिनमें कही उद्दाम कामना – जैसे, 'जूही की कली' में, कही सौन्दर्य का उपभोग, कही मधुरभाव-निवेदन अथवा स्मृति, व्रीडा, लज्जा तथा सुप्त-सौन्दर्य आदि का सफल चित्रण मिलता है। 'अनामिका' में निराला की और भी अनेक उत्कृष्ट रचनाएँ हैं, जो उनका स्थान उच्चतम श्रेणी के कवियों में सुरक्षित करती है। 'अनामिका के कवि के प्रति' मेरी छोटी-सी रचना उसके काव्य-वैभव के प्रति मेरी प्रणत अंजलि है। निराला की व्यंग्यात्मक रचनाओं में उनके हृदय की कटुता के साथ ही सामाजिक दुर्व्यवस्था, विषमता आदि पर तीव्र प्रहार मिलते हैं। उनकी 'कुकुरमुत्ता' सी रचना अधिकतर उनके मन की कुण्ठा तथा तिक्तता की ही परिचायक है। उसमें धनी-निर्धन, व्यक्ति-समाज, अच्छे-बुरे, सभी पर उन्होने प्रहार किया है। निराला को विद्रोही कवि मानते हैं—सामाजिक रूढियों, छन्द परम्परा आदि का उन्होने सशक्त विद्रोह किया है; पर वह उस अर्थ में विद्रोही नही, जिस अर्थ में एक युग-प्रबुद्ध व्यक्ति ऐतिहासिक विकास की अनुभूति से प्रेरित होकर युग-विरोधी परिस्थितियों, मान्यताओ आदि के प्रति विद्रोह करता है। अपने कृतित्व से अधिक वह अपने व्यक्तित्व से विद्रोही (रिबेल) थे। वास्तव में, उनके पास ऐतिहासिक दृष्टि नही थी। जो कुछ उन्होने सामन्तवाद या पूंजीपतियों के विरोध में लिखा वह आज की युग-समस्या पर अपनी नवीन ऐतिहासिक दृष्टि-प्रवेश के कारण नहीं, बल्कि अपने व्यक्तिगत जीवन-संघर्ष तथा आत्म-विरोधी परिस्थितियों के कारण। प्रगतिवादियों के मान्य अर्थ में न वह प्रगतिशील थे, न समाजवादी या मार्क्सवादी ही; वह मुख्यतः अद्वैतवादी और शक्तिवादी थे, और उसके बाद अपनी महत्वाकांक्षा तथा बलिष्ठ व्यक्तित्व के कारण थे अहंवादी। चूंकि प्रगतिवाद के चरण उसी के आलोचकों के संकीर्ण दृष्टिकोण के कारण डगमगाने लगे थे, उन्होंने गिरने से बचने के लिए उस समय निराला की बांह पकड़ी जब वह प्रायः संघर्ष से टूटकर अपनी असन्तुलित मनःस्थिति में युग के आन्दोलनों के प्रति विरक्त तथा तटस्थ हो चुके थे— जिस प्रकार अब उनकी मृत्यु के बाद अपने पक्ष को बल देने के लिए प्रयोगवादी एवं नयी कवितावादी उन्हें अपनी नवीनतम प्रेरणा के गोमुख के रूप में प्रचारित करने लगे हैं— जैसा कि विगत वर्ष इसी

व्याख्यान माला के अन्तर्गत अज्ञेयजी ने भी अपने व्याख्यान में स्वीकार किया था—वे अब निराला के व्यक्तित्व की विराट् नींव पर मिट्टी के घरौंदे तथा झाड़-फूंस के छप्पर उठाने का प्रयत्न कर रहे हैं। वैसे निरालाजी में विद्रोह, क्रान्ति तथा प्रगति के लोक-मंगल-कामी स्वर भी मुखर रहे हैं, किन्तु जिस ऐतिहासिक अर्थ की वस्तून्मुखी दृष्टि में विद्रोह, क्रान्ति या प्रगतिवाद आदि प्रयुक्त होते हैं उसका बोध न उनकी 'कुकुर-मुत्ता' को पढ़कर होता है न अन्य यथार्थवादी, समाजोन्मुखी रचनाओं से ही, जिनमें वह चारों ओर फैली विकृति, सँड़ाध, दुःख, अशिक्षा तथा जड़ीभूत रूढ़ियों के ढाँचे पर व्यंग्य प्रहार करते है। बादल से 'गरजो विप्लव के नव जलधर' या 'विप्लव के प्लावन' या 'तिरती है समीर सागर पर, अस्थिर सुख पर दुख की छाया' या 'जग के दग्ध हृदय पर, निर्दय विप्लव की प्लावित माया'—'यह तेरी रणतरी भरी आकाक्षाओं से, घन भेरी-गर्जन से, सजग सुप्त अंकुर, उर में पृथ्वी के, आशाओं से नव जीवन की, ऊँचा कर सिर ताक रहे हैं, ऐ विप्लव के बादल' आदि निरालाजी ने कहा है, इसलिए बादल को क्रान्ति का दूत मान लेना और उस क्रान्ति को युग-क्रान्ति से सम्बद्ध करना केवल उनके समर्थकों की कल्पना की उड़ान भर है। बादल राग निराला के ही व्यक्तित्व की बहुमुखी अभिव्यक्ति है। उसमें जो विप्लव आदि की भावना है वह भारतीय स्वातन्त्र्य युग के जागरण का आह्वान भर है, और है उसमें एक दार्शनिकता, 'भय के मायामय आँगन पर' चलनेवाले सृष्टि चक्र के विविध पक्षों का चित्रण, और उनसे मुक्ति की आकाक्षा। 'निरंजन बने नयन अंजन', 'अहे कार्य से गत कारण पर निराकार', 'हैं तीनों मिले भुवन'—'आज श्याम घनश्याम, श्याम छवि, मुक्त कण्ठ हे देख तुम्हें कवि' आदि सम्बोधन जीवन-द्रष्टा निराला के प्रतीकात्मक दार्शनिक-सम्बोधन ही हैं। हाँ, यह ठीक है कि बादल राग में निरालाजी के व्यक्तित्व के तेज तथा शक्ति को अभिव्यक्ति मिली है, उनकी इस प्रकार की उद्बोधनात्मक सभी रचनाओं की शिराएँ शक्ति-स्फूर्ति के रक्त से अन्तःस्पन्दित है। वे बुद्धि-तत्व के बाद शक्ति एवं पौरुष के वैतालिक है। तदुपरान्त उदार भावना के, और अन्त में प्रखर व्यंग्यात्मक अभिव्यंजना के कवि है। चाहे, प्रारम्भ में नये छायावादियों की जिस प्रकार उपेक्षा की गयी है—उसके कारण हो, या उनके मुक्त छन्दों की उपेक्षा के कारण हो, या उनके परस्पर विरोधी एवं विषमताओं से भरे सशक्त व्यक्तित्व के कारण, या जीवन-परिस्थितियों से कठोर दारुण संघर्ष के कारण हो, अथवा उनके अहंमन्य दर्प या स्वाभिमान के कारण हो—वे अपने भीतर अपनी बुद्धि, भावना चेतना तथा रागात्मक प्राण-प्रभंजन के प्रवेग को न बाँध सकने के कारण हिन्दी के दुर्भाग्य से टूट गये। इस भग्नावस्था से भी उन्होंने कठोर संघर्ष किया और बीच-बीच में अपनी चित्त-वृत्ति के बिखराव को समेटकर प्रार्थना-परक तथा भक्ति-परक लोकगीत लिखने का प्रयत्न किया। हिन्दी को उनकी देन प्रत्येक अवस्था में बहुमुखी रही है। वे अत्यन्त प्रचण्ड, अत्यन्त सुन्दर, अत्यन्त निर्मम, अत्यन्त कोमल, अत्यन्त निर्भीक तथा साहसी और अत्यन्त आत्मभीरु तथा अत्यन्त विनम्र, उग्र, तथा सौम्य—अपने ही से परिचालित एक निसर्ग-जगत् थे—जिसे

अंग्रेज़ी में फेनोमिना कहते हैं। किन्तु वे महामानव न होकर, जैसा कि उन्हें बना दिया गया है, युग-मानव की जय-पराजय, आनन्द अवसाद, औदार्य दारिद्र्य, राग द्वेष, स्पर्धा विषमता आदि जनित व्यापक दुर्दम संघर्ष के अपराजेय प्रतीक थे। उन्होंने अपनी अनुभूति से बोध के उच्च-से-उच्च और निम्न-से-निम्न स्तर छुए थे— वह आज के युग की एक अनिवार्य परिस्थिति, उसकी महानताओं और क्षुद्रताओं के निःसंग प्रतिनिधि थे। इस देश का मध्ययुगीन, रूढ़ि-जर्जर, महदाकांक्षा-शून्य, निष्क्रिय जीवन एक सूक्ष्म संवेदनशील भाव-प्रवण विकास-कामी व्यक्तित्व के सम्मुख जो पर्वताकार बाधाएँ उपस्थित कर सकता था उसकी निर्मम, हृदयहीन बधिरता से पीड़ित, निराला की व्यथा को न समझ सकने के कारण, हमने अपनी आत्मग्लानि से बचने के लिए उन्हें देवता, महामानव और एक लेजेण्ड या अतिकल्पना बना दिया है,—जिस प्रकार सास-ससुर पति के अत्याचारों से पीडित कोई स्त्री जब अपनी देह में आग लगाकर आत्म-हत्या कर लेती है तो हम उसके लिए सती का चौरा बनाकर उसे पूजने लगते है, जो हमारी विवशता की द्योतक हमारी मध्ययुगीन प्रवृत्ति है। जिस दारागंज की गलियों में वे रात-दिन उद्भ्रान्त की तरह घूमकर अपने मन के ताप को शान्त करने का प्रयत्न करते थे और जहाँ के कंकड़-पत्थरों से सम्भवत: उनके पैरों के तलवे छिलकर लहूलुहान होते रहते थे, आज हम उनकी उस व्यथा को भूलकर, उनके लिए कहते हैं कि वह दारागंज की रज को पवित्र कर गये है। हमे इस प्रमाद तथा भावान्धता को छोड़कर अपने मन के भीतर गम्भीर पैठकर यह विचार करना चाहिए कि हमारे देश की वे कौन-सी जीवन विरोधिनी परि-स्थितियाँ तथा पथ के कण्टक या रोड़े हैं जिन्हें हटाकर हमें युगमानव का पथ प्रशस्त बनाना है। क्योंकि निराला को हम दुःख दैन्य ग्रस्त, पराजित व्यक्ति के रूप मे नहीं, युग-जीवन के अजेय सेनानी, शरशय्या पर लेटे युग-भीष्म के रूप में सम्मान करते हैं। दुःख दैन्य ग्रस्त तो भारत में उनसे भी अधिक ९९ प्रतिशत मनुष्य है। निराला को हमारा युग उनके समग्र रूप मे स्वीकार कर चुका हैं। अब वह जन-श्रुति के लोकप्रिय नायक, महाप्राण, महामानव के आसन पर लोक-कल्पना में आसीन हो चुके है। वास्तव में, मनुष्य को देवता बनाकर हम उसमें जिस मनुष्य की उपेक्षा करते हैं उसी मनुष्य के लिए हमे अपने हृदय में स्थान बनाकर उसकी मानवीय सुख-सुविधाओं के लिए नये धरा-जीवन का निर्माण करना है। प्रसाद का शैव-व्यक्तित्व हिमालय के शुभ्र शिखर-सा था तो निराला का जीवन की झंझा से उत्ताल, दुर्लंघ्य तरंगों में आन्दोलित व्यक्तित्व एक विशाल समुद्र-सा, जिसके उद्दाम फेनिल ज्वारों के ऊपर प्रचण्ड सूर्य का जाज्वल्य-आलोक रंग-बिरंगी ज्वालाओं में सुलगकर, दृष्टि को चमत्कृत कर देता है। निराला छायावाद युग के पौरुष-प्रकाश के स्तम्भ हैं। वह अपने व्यक्तित्व तथा कृतित्व में अद्वितीय हैं। हमारी पीढ़ी उनके इतने निकट रही है कि उनके व्यक्तित्व से ही हम उनके कृतित्व को आँकने के लिए विवश हैं. उसका सही मूल्यांकन भविष्य ही कर सकेगा। अपनी दुर्बल मनुष्य की बाँह से उन्होंने शक्ति का खड्ग उठाने का साहस किया था। उनके दार्शनिक

व्यक्तित्व का विकास समन्वय के सम्पादन काल में, रामकृष्ण मिशन के साधुओं के सम्पर्क में हुआ, उनकी कवि प्रतिभा को प्रथम अभिव्यक्ति 'मतवाला' के माध्यम से मिली। वह विवेकानन्द के चैतन्य से नहीं, उनके विचार-दर्शन से प्रभावित रहे। अद्वैत-दृष्टि उन्हें संन्यासियों के सत्संग से मिली थी; निश्चय ही, उनके विरोधी व्यक्तित्व में एक उन्नत अभीप्सा का संस्कार भी था, जो उस निराकार प्रकाश का स्पर्श प्राप्त कर सका। साधुओं की साधना का पावक अनजाने ही उनके राग-तत्व को प्रज्वलित कर उसे बहुत अंशों तक भस्मसात् कर चुका था, पर उसका मोह उनके भीतर वर्तमान था। निराला का व्यक्तित्व योगभ्रष्ट कवि का व्यक्तित्व था, उनकी मानसिक तथा प्राणिक-वृत्तियों का यथोचित संस्कार न हो सकने के कारण शक्तिपात के स्पर्श से उनमें उद्दाम संवेगो तथा आवेशों का उदय होने लगा, जिन्होंने उनके अन्तःकरण को मन्थित कर दिया। वह सांसारिक नियम बन्धनों के तरकस के छूटे अमोघ तीर की तरह थे, जो ऊर्ध्व-लक्ष्य बेध न सकने के कारण दिग्भ्रान्त हो, अनिवार्य वेग से घूमता रहा। निरालाजी के मैं मित्र तथा सहकर्मी के नाते घनिष्ट सम्पर्क में आया हूँ। अपने युग के कवि की दृष्टि से मैं उनके कृतित्व को बहुत अंशों में उस युग का अत्यन्त श्रेष्ठ कृतित्व मानता हूँ, उनकी सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ हिन्दी की बहुमूल्य तथा स्थायी निधि है। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में कालिदास से महाकवि हुए हैं, पर भारतीय दार्शनिक परम्परा में ऐसा सौन्दर्य-मण्डित, ज्योति-संवृत हिन्दी कवि अभी तक एकमात्र निराला ही मिले है—यह उनके कृतित्व की पर्याप्त विजय है। उनकी उच्च कृतियों के वास्तविक पाठक थोड़े ही हो सकते है, इसमें सन्देह नहीं। संक्षेप में, उनके व्यक्तित्व के मूल्यांकन के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि वह अनगढ महत्वाकांक्षा के प्रस्तर पर देवता के प्रकाश की मूर्ति थे।

काव्य-वस्तु के अतिरिक्त, मूल्य की दृष्टि से भी, मैं उनकी अद्वैत-दृष्टि पर, संक्षेप में, अपने विचार प्रकट करूँगा। निराला को अद्वैत का परिचय मात्र था। कवि के सर्जन के लिए जितना पर्याप्त होता है उतनी काल्पनिक अनुभूति अथवा दृष्टि उन्हें प्राप्त हो गयी थी। उन्होंने मूल्य की गहराई में जाने के बदले कला-शिल्प वैचित्र्य सम्बन्धी प्रयोग अधिक किये है। अद्वैतबोध वेदान्त की दार्शनिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वोपरि मूल्य होने पर भी विश्वमंगल तथा जीवन-मूल्य की दृष्टि मे केवल अन्तरिक्ष-भ्रमण के बोध की तरह है। जिस प्रकार आज के विज्ञान के युग में चन्द्र मंगल आदि ग्रहों की खोज में एक दिग्चर के लिए अन्तरिक्ष यात्रा तथा पृथ्वी की परिक्रमा करना सम्भव हो गया है उसी प्रकार आत्मिक-अधिरोहण भी तद्गत-साधना-पथ से भारत जैसी आध्यात्मिक भूमि में कुछ चुने हुए साधकों तथा ऋषियों के लिए सम्भव हो सका है। बोध-शिखरों की दृष्टि से पूर्व और पश्चिम ने समान ऊँचाइयाँ प्राप्त की हों, पर साधना सिद्धि का पथ भारत में विशेष विकसित रहा है। किन्तु जैसे कॉस्मॉनाट की उड़ान अथवा इस वैज्ञानिक युग की अन्तरिक्ष यात्रा व्यर्थ ही होगी अथवा उतनी महत्वपूर्ण नहीं होगी यदि मनुष्य मंगल चन्द्र आदि ग्रहों के प्रागण में पदार्पण कर वहाँ अपना घर न बसा सके, जैसा कि उसका ध्येय या इस युग का लक्ष्य है, उसी प्रकार अद्वैत बोध नभी

सार्थक हो सकता है जब उसकी सहायता से जीवन-मूल्य अथवा लोक-मूल्य भी अवतरित हो सके।

जैसा मैंने 'लोकायतन' में भी कहा है—"शोध सत्य, परिणाम रहे दिग्भ्रामक, तत्व नित्य, उपयोग अलीक, असंगत—मूर्त न कर पाये जीवन में उसको, मन जिसको पा रहा ध्यान में तद्गत!" ब्रह्म, ईश्वर, सर्वात्मा, परम ज्योति आदि का बोध प्राचीन ऋषि-मुनि भी समग्रता में ग्रहण नहीं कर सके थे। उनका अनुभव वे केवल आत्मा के स्तर पर ही प्राप्त कर सके थे। क्योंकि अवाङ्मनसगोचर तत्व की पूर्णतर अनुभूति केवल उसके जागतिक विकास क्रम में, जीवन-वास्तविकता में मूर्त होने पर ही सम्भव हो सकती है। इसीलिए होने को ही जानना कहा है। यह होना, आज के युग के सन्दर्भ में, वैयक्तिक होना न होकर, सामाजिक होना ही है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय प्राचीन संस्कृति तथा लोक जीवन के क्षेत्र में ऐसे अनेक जीवन-मूल्यों के छोटे-मोटे उर्वर अवतरण समय-समय पर होते रहे हैं, जिनमें श्रीराम तथा श्रीकृष्ण चैतन्य के अवतरण मुख्य माने जाते हैं, जिन्होंने लोक जीवन के वैश्व संचरण को एक नया मूल्य, एक नयी सांस्कृतिक पीठिका दी है। राम और कृष्ण तो उन मान्यताओं अथवा मूल्यों के सम्पुंजन तथा संयोजन के प्रतीक भर हैं। इन मूल्यों का उदय तो उस प्राचीन कृषि-युग की सभ्यता तथा संस्कृति की अनेक शक्तियों में व्याप्त उस अश्रान्त कठोर लोक-जीवन-संघर्ष से हुआ, जिसके लिए एक बाहरी परिस्थितियों का नवीन परिवेश, तथा भीतरी नैतिक मर्यादाओं में विकसित हो रही नयी जीवन-व्यवस्था—आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था—धीरे-धीरे जन्म लेकर संगठित हो रही थी। हमारा युग भी विश्व-संक्रान्ति का युग है, और आज भी भारतीय आध्यात्मिक जागरण-चैतन्य को विश्वव्यापी नये जीवन-मूल्य एवं मानव-मूल्य में संगठित होकर नयी जीवन की वास्तविकता में मूर्त एवं परिणत होना है, जिसके लिए विश्व के पाश्चात्य देशों की देन विज्ञान आज नयी पीठिका का निर्माण कर रहा है। जब तक हम इस युग की धरती के गर्भ से निकले इस लोकव्यापी संघर्ष के उपकरणों को उस समग्र चैतन्य में संयोजित नहीं कर सकेंगे जो नये युग का विश्वात्मा है तब तक न इस युग की बहिर्मुखी विश्व परिस्थितियों के संघर्ष में संगति तथा सन्तुलन स्थापित हो सकेगा, न उस निराकार चैतन्य या बोध को ही हम नया मूल्य या अर्थ या सारभूत-गुण प्रदान कर सकेंगे, जो गत-युग की मानसिक मर्यादाओं एवं सीमाओं को अतिक्रम कर, नये विश्व सांस्कृतिक संचरण को अपनी चिच्छक्ति से नयी लोक मान्यता, नवीन वैचारिक वैभव, बुद्धि का प्रकाश तथा नयी प्राणवत्ता एवं नवीन जीवन गति प्रदान कर सकेगा। मेरा संकेत अवतारवाद या व्यक्तित्ववाद की ओर नहीं, नया युग निर्वैयक्तिक व्यक्तित्व का होगा, अथवा सामूहिक व्यक्तित्वमूलक होगा। नया चैतन्य निरन्तर विकासशील लोक-सामाजिकता एवं विश्व-मानवता में जीवन-मूर्त होगा, वह समग्र बोध का सारभूत सामूहिक सम्पुंजन होगा, जिसमें व्यक्ति मुक्ति, लोक साम्य तथा विश्व ऐक्य सर्वांगीण रूप से संयोजित होंगे। मध्य-युगीन द्रष्टा तथा सन्त निराकार परात्पर सत्य का बोध स्पर्श पाकर ही

सन्तुष्ट हो गये, तब उसे नये मूल्य एवं नयी लोकव्यापी सामाजिक व्यवस्था में मूर्त करना मध्ययुगों की निष्क्रिय परिस्थितियों के कारण सभम्व भी नहीं था। वे नवीन अनुभूति के गुणों को, जिनमें प्रकार का न होकर मात्रा का ही भेद रहा है, छोटे-मोटे धार्मिक साधना केन्द्रों तथा सम्प्रदायों में ही संगठित करने में सफल हुए। सामन्ती परिस्थितियाँ चरम विकास के बिन्दु में पहुँचने के बाद ह्रास और विघटन से प्रेरित मतान्तरों, रूढ़ियों आदि में विभक्त होने लगी थीं। उनमें विशेषीकरण के ही तत्व मिल सकते हैं। निराकार साधना के लिए या सगुण सधना के लिए वही प्राचीन साधना परम्परा की अनुगूँजे आज तक भारतीय जिज्ञासु मानसों में पायी जाती हैं; कबीर, मीरा, आदि सन्तों, साधकों तथा भक्तों के लिए, मध्ययुगीन जीवन की सीमाओं के कारण, यह दृष्टिकोण ठीक था, पर छायावाद के आलोचकों ने उसी दृष्टि से इस युग के नवीन काव्य संचरण का भी मूल्यांकन करना आरम्भ किया और उसे छायावाद नाम देकर उसमें वही मध्ययुगीन रहस्य भावना, दार्शनिक तत्व आदि देखने का आवश्यकता से अधिक प्रयत्न किया। निराला अपनी निराकार दृष्टि को नयी अभिव्यंजना के सौन्दर्यबोध से मण्डित कर सके, नया सौन्दर्य बोध जो नयी विकसित परिस्थितियों की उपज है, जिसमें कबीर का सा इंगला पिंगला सुषुम्ना या अष्ट कमलों का या 'साजन के घर' का निवृत्तिकामी, आरोहण-मूलक प्रतीक-विधान न होकर, नवीन जीवन-प्रवृत्ति प्रेरित, नये प्रतीकों तथा बिम्बो का सौन्दर्य-शिल्प मिलता है—यही उसकी विशेषता है। निरालाजी के उद्दाम शक्ति वेग से मन्थित व्यक्तित्व में इतना धैर्य, सूक्ष्म विश्लेषण-संश्लेषण की श्रमसाध्य प्रवृत्ति तथा व्यापक ऐतिहासिक अनुभूति की दृष्टि न होने के कारण वह युग-विकास के विभिन्न आयामों में तथा इस युग के बौद्धिक, भाविक तथा प्राणिशास्त्रीय अथवा जैव-मूल्यों के विस्तारों, विवरणों विविधताओं तथा निगूढ़ताओं में अपनी अद्वैत दृष्टि से अन्तःसंयोजन भर, अपने कृतित्व में नये मूल्य की सृजन-प्राण प्रतिष्ठा नहीं कर सके। फिर भी छायावादी कवियों में उनकी जो विशिष्ट देन रही है वह शक्ति-सौन्दर्य तथा ज्योति-स्पर्श की दृष्टि से अत्यन्त श्रेष्ठ है।

छायावाद युग में जन्म लेने के कारण मैं अपने काव्य के विवादास्पद पक्षों के बारे में यहाँ अत्यन्त संक्षेप में कह दूँ तो अनुचित न होगा—मेरी रचनाओं के प्रति आलोचकों का मुख्यतः यह दृष्टिकोण रहा है कि मैं दर्शन या विचार तत्व को, चाहे वह मार्क्सवादी हो, गांधीवादी या श्री अरविन्दवादी —आत्मसात् न कर, केवल उसके बौद्धिक प्रभावों को अपनी कृतियों में दुहराता तथा थोपता रहा हूँ, इसलिए वे रस-शून्य तथा विचार-प्रधान हो गयी हैं। पर ऐसा केवल नये मूल्य के प्रति अनभिज्ञ, उसके स्वाद से वंचित, तथा दलबन्दी में फँसे आलोचक ही कहते रहे। विगत मान्यताओं के वस्तु जगत् से रागात्मक सम्बन्ध छूट जाने के कारण शुद्ध भावनात्मक काव्य इस युग में सम्भव ही नहीं है, जब तक कि हम पिछले भावनागत मूल्यों को ही न दुहराते जायें। रस के प्रति आलोचकों का दृष्टिकोण अभी वही प्राचीन काव्यशास्त्रीय ही रह गया है। वास्तव में, दर्शनज्ञ या दर्शनों से प्रभावित कवि तो प्रसादजी तथा निरालाजी रहे

हैं। एक शैवागम से, दूसरे वेदान्त से, और दोनों का दर्शन-बोध मूल्य की दृष्टि से उनके काव्य की परिसीमा बन गया है। मैंने तो जो कुछ भी वैचारिक या बौद्धिक तत्व ग्रहण किये हैं वे भावनात्मक दृष्टि से, क्योंकि मेरी भावना अन्तर्मुखी न होकर जीवनोन्मुखी या वस्तून्मुखी रही है। भाव के अस्तित्व तथा सीमा से मैं 'गुंजन' के बाद ही परिचित हो गया था जैसा कि मैंने 'आधुनिक कवि' की भूमिका में भी कहा है और चूंकि जीवन की वास्तविकता उस युग में सामन्ती सीमाओं को अतिक्रम कर बिल्कुल ही एक नवीन दिशा में बदल रही थी इसलिए 'युगान्त' और मुख्यत: 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में नये युग के भाव-बोध के अभाव में, क्योंकि तब वह जन्म नहीं ले सका था या उसके लिए रस भूमि नहीं प्रस्तुत हुई थी—मुझे अपनी भावनाओं को दृष्टि साध्य संवेदना के माध्यम से देना पड़ा, और उसी के स्पर्श से अपने काव्य-शिल्प के चित्रपट में नये जीवन-बोध को देने का प्रयत्न करना पड़ा। कला-मूल्य से मैंने जीवन-मूल्य को अधिक महत्व देना सीखा और अपनी 'युगान्त' आदि रचनाओं में, प्रारम्भिक कलात्मक क्षति या संकोच को स्वीकार करते हुए भी, नये जीवन-मूल्य के अंश को काव्य के उपकरणों से मण्डित करने का प्रयत्न किया, जिसे शुक्लजी के शब्दों में 'फूल की रूह सूंघनेवाले' आलोचकों ने मार्क्सवाद का कला-वैभव-शून्य वैचारिक मरुस्थल कहा है यद्यपि वह मार्क्सवाद न होकर नवीन यथार्थ समन्वित अन्तश्चैतन्य बोध ही था। किन्तु अपने ही लिए नहीं, हिन्दी पाठकों के लिए भी यह अहितकर होता यदि मैं उस नयी वस्तु-दृष्टि को जो मैंने 'युगवाणी', ग्राम्या' में दी है, अपने काव्य-बोध द्वारा नये भाव-बोध की नींव डालने के लिए नहीं प्रस्तुत करता। नये काव्य का प्रथम उत्थान 'पल्लव', 'परिमल', 'लहर', 'यामा' आदि देकर प्राय: समाप्त हो गया था, और महादेवी में, अपनी चरम परिणति प्राप्त कर लेने के बाद, उसमें यथार्थोन्मुखता के अभाव में ह्रास के चिह्न प्रकट होने लगे थे। उसे नया जीवन, नयी वास्तविकता देने तथा पुरानी भावना तथा सौन्दर्य-दृष्टि के घेरे से बाहर निकालने के लिए यह आवश्यक था कि उसमें नयी धरती के नये यथार्थ के आयाम भी उगें। पर यह ध्यान देने की बात है कि उन नये यथार्थ के आयामों को नये आदर्श से भी संयोजित करने की आवश्यकता थी। अतएव जिस नयी काव्य दृष्टि की घोषणा मैंने अपनी किशोर बुद्धि के अनुसार 'पल्लव' की भूमिका में की थी, 'आधुनिक कवि' की भूमिका में मैंने केवल उसकी भाव-गत सीमाओं पर दृष्टिपात कर उसे व्यापक जीवन-क्षितिज का नया सौन्दर्य-प्राण आदर्शोन्मुख यथार्थ प्रदान करने का प्रयत्न किया था। यह बिल्कुल ही सत्य है कि वह केवल मेरा दृष्टिकोण परिवर्तन के प्रेम के कारण नहीं, जैसा कुछ आलोचक समझते हैं, किन्तु भावनात्मक आवश्यकता के कारण ही सम्भव हो सका था, जिसे मैं मूल्यगत महत्व भी देता रहा हूँ। किन्तु तब कुछ तो पुरानी काव्य दृष्टिवाले आलोचकों या 'पल्लव' की कल्पना-मांसल, कोमल-कान्त कला-प्रेमियों के कारण और कुछ प्रगतिवादी आलोचकों की संकीर्ण दृष्टि तथा दलबन्दी के कारण, मेरी उस नयी जीवन-दृष्टि तथा काव्य-वस्तु का समुचित मूल्यांकन नहीं हो सका। इसी प्रकार 'स्वर्ण किरण' आदि के बाद जब मेरी दृष्टि अधिक

विकसित तथा संयोजित होकर नये मूल्य को अधिक पूर्ण अभिव्यक्ति दे सकी—उस मूल्य की ओर संकेत मैं 'युगवाणी', 'ग्राम्या' तथा 'ज्योत्स्ना' में भी, कर चुका था—उस नये मूल्य के प्रति अप्रबुद्ध तथा गुटबन्दी से पीड़ित अनेक आलोचकों ने उसे श्री अरविन्द दर्शन की कार्बन कॉपी कह-कर सन्तोष कर लिया। वास्तव में, विकासवाद के सिद्धान्त को छोड़कर जिसमें वह पश्चिमी विकासवाद को महत्वपूर्ण रूप दे सके हैं, श्री अरविन्द दर्शन केवल भारतीय औपनिषदिक चैतन्य का ही युग-अनुरूप दार्शनिक मूल्यांकन है, जितना स्वतन्त्र-बोध मुझे 'ज्योत्स्ना', 'युगवाणी' काल ही में हो चुका था। श्री अरविन्द ने अपनी योग दृष्टि से वैदिक मन्त्रों, ऋचाओं, उन्मेषों तथा चिन्तनाओं के उन अनेक निगूढ़, दुरूह, प्रच्छन्न तथा सम्यक् रूप से समझ में न आनेवाले पक्षों पर प्रकाश डाला है जिनके प्रति मध्य युगों के दार्शनिक न्याय नहीं कर सके थे। यहाँ तक कि उन्होंने शांकर दर्शन के मायावाद आदि पक्षों का भी एक प्रकार से खण्डन कर उसे दूसरी भावात्मक दृष्टि प्रदान की है, जिसकी ओर प्रयत्न एक दूसरी दृष्टि से स्वामी विवेकानन्द ने भी किया है। पर यह तो दार्शनिकों के लिए विचार-विमर्श करने की बातें हैं। मेरा आकर्षण श्री अरविन्द के दर्शन के लिए मुख्यत: इसलिए हुआ कि उन्होंने, मध्ययुगीन द्रष्टाओं की तरह जीवन की उपेक्षा या बहिष्कार नहीं किया। और 'ज्योत्स्ना' लिखने से पहिले ही मुझे जिस नये मूल्य का बोध तथा अनुभव हुआ था, वह भी जीवनोन्मुखी प्रवृत्ति-सौन्दर्य के प्रकाश का ही स्पर्श था। मैंने 'ज्योत्स्ना' के मंच पर नये बोध या चैतन्य को जीवन का सौन्दर्य-मांसल परिधान देकर अवतरित किया है। किन्तु मेरे और श्री अरविन्द के दृष्टिकोण में बहुत बड़ा अन्तर भी है। मेरी दृष्टि में अन्तश्चैतन्य तथा अन्तर्बोध की दृष्टि से भी जीवन-तत्व का ही सर्वोपरि मूल्य है। मैं मन या चैतन्य को जीवन का एक प्रबुद्ध अंश भर मानता हूँ और जड तथा चैतन्य को जीवन का बाहरी भीतरी छिलका या स्तर मात्र। जड़ और चेतन के तटों के बीच में बहनेवाली जीवन की अविराम अक्षय धारा को मैं दोनों का अन्त:-समन्वित सत्य ही नहीं मानता, जीवन के विकास के लिए ही उन दोनों की उपयोगिता या सार्थकता भी मानता हूँ। यह तर्क-सम्मत दार्शनिक दृष्टि भले ही न हो पर दर्शन से मेरा मन अधिक महत्व जीवन के सहज बोध को ही देता रहा है। और जीवन ने जो सूक्ष्म बोध मेरे मन में अंकित किया है वह यह है कि जीवन ही अपनी अन्त:क्षमता में सर्वशक्तिमय सर्व-पूर्ण ईश्वर है जो दिक्काल के बाह्य पट में सृजन विकास की स्थिति में है, और प्रबुद्ध-मानव ही, जो जीवन का पूर्णतर प्रतिनिधि है, उस विकास क्रम को पृथ्वी पर चरितार्थ करने में सहायक हो सकता है। दिनकरजी अपनी 'पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण' नामक पुस्तक में लिखते हैं—"अरविन्द दर्शन की एक सूक्ति को अंगीकृत कर पन्तजी ने 'चिदम्बरा' की भूमिका में कहा है कि 'पदार्थ (मैटर) चेतना (स्पिरिट) को मैंने दो किनारों की तरह माना है जिनके भीतर जीवन का लोकोत्तर सत्य प्रवाहित होता है' " इत्यादि। श्री अरविन्द-दर्शन की सूक्ति के बारे में यह दिनकरजी की अपनी मनगढ़न्त कल्पना है। यह श्री अरविन्द का न होकर जीवन तत्व के प्रति मेरा ही दृष्टिकोण है कि जड़ उसकी पीठिका

और मन उसी के एक अंश के रूप में उसका संचालक है, जैसे आँख, मनुष्य की छोटी-सी इन्द्रिय होकर उसे दृष्टि-बोध देती है पर वह मनुष्य से बड़ी नहीं है, वैसे ही मन जीवन के क्रिया-कलाप को संयोजित करने की दृष्टि देने के कारण उससे बड़ा नहीं बन जाता। श्री अरविन्द का इस विषय में दूसरा ही दृष्टिकोण है। उनके अनुसार मन जीवन से अधिक महत्वपूर्ण, अतिमन मन से अधिक महत्वपूर्ण है, और उनकी साधना का क्षेत्र भी जीवन और मन से अधिक अतिमन ही रहा है, जिसे वह 'सुपरमाइण्ड' कहते हैं। अपनी जीवन-दृष्टि को विस्तारपूर्वक मैं 'लोकायतन' में व्यक्त कर सका हूँ। श्री अरविन्द जड चेतन को जीवन प्रवाह के दो कूलों के रूप में नहीं मानते, वह कहते हैं—गिव मी स्पिरिट, आइ विल अनरेवल एण्ड देन रिक्रिएट द होल युनिवर्स—चेतना के सूत्र को पकड़कर मैं सृष्टि पट को उधेड़कर फिर से बुन सकता हूँ। इस प्रकार की और भी अनेक भ्रान्तियाँ मेरे जीवन-दर्शन के बारे में दलबन्दी में फँसे आलोचकों के अतिरिक्त भी अन्य स्कूली आलोचकों तथा सुज्ञ विद्वानों ने सुविधाजनक होने के कारण, या श्री अरविन्द दर्शन का मात्र बाहरी ज्ञान होने के कारण, फैलायी हैं। श्री अरविन्द जीवन को जड़ के ऊपर की एक स्थिति भर मानते हैं। उनके अनुसार, जो प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण भी है—जड़ से जीवन, जीवन से मन का विकास हुआ है, और मन से अतिमन या ऋतचित्, जिसे वे सुपरमाइण्ड कहते हैं, उसका विकास होगा और तभी व्यक्ति दिव्य या पूर्णतर बन सकेगा, जिसे वह 'नौस्टिक बिइंग' कहते हैं। उनकी साधना पद्धति मध्ययुगीन दृष्टि से आत्ममुक्ति सम्बन्धी न होने पर भी, उस प्रकार की नहीं है, जिसे मैं सामाजिक यथार्थ के विकास के पथ से सन्तुलित विश्व-जीवन के लिए सामूहिक-मुक्ति की दृष्टि कहता हूँ। उनका अतिमन एक एरिया या क्षेत्र में, अर्थात् कुछ अतिमानस के साधकों के समूह में अवतरित होगा, वे विशिष्ट चैतन्य युक्त व्यक्ति होंगे, जो धीरे-धीरे संसार में उन लोगों में उस नयी सम्बोधि का प्रसार कर सकेंगे जो उसके उपयुक्त पात्र होंगे और समग्र (इण्टीग्रल) योग की साधना करने को तैयार होंगे, जैसा कि ईसा के अनुयायियों ने भी छोटे रूप में धर्म के स्तर पर किया था। चाहे यह मेरी व्यक्तिगत सीमा के ही कारण हो, मैंने अपने मनोविन्यास को योग साधना के उपयुक्त नहीं पाया। वैसे भी मैं जगत् जीवन से ईश्वर तत्व या परम चैतन्य तत्व को विच्छिन्न कर आत्मा की अधिभूमि पर साक्षात्कार से प्राप्त सत्य-बोध को अर्ध सत्यबोध ही मानता हूँ। और जागतिक जीवन के पूर्ण विकसित रूप में ही ईश्वर-दर्शन या साक्षात्कार को क्रमशः सम्भव मानता हूँ, जैसा मैंने 'उत्तरा', 'अतिमा', 'वाणी' के प्रगीतों मे तथा 'लोकायतन' में और भी पूर्ण रूप से व्यक्त किया है। मैं रामकृष्ण आदि के चैतन्य-स्वरूप को भी उस पूर्ण जीवन-सत्य का खण्ड विकसित रूप ही मानता हूँ और मैं सत्य की साधना के लिए इतिहास और सभ्यता ने जो सामाजिक सामूहिक विकास यन्त्र प्रस्तुत किया है उसी को अधिकृत कर, उसे राष्ट्रीयता से अन्तर्राष्ट्रीयता में और उससे विश्व मानवता एवं दिव्य मानवता में क्रमशः विकसित कर, उस पूर्ण जीवन को लोक जीवन में मूर्त देखना सम्भव मानता हूँ। अपनी इस सत्य-दृष्टि को सम्पन्न बनाने के लिए मैंने अपने

युग की सभी प्रकार की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विचारधाराओं से अपने प्रयोजन के तत्वों को ग्रहण एवं आत्मसात् करने का प्रयत्न किया है। जीवन-यथार्थ की प्रथम प्रेरणा मुझे गांधीवाद से मिली किन्तु उसकी सामूहिक वैश्व परिणति के लिए इस विज्ञान के यन्त्र युग में जिस आर्थिक पीठिका की आवश्यकता थी वह मुझे उसमें नहीं मिल सकने के कारण मेरे मन ने समाजवादी अर्थव्यवस्था के जीवन यथार्थ को अधिक पूर्ण तथा वैज्ञानिक मूल्य के रूप में स्वीकार किया। 'ग्राम्या' में 'महात्माजी के प्रति' रचना में मैंने अपनी इस दृष्टि को अभिव्यक्ति दी है। नैतिक दृष्टि से और मानवीय दृष्टि से मैं अब भी गांधीवाद के अहिंसात्मक आन्दोलन की उपयोगिता पर विश्वास नहीं खो बैठा हूँ। और यदि कोई अन्तर्राष्ट्रीय उथल-पुथल न हो जाय तो अहिंसात्मक क्रान्ति भी सामाजिक, राजनीतिक परिवर्तन ला सकने की क्षमता रखती है—भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति इसका प्रमाण है—किन्तु शायद आज के अस्त्र-शस्त्रों से सन्नद्ध युग में भारत जैसे देश को भी अपनी भीतरी सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए अहिंसात्मक क्रान्ति करने की प्रेरणा नही मिल रही है, और यह भी सम्भव है कि शक्तिशाली राष्ट्रों पर आत्मरक्षण तथा मानव जीवन-मंगल के लिए प्रच्छन्न रूप से इस निःशस्त्र क्रान्ति का सौम्य प्रभाव पड़े और तृतीय विश्व युद्ध के संकट से मानवता परित्राण पाकर, अपनी राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान, छोटे-बड़े सघर्षो या आणविक अस्त्र-वर्जित सशस्त्र-युद्धों द्वारा आज के जीवन विकास की स्थिति में उपलब्ध कर सके। जब मैं नये मूल्य की बात कहता हूँ, मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि मेरी रचनाओं में मध्ययुगीन जीवन-दर्शन तथा भावनाओं की छायाएँ नहीं मिलती है। अपने जागरण युग की परिस्थितियों के आन्दोलित वातावरण से प्रभावित होकर मैंने भी 'गुंजन' तक अनेक मध्ययुगीन विचारों, आदर्शों तथा भावनाओं के अनेक स्तरों की छायाओं को अपने काव्य में वाणी दी है और पीछे भी भाव-बोध एवं युगबोध की सीमाओं के कारण यत्रतत्र इस प्रकार की जीवन-मान्यताएं मेरी रचनाओ म प्रवेश करती रही है क्योंकि उनका एक परम्परागत सामूहिक स्तर मन मे निरन्तर विद्यमान रहता है; दूसरा नये मूल्य की चेतना जब मन को स्पर्श करती है तो वह मन के अन्तरतम में सुप्त भावनाओं को जगाकर उनसे सम्मिश्रित होकर अभिव्यक्ति पाती है। और फिर जब मै नये मूल्य की बात कहता हूँ तो वह मूल्य परम्परा के स्वस्थ तत्वों से विरहित नहीं होता है। प्रत्युत अपने अन्तःप्रकाश से वह परम्परागत मूल्यों में नये गुण तथा समग्रता उत्पन्न कर देता है, किन्तु इतना कहना अनुचित न होगा कि मेरे काव्य में सदैव नवीन जीवन-मूल्य की अनन्य खोज रही है। जो काव्य अथवा कला इस नये मूल्य को अभिव्यक्ति नहीं देती वह मेरी दृष्टि में अपूर्ण, जीवन-यथार्थ तथा वस्तु-बोध से शून्य, प्रयोजनहीन कविता या कला है। यदि हम कला का समृद्ध वैभव देखना चाहें तो हमें कवीन्द्र रवीन्द्र के गीतों में वह पूर्णता मिलेगी। उनके गीत विशेषत: भावना के ताप में विद्रवित जैसे स्वत. ढली हुई सोने की गीति रस मुद्राएँ हों, किन्तु उनका भावना तत्व आधुनिक या नवीन न होकर वही वैष्णव युग की प्रेम

साधना का भाव तत्व है और उनके गीतों में वही वैष्णव हृदय का स्पन्दन मिलता है। इसीलिए कवीन्द्र रवीन्द्र के गीतों का वातावरण ऐसा एकान्त अन्तर्मुखी तथा अवसादपूर्ण है कि निश्चय ही लगता है जैसे उनके भीतर कोई विरहिणी नारी गीत क्रन्दन कर रही हो, जो जीवन परिस्थितियों की चेतना से विच्छिन्न होकर अपनी अन्तर्मुखी घुटन से मुक्ति पाने के लिए विश्व-जीवन से एक नया भाव-साम्य खोजना चाहती हो। रवीन्द्र के गीतों में नये युग-हृदय की भावना-स्फूर्ति को, नये युग के निर्माण उन्मेष तथा कर्म-सौन्दर्य को, तथा नये प्रेम-मूल्य में परिणत राग तत्व को वाणी नहीं मिल सकी है। श्री अरविन्द के प्रति मैं कवि-रूप से भी अधिक व्यक्तिरूप से कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझे एक निदारुण मानसिक संकट से बचाया, जिसका मुझे नये मूल्य का स्पर्श पाने के बाद सामना करना पड़ा और जिसकी चर्चा मैं संकेत रूप में 'लोकायतन' में भी कर चुका हूँ। श्री अरविन्द ने भारतीय चेतना एवं मानस चैतन्य को मध्ययुगीन दार्शनिक जटिलताओं से मुक्त कर तथा उसका सन्तों की जीवन-घातक निषेध-वर्जनाओं से उद्धार कर उसका समग्र रूप में नवीन संस्कार किया। वह निःसन्देह नये अन्तःश्चैतन्य के प्रतिनिधि, महापुरुष तथा सत्यद्रष्टा हैं। मेरी रचनाओं को अरविन्दवादी इसलिए भी कहते हैं कि एक तो मैंने स्वयं 'उत्तरा' की भूमिका में श्री अरविन्द दर्शन के महत्व को घोषित किया है—दूसरा उसके बाद मेरी रचनादृष्टि में जो मोड़ आया वह उनके दर्शन के प्रभाव से कम, किन्तु अपने मनःसंकट से मुक्ति के कारण अधिक, मुझसे सम्भव हो सका। किन्तु जो श्री अरविन्द की मूलभूत दर्शन-दृष्टि है उससे मेरा जीवन-दर्शन एकदम ही दूसरे छोर पर मेरे मनोगत संस्कारों तथा आत्मगत जीवन-स्वतन्त्र अनुभूतियों के कारण है। मैं सर्वप्रथम स्वामी रामकृष्ण, विवेकानन्द तथा रामतीर्थ के दर्शन से प्रभावित था पर मेरे मन ने उन्हें पूर्णतः स्वीकार नहीं किया। मैं गांधीजी तथा मार्क्स के जीवन दर्शनों से प्रभावित हुआ, पर पूर्णतः उन्हें भी नहीं स्वीकार कर सका। मैं श्री अरविन्द दर्शन के सम्पर्क में आया, सम्पूर्णतः इसे भी नहीं अपना सका—इसका कारण यही था कि मुझे स्वयं ही 'पल्लव' के बाद एक स्वतन्त्र व्यापक अन्तर्दृष्टि जीवन, मन तथा आत्मा सम्बन्धी मान्यताओं को निरखने-परखने के लिए मिल गयी थी, जिसे विश्व-जीवन एवं भू-जीवन की वास्तविकता की पीठ पर प्रतिष्ठित करने के लिए मुझे अकथनीय अश्रान्त संघर्ष करना पड़ा और जिसे भावबोध, जीवन-यथार्थ, बौद्धिक-प्रकाश, प्राण-रस-मूल्य से सम्पन्न करने के लिए मुझे उपर्युक्त सभी प्रभावों के साथ अन्य भी अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा जीव-शास्त्रीय प्रभावों को आत्मसात् कर अपने मूल दृष्टि-बिन्दु से बहिरन्तर संयोजित करना पड़ा—मेरे इसी जीवन-मूल्य के संघर्ष को समय-समय पर मेरी रचनाओं में वाणी भी मिली है। मुझे प्रकृति के विधान में कोई कमी नहीं दिखायी देती, न मनुष्य में ही आत्म-शुद्धि की आवश्यकता प्रतीत होती है। जिन अविकसित खण्ड-परिस्थितियों के कारण प्राचीन संकीर्ण जीवन मान्यताओं एवं नैतिक मूल्यों के ढाँचे में बँध जाने से मानव-समाज का जीवन-विकास अवरुद्ध हो गया है, उसी गति-अवरोध के कारण मनुष्य तथा

समाज में ये कमियाँ या त्रुटियाँ भी प्रतीत होती हैं। मनुष्य को ईश्वर का स्पर्श पाने के लिए अपना आत्म-संस्कार नहीं करना है, ईश्वर जो जीवन की पूर्ण क्षमता है। मनुष्य का मनुष्य के साथ जो सम्बन्ध है उसे उसका संस्कार करना है। मैं राग-मूल्यों के नवीन जीवन वितरण में, राग भावना के विकास में तथा उसके नवीन विकसित परिस्थितियों के अनुरूप संस्कार में विश्वास करता हूँ। राग-तत्व के सम्बन्ध में हम अधिक विस्तार से तब विचार कर सकेंगे जब हम महादेवीजी के कृतित्व का मूल्यांकन करेंगे। आज की जीवन विकास की स्थिति में मुझे नये मानव मूल्य को ऊर्ध्व चैतन्य या विकसित चैतन्य कहना पड़ता है, पर उसका मूर्तीकरण एवं यथार्थीकरण इसी विश्व-ऐक्य में संग्रथित लोक समाज में सम्भव है। विश्व जीवन के सम्बन्ध में ऐसा विकसित व्यक्ति या मनुष्य ही मेरे लिए मानवता या मनुष्यत्व का प्रतीक है। विश्व-मंगल के लिए अद्वैत-दृष्टि का उपयोग इसी प्रकार मैं सम्भव मानता हूँ। निरालाजी में अद्वैत बौद्धिक आस्था के साथ उनके उग्र स्वाभाव का दम्भ भी मिल गया था। जिस साधना-पूत, वृत्ति-सन्तुलित मन:स्थिति की अद्वैत बोध के स्पर्श के लिए आवश्यकता थी वह स्थिति निराला अपने में नहीं पैदा कर सके। मध्ययुगीन सिद्धों की तरह उच्च बोध के शिखर पर आरूढ होकर सन्तुष्ट रहना उनके लिए नये युग की पृष्ठभूमि में अपर्याप्त होता, नयी ऐतिहासिक दृष्टि तथा नये यथार्थबोध के अभाव में उस ऊर्ध्व ज्योति-स्पर्श को समुचित पीठिका प्रदान न कर सकने के कारण उनके मन के भीतर अज्ञात रूप से सदैव मूल्य-सम्बन्धी अन्तर्द्वन्द्व वर्तमान रहा।

अब हम छायावाद के वसन्त वन की सबसे मधुर, भाव-मुखर पिकी महादेवीजी के काव्य पर आते हैं। यद्यपि छायावादी युग में कामायनी के समान एक उत्कृष्ट महाकाव्य की भी सृष्टि हुई, पर मुख्यत: वह प्रगीत-प्रधान युग रहा, जिसकी सुनहली परिणति, कलाबोध, भाव-व्यंजना तथा रसमूल्य की दृष्टि से निश्चय ही महादेवी के गीतों में हुई है, जिन्हें छायावादी भाव-साधना के युग की प्रेम-साधिका मीरा भी कहते हैं। उनकी अभिव्यक्ति का क्षेत्र सीमित एवं भाव-संस्कार जनित सूक्ष्मता का द्योतक होने के कारण उसमें अन्त:सलिला धारा का-सा प्रच्छन्न प्रवेग तथा भावना की निगूढ़ गहराइयाँ मिलती हैं। उनका भाव-जगत् प्रसाद का सा हिमविद्ध समरस-शृंग या निराला का सा महाप्राणता से उद्वेलित सागर नहीं है। वह अन्तर्मुखी भाव-साधना के पवित्र अश्रुओं से धौत, तप:पूत, स्फटिक-शुभ्र प्राण चेतना का रश्मि-कलश मन्दिर है, जो स्वयं उनके हृदय के भीतर का उनका सूक्ष्म रस-हृदय है। वह प्राणों की संवेदना से सौरभ-गुंजरित मनोरम सृष्टि है, जिसके चाँदनी का प्रांगण चन्दन की भाव-भीनी गन्ध से सिंचित है। प्रसाद मानव-भावना के चिरन्तन संघर्ष को युग की पीठिका में उतारकर, मानसी-गौरी की भाव-भंगिमाओं की शोभा पर मुग्ध हो उसका समाधान समन्वित-ज्ञान शृंग पर अवस्थित आनन्दवाद की उच्च एकान्त व्यक्तिमुखी भूमि पर दे गये। उन्होंने निराकार चिति को भी साकार सगुण शिवत्व के ही माध्यम से अभिव्यक्त किया। शिव के व्यक्तित्व में साकार-निराकार स्वरूप अधिक स्पष्ट संयोजित होने के कारण उन्होंने सीधे निराकार नि:सीम सौन्दर्य स्पर्श को मुख्यत:

बौद्धिक दृष्टि से नवीन प्रतीकों बिम्बों के माध्यम से व्यक्त किया और महादेवीजी ने भी निराकार के ही बोध को प्रधानतया भावनात्मक दृष्टि की सूक्ष्म संवेदना तथा सुख-दुःख के सौन्दर्य की रंगीनी के माध्यम से गीतिमय मार्मिक अभिव्यक्ति दी। उनके भावनाकाश की मेघ-वृत्तियों को बेधकर, अन्तर्बोध का रश्मि-वाण, आर-पार व्याप्त होकर, अपने प्रकाश के विद्युत् क्षण बरसाता रहा है। दूसरे शब्दों में, जिस निराकार दृष्टि को निराला ने बुद्धि से ग्रहण कर अपने काव्य-पट में अवतरित किया उसी को महादेवीजी ने भावना-द्रवित हृदय की झंकार द्वारा कलावैभव मण्डित तथा प्रतीक बिम्बित किया, उनकी अभिव्यक्ति मीरा की सी सीधी या निराला की सी शक्ति-प्रेरित न होकर, प्रतीकों-बिम्बों के सौन्दर्य-गुण्ठन मे अप्रत्यक्ष कटाक्ष करती है। प्रसाद ने भावनाओं का निरपेक्ष रूप से सूक्ष्म विवेचन तथा मूर्तीकरण किया, महादेवी ने भावना के संवेदनों का सूक्ष्म विश्लेषण तथा उनके सुख-दुःखमय और अधिकतर दुःखमय स्पर्शों के दंश का चित्रण किया है। महादेवी का काव्य मुख्यत: भाव-संवेदना-प्रधान है, अपने दर्शन-बोध या मूल्य-बोध को उन्होंने भावनाओं के आरोहण-अवरोहण के लिए सोपान मात्र बनाया है। उनमें मध्ययुगीन रहस्यवादी अभिव्यक्ति का जो सबसे अधिक प्रभाव मिलता है इसका मुख्य कारण उनका नारी हृदय का सहज-संकोच तथा वर्तमान सामाजिक परिस्थिति की पृष्ठभूमि में नारी-जीवन की सीमाएँ ही हैं। इन कृच्छ्र परिस्थितियों मे अपने भीतर भावनात्मक अन्त:सन्तुलन भरने की साधना से अधिक उपयोग उन्होंने रहस्यवादी प्रणाली का अभिव्यंजना के लिए ही किया है। जो घनीभूत पीडा या वेदना प्रसाद के मस्तक में स्मृति-सी छायी थी वह महादेवी के भावना-जगत् में अधिक गहरी, तीव्र तथा मर्मस्पर्शी होकर व्याप्त मिलती है। उनके काव्य का सर्वप्रथम तत्व वेदना, वेदना का आनन्द, वेदना का सौन्दर्य, वेदना के लिए ही आत्मसमर्पण है। वह तो वेदना के साम्राज्य की एकछत्र साम्राज्ञी हैं और कोई सुख उन्हें आत्मविस्मृत या आत्म-तन्मय होने को नहीं चाहिए। सुख तो क्षणजीवी है, वेदना ही चिरस्थायी, चिरव्यापी एवं चिरस्पृहणीय है। उनकी काव्य-सृष्टि के अन्य आयामों पर विचार करने से पहिले हम उनकी इस वेदना-मूर्छा की आत्म-जागृति पर विचार करेंगे।

महादेवीजी ही छायावादियों में एकमात्र वह चिरन्तन भाव-यौवना कवयित्री है जिन्होंने नये युग के परिप्रेक्ष्य में राग-तत्व के गूढ़ संवेदन तथा रागमूल्य को अधिक मर्मस्पर्शी, गम्भीर, अन्तर्मुखी, तीव्र-संवेदनात्मक अभिव्यक्ति दी है, जिसका कारण, जैसा मैंने अभी कहा है, स्पष्टत: उनका नारी व्यक्तित्व है। इसका सम्बन्ध उनके निजी वैयक्तिक जीवन से उतना नहीं है —उनका व्यक्तिगत जीवन तो सामाजिक दृष्टि से तथा स्वभाव से भी सन्तुलित ही रहा है। वह एक सम्पन्न घर में पैदा हुई, उनके माता-पिता तथा परिवार का वातावरण भी शिक्षित संस्कृत ही रहा। उनकी स्वतन्त्र व्यक्तिगत आकांक्षाओं की पूर्ति के पथ में भी कोई ऐसे दुर्लंघ्य व्यवधान या बाधाएँ नहीं उपस्थित हुईं, फिर यह अकल्पनीय वेदना का संसार उन्होंने अपने हृदय में क्यों बसा लिया ? उनका-सा विनोदी परिहास-प्रिय छायावादियों में दूसरा नहीं मिलता, उनकी निश्छल, भावा-

कुल हँसी प्रसिद्ध है। किसी विनोदप्रिय अवसर या घटना के हल्के से स्पर्श से ही उनकी हृतन्त्री बज उठती है और वह हँसी से लोट-पोट हो जाती हैं। क्या वह उनके हृदय की वेदना के मुख का बाह्य अवगुण्ठन मात्र है! ऐसा तो नहीं जान पड़ता। वह एक प्रख्यात महिला-शिक्षा-संस्थान की अत्यन्त कुशल, सेवा-परायण संचालिका हैं। उन्हीं के अविराम प्रयत्नों तथा आत्म-त्याग से उस संस्था का उद्भव तथा विकास हुआ। अनेक संस्था सम्बन्धी संघर्षों का उन्हें साहस के साथ सामना करना पड़ता है। जीवन-यथार्थ के प्रति, लोकाचार तथा सामाजिक व्यवहार के प्रति उनकी दृष्टि प्रबुद्ध है। वह कोई स्वप्नों में खोयी बीना की रागिनी नहीं हैं, फिर यह क्या बात है कि उन्होंने इस विराट् युग की विविधमुखी जीवन-परिस्थितियों से केवल वेदना को ही अपनी अन्तःसंगिनी चुना? और उसे अपने तन-मन-हृदय से अश्रुओं से नहलाकर अपने सम्पूर्ण उत्सर्ग से उसमें प्राण भरकर, सहानुभूति की उसे व्यापकता प्रदान कर तथा अपने कवि हृदय के असंख्य स्वप्नों, और अकलुष सौन्दर्य-बोध से उसका शृंगार सजाव कर उसको छायावादी काव्य के अनिन्द्य कला-बोध के ताजमहल के भीतर एक अदृश्य निराकार प्रीति-प्रतिमा की तरह प्राण प्रतिष्ठित कर दिया। निश्चय ही यह व्यावहारिक यथार्थ के जगत् के प्रति कर्तव्यनिष्ठ महादेवी का रूप नहीं है यह उनके सूक्ष्म अन्तर्जगत् के चेतन, उपचेतन, सूक्ष्म-चेतन स्तरों में व्याप्त उस चिरन्तन भारतीय नारी, उस आनेवाली विश्व-नारी का रूप है, उस अजेय राग-तत्व की अन्तस्तप्त, स्वप्न-सौन्दर्य-भूषित, विरह-दग्ध, तप शुभ्र, सूक्ष्मतम परमाणुओं से निर्मित विराट् प्रतिमा का रूप है, जो विश्व की या सृष्टि की प्राण पीठिका पर अनादि काल से प्रतिष्ठित है। जहाँ प्रसाद के रूप में छायावाद ने भारतीय संस्कृति का अमृत-घट इस युग को दिया, निराला ने समस्त देह प्राण मन तथा जागतिक द्वन्द्वों से ऊपर की आत्म-ज्योति का निराकार स्पर्श दिया, वहाँ महादेवी ने इस युग के लिए इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण उस राग-मूल्य की प्रच्छन्न, गूढ़ अन्तःसत्ता की ओर इंगित किया, जिसके बिना आनेवाले युग का यथार्थ का अस्थिपंजर प्राण-रस-सौन्दर्य तथा मानव-हृदय के प्रेम-स्पन्दन से वंचित रहकर, केवल एक किमाकार दानव-सा ही नवीन युग की पीठिका पर अट्टहास करता होता। भले ही महादेवी ने उस मूल्य को केवल संकेतात्मक और कहीं-कहीं पर निवृत्तिमूलक या निषेधात्मक अभिव्यक्ति दी हो; सूक्ष्म, भाव-प्रवण, महत् राग सम्मोहनमयी महादेवी की इस वेदना के मूल भारतीय संस्कृति में गहरे, अत्यन्त गहरे, फैले हुए मिलते हैं। हमें अपने मध्ययुगों के जीवन में एक संक्षिप्त दृष्टि डालनी होगी कि कैसे यह राग की आह्लादिनी-शक्ति अकथनीय, अगाध वेदना-दंशन में बदल गयी और इसके क्या कारण थे? किस हद तक मध्ययुगीन जीवन या काव्य, राग-चेतना के विकास में सहायक हो सका, और कहाँ उसके लिए परिस्थितियों के लौह कपाट अवरुद्ध मिले।

प्रथम चित्र हमारे सम्मुख राम युग की सांस्कृतिक मान्यताओं का आता है, जिसमें वनचर और अहेरियों के जीवन की तुलना में कृषि-जीवन के स्थायी परिवेश में राग-मूल्यों के लिए एक सामाजिक मर्यादा,

एक स्त्री-पुरुष के सदाचार आदि की भूमिका मिलती है, जिसने राग-भावना के विकास वितरण तथा परितृप्ति के लिए एक व्यापक, मुक्त, नैतिक-पीठिका प्रस्तुत की। सदियों तक यह नैतिक-सन्तुलन मानव-समाज के उन्मद गयंद को अपनी मान्यता के अंकुश से प्रशस्त राजपथ पर परिचालित करता रहा। सीता राम की युग्म भावना के पावन सात्विक स्फटिक प्रांगण पर राग चेतना अपने शील-नम्र, लज्जारुण चरण बढ़ाती रही। उस युग के नियन्त्रण की राजयष्टि इतनी निर्मम थी, कि दन्तकथा ही सही, पर एक धोबी की शंका प्रकट करने पर, भारतीय गृहस्थ-जीवन-मर्यादा की रक्षा के लिए श्री राम ने निष्कलंक सीताजी का भी परित्याग कर दिया। यह वाल्मीकि रामायण का चित्रपट है। किन्तु कृष्ण-युग में न जाने कहाँ से और कैसे एक अविजेय, हृदय मन्थित करनेवाली, मर्म-मधुर वंशी-ध्वनि सुनायी पड़ने लगी। सम्भवतः तब कृष्ण-युग अपनी आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक, सौन्दर्य-बोध, शौर्य-वीर्य आदि की सात्विक, राजस मान्यताओं में पूर्ण विकसित एवं पुष्पित पल्लवित हो चुका था और राग-भावना राम-युग के प्रांगण को नैतिक सीमाओं के भीतर भाव-क्रीड़ा तथा लीला-नृत्य करती हुई अब अपने विकास तथा अभिव्यक्ति के लिए दूसरी भाव-भंगिमा तथा सौन्दर्य-प्रेरणा की प्रतीक्षा में थी,—क्योंकि निरन्तर अनन्त विकास क्षमता ही का नाम जीवन है,—कि सहसा रस-पुरुष कृष्ण का व्यक्तित्व भारतीय-संस्कृति के राज-प्रासाद में जन्म लेता है और रामयुग की मर्यादाओं के तटों को डुबाते हुए, राग-भावना, सौन्दर्य-बोध तथा रसाह्लाद का एक अभूतपूर्व नवीन प्लावन भारतीय नर-नारियों के जीवन में उपस्थित होता है। गृहस्थ की देहरी से बाहर निकलकर, गायों-सी रँभाती हुई, गोपियों-सी तन मन की सुधि भूलती हुई, नयी वंशी-ध्वनि पर मुग्ध, राग-भावना, वृन्दावन के सीमित क्षेत्र ही में सही, महाभारत से लेकर जयदेव के गीत-गोविन्द तक और पीछे रीति काव्य के युग में मुखर अभिव्यक्ति पाती रही। किन्तु यह विश्वव्यापी राग-सिन्धु का उद्वेलन क्या उस युग के घट में समा सकता था? कृष्ण तो उस युग के एकीभूत अन्तःस्थित व्यक्तित्व थे। उनका चैतन्य तो लोक-जीवन की सिद्धि या व्याप्ति बन नहीं सका था। निश्चय ही, वह राग-संचरण आत्मा और जीवों के रूप में बँधकर, कृष्ण गोपियों की लीला के रूप में सामंजस्य पाकर, एक वैयक्तिक साधनागत, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल्य बनकर रह गया। राम जिस प्रकार सामाजिक-परमबोध या सामूहिक मूल्य के प्रतीक हैं, कृष्ण उसी प्रकार परम व्यक्ति-मूल्य के प्रतीक हैं। साथ ही उस रागोत्थान को तत्कालीन बाह्य परिस्थितियों की सीमाओं के कारण एवं समदिक् लोक-जीवन में अभिव्यक्ति न मिल सकने के कारण उसका एक दूसरा पक्ष चिर विरह मूर्ति राधा के रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है। सोरह सहस परि तन एकै राधा कहिये सोय! कृष्ण-युग के राग-पावक को विगत देह-मूल्यों के तृण के दोने में सँभालकर रखना सम्भव नहीं था क्योंकि अपने विकास के शिखर पर भी कृषि-युग की बहिरन्तर परिस्थितियों की सीमाओं में प्रकारान्तर उपस्थित नहीं किया जा सकता था। अतः कृष्ण-युग ने रागतत्व के आध्यात्मिक मूल्य-संकेत को तो स्वीकार किया, पर जीवन तथा प्राणों के

स्तर पर उसका उपभोग करने के लिए उसे सामूहिक के बदले वैयक्तिक ऊर्ध्व-प्रेम-साधना का विषय बना दिया, और राग-चेतना के विश्व-रूप एवं परम चेतना के एकान्वित, तद्गत अन्त:स्वरूप के प्रतीक या द्योतक होते हुए भी कृष्ण और राधा के व्यक्तित्व में कृषि-युग के परिस्थिति-सीमित देह-मूल्य को भी स्वीकृत करना जैसे उस युग की विवशता एवं बाध्यता थी। नहीं तो राग शक्ति के अदम्य वेग को न रोक सकने के कारण लोक जीवन में घोर अनाचार फैलने की अनिवार्य सम्भावना थी। फिर भी एक दूसरे ही परिप्रेक्ष्य में, कृष्ण और गोपियों की क्षेत्रीय भूमिका में, उस रागतत्व की दिव्यता, पावनता एवं विश्व-मूल्य को प्राणों के स्तर पर भी उस युग को स्वीकृति देनी पड़ी, और व्यक्तिगत रूप से उस परम राग-संवेदना या रसो वै स: कृष्ण-तत्व की प्रेमसाधना के लिए जीवन की भूमिका के बदले महाभाव की भूमिका ने जन्म लिया।

महाभारत के बाद भारतीय संस्कृति में ह्रास-विघटन के चिह्न उपस्थित होने लगे थे। बुद्ध के उदय तक भारतीय चैतन्य कर्मकाण्डों, विधिविधानों की संकीर्णता में जड़ीभूत हो गया था। बुद्ध का निर्वाण एवं उन्नत नैतिक आत्मसाधना का पथ इसी के प्रति विद्रोह था। बुद्ध के आगमन के बाद ही भारत भूमि जिन अवांछनीय वात्याचक्रों की आक्रमण भूमि बनकर पराधीनता के पाश में फँस गयी, और कब और कैसे उसकी नारी समस्त रागभावना की विभूति को समेटकर, मध्ययुगीन गृहस्थ के कटघरे में गुण्ठित होकर, फिर भूगर्भ में चली गयी, कब रीति-काव्य की भूमिका में परकीया, अभिसारिका, विप्रलब्धा, खण्डिता आदि नारी-रूपों में उसने पुन: जन्म लिया और प्रेम की प्रतीक्षा में रत कृशांग, उत्तप्त, उच्छ्वसित, विरहिणी के अस्थिपंजर ने सौन्दर्य-भावना को अधिकृत कर लिया, इस सबसे आप अच्छी तरह परिचित हैं। यही मध्ययुगों से भारतीय राग-भावना का विरह कृच्छ्र एवं देह-बोध गुण्ठित साहित्यिक स्वरूप तथा इतिहास रहा है। और इसी रागतत्व के मर्मदंशी उद्वेलन एवं जागरण की प्रतिनिधि गायिका, वेदनामूर्ति, कवयित्री महादेवी हैं, जिन्होंने विश्वमय प्राण-पुरुष की गोपन रहस्यमयी वंशी-ध्वनि का आमन्त्रण स्वीकार कर, रस-सागर की उत्ताल तरंगों में डूबती-उतराती, अदृश्य-स्पर्श से रोमांञ्चित होती हुई, भारतीय मध्ययुगीन राग-चेतना राधा की विरहदग्ध, पीड़ा-विष मूर्छित, वेदना की आनन्द मूर्ति, निष्कलुष दीपशिखा की तरह अहरह जलती हुई, प्रीति-साधना को पुन: अपने काव्य के चित्रपट में अभिव्यक्ति दी है। और यह राधा की प्रेम-वेदना, जिसे न वह छोड़ सकती है, न भुला सकती है, न जीत ही सकती है, प्रत्येक भारतीय नारी के भीतर, युग-नारी तथा विश्व नारी के भीतर, आज नवीन संवेदनों में प्रकट हो रही है। भारत ही नहीं, समस्त विश्व में, काव्य और साहित्य में ही नहीं, आधुनिक मनोविज्ञान और दर्शन में भी, एवं फ्रॉयड आदि के उपचेतन-अचेतन मन के शक्ति-प्राण ज्वारों तथा लिबिडो के स्तरों, ग्रन्थियों आदि के विश्लेषण में भी, यह रागतत्व नये विकास, नये सामाजिक वितरण, नये स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों के निरूपण में प्रकट होने के लिए अपने सत्व को घोषित कर रहा है। उन्नीसवीं सदी का स्वच्छन्दतावाद भी इसी से प्रेरित है। राग तत्व का नया मूल्यां-

कन, नयी नारी का उदय, भविष्य की अवश्यम्भावी सम्भावनाओं में से है। राग-मूल्य की भावी अवधारणा, उसकी सामाजिक परिणति, उसके आध्यात्मिक, नैतिक, प्राणिक एवं मनोवैज्ञानिक पक्षों का पुनर्मूल्यांकन, स्त्री-पुरुष के भावी वैयक्तिक-सामाजिक सम्बन्ध आदि ऐसे गम्भीर तथा व्यापक महत्व के प्रश्न इस युग के उत्थान के साथ उदय हुए हैं कि जिनके बारे में विस्तार से कहने और उस विस्तार का स्वरूप एवं मूल्य निरूपण करने में अभी अनेक दशक और सम्भवत: शती नि:शेष हो जायेगी। इसका संक्षिप्त चित्रण मैंने आज की युगदृष्टि से जहाँ तक सम्भव हो सका है, 'लोकायतन' में भी किया है; किन्तु यह सब कहने से मेरा तात्पर्य यह है कि भाव-प्रवण महादेवी की काव्यात्मक वेदना का कारण हमें आत्मा-परमात्मा में न खोजकर वर्तमान अविकसित संकीर्ण मरणोन्मुखी सामाजिक यथार्थ के निर्मम-दंश में तथा भावी आदर्श के स्पर्श में खोजना चाहिए। उनकी कवि-दृष्टि अत्यन्त संवेदनशील तथा काव्य साधना अत्यन्त प्रच्छन्न रही है काव्य-भूमिका की दृष्टि से वह हमारे युग की प्रेयसी हैं, जिन्होंने राधा तथा मीरा की तरह नये चैतन्य-बोध का स्पर्श पाने तथा उसमें तन्मय हो जाने के लिए भावनिष्ठ हृदय से, वेदना की घूँटें पीकर, प्रेम-साधना की है। यदि आप महादेवी को बौद्धभिक्षुणी या क्रिश्चियन नन, या कृष्ण युग की गोपिका या मध्ययुग के गृहपिंजर में बद्ध अवगुण्ठिता, देह-बोध सीमित सती नहीं बनाना चाहते, जिसे तुलसी मानस में अनुसूया उपदेश देती है, और जिस मध्यवर्गीय मध्ययुगीन गृहस्थ की सीमा में न अँट सकने के कारण उन्होंने स्वत: उससे बाहर निकलकर, उस प्रेम या राग भावना की पीड़ा-शीतल चन्दन-चर्चित आराधिका बनना स्वीकार किया, जो गत युगों के इन सभी नारी-रूपों या राग-मूल्यों को अतिक्रम कर नरनारी के जीवन के लिए नया सामाजिक परिवेश प्रस्तुत करना चाहती है, और यदि हम उनकी काव्य-चेतना को या उन्हें एक स्वस्थ, नव जीवन-उन्मेष से भरी, युग-प्रबुद्ध, आनेवाली नारी के रूप में देखना चाहते हैं, तो आपको यह मानना ही पड़ेगा कि उनकी इस निगूढ़ नि:सीम भाव-वेदना का कारण निश्चय ही इस विश्वव्यापी राग-संवेदन का नवीन आह्वान तथा उद्वेलन है—उसने सामाजिक शृंखला की कड़ियों के दु:सह बोझ के कारण भले ही कैसी ही प्रच्छन्न अभिव्यक्ति उनके काव्य में पायी हो। जिस प्रकार उनके समस्त काव्य का या अधिकांश काव्य का आलोचकों ने मध्ययुगीन रहस्यवादी निवृत्तिमुखी दृष्टि से मूल्यांकन किया है उसे मैं इस जीती-जागती मानवी के लिए, जिसके हृदय का प्राण-वान स्पन्दन अतीत के सब रूढ़िग्रस्त बन्धनों को छिन्न-भिन्न करने की क्षमता रखता है, निश्चय ही महान् अन्याय समझता हूँ। उन्हें हमें मध्ययुगों की पीठिका से हटाकर इसी युग के बाहरी-भीतरी बौद्धिक, हार्दिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक, सशक्त, मर्मस्पर्शी, लोकव्यापी प्रभावों की संश्लिष्ट संग्रथित भूमिका पर खड़ा कर देखना चाहिए।

यह ठीक है कि उन्होंने यत्रतत्र मध्ययुगीन रहस्यवादी अभिव्यक्ति के प्रभावों को ग्रहण कर उन्हें छायावादी युग के अनुरूप नये प्रतीकों एवं बिम्बों में ढालकर अदृश्य-मूल्य के प्रति अपनी खोज, उसके अभाव की पीड़ा और आगे चलकर उसके भीतर से एक नयी आस्था, आशा, तथा

अपने ध्येय की विजय को वाणी दी है, पर इससे उन्हें कबीर या मीरा की पंक्ति में उतने पीछे नहीं बिठाया जा सकता। जागरण की बेला में ऐसे प्रभाव सभी छायावादियों में कम-अधिक मात्रा में पड़े हैं, जो महादेवी में अधिक दिखायी देते हैं; पर इसे इस तरह समझ सकते हैं कि उन्होंने अत्यन्त गूढ़ और गुह्य भी समझे जानेवाले राग-संवेदन या प्रेम-संवेदन को अपनी काव्य-वस्तु के लिए चुना—और नारी होकर वह न चुनतीं तो और कौन चुनता ? दूसरा उनकी इसी नारी की स्थिति ने उस अभिव्यक्ति को और भी रहस्यमयी बना दिया। उन्होंने अज्ञात प्रियतम की बात कही है, उसके लिए उनके प्राणों में व्यथा भी मचली है, उसका स्वप्न-दर्शन या स्पर्श भी उन्हें कभी मिला है, और बीच में वह स्पर्श खो भी गया है, पर यह अज्ञात प्रियतम तो वह प्रेम-मूल्य या राग-मूल्य है, जिसे उन्होंने निवृत्ति के आनन्द से मण्डित न कर, प्रवृत्ति की पीड़ा के माध्यम से व्यक्त किया है, जो उनके युग का आग्रह था। और आप यदि इस व्यापक यथार्थ की दृष्टि से कबीर, मीरा आदि सन्तों तथा मध्ययुगीन भक्तों के काव्य-तत्वों, प्रतीकों, बिम्बों का विश्लेषण करें तो उन्हें और ऋण-रूप में नये कवियों को भी आप इसी रसमूल्य की साधना में निरत पायेंगे, जिसकी अनिवार्य उपयोगिता व्यापक लोकजीवन तथा विश्व-मंगल के लिए है, जिसके आनन्द, सौन्दर्य, रस-स्पर्श के बिना इस महान् वैज्ञानिक युग का आर्थिक, सामाजिक ढाँचा भी अपनी ही बुद्धि-विश्लेषण की चकाचौंध में अन्तःसंगति, अन्तःप्रेरणा, अन्तर्गति, अन्तर आह्लाद तथा अन्तःसन्तुलन के अभाव में, कभी भी अपने ही खोखलेपन के कारण, किसी अणुयुद्ध से ध्वंस हो सकता है। विश्व-जीवन में प्रसरित उसको गति देनेवाली, उसमें संयोजन भरनेवाली अन्तरात्मा का ही नाम रस-चैतन्य या रागतत्व है, यह दूसरी बात है कि मध्ययुगीन निष्क्रिय सामन्ती जीवन-परिस्थितियों के कारण, जब तक विज्ञान ने जड़ की ग्रन्थि नहीं खोली थी, रस-ईश्वर को, जो अपने में पूर्ण, किन्तु अपनी सृष्टि में विकास के पथ में है, जो सृष्टि न रचकर स्वयं सृष्टि में प्रसरित है, जो कृष्ण-चैतन्य से भी विकसित तत्व हैं, उस विश्व-जीवन में संयोजित एवं मूर्त करना तब सम्भव नहीं था। ईश्वर या परमात्मा या परात्पर आदि ब्रह्म के रूपों को विश्व-जीवन से विच्छिन्न मानकर केवल आत्मा के धरातल पर उन्हें परम-लक्ष्य के रूप में मानना, तथा निवृत्ति-पथ की साधना से उस चरम बोध-बिन्दु का स्पर्श या साक्षात्कार को जीवित रखने की व्यक्तिवादी पद्धति मुख्यतः बुद्ध के निर्वाण-दर्शन की भारतीय दर्शनों में परिणति के स्वरूप में तब प्रचलित हो गयी थी, किन्तु सार्वकालिक सार्वभौम लक्ष्य इन साधकों और सन्तों का भी उस उच्चतम सत्य को विश्व-जीवन की संगति में परिणत करने का ही रहा है, जिसे वे भले ही तब न जानते हों। बाह्य जीवन गति में ईश्वर को प्रतिष्ठित न करने की असमर्थता के कारण उस आत्म सत्य-बोध को पीढ़ी-दर-पीढ़ी जीवित रखने के लिए ही वे प्रकाशवाहकों की तरह केवल उच्चतम परोक्ष-बिन्दु के रूप में उसका प्रचार करते रहे। मैं युग-युगों के संस्कारों की धूल से भरी इस नैतिक-जनन से ओढ़ी गयी सामन्ती-मूल्यों की चदरिया को ज्यों की त्यों नहीं छोड़ देना चाहता, इसे व्यापक प्रकाश में धोकर नये युग के

अनुरूप राग-भावना में रंजित देखना चाहता हूँ। वैसे भी स्वकीया-परकीया से परे सामाजिक शील-सौन्दर्य की भूमि पर प्रतिष्ठित स्त्री-पुरुष की प्रीति-मुक्ति की रस-प्रतिमा को अवश्य नया सामाजिक संस्कार तथा मूल्य देना है। यह एक दीर्घ प्रक्रिया भले ही हो और इसकी कई स्थितियाँ भी हों पर गत सामाजिक विधान में जड़ीभूत राग-चेतना को नवीन रूप से जीवन-सक्रिय होना है, और नये विश्व को नवीन सौन्दर्य-बोध तथा शक्ति से प्रेरित करना है, इसमें मुझे सन्देह नहीं। महादेवी के काव्य का उद्देश्य निवृत्तिमूलक आत्मा-परमात्मा के मिलन को मानना उनके प्रेरणा-स्रोतों को बिलकुल ही न समझने के बराबर है। उनकी-सी पीड़ा मीरा-कबीर किसी में इतनी मात्रा में इसलिए भी नहीं है कि, चाहे ज्ञान-पथ से हो चाहे भक्ति-पथ से, वे केवल व्यक्ति-मुक्ति चाहते रहे हैं और महादेवी का युग लोकमुक्ति का दारिद्र्य, दैन्य, दुःख, अशिक्षा, अन्धकार तथा सशंकित स्त्री-पुरुषों की परस्पर सहानुभूति से पीड़ित, असंख्यों की संख्या में विदीर्ण, लोक जीवन की मुक्ति एवं पुनर्निर्माण का युग है। इसलिए उनकी प्रेरणा का स्रोत मध्ययुगीन जीवन दृष्टि में होना सम्भव नहीं हो सकता। इसका अर्थ है वह मध्ययुगों की केवल अनुगूँज या प्रतिध्वनि भर नहीं। मध्ययुग या इस युग के जीवन-दर्शन को सम्यक् दृष्टि से समझने के लिए सामाजिक परिस्थितियों एवं परिवेश का ज्ञान अनिवार्य है, उसके बिना दर्शन का सत्य जीवन-शून्य, रिक्त प्रकाश-भर है।

महादेवी ने अपनी भूमिकाओं तथा विवेचनात्मक गद्य में छायावाद, रहस्यवाद तथा अपनी अनुभूति के बारे में जो कुछ लिखा है, उसे ध्यान में रखते हुए भी, मैं उनके भाव-तत्व एवं काव्य-वस्तु के प्रति अपना एक पृथक् दृष्टिकोण रखता हूँ तथा उसे यथार्थ पर आधारित मानता हूँ। यह सम्भव है कि रागात्मक-मूल्य की सृष्टि उन्होंने घनीभूत वेदना के रूप में उसके बौद्धिक मूल्य के प्रति अपरिचित रहकर केवल अपनी अन्तः-प्रेरणा से की हो, इसीलिए उनके प्रतीक-विधानों में, थोड़ी बहुत सजाव सम्बन्धी कृत्रिमता होते हुए भी, उनकी रहस्यमयी वेदना की अभिव्यक्ति में गहरी स्वाभाविकता मिलती है। उच्च कोटि की सृजन-प्रक्रिया के लिए मूल्य का बोध अनिवार्य आवश्यकता नहीं भी हो सकती, युग-चेतना के वातावरण में ऐसे अनेक सूक्ष्म-स्थूल तत्व व्याप्त रहते हैं जो स्रष्टा या कलाकार को अज्ञात रूप से लक्ष्य की ओर प्रेरित करते रहते हैं। और यह कवि की सूक्ष्म भाव-प्रवणता तथा गहन संवेदना-शक्ति पर निर्भर करता है कि वह युग की अन्तश्चेतना के संकेत को कितनी गहराई तथा व्यापकता से ग्रहण करने की क्षमता रखता है और उसका कला-बोध उसे कितने सशक्त सम्प्रेषणीय उपकरणों के माध्यम से मूल्य की अन्तरात्मा को अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से वेष्टित करने में सफल होता है। बहुत सम्भव है, अपनी बहिर्जीवन की व्यस्तता एवं व्यग्रता के कारण वह सूक्ष्म प्रकाश-बिम्ब अथवा ज्योति-बिन्दु अब बाह्य जीवन-प्रभावों के धूम से आच्छादित होकर सृजन-सक्रिय भी न रह गया हो अथवा उसकी छाप अन्तराल से मिट भी गयी हो, पर ऐसा प्रतीत नहीं होता। सम्यक् अन्तःपरिस्थिति तथा एकाग्र एकान्त मिलने पर वह पुनः अधिक प्रभावोत्पादक रूप से जाग्रत् एवं रचनाशील हो सकता है। यह

जो भी हो, छायावाद को और विशेषतः महादेवी की रहस्यमयी अभिव्यक्ति को मध्ययुगीन निवृत्तिमुखी, वैयक्तिक साधना की रहस्यवादी भूमि पर रखकर देखना समीक्षकों की अपने युग के प्रति अप्रबुद्धता तथा मध्ययुगीन मान्यताओं से आच्छादित मस्तिष्क एवं बुद्धि का ही द्योतक है। मध्ययुगों में, पिछले युगों से अर्जित भारतीय चैतन्य का जीवन्त स्रोत सूख गया था और उसके स्थान पर केवल विधि विधानों के तटों के बीच चेतना-धारा के गतिरुद्ध, शुष्क चिह्न ही शेष रह गये थे। मनुष्य केवल अहं-केन्द्रित देह-मूल्य का प्रतीक व्यक्ति-मात्र रह गया था और व्यक्तिगत पाप-पुण्य की भावना से पीड़ित एवं महत् सामाजिक विकास की भूमि से विच्छिन्न होकर, आत्ममुक्ति, परलोक तथा स्वर्गकामी बनकर, विश्व-जीवन से असम्बद्ध परोक्ष-सत्य की ओर उन्मुख हो गया था। निश्चय ही अपनी समस्त करुणा, वेदना, संवेदना, आत्म-विसर्जन अथवा मर-मिटने की भावना को लेकर भी महादेवी की काव्य-दृष्टि इसी महान् विश्व-चेतना से स्पन्दित लोक-मंगलोन्मुखी तथा समाजोन्मुखी है। उसमें एक प्रच्छन्न आशा का सन्देश तथा नये जीवन-प्रभात की अरुणिमा का भी सौन्दर्य है। वह विगत सामाजिक राग-मूल्यों के बन्धनों, जर्जर-रूढ़ियों की शृंखलाओं से मुक्ति भी चाहती है, जो उनके काव्य से अधिक, जिसमें वह नारी मर्यादा के प्रति अधिक सशंक हैं—उनके गद्य में सबल, साहसी वाणी पाती है। उन्होंने अपने काव्य में जिस गहन गूढ़ रागात्मक द्वन्द्व की मर्म-भेदी वेदना को अभिव्यक्ति दी है उसके बिना नये मूल्य का एक आयाम ही अधूरा रहता। उनके काव्य से प्रसाद की सी मादकता, निराला की सी शक्ति का परिचय न मिलता हो, पर उसमें जो एक अन्तश्चेतन पीड़ा (साइकिक पेन) की अनुभूति है वह राग-चेतना तथा प्रेम-भावना के प्रति पर्वत-मूक, अकथित तथा सिन्धु-अतल, गोपनीय सत्य को अन्तःस्पर्शी, मार्मिक-वाणी देने में सफल हुई है। महादेवी भारत में पैदा हुई और उन्होंने प्रेम को अन्तर्मुखी अभिव्यक्ति दी, वे पश्चिम में होतीं तो सम्भवतः इस युग में मिसेज ब्राउनिंग के से प्रेम-प्रगीत लिखतीं, जिसमें राग-तत्व के गम्भीरतम अन्तर्मूल्य पर—मैं आध्यात्मिक मूल्य जान-बूझकर नहीं कह रहा हूँ कि उससे फिर रहस्यवादी भ्रम न फैले—प्रकाश नहीं पड़ता। पश्चिम की बहिर्मुखी प्राणों की भूमि पर प्रतिष्ठित राग-मूल्य का अन्तःसंस्कार होना है, नहीं तो वह फ्राएडियन उपचेतन, अवचेतन अन्धकार के गर्तों में गिर सकता है। रागात्मक सत्य के नये मूल्य तथा नयी सामाजिक मान्यता के अभाव के कारण आज हमें बीटनिक्स, हंग्री जनरेशन्स, तथा अन्यथा कवितावादी आदि का अधोमुखी-विद्रोह देखने को मिल रहा है। उनमें युग तथ्य का भले ही एक अंश वर्तमान हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि उनकी आस्था दिग्भ्रान्त है। राग-मूल्य को देह की संकीर्णता से ऊपर उठाकर, व्यापक सामाजिक-भूमि पर प्रतिष्ठित करना है, जिससे उसका वहिःसंस्कार हो सके। सभी छायावादी कवियों ने अपने-अपने ढंग से राग-मूल्य के उन्नीत सौन्दर्य को अपनी काव्य-वस्तु में अभिव्यक्ति दी है। उन्होंने नारी को उसका प्रतीक बनाकर, उसे मध्ययुगीन देह-बोध तथा राग-द्वेष की संकीर्ण, कामान्ध, नैतिक कारा से मुक्त कर, नवीन राग-चेतना की

सौन्दर्य-शिखा के रूप में अपने मुक्त, उन्नत, भाव-स्वप्नों से उसकी नवीन मूर्ति निर्मित कर, व्यक्ति-मोह के धरातल से उठाकर, विस्तृत सामाजिक धरातल पर लोक-जीवन-मंगल कर्म में संलग्न मानवी के रूप में प्रतिष्ठित किया है। छायावाद की यह अमूल्य देन लोकमानस के लिए है—वह केवल रोमेण्टिक स्वच्छन्दतावादी प्रेम-मुक्ति का ही सन्देशवाहक नहीं रहा, उसने उस मुक्ति को एक उच्च सामाजिक धरातल भी प्रदान किया है। जैसा सम्भवतः मैं पहिले भी कह चुका हूँ, महादेवी के काव्य में छायावादी अभिव्यंजना तथा भाव-वस्तु ने अपनी पूर्णता प्राप्त की, उसमें छायावादी स्वप्नदृष्टि का सौन्दर्य, तथा छायावादी गूढ़ भावोच्छ्वसित हृदय की धड़कन अधिक सूक्ष्म होकर, अधिक स्पष्ट सुनायी पड़ती है, यद्यपि उसमें ह्रास के चिह्न भी उतने ही स्पष्ट दिखायी पड़ते हैं। उनके काव्य के और भी अनेक पक्ष हैं पर उनकी मुख्य देन की ओर मैं ऊपर संक्षेप में संकेत कर चुका हूँ। अन्य छायावादियों की तरह उनके प्रतीक, बिम्ब-विधान, लाक्षणिक-संकेत तथा प्रकृति-चित्रण के अनेक आयाम रहे हैं, जिनसे कभी तादात्म्य प्राप्त कर, कभी उसे उपकरण बनाकर, उन्होंने अपनी अभिव्यंजना को सौन्दर्य-दीप्त तथा मर्मस्पर्शी बनाया है। उनके काव्य में विश्वनारी के अतृप्त-प्रेम, अविकसित राग-भावना की विशुद्ध हृदयानुभूति है। उनकी दृष्टि अन्तर्मुखी तथा वैयक्तिक ही है, जो उनकी भाव-वस्तु के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। सामूहिक जीवन को गहनतम एवं उच्चतम संवेदनों का वैभव विकसित उन्नीत व्यक्ति-दृष्टि ही प्रदान कर सकती है। महादेवी की काव्यदृष्टि का भी विकास हुआ है। दीपशिखा में उनकी 'यामा' की वेदना चिन्तन-गम्भीर तथा आशादीप्त हो गयी है।

विस्तार भय से मैंने अन्य गौण पक्षों पर विचार न कर केवल छायावादी काव्य-भावना तथा वस्तु-विकास के चार आयाम आपके सम्मुख प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है जिनमें अन्तःसंगति तथा एकता भी है, बहिर्नियोजन की विशिष्टता तथा वैविध्य भी है, और उनकी परिसीमाएँ भी हैं। इस प्रकार, संक्षेप में, हम देखते है कि नये काव्य संचरण के सन्दर्भ में छायावादी कवि चतुष्टय के अन्तर्गत जहाँ प्रसादजी ने मुख्यतः सांस्कृतिक नये मूल्य के ज्ञान-पक्ष (कॉग्नीशन) को वाणी देने का प्रयास किया है वहाँ निरालाजी ने शक्ति-संकल्प पक्ष (वोलिशन) को, और महादेवी ने उसके रागात्मक पक्ष (इमोशन) को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया है। और मैंने नये मूल्य के चैतन्य (स्पिरिट) का पक्ष उद्घाटन कर, उसमें उपर्युक्त तीनों पक्षों को संयोजित करने का प्रयत्न किया है। पर मैंने अपने सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उसका निर्णय आप स्वयं करें। प्रसादजी की परिसीमा यह रही कि उन्होंने अपनी प्रतिनिधि कृति में इस युग के अजेय, व्यापक वैषम्यों से भरे, महान् सामूहिक संघर्ष का समाधान प्राचीन शैव-ज्ञान-व्यवस्था का आधार लेकर, वैयक्तिक अन्तर्मुखी साधना से लब्ध समरस आनन्द के रूप में देकर, उसका अत्यन्त सरलीकरण कर दिया है—और यह समाधान युगीन मानवीय अनुभूति न होकर एक साम्प्रदायिक ज्ञान-बिन्दु अथवा आनन्दानुभूति की ओर पलायन भर है। चेतना के दो पक्ष या स्तर होते हैं—एक ज्ञान का, दूसरा शक्ति का।

निराला ने बोध-पक्ष को काव्य-वस्तु में तथा शक्ति-पक्ष को अपनी अभिव्यंजना में इतना अधिक महत्व दिया कि वह अपने ही प्रवेग के धक्के से अन्त में बिखर गयी। कृतित्व से उनका व्यक्तित्व ही शक्तिशाली हो उठा है। उनके सर्वश्रेष्ठ कृतित्व में ऊर्ध्वमुखी दृष्टि की एकाग्रता ही प्रधान है, भले ही अभिव्यक्ति में वैविध्य हो। महादेवीजी ने अपनी नारी होने की मर्यादा को न लाँघ सकने के कारण, तथा महजशील संकोच के कारण, अपनी अभिव्यक्ति को इतनी सांकेतिक, प्रतीकात्मक, गूढ़ तथा प्रच्छन्न बना दिया कि राग की आह्लादिनी शक्ति या अह्लादक तत्व को उन्हें दार्शनिक-प्रतीकों तथा असह्य अन्तश्चेतन-सूक्ष्म-वेदना के माध्यम से वाणी देनी पड़ी, यहाँ तक कि उनके समीक्षक उनको मध्ययुगीन भूमि पर ही स्थापित करने को तत्पर रहते हैं। और मेरी तो ऐसी सीमाएँ रही हैं कि मैं अपने पाठकों तथा आलोचकों को कभी भी अपने साथ नहीं ले सका हूँ। मेरे इन निर्णयों पर निर्णय देने के लिए आप स्वतन्त्र हैं। वास्तव में इतने कम समय और थोड़े पृष्ठों में छायावाद के विषय में विवेचना करना सम्भव नहीं, वह अस्पष्ट तथा स्केची हो जाती है। इसका क्षेत्र इतना विशाल है कि उसके लिए एक दो सालों का एकाग्र सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन, मनन तथा तीन-चार सौ पृष्ठों में उस चिन्तन का निरूपण करना ही उसके लिए न्याय करना होगा।

अपने अगले निबन्ध में हम छायावादी कला-बोध पर दृष्टिपात करते हुए, एवं उसके उत्तरकालीन रूपों की संक्षिप्त चर्चा करते हुए, जिस नये मूल्य के सम्बन्ध में हम इन दो निबन्धों में कहते आये हैं, उसकी संक्षिप्त विवेचना करने का प्रयत्न कर, नये काव्य-संचरण के परिप्रेक्ष्य में छायावाद के पुनर्मूल्यांकन की ओर प्रवृत्त होंगे। धन्यवाद!!

कलाबोध, विधाएँ और पुनर्मूल्यांकन

छायावादी कलाबोध की मुख्य विशेषता यह रही कि वह अभिव्यक्ति की दृष्टि से पुनः अभिव्यंजना के मूल स्रोतों की ओर, अर्थात् बाह्य-प्रकृति और अन्तश्चैतन्य की ओर अग्रसर हो सका। द्विवेदी युग का काव्य कला-बोध की दृष्टि से भी वस्तु-निष्ठ रहा। वह भले ही रीतिकाल के कृत्रिम, व्युत्पन्न, काव्यशास्त्रीय व्यवस्था के ढाँचे से आक्रान्त न रहा हो, पर वह कलात्मक मौलिकता के अभाव में परम्परागत शास्त्रीय-बोध से ही परिचालित रहा। उसकी दृष्टि वस्तुनिष्ठ होने के कारण वह कला की अभिव्यंजना में भी कोई नवीनता या चमत्कार पैदा न कर सका, क्योंकि मुख्यतः पुनर्जागरण का काव्य होने के कारण उसकी काव्यवस्तु पौराणिक एवं मध्ययुगीन रूप-बोध की सीमाओं में ही बँधी रही और विगत वस्तु की धारणा—अतीत जीवन की मान्यताओं मर्यादाओं, नैतिक दृष्टिकोणों, रहन-सहन की पद्धतियों तथा घिसे-पिटे सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों में चिर-परिचित तथा अभ्यास-जीर्ण हो जाने के कारण उसमें एक प्रकार का बासीपन तथा सौन्दर्यबोध की दृष्टि से फीकापन आ गया था। अतः अक्षरमात्रिक कवित्त छन्द की बोझिल आलाप-प्रधान पद-योजना से

मुक्त होकर ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक-छन्दों की अधिक स्वाभाविक एवं लय-चपल गति प्राप्त कर लेने पर भी द्विवेदी युग का काव्य नवीन कला-भंगिमा से वंचित ही रहा। उस युग के प्रगीतों, गण्ड काव्यों, 'साकेत', 'प्रिय-प्रवास' जैसे महाकाव्यों में भी केवल भारत के विगत जीवन की अभिव्यक्ति को ही पुनः अभिव्यक्ति मिली है, भले ही उसमें युग के अनुरूप कुछ परिवर्तन कर दिये गये हों पर वे मात्रा तक ही सीमित रहे, जीवनदृष्टि में प्रकारान्तर उपस्थित नहीं कर सके, और न पिछले भाव-बोध, कला-उपकरणों, चरित्रों तथा पात्रों के रूपों को ही नये सौन्दर्य-बोध से मण्डित कर सके। 'पृथवी पुत्र' जैसी दो-एक कृतियों को छोड़कर उस युग का सृजन—चाहे वह 'भारत भारती' हो या 'जयद्रथ-वध', 'वैदेही वनवास' हो या 'यशोधरा'—नवीन भाव-क्रान्ति के चेतनात्मक-स्पर्श से शून्य होने के कारण नवीन कला-बोध को जन्म देने में असफल रहा। व्यक्तिगत दृष्टि से गुप्तजी आदि की कुछ विशिष्ट उपलब्धियाँ रही हों, पर हम युग-समग्र दृष्टि से ही यहाँ विचार कर रहे हैं, इसलिए विस्तारों की रक्षा नहीं कर सकते। छायावाद भाव-बोध की दृष्टि से जहाँ विगत वस्तु-बोध की भूमिका को छोड़कर, एक ओर नवीन चैतन्य के शिखरों की ओर बढ़ा, वहाँ कला-बोध की दृष्टि से, वह काव्य-शास्त्रीय जड़, अलंकार-युग की सौन्दर्य-धारणा से अपने को मुक्त कर, सीधा प्रकृति के मुक्त-पंख प्रसारों में विचरण कर, नये सौन्दर्य उपादानों की खोज में निकल गया। उसने चिर-परिचित सन्ध्या प्रभातों, ऋतुओं की परिक्रमाओं, पर्वत के अभ्रभेदी मौन, नदी के दिग्चुम्बी प्रवाह, फूल, पल्लव, तरु-मर्मर तथा अन्तरिक्ष को एक नवीन अर्थवत्ता, नवीन सौन्दर्य-चेतना प्रदान कर नये काव्य संचरण के लिए नये कलात्मक उपकरणों का संचयन करना प्रारंभ कर दिया। उसने अपनी मूर्ति-विधायिनी कल्पना से प्रकृति का मानवीकरण कर मनुष्य की कला-रुचि का परिष्कार करने के लिए नवीन सौन्दर्य की प्रतिमा का निर्माण किया। इस अनन्त रूप-रंगमयी प्रकृति के असंख्य रूपों का चित्रण कर उसने जन-संकुल नागरिक-जीवन की संकीर्णता में खोये हुए मनुष्य के हृदय को उबारकर, उसके सम्मुख दिगन्त-विस्तृत जीवन-प्रांगण खोल दिया, जिसमें उन्मुक्त साँस लेकर वह नवीन जीवन-प्रेरणा ग्रहण कर सके। निसर्ग से तादात्म्य स्थापित कर उसने सुख दुख की भावना को सीमित मनःस्थितियों की घुटन से मुक्त कर उसे चारों ओर प्राकृतिक व्यापारों में व्याप्त कर, मनुष्य को प्रकृति के और प्रकृति को मनुष्य के निःसीम, अनन्य स्नेहपाश में बाँध दिया। मध्ययुगीन जड़-प्रकृति छायावाद में सजीव तथा सचेतन होकर, अपनी महान् उपस्थिति से, इस संक्रान्ति-युग के संघर्ष-पीड़ित, आत्ममूढ़ मनुष्य को अजस्र सान्त्वना प्रदान करने लगी। इस प्रकार छायावाद ने अपना सौन्दर्य-बोध विगत-युगों के संचय-स्वरूप जीर्ण खलिहानों एवं भण्डारों से उधार न लेकर, उसे स्वयं नये रूप से प्रकृति के उर्वर आँगन में उगाया, और उसकी प्राणमयी सुनहली बालियों से अपनी नवमुग्धा काव्य-चेतना का शृंगार किया। शब्दों से नये अर्थ, अर्थों से नयी चेतना, चेतना से नया कला-बोध और कला-बोध से नयी सौन्दर्य-भंगिमा हृदय को स्पर्श कर नये रस का संचार करने लगी। रस, प्राचीन काव्यशास्त्रीय नीरस परिभाषाओं या व्याख्याओं की कूप-दृष्टि से मुक्त होकर, नवीन मूल्य-

साधना का विषय बन गया। इसीलिए छायावादी-काव्य जीर्ण अभिधा को पीछे छोड़कर अपने लाक्षणिक प्रयोगों, व्यंजनात्मक संकेतों तथा निगूढ़ ध्वनि-स्पर्शों से अपने शब्दों की मितव्ययिता एवं अर्थ और भाव-संयम द्वारा उस अमूर्त नये मूल्य को वाणी देने का प्रयत्न करने गा, जो विगत जीवन मान्यताओं को अतिक्रम कर, युग मानव की चेतना में उदय हो रहा था। रूप सौन्दर्य से अधिक भाव-सौन्दर्य को अभिव्यक्ति देने के कारण उसमें नये प्रतीकों, बिम्बों एवं अप्रस्तुत विधानों का प्राधान्य मिलता है। कला-पक्ष आगे चलकर छायावाद में—उदाहरणार्थ, निराला और मुझमें—इसलिए गौण हो गया कि नये यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए उसका सुन्दर शिव बन गया, जब तक वह केवल ऊर्ध्व अन्तः-सत्य को वाणी देता रहा वह मुख्यतः कला-पक्ष युक्त ही रहा, बहिःसत्य अथवा लोक-वास्तविकता की भूमि पर उसे कभी कला-नग्न दिगम्बर-शिव भी बन जाना पड़ा। इस कलावाद क पुनरुत्थान नयी कविता में हुआ जब वह फिर सत्य की अनुभूति अन्तर की उपचेतन गहराइयों में पाने की ओर मुड़ी। छायावाद ने भाषा को अकल्पनीय शक्ति प्रदान की। रीढ़ के बल रेंगनेवाली द्विवेदीयुगीन भाषा अभिव्यक्ति की अतुल क्षमता पाकर ऊर्ध्व-रीढ़ होकर ीवन के उच्चतम धरातलों पर भी उन्मुक्त विचरने लगी। छायावाद ने भाषा की भाव-शिराओं में नये जीवन-रक्त का संचार कर उसके रूप-विधान को अभिनव सशक्त सौन्दर्य भंगिमा एवं शब्दों को नव चेतन अर्थवत्ता प्रदान की। छायावाद वस्तुतः नवीन युग के काव्य का एक व्यापक संचरण था जिसे प्रगतिवादी तथा नयी कवितावादी भी अभिव्यक्ति देते रहे हैं। इसकी प्रेरणा के स्रोत के प्रति अविश्वास करने का कोई कारण नहीं। वह केवल नये मूल्य का बौद्धिक बोध ही नहीं, भावनात्मक, रागात्मक तथा चेतनात्मक अनुभूति भी रहा। आकार-प्रकार के विकास के लिए, चाहे वह कलात्मक हो या जीवन-प्रणाली-सम्बन्धी, परम्परा का बोध आवश्यक है, किन्तु उसे नयी अर्थवत्ता तथा आत्मा से अनुप्राणित करने के लिए अन्तश्चैतन्य सम्बन्धी नये मूल्य का बोध अनिवार्य है। जैसा मैं सम्भवतः पहिले भी कह चुका हूँ, छायावादी काव्य व्यक्तिनिष्ठ न होकर मूल्यनिष्ठ रहा है, उसमें व्यक्ति मूल्य का प्रतिनिधि रहा है और जैसे-जैसे मूल्य के प्रति दृष्टिकोण का विकास होता रहा, उसका व्यक्ति-तत्व भी विकसित होकर युग के सम्मुख एक अधिक व्यापक, आदर्शोन्मुखी तथा यथार्थ-आधृत जीवनदृष्टि उपस्थित करने की चेष्टा करता रहा। छायावादी आदर्श विगत युगों की एकदेशीय उदात्तता को अतिक्रम कर विश्वमुखी औदात्य से अनुप्राणित रहा है। उसकी यथार्थ-भावना ी परिणति प्रकृति के जीवयथार्थ से ऐतिहासिक-यथार्थ में हुई है।

छन्द की दृष्टि से श्रेष्ठतम छायावादी काव्य की सर्जना ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक छन्दों में हुई है, क्योंकि ह्रस्व-दीर्घ मात्रा-विधान ही में हिन्दी भाषा का स्वाभाविक उच्चारण संगीत अन्तःसंगठित मिलता है। निराला जी के अनेक प्रगीत, मुख्यतः 'गीतिका' और 'तुलसीदास' इसके सर्वोत्तम प्रमाण हैं। हिन्दी के मुक्त छन्दों में अधिकतर ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक ही छन्द पाया जाता है। निरालाजी ने भी ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक मुक्तछन्दों का

यथेष्ट प्रयोग किया है। यद्यपि उनके अधिकांश मुक्त-छन्द अक्षर-मात्रिक ही मिलते हैं, जो स्वाभाविक है। बंगाल में शिक्षा-दीक्षा होने के कारण उनके किशोर मन पर रावीन्द्रिक ह्रस्व-दीर्घ तथा बंगाल में प्रचलित अक्षर-मात्रिक छन्दों का अत्यधिक प्रभाव रहा है और किशोर मन के संस्कार कठिनाई से छूटते हैं। किन्तु सबसे बड़ी सार्थकता निरालाजी के अक्षर-मात्रिक छन्दों की यह है कि वह मुख्यत: शक्ति तथा ओज के कवि रहे हैं, और अक्षर-मात्रिक छन्दों का निर्वाह अपनी बँगला की पृष्ठभूमि तथा प्रेरणा की शक्तिमत्ता के कारण जितना अच्छा निरालाजी कर सके हैं, उतना और कवि नहीं कर पाये हैं। 'जूही की कली' आदि जैसी उनकी कुछ शृंगारिक कविताएँ भी अक्षर-मात्रिक में मिलती हैं। किन्तु उनकी सफलता भी बँगला की-सी सामासिक पद-योजना के कारण ही सम्भव हो सकी है। दिनकर, बच्चन, भारती, नरेश, गिरिजाकुमार आदि कवि अधिकतर ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक मुक्त-छन्द का ही प्रयोग करते हैं और नये कवि शमशेर, अज्ञेय, भवानीप्रसाद मिश्र, सर्वेश्वर आदि भी जहाँ वह लय-छन्द में लिखते हैं वह प्राय: ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक ही मुक्त-छन्द होता है। बहुत-सी आधुनिकतम कविता 'कला और बूढ़ा चाँद' की तरह छन्द-हीन भी रहती है। यह दूसरी बात है कि उसमें लय से भी परे एक स्वर-संगति तथा भाव-संगति मिलती है। निरालाजी को छोड़कर शेष छायावादी तथा उत्तर-छायावादी कवियों ने अक्षर-मात्रिक छन्द का नहीं के बराबर प्रयोग किया है। यह सब होते हुए भी संलापोचित नाटकीय काव्य, बौद्धिक काव्य, प्रवचन काव्य, ओज प्रधान काव्य तथा जिसे अंग्रेजी में लाउड थिंकिंग कहते हैं, उस सबके लिए अक्षर-मात्रिक छन्द सम्यक् रूप से प्रयुक्त हो सकता है और हो रहा है। मूल्यांकन की दृष्टि से मैं दोनों में ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक छन्द को ही, चाहे वह बद्ध हो या मुक्त, उच्च स्थान दूँगा, क्योंकि वह हिन्दी काव्य की संगीतात्मक-संवेदना के अधिक निकट है। साधारणत: छन्द-विधान में परिवर्तन, तथा अलंकार और चित्रभाषा आदि के सम्बन्ध में 'पल्लव' की भूमिका में मैंने जो विचार व्यक्त किये हैं, छायावाद की अभिव्यंजनावादी शैली के विषय में मैं अब भी उनकी उपयोगिता मानता हूँ। सूक्ष्म सम्प्रेषणीयता की दृष्टि से मैंने स्वरों को, जिन्हें अंग्रेजी में 'वॉवेल्स' कहते हैं, काव्य-संगीत का मूल-तन्तु माना है और व्यंजनों को भावाभिव्यक्ति के लिए केवल गौण रूप से सहायक मात्र बतलाया है। किन्तु अनेक आलोचक मेरे इस कथन का तात्पर्य ठीक रूप से नहीं ग्रहण कर सके और कुछ के अनुसार मेरे काव्य में कोमल-चित्रों का प्राधान्य और विराट् चित्रों का अभाव मेरे स्वर-संगीत सम्बन्धी इसी एकांगी दृष्टिकोण के कारण है। इससे उनके मन की काव्य-संगीत सम्बन्धी भ्रान्त-धारणा स्पष्ट हो जाती है। वे परुष और विराट् को एक ही वस्तु समझते हैं। व्यंजनों की सहायता से आप परुष-चित्र उपस्थित कर सकते हैं जिसके उदाहरण स्वरूप मैंने तुलसी मानस की पंक्ति 'घन घमण्ड नभ गरजत घोरा' दी भी है। किन्तु विराट् चित्रण व्यंजन-संगीत-प्रधान हो, इसका कुछ भी अर्थ नहीं हो सकता। 'कामायनी' में भी जहाँ विराट् चित्र आये हैं वहाँ विशेषत: व्यंजन-प्रधान संगीत नहीं मिलता। इसी प्रकार अलंकार सम्प्रदायवादी केशवदास की रामचन्द्रिका

में जहाँ युद्धादि के प्रभावोत्पादक वर्णन के लिए व्यंजनों की परुषावृत्ति से काम लिया गया है वहाँ भी कोई विराट चित्र उपस्थित नहीं होता। वास्तव में स्वर-संगीत से मेरा तात्पर्य दूसरा ही था। और वह हिन्दी ही नहीं किसी भी स्वर-व्यंजनप्रधान भाषा के लिए—उदाहरणार्थ अंग्रेजी के लिए भी—उतना ही सत्य सिद्ध होता है। मेरा अभिप्राय यह था कि जिस प्रकार पारद या पारा आयुर्वेदिक औषधि में या 'एलकॉहल' एलोपैथिक दवाओं में आधार के रूप मे कार्य कर औषधि के गुणों का संचार रक्त में शीघ्रता से कराने में सहायक होता है, उसी प्रकार स्वर भी छन्द-चरण के अन्तर्गत अभिव्यक्त भाव को प्रेषणीय बनाने में सहायक होते हैं। मैंने 'पल्लव' की भूमिका में इसके उदाहरण भी दिये थे। क्योंकि यह काव्य-संगीत सम्बन्धी, चाहे वह मुक्त काव्य हो या छन्दबद्ध, एक मूलगत प्रश्न है, यहाँ भी मैं दो एक हिन्दी अंग्रेजी के उद्धरण देकर उसे अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न करूँगा। 'गुंजन' में 'एक तारा' शीर्षक कविता के प्रथम दो चरण हैं—'नीरव सन्ध्या में प्रशान्त, डूबा है सारा ग्राम प्रान्त'—इस चरण मे आप अधिकतर दीर्घ स्वर और उसमें भी 'आ' का प्रसार अधिक पाते है—जिससे आपके आँखों के सामने सारे ग्राम प्रान्त में दूर तक फैली हुई सन्ध्या की द्वाभा का चित्र अवतरित हो उठता है। इसी प्रकार आप स्वर संगीत के प्रसार और संकोच का प्रभाव अंग्रेज़ी की कविता में भी देख सकते हैं। मैं टेनिसन के कुछ चरण यहाँ उद्धृत करता हूँ :—

Myriads of the rivulets hurrying through the lawns,
The moans of the doves in the immemorial elms
And the murmur of innumerable bees.

यहाँ कवि अपनी शिल्प-कुशल स्वर-योजना द्वारा अनेक शीघ्रगामी स्रोतों के बहने, फ़ाख्ताओं के बोलने तथा मधुमक्खियों के भिनभिनाने के जीवित चित्र उपस्थित करता है। उसी प्रकार :—

The long lights shake, across the lake,
And thinner, clearer, farther going.

इन पंक्तियों में भी तालाब में प्रकाश की लम्बी छायाओं के हिलने तथा दूर तक प्रतिच्छवित होने का प्रभाव स्वरों की योजना द्वारा ही चित्रित मिलता है। मेरा कहने का यह कभी भी तात्पर्य नहीं रहा कि व्यंजनों के बिना केवल स्वरों से ही काव्य-संगीत प्रभावोत्पादक एवं सम्प्रेषणीय बनाया जा सकता है। यह तो उतना ही घातक होगा जितना कि 'बसन्त कुसुमाकर' के स्थान पर कोई पारद का या 'मेटेटोन' आदि पौष्टिक टॉनिक्स के स्थान पर कोई केवल एलकॉहल का ही प्रयोग करके स्वास्थ्य लाभ करने की बात सोचे। अतएव जिस प्रकार छन्द में बँधने से भावना में शक्ति तथा तीव्रता एवं गहराई तथा घनत्व के आयाम उभरते है, उसी प्रकार स्वर संगीत की योजना से छन्द की प्रेषणीयता एवं संचरणशीलता की अभिवृद्धि होती है।

छायावादी अभिव्यंजना कल्पना-प्रधान इसलिए रही कि परम्परागत वस्तु-दृष्टि को अतिक्रम कर वह अपनी अमूर्त भाव दृष्टि द्वारा नयी वस्तु का रूप निर्माण करने की चेष्टा करती रही। वस्तु का या वस्तु-

जगत् का विगत रूप भी एक कल्पना पर ही आधारित था, सापेक्षवाद के अनुसार भी प्रत्येक वस्तु-रूप केवल कल्पना भर, या काल की घटना भर है, जो हमसे पूर्व परिचित या चिर-परिचित होने के कारण यथार्थ या तथ्य बन गया है। नये रूप, नये मूल्य से हम अपरिचित होने के कारण उसे केवल कल्पना के रूप में ही ग्रहण करते हैं। छायावाद में नये मूल्य ने अपनी सबसे अधिक सशक्त अभिव्यक्ति सौन्दर्य-बोध में पायी, इसलिए सौन्दर्य-बोध उस युग के काव्य की सबसे मौलिक तथा प्रमुख देन रही; उससे कम सबल अभिव्यक्ति उसने भाव-बोध में पायी, इसलिए उसका भाव-बोध भी अपने में नवीनता तथा ताजगी या सद्यता का आकर्षण लिये हुए है; वस्तु के रूप में छायावादी अभिव्यक्ति सबसे निर्बल इसलिए रही कि नयी वस्तु के रूप को पहचानने के लिए उसे अपनी आदर्शमुखी दृष्टि के लिए आधार-स्वरूप नयी ऐतिहासिक दृष्टि या यथार्थ की अनुभूति का स्पर्श प्राप्त करना था जो वह अपनी प्रगतिशील काव्य-विधा के अन्तर्गत ही धीरे-धीरे अंशत: प्राप्त कर सका, जिसके सम्बन्ध में हम आगे चलकर विचार करेंगे। संक्षेप में, हम छायावादी कलाबोध के लिए कह सकते हैं कि उस युग का नवीन काव्य संचरण जो कि एक नये जीवन-मूल्य की खोज में था वह अपने प्रथम उत्थान में हमें अपनी आदर्शोन्मुखी अभिव्यंजना शैली के अन्तर्गत उदात्त कल्पना-वैभव, मौलिक सौन्दर्य-बोध, अन्तर्मुखी प्रतीक-बिम्बविधान, वस्तु-जगत् का भावोन्मुखी सूक्ष्मीकरण तथा भाव-संवेदनों का वस्तून्मुखी स्थूली-करण, प्रकृति चित्रण तथा लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा शब्द-शक्ति की संप्रेषणी-यता सम्बन्धी समृद्धि, तथा नवीन छन्दों की उन्मुक्त स्वर-लय-झंकृति आदि अनेक रमणीय रसात्मक-तत्वों को लेकर अभूतपूर्व काव्य-ऐश्वर्य के साथ अवतरित हुआ।

जैसा मैं अन्यत्र भी संकेत कर चुका हूँ, छायावादी काव्य को कवि चतुष्टय तक सीमित कर देना मुझे विचार की दृष्टि से संगत नहीं प्रतीत होता। अभिव्यंजना शैली, भाव-सम्पद्, सौन्दर्यबोध तथा काव्य-वस्तु आदि की दृष्टि से उस युग के आगे-पीछे अन्य भी अनेक समृद्ध कवि हुए हैं, जो छायावाद के उद्भव तथा विकास में सहायक हुए है। उनमें से माखनलाल जी, मुकुटधर पाण्डेय, रामनरेश त्रिपाठी, नवीनजी, सियारामशरणजी, मोहनलाल महतो, उदयशंकर भट्ट, इलाचन्द्र जोशी, डा० रामकुमार वर्मा, जानकीवल्लभ शास्त्री आदि अनेक लब्धप्रतिष्ठ कवियों के नाम गिनाये जा सकते हैं। माखनलालजी की रचनाओं में राष्ट्रीय उद्बोधन के तेजस्वी गीत तथा सगुण-भक्ति परक एवं आध्यात्मिक स्वरों की प्रमुखता होने पर भी, अभिव्यक्ति, भाव-बोध तथा प्रकृति-स्पर्श की दृष्टि से वे छायावादी अभिव्यंजना शैली से पृथक् नहीं की जा सकतीं। भाषा की दृष्टि से उन्हें अनगढ छायावादी कहा जा सकता है, किन्तु काव्य-वस्तु की दृष्टि से उनमें रहस्य-भावना, सूक्ष्म अभिव्यंजना, प्रकृति का जीवन्त स्पर्श, हृदय का तारुण्य, सौन्दर्य-मूल्य की स्वीकृति आदि अनेक ऐसे तत्व हैं कि उनके काव्य को छायावादी काव्य से उस तरह पृथक् नहीं रखा जा सकता जिस तरह हम श्रीधर पाठक, गुप्तजी या हरिऔधजी के काव्य को रख सकते हैं। सगुण का प्रेम होने पर भी उनका निराकार के प्रति आकर्षण है और कुछ आलोचक उन्हें छायावाद के प्रवर्तकों में मानते हैं तो यह उपर्युक्त

धारणा को ही पुष्ट करता है। मुकुटधर पाण्डेयजी को शुक्लजी स्वयं ही छायावाद के सूत्रधारों में मान चुके हैं। उनके कुररी के स्वरों में तो विशेष रूप से छायावाद का आह्वान सुनायी पड़ता है। पण्डित रामनरेश त्रिपाठीजी का विशद प्रकृति-चित्रण तथा प्रणय-निवेदन और राष्ट्रप्रेम का द्वन्द्व भी छायावादी काव्य-वस्तु को ही प्रतिच्छवित करता है। उनके 'स्वप्न' तथा 'पथिक' नामक खण्ड-काव्यों की सौन्दर्य-भावना छायावादी तूली से ही अंकित हुई है। बालकृष्ण शर्मा नवीन के 'क्वासि' तथा 'अपलक' दार्शनिक भावबोध की दृष्टि से छायावाद के ही अन्तर्गत आते हैं। उनके प्रणय गीतों में भी छायावादी-चेतना का स्पर्श मिलता है। भाषा में मार्दव तथा निखार न होने पर भी, और वह द्विवेदी युग की भाषा के निकट होने पर भी, 'उड़ चला इस सान्ध्य नभ में मन विहग तज निज बसेरा, क्यों चला, किस दिशि चला, किसने उसे यों आज टेरा' जैसे अनेक काव्य चरण तथा प्रगीत अभिव्यक्ति की दृष्टि से छायावादी लाक्षणिक सौन्दर्य से मण्डित हैं। इन कवियों में भले ही राष्ट्रीय जागरण की चेतना प्रमुख रही हो — यद्यपि नवीनजी, रामनरेशजी, माखनलालजी—सभी मानव-भावनाओं और प्रेम के भी उतने ही सशक्त कवि हैं—उन भावनाओं में कहीं प्रेम का आधिपत्य है, तो कहीं प्रकृति, कहीं भक्ति तथा दर्शन का—किन्तु इस दृष्टि से छायावादी चतुष्टय के कवि भी राष्ट्रीय पुनर्जागरण तथा दार्शनिक विचारों के उद्घोषक रहे हैं। यदि वे विशेष रूप से छायावादी कहलाये तो यह केवल इसलिए कि उनमें काव्य-वस्तु तथा अभिव्यंजना-शैली अपना पूर्ण छायावादी उत्कर्ष प्राप्त कर सकी है। श्री सियारामशरणजी के 'पाथेय' तथा 'आर्द्रा' नामक काव्य-संग्रह, उदयशंकर भट्टजी के 'मानसी', 'विसर्जन', 'अमृत और विष' तथा 'यथार्थ और कल्पना', इलाचन्द्र जोशीजी की 'विजनवती' आदि काव्यों में छायावादी अभिव्यंजना तथा भावना का मुखर स्वर मिलता है। सियारामजी की भाषा में भले ही यत्र-तत्र उनके अग्रज गुप्तजी का शील हो, पर उनका भाव-बोध तथा काव्य-वस्तु निश्चय ही छायावादी युग की रही है। उनकी अभिव्यक्ति गुप्तजी से अधिक आधुनिक, संयमित, प्रौढ़ तथा उनकी कला अधिक सौन्दर्य-सशक्त रही है। डा० रामकुमार वर्मा के सम्बन्ध में तो कहना ही व्यर्थ है। उनके काव्य में सर्वाधिक कोमल छायावादी किशोर-भावना तथा रहस्य-कल्पना को अभिव्यक्ति मिली है। उनकी कल्पना-शीलता, रहस्य भावना का बोध, सौन्दर्य-दृष्टि, गीति-प्रियता आदि सभी गुण छायावादी काव्य को नवीन सृजन-उन्मेष का अतुल विभव प्रदान करते रहे हैं। उनकी प्रतिभा के तत्व—चाहे उन्होंने गीत लिखे हों या एकांकी—निःसन्देह रूप से छायावादी मूल्य-बोध से अनुप्राणित रहे हैं। उनके प्रगीतों का भावना-संयम, अभिव्यक्ति का निखार तथा संगीतात्मकता छायावादी काव्य की विशेष उपलब्धियों में रही है। 'एकलव्य' को मैं युग-बोध की दृष्टि से छायावादी अभिव्यंजना का एक श्रेष्ठतम महाकाव्य मानता हूँ। वह 'कामायनी' की तरह ऊर्ध्वमुखी ही नहीं है, जो उस युग की सहज दृष्टि रही है, उसमें समदिक् सामाजिक संघर्ष तथा वर्ण-व्यवस्था आदि की पृष्ठभूमि का मार्मिक चित्रण मिलता है। उसमें छायावादी युग की विद्रोह भावना को सशक्त अभिव्यक्ति मिली है।

कुछ लोग छायावाद युग को दो भागों में विभक्त करते हैं। अम्बरा और पेनम्बरा की तरह आप उसे छायावाद, उपछायावाद अथवा छायावाद का पूर्वार्द्ध अथवा उत्तरार्द्ध कह सकते हैं। जिस प्रकार सन् '२८ से '३० तक छायावाद के पूर्वार्द्ध को पूर्वोक्त कवि-चतुष्टय अनुप्रेरित या अनुशासित करते रहे, उसी प्रकार सन् '४२ के आसपास तक छायावाद के उत्तरार्द्ध को कुछ छायावादोत्तर कवि वाणी देते रहे, जिनमें बच्चन, नरेन्द्र, दिनकर, अंचल, भगवतीचरण वर्मा आदि प्रमुख रूप से सामने आते हैं। इस युग में छायावादी आदर्श-भावना यथार्थोन्मुखी स्वरूप ग्रहण करने का प्रयत्न कर रही थी। जिस प्रकार छायावाद के उद्भव-काल में कुछ संकीर्ण दृष्टि पूर्वाभ्यास-कुण्ठित आलोचकों की परिमित दृष्टि के कारण इस नये काव्य संचरण के मूल्यांकन के सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ फैलीं, उसी प्रकार इस उत्तरार्द्ध काल में भी हिन्दी आलोचकों में व्यापक दृष्टि के अभाव के कारण छायावाद की इस यथार्थोन्मुखता के प्रति अनेक प्रकार की भ्रान्त तथा मिथ्या धारणाओं का प्रचार हुआ। छायावादी चेतना के अवरोहण तथा विस्तार को आलोचकों ने छायावाद का पतन या विनाश कहकर अपनी सीमित युगान्ध दृष्टि का परिचय दिया। वास्तव में आधुनिक-युग संक्रान्ति का युग होने के कारण इसमें प्रत्येक दशक में एक ही युग के भीतर अनेक नये युग जन्म ले रहे से प्रतीत होते हैं, जो मूल-युग की केन्द्रीय धारणा को अपने मात्रा-जनित परिवर्तनों तथा नयी उपलब्धियों से और भी समृद्ध तथा सशक्त बनाने का प्रयत्न कर रहे थे। जिस युग को बिखराव का युग कहा जाता है वह वास्तव में हिन्दी काव्यधारा में एक नवीन संयोजन का युग था। जिस प्रकार विघटन नये विकास की पीठिका बनता है, उसी प्रकार छायावादी आदर्श भी— जिसे प्रथम प्रेरणा राष्ट्रीय, सांस्कृतिक, राजनीतिक पुनर्जागरण के अन्तर्गत श्री रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, महात्मा गांधी आदि के औपनिषदिक चैतन्य तथा देश की स्वतन्त्रता के आन्दोलन से मिली थी—अपने द्वितीय उत्थान में अपनी नये मूल्य की खोज के लिए एक नये सामाजिक यथार्थ का व्यापक धरातल चाहता था जिस पर वह अपने उच्च उदात्त आदर्श को प्रतिष्ठित कर सके। निश्चय ही, जिस पौराणिक नैतिक आदर्श के क्षितिज में द्विवेदी युग की काव्य-दृष्टि सीमित रही, छायावादी जीवन-आदर्श उसे अतिक्रम कर चुका था। द्विवेदीयुगीन आदर्श को स्थापित करने के लिए बनी-बनायी परम्परागत मर्यादाओं की पीठिका प्रस्तुत थी, उसमें युग अनुरूप पुनर्जागरण से प्रेरणा प्राप्त कर यत्र-तत्र छोटे-मोटे परिवर्तन भर कर देने थे, अथवा तुलसीमानस की भूमिका को 'साकेत' में परिणत भर कर देना था; किन्तु छायावादी गगनभेदी-आदर्श विगत-यथार्थ की पीठिका पर नहीं स्थापित किया जा सकता था, वह उसके विश्व-व्यापी सम्भार को नहीं सहन कर सकती थी। उसके लिए एक उतने ही व्यापक यथार्थ के आधार की आवश्यकता थी जिस पर एक नयी लोक-सामाजिकता एवं विश्व-मानवता प्रतिष्ठित की जा सके—जिसके छायावाद स्वप्न देखता आया था। वह वास्तव में छायावादी स्वप्न न होकर नये युग का स्वप्न था, जिसे रामकृष्ण परमहंस धर्म-समन्वय के रूप में, रवीन्द्रनाथ विश्व-बन्धुत्व के रूप में तथा गांधी अहिंसात्मक मानव-सत्य के रूप में अपने-

अपने क्षेत्रों में मूर्त करने का प्रयत्न कर रहे थे। रवीन्द्र की विश्व-बन्धुत्व की धारणा जिस मध्यवर्गीय, नृतत्व-शास्त्रीय सांस्कृतिक समन्वय की नींव पर आधारित थी वह छायावादी आदर्श-चेतना के लिए अपर्याप्त एवं अनुपयुक्त प्रमाणित हुई — इतनी तीव्र गति से युग-विकास का पट परिवर्तित होता जा रहा था। इसलिए छायावाद को अपने नये विश्व-मानव एवं लोक-मंगल के स्वप्न को सत्य बनाने के लिए उस ऐतिहासिक दृष्टि एवं सामूहिक यथार्थ की अनुभूति की आवश्यकता प्रतीत हुई जो मानव-जीवन की सामाजिक-वास्तविकता का रूप निर्धारित करती। निश्चय ही छायावादी चेतना व्यक्तिकेन्द्रिक न होकर मूल्य-केन्द्रिक थी और यह उसी का प्रमाण है कि उसने आदर्श की अनुभूति को बौद्धिक-चैतन्य की ऊँचाइयों, एवं मानव हृदय की भावनात्मक गहराइयों तक ही सीमित न रखकर उसे समदिक्-यथार्थ की व्यापकता में भी ग्रहण करना चाहा। यहाँ पर फिर दुहरा दूँ कि व्यक्ति-केन्द्रिक, पश्चिम का आधुनिकतम नया कवि और उससे प्रभावित नया हिन्दी कवि है, जो सामूहिक वास्तविकता की धारणा से सशंकित, त्रस्त तथा विभीत है और व्यक्तिमुखी-यथार्थ की विगत सभ्यता तथा संस्कृति के धरातल को विघटित होते हुए देखकर जो आज अनास्था, भय, संशय को वाणी देकर युगीन-ह्रास का गायक एवं परिचायक बन रहा है—इसका एक भावात्मक पक्ष भी है, जिसके बारे में आगे कह सकूँगा। छायावादी कवि व्यक्तिनिष्ठ नहीं था, इसलिए वह तुरन्त बिना किसी आनाकानी, भय, संशय के ही सामूहिक वास्तविकता की धारणा को अपना सका और उसे अपने युग की अनिवार्य माँग समझकर, उसे वाणी भी देने लगा, जिसे हम विस्तारपूर्वक आगे देख सकेंगे। नये यथार्थ के आयामों को स्पष्ट होने में समय लगा, उसके लिए चिन्तन, मनन तथा भावनात्मक-संघर्ष आवश्यक था, क्योंकि समस्त विकास काल-सापेक्ष होता है। नये मूल्य के इस यथार्थवादी आयाम के विकास-काल से पूर्व, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, बच्चन, नरेन्द्र, दिनकर आदि कवि उस यथार्थ का ऋण बोध युग की विघटित हो रही पृष्ठभूमि के सम्पर्क तथा आत्म-संघर्ष से प्राप्त करने की चेष्टा कर रहे थे। बच्चन केवल हाड़-मांस के व्यक्ति के भीतर जन्म ले रहे जीवन के जीव-यथार्थ को ही मुख्यतः वाणी दे सका, उसका व्यक्तिगत मांसल भावना-संघर्ष सामाजिक यथार्थ के स्पर्श से अछूता ही रहा। नरेन्द्र शर्मा, दिनकर, अंचल, भगवतीचरण वर्मा आदि कवियों ने सामाजिक-यथार्थ का स्पर्श प्रारम्भ में ऐतिहासिक दृष्टि से न पाकर केवल व्यक्तिगत जीवन संघर्ष द्वारा ही प्राप्त किया। इसलिए जिन वैयक्तिक-सामाजिक भावनाओं के सम्मिश्रण को ये अपने काव्य द्वारा अभिव्यक्ति दे रहे थे वह अधिकतर भावुकता, तर्क तथ वैयक्तिक नैराश्य, कुण्ठा, प्रेमजनित-असफलता आदि के ही कारण था और इस अनुपात में उनकी शैली भी यथार्थोन्मुखी, ठोस तथा जीवन-मांसल बन सकी; किन्तु उसमें एक स्तर सामाजिक-यथार्थ का भी अवश्य वर्तमान रहा। भले ही उस यथार्थ का संवेदन भाव-वाचक न होकर अधिकतर अभाववाचक ही रहा हो।

ऐतिहासिक यथार्थ एवं ऐतिहासिक वस्तून्मुखी अनुभूति की गतिशील पगध्वनि हिन्दी-काव्य में सम्भवतः सर्वप्रथम मेरी 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में सुनायी पड़ी, जिसे आलोचकों ने मार्क्सवाद का चर्वण कहकर

महत्व-योग्य नहीं समझा। 'युगवाणी' का बौद्धिक दृष्टिकोण 'ग्राम्या' में भावनात्मक मांसल-संवेदन से भी मण्डित हो सका। साथ ही अनेक प्रगतिशील कवियों ने अपनी वाणी द्वारा सामूहिक यथार्थ की पीठिका के पुनर्निर्माण की आवश्यकता का आग्रह सशक्त शब्दों में प्रकट किया। अनेक युग-प्रबुद्ध तथा तरुण कण्ठों से इस नवीन यथार्थवादी संचरण का उद्बोध सुनायी पड़ने लगा, जिनमें छायावादी चतुष्टय में निरालाजी के अतिरिक्त, जिनकी ऐतिहासिक दृष्टिजनित प्रगतिशीलता के लिए पहिले कहा जा चुका है, दिनकर, भगवती बाबू आदि में उसके अस्पष्ट स्वर तथा 'मिट्टी और फूल' के नरेन्द्र, किरणवेला' और 'करील' के अंचल, शिवमंगलसिंह सुमन आदि के बाद शमशेर, केदार, गिरिजाकुमार माथुर, नागार्जुन, मुक्तिबोध, भवानीप्रसाद, त्रिलोचन आदि अनेक नवयुवकों में स्पष्ट विद्रोह तथा क्रान्ति का ओजस्वी नाद मुखरित हो उठा। ऐतिहासिक दर्शन की दृष्टि ने इन कवियों का बोध उतना सुलझा, स्पष्ट तथा व्यापक न रहा हो, पर पूँजीवादी साम्राज्यवादी संस्कृति के विरुद्ध तथा जन-जीवन की विषमताओं, आर्थिक कठिनाइयों तथा वर्ग-संघर्ष के पक्ष में उन्होंने अनेक रूप से अपनी सशक्त सहानुभूति तथा संवेदना को सफल अभिव्यक्ति दी। किन्तु इन सभी कवियों की शैली छायावादी अभिव्यंजना से प्रभावित रही है, भले ही विषय के अनुरूप प्रतीक, बिम्ब-विधान तथा भाषा-संगीत आदि बदलकर अधिक यथार्थोन्मुखी हो गये हो। इस प्रकार हम देखते है कि उस युग के आकाश में यदि छायावाद के प्रथम उत्थान में संयोजित नये मूल्य के सूर्य का प्रसार-कामी प्रकाश छाया हुआ था तो नीचे की भूमि पर वैज्ञानिक सम्भावनाओं से अनुप्राणित जन-जीवन-संघर्ष का उच्छ्वसित, उद्वेलित, दिगन्तव्यापी, कराहता हुआ समुद्र फैला था, जो राजनीतिक दृष्टि से भले ही पूँजीवादी तथा साम्राज्यवादी अवरोध को मिटाने के लिए गरजता हो, और आर्थिक-दृष्टि से वैज्ञानिक उत्पादन और वितरण की शक्तियों में एक नवीन वैषम्य-शून्य सन्तुलन स्थापित करने की अदम्य आकांक्षा से संघर्ष-नद्ध हो, पर सांस्कृतिक दृष्टि से वह एक नवीन भू-मंगल-कामी मनुष्यत्व की धारणा एवं मूल्य को जन्म देने के लिए भी उद्बुद्ध तथा चिन्तन-रत था, और जैसा कि मैंने 'आधुनिक कवि' की भूमिका में लिखा है, इस ऐतिहासिक-यथार्थबोध के अभाव में छायावादी आदर्शोन्मुख ऊर्ध्वगामी संचरण केवल स्वप्नसंज्ञ अलंकृत संगीत भर बन गया था। नये मूल्य की खोज की दृष्टि से मैं प्रगतिवाद, प्रयोगवाद तथा नयी कविता को भी केवल छायावाद अथवा उस युग के नये काव्य संचरण की ही रूपान्तरित विधाएँ मानता हूँ, क्योंकि इनमें अभिव्यक्ति-जनित समानता तो पायी ही जाती है, इन सभी वादों में एक ऐसा केन्द्रीय अन्त:संयोजन एवं संगति भी मिलती है जो इन्हें एक ही मानव-मूल्य के विभिन्न आयामों के रूप में नवीन अर्थवत्ता तथा सार्थकता प्रदान कर, उस एक ही मूल्य के विविध पक्षों को हमारे सामने अभिन्न-एकता तथा परिपूर्णता में उपस्थित करती है।

जिस प्रकार छायावाद के प्रथम उत्थान में हमें जागरण युग की भावना तथा विचार-सम्बन्धी अनेक मध्ययुगीन रहस्यवादी प्रभाव काव्य-

वस्तु तथा अभिव्यंजना को धूमिल तथा अस्पष्ट बनाते हुए मिलते हैं, उसी प्रकार प्रगतिवाद के भीतर भी व्यापक ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव में अनेक व्यक्तिगत कुण्ठाएँ तथा पूर्व-ग्रह यथार्थ-बोध को आच्छादित करते हुए पाये जाते हैं। यदि छायावाद का आदर्शोन्मुखी संचरण यथार्थबोध के अभाव में अलंकृत संगीत बन गया था तो प्रगतिवादी संचरण जीवन-मूल्य के प्रति ऊर्ध्व-दृष्टि के अभाव में सतही यथार्थ के दलदल में फँसकर राजनीतिक नारेबाजी तथा दलबन्दी में डूब गया, और प्रगतिशील कवियों में वही अन्त तक जीवित रह सके, जिनके भीतर अपने व्यक्तित्व का बल था और थी नवीन जीवन-यथार्थ के प्रति गम्भीर आस्था। इनको भी प्रगतिशील आलोचकों ने अपनी बाह्यान्ध दृष्टि तथा परस्पर के मतभेद के कारण एक के बाद एक चुन-चुनकर प्रगतिवाद की परिधि से बाहर निकाल दिया। वह निश्चय ही प्रगतिवाद के लिए महत् संकट का क्षण था। संक्षेप में, हम यह कह सकते है कि अपने स्वस्थ विकासकामी रूप में प्रगतिवाद, दोनों अभिव्यक्ति तथा काव्य-वस्तु एवं मूल्य की दृष्टि से, छायावाद से ही समन्वित तथा संयोजित रहा— मै पहिले ही कह चुका हूँ कि नये काव्य-संचरण के प्रथम उत्थान के लिए मै अनिच्छापूर्वक छायावाद शब्द का उपयोग करने को बाध्य हूँ— अपने ह्रासोन्मुखी रूप में प्रगतिवाद जीवन के व्यापक आदर्श से वियुक्त होकर जीवित यथार्थ के बदले जड़ यथार्थ का प्रतीक बनकर मिट्टी में मिल गया। आदर्श को सदैव यथार्थ की आवश्यकता होती है और यथार्थ को आदर्श की। यथार्थ से विच्छिन्न आदर्श यदि दिक्‌पंगु है तो आदर्श से विच्छिन्न यथार्थ युगान्ध है। इस प्रकार जिस नये युग-बोध अथवा युग-मूल्य ने अपनी ऊर्ध्व दृष्टि का अर्थ खोजने के लिए छायावाद द्वारा नये मानव सौन्दर्य तथा नये मनुष्यत्व के आदर्श को जन्म दिया उसी ने उस आदर्श को धरती के जीवन में स्थापित करने के लिए प्रगतिवाद के रूप में ऐतिहासिक यथार्थ की प्राण-प्रतिष्ठा की, और दोनों संचरण अनेक प्रकार की भ्रान्तियों से पीडित रहे। इसलिए मुझे इस युग के सन्दर्भ में छायावाद तथा प्रगतिवाद एक दूसरे के बिना अधूरे तथा अर्थहीन लगते हैं।

उत्तर छायावादियों में दिनकर, नरेन्द्र, बच्चन आदि ऐसे कवि हुए जिन्होंने छायावादी सौन्दर्य चेतना को वैचित्र्य तथा बहुमुखी व्यक्तित्व प्रदान किया। बच्चन, मुख्यतः, व्यक्तिनिष्ठता तथा एकान्तिकता का कवि है, उसके भाव-मांसल गीतों के अतिरिक्त उसका ह्रस्व-दीर्घ-मात्रिक मुक्त-छन्द का बौद्धिक काव्य भी मूलतः व्यक्तिवादी ही है। यद्यपि कहीं-कहीं वह सामाजिक चेतना के अन्तर्गत जीवन के वैषम्य को भी चिन्तन-सशक्त वाणी देने का प्रयत्न करता है। उसकी भावना जिस प्रकार वैयक्तिक है उसकी बौद्धिकता भी उसी प्रकार उसके व्यक्तित्व की अहंता से आक्रान्त है। उसकी काव्य-शैली में भावानुरूप हिन्दी-उर्दू का मिश्रण तथा परम्परागत भाषा के मुहावरों का निखार होने पर भी उसमें छायावादी सौन्दर्य-बोध का पुट मिला हुआ है—'मिलन यामिनी' तथा 'प्रणय पत्रिका' की कला दृष्टि इसका प्रमाण है —यद्यपि उसकी भावना का स्तर उर्दू कविता की तरह बहिर्मुखी भावावेग से स्पृष्ट है। छायावाद अपने व्यापक सर्वात्म-

वादी या विश्वव्यापी दृष्टिकोण में जिस प्रकृति के जीव-व्यक्ति को भूल गया था बच्चन के काव्य ने उसके सुख-दुख की प्राणिक संवेदना को वाणी देकर छायावाद द्वारा उपेक्षित हृदय के कोने पर उस व्यक्तिगत, स्वच्छन्द भाव मुक्ति की प्रतिमा को स्थापित किया। संक्रान्ति युग से भाराक्रान्त होकर बच्चन का भी गीतप्रधान भावना-केन्द्र अब ग्रस्त-व्यस्त हो चुका है, उसकी बौद्धिक संवेदना उसकी भावना से अधिक व्यापक तथा सामाजिक है। उसके मुक्त, विचार-प्रधान काव्य में भाषा की तद्भव-संगीतात्मकता उसकी शैली की विशेषता बन गयी है। 'सिसिफ़स बरक्स हनुमान' में उसका व्यक्तित्व और भी प्रखर होकर सामने आता है।

दिनकर सामाजिक चेतना का कवि रहा है। उसकी ओजस्वी हुंकार में प्रभावोत्पादकता तथा गहराई से अधिक उसके उन्मुक्त व्यक्तित्व की ही छाप मिलती है। पर यह सब होने पर भी वह शक्ति का कवि है। निरालाजी में बौद्धिक अथवा दार्शनिक आस्था की शक्ति थी जो दिनकर में भावना के आवेश की शक्ति मिलती है। छायावादी लाक्षणिक शैली की भंगिमा से मुक्त होने के सचेतन प्रयास से तथा द्विवेदी युग की स्पष्टता एवं प्रसाद गुण के मोह में उसकी शब्द-योजना कहीं-कहीं सपाट तथा कला-संयम रहित हो जाती है, जिसका उदाहरण, उसके प्रगीतों से अधिक, उसके प्रबन्ध-काव्यों और विशेषकर 'उर्वशी' में मिलता है, जिसकी भाव-वस्तु अत्यन्त काव्यमयी होने पर भी अभिव्यक्ति उतनी विशिष्ट नहीं हो सकी है। नये कवियों को 'नील कुसुम' की स्नेहांजलि भेंट करने पर भी उसकी अभिव्यंजना छायावादी सौन्दर्य-चेतना के श्वेत-कमल पर ही आसीन है। युग चिन्तक तथा रसचेता होने पर भी वह भावावेश के क्षणों में कब विगत युग के मूल्यों का परशु उठाकर काव्य के मंच से ललकारने लगेगा—यह नहीं कहा जा सकता। दिनकर उत्तर-छायावादियों में प्रथम श्रेणी के कवि हैं। द्विवेदी युग की अभिधात्मक शैली के प्रति आकर्षण होने पर भी छायावादी सृजन-चेतना को उन्होंने अमूल्य तथा पुष्कल भेंट प्रदान की है। पूर्ण क्षणों की वाणी भी अभिधात्मक होती है और घिसी-पिटी भाषा भी, पर घिसीपिटी अभिधा सदैव ही काव्य नहीं होती। अन्तर्प्रादेशिक दृष्टि से तत्सम प्रधान भाषा की ही उपयोगिता है, प्रादेशिक हिन्दी का तद्भव बहुल होना एवं बोलियों का रंग लेकर उभरना स्वाभाविक है। नयी कविता में, व्यक्तिनिष्ठ होने के कारण, वैयक्तिक, आंचलिक-तत्व-प्रधान भाषा का प्रयोग अधिक मिलता है। यद्यपि नवलेखन का गद्य, विशेषत: समीक्षात्मक गद्य, भी छायावादी गद्य की तरह, तत्सम प्रधान ही होता है।

नरेन्द्र इस छायावादोत्तर बृहत्त्रयी के तीसरे सशक्त कवि रहे हैं, जिनकी काव्य-चेतना छायावाद तथा प्रगतिवाद की मध्यवर्तिनी रही है, और वे दोनों युग-संचरणों के उपकरणों को अपने काव्य में सँजो सके हैं। जिस मूल्य की खोज ने छायावादी कवि को प्रेरित किया उसी से नरेन्द्र की सृजन-चेतना ने भी प्रेरणा प्राप्त की। वैयक्तिक और सामाजिक तत्वों के युगीन-वैषम्यों में वह एक उच्च यथार्थोन्मुख-आदर्शवादी धरातल पर सन्तुलन स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। 'प्रवासी के गीत' से 'प्यासा निर्झर' तक उन्होंने काव्य-सम्बोधि तथा अभिव्यक्ति के अनेक सोपान

पार किये हैं। नरेन्द्र मुख्यत: प्रगीत-प्रतिभा के कवि हैं, उनके प्रगीतों में जो अंग्रेजी लिरिक की सी एक परिपूर्णता मिलती है वह हिन्दी के कम ही कवियों में दिखायी देती है। आदर्शोन्मुखी अभीप्सा के कवि होने पर भी उनके काव्य में सामाजिक-यथार्थ के संवेदन प्रचुर मात्रा में संग्रथित पाये जाते हैं। नरेन्द्र के प्रणय गीतों में पछाँही बोली का सुघर माधुर्य है तो उसके चिन्तन-प्रधान प्रगीतों में तत्सम संगीतात्मकता का परिष्कार है। नरेन्द्र के व्यक्तित्व में एक तीव्र विद्रोह का स्वर भी है, जिसने उसकी रचनाओं में भी सबल अभिव्यक्ति पायी है। उसके नैतिक दृष्टिबोध के कारण मैं उसे परिहास में आधुनिक युग का रहीम कहा करता हूँ। यदि हम उपर्युक्त बृहत्त्रयी को चतुष्टय में बदलना चाहें तो हम इसमें अंचल-जी का नाम भी जोड़ सकते हैं। नरेन्द्र की रूमानियत में सौन्दर्य तथा सुख-दुःख के संवेदन मिलते हैं तो अंचल में लालमा की तड़पन तथा आग। प्रणयाकुलता, मांसल-आवेग तथा शैली की स्वाभाविकता एवं पुष्कलता की दृष्टि से उन्हें हिन्दी का बायरन कहा जा सकता है, यद्यपि बायरन की शक्ति तथा व्यापकता के पक्ष का उनमें एकान्त अभाव रहा है। उन्होंने जीवन-यथार्थ को प्राणोच्छल रागात्मक संवेदन द्वारा ग्रहण किया है। प्रेम से, वर्ग नहीं, लोक-क्रान्ति, तथा क्रान्ति से आध्यात्मिक समन्वया-त्मक दृष्टि में विकास का एक सामान्य क्रम मिलते हुए भी उनकी शैली तथा शब्द-चयन में एकरसता दृष्टिगोचर होती है। फिर भी अंचलजी के पास कवि-दृष्टि रही है, वे कल्पना के राजकुमार हैं, और उन्होंने सौन्दर्य-चेतना का, लालसा-प्रतिमा नारी के रूप में, काव्य शृंगार किया है। छायावाद ने प्रेम के मूल्य को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया, जिसके कारण उसे अशरीरी-प्रेम या अशरीरी अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। जिन कवियों ने, बच्चनजी तथा अंचलजी की तरह, उसे मांसल अभि-व्यक्ति दी, वे आनेवाले सामाजिक-यथार्थ की भूमि से कटकर एवं छोटे से हाड़-मांस के यथार्थ के आँगन में क्रीडा कर, काव्यवस्तु की दृष्टि से केवल रीतिकालीन यथार्थ को ही नवीन कलात्मक अभिव्यक्ति दे सके हैं।

प्रगतिवादी कवियों में सामाजिक चेतना के आयाम अधिक ठोस तथा रंग अधिक गहरा होने पर भी अधिकतर काव्य तत्त्वों की परिक्षीणता के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। कहीं-कहीं युग-जीवन के वैषम्य को वाणी देने में प्रगतिवाद मात्र प्रचार काव्य बन गया। किन्तु नये मूल्य के इस संचरण में भी कुछ सशक्त कवि हुए जिन्होंने छायावादी चेतना की खेती मिट्टी के भीतर से उगाकर उसे यथार्थ के आयाम दिये। सामाजिक मूल्य छायावाद के भीतर भी अन्तर्हित था, पर सांस्कृतिक-मूल्य के रूप में। अपने नये प्रगतिशील संचरण में उसने उस सामाजिक-मूल्य को, जन-जीवन के भीतर प्रतिष्ट कर, उसे अन्तरिक्षों के सौन्दर्य के स्थान पर धरती की सुन्दरता की वास्तविकता प्रदान की। प्रगतिशील कवियों में 'सुमन' में जनवादी-आवेग तथा प्रभावोत्पादकता होने पर भी शाब्दि-कता अधिक मिलती है। मैं उसे शब्दाडम्बर नहीं कहूँगा, वह प्राय: मुक्त-छन्द में प्रवचन देने लगते हैं। बच्चन का कवि-सम्मेलनी रंग भावनात्मक तथा संगीतात्मक रहा तो 'सुमनजी' का प्रचारात्मक तथा आवेशात्मक। 'सुमनजी' में सामाजिक-यथार्थ के भीतर गहरी पैठ न होने

पर भी एक उन्मुक्त कला-भंगिमा मिलती है, जिससे उनकी वाणी मर्मस्पर्शी बन जाती है। मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर तथा नागार्जुन इस युग के सबसे प्रबुद्ध तथा सफल कवि हैं। मुक्तिबोध इन सब में युग-प्रबुद्ध रहे हैं, उनके पास ऊर्ध्व चिन्तन की दृष्टि भी थी और वह अनेक प्रगतिवादियों की तरह समतल-साधारणता के ही मरुस्थल में नहीं भटक गये। उनकी आस्था सांस्कृतिक तथा सौन्दर्यमूलक थी, जिससे उनकी यथार्थवादी दृष्टि में गहराई तथा ऊँचाई आ गयी है। मुक्तिबोध यथार्थ की पृष्ठभूमि पर आधारित अनेक सशक्त एवं जीवन्त प्रतीकों तथा बिम्बों द्वारा अपने भावनात्मक जीवन-आवेश को काव्यात्मक-अभिव्यक्ति देने में सफल हुए हैं। युग-वैषम्यों के आघात से उद्वेलित तथा जर्जर, अपनी भावना की तिक्त-कठोर प्रतिक्रिया को वे काव्य-वस्तु का रूप देकर, उसे प्रभावोत्पादक बना सके, जीवन-मूल्य के प्रति जो उनके पास एक सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि थी यह उसी के कारण सम्भव हुआ। वह अपराजेय क्रान्त-द्रष्टा कवि तथा विचारक थे। निरालाजी की क्रान्त-दृष्टि आत्म-शक्ति से अनुप्राणित थी, और मुक्तिबोध की नवीन-यथार्थ तथा ऐतिहासिक-यथार्थ के बोध से। एक में केवल झंझा का दुर्गम वेग था, दूसरे में निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ने की विवेकसम्मत क्षमता भी। फिर भी विवेक के सन्तुलन से अधिक उनमें भावना का ही आवेग था। जहाँ ऊर्ध्व और समतल मूल्य, आध्यात्मिक एवं सामाजिक मूल्य का संघर्ष उनके भीतर उपस्थित होता था उनका निर्णय सदैव समतल तथा सामाजिक मूल्य के पक्ष में होता था, यह नहीं कि वह उन दोनों में कोई अन्त:संगति भी देख पाते। मूल्य का ऊर्ध्व पक्ष उनकी दृष्टि से ओझल नहीं होता था, वह कहीं उनके मस्तिष्क के पीछे रहता था। और यह उनके लिए ठीक भी था, क्योंकि वह मुख्यत: सामूहिक-यथार्थ से अनुप्राणित थे, और बहुत सम्भव है विकसित शिखर-मूल्य की प्रतिष्ठा के लिए पहिले सामाजिक आधार को लोक-क्रान्ति द्वारा परिवर्तित होना पड़े, यद्यपि आज के युग में, जिस प्रकार विश्व शक्तियों का विभाजन हुआ है, आध्यात्मिक तथा भौतिक मूल्य के प्रति हमारी जीवन दृष्टि तथा मानस धारणा का युगपत् ही बदलना श्रेयस्कर है। यह जो भी हो, मुक्तिबोध में वैचारिक-शक्ति, विश्लेषण-बुद्धि तथा दार्शनिक चैतन्य प्राय: समस्त प्रगतिशील कवियों से अधिक विकसित रहे हैं। तरुण होने के कारण उनका काव्य मुख्यत: उच्च कोटि के आवेश का काव्य है, उसमें प्रौढ़ सन्तुलन की कमी है, पर क्रान्तिदर्शी काव्य की मूल शक्ति जीवन के प्रति समर्थ-आवेश ही में निहित रहती है।

गिरिजाकुमार का काव्यबोध इन कवियों में सबसे अधिक सूक्ष्म तथा विकसित रहा है। वह मुक्तिबोध की तरह लम्बी कूँचियाँ ही फेरने में शिल्प-कुशल नहीं है, रूप को निखारकर बारीकी, तथा रंग को हलकी-गहरी अनेक इन्द्रियबोध की छायाओं में उपस्थित करने में भी कलादक्ष हैं। माथुर केवल दृष्टि से यथार्थवादी है। संवेदना से वह व्यक्तिवादी ही है। छायावादी-अभिव्यंजना को उन्होंने अपने भाषा-संगीत के तारल्य में ढालकर नयी कविता के पास पहुँचाने का प्रयत्न किया है। गिरिजाकुमार जी कला-भावना के कवि है, कीट्स की सी सौन्दर्य-दृष्टि तथा शिल्प की

सूक्ष्मता लिये हुए। उनकी काव्य-वस्तु में ओजस्वी आह्वान या कल्पना की उड़ान न होकर, मर्मस्पर्शी भाव-संगीत तथा लय है। रूप-बोध में शक्ति न होकर सहृदयता तथा तन्मयता है। प्रगतिवादियों में सर्वाधिक कला-वैचित्र्य उन्हीं में मिलता है; छायावाद की सूक्ष्म चेतना को उन्होंने अपने रंग-बोध से—जो उनकी भावुकता के कारण है--अनेक भावमधुर चित्रों में उपस्थित किया है। इन सब कवियों मे वे छायावादी प्रेरणा के अधिक निकट हैं। नागार्जुन सहज-वृत्ति के कवि हैं। बौद्धिक दृष्टि से उन्होंने प्रगतिवादी विचारधारा को अपना लिया हो, किन्तु अपने भाव-बोध में तथा कला-शिल्प में वह प्रगतिशील के साथ ही प्रयोगशील कवि रहे हैं। उनकी शैली में लोक बोली के शब्दों का स्वाभाविक माधुर्य मिलता है; गिरिजाकुमार आदि की तरह कला-सौष्ठव की दृष्टि से वह लोक-भाषा के शब्दों का प्रयोग नही करते। वह उनके भीतर से स्वत: स्फूर्त होती है। गिरिजाकुमार की तरह वह नागरिक संवेदना के कवि न होकर लोक-जीवन की संवेदना के गायक है। इन कवियों ने --जो तार-सप्तक में भी संकलित है —छायावाद के प्रथम उत्थान की मानव तथा भाववादी प्रेरणा को सामाजिक यथार्थ का परिधान देकर उसे एक नवीन आयाम तथा जीवन-बोध से समृद्ध किया। छायावाद जिस जीवन-सौन्दर्य के ताजमहल को नये आदर्श के रूप मे स्वप्नमूर्त करने का प्रयत्न कर रहा था, उसे जीवन मे रूपायित करने के लिए अपने प्रगतिशील संचरण में उसने जैसे नये यथार्थ के संगमर्मर की खोज की कि वह वास्तविकता के धरातल पर उतरकर, नये जीवन-सत्य का रूप ग्रहण कर सके, और उसमे मिट्टी की सोंधी गन्ध मिल जाये। यदि हम केन्द्रीय-मूल्य की संगति में—जिसका प्रथम संचरण छायावाद था--प्रगतिवाद को पृथक् कर दें तो वह अपनी ऊर्ध्व-रीढ़ की वास्तविकता को भूलकर मिट्टी चाटनेवाले पहु श्वान की तरह धराशायी ही रहेगा।

जिस प्रकार छायावाद-युग के अनेक इतर कवि नये जीवन-मूल्य तथा सौन्दर्य-बोध के प्रति उद्बुद्ध नही थे, और अधिकाश उनमें से, विना किसी गम्भीर अन्त:प्रेरणा के, केवल छायावादी भाव-कोमल स्वप्निल, फेनिल, शब्द संगीत की पुनरावृत्ति अपनी रचनाओ मे करने लगे थे, जिससे नये भाव-सत्य के अमृत-स्पर्श के अभाव में केवल मृगतृष्णा की छलना ही पाठकों को मिलती रही, उसी प्रकार नवीन ऐतिहासिक वस्तुबोध तथा नये सामाजिक यथार्थ की दृष्टि के अभाव में अनेक अनुकरणशील कवि प्रगतिवाद के नाम में, कृषक-श्रमिकों के प्रतिनिधि बनकर, उनके कष्टमय जीवन के निर्जीव, काल्पनिक, अस्थिपंजर-चित्र, तथा दिखलावटी सहानु-भूति के रूप मे, व्यक्तिगत आक्रोश, दलगत वैमनस्य, आत्मगत कुण्ठा तथा नैराश्य को मुक्त छन्दों में प्रवाहित कर प्रगतिवादी कहलानेवाली कवित्वहीन, नीरस, सैकत-साधारणता के प्रति प्रयोगवादी कलात्मक विद्रोह-भावना को जगाने में सफल हुए।

इन दो दशकों के भीतर, हिन्दी काव्य में, बाहरी दृष्टि से जो तीन या चार युग बदले, इसके मुख्यत: सामाजिक, राजनीतिक तथा मनो-वैज्ञानिक भी कारण थे। प्रथम और द्वितीय विश्व-युद्धों के बीच वैज्ञानिक विकास तथा राजनीतिक उत्थान-पतनों के कारण जीवन-यथार्थ की

धारणा में प्रकारान्तर उपस्थित हो गया। एक ओर पूँजीवादी युग की देन-स्वरूप आर्थिक वैषम्य को मिटाने के लिए विश्व में सामूहिक-संघर्ष की भावना का उदय हुआ, दूसरी ओर साम्यवादी-शक्ति के प्रति प्रतिक्रिया के फलस्वरूप पश्चिमी देशों में आशंका, भय तथा सांस्कृतिक-मूल्य एवं वैयक्तिक-स्वातन्त्र्य के नाम पर एक नवीन मूल्यगत अस्तित्ववादी दृष्टिकोण तथा तद्जनित भाव संघर्ष ने जन्म लिया। कबीर के शब्द 'दो पाटन के बीच में कबिरा बचा न कोय' आज के युग के सम्बन्ध में भी चरितार्थ हो रहे हैं। हमारा युग भी दो विचारधाराओं के बोझ से पिस रहा है। एक विचारधारा व्यक्तिनिष्ठता तथा ह्रास की समर्थक है तो दूसरी लोकनिष्ठ प्रगति की पोषक है। किन्तु दोनों ही व्यापक ऊर्ध्वदृष्टि से हीन होने के कारण अपनी-अपनी सीमाओं में बँधी, समदिग् भँवर में घूमकर ध्वंस की पर्याय बनने जा रही हैं। छायावाद मुख्यतः भारतीय पुनर्जागरण के अन्तर्गत जीवन-मूल्य सम्बन्धी औपनिषदिक चैतन्य तथा औद्योगिक क्रान्ति के बाद १९वी सदी के यन्त्र-युग की आशा, आस्था तथा नवीन सौन्दर्य-दृष्टि से अनुप्राणित भाव-बोध को लेकर अवतीर्ण हुआ था और प्रगतिवाद सामूहिक जीवन-यथार्थ की शक्ति से प्रेरित होकर, तथा प्रयोगवाद सामाजिक यथार्थ की प्रतिक्रियास्वरूप एक नवीन व्यक्तिनिष्ठ-आस्था को लेकर अपने अति भावप्रवण तथा स्नायविक संवेदनपूर्ण कला-विधान के साथ हिन्दी काव्य के अन्तरिक्ष में प्रतिफलित हुआ— प्रतिफलित इसलिए, कि इसका उदय पश्चिमी देशों में हुआ था। इसके अन्तर्गत अनेक प्रगतिशील कवि भी प्रगतिवादी कविता के रुक्ष कला-बोध से असन्तुष्ट तथा युग-स्थितियों के विघटन के आघात से क्षुब्ध होकर आत्म-रक्षा के संस्कारों से प्रेरित, धीरे-धीरे, ह्रासयुगीन भावबोध की बहुमुखी दिशाओं का उद्घाटन करने की ओर अग्रसर हुए। इनमें से कुछ सामाजिक-यथार्थ से अनुप्राणित होने पर भी, कला-शिल्प तथा प्रतीक-बिम्ब-योजना की दृष्टि से नवीन प्रयोग करने की ओर लालायित हो उठे। इस प्रकार के कवियों की श्रेणी में शमशेर, अज्ञेय, गिरिजाकुमार, भारत भूषण, नेमिचन्द्र जैन आदि अनेक कवि आते हैं। प्रयोगवाद तक का कालखण्ड पार करने तक छायावादी आदर्श तथा प्रगतिवादी यथार्थ सम्बन्धी मूल्य-बोध युग-ह्रास तथा विघटन के घने कुहासे में ओझल हो चुका था। इसीलिए प्रयोगवादी काव्य आरम्भ में अनिवैयक्तिक स्नायु-संवेदनों का संवाहक, निश्चरित्र, उपचेतन प्राणिक-वृत्तियों से प्रेरित, केवल कला शिल्प के वेष्टनों में खोया, अचेतन के अपरूप प्रतीक-बिम्बों से भूषित, रिक्त अलंकरण मात्र बनकर सामने आया। उसमें भारतीय जागरण की चेतना का स्थान पश्चिमी ह्रास-विघटन के नैराश्य, मृत्यु-भय तथा अवसाद ने ले लिया तथा छायावादी औदात्य और प्रगतिवादी संगठित शक्ति का स्थान फ्रायड आदि जीवशास्त्रीय मनो-विश्लेषकों द्वारा पोषित एवं समर्थित, अधोमुखी-रागात्मकता ने ग्रहण कर लिया।

व्यष्टि तथा समष्टि एक ही सत्य के दो पक्ष हैं, पर प्रयोगवादी न स्वस्थ व्यक्ति-मूल्य को अपना सके, न समष्टि मूल्य को; क्योंकि पश्चिम के मरणोन्मुख सामाजिक यथार्थ की धारणा से प्रभावित, नये यथार्थ के विरोध में वह केवल ह्रास विघटन के अन्धकार की टोह को मूल्य, तथा

उसके चित्रण को शिल्प समझने लगे। इसीलिए सम्भवतः 'तार-सप्तक' के ही नहीं, अन्य भी अनेक प्रयोगवादियों में कोई एक मत, विचार या मूल्यगत-एकता नहीं रही। उनकी सामाजिक-संयोजन से वियुक्त, अति वैयक्तिक, उपचेतननिष्ठ अहंता की प्रतिक्रियाएँ ही, निश्चेतन की चित्र-कला के समान, अपरूप प्रतीकों तथा बिम्बों में मूर्त होकर, काव्यबोध के प्रति प्रचलित धारणा को विचलित तथा विक्षुब्ध करने लगीं। विशिष्टी-करण के मोह तथा साधारणीकरण के अभाव के कारण प्रयोगशील काव्य अधिकांश पाठकों के लिए दुर्बोध तथा प्रेषणीयता की दृष्टि से रिक्त ही रहा। किन्तु इस अपरूप कला में भी, मूल्य न सही, कैक्टाइ-जगत् का सा एक उपचेतन सौन्दर्य था, जिसका उपयोग विसंगति में एक व्यापक संगति खोजने तथा नैतिक सौन्दर्य-बोध की भावना को विस्तृत बनाने के लिए किया जा सकता है। नयी कविता तक पहुँचने तक प्रयोगवादी काव्य में एक नया संयम तथा सन्तुलन आ जाता है। उसके भाव-बोध में सूक्ष्म संस्कार, कला-शिल्प में सम्प्रेषण शक्ति, अति वैयक्तिकता में व्यक्ति-मूल्य के प्रति सशक्त-आस्था, तथा आत्मनिष्ठ-दृष्टि में अन्तः समर्पण की संगति के चिह्न प्रकट होने लगते हैं और उसकी भावना की अराजकता को बौद्धिक सवेदन का स्पर्श मिल जाता है। उसके मूर्धन्य तथा प्रसिद्ध कवियों से भी अधिक उसके कुछ सामान्य कवियों की महत्त्वपूर्ण देन हिन्दी काव्य के लिए अपना विशिष्ट मूल्य रखती है। यद्यपि छायावादी तथा प्रगतिवादियों की तरह नये कवियों में भी बहुत कम अपने कवि-धर्म के प्रति प्रबुद्ध तथा अनुभूति की सार्थकता के प्रति सच्चे हैं, किन्तु फिर भी अज्ञेय, नरेश, भारती, जगदीश गुप्त, कुँवर नारायण, सर्वेश्वर, कीर्ति चौधरी आदि अनेक नये कवियों का भाव-बोध तथा कला-दृष्टि मन को स्पर्श करती है। जैसे छायावादियों में भावनात्मक बुद्धि मिलती है, वैसे नये कवियों में एक नयी बौद्धिक-भावना का उदय हुआ है, जो अपने साथ एक नये कला-बोध को भी जन्म दे रही है। यद्यपि शमशेर की कलात्मक अन्तर्मुखी भावना के स्वप्न-वाष्प सुसंगठित आयामों में बँधना नहीं जानते, फिर भी उनमें एक सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध तथा भाव-बोध की विद्युत् यदाकदा कटाक्ष करती रहती है, जो हृदय को स्पर्श करने की शक्ति रखती है, यदि उसे कोई पकड़ पाये तो। नरेश के भाव चित्र अत्यन्त मौलिक तथा मार्मिक होते हैं। सौन्दर्य-बोध में उनकी पैठ या कहना चाहिए सूझ सूक्ष्म है, उनके शब्दों के भीतर कला की धड़कनें सुनायी देती हैं। छायावादी रूप-दृष्टि को उन्होंने नया संस्कार तथा वैचित्र्य दिया है। सर्वेश्वर नये कवियों में सर्वाधिक कला-बोध के पारखी हैं। अज्ञेय की प्रतिभा की क्षणप्रभा अधिक तीव्र है, पर कलादृष्टि तथा मूर्ति-विधायिनी क्षमता उनमें सर्वेश्वर की सी नहीं है। सर्वेश्वर जन्मजात, अकृत्रिम, सहज-प्रयत्न कवि हैं, अज्ञेय में अब भी कृत्रिम-प्रयास के चिह्न परिलक्षित होते हैं। पर आढ्यता, गहराई तथा ऊँचाई अज्ञेय में अधिक है। अपनी इधर की कृतियों 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये', 'अरी ओ करुणा प्रभामय', तथा 'आँगन के पार द्वार' में उनका काव्य-चैतन्य छायावादी चैतन्य के अत्यन्त निकट आ गया है। बल्कि छायावादी चैतन्यबोध को ही उन्होंने अनेक अन्य नये कवियों की तरह नयी कविता की शिल्पकला के

लिबास में प्रस्तुत किया है। स्तर उसका वही है, दृष्टि वैचित्र्य अज्ञेय का अपना है। भारती, अजित, कीर्ति, कुँवर नारायण आदि नये कवियों की कलात्मक तथा भावबोध-सम्बन्धी देन भी अपनी विशेषताएँ रखती हैं। 'सात गीत वर्ष' भारती के काव्योत्कर्ष के वर्ष हैं। 'अन्धायुग' में वह मूल्य की दृष्टि से छायावादी-प्रकाश-बोध को अन्धकार की चेतना के कला-शिल्प द्वारा प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं। 'कनुप्रिया' युगभावना के राग-सिन्धु में चन्द्रकला-सी तिरनेवाली प्रीति की स्वप्नतरी है। कुँवर नारायण का 'चक्र-व्यूह' शब्द-व्यूह होने पर भी उनके कला-संयम तथा भाव-संस्कार का द्योतक है। वास्तव में, नयी कविता का संचरण इतना बहुमुखी तथा व्यापक है कि आज अनेकों कला-कुशल नवयुवक कवि इस अंतर्मुखी यथार्थ की आर-पार-व्यापी अनुभूति के इंद्रधनुष को अपने अंतः-सूक्ष्म, भावश्लक्षण, शिल्प-सुघर रंगों की रत्नच्छायाओं से सौन्दर्य-भूषित करते आ रहे है। नयी कविता की कला में संयम, दृष्टि में आभिजात्य, सौकुमार्य, भाव-बोध में अन्तश्चेतना की सूक्ष्मता तथा प्राणिक महत्वा-कांक्षा का वैभव-शिल्प संग्रथित मिलता है। भावनात्मक संवेदन से इसमें बौद्धिक-सवेदन का अतीन्द्रिय-स्पर्श अधिक है। अपने अमूर्त भावबोध, सूक्ष्म कलाभंगिमा, अन्तर्मुखी अनुभूति आदि की श्लक्षणता के कारण, अमिश्रित साहित्यिक संचरण होने से, प्रयोगवाद एवं नयी कविता को आप छायावाद का भी छायावाद कह सकते हैं; जिस जीवन-यथार्थ के सामा-जिक-स्तर का बोध प्रगतिवाद ने अपने बहिर्मुखी उत्थान में दिया उसी के अन्तःप्रसरित सूक्ष्म पक्ष का प्रच्छन्न बोध व्यक्ति-चेतना के भीतर से नयी कविता दे रही है। उसकी सबसे महनीय देन यह है कि उसने सामूहिक साधारणता में खोये व्यक्ति-मूल्य के वैशिष्ट्य का तथा व्यक्तित्व के वैचित्र्य का पुनरुद्धार कर, उसे काव्य द्वारा नव प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। उसका सबसे बड़ा दुर्बल पक्ष यह है कि उसने पूँजीवादी विघटन काल के पश्चिमी जीवन के भय, संशय, मृत्युभीति तथा नैराश्य आदि तथा क्षण-लब्ध अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन, जो कि ह्रासयुगीन जिजी-विषा का दर्शन है, उसकी प्राणिक अथवा जैव-अहंता को ही मानव-आत्मा का सत्य मानकर तथा अपने निर्माणोन्मुख राष्ट्र की संवेदना की उपेक्षा कर, हिन्दी के प्रांगण पर आरोपित कर दिया। यद्यपि इसके पक्ष में यह कहा जा सकता है कि यह ह्रास का स्तर आज विश्वव्यापी है, पर फिर भी उसका भारतीय रूप इसमें अगोचर ही रहा है। जिस प्रकार प्रगतिवादी सामाजिक चेतना तत्कालीन साम्यवादी राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर उसका भारतीय संस्करण प्रस्तुत करने में असमर्थ रही, उसी प्रकार प्रयोगवादोत्तर हिन्दी नयी कविता सम्पन्न पूँजीवादी आर्थिक जीवन के ढाँचे में पनपे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य एवं फ्री वर्ल्ड की अतिरंजनाओं से प्रभावित होकर, भारतीय परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार वैयक्तिक-सामाजिक मूल्यों में संयोजन भरने में असफल रही। इसीलिए नयी कविता और नयी कविता की उपलब्धियाँ भारतीय जीवन चेतना को छूकर उसे लेशमात्र भी प्रभावित नहीं कर सकी और नयी कविता का एक बहुत बड़ा भाग विदेशी भाव-संवेदना की कोरी अनुकृति भर प्रतीत होने लगता है। किन्तु समर्थ कवियों में, जैसे अज्ञेय को लीजिए, यदि अस्तित्ववादी

नियतिवादी 'नदी के द्वीप' की धारणा उनमें मिलती है, जो ह्रासयुगीन स्वर है, तो 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' के अन्तर्गत 'सेतु' जैसी व्यापक जीवन-दृष्टि भी मिलती है जो मूल्य-बोध की दृष्टि से बिल्कुल ही छायावादी सर्वात्मवाद की भूमि की ही उपज है, भले ही उसका लिबास नयी कविता के असंगीतात्मक शिल्प का प्रतीक हो। 'सेतु' में अज्ञेय की 'दूर दूर दूर' दृष्टि कवीन्द्र के 'आमि सुदूरेर पियासी' के अतिरिक्त निराला की गीतिका की प्रथम कविता का स्मरण दिलाती है — हूँ दूर. सदा मैं दूर !'

बहुमुखी प्रतिभा तथा बौद्धिक क्षमता की दृष्टि से अज्ञेय प्रायः सभी नये कवियों से उच्च तथा महान् हैं, उनका संस्कृत कलाकार का व्यक्तित्व अपनी क्षमताओं तथा दुर्बलताओं में भी अपना विशिष्ट आकर्षण रखता है। वह प्रयोगवादी कविता के प्रवर्तक भी माने जाते हैं, यद्यपि शमशेर का भी इस दिशा में प्रारम्भ में उतना ही हाथ रहा है, और उसने अज्ञेय से भी पहिले प्रयोग करना शुरू कर दिया था, भले ही उसका विकास अज्ञेय की तरह सशक्त तथा सर्वतोमुखी न हो सका हो, और उसकी उपलब्धियाँ भी उतनी सफल तथा प्रभावशालिनी न बन सकी हों। अज्ञेय मौलिकता के प्रेमी एवं महत्वाकांक्षी होने के साथ ही युग अभिरुचि पर भी विशेष दृष्टि रखते है और बहुत-सी उनकी क्षमता नये के लोभ या मोह के कारण या तो नष्ट हो गयी है या उसका समुचित उपयोग नही किया जा सका है। मौलिक सृजन से भी अधिक उनकी प्रतिभा सम्पादन कर्म तथा संगठन नीति के लिए अधिक उपयुक्त है, यद्यपि यह देखकर आज दुःख होता है कि हमारे कुछ योग्य साहित्यकार पूंजीपतियों की पूंजी का काला उपयोग कर एवं पत्रकारिता के आधुनिक विकसित साधनों को हस्तगत कर, दूसरे देशों की विचारों-भावनाओ की लड़ाई अपने देश में लड़कर, अपनी अवसरवादी लक्ष्यहीनता का प्रमाण दे रहे हैं। ऐसे कला-प्रेमियों से सतर्क रहने की आवश्यकता है। जिस रागात्मक मूल्य को नयी कविता ने अपनाया वह केवल वैयक्तिक कूप-वृत्ति बनकर रह गया, क्योंकि नया रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सामाजिक जीवन के पुनर्निर्माण की आवश्यकता होती है, जिसकी ओर व्यक्तित्व की अहंता मे केन्द्रित नये कवि का ध्यान जाना सम्भव नहीं था।

वर्तमान ह्रास युग की परिस्थितियों में व्यक्तिनिष्ठता स्वार्थगरिष्ठ गुठली के ऊपर छुहारे की तरह सिकुडकर आज के मूर्धन्य नये कवियो की निर्मम सीमा बन गयी है, वह अपनी व्यक्तिनिष्ठता को व्यापक तथा मूल्यकेन्द्रिक न बना सकने के कारण अस्तित्ववादी, अवसरवादी तथा स्वार्थकेन्द्रिक होते जा रहे है। नये गीतिकारों में श्री शम्भुनाथ सिंह, केदारनाथ अग्रवाल आदि अनेक कवियों के नाम लिये जा सकते हैं, जिनके गीतों में नये हृदय की धड़कनें, नये भावों की स्फूर्ति तथा सक्रिय सौन्दर्य संवेदना की झलक स्पष्ट दिखायी देती है, रवीन्द्रनाथ की गीति-भावना जिससे अधिकतर वंचित रही।

यह सब होने पर भी यह कहना सम्भवतः असंगत न होगा कि नयी कविता में महान् कुछ भी नहीं है और अधिकांश इलियट तथा एजरा पाउण्ड के अनुगामियों को एक दिन पिकासो बने रह, चाहे उसने अगम्भीर

क्षण ही में कहा हूं, इस बात की आत्मस्वीकृति देनी पड़ेगी कि युग-जीवियों में महान् कला-सृष्टि के प्रति रुचि एवं आकर्षण न देखकर उन्होंने अपने युग-बोध से लाभ उठाकर, यश-लालसा से प्रेरित होकर, लोक रंजनार्थ, शाब्दिक रांगोली तथा भावुकता के बेल-बूटे काढ़कर, कला के निगूढ़-क्षेत्र में आत्म-प्रवंचना को मात्र अपने संगठन के बल पर प्रचारित किया। छन्द सम्बन्धी इनकी आभ्यन्तर-काल तथा अर्थ-लय की कल्पना मौन स्वर में संगीत-साधना से अधिक अर्थ नहीं रखती। सच्चा काव्य इस युग में मानव-चेतना को नयी दिशा प्रदान करने के प्रयत्न में है, जिसके बिना आर्थिक-समता, साम्यवाद तथा वैज्ञानिक-आविष्कार भी मानव-सभ्यता को प्रगति-पथ पर अग्रसर नहीं कर सकते। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय संकट इसका प्रमाण है। पूंजीवादी तथा साम्यवादी देशों में मानव-चैतन्य का गुणात्मक सार या तत्व एक ही है, उसका ऊर्ध्व-विकास अवरुद्ध हो गया है। विश्व सभ्यता के विकास में आज एक ऊर्ध्वमुख दारुण-संकट आ गया है। बहिर्मुखी साम्य-भावना में भी वैश्व-सन्तुलन स्थापित करने की शक्ति नहीं रही, रूस तथा चीन का प्रगति-संघर्ष इसका प्रमाण है। विज्ञान ने मनुष्य-समाज को, अप्रत्यक्ष रूप से, उसकी ऊर्ध्व-विकास की स्थिति के प्रति सचेत या सावधान कर दिया है।

छायावाद के साथ ही प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद आदि का विहंगावलोकन किये बिना छायावाद का अध्ययन संक्षिप्त के अतिरिक्त अधूरा ही रह जाता। छायावाद ने जिस आदर्शोन्मुख मानव-चैतन्य को प्रधानता दी, प्रगतिवाद ने जिस सामूहिक यथार्थ एवं सामाजिक वास्तविकता की ओर ध्यान आकर्षित किया, तथा नयी कविता ने जिस व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की प्रतिष्ठा तथा व्यक्ति-वैशिष्ट्य की अन्तर अनुभूतियों का निरूपण किया, ये तीनों मूल्य अपने में एकांगी, अपर्याप्त तथा युग-जीवन का सर्वांगीण चित्र उपस्थित करने में असमर्थ हैं, और स्वभावतः एक बड़े मूल्य के अंग हैं, जिसे युग-संक्रान्ति के परिणामस्वरूप एक बृहत्तर जीवन-व्यवस्था में प्रतिष्ठित होना है। यद्यपि यह सत्य है कि नयी कविता के मूर्धन्य कवियों का आग्रह अपनी कविता के अतिरिक्त अपने विचार-दर्शन में भी जिस व्यक्ति-मूल्य के प्रति रहा है वह केवल प्राणिशास्त्रीय, अहंतारूढ़ ह्रास युग का क्षणजीवी, आत्म-कुण्ठित व्यक्ति ही है, जो पश्चिमी देशों के सांस्कृतिक विघटन का भोगकामी प्रतिनिधि या पूंजीवादी देशों की तृप्ति-निर्मम अपच का प्रतीक, सहस्र शीर्ष, सहस्र बाहु लोक जीवन की प्रगति से सन्त्रस्त, आत्म-संरक्षण के प्रति सन्नद्ध, मनुष्यत्व से रिक्त, तीव्र आवेशों का अहेरी व्यक्ति है, जिसे विदेशी पूंजी में पलनेवाले स्वार्थ सिद्ध, अवसरवादी, प्रचार के बल पर प्रसिद्ध लेखकों ने भारत की काव्य भूमि पर ज्यों का त्यों रोप दिया है तथापि नयी कविता में कुछ सच्चे भावबोध से प्रेरित नये कवियों को सामने रखते हुए यदि हम उपर्युक्त काव्य संचरणों को एक दूसरे की तुलना में देखकर ही सन्तोष ग्रहण कर लेंगे—जैसा कि अब तक होता आया है—तो हम इन पर अन्याय करेंगे और एक दूसरे से टकराकर ये आहत तथा ध्वस्त भी हो जायेंगे। उदाहरणार्थ, यदि हम छायावाद को प्रगतिवाद की तुलना में अवास्तविक तथा अशरीरी कहें, और यह भूल जायें कि वह एक नये मूल्य या जीवन-स्वप्न का रूप

निर्माण करने का प्रयत्न करता रहा, और प्रगतिवाद के लिए कहें कि वह केवल आन्दोलित जन-समुद्र के किनारे राजनीति का झण्डा गाड़कर नारे लगाता रहा और उसके लोक यथार्थ सम्बन्धी पक्ष को भुला दें, या नयी कविता के लिए कहें कि वह ह्रासयुगीन अस्वस्थ प्रवृत्तियों की द्योतक है और उसमें भावबोध एवं तथ्य, कला-शिल्प-मोह की भूलभुलैयां में भटककर प्राण गँवा चुका है, तो यह केवल उनका एक ऋण-मूल्यांकन भर होगा। यदि हम इन्हें युग-जीवन के सन्दर्भ में सँजोकर इनकी समग्रता में देखने का प्रयत्न करें तो इन सबका एक धनपक्ष भी है। समग्र रूप में ये एक दूसरे के पूरक, बहिरन्तर जीवन-वैभव से सम्पन्न, तथा मानव-सभ्यता और संस्कृति के नवीन युग-संचरण का प्रतिनिधित्व करते हैं, एवं एक ऐसे विराट् भावी-मानव-मूल्य को अभिव्यक्ति देते प्रतीत होते हैं, जिसकी ये ऊँचाई, व्यापकता तथा गहराई के त्रिकोण आयाम के रूप में अपने अस्तित्व को सार्थक तथा अर्थवत्ता को चरितार्थ करते हैं। अतएव द्विवेदी युग के गोमुख से निकले समस्त आधुनिक काव्य को मैं एक ही संचरण मानता हूँ। वह वृहत्तम-मूल्य जिसे ये तीनों भाव-विधाएँ अभिव्यक्ति देती आयी हैं, क्या हो सकता है इसके बारे में अब हम कुछ कहने का प्रयत्न करेंगे।

निश्चय ही, मूल्य के बारे में कोई नपी-तुली या स्पष्ट धारणा बनाना या देना उतना सरल नहीं क्योंकि अभी नये जीवन का सांस्कृतिक संचरण धरती पर प्रतिष्ठित नहीं हो सका है और नाम-रूपों में जड़ीभूत विगत परिस्थितियों का जो निर्मम विरोध इस संक्रान्ति काल में विकास-कामी मानव-जीवन-मन के धरातलों पर मिलता है उसके कारण नवीन मूल्य अभी भावना तथा जीवन व्यवस्था के स्तर पर न उतर पाने के कारण, केवल उच्च बौद्धिक शिखरों तथा चैतन्य के आरोहों पर ही विकास के क्रम में अवस्थित है। फिर भी हम उसकी एक रूपरेखा देने का प्रयत्न करेंगे। यदि हम संक्षेप में विगत युग का मूल्यांकन करें तो हम उसे एक शब्द में ज्ञान का युग कह सकते है, अर्थात् उस युग का शिखर विकास ज्ञान में हुआ, और ज्ञान ने मानव एकता तथा चराचर की आध्यात्मिक एकता का अन्तर्बोध प्राप्त कर मानव-जीवन में व्यवस्था स्थापित करने के लिए धर्मों पर आश्रित आस्था, नैतिक आचरण, अथवा सदाचरण की मर्यादाएँ दीं। धर्म के मूल्यों का एक सीमा तक विकास हुआ और वे अनेक शतियों तक वस्तु-स्थितियों तथा सामाजिक-सम्बन्धों में मूर्त एवं प्रस्फुटित होकर मानव-जीवन का संचालन कर, निष्क्रिय तथा जड़ीभूत हो गये, या अपने को दुहराने लगे। मात्र ज्ञान पर अवलम्बित प्राचीन युग अब बीत चुका, नये युग का आरम्भ विज्ञान के विकास के साथ होता है, जिसने अपने प्रथम-वृत्त में मानव-जीवन की निष्क्रिय परिस्थितियों को नयी गति देकर पिछले आदर्शों तथा मान्यताओ के भीतर से ही नवीन जीवनसु-विधाओं को देने का प्रयत्न किया। उसने विगत आस्था विश्वास को विवेक-बुद्धि के प्रकाश में निरखा-परखा भी। विज्ञान का युग बीत रहा है। विगत युगों के आदर्शों के प्रकाश में, विज्ञान ने जो शक्ति मनुष्य को सौंप दी है, उसमे पुनर्सयोजन भर नयी जीवन व्यवस्था का निर्माण करना सम्भव नहीं हो सका है। इसीलिए वर्तमान युग मे विज्ञान के आविर्भाव

से पैदा हुए कठोर जीवन-वैषम्य के कारण समस्त विश्व की राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ निरन्तर आन्दोलित तथा उद्वेलित हो रही हैं। और दो विश्व युद्धों के बाद भी उनमें सन्तुलन स्थापित हो सकने की सम्भावना तो दूर, अब तीसरे अणुसंहार की सम्भावना मानव-सभ्यता को त्रस्त किये हुए है और संसार में आज इन विरोधी शक्तियों के संघर्ष के कारण ऐसा गतिरोध आ गया है कि जब तक मानव-चेतना को परिचालित करने वाला केन्द्रीय-मूल्य भी विकसित होकर न बदल जाये, विश्व-शान्ति तथा नवीन विश्व-जीवन-निर्माण की कोई सम्भावना प्रतीत नहीं होती।

साँप भी समय पर अपनी पुरानी केंचुल छोड़ देता है, पर मनुष्य भाव-जीवी होने के कारण विगत जीवन संस्कारों, तथा जीर्ण अनुपयोगी अभ्यासों से ऐसा चिपका रहता है कि अपने जीवन-मृत अतीत के प्रति विद्रोह तथा सर्वांगीण क्रान्ति कर आज मानवता के लिए नये जीवन के धरातल पर आरोहण करना अनिवार्य रूप से आवश्यक हो गया है। युग-बोध के अभाव में आज हममें मे अनेक ह्रास का अभ्यस्त बोझ ढोने में सुख का अनुभव कर नवीन चेतना तथा सामाजिकता के विरोध के लिए सन्नद्ध है। इसमें उनका दोष नहीं। वे इस संक्रान्ति युग के प्रकाश-क्षेत्र में न पड़कर उसके अन्ध छाया-क्षेत्र में पड़ गये हैं। मन के स्तर पर सामंजस्य की भावना से काम चल जाता हो, पर जीवन के क्षेत्र में वर्तमान मानव-विकास की स्थिति में संघर्ष अनिवार्य है। चाहे वह हिंसात्मक हो या अहिंसात्मक; केवल इस संघर्ष में हमें अपना लक्ष्य नही भूलना चाहिए। एक ऐसे युग में जब कि ज्ञान और विज्ञान को संयोजित होकर नये वैश्व विकास के युग में मानव जीवन एवं विश्व सांस्कृतिक तन्त्र को प्रतिष्ठित करना है, आधुनिक काव्य भारत में उदय हुआ जिसने विश्व-चेतना में अवतीर्ण हो रहे नये मूल्य का सूक्ष्म अन्तःस्पर्श प्राप्त कर उसके चेतनात्मक, भावात्मक तथा नये जीवन-बोध सम्बन्धी सौन्दर्य को वाणी देने का प्रयत्न किया। मध्ययुगों में जो बोध आत्मा की अन्तर्मुखी खोज तक सीमित रहा वह इस युग में विश्वात्मा के उद्घाटन के बहिरन्तरमुखी प्रयत्नों की ओर संलग्न है। इसी युग की भूमिका पर श्री रामकृष्ण परमहंस स्वानुभूति का सत्य तथा धर्म-समन्वय का सन्देश लेकर, विवेकानन्द पश्चिम की जीवन व्यवस्था तथा भारतीय दर्शन के समन्वय का सन्देश लेकर, स्वामी रामतीर्थ विश्वात्मा तथा मानव प्रेम का सन्देश लेकर, और श्री अरविन्द नवीन मानव-चैतन्य अथवा ऋत-सम्बोधि का संदेश लेकर भारत में उदय हुए और पश्चिम में डार्विन विकासवाद की दृष्टि लेकर, आइंस्टाइन सापेक्षवाद को लेकर, बर्गसाँ जीवनीशक्ति का बोध लेकर, कार्ल मार्क्स ऐतिहासिक भौतिकवाद को लेकर, फ्रॉयड रागतत्व अथवा प्राणवृत्ति के गम्भीर प्रभाव तथा उन्मुक्ति का जीव-मनोविज्ञान लेकर विश्व मंच पर प्रकट हुए और साथ ही अनेक आधुनिक दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक आदि। अतएव युग-प्रबुद्ध व्यक्तियों के भीतर मानव जाति के आध्यात्मिक, बौद्धिक, भाविक, प्राणिक तथा भौतिक क्रिया-कलाप को एक केन्द्रीय, समग्र-मूल्य के बहिरन्तर आयामों के रूप में पुनर्संयोजित, पुनर्व्यवस्थित, पुनर्निर्मित तथा रूपान्तरित करने की महत्वाकांक्षा का जन्म लेना इस युग

की महान् चेतनात्मक तथा भौतिक क्षमता के लिए एक स्वाभाविक परिणति मात्र बन गयी है। अब ज्ञान-विज्ञान का नये जीवन-मूल्य के रूप में संयोजन का युग आरम्भ होने को है, जिसे मैंने 'युगवाणी' में इस प्रकार कहा है—

दर्शन युग का अन्त, अन्त विज्ञानों का संघर्षण,
अब दर्शन-विज्ञान सत्य का करता नव्य निरूपण!

ज्ञान या सम्बोधि मानव-हृदय की ग्रन्थि खोलकर उसे सृष्टिगत द्वन्द्वों एवं विभेदों के प्रति अभेद-दृष्टि देकर युगों तक प्रतीक्षा करता रहा और ऊपर के बोध के धरातल पर ही वह जीवन-व्यवस्था के लिए समाधान भी प्रस्तुत कर सका। निखिल विश्व के रूप में व्याप्त यह जड़ जगत् एक महान् दुर्लंघ्य पर्वताकार अवरोध के रूप में उसके सामने खड़ा था —यहाँ तक कि आधुनिक दार्शनिक बर्गसाँ के चेतनासिन्धु में भी जड़ पदार्थ विशाल हिमपर्वतों (आइसबर्गों) के रूप में तैयार पाया जाता है। यद्यपि वह जड़ और चेतन के विभेद को बहुत हद तक हटाने में समर्थ हो सका है—किन्तु अन्तिम विजय विज्ञान को प्राप्त करनी थी और वह जड़ की ग्रन्थि को खोलने में सफल सिद्ध हुआ। नयी भौतिकी के सिद्धान्तों के अनुसार ही नहीं, अणु-परमाणु के विस्फोट से भी यह प्रत्यक्ष सिद्ध हो गया है कि जड़ केवल शक्ति तत्व का ही मूर्त-रूप है और वह शक्ति मनुष्य को उपलब्ध भी हो गयी है। जड़-शक्ति मानव-सभ्यता के विकास पथ की बाधा न होकर उसकी निर्मायिक बन सकती है, और भौतिक-शक्ति का प्रयोग मानव जीवन-व्यवस्था तथा विश्व-सभ्यता के रूप-निरूपण में रूपान्तर उपस्थित कर सकता है। प्रस्तर युग से जिस अजेय, अज्ञेय, जड़ जगत् का आधिपत्य मानव-चेतना पर रहा और जिसकी सीमाओं, परिस्थितियों, विभिन्न रूपों, जलवायुओं, दिशाकाल के मानों एवं कठोर इंगितों का शासन स्वीकार कर, मानव चेतना को अपने को व्यवस्थित, निरूपित, संयोजित एवं समर्पित करना पड़ा, आज सभ्यता के इतिहास ताथ विश्व-जीवन के विधान में विज्ञान ने एक दूसरा युग उपस्थित कर दिया है जिसमें मानव चेतना जड़ के किमाकार वक्ष:स्थल पर अधिकार प्राप्त कर अपने अन्त:सत्य के अनुरूप समस्त जड़-जगत् के ढाँचे को— अपने आर्थिक, राजनीतिक तन्त्रों, नैतिक नियमों, सामाजिक सम्बन्धों, रागात्मक मर्यादाओं, विभिन्न संस्कृतियों, समस्त सभ्यताओं तथा धर्मों के मूल्यों को नवीन विश्व जीवन के व्यापक पट में संयोजित कर सकेगी। प्राचीन चिर-परिचित परिस्थितियों में बद्ध, आदर्शों में सीमित, रहन-सहन की पद्धतियों में जड़ीभूत, पिटीपिटाई, रूढ़ि-जर्जर, बासी, विस्वाद जीवन-वस्तु नयी चैतन्य ज्योति, नये भाव संवेदन, नये सौन्दर्यबोध तथा नयी राग-सम्पद् की गरिमा से मण्डित हो जायेगी। पिछले युगों की खर्व मानवता को अतिक्रम कर एक नवीन भू-जीवन-प्रेमी, प्रज्ञादीप्त मनुष्यत्व इस पृथ्वी पर विचरण करने लगेगा। इन्हीं सत्य-सम्भावनाओं से अज्ञात रूप से प्रेरित होकर सूक्ष्म भविष्य-द्रष्टा भाव-प्रवण, मनीषी कवि, अपनी युग-जीवन की संक्रान्ति के आघातों से छिन्न हृत्तन्त्री पर, नये मूल्य की अस्फुट झंकारों को, नये सौन्दर्य-बोध के चपल निमेषों को, भाव-मुग्ध-विस्मय के स्वरों में अभिव्यक्ति देने लगा, और नये काव्य की भूमिका

का समारम्भ हुआ। मूल्य के नव चेतन ऊर्ध्व आयाम को उसने हिन्दी में छायावाद के प्रथम उत्थान में वाणी दी, उसके व्यापक नये यथार्थ को प्रगतिवाद द्वारा तथा मानव व्यक्तित्व की उपचेतन गहराइयों तथा व्यक्ति रुचि सम्बन्धी अवरोधों को उसने नयी कविता के माध्यम से प्रकट किया।

रवीन्द्रनाथ का युग बीत चुका था। वह अपने युग की परिस्थितियों के अनुरूप नये मूल्य का संयोजन यन्त्र-युग की मध्यवर्गीय सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि के आधार पर ही कर सके—नये लोक-यथार्थ ने उन्हें उतना आकर्षित नहीं किया था, उनका मनोविन्यास द्वितीय विश्वयुद्ध से पहिले का था, व्यापक से व्यापक समन्वय उनमें नृतत्व-शास्त्रीय परिधि के अन्तर्गत ही मिलता है। वैसे उनमें लोक-जीवन के प्रति मध्यवर्गीय सहानुभूति के स्वर प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। भारतीय दर्शन का उत्थान उन्हीं के युग से प्रारम्भ होता है, उन्हें नये मूल्य का वैश्व-स्पर्श भी मिल चुका था। पर मूल्य की बहिर्मुखी परिणति के लिए युग को प्रतीक्षा करनी थी। कबीर आदि मध्ययुगीन सन्तों के युग में नवीन मूल्य का अवतरण सम्भव न था। इन सन्तों को केवल चैतन्य-बोध प्राप्त हो सका था। मूल्य के अन्तर्गत केवल चैतन्य का ही प्रकाश नहीं, बुद्धि के शिखर, भावनाओं का वैभव, प्राणों की गतिशीलता तथा जीवन-व्यवस्था का रूप भी अन्तर्हित होता है। कबीर जिस ईश्वर या ब्रह्म या सत्य को समाज-व्यवस्था में बँधे जगत् के उस पार देखते थे—और सभी मध्य-युगीन सन्त ऐसा ही करते रहे—क्योंकि तब जैसे कि पहिले कहा जा चुका है—सामन्ती जीवन की परिस्थितियाँ एक सीमा तक विकसित होने के बाद निष्क्रिय तथा गतिशून्य हो गयी थीं और चैतन्य-तत्व का स्पर्श पाने के लिए उसे जीवन-मन तथा प्राणों के धरातलों से विच्छिन्न कर देना आवश्यक हो गया था। कबीर में समाज-सुधारक का रूप भी मिलता है; वे ब्राह्मण और मौलवी पर एक साथ प्रहार करते हैं; पर वे केवल अपने युग में व्याप्त धर्म तथा सामाजिक विसंगतियों के प्रति ही प्रबुद्ध थे। आध्यात्मिक मूल्य-साधना की दृष्टि से वे वैयक्तिक योग मार्ग के ही अनुयायी थे, और थे जन्म-मरण से मुक्ति के कामी—जो मध्ययुगीन शिखर मूल्य रहा है। जीवन का पूर्ण सत्य अथवा परम क्षमता केवल चैतन्य ही नहीं है, वह मन, प्राण, देह, जड़ सब कुछ है; और इन सबका सर्वांगीण संयोजन भी; भले ही वह अपनी विशिष्टता के कारण इस संयोजन तक ही सीमित न होकर उसका स्वामी भी हो। किन्तु जीवन के स्तर पर ऐसी अद्वैत-अनुभूति मध्ययुगों में सम्भव न थी, क्योंकि तब तक जड़ की ग्रन्थि नहीं खुली थी। अतएव कबीर आदि जिस तत्व का स्पर्श निवृत्ति के कृच्छ्र आत्माभिमुखी सोपान पर चढ़कर प्राप्त करते सके, छायावादी कवि उसे प्रवृत्तिमांसल स्वप्नदृष्टि-सौन्दर्य से विभूषित कर, इसी विश्व-जीवन के प्रांगण में मूर्तिमान अथवा साकार देखने का प्रयत्न करते रहे। यह मध्ययुगीन रहस्य-भावना नहीं—युग-सिद्धि की भावना, या प्रेरणा थी। ईश्वर, अव्यय, अक्षय तथा अनन्त है, ईश्वर को भू-जीवन में प्रतिष्ठित करने से मेरा यह अभिप्राय नहीं कि उसकी पूर्ण-क्षमता को ही नया युग-मूल्य अभिव्यक्त कर सकेगा, वह तो अपनी

शाश्वत क्षमताओं में प्रत्येक कल्प में नित्य नये रूपों में विकसित होगा, किन्तु नये मूल्य के नव-जीवन में प्रतिष्ठित हो जाने पर, हमारे ईश्वर बोध में भी एक प्रकारान्तर अवश्य उपस्थित हो जायेगा, हमारे भक्ति, ज्ञान, कर्म के मूल्यों का मौलिक रूपान्तर हो जायेगा और हम अद्वैत-मूल्य के घनिष्ट-सम्पर्क में जीवन का उपभोग कर सकेंगे—अर्थात् हम अपनी ईश्वरीय-एकता के इतने निकट आ जायेंगे कि हम सदैव उसमें जी सकेंगे। श्री अरविन्द नयी आस्था हैं, उनके दर्शन तथा उपनिषदों से मैं उसी प्रकार प्रभावित हूँ, जिस प्रकार कार्ल मार्क्स हीगल के डाइ-लेक्टिसिज्स या द्वन्द्ववाद से प्रभावित थे। मैंने सदियों से, शीर्षासन की मुद्रा में सिर के बल पर खड़े मध्ययुगीन अध्यात्म को पैरों के बल खड़ा करने का नम्र प्रयत्न किया है कि ईश्वर का घर बादलों के ऊपर उस पार न रहकर, इसी धरती पर बसाया जा सके। यहाँ पर अपने लिए 'मैं' का प्रयोग मैं एक सामान्य युगजीवी तथा युग प्रतिनिधि ही के रूप में कर रहा हूँ। अर्थात् मैं अध्यात्म को पैरों के बल खड़ा कर धरती पर मुक्त विचरने योग्य नहीं बना रहा हूँ बल्कि यह हमारा युग बना रहा है, जो इस नये युग का आग्रह तथा विशेषता है। इससे अध्यात्म गांधी जी की अहिंसा की तरह सामूहिक रूप से सक्रिय ही नहीं हो जायेगा, विज्ञान और अध्यात्म (धर्म) का मूल्यगत द्वन्द्व भी सदैव के लिए मिट जायेगा और भावी भू-जीवन निर्माण की पीठिका पर वे एक-दूसरे के पूरक तथा अभिन्न सहायक भी सिद्ध हो सकेंगे। मध्ययुग नाम की महिमा गाता रहा, सम्भव है, विश्वमूर्ति जब प्रस्तर की मूर्ति बन गये तब मूर्तिभंजकों के त्रास से नाम, रूप से अधिक महत्व पा गया हो। वर्तमान वैज्ञानिक-युग ईश्वर के नाम ही से सन्तुष्ट न होकर मानव जीवन-तन्त्र के रूप में ईश्वर के रूप को भी अभिव्यक्त करने में संलग्न है। इसलिए इस युग के काव्य तथा जीवन-दृष्टि के लिए सौन्दर्य-बोध एक अनिवार्य उपादान बन गया है। विज्ञान के प्रथम चरण से भयभीत होकर लोग कहते हैं कि कविता का युग बीत गया। पर सत्य यह है कि कविता, कला और संस्कृति का युग अब आनेवाला है। वैज्ञानिक उपलब्धियों द्वारा मानव जाति के भोजन-वस्त्र-गृह की समस्या का समाधान हो जाने पर कबीर के शब्दों में भोजन के बाद भजन ही के प्रति मानव-हृदय का आकर्षण बढ़ना स्वाभाविक है। छायावाद भविष्योन्मुखी रहा, क्योंकि उसने मूल्य का शिखर पकड़ा है, वैसे इस युग के सृजन-चिन्तन का ध्येय भी मनुष्य के अतीतोन्मुखी भाव तथा वस्तु-बोध को भविष्य की ओर अग्रसर करना ही रहा है, जिससे वह नव जीवन निर्माण की चेतना के सम्पर्क में आ सके और भीतरी अवरोध क्षय हो सकें। सम्भव है जो नया मूल्य मानव की अन्तश्चेतना में अवतीर्ण हो चुका है उसकी परिणति मानव जाति के जीवन में सौ-दो सौ साल बाद हो और विगत अभ्यासों तथा रीति मर्यादाओं में पथराई हुई मानव चेतना को नया रूप ग्रहण करने के पूर्व अनेक संघर्ष, संग्राम आदि करने पड़ें। सापेक्षवाद के अनुसार भी जो घटना एक दृष्टि से अभी घटित हो रही है वह किसी दूसरे दृष्टि बिन्दु से बहुत पूर्व घटित हो चुकी है और एक तीसरी ही दृष्टि बिन्दु से वह भविष्य में घटित होगी। इसे समझना कठिन नहीं। उदाहरण

के लिए, हम कह सकते हैं कि भारतीय संविधान में भारत की राज-भाषा के रूप में हिन्दी १५ वर्ष पहिले ही प्रतिष्ठित हो चुकी है जब इसके लिए निर्णय लिया जा चुका था, किन्तु दूसरी दृष्टि से वह निर्णय २६ जनवरी '६५ को चरितार्थ हुआ और एक तीसरी व्यावहारिक दृष्टि से वह न जाने आगे कब सम्पन्न हो सकेगा, यह अहिन्दी प्रान्तों के सहयोग, शासकों तथा देश के बौद्धिकों तथा अभिभावकों की क्रियाशीलता तथा कर्म-कुशलता पर निर्भर करेगा। इसी प्रकार जिस नवीन मूल्य के उदय की बात मै कह रहा हूँ वह भविष्य में देश-काल सम्बन्धी विभिन्न जटिल परिस्थितियों के संयोजन तथा उन्नयन की सहायता से ही जीवन-मूर्त हो सकेगा। किन्तु समस्त विश्व-साहित्य में आज उसके ऋण या धन संवेदन राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक तथा रागात्मक विचारों, भावनाओं, दर्शनों, क्रिया-कलापों तथा सौन्दर्य-कला-बोध के रूप में अभिव्यक्ति पाने लगे हैं। हम इस युग के विश्व-संकट तथा सांस्कृतिक एवं कलात्मक क्रान्ति के लिए कोई सन्तोषप्रद कारण नहीं प्रस्तुत कर सकते जब तक कि हम मानव-चेतना तथा सभ्यता की नयी दिशा की ओर सर्वांगीण विकास के उच्च लक्ष्य के प्रति प्रबुद्ध न हों। इस महान् नवीन मूल्य-संचरण ने जहाँ एक ओर नये भू-स्वर्ग के निर्माण की सम्भावनाओं को जन्म दिया है वहाँ दूसरी ओर विश्व-विध्वंसक आणविक-अस्त्रों के रूप में, भयंकर मानव-आक्रोश को भी मूर्तिमान किया है। निःसन्देह, यह विश्व-संकट का ऐतिहासिक युग है। हम जिसके धन-पक्ष के चारण हैं।

जिस नये यथार्थ की बात मैं इन निबन्धों में कहता आया हूँ वह निश्चय ही बाह्य भौतिक यथार्थ न होकर बहिरन्तर जड़ चेतन समन्वित व्यापक जीवन-यथार्थ की भावना है और जिस ऐतिहासिक अनुभूति की चर्चा मैं निरन्तर करता आया हूँ वह भी मात्र ऐतिहासिक भौतिकवाद न होकर आधुनिक वैज्ञानिक तथा दार्शनिक चेतना के अन्तःसंयोजन पर आधारित है, जिसने मनुष्य को आज एक नवीन मानवएकता की अनुभूति दी है, जो केवल आध्यात्मिक ही नहीं बल्कि जिसे वह लोक जीवन के धरातल पर भी चरितार्थ कर सकता है। विगत युगों की परम्पराओं एवं मान्यताओं में जो इस वैश्व विकास के युग में नया बौद्धिक, मानसिक, नैतिक, भाविक, प्राणिक तथा सौन्दर्य सम्बन्धी रूपान्तर हो रहा है उसी सबको मैं ऐतिहासिक अनुभूति कहता हूँ जिसमें एक ओर देश काल के भेद सिमटकर विज्ञान के करामलकवत् हो रहे हैं, दूसरी ओर गत मनुष्यत्व की धारणा नयी चेतना में परिणत होकर व्यापक, विकसित, एवं ऊर्ध्व सौन्दर्य से मण्डित होने की प्रतीक्षा कर रही है।

नये मूल्य को स्वीकार कर मानव जीवन के सभी क्षेत्रों में उसे प्रतिष्ठित करने के लिए इस युग के इतिहास को निरन्तर उद्बुद्ध तथा रचना-कर्म निरत रहना पड़ेगा, जिसमें सृजन-कर्म का प्रमुख स्थान होगा, क्योंकि वह सांस्कृतिक-मूल्य का वाहक होगा। उदाहरणार्थ, हमें जाति, पाँति, धर्म, सम्प्रदाय, देश-काल आदि में खण्डित सभ्यताओं तथा संस्कृतियों को एक व्यापक मानव संस्कृति में परिणत करना होगा। खण्ड युगों के मूल्यों को नवीन मनुष्यत्व के मूल्य में विकसित करना होगा। इस

युग की लोक-साम्य तथा विश्व-ऐक्य की धारणाओं में तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सामूहिक-संगठन की मर्यादा में एक-दूसरे के पूरक के रूप में, महत् संयोजन स्थापित करना होगा। मनुष्य को जीवन-विकास की शक्तियों का प्रतिनिधित्व ग्रहण कर और भी अनेक लोकमंगल एवं विश्वशान्ति के अवरोधक दृष्टिकोणों, मान्यताओं, परम्पराओं, संगठनों, सम्प्रदायों पर विजय प्राप्त कर, मानव सभ्यता के यान को आगे बढ़ाना होगा। संक्रान्ति युग के भय-संशय तथा अवसाद के अन्धकार को चीरकर नये मूल्य के प्रकाश में नव-भू-जीवन-निर्माण की एक नवीन अपराजेय आस्था का वरण करना होगा। पर, सृजनचेतना तथा नयी काव्यानुभूति के लिए अनिवार्य, जिस पक्ष के अनेक सूक्ष्म-जटिल स्तरों का विश्लेषण-संश्लेषण कर भावी द्रष्टा तथा नव युग-स्रष्टा कवि को मानवजीवन में स्थापित करना है वह है रागात्मक मूल्य, जिसके परिष्कार, उन्नयन तथा व्यापक-बोध के अभाव में मानव-सभ्यता तथा संस्कृति का रूपान्तर होना असम्भव है, और इस गुह्यतम, सूक्ष्मतम तत्व को आधुनिक कवियों को अपनी तिग्म-अनुभूति, मानवीय-संवेदना तथा स्वस्थ-सौन्दर्य-बोध द्वारा अभिव्यक्ति देकर उसे विश्व-प्राणों के विराट् अधखिले रक्ताभ शतदल पर स्थापित करना है। जैसा कि मैंने 'लोकायतन' में भी कहा है कि मनुष्य को ईश्वर-प्राप्ति के लिए आत्मशुद्धि की आवश्यकता नहीं, ईश-बोध की दृष्टि से तो वह स्वतः शुद्ध तथा सम्पूर्ण शुद्ध है। मनुष्य को आत्मशुद्धि करनी है मनुष्य के सम्बन्ध मं, जिससे मनुष्य से मनुष्य का रागात्मक सम्बन्ध उन्नीत, विकसित तथा अन्तःशुद्ध होकर प्रेम का सम्बन्ध बन सके; वह भेद-बुद्धि के पंकिल विकारों से मुक्त होकर एक व्यापक मनुष्यत्व की भावना का पूर्ण संयोजित अंग बन सके। नयी रागात्मकता के अन्तर्गत देह-मूल्य को स्त्री-पुरुष सम्बन्धी नवीन सामाजिक भाव-मूल्य में विकसित होना है, जिससे नारी केवल देहबोध की इकाई न रहकर, विकसित सौन्दर्य-बोध की इकाई बन सके। दूसरे शब्दों में, एक स्त्री-पुरुष सम्बन्धी सदाचार के अन्तर्गत काम-मूल्य का उन्नीत सामाजिक प्रेम-मूल्य में रूपान्तर होना है, जिससे सामन्ती राम-संस्कृति के ह्रास के युग में आज नारी गृहस्थ ही की कारा-सीमा में बद्ध न रहकर उन्नत सामाजिक स्तर पर मानव-प्रेम की मुक्त, प्राणप्रद, सौन्दर्य-सुरभित भावना का स्वस्थ उपभोग कर सके। मध्ययुगों की चिर विरहिणी राग-भावना को मानव-जीवन में अपनी चरितार्थता के लिए महाभाव से अवतीर्ण होकर विश्व के महा-जीवन में सामाजिक-स्तर पर, चिर संयोगिनी का आसन ग्रहण कर, नवीन प्राण-संवेदन के पद-नूपुरों की झंकार तथा नवीन भाव-सौन्दर्य के उन्मुक्त, अकलुष स्पर्श से स्त्री-पुरुष के राग-सम्बन्ध को एक नवीन अर्थ, प्रेम को एक नया मूल्य, देह-बोध को एक नवीन गरिमा तथा मानव-जीवन को एक नवीण सार्थकता प्रदान करनी है। जो तपःपूत राग-भावना अन्तर्मुखी ऊर्ध्वमुखी बनकर ज्ञान तथा भक्ति का रूप ग्रहण करती रही वह बहिर्मुखी भी होकर उदात्त मनुष्यत्व तथा समदिग् व्यापी जीवन का रूप ग्रहण कर मानव-प्रीति संग्रथित, विराट् सामाजिक सौष्ठव में साकार एवं पुष्पित पल्लवित हो सके। स्त्री-पुरुष के प्रेम के, नवीन सामाजिक मूल्य के रूप में विकास से, काम भी आध्यात्मिक धरातल पर उठ जायेगा अथवा

काम भी आध्यात्मिक मूल्य बन जायेगा, किन्तु वाममार्गी तान्त्रिक-पद्धति की गोपन साधना के रूप में न होकर, वह बृहत्तर सामाजिक-संस्कार, सौन्दर्य-संयम तथा सांस्कृतिक-मुक्ति के रूप में परिणत हो जायेगा। साथ ही प्राणिक आनन्द तथा शक्ति के समस्त स्तर लोक-रचना, सृजन-सौन्दर्य, तथा ऊर्ध्व-मूल्यों एवं अन्तस्तत्वों में विकसित हो सकेंगे। रागात्मक मूल्यों का स्पष्ट स्वरूप तथा उनका विकास नवीन मानवीय परिवेश के वातावरण, स्वभाव, रुचि आदि के चयन एवं परिष्कार तथा सर्वांगीण सांस्कृतिक विकास की बहिरन्तर संगति के परिप्रेक्ष्य ही में क्रमशः निर्धारित हो सकेगा। जिस प्रकार ज्ञान अर्ध-सत्य की उपलब्धि है, उसी प्रकार विज्ञान भी; इन दोनों के अन्तःसंयोजन (इण्टिग्रेशन) के साथ ही राग-भावना का पुनर्मूल्यांकन तथा मानव-प्रेम के संचरण की भू-जीवन में प्रतिष्ठा नये मूल्य के बाह्याभ्यन्तर साक्षात्कार के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है। और जैसा मैं पहिले भी कह चुका हूँ यह भले ही अत्यन्त जटिल तथा दीर्घ प्रक्रिया हो और इसकी कई स्थितियाँ तथा स्तर भी हों, एवं इसके भीतर अनेक अचेतन अन्ध-बिन्दु भी हों, पर विगत सामन्ती सामाजिक विधान में जडीभूत तथा पथरायी हुई राग-चेतना को नये मानव-विश्व को नये रूप से सौन्दर्य-प्रबुद्ध तथा शक्ति-प्रेरित करने के लिए, निश्चय ही, नये रूप में जीवन-सक्रिय होना है। विगत विश्व-जीवन के बहुमुखी नैतिक, सांस्कृतिक दृष्टिकोणों का उन्नयन तथा परम्पराओं का सार संचयन, उनका नवीन चेतना में रूपान्तर तथा जगत् जीवन से ईश्वर को विच्छिन्न न कर, उसी के भीतर से उसके अन्तर्हित सत्य तथा क्षमता का विकास करना नये मूल्य की उपलब्धि के लिए परम आवश्यक होगा। ईश्वर को न जानना अपने आंशिक-ज्ञान में जीवित रहना है। जिस प्रकार कोई श्रमिक हाथ-पाँव की पेशियों से ही काम कर सन्तुष्ट रहे, और मस्तिष्क का विकास करने की ओर ध्यान न दे उसी प्रकार अपने ईश्वरत्व के बोध के प्रति सुप्त मनुष्य भी केवल देह प्राण मन के धरातलों पर ही रहकर अपनी पूर्णतम अन्तःक्षमता तथा हृदय के असीम वैभव से वंचित रहता है, जहाँ ईश्वर निवास करते हैं।

नये मूल्य तथा नये सांस्कृतिक-वृत्त की संवेदना इतनी व्यापक तथा गम्भीर है कि आधुनिक काव्य पट में, विशेषतः छायावाद के अन्तर्गत, इतने कम पृष्ठों में उसके लिए न्याय कर सकना सम्भव नहीं। उसके अनेक पक्षों पर विस्तार से प्रकाश नहीं डाला जा सका हो, और यह व्याख्यान-माला छायावाद का एक बाहरी रेखाचित्र भी उपस्थित न कर सकी हो, किन्तु विषय की महानता तथा अपने स्वभाव की उतनी ही बडी सीमाओं के कारण जो कुछ भी बोध के संकेत-चिह्न मैं इन भाषणों में, इन पृष्ठों पर अंकित कर सका हूँ—यदि उनसे छायावाद के पुनर्मूल्यांकन में विद्वान् श्रोताओं एवं पाठकों को सहायता मिल सके तो वे इस युग के काव्य-बोध का सिन्धु-मन्थन कर, एक बृहद् ग्रन्थ के रूप में उसके भाव-रत्नों के आलोक-इंगितों का संचयन कर, आधुनिक समालोचना को समृद्ध कर सकते हैं, जिससे आधुनिक युग की काव्य-विधाओं, मूल्यों, भाव-तत्वों, संवेदनाओं, कला-शिल्प-भंगिमाओं तथा सौन्दर्य-बोध के वैविध्यपूर्ण

रागात्मक स्तरों एवं छायाग्रों का विस्तृत विवेचन तथा निरूपण हो सकेगा। अन्त में आपने जिस शान्ति तथा धैर्य के साथ निराला व्याख्यान-माला के अन्तर्गत मेरी छायावाद सम्बन्धी उद्भावनाओं को सुनने का कष्ट किया है, उसके लिए मैं पुनः हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। इति !

साठ वर्ष : एक रेखांकन

[प्रथम प्रकाशन-वर्ष : १९६९]

प्रकृति का अंचल

[सन् १९०७ से १९१८ तक]

जब स्मृति-पथ से मन को विगत की ओर ले जाता हूँ तो आँखों के सामने जैसे फूलों के किसी अम्लान स्तवक से अनेक रंग-गन्ध की पंखुड़ियाँ झरने लगती हैं—ऐसी प्रतीत होती हैं अब वे किशोर-जीवन की क्षण-मधुर घटनाएँ ! इन संक्षिप्त लेखों को ध्यान में रखते हुए यह कठिन हो जाता है कि उनमें से कौन-से रंग-गन्ध-मधु के क्षण चुने जायें, जिन्हें स्मृति अपने सुनहले आँचल में तब से संजोये हुए है। मेरा जन्म सन् १९०० में २० मई के दिन हुआ था। मेरी जन्म-भूमि कौसानी है, जिसे कूर्माचल की एक विशिष्ट सौन्दर्य-स्थली माना जाता है, जिसकी तुलना गांधीजी ने स्विट्जरलैण्ड से की है और जहाँ शरद् में ऐसा प्रतीत होता है कि देवताओं के उपभोग के लिए चिरन्तन सौन्दर्य निश्चय ही यहीं उगाया जाता है।

आँखें मूँदकर जब अपने किशोर-जीवन की छायावीथी में प्रवेश करता हूँ तो नीली प्लेटों से पटी, ढालू छत के पहाड़ी घर का चहार-दीवारी से घिरा छोटा-सा आँगन पलकों में नाचने लगता है। एक ओर पत्थर का पक्का चबूतरा, दूसरी ओर छोटा-सा मन्दिर है। चबूतरे पर बैठा मैं पढ़ता हूँ और कांस की ढेरी-सी गोरी बूढ़ी दादी की गोद में सिर रखकर, साँझ के समय, दन्तकथाएँ और देवी-देवताओं की आरती के गीत सुनता हूँ। बड़ी परिहास-प्रिय हैं मेरी दादी ! उनकी क्षीण दन्तहीन कण्ठध्वनि—'माई के मन्दिरवा में दीपक वारूँ' या 'हो रही जैजैकारी शिवा तेरे बाँके भवन में' पहाड़ी झुटपुटे में अब भी नींद लानेवाली झींगुर की झनकार-सी गूंज रही है। आँगन के उस छोटे-से मन्दिर में कोई प्रतिमा या मूर्ति नहीं है। बचपन का जिज्ञासा-भरा मन छोटे-से द्वार से बार-बार भीतर बैठकर धुँधलके में कुछ टटोलता हुआ-सा, घबराकर बाहर निकल आता है। एक ओर दो आड़ू के पेड़ हैं—एक मेरा, दूसरा मंझले भैया का। आड़ू की डालें हलकी ललछौहीं कलियों से लद जाती हैं और आँखें एकटक उनके फालसई आकाश में खो जाती हैं। चहार-दीवारी के बाहर हरे-भरे प्रसार और नीली रुपहली ऊँचाइयाँ हैं, जिनमें मेरा मन बहुत रमता है। बायीं ओर, लम्बे-चौड़े गहरे हरे रंग के मखमली कालीन-सी फैली, कत्यूर की जादू की घाटी है। सामने गेरुवी मिट्टी की पहाड़ी में कई टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डियाँ साँप की केंचुली-सी पडी कल्पना को भटकाती हैं। पहाडी के ऊपर कोपलों का मर्मर करता हुआ रंग-बिरंगा अन्तरिक्ष···बाँझ के वृक्षों की रुपहली वनानी और ऊँचे खम्भों पर खड़ा

चीड़ का वन है। अहाते के बाहर ही प्रहरी-सा ऊँचा देवदारु आसमान की ओर हरियाली का फव्वारा-सा फूट पड़ा है। इसकी शोभा-गरिमा का क्या कहना! यह घनी हरीतिमा का निरन्तर काँपता हुआ एक पर्वत-शिखर ही तो है। इसके पके फलों से जब पीली-पीली बुकनी झरकर हवा के आँचल को रँग देती है, तब तो मन त्योहार मनाने लगता है; एक अजब-सी खुशी नस-नस में दौड़ने लगती है। किन्तु इन सबसे ऊपर, बहुत ऊपर और बहुत ऊँचा 'स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः', स्वयं नगाधिराज देवात्मा हिमालय, अपने दूर दिगन्तव्यापी पंख फैलाये, महत् शुभ्र राज-मराल की तरह, निःसीम में निर्वाक् उड़ता हुआ-सा, दृष्टि को आश्चर्य-चकित तथा मन को आत्म-विस्मृत कर देता है। 'आत्मिका' नामक रचना में मैंने कौसानी का वर्णन इस प्रकार किया है :

हिमगिरि प्रान्तर था दिग हर्षित, प्रकृति क्रोड़ ऋतु शोभा कल्पित,
गन्ध गुँथी रेशमी वायु थी, मुक्त नील गिरि पंखों पर स्थित!
आरोही हिमगिरि चरणों पर रहा ग्राम वह मरकत मणि कण,
श्रद्धानत,—आरोहण के प्रति मुग्ध प्रकृति का आत्म समर्पण!

'कूर्मांचल' नामक मेरी दूसरी रचना में कौसानी की स्मृति इस प्रकार अंकित है :

छुटपन से विचरा हूँ मैं इन धूप-छाँह शिखरों पर
दूर, क्षितिज पर हिल्लोलित-सी दृश्यपटी पर निःस्वर
हलकी गहरी छायाओं के रेखांकित-से पर्वत
नील, बैंगनी, रक्त, पीत, हरिनाभ वर्ण श्री छहरा
मोहित अन्तर में भर देते आदिम विस्मय गहरा,
अन्तरिक्ष विस्फारित नयनों को अपलक रख तद्वत्!

प्रकृति के ऐसे मनोरम वातावरण में मेरा मन अपने-आप उस निर्निमेष नैसर्गिक शोभा में तन्मग्न रहना सीखकर एकान्त-प्रिय तथा आत्मस्थ हो गया। मेरे प्रबुद्ध होने से पहले ही प्राकृतिक सौन्दर्य की मौन रहस्य-भरी अनेकानेक मोहक तहें, अनजाने ही, एक के ऊपर एक, अपने अनन्त वैचित्र्य में, मेरे मन के भीतर जैसे जमा होती गयीं। अपने पिताजी के शान्त, उदार व्यक्तित्व का भी छुटपन में मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा। उनका उन्नत शरीर शंख के मन्दिर के समान गौर तथा पवित्र था। वह अपने निर्भीक, निश्छल चरित्र के कारण एक जीवित हिम-शिखर-से लगते थे। पिताजी के पास अनेक उच्चकोटि के साधु-सन्त आते रहते थे, जिनके लिए अज्ञात रूप से मेरे मन में कहीं गम्भीर स्थान रहा है। प्रकृति की उस शुभ्र निभृत अधित्यका में, मेरे किशोर-मन को पार्श्व-भूमि के सौन्दर्य के अतिरिक्त जिन धार्मिक तथा साहित्यिक प्रभावों ने छुआ उनमें एक प्रमुख प्रभाव मेरे बड़े भाई का भी है। मेरे भाई उच्च साहित्यिक रुचि रखते थे। वह अत्यन्त मुग्ध कण्ठ से 'मेघदूत' तथा 'शकुन्तला' के छन्द नयी भाभी को सुनाकर, मानो, उनमें प्रणय निवेदन करते थे। संस्कृत तथा अंग्रेजी साहित्य का उनका अच्छा अध्ययन था। हिन्दी तथा पहाड़ी बोली में कविता भी करते थे। संस्कृत के वृत्तों में उनकी कुमाउनी कविताएँ बड़ी मार्मिक होती थीं और 'अल्मोड़ा अखबार' नामक साप्ताहिक में भी पीछे प्रकाशित होती रहती थीं। भाई के पास 'सरस्वती'

पत्रिका तथा 'वेंकटेश्वर समाचार' पत्र आते थे। उनके पुस्तकालय में हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत तथा ब्रजभाषा के अनेक ग्रन्थ थे। मेरी बहन को भी साहित्य से स्वाभाविक अनुराग था। इसके अतिरिक्त घर में भागवत, गीता तथा रामायण का पाठ प्रायः नित्य हुआ करता था। मेरे फूफा अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंग से प्रातःकाल यजुर्वेद का पाठ कर-संचालन-पूर्वक किया करते थे। कभी-कभी फूफाजी की तरह हाथ नचाकर मैं वैदिक मन्त्रों की ध्वनियों की नकल उतारकर मित्र-मण्डली का मनोरंजन किया करता था। संगीत का प्रेम मेरे सभी भाई-बहनों तथा चचेरे भाइयों को रहा है। स्वर-ताल का ज्ञान मुझे छुटपन से ही था और भैरवी, काफी, भूपाली, खमाच आदि प्रमुख रागों को भी मैं तब पहचान लेता था। उत्सव और त्योहार घर में बड़े समारोह से मनाये जाते थे।

कौसानी में तब चाय का बगीचा था जिसमें झुण्ड-के-झुण्ड पहाड़ी युवक-युवतियाँ काम करते थे। सवेरे-शाम प्रायः उनकी टोलियाँ गाती हुई सँकरी पहाड़ी पगडण्डियों पर निकलती थीं। त्योहार के दिनों में रंगीन वस्त्रों में उनके नाच-गानों का दृश्य मनमोहक होता था।

ऐसे अवसरों पर वे अपने गीत-नृत्यों से पिताजी का अभिवादन करने आते थे और कभी-कभी स्वाँग भी रचते थे। इस प्रकार घर के वातावरण में भी मुझे प्राकृतिक वातावरण के समान ही एक मनोनुकूल संगति तथा लय मिलती रही है जिसने, सम्भवतः, मेरे भीतर उन संस्कारों का पोषण किया जो आगे चलकर मेरे कवि-जीवन में सहायक हुए। पिताजी धनी व्यक्ति समझे जाते थे, इसलिए अलमोड़ा, रानीखेत, नैनीताल आदि शहरों से घर में अतिथि-अभ्यागतों का बराबर आना-जाना लगा रहता था और घर के वातावरण में एक चहल-पहल रहती थी।

चौथी कक्षा तक मेरी शिक्षा कौसानी के वर्नाक्यूलर स्कूल में हुई। मेरे फुफेरे भाई वहाँ अध्यापक थे और मुझे गोद में लाते-ले जाते थे। मुझे सबसे पहले कापी में सन् १९०७ लिखने की याद है, और याद है स्कूल में अपने मधुर छन्दपाठ की जिसके लिए मुझे स्कूलों के इन्स्पेक्टर ने एक पुस्तक पुरस्कारस्वरूप दी थी। मुझे यह भी स्मरण आता है कि काली तख्ती पर बारीक मिट्टी बिछाकर मैं उसमें एक नवीन लिपि का आविष्कार करने की कोशिश करता था, जिससे मुझे पुस्तकों के ऊपर माथापच्ची न करनी पड़े और मैं अपनी ही भाषा में समस्त ज्ञान दे सकूँ।

मेरी माँ की मृत्यु मेरे जन्म के छः-सात घण्टे के भीतर ही हो गयी थी, पर कौसानी की गोद मुझे माँ की गोद से भी अधिक प्यारी रही है। 'आत्मिका' में मैंने लिखा है :

प्रकृति क्रोड़ में छिप, क्रीडाप्रिय, तृण तरु की बातें सुनता मन,
विहगों के पंखों पर करता पार नीलिमा के छाया वन।
रंगों के छींटों के नव दल गिरि क्षितिजों को रखते चित्रित,
नव मधु की फूलों की देही मुझे गोद भरती सुख विस्मृत!
कोयल आ, गाती, मेरा मन जाने कब उड़ जाता वन में,
षड् ऋतुओं की सुषमा अपलक तिरछी रहती उर दर्पण में—

ऋषियों की एकाग्र भूमि में मैं किशोर रह सका न चंचल,
उच्च प्रेरणाओं से अविरत आन्दोलित रहता अन्तस्तल !

प्राय: दस या ग्यारह साल की उम्र में मुझे जब गवर्नमेण्ट हाईस्कूल में शिक्षा प्राप्त करने अल्मोड़ा भेजा गया तो एक वर्ष तक मैं बड़ा उदास तथा अस्वस्थ रहा जैसे किसी ने वन के पंछी को पिंजरे में बन्द कर दिया हो। जाड़ों की लम्बी छुट्टियों में जब मैं फिर पिताजी के पास कौसानी जाता तो मुझे ऐसा प्रतीत होता जैसे मेरा हृदय फिर से अपनी खोयी हुई संगीत की लय में बँध गया हो। कौसानी मेरे लिए स्वप्नों की रजत हरित झील-सी थी जिससे वियुक्त होकर मेरे प्राण बालू में मछली की तरह छटपटाते रहते थे।

अल्मोड़ा के नागरिक वातावरण में मुझे अपनी ग्राम-जीवन की सीमित रुचियाँ तथा मनोविन्यास की कमियाँ खटकने लगीं। गाँव के छोटे-से घर से अल्मोड़े में पिताजी की विशाल सुन्दर अट्टालिका में रहने में एक विशेष प्रकार के गौरव का अनुभव होने लगा। प्रकृति के एकान्त सौन्दर्य के अभाव की पूर्ति धीरे-धीरे नगर के सुख-वैभव का जीवन करने लगा। सबसे पहले मेरा ध्यान अपने नाम पर गया। कौसानी की पाठशाला में मेरा नाम गुसाईंदत्त था। पिताजी ने माँ की मृत्यु के बाद मुझे एक गोस्वामीजी को सौंप दिया था, जिसके कारण मुझे भी लोग गोसाईं या गुसाईं कहते थे। मेरे गले में एक रुद्राक्ष भी बँधा रहता था। अल्मोड़ा आने पर अपना नाम मैंने स्वत: ही सुमित्रानन्दन रख लिया था। मेरे बड़े भाई ने एक बार बचपन से कहा था कि बरेली कालेज में उनके किसी मित्र का नाम सुमित्रानन्दन था, जो उन्हें पत्र भी लिखा करते थे; उन्हीं के नाम से मैंने अपना नाम रखा। पर मुझे इसका बिलकुल भी स्मरण नहीं है। मेरी माँ का नाम सरस्वती था, जिसे मैंने अपनी कल्पना में लपेटकर वाग्देवी का रूप दे दिया था। अपना नाम मैं कौसानी में भी माँ के नाम से रखना चाहता था, पर सरस्वतीनन्दन मुझे न जाने क्यों अच्छा नहीं लगता था। क्योंकि मैं घर में छोटा भाई था, इसलिए मेरे मन ने अपना नाम सुमित्रानंदन रखकर सन्तोष प्रकट किया। लक्ष्मणजी के लिए राम से छोटे होने के कारण, छुटपन से मेरी कुछ ऐसी धारणा थी कि वह बड़े ही सुन्दर और सुकुमार थे; उनका लालन-पालन बड़े प्यार से हुआ था। सबसे विचित्र बात यह थी कि तब मेरे मन में न जाने कैसे यह बात जम गयी थी कि 'मैं सुकुमार नाथ वन योगू' लक्ष्मणजी ने कहा है। 'स्वर्ण-धूलि' में 'लक्ष्मण के प्रति' शीर्षक एक कविता है; उसमें भी मैंने उन्हें 'मेरे मन के मानव लक्ष्मण' कहा है। अपने व्यक्तित्व का छुटपन में मैंने उनके साथ तादात्म्य कर लिया था। यह भी, मेरी समझ में, मेरा अपने लिए सुमित्रानन्दन नाम चुनने का कारण रहा है। पीछे जब मैं कभी स्कूल के लड़कों से डरता था तो मुझे विश्वास रहता था कि मेरा कोई कुछ नहीं कर सकता, लक्ष्मणजी उन्हें अपने तीर से गिरा देंगे।

अल्मोड़े में दूसरा ध्यान मेरा अपनी वेश-भूषा की ओर गया। मेरा सुन्दर वस्त्र पहनने का शौक बढ़ता गया। हाईस्कूल तक और पीछे भी, मैंने इतने सुन्दर और अपने मन के इतने नमूनों के कपड़े पहने हैं कि अपने को किसी प्रकार भी असुन्दर देखने की कल्पना तब मेरा मन नहीं सहन

कर सकता था। छठी कक्षा में मैंने अपने भाई की लाइब्रेरी में, जिसका नाम पीछे मैंने 'नन्दन पुस्तकालय' रख दिया था, नैपोलियन का युवावस्था का सुन्दर चित्र देखकर स्वयं भी लम्बे घुँघराले बाल रख लिये। कवि-कर्म को अपनाने का निर्णय सम्भवत: मैंने सातवीं-आठवीं कक्षा में लिया और कवि के साथ केशों का सम्बन्ध मैं पीछे टैगोर के चित्र को देखकर जोड़ सका।

किन्तु शहर में रहने से जो मुख्य बात मेरे मन में पैदा हुई वह थी व्यक्तित्व के विकास तथा प्रतिष्ठा की महत्ता। नगर का तड़क-भड़क का जीवन देखकर सीधे-सादे ढंग से रहने या अपनी ही भावनाओं के माधुर्य में डूबे रहने से काम नहीं चल सकता था। शहर के अनेक क्रिया-कलापों को देखकर एवं उनमे सम्मिलित होने का अवसर पाकर दृष्टि-कोण स्वत: ही व्यापक होने लगता है। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव अल्मोड़े में मेरे मन में पहले-पहल श्री स्वामी सत्यदेवजी के विचारों तथा भाषणों का पड़ा, जो सप्ताह मे एक-दो बार अवश्य ही सुनने को मिल जाते थे। स्वामीजी के भाषण देश-प्रेम तथा भाषा-प्रेम से ओत-प्रोत रहते थे। वह अन्त में राष्ट्र-प्रेम के अपने भजन भी सुनाया करते थे। अपने भाई तथा स्वामीजी के काव्य-पाठ के ढंग से मेरे मन मे यह बात अपने-आप ही बैठ गयी थी कि कविता को गेय होना चाहिए। स्वामीजी के प्रयत्नों से नगर में 'शुद्ध साहित्य समिति' के नाम से हिन्दी का एक सार्वजनिक पुस्तकालय भी खुल गया जो मेरे हाईस्कूल पास कर लेने के बाद भी कुछ वर्षों तक चलता रहा। पुस्तकालय का संचालन तब बडे सुचारु रूप से होता था। उसमें उस समय की अनेक प्रमुख पत्र-पत्रिकाएँ तथा प्राचीन-नवीन प्रकाशनों मे काव्य-नाटक, उपन्यास, कहानी, जीवनी आदि सभी प्रकार के ग्रन्थों का अच्छा संग्रह हो गया था। कौसानी मे मेरे मन में साहित्य-प्रेम के बीज पड़ ही चुके थे, अल्मोड़ा आकर वे पुष्पित-पल्लवित होने लगे। स्कूल की पुस्तकों से मेरा जी हटकर साहित्य के रस-सरोवर में निमग्न रहने लगा। कहानी, उपन्यास, कविता आदि सभी प्रकार के ग्रन्थों का मैं अपने कमरे के एकान्त में स्वाद लिया करता था। अपने को सबसे छिपाये रखने की मुझमें प्रकृतिदत्त आकांक्षा रही है। एकान्तप्रियता का मेरा गोपन स्वभाव धीरे-धीरे साहित्यिक अनुराग से उर्वर हो उठा। स्वभावत: ही अन्तर्मुखी होने के कारण तथा समवयस्कों से मिलने-जुलने तथा उनके साथ खेलने-कूदने में किसी प्रकार का उत्साह न होने के कारण वाणी का मौन वक्ष मेरा निवास तथा साहित्य मेरे जीवन-मन का अवलम्ब ही हो गया। छठी कक्षा में मैंने जाड़े की दो-ढाई महीने की छुट्टियों में 'हार' नामक एक खिलौना-उपन्यास लिख डाला, जिसमें उस समय के मेरे साहित्यिक अध्ययन का प्रभाव स्पष्ट रूप से झलकता है। कविता का प्रयोग सर्वप्रथम मैंने पत्र लिखने के रूप में किया था। अपनी बहन से अपने छन्दबद्ध पत्रों की प्रशंसा सुनकर मैं बडा प्रोत्साहित होता था। कौसानी में मैंने अपने भाई के अनुकरण में कुछ ढीले-ढाले रेखता छन्द भी लिखे थे। एक का विषय बागेश्वर का मेला था, जहाँ मैं अपनी दादी के साथ गया था; दूसरी कविता वकीलों के धनलोभी स्वभाव पर थी। उन दिनों बड़े भाई के एक वकील मित्र कुछ समय के लिए कौसानी

शिकार खेलने आये थे।

साधु-सन्तों तथा योगियों का प्रभाव अल्मोड़ा में भी मेरे ऊपर ज्यों-का-त्यों बना रहा। एक बार मैं एक लम्बे गोरे घुंघराले केशोंवाले साधु के सुन्दर रूप, मधुर स्वभाव तथा विद्वत्तापूर्ण भाषणों से आकर्षित होकर, स्कूल की पढ़ाई छोड़कर उसके साथ जाने को तैयार हो गया था। जब भाई को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने साधूजी को न जाने क्या समझाया-बुझाया कि एक दिन वह भाई के पास मेरे लिए एक सुन्दर तार की कंघी उपहार-स्वरूप छोड़कर चुपचाप कहीं चले गये। मैं उनके इस प्रकार चले जाने के कारण बहुत दिनों तक बड़ा दुखी रहा। अल्मोड़ा आने के चार वर्ष बाद, जब मैं आठवीं कक्षा में था, मेरा परिचय श्री गोविन्दवल्लभ पन्त (नाटककार), उनके भतीजे श्यामाचरणदत्त पन्त, जो तब हमारे यहाँ रहने लगे थे, इलाचन्द्र जोशी तथा अन्य साहित्यिक बन्धुओं से धीरे-धीरे बढ़ने लगा और मेरी साहित्यिक आस्था तथा अनुराग में भी वृद्धि होने लगी। श्री जोशीजी तथा श्यामाचरणजी के सम्पादन में तब अल्मोड़ा से एक या दो हस्तलिखित साहित्यिक पत्र निकलने लगे, जिनमें मैं प्राय: नियमित रूप से लिखा करता था। वे मुख्यत: मेरी छन्द-साधना के प्रयोग रहे हैं। सन् १९१७ के हस्तलिखित 'सुधाकर' नामक मासिक के मई के अंक में मेरी एक छोटी-सी रचना 'शोकाग्नि और अश्रुजल' मिलती है जिसे यहाँ उद्धृत करता हूँ :

जो शोक अग्नि से अति ज्वाला कराल उठती
वह अश्रु बिन्दु जल के क्यों रूप मे बदलती ?
क्या वह नही बताती सम्बन्ध जल अनल में ?
क्या ? वह तुम्हें जलाता औ' मैं तुम्हें डुबाता ?

उस काल की मेरी रचनाओं में मुख्यत: श्री गुप्तजी तथा हरिऔधजी का प्रभाव छन्द तथा शब्द-योजना की दृष्टि से लक्षित होता है। तब 'भारत-भारती', 'जयद्रथ-वध', 'रंग में भंग', 'प्रियप्रवास', 'कविता-कलाप' आदि काव्य-ग्रन्थ तथा 'मिश्रबन्धु विनोद' और हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय के अनेक उपन्यास 'छत्रसाल' आदि तथा कहानी-संग्रह 'गल्प-गुच्छ' आदि का तथा बंकिम बाबू के अनुवादों का अल्मोड़े में बड़ा प्रचार था। खड्गविलास प्रेस तथा श्री वेंकटेश्वर प्रेस के प्राचीन साहित्य-सम्बन्धी ग्रन्थ तथा अन्य भी अनेक पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं से उन दिनों हमें अपनी साहित्यिक रुचि की रचना करने में सहायता मिली थी, जिनकी छाप मेरी तब की बाल-कृतियों में, सम्भवत: मिल सकती है। पर मेरे कतिपय विषयों में तब नवीनता भी मिलती है। 'तम्बाकू का धुआँ', 'कागज के फूल', 'गिरजे का घण्टा' आदि अनेक रचनाएँ उन्हीं दिनों लिखी गयी थीं, जिनमें शब्द-योजना की दृष्टि से, संस्कार तथा अभिव्यक्ति की दृष्टि से, परिपक्वता भले ही न रही हो, पर भावना की दृष्टि से उनमें मौलिकता दृष्टिगोचर होती है। 'तम्बाकू का धुआँ' मुँह से बाहर निकलकर कहता है—'यद्यपि लोग प्यार के बहाने मुझे अपने हृदय में बन्दी रखना चाहते हैं, पर मैं स्वतन्त्रता-प्रेमी होने के कारण बाहर निकलकर मुक्त आकाश में समा जाना अधिक श्रेष्ठ समझता हूँ।' उन दिनों के भाषणों में जो स्वाधीनता की भावना मिलती थी उसी की प्रतिध्वनि उक्त रचना में

है। कागज़ के फूलों का एक रंगीन स्तवक कोई सज्जन कभी मेले के दिनों में मेरे भाई को भेंट कर गये थे, उसे देखकर मैंने कहा है—'इस नकली रूप-रंग से कब तक धोखा देते रहोगे ? मानव-हृदय भ्रमर की भाँति ही गुण का प्रेमी होता है, तुम्हारे गन्ध-मधुहीन जीवन का वह कैसे आदर करेगा ?'

हमारे घर के ऊपर गिरजाघर था, जहाँ रविवार को प्रातःकाल नित्य घण्टा बजा करता था, उसकी शान्त मधुर ध्वनि तब मुझे बहुत आकर्षित करती थी। 'गिरजे का घण्टा' शीर्षक रचना में मैंने लिखा था—'तुम्हारे स्वर चहकते हुए पक्षियों की तरह मेरे भीतर छिपकर शान्ति का सन्देश दे जाते है।'

उसी का परिवर्तित रूप पीछे 'घण्टा' शीर्षक कविता में मिलता है जो 'आधुनिक कवि, भाग दो' में प्रकाशित है, जिसका एक अंश यहाँ उद्धृत करता हूँ :

नभ की उस नीली चुप्पी पर घण्टा है एक टँगा सुन्दर
जा घड़ी-घड़ी मन के भीतर कुछ कहता रहता बज-बजकर !
भरते स्वर उर में मधुर रोर—जागो रे जागो कामचोर,
डूबे प्रकाश में दिशा छोर, अब हुआ भोर, अब हुआ भोर। इत्यादि।

उपर्युक्त रचना मैंने अपने किशोर चापल्य के कारण नीले रंग के रूल-दार लेटर पेपर पर उतारकर श्री गुप्तजी के पास उनकी सम्मति के लिए भेजी थी। गुप्तजी ने अपने सहज-सौजन्यवश उसके हाशिये मे दो-चार प्रशंसा के वाक्य लिखकर मुझे वह रचना लौटा दी थी, जिससे प्रोत्साहित होकर मैंने वह रचना 'सरस्वती' नामक मासिक पत्रिका में छपने के लिए श्री द्विवेदीजी के पास भेज दी थी। सप्ताह-भर के भीतर ही द्विवेदीजी ने गुप्तजी के हस्ताक्षर के नीचे 'अस्वीकृत, म० प्र० द्वि०' लिखकर रचना मेरे पास लौटा दी।

सन् '१६ से लेकर '१८ तक की मेरी रचनाओं के दो संग्रह 'कलरव' तथा 'नीरव तार' के नाम से थे जो सन् '२० मे हिन्दू बोर्डिंग हाउस में मेरी चारपाई में आग लग जाने के कारण जल गये। उन दिनों मै चारपाई के पाये पर मोमबत्ती रखकर लेटकर पढ़ा करता था। मेरी अनुपस्थिति में मोमबत्ती के जलकर समाप्त हो जाने पर उसकी बत्ती से बिस्तरा, चारपाई तथा खिड़की का एक किवाड़ जलकर राख हो गया था। इन संग्रहों की प्राय. आधी दर्जन रचनाएँ, जो मुझे स्मरण थीं, पीछे 'वीणा' नामक काव्य-संग्रह में सम्मिलित कर दी गयीं। 'कलरव' तथा 'नीरव तार' नामक कविताएँ अपने परिवर्तित रूप मे 'गुंजन' की कविताओं में मिला दी गयीं। 'नीरव तार' तथा उस समय की कुछ अन्य रचनाएँ हिन्दू बोर्डिंग हाउस की पत्रिका में भी प्रकाशित हुई थीं, जिसके सम्पादन विभाग में तब मित्रवर श्री रामनाथ सेठ भी थे। इसी समय की मेरी कुछ रचनाएँ तब रानीखेत से प्रकाशित 'हिमालय' नामक मासिक पत्र मे, प्रयाग की 'मर्यादा' नामक पत्रिका तथा मेरठ से निकलनेवाली 'ललिता' नामक पत्रिका में भी प्रकाशित हुई थीं।

अल्मोड़े में मुझे स्मरण है कुछ समवयस्क साहित्यिकों ने मेरे प्रच्छन्न

विरोध में एक दल या गुट बना लिया था। मेरी अनेक आलोचनाएँ तब गुप्त नामों तथा उपनामों से हस्तलिखित पत्र-पत्रिकाओं में निकलती थीं। मैं छुटपन में अत्यन्त आत्मस्थ, विनम्र तथा सुकुमार था। कौसानी में हिमालय की सन्निधि ने मेरे प्राणों में एक अजेय आत्मविश्वास, अदम्य आशा तथा महत् उत्साह भर दिया था जो आगे चलकर भी मेरे जीवन का सम्बल रहा। मेरे भीतर तब एक अज्ञात मानसिक आनन्द की लहर तथा अनिर्वचनीय पवित्रता के अभिजात संस्कार मुझे अकेले एकान्त में रहने को बाध्य करते थे। सबसे मिलना तब सम्भव न था; मैं अपने साथियों तथा सहयोगियों से बहुत कम मिलता-जुलता या बोलता था और उनके साथ हँसी-खेल में भी नहीं के बराबर भाग लेता था। इसी कारण मेरे समवयस्क मुझे आत्माभिमानी समझकर, मुझसे असन्तुष्ट रहते थे। बहुत पीछे भी अनेक लोग मुझसे इसी कारण अप्रसन्न हो गये थे। स्कूल में भी मेरी मित्रता अपने ही से थी। मैं अपने सुन्दर वस्त्रों तथा अंगों को प्यार करता था। कोई उन्हें न छुए, इसका मुझे ध्यान रहता था। मेरे सहपाठी मेरे पीछे कानाफूसी करते थे, पर उन्हें मेरे विनम्र सुकुमार मौन को छेड़ने का साहस नहीं होता था। हमारे हिन्दी पण्डितजी कुछ प्रसन्न-कुछ खीझे-से रहते थे। वह मुझे 'मशीनरी आफ़ वर्ड्स' कहा करते थे। उक्त पण्डितजी हमारे घर के पास ही रहते थे। मैं उन्हीं के साथ स्कूल आता-जाता था। उन दिनों मुहल्ले और बाज़ार के लडकों मे आपस में कुछ तनातनी रहती थी। इसलिए मुझ-जैसे सरल-प्राण किशोर का रास्तों में या मेले-ठेलों में अकेला आना-जाना अच्छा नही समझा जाता था। मेरे स्वभाव के विनम्र हंसमुख मौन से मन-ही-मन कुढ़कर लड़कों ने मेरा नाम 'शुगरकेन' रख दिया था। मैं तब दुबला-पतला होने के कारण लम्बा लगता था और अपनी पीढ़ी के किशोरों में सुन्दर गिना जाता था। राह में जहाँ-तहाँ सफेद खड़िया से 'शुगरकेन' लिखा रहता था, जिसमे मुझे अकेले जाने में बडी झिझक मालूम देती थी। पर लड़कों के मन के विद्रोह ने इससे निर्मम तथा कुरूप रूप मेरे प्रति कभी धारण नही किया। मेरे शान्त निश्छल स्वभाव ने सभी परिस्थितियों में मेरी रक्षा ही नहीं की, मुझे स्कूल के छात्रों के प्रेम तथा प्रशंसा का भी पात्र बनाया।

स्कूल के नाटकों में मुझे अधिकतर स्त्री-पात्रों का ही अभिनय करने को मिलता था। प्रयाग आने पर भी मैं डी० एल० राय के नाटकों मे प्राय: स्त्री-पात्रों की ही भूमिका में उतरा हूँ। नवीं कक्षा में एक बार जब मैं अभिमन्यु बना था तब हेडमास्टर साहब की आंग्ल-पत्नी ने स्टेज पर आकर मुझसे कहा था कि तुम राजकुमार का पार्ट खेलने के लिए ही बने हो। मुझे स्मरण है जब अभिमन्यु की मृत्यु के बाद अप्सराओं ने प्रवेश कर 'उठो वीर चलो सुर-राज-भवन, तुम बिन चन्द्रलोक अँधियारो, सूनो देव सदन…' आदि करुण गीत गाया था तब बहुत-से दर्शक रोने लगे थे।

इस प्रकार मेरे किशोर कवि-जीवन के अनेक सुनहली स्मृतियों में लिपटे प्रारम्भिक वर्ष कौसानी और अल्मोड़े में प्रकृति की एकान्त छाया में व्यतीत हुए। अल्मोड़े का वर्णन अपनी एक रचना में मैंने इस प्रकार किया है :

'लो, चित्र शलभ-सी पंख खोल उड़ने को है कुसुमित घाटी,
यह है अल्मोड़े का बसन्त, खिल पड़ी निखिल पर्वत पाटी !'

सन् १९१८ में मेरे मझले भाई जब हाईस्कूल पास कर लेने पर क्वीन्स कालेज में शिक्षा प्राप्त करने बनारस गये तो मुझे भी उनके साथ के लिए भेज दिया गया। सुदूर क्षितिज में पंख फैलाये हुए पक्षी की तरह अल्मोड़े की चंचल प्रशान्त निसर्ग सुन्दर घाटी को छोड़कर जाने में मुझे दुःख तो हुआ, पर काशी को देखने का उत्साह भी मेरे मन में कम नहीं था।

विकास-सूत्र और अन्तःसंघर्ष

[सन् १९१९ से १९३० तक]

बनारस का नौ-दस महीनों का प्रवास मेरे लिए आशातीत रूप से लाभदायक सिद्ध हुआ। समतल भूमि में पहुँच जाने पर मकानों की चहार-दीवारी से घिरा हुआ बाहर का क्षितिज तो सीमित हो गया, सिर पर धुँधले-नीले आकाश का थक्का-भर रह गया, और पहाड़ों की चोटियों पर से दीखनेवाला सुदूर तक फैला गहरा हरा प्रसार दृष्टि से ओझल हो गया, किन्तु बड़े नगर के जीवन तथा जन-समागम की गरिमा के कारण मेरा मन.क्षितिज प्रबुद्ध तथा विकसित हो सका। मेरे बहनोई, श्री शुकदेवजी पाण्डे, जिनके साथ मेलूपुरा में हम दोनों भाइयों के रहने की व्यवस्था हुई थी, सौम्य, अध्ययनशील प्रकृति के सहृदय व्यक्ति थे, और हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक का कार्य करते थे। घर का वातावरण शान्त, सुखद तथा पठन-पाठन के अनुकूल था। मुझे दुमंज़िले में एक छोटा-सा एकान्त कमरा—छोटा कमरा मुझे बहुत प्रिय था—और अलग से एक छोटी-सी छत मिल गयी थी। एक ओर ऊपर की छत को जाने को सीढ़ी थी, जिस पर चढ़कर मुझे जहाँ तक दृष्टि जाती, चारों ओर मकान की छतें-ही-छतें नज़र आती थीं। कमरे की खिड़की से भी केवल आस-पास के घर और सँकरी गलियाँ ही दिखायी पड़ती थीं—बनारस की गलियाँ, जिनका परिचय मुझे पीछे मिला। कभी-कभी दूर से आती हुई पपीहे की प्यासी पुकार अवश्य ध्यान आकर्षित करती थी। इस प्रकार बाहरी दृश्यों की रमणीयता के अभाव में मन को प्रायः अध्ययन ही में अधिक सुख मिलता था। मेरे बहनोई मेरी साहित्यिक रुचि से परिचित थे। वह विश्वविद्यालय के पुस्तकालय अथवा अपने प्राध्यापक-मित्रों और विशेषकर प्रो० शेषाद्रि की लाइब्रेरी से मेरे पढ़ने के लिए श्रीमती नायडू तथा रवीन्द्रनाथ आदि की पुस्तकें ले आते थे। मिसेज़ नायडू का शब्द-संगीत मुझे तब बहुत अच्छा लगता था। मैं 'गेली ओ गेली वी ग्लाइड ऐज़ वी सिंग, वी बियर हर एलाँग लाइक ए पर्ल ऑन ए स्ट्रिंग' आदि,'पैलेंक्विन बेयरर्स' नामक उनकी रचना की पंक्तियाँ प्रायः गुनगुनाया करता था। उनकी अनेक प्रकृति-सौन्दर्य तथा प्रेम-सम्बन्धी कविताएँ तब मुझे कण्ठाग्र थीं। रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि', 'गार्डनर', 'किंग ऑफ़ डार्क चेम्बर', 'पोस्ट ऑफ़िस', 'सेक्रीफाइस एण्ड अदर प्लेज', आदि अनेक ग्रन्थ तब मैंने अंग्रेजी में अनूदित पढ़े थे। उनकी कहानियों तथा उपन्यासों के हिन्दी अनु-

बाद मैं अल्मोड़े ही में पढ़ चुका था। हिन्दी-कवियों में मुझे बनारस में मुख्यतः रीतिकालीन कवियों को पढ़ने का अच्छा अवसर मिला। देव, केशव, मतिराम, पद्माकर, सेनापति, बिहारी आदि की पद-रचनाओं को मैंने अत्यन्त तल्लीन होकर पढ़ा है। अल्मोड़े में मेरा अध्ययन विशेषकर द्विवेदीकालीन कवियों तक ही सीमित था, जिनकी तुलना में रीतिकाव्य के लघु-पद-रचना-माधुर्य ने मेरी काव्यभाषा-सम्बन्धी धारणा को अत्यन्त प्रभावित किया। रीतिकाल की कविता के सम्बन्ध में मैंने अपने मन की प्रतिक्रिया 'पल्लव' की भूमिका में व्यक्त की है। श्रीमती नायडू की शब्द-योजना तथा रवीन्द्र की कल्पना, सौन्दर्य-बोध तथा उनकी रचनाओं में निहित असीम के स्पर्श ने मेरे मन को प्रभूत रूप से अभिभूत किया। इन कवियों से कल्पना तथा सौन्दर्य के पंख लेकर मेरा मन भीतर-ही-भीतर किसी नवीन अनुभूति के भावना-लोक में उड़ जाने के अविराम प्रयत्न में जैसे व्यग्र रहता था। मुझे स्मरण है मैं अपने लम्बे कमरे में अथवा सामने की एकान्त छत पर अनमने चित्त से घूमता हुआ अपने मन की मूक एकाग्रता में कविता की उस सौन्दर्य और रहस्यभरी स्वप्न-भूमि का साक्षात्कार करना चाहता था, जिसकी झाँकियाँ मुझे श्रीमती नायडू तथा कवीन्द्र रवीन्द्र की रचनाओं में मिलती थीं और जिसे वाणी देने के लिए मेरे भीतर व्यंजना की पृष्ठभूमि रीतिकाल तथा द्विवेदी-युग के कवियों के रसबोध तथा युगबोध से भरी मधुर जाग्रत रचनाएँ अज्ञात रूप से निर्मित कर रही थीं। मेरी 'प्रथम-रश्मि' तथा 'बालापन' शीर्षक कविताएँ बनारस ही मे लिखी गयी थीं। स्कूल की पाठ्य पुस्तकों पर मैं कर्त्तव्यवश दृष्टि-भर दौड़ा लिया करता था। हाईस्कूल की परीक्षा समाप्त होने पर जब मैं छुट्टियों में फिर से कौसानी की 'पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश' वाली काव्यभूमि में पहुँचा तो वहाँ मैंने अधिकांश 'वीणा' सिरीज़ के 'प्रगीत' तथा 'ग्रन्थि' नामक छोटा-सा खण्डकाव्य लिख डाला। इनकी शैली तथा भावभूमि में मैंने सम्भवतः बनारस में सचित अपने काव्य-संस्कारों को अपनी किशोर क्षमता के अनुरूप वाणी देने की चेष्टा की हो।

बनारस में मुझे भाई के सहपाठी मि० मुखर्जी से कभी-कभी 'चयनिका' नामक काव्य-संकलन से कवीन्द्र की बँगला कविताएँ भी सुनने का सुनहरा संयोग प्राप्त होता रहा। तब मेरा बँगला का ज्ञान नहीं के बराबर था। मि० मुखर्जी कवि ठाकुर की रचनाओं का लययुक्त पाठ-भर सुनाते थे और कभी अनुरोध करने पर किसी पद का अंग्रेज़ी में अनुवाद कर देते थे। उसी से मैं कवीन्द्र की पद-योजना तथा भाव-गरिमा को हृदयंगम करने का प्रयत्न करता था। मुझे उनसे 'उर्वशी', 'कच औ' देवयानी', 'पुरातन भृत्य', 'हृदय यमुना' आदि रचनाओं को सुनने की स्पष्ट याद है। तब मुझे विद्यापति और चण्डीदास के बँगला पदों का भी एक संग्रह मिल गया था, जिसका मैं रस लेने का प्रयास करता था। 'वीणा' की कुछ रचनाओं में सम्भवतः रवीन्द्र के भावलोक की अस्पष्ट छाया हो। एक-आध रचना, जैसे 'मम जीवन की प्रमुदित प्रात सुन्दरि नव आलोकित कर' में रवीन्द्रनाथ के 'अन्तर मम विकसित कर अन्तरतर हे' की छाप मिलती है। 'ग्रन्थि' की शैली में सम्भवतः हिन्दी-रीति-काव्य तथा संस्कृत कवियों की शब्द-योजना का आभास हो। संस्कृत का थोड़ा-बहुत ज्ञान मुझे पहले

से ही था। बनारस में मुझे कालिदास, भवभूति आदि के प्रेमी अनेक युवक छात्रों के साथ संस्कृत-कवियों की वाणी का रसास्वादन करने का संयोग प्रचुर मात्रा में मिला। 'ऋतुसंहार' तथा 'मेघदूत' मुझे प्रायः कण्ठस्थ थे। कालिदास का 'शृंगारतिलक' तथा 'सुभाषित रत्न भाण्डागार' के भी कतिपय पद मुझे प्रिय थे। पर अब मैं निष्पक्ष दृष्टि से कह सकता हूँ कि मेरे उपर्युक्त अध्ययन के प्रभाव के अतिरिक्त भी 'वीणा', 'ग्रन्थि' आदि रचनाओं में और भी बहुत-कुछ मिलता है, और पर्याप्त मात्रा में मिलता है, जो केवल मेरा अपना है, जिसे देखकर यह कहना अनुचित न होगा कि काव्य-सृजन के लिए सम्भवतः मुझमें नैसर्गिक संस्कार रहे हैं।

बनारस में, संयोगवश, मुझे थियासाफ़िकल सोसाइटी में रवीन्द्रनाथ के दुर्लभ दर्शनों का भी संयोग प्राप्त हुआ था और कवि के मधुर कण्ठ से छात्रों की सभा में 'शारदोत्सव' नामक नाटक भी सुनने को मिला था। रवीन्द्रनाथ के व्यक्तित्व का प्रभाव तो मन में पड़ा ही, काले चोग़े में उनकी लम्बी गौरवर्ण आकृति, बड़ी-बड़ी आँखें, सुनहली कमानी का चश्मा, सुन्दर लम्बी दाढ़ी, सिर पर ऊँची मखमली टोपी, सब-कुछ बड़े आकर्षक तथा अद्भुत प्रतीत हुए। पर इससे भी अधिक प्रभाव मेरे मन में उन भाषणों का पड़ा, जो उस अवसर पर उनकी प्रतिभा, प्रसिद्धि तथा विद्वत्ता के बारे में इधर-उधर सुनने को मिले थे। कवि इतना महान् व्यक्ति हो सकता है और उसे विश्व में इतना बड़ा सम्मान मिल सकता है, इन बातों से कवि-कर्म के प्रति मन में अधिक महत् धारणा एवं गम्भीर आस्था पैदा हुई। उनकी पुस्तकों से भी अधिक तब उनकी कीर्ति तथा व्यक्तित्व की गरिमा ने मेरे भीतर कविता के प्रति अनुराग के मूलों को सींचकर दृढ़ बनाया।

यह विचित्र बात है कि अपने बनारस के प्रवास-काल में मैंने प्रसादजी की चर्चा नहीं सुनी; सम्भवतः तब वह प्रसिद्ध नहीं हुए थे। उन दिनों 'कंटक-कुसुम' के नाम से श्री गोविन्दवल्लभ पन्त और उनके किसी मित्र की रचनाओं का सम्मिलित संग्रह प्रकाशित हुआ था। श्री पन्त तब हिन्दू कॉलेज में पढ़ते थे। मैं उनके छात्रावास में एक-दो बार उनसे मिलने गया था। हिन्दू विश्वविद्यालय में महामना मालवीयजी की ओर से तब एक काव्य-प्रतियोगिता भी हुई थी, जिसमें काशी के प्रायः सभी स्कूलों-कॉलेजों के प्रतिनिधि कवि-छात्रों ने भाग लिया था। मुझे याद है कि एक बड़े से हॉल में कई कतारों में डेस्क और कुरसियाँ लगी थीं, जैसा परीक्षा के अवसर पर होता है। डेस्कों पर दो-दो कागजों के पन्ने तथा एक-एक पेंसिल रखी थी। हम लोगों के अपने-अपने स्थान पर बैठ जाने पर प्रतियोगिता के लिए जो विषय काली तख्ती पर लिख दिया गया था वह था—'हिन्दू विश्वविद्यालय'। ऐसे गद्यात्मक विषय से शायद ही कभी किसी उदीयमान कवि को माथापच्ची करनी पड़ी हो। पर प्रतियोगिता का उत्साह और किशोर मन की स्पर्धा! सम्भवतः दो घण्टे का समय और कम-से-कम बीस पंक्तियाँ लिखने का आदेश था। इस प्रतियोगिता के फलस्वरूप उस वर्ष 'जयनारायण हाईस्कूल' में 'चाँदी का कप' गया था, जिसके कारण मुझे अपने सहपाठियों, स्कूल के छात्रों तथा अध्यापक-वर्ग से पर्याप्त स्नेह-स्वीकृति मिली थी।

बनारस से द्वितीय श्रेणी में हाईस्कूल की परीक्षा में हिन्दी में विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण होने पर मैंने सन् १९१९ की जुलाई में अपने भाई के साथ म्योर कॉलेज में भरती होने के लिए प्रयाग की साहित्य उर्वर, शान्त, संस्कृत भूमि में प्रवेश किया, जिसकी स्नेहपूर्ण अंचल-छाया में मेरे किशोर-कवि को मानसिक पोषक तथा आत्म-विश्वास का तारुण्य प्राप्त हुआ। कौसानी के बाद प्रयाग ही मुझे सबसे प्रिय रहा है और वह मेरा घर या गृह-नगर ही बन गया है। प्रयाग में मुझे आत्म-संस्कार तथा विकास के लिए उपयुक्त वातावरण तथा आवश्यक अवकाश मिल सका। जुलाई के मध्य में कॉलेज खुलने पर मैं प्रयाग पहुँचा था। नवम्बर के महीने में समावर्तन समारोह के अवसर पर हिन्दू बोर्डिंग हाउस में सायंकाल एक कवि-सम्मेलन का आयोजन था, जिसका संचालन प्रो० शिवाधार पाण्डेयजी ने किया था जो कॉलेज में अंग्रेज़ी के प्राध्यापक थे। कवि-सम्मेलन का विषय था 'स्वप्न'। कवि-गोष्ठियाँ तब समस्यापूर्ति की परम्परा से मुक्त हो रही थीं और उनके लिए विषय निर्धारित करने की प्रथा बन गयी थी। वह पहला ही कवि-सम्मेलन था जिसमें मुझे भाग लेने का अवसर मिला था। मैं तब अत्यन्त संकोचशील था। 'स्वप्न' पर लिखित मेरी कविता का श्रोताओं पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा था, जिससे प्रसन्न होकर दूसरे दिन उदार-हृदय प्रो० पाण्डेय ने मुझे शेक्सपियर के सम्पूर्ण नाटकों का एक सुन्दर सचित्र मूल्यवान संस्करण अपनी ओर से उपहार-स्वरूप दिया था, और उसके पहले पृष्ठ पर मुझे अंग्रेज़ी साहित्य के प्रति अनुराग रखने का आदेश दिया था। पाण्डेयजी के उपहार से, जो मेरे लिए पुरस्कारवत् था, मुझे बड़ा प्रोत्साहन मिला था। मेरे लम्बे बालों के कारण छात्रावास तथा कॉलेज के लड़कों का ध्यान मेरी ओर जाता ही था; इस कवि-सम्मेलन में मेरी रचना की सफलता के बाद मुझे प्रयाग में कवि के रूप से स्वीकृति मिल गयी। मेरी 'स्वप्न' शीर्षक रचना अगले महीने 'सरस्वती' में प्रकाशित हो गयी जो तब हिन्दी की प्रमुख पत्रिका समझी जाती थी। तब उसका सम्पादन हमारे होस्टल के वार्डन श्री शुक्लजी करते थे। वह रचना अब मेरे 'पल्लव' नामक काव्य-संग्रह में है, जो १९२६ के आरम्भ में इण्डियन प्रेस से प्रकाशित हुआ था। इससे पूर्व १९२२ में मेरी 'उच्छ्वास' नाम की कविता पुस्तिका-रूप में सामने आ चुकी थी। अगले वर्ष के कवि-सम्मेलन में, जिसका सभापतित्व श्री हरिऔधजी ने किया था, मैंने 'छाया' शीर्षक अपनी रचना पढ़ी थी। यह सम्मेलन श्री गिरीशजी के संयोजन में बाहर खुले में हुआ था और इसमें छात्रों के अतिरिक्त नागरिकों की भी पर्याप्त संख्या में उपस्थिति थी। मेरा कविता-पाठ सुनकर हरिऔधजी अपनी सहृदयता के कारण इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने बीच ही में उठकर अपने गले से लम्बा फूलों का गजरा उतारकर मेरे गले में डाल दिया। श्रोताओं ने करतल-ध्वनि से उसका समर्थन कर मुझे उत्साहित किया था। उन दिनों की ऐसी अनेक घटनाएँ मन में अपनी कृतियों के प्रति आत्मविश्वास जगाकर मुझे आशा और बल प्रदान करती रहीं। मुझमें यह भावना और भी दृढ़ होने लगी कि मुझे कवि-जीवन के लिए गम्भीर रूप से अपना निर्माण करना है। उन दिनों लेखन या सृजन-कर्म साहित्य-सेवा तथा मातृभाषा की सेवा समझा

जाता था, उसके आर्थिक पक्ष का तब प्रश्न ही नहीं था। स्वतन्त्रता-आन्दोलन के समान ही राष्ट्रभाषा या मातृभाषा का प्रेम भी दिन-प्रतिदिन महत्त्व प्राप्त करता जा रहा था।

हाईस्कूल तक मेरा पाठ्य-विषय विज्ञान रहा; संस्कृत की ओर अभिरुचि होने के कारण कॉलेज में मैंने संस्कृत लेना अधिक हितकर समझा। अतः प्रयाग आने के बाद मेरे संस्कृत-साहित्य के ज्ञान में अधिक अभिवृद्धि हुई। कालिदास की कृतियों का मुझ पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा। कालिदास की उपमाओं में तो एक विशिष्टता तथा पूर्णता मिली ही, उसकी सौन्दर्य-दृष्टि ने मुझे विशेष रूप से आकृष्ट किया। कालिदास के सौन्दर्य-बोध की चिर-नवीनता को मैं अपनी कल्पना का अंग बनाने के लिए लालायित हो उठा। अंग्रेज़ी साहित्य के अध्ययन के प्रति प्रारम्भ में मुझे प्रो० शिवाधार पाण्डेयजी से बड़ी सहायता मिली, जिनके प्रति मैं उपकृत हूँ। उन्नीसवी शती के कवियों में कीट्स, शेली, वर्ड्सवर्थ तथा टेनिसन ने मुझे गम्भीर रूप से आकृष्ट किया। कीट्स के शिल्प-वैचित्र्य, शेली की सशक्त कल्पना, वर्ड्सवर्थ के प्रांजल प्रकृति-प्रेम, कॉलरिज की असाधारणता तथा टेनिसन के ध्वनिबोध ने मेरे कविता-सम्बन्धी रूप-विधान के ज्ञान को अधिक पुष्ट, व्यापक तथा सूक्ष्म बनाया। इन कवियों की विशेषताओं को हिन्दी-काव्य में उतारने के लिए मेरा कलाकार भीतर-ही-भीतर प्रयत्न करता रहा। काव्य-संगीत में व्यंजनों की योजना से शक्ति या चित्रात्मकता और स्वरों की सहायता से सूक्ष्मता तथा मार्मिकता आती है, इसका ज्ञान मुझे अंग्रेजी कवियों के रूप-शिल्प के बोध से ही प्राप्त हुआ। रीतिकाव्य में अनियन्त्रित अनुप्रासों की पुनरुक्ति केवल एक शाब्दिक चमत्कार बनकर रह जाती है। अनुप्रासों के विशिष्ट संयमित प्रयोग से किस प्रकार भावनाओं की व्यंजना अधिक प्रेषणीय बन सकती है, यह मैंने अंग्रेजी काव्य के अध्ययन से ही सीखा। 'पल्लव' की भूमिका में मैंने स्वर-संगीत, ध्वनि-प्रभाव आदि काव्य के रूप-विधान-सम्बन्धी उपकरणों का विस्तृत विवेचन किया है। मेरी सन् '२६ तक की रचनाओं में—जिनमें 'उच्छ्वास', 'आँसू', 'बादल', 'अनंग', 'मौन निमन्त्रण', 'बीचि-विलास' तथा 'परिवर्तन' आदि मुख्य है—उपर्युक्त कवियों का व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है।

छायावाद नाम हमारी पीढी की कविता पर सम्भवतः पीछे आरोपित किया गया। जिन दिनों की मैं चर्चा कर रहा हूँ, मैं इस शब्द से परिचित नही था। 'पल्लव' की भूमिका में भी, जो सन् '२६ के प्रारम्भ में लिखी गयी थी छायावाद शब्द नहीं आया है। 'वीणा' की भूमिका में सन् १९१७ में इस शब्द का प्रयोग अवश्य मिलता है। उस युग की कविता के लिए इस नाम का औचित्य-अनौचित्य जो कुछ भी हो, 'पल्लव' काल तक की अपनी कविता को मैं द्विवेदी-युग की कविता का विस्तार नही तो विकास मानता आया हूँ। वैसे मुझे कला-शिल्प-सम्बन्धी प्रेरणा मुख्यतः अंग्रेज़ी कवियों से और भावना-सम्बन्धी उन्मेष प्रारम्भ में रवीन्द्रनाथ तथा शेली से मिला। द्विवेदी-युग की कविता से, रूप-सौष्ठव तथा भाव-ऐश्वर्य दोनों ही दृष्टियों से, मुझे असन्तोष रहा है। द्विवेदी-युग की काव्य-शैली का परिष्कार छायावाद के जन्म के बाद हुआ।

छायावाद का विरोध द्विवेदी-युग के आलोचकों ने प्रारम्भ में निर्मम रूप से किया; स्वयं द्विवेदीजी भी इस विरोध को सुलगाते रहे। ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली का प्रश्न भी तब मरा नहीं था। 'पल्लव' तथा 'वीणा' की भूमिकाओं में उस युग के वातावरण का आभास मिलता है। 'पल्लव' की भूमिका मैंने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वार्षिकोत्सव के अवसर पर सभापति के पद से दिये हुए श्री रत्नाकरजी के भाषण के उत्तर में लिखी थी—विशेषकर भूमिका का पूर्वार्ध। 'वीणा' की अप्रकाशित भूमिका, जो 'गद्य-पथ' में मिलती है, सुकवि किंकर के नाम से 'सरस्वती' मे छायावाद पर द्विवेदीजी द्वारा किये गये व्यंग के प्रत्युत्तर में लिखी गयी थी। सन् '२२ में प्रकाशित मेरी प्रथम पुस्तिका 'उच्छ्वास' को आलोचकों के कटु प्रहार सहने पड़े थे। उसे किसी ने 'प्रेटी नानसेंस' बताया तो किसी ने 'बीसवीं सदी का महाकाव्य'। वयोवृद्ध कवियों में श्रीधर पाठकजी से मुझे निरन्तर प्रोत्साहन मिलता रहा। वह मुझे बार-बार 'यू आर द फ्यूचर पोएट आफ़ इण्डिया' कहा करते थे। उनके ऐसे महत् स्नेह तथा आश्वासन-भरे उदार-हृदय वाक्यों से मुझे आत्म-बल मिला है। दूसरा प्रोत्साहन मुझे प्रारम्भ में प्रो० पाण्डेयजी से मिला जिसकी चर्चा ऊपर कर चुका हूँ।

'पल्लव' काल की रचनाओं तक मेरी अन्तर्दृष्टि काव्य-चेतना के उन मूल स्रोतों तक नहीं पहुँची थी जिनका सान्निध्य पाने के लिए मेरे हृदय में गोपन द्वन्द्व चला करता था। काव्य के बाह्य मूल्यों का यत्किंचित् ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी मेरा कवि तब स्वतन्त्रचेता नहीं बन सका था, जिसके लिए मुझे आनेवाले वर्षों में अविरत संघर्ष करना पड़ा। काव्य-चेतना के संस्कार के साथ ही मेरे भीतर आत्म-परिष्कार तथा सामाजिक अभ्युदय की प्रवृत्तियाँ अल्मोड़े में किशोरावस्था से ही जाग्रत हो चुकी थी। काव्य-सृजन के साथ आत्मोन्नयन तथा सामाजिक उत्थान की समस्याओं पर मेरा मन समानान्तर रूप से अपने मानसिक बौद्धिक विकास के अनुरूप बराबर सोच-विचार करता रहा है। जब मैं 'पल्लव' की रचनाएँ लिखकर काव्य-बोध तथा कला-शिल्प में परिपक्वता प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था, उन्हीं दिनों गांधीजी के नेतृत्व में देश की स्वतन्त्रता का आन्दोलन गम्भीर तथा व्यापक रूप धारण कर हमारी पीढ़ी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। सन् १९२१ के आन्दोलन में अपने मझले भाई के कहने पर मैंने कॉलेज छोड़ दिया था। वह घटना मुझे अच्छी तरह याद है। परीक्षा के दिन निकट होने के कारण मैं अपने कक्ष में बैठा वर्ड्सवर्थ की पंक्ति 'चाइल्ड इज द फादर ऑफ़ मैन' को पढ़कर अपने में डूबा हुआ कुछ सोच रहा था जब सहसा भाई ने, जो उसी छात्रावास में रहते थे, कमरे में प्रवेश कर कहा, 'गांधीजी का व्याख्यान सुनने नहीं चलोगे?' गांधीजी का व्याख्यान? मुझे विशेष उत्साह प्रकट करते न देखकर उन्होंने रुष्ट होकर कहा, 'बस, तुम परीक्षा में उत्तीर्ण होकर जी-हुजूर बनोगे।...चलो जल्दी तैयार होकर मेरे साथ चलो!' मैं उन दिनों खादी पहनता था, जल्दी से कुरता-पायजामा पहनकर भाई के साथ हो लिया। गांधीजी के दर्शन करने की इच्छा किसे न होगी! पर परीक्षा की व्यस्तता के कारण बाहर से मेरा मन तटस्थ था।

सवेरे का समय था। पुराने आनन्द भवन—अब स्वराज्य भवन—में स्कूल-कॉलेज के छात्रों की अपार भीड़ थी। भाई ने मुझे ले जाकर पहली पंक्ति में खड़ा कर दिया। उधर महात्माजी मंच पर उपस्थित हुए और 'महात्मा गांधी की जय' के तुमुल नाद से वातावरण गुंजरित हो उठा। थोड़े-से चुने हुए संयत शब्दों में एक सुथरे-शान्त व्यक्तित्व ने छात्रों का सम्बोधन करते हुए देश की पराधीनता तथा दुरवस्था का चित्र खींच-कर, असहयोग आन्दोलन का महत्त्व समझाया और छात्रों से सरकारी शिक्षा-संस्थाओं में पढ़ना छोड़ने तथा देश-सेवा के कार्य में हाथ बँटाने का आग्रह किया। इस स्वल्प भाषण के उपरान्त उस खादी की शुभ्र मूर्ति ने आदेश दिया कि जो लड़के स्कूल-कॉलेज छोड़ने को तैयार हों वे हाथ उठाकर अपनी सम्मति प्रकट करें। प्राय: पचास-साठ हाथ सहसा तारुण्य के उत्साह के अंकुरों की तरह हवा में उठ गये। मेरे भाई मेरे पीछे खड़े थे। उन्होंने कुहनी पकड़कर मेरा हाथ भी ऊपर कर दिया। शेष लड़कों के चले जाने पर मैंने देखा कि भाई हम लोगों के साथ, जिन्हें वहीं रुकने का आदेश मिला था, नहीं है। होस्टल पहुँचने पर उन्होंने मेरी पीठ थपथपाते हुए कहा, "देखो, अगर हम दोनों में एक भी पढ़ना न छोड़ता तो लोग क्या कहते ? और अगर दोनों ही छोड़ देते तो घरवाले अर्थात् पिताजी और बड़े भाई क्या कहते ?" बात समाप्त हो गयी। कुछ दिनों बाद हममें से अनेक छात्रों ने किशोर उत्साह के उबाल के घट जाने पर फिर से कॉलेज जाना शुरू कर दिया, पर मुझसे ऐसा न हो सका। लम्बे बालों के कारण और कुछ कवि होने के कारण भी इन दो ही वर्षों में अनेक लोग मुझे जानने लगे थे। छात्रों के अतिरिक्त और भी कई लोगों ने मुझे कॉलेज से असहयोग करने के लिए बधाइयाँ दीं, जिससे पढ़ने का मेरा रहा-सहा उत्साह भी जाता रहा। राजनीति के लिए मेरी कभी भी अभिरुचि नहीं रही। कॉलेज के बन्धन से मुक्त हो जाने पर भी मैंने अपना समय पूर्ववत् अध्ययन-मनन में ही व्यतीत किया।

इस छोटी-सी घटना ने मेरे जीवन की धारा को जैसे एकदम ही मोड़ दिया और मुझे स्वतन्त्र रूप से अध्ययन, चिन्तन तथा लेखन करने के अतिरिक्त और किसी कार्य के योग्य नहीं रखा। यह बड़ी विचित्र बात है कि परिवार के लोगों से—विशेषकर अपने भाइयों से—मुझे अपने जीवन में किसी प्रकार की भी सहायता, सहानुभूति या प्रोत्साहन नहीं मिला। हाँ, उन्होंने कॉलेज छोड़ने की घटना के अतिरिक्त और मेरा कभी किसी बात में विरोध नहीं किया। उनका मनोभाव इतना निष्क्रिय तथा ममताहीन रहा कि उन्होंने दूर से भी कभी मेरी देख-रेख की हो या मेरे विकास पर प्रच्छन्न दृष्टि ही रखी हो, ऐसा मुझे नहीं प्रतीत हुआ। घर की ओर से तटस्थता के इस वृहत् निर्मम शून्य में मुझे अपने जीवन तथा कवि बनने की महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए स्वयं ही कठिन संघर्ष करना पड़ा। मैंने देश के आन्दोलन में बाहर से तो कभी भाग नहीं लिया और न भाई की तरह मैंने कभी कारावास ही झेला, पर हमारे राष्ट्रीय जागरण के आन्दोलन का जो भीतरी पक्ष रहा है उससे मैं निरन्तर जूझता रहा हूँ और अपनी सामर्थ्य के अनुसार मैंने उसका ऋण भी चुकाया है। कॉलेज छोड़ने के लिए मुझे बाहर से भाई ने भले ही बाध्य किया हो पर

राष्ट्रीय जागरण का अंग बनने के लिए मेरा मन भीतर से सदैव उत्सुक रहता था। भाई ने बाहर की राख-भर हटा दी, भीतर की सोयी आग जग उठी। अपने व्यक्तिगत जीवन-संघर्ष के बारे में यहाँ न लिखकर मैं अपने मानसिक, बौद्धिक तथा चेतनात्मक द्वन्द्व का आभास संक्षेप में देने का प्रयत्न करूँगा।

इक्कीस वर्ष की अबोध अवस्था में कॉलेज छोड़ने के साथ ही मैंने, साधारण अर्थ में जिसे जीवन कहते हैं, उसके द्वार अपने लिए सदा के लिए बन्द कर, अपने को संसार में बड़ा ही अकेला पाया। मैंने अपनी कई रचनाओं में भी इस ओर संकेत किया है :

'वय:सन्धि की ओट खड़ा था संघर्षों का पर्वत यौवन।'

अथवा

'एकाकीपन का अन्धकार दु:सह है इसका मूक भार
इसके विषाद का रे न पार।' इत्यादि।

अकेलापन—भीतर और बाहर केवल अकेलापन, इस भावना ने मुझे बड़े ही गहरे वेग से आक्रान्त किया। बाहर की जीवन-समस्याओं का तो किसी-न-किसी प्रकार मुझे सामना करना ही पड़ा, पर सबसे बड़ा सामना मुझे अपना ही, अपने अपरिचित, अशिक्षित मन का ही करना पड़ा। अपने को अपने इतने अधिक दुर्बोध नैकट्य में पाकर मेरा चित्त घबड़ाकर सन्त्रस्त हो उठा। इस शून्य, अगम्य, एकाकी आत्म-साक्षात्कार के दु:सह दबाव के कारण ही मैं अपने और अपने चारों ओर की परिस्थितियों के जगत् के बारे में सोचने-समझने को बाध्य हो उठा। कॉलेज की शिक्षा से भीतर के नयन खुलते हैं, यह मैं नहीं देखता। पर उसमें, एक ऐसी वयस में, जबकि मन में जिज्ञासा का उदय होने लगता है, एक नव वयस्क, सबके साथ निर्धारित पथ पर चलने में, अपने को भूला अवश्य रहता है। अपने अन्त संघर्ष के बारे में यहाँ अधिक न लिखकर केवल इतना ही कहूँगा कि अनेकानेक प्रकार की धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक, सामाजिक जिज्ञासाएँ, प्रखर प्रश्नों का रूप धारण कर मेरे मन को तीक्ष्ण तीरों की तरह बेधा करतीं और अपने हृदय के अज्ञात घावों में मरहम लगाने के अभिप्राय से मैं अनेक प्रकार के ग्रन्थों—उपनिषद, गीता, रामायण, रामकृष्ण वचनामृत, विवेकानन्द, रामतीर्थ, पातंजलि, योगवाशिष्ठ्य, रस्किन, टालस्टाय, कार्लाइल, थोरो, इमरसन आदि के अनेक विचारों का गम्भीर, ध्यानपूर्वक पारायण करने लगा। अपने को स्वयं शिक्षित करना कितना कठिन तथा कठोर कार्य है, इसका मुझे थोड़ा-बहुत अनुभव है। गीता से मैं लड़कपन से ही परिचित था। मेरे 'हार' नामक उपन्यास में गीता-दर्शन की चर्चा यत्र-तत्र मिलती है। तुलसी-रामायण का स्वर तब मुझे नीरस, नीति-क्लिष्ट (अब मध्ययुगीन) लगता था; बनारस जयनारायण हाई-स्कूल से मेरे हृदय में बाइबिल जैसे महत् ग्रन्थ के लिए अनुराग के बीज उत्पन्न हो गये थे। मुझे स्मरण है जब दर्शन-ग्रन्थों, टालस्टाय की पाप-पुण्य की धारणाओं, तथा शंकर-भाष्य, भर्तृहरि आदि के जीवन-निषेध-भरे निर्मम प्रभावों से मेरा हृदय हिमशिलाखण्ड की तरह जमकर कठोर, विपण्ण तथा रसशून्य हो गया था और मुझे उन्निद्र-रोग रहने लगा था, तब बाइबिल की सहज, प्रेमसिक्त, जीवन-मधुर अन्तर्दृष्टि-भरी सूक्तियों

से मुझे बड़ी सान्त्वना तथा शान्ति मिलती थी और प्राणों की शिराओं में पवित्र रस-संगीत प्रवाहित होने लगता था। 'बाइबिल' मेरी दृष्टि में एक अमूल्य ग्रन्थ है। ईसा की दृष्टि उच्च आध्यात्मिक कवि-दृष्टि है, जो बुद्धि को बिना किसी तात्त्विक विश्लेषण-संश्लेषण के चक्कर में डाले हृदय को अदृश्य प्रेम के स्पर्श से सहलाकर शान्ति तथा उज्ज्वल तृप्ति से भर देती है। एक ओर काव्य-प्रणयन—'पल्लव' की सभी बड़ी-बड़ी रचनाएँ प्राय: इसी समय लिखी गयी थीं—और दूसरी ओर यह शुष्क अन्तर-मन्थन मेरे जीवन में सन् १९२६ तक निरन्तर चलता रहा। सन् '२६ में एक दिन अपने-आप ही अनेक दिनों के विचार-संघर्ष के बाद, जैसे वह निर्मम हिम-शिला पिघलकर विलीन हो गयी, और अपने नवीन सूक्ष्म अनुभवों से एक ओर जहाँ मुझे शान्ति, प्रकाश तथा आनन्द मिला वहाँ दूसरी ओर एक दूसरे ही प्रकार के संघर्ष ने मेरे भीतर जन्म ले लिया। अब मुझे अपनी ही दृष्टि मिल गयी थी जिसके प्रकाश में मैं अपने को, अन्य विचारकों को तथा चतुर्दिक् के सामाजिक जीवन को समझने का अश्रान्त प्रयत्न करने लगा। अनेक संकट-क्षण भी इसके बाद मेरे जीवन में आये, पर अपने अदम्य विश्वास की सहायता से मैं उन्हें पार कर सका। अपने बारे में एक बात यहाँ और बता दूँ कि मेरा कैशोर— संसार के प्रति अज्ञानता तथा अपने ही में डूबकर सन्तुष्ट रहने की वृत्ति—मेरी भावना के जीवन में प्राय: तीस-पैंतीस वर्ष की दीर्घ अवस्था तक जीवित रहा और उसने, जब तक मेरा विचारों का मन सशक्त नहीं हो गया, मुझे अनेक प्रकार के बाहरी संकटों के पंक में गिरने से बचाया। 'पल्लव' के प्रकाशन के बाद सन् '२६ से '३० तक, और उसके बाद भी, मुझे इतने सूक्ष्म रहस्यात्मक अनुभव होने लगे कि मुझे लिखना प्राय: एक प्रकार से स्थगित करना पड़ा और मैं पुन: शान्त, स्थिर मानसिक स्थिति प्राप्त करने की प्रतीक्षा करने लगा जो अनुभवात्मक से अधिक सृजनशील हो। इसी बीच हमारी पारिवारिक स्थिति विशेष रूप से डाँवाडोल हो उठी और मेरे पिताजी तथा मझले भाई का भी देहान्त हो गया। उमरखैयाम की रुबाइयों तथा अनेक विदेशी कहानियों का अनुवाद मैंने इण्डियन प्रेस के लिए इन्हीं दिनों किया था और 'वीणा' तथा 'ग्रन्थि' नामक मेरे काव्य-ग्रन्थों का प्रकाशन भी इसी काल में हुआ था। अपने बाहरी-भीतरी कठोर संघर्ष के कारण सन् १९२९ में मेरा शारीरिक स्वास्थ्य टूट गया और मुझे अनुभव हुआ कि जैसे मैं अपने मन के बोझ से गिर पड़ा हूँ। डॉक्टर के परामर्श के अनुसार मुझे एक वर्ष तक विश्राम लेना पड़ा। किन्तु इस समय भी मेरी अन्त:शक्ति अथवा आस्था अक्षुण्ण बनी रही और जो समस्याएँ तब मेरे मन में चल रही थीं उन्हें मैं इस अवकाश-काल में एकाग्रचित्त से सुलझा सका। संक्षेप में सन् '२१ से '३१ तक मेरा आत्म-शिक्षण का युग रहा है। मुझे सब प्रकार की विचारधाराएँ तथा जीवन-दर्शन, जिनके सम्पर्क में मैं आ सका, अपर्याप्त तथा अपूर्ण प्रतीत हुए और हृदय, भीतर-ही-भीतर, एक अधिक सर्वांगीण दर्शन अथवा चैतन्य की उपलब्धि की आशा से आनन्दित, जागरूक तथा अन्त:सक्रिय रहने लगा। इसी युग के सम्बन्ध में मैंने 'आत्मिका' नामक अपनी संस्मरणात्मक रचना में संकेत किया है :

वह पहिला ही असहयोग था, बापू के शब्दों से प्ररित
विदा छात्र-जीवन को दे मैं, करने लगा स्वयं को शिक्षित !
बाहर था नवयुग संघर्षण, भीतर अन्तर मन का मन्थन,
पथ-दर्शक था केवल ईश्वर, पद नत करना था आरोहण !
मानस तल में ऊपर-नीचे, चलता तब संघर्षण अविरत,
तम-पर्वत, सागर प्रकाश का मन्थित रहते शिखरों में शत !
करवट लेता भावी नवयुग, गत भू मन को कर क्षत-विक्षत,
भय, संकट, आशा, सुख, दुख से संकुल था प्रभविष्णु अनागत ।
मुंह तक तम से भर जाता मन, अवचेतन आवेशों से श्लथ,
कुचल सूक्ष्म भावों को देता, भवचक्रों का युग विकास रथ !
अविदित भय से कँपता अन्तर, स्वर्गिक संकेतों से पोषित,
स्वर्ग-नरक मानुष तन मन में, प्रलय मचाते विश्व विजय हित !
दुखतीं घायल मनः-शिराएँ, जग के आघातों से निष्ठुर,
स्वप्नों के स्वर्दूत उतरते, सुख विस्मित आन्दोलित कर उर !

प्रभाव और बाह्य संघर्ष

[सन् १९३१ से १९४४ तक]

इन संक्षिप्त लेखों में, मुझे भय है, मैं अपने गत जीवन की अर्धशती का केवल अस्थिपंजर-भर उपस्थित कर सकूँगा । यदि भविष्य में कभी मुझे इसका औचित्य या आवश्यकता प्रतीत हुई तो मैं अपने सम्बन्ध में अधिक विस्तारपूर्वक कह सकूँगा । कॉलेज छोड़ने के बाद मुझे अपने साथ रहने अथवा अपने भीतर डूबने का अधिक सुयोग मिल सका । 'पल्लव' के प्रकाशन के बाद मेरे मन के पृष्ठ-पर-पृष्ठ आँखों के सामने खुलने लगे और मुझे चैतन्य के भीतरी स्तरों का थोड़ा-बहुत आभास मिलने लगा । यहाँ संक्षेप में इतना ही कहूँगा कि मैं तब बड़ी ही जल्दी आत्म-विस्मृत हो उठता था और यदि शृंगार-मेज का शीशा पोंछ रहा होऊँ तो अपने को भूलकर बड़ी देर तक उसी को पोंछता रहता था । पढ़ने में भी मैं अक्सर ध्यानस्थ हो जाता, इसलिए मैं प्रायः बरामदे में टहलते हुए, और कभी पद-नृत्य करते हुए भी, पुस्तकें पढ़ा करता था । तब मेरे मन में बाहरी व्यक्तित्वों तथा परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना शुरू नहीं हुआ था । वह मेरी

'लायी हूँ फूलों का हास लोगी मोल लोगी मोल !'

अथवा

'उमड़ पड़ा पावस परिप्रोत फूट रहे नव-नव जलस्रोत !'

वाली मनःस्थिति थी । पढ़ते समय विचार मेरे सामने चित्रों में उपस्थित होने लगते थे । उन दिनों मैंने कुछ समय के लिए पढ़ना स्थगित कर कपड़े में फूल-पत्ते काढ़ने का काम हाथ में ले लिया था । अपनी इस भावातिरेक-पूर्ण मानसिक स्थिति का मूल्यांकन मैं पीछे कर सका । इन्हीं दिनों मेरी मित्रता श्री पी० सी० जोशी से घनिष्ठ होती गयी । मेरे भावाक्रान्त मन

को उनके वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से बड़ी सान्त्वना मिलती । जोशी मुझ-सा श्रोता पाकर वाचाल हो उठते थे। उनके विचारों द्वारा मेरे मन में मानव-सभ्यता के राजनीतिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक विकास की रूपरेखाएँ धीरे-धीरे अंकुरित होने लगीं, जिन्हें मैं पीछे अपने अध्ययन-मनन से अधिक व्यापक एवं समन्वित रूप में समझ सका। मेरा मन उन दिनों ईसा की उदात्त प्रेम-चेतना में निमग्न रहता था, जिसे मैंने ईश्वर-प्रेम तथा विश्व-प्रेम के रूप में ग्रहण किया था। मेरा विश्व-प्रेम का क्षितिज जोशी के ऐतिहासिक ज्ञान तथा सामाजिक भविष्य की सम्भावनाओं से तब विस्तृत तथा वस्तुमूलक बनने की चेष्टा कर रहा था। मेरी विश्व-प्रेम की भावना ने तब कोई विशेष आकार अथवा रूप-रंग ग्रहण नहीं किये थे। जोशी निश्छल, कर्मठ व्यक्तित्व के नवयुवक थे; मेरा हृदय उनकी मित्रता का सम्मान करता था। इस प्रकार पच्चीस से तीस वर्ष तक के इस अध्ययन-मनन के युग में जहाँ एक ओर मेरे मन में भीतर की ओर जाने अथवा प्रवेश करने के लिए एक सोपान अथवा सेतु बन गया वहाँ बाहर की ओर भटकने अथवा विचरने को एक पथ या पगडण्डी भी बन गयी थी, जिनके सार्थक समन्वित उपयोग से पीछे मुझे अपने मूल्यांकन-सम्बन्धी दृष्टिकोण को व्यापक बनाने में सहायता मिली। इसके उपरान्त अपनी अस्वस्थता के कारण विश्राम की आवश्यकता पड़ने पर मैं सन् '३१ में कालाकाँकर चला गया। कुँवर सुरेशसिंह से मेरा परिचय पहले केवल पत्र-व्यवहार तक सीमित था। जिस प्रेरणा ने मुझे कालाकाँकर भेजा वह वहाँ फलीभूत होती दिखायी दी। मेरे मन को वहाँ के स्वच्छ एकान्त वातावरण से सान्त्वना तथा शक्ति मिली। मैं वहाँ सब मिलाकर आठ-दस साल रहा। कालाकाँकर में मेरी युवावस्था के सर्वश्रेष्ठ वर्ष सन् '३० से '४० तक वानप्रस्थ स्थिति में ज्ञान-साधना में पशु-पक्षियों के साथ व्यतीत हुए। आर्थिक परिस्थितियों के अतिरिक्त भी मेरे भीतर तब एकान्त का इतना उर्वर बोझ तथा मानसिक द्वन्द्व रहा कि मुझे तारुण्य की प्रणय-भावना के सुनहले विष को पी जाना पड़ा। सम्भवत: वह आगे चलकर अधिक उपयोगी तथा व्यापक रूप में पुष्पित-पल्लवित होकर सामने आ सके। कालाकाँकर के संस्मरण मैंने इस प्रकार छन्दबद्ध किये हैं :

गंगातट था, श्यामल वन थे, तरु प्राणों में भरते मर्मर
जल कलकल, खग कलरव करते, प्रकृति नीड़ था जनपद सुन्दर।
मैं कृतज्ञ उस ग्राम राज्य का, जहाँ कटे सुख के संकट क्षण
वे मानस मन्थन के दिन थे, भरा सुनहली स्मृतियों से मन!
टेसू के पावक वन में युग बीता, तरु खग पशु थे सहचर,
मनन अध्ययन रत रहता मन, भीटे पर नक्षत्र था सुघर!

इत्यादि।

'नक्षत्र' जंगल के छोर पर गंगा-किनारे ऊँचे भीटे पर बनी एक छोटी-सी कॉटेज थी, जिसे मैंने अपने रहने के लिए चुना था। कालाकाँकर में मुझे मानसिक स्वास्थ्य-लाभ हुआ। उन दिनों मेरे मन में जो संघर्ष चल रहा था उसका आभास थोड़ा-बहुत 'गुंजन' की रचनाओं तथा 'ज्योत्स्ना' के रूप में मिलता है। 'गुंजन' में मेरी व्यक्तिगत साधना के

प्रगीत हैं :

तप रे मधुर-मधुर मन !

विश्ववेदना में तप प्रतिपल, जग जीवन की ज्वाला में गल,

बन अकलुष उज्ज्वल औ' कोमल, तप रे विधुर विधुर मन !

अकलुष, उज्ज्वल और कोमल—ये तीन गुण तब मेरे मन मे बाइबिल की पवित्रता, उपनिषदों के प्रकाश तथा कविता-सम्बन्धी कला-प्रेम के प्रतीक रहे हैं। 'गुंजन' में 'सम दुःख सुखे कृत्वा' के द्योतक मेरी आत्म-साधना के अनेक छोटे-छोटे प्रगीत हैं, जिनमें मैंने मानसिक द्वन्द्वों में सन्तुलन स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उनमें विश्व-जीवन के लिए आत्म-त्याग तथा प्रेम का सन्देश निहित है। समतल जीवन के व्यक्तिगत संघर्ष से कुण्ठित न होकर उसका समाधान विश्व-स्तर पर तथा ऊर्ध्व स्तर पर खोजने की मेरी प्रवृत्ति पहले से ही रही है।

'स्थापित कर जग में अपनापन' अथवा 'मानव जग में बँट जायें सुख दुख से औ' दुख सुख से' अथवा 'मैं सीख न पाया अब तक सुख से दुख को अपनाना' या 'अपनी डाली के काँटे बेधते नहीं अपना तन' तथा 'लगता अपूर्ण मानव जीवन, मैं इच्छा से उन्मन-उन्मन' आदि अनेक उदाहरण मेरी उस समय की भावना के द्योतक हैं, जिन्हें 'गुंजन' में अभिव्यक्ति मिली है। 'ज्योत्स्ना' में मैंने अपने विश्व-जीवन के स्वप्न को अवतरित करने की चेष्टा की है। उस समय मेरे मन में जो राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा लोकजीवन-सम्बन्धी धारणाएँ थीं तथा जो मनोवैज्ञानिक आध्यात्मिक आदर्श मुझे आकृष्ट करते थे उन्हें मैंने इस नाट्य-रूपक के स्वरूप में उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। कल्पना-प्रधान होने के कारण, सम्भवतः 'ज्योत्स्ना' की ओर कम लोगों का ध्यान गया है। वह मेरी तब की सौन्दर्य-शिल्प की साधना का भी सम्यक् निदर्शन है। 'गुंजन' तथा 'ज्योत्स्ना' में मेरे विगत वर्षों की प्रयाग की जीवन-साधना ने ही वास्तव में वाणी पायी है। उनमें कालाकाँकर का इतना ही योगदान है कि वहाँ मुझे उन विचारों तथा भावनाओं को पुस्तक-रूप में प्रणयन करने का अवकाश मिल सका। यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि मेरे साहित्यिक जीवन में भीतरी क्षमता, तत्परता आदि से बाहरी परिस्थितियों से सम्बन्धित बाधाएँ तथा कठिनाइयाँ अधिक रही हैं, जिनके कारण मेरा कृतित्व अधिक पुष्कल नहीं हो सका। पिताजी का संरक्षण हट जाने के कारण मुझे अपने को बिलकुल ही भिन्न जीवन-परिस्थितियों का सामना करने के लिए तैयार करना पड़ा, जिनके अनुरूप मन को ढालना श्रम-साध्य तथा कठिन प्रतीत हुआ और उन नवीन परिस्थितियों से ऊपर उठने में समय भी लगा। इस बार कालाकाँकर में प्रायः दो वर्ष तक रहने के बाद मैं फिर अल्मोड़ा चला गया। वहाँ मुझे मार्क्स तथा फ्रॉयड को पढ़ने का विशेष अवसर मिला और अपने भाई से मार्क्स का आर्थिक पक्ष समझने में भी सहायता मिली। कालाकाँकर में ग्रामवासियों के अभावग्रस्त जीवन का अज्ञात प्रभाव मेरे सौन्दर्य तथा आदर्शप्रिय मन में प्रच्छन्न रूप से अवश्य ही पड़ने लगा था। अल्मोड़े में मैंने डेढ़-दो वर्षों में इन नवीन ऐतिहासिक तथा प्राणिशास्त्रीय विचारधाराओं का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया था। मार्क्स के सिद्धान्तों का थोड़ा-बहुत

परिचय मुझे जोशी से भी मिल चुका था। इन विचारधाराओं के प्रमुख तत्वों के आधार पर युग-जीवन को समझने की मेरी चेष्टा निरन्तर चलती रही। गांधीजी के क्रियाशील व्यक्तित्व तथा असहयोग आन्दोलन में भारतीय आदर्शवाद, जो एक नवीन सक्रिय रूप में प्रकट हो रहा था, की ओर मेरी दृष्टि कॉलेज छोड़ने के बाद से सदैव जागरूक रही, किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद जो पश्चिमी आदर्शवादी विचारधारा को आघात लगा तथा रूसी क्रान्ति के फलस्वरूप जिस नवीन सामाजिक यथार्थ की धारणा की ओर धीरे-धीरे ध्यान आकर्षित होने लगा और साथ ही वैज्ञानिक युग ने हमारे मध्ययुगीन निषेधात्मक दृष्टिकोण के विरोध में जिस नवीन भावात्मक दर्शन (फिलॉसफी ऑफ़ पॉज़िटिविज़्म) को जन्म दिया उस सबकी सम्मिलित प्रतिक्रियास्वरूप विश्व-जीवन तथा मानव-जीवन के प्रति मेरी आस्था तथा आशा बढ़ती गयी। अपने उस युग के विचार एवं भावना-जगत् को मैंने, अपने बदलते हुए दृष्टिकोण के अनुरूप, तब 'युगान्त' नामक अपने काव्य-संग्रह तथा 'पाँच कहानियाँ' में प्रारम्भिक अभिव्यक्ति दी। अपने भीतर सन्तुलन प्राप्त करने का मेरा एकान्त आग्रह नवीन सामाजिक व्यवस्था की धारणा से व्यापक तथा परिपुष्ट हो सका और व्यक्ति को अपने भीतर एक नये मानव के रूप में बदलने के साथ ही बाहर से भी एक नवीन सामाजिक प्राणी के रूप में बदलना है, मेरी यह धारणा सशक्त तथा समृद्ध होती गयी :

'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र, हे ध्वस्त स्रस्त, हे शुष्क शीर्ण'

या

'कंकाल जाल जग में फैले फिर नवल रुधिर पल्लव लाली'

या

'गा, कोकिल, नव गान कर सृजन, रच मानव के हित नूतन मन'

'करे मनुज नव जीवन यापन'—आदि 'युगान्त' में व्यक्त भावनाएँ मेरे मानसिक जीवन के एक मौलिक परिवर्तन तथा गम्भीर विश्वासों के उदय की सूचना देती हैं। मानव-जीवन-सम्बन्धी सम्भावनाओं एवं आस्थाओं के जीवन्त स्पर्श से मेरा कला-शिल्प-सम्बन्धी दृष्टिकोण भी बदलने लगा। गृह-जीवन के मोह, पारिवारिक जीवन के बन्धन तथा स्नेह-सम्पोषण से मुक्त, मैं उन दिनों हाड़-मांस के मनुष्य से अधिक विश्वासों, विचारों और भावनाओं के सम्पुंजन के रूप में जीवित रहने लगा। मेरा मन युग-जीवन की गतिविधि तथा मानव-दायित्व एवं मूल्यों के प्रति तब से निरन्तर प्रबुद्ध रहा, इसके प्रमाण 'पल्लव' के बाद की मेरी रचनाओं में पग-पग पर मिलते हैं। 'सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर, मानव तुम सबसे सुन्दरतम' के स्वर मेरी रचनाओं में 'युगान्त' से ही आने लगे थे और प्रकृति के मुख से मेरा ध्यान मानव-मुख की ओर जाने लगा था। 'पल्लव' की अन्तिम रचना 'छायाकाल', जिसमें मैंने अपनी विगत भावना-धारा से विदा ली है और 'गुंजन' में 'लगता अपूर्ण मानव जीवन' आदि रचनाएँ मानस में घटित हो रहे इसी परिवर्तन की द्योतक हैं।

इन वर्षों में, मेरे कवि-जीवन के विकास की दृष्टि से, एक और महत्त्वपूर्ण घटना हुई; मुझे पहली बार महात्मा गांधी के निकट सम्पर्क

में आने का सौभाग्य प्राप्त हो सका। मेरे भाई, जो अल्मोड़ा ज़िला कांग्रेस के मन्त्री थे, सन् '३४ में जेल से छूटने के बाद गांधीजी से मिलने दिल्ली गये और मुझे भी अपने साथ ले गये। उन्हें वहाँ अपनी शल्य-क्रिया के लिए भी जाना था। नमक सत्याग्रह का आन्दोलन प्रायः समाप्त हो चुका था। गांधीजी ने उन दिनों सत्याग्रह आन्दोलन को अधिक व्यापक तथा सशक्त बनाने के लिए ग्राम-संगठन का कार्य आरम्भ कर दिया था। वह तब हरिजन कॉलोनी में ठहरे हुए थे। हम लोग जब उनसे मिले तब वह भोजन कर रहे थे। कुछ अन्य लोग भी उनके पास उपस्थित थे। इस भेंट में कुछ ही क्षणों में मुझे गांधीजी के महत् व्यक्तित्व का अन्तः-स्पर्श मिल सका; तब मुझे ज्ञात हुआ कि गांधीजी कितने हृदयवान् महा-पुरुष हैं। अपने इस आन्तरिक अनुभव की बात को मैंने संक्षेप में इस प्रकार कहा है :

प्रथम भेंट में मिला हृदय को सूक्ष्म स्पर्श, दृग विस्मय प्रेरित,
स्फुरित इन्द्रधनु अर्चि विनिर्मित हुआ मनोमय वपु उद्भासित,
विश्व चेतना में जब नव गुण होता उद्भव हेतु अवतरित
लोक अस्मिता से संघर्षण करना पड़ता उसे अतन्द्रित। इत्यादि।

मैंने 'बापू के प्रति' शीर्षक अपनी पहली रचना गांधीजी पर सन् '३६ के आरम्भ में इस भेंट के बाद ही लिखी :

तुम मांस, तुम्हीं हो रक्त, अस्थि, निर्मित जिनसे नवयुग का तन,
तुम धन्य, तुम्हारा निःस्व त्याग हो विश्वभोग का चिर साधन !
इत्यादि।

तब से जब भी मेरा मन युग-संघर्ष के आंधी-तूफान से आक्रान्त हुआ, मैंने गांधीजी का स्मरण किया है और जिस रूप में भी मैं ग्रहण कर सका, मैंने उनके व्यक्तित्व से सहायता ली है और मेरे काव्य में तब से गांधी-वाद का एक स्वर सदैव विद्यमान रहा है। गांधीजी के तपःपूत व्यक्तित्व से जिस ओजस्वी सात्विक चैतन्य का जन्म मेरे भीतर हुआ था उसे युग की विषाक्त शक्तियों से टकराकर संघर्ष करना पड़ा; इसी संघर्ष में मैं युग-जीवन में व्याप्त प्रच्छन्न विष के स्वरूप को समझ सका। मेरे कवि-हृदय को नव युग मंगल के लिए एक सर्वांगपूर्ण रससिद्ध चैतन्य की खोज थी, जिसकी प्राप्ति के लिए गांधीजी का अन्तःस्पर्श शुभ्र सोपान बन सका। सन् '४० में मैंने 'ग्राम्या' नामक अपने काव्य-संकलन में 'महात्माजी के प्रति' शीर्षक कविता में लिखा था :

विश्व सभ्यता का होना था नख शिख नव रूपान्तर,
राम राज्य का स्वप्न तुम्हारा हुआ न यों ही निष्फल !

'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' की रचना मेरे कालाकांकर के दूसरे निवास-काल में हुई। सन् १९३६ के जाड़ों में मैं फिर कालाकांकर चला गया और तब से सन् '४० तक अधिकतर वहीं रहा। इस युग में ग्राम-जीवन के वातावरण तथा रहन-सहन का निरीक्षण-परीक्षण मैं अधिक अच्छी तरह कर सका और अपने आर्थिक, राजनीतिक विचारों तथा सांस्कृतिक भावना और कवि-कल्पना की पृष्ठभूमि में उसे ग्रहण कर उसके पुनर्निर्माण की सम्भावनाओं पर विचार करने लगा। कोयल कण्ठ से बोलनेवाली, आम्र मंजरियों से सुनहले अंग सँवारनेवाली, असीम शोभामयी, गाँवों

की प्राकृतिक श्री, मौन निरभ्र विस्मय-भरे नील आकाश के नीचे अपने मातृ-अंक में युगों के घोर कुरूप जघन्य दारिद्र्य को लिये जैसे नतमस्तक बैठी थी !

तीस कोटि सन्तान नग्न तन, अर्ध क्षुधित, शोषित निरस्त्र जन
मूढ़ असभ्य अशिक्षित निर्धन—नतमस्तक तरु तल निवासिनी ! ···

'ग्राम्या' में 'भारतमाता' की इस 'मिट्टी की प्रतिमा उदासिनी' की गाथा अनेक छन्दों में अंकित है। कालाकाँकर में मेरे सौन्दर्य-प्रेमी हृदय को गाँवों की अत्यन्त दयनीय दुरवस्था का दृश्य देखकर अनेक बार कठोर आघात भी लगे हैं और मेरा विचार-जगत् क्षुब्ध तथा विचलित होता रहा है :

सुलभ यहाँ रे कवि को जग में युग का नहीं सत्य शिव सुन्दर ?
कँप-कँप उठते उसके उर की व्यथा-विमूर्छित वीणा के स्वर···!
··· ··· ··· ···

अथवा

आता मौन प्रभात अकेला, सन्ध्या भरी उदासी,
यहाँ घूमती दोपहरी में स्वप्नों की छाया-सी।···
··· ··· ··· ···

प्रकृति धाम यह : तृण-तृण कण-कण यहाँ प्रफुल्लित जीवित
यहाँ अकेला मानव ही रे, चिर विषण्ण, जीवन-मृत। आदि

अनेक रूप से मैंने अपने व्यक्तिगत तथा लोक-जीवन-सम्बन्धी अवसाद को उस काल की रचनाओं में वाणी दी है। अपनी व्यक्तिगत सुविधाओं के लिए निश्चिन्त होने पर भी, उन वर्षों के अपने भावनाजनित निर्मम सूने एकाकीपन को, जिसके लिए मैंने 'खोज रहा एकाकी जीवन साथी स्नेह सहारा' लिखा है, मैं अपने युग-चिन्तन तथा भावी मानवता की कल्पना के स्वप्नों से ही परिवृत कर रससिक्त बना सका हूँ, जो मेरे अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए भी आवश्यक हो गया था। प्रकृति-निरीक्षण, अध्ययन तथा ग्राम-जीवन की विपन्नता का विश्लेषण, कालाकाँकर के निवास-काल के ये मेरे प्रमुख जीवन-अवलम्ब रहे हैं। सन् '३६ से '४० तक मैंने अपना अधिकांश समय केवल पठन-पाठन, चिन्तन तथा सृजन को ही दिया है; इन वर्षों में मैं एक बौद्धिक यन्त्र की तरह रहा हूँ। विश्व-साहित्य, आधुनिक काव्य तथा पूर्व-पश्चिम की प्राचीन-नवीन विचारधाराओं से मैं जो भी ग्रहण कर सकता था उसे मैंने आत्मसात् करने का प्रयत्न किया। एकान्त अरण्य नीड़ में छिपकर इस युग में मैंने भारतीय संस्कृति में प्रविष्ट अनेकान्त विचार-सरणियों का भी गम्भीर मनन किया और मानव-चेतना के नवीन विकास की दिशा का आभास भी मेरे मन को इसी युग में मिला, जिसके अनेकानेक उदाहरण 'ज्योत्स्ना', 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में मिलते हैं :

जग जीवन के अन्तर्मुख नियमों से स्वतः प्रवर्तित
मानव का अवचेतन मन हो रहा आज परिवर्तित।
नव प्रकाश में तमस युगों का होगा स्वयं निमज्जित
प्रतिक्रियाएँ विगत गुणों की होंगी स्वयं पराजित।

अथवा

छायाएँ हैं संस्कृतियाँ मानव की निश्चित
वह केन्द्र, परिस्थितियों के गुण उसमें बिम्बित,
मानवी चेतना खोल युगों के गुण कवलित
फिर नव संस्कृति के वसनों से होगी भूषित। इत्यादि।

कालाकाँकर में कुँवर सुरेशसिंह तथा उनकी पत्नी से मुझे परिवार के प्राणी की तरह जो स्नेह-सद्भाव मिला उसके लिए कृतज्ञता प्रकट न करना अक्षम्य होगा। श्रीमती सुरेशसिंह के जन्म-दिवस के अवसर पर लिखी हुई मेरी कविता उनके प्रति मेरे स्नेह की शुभ्र स्फटित गवाक्ष है। यदा-कदा वहाँ साहित्यिक मित्र भी आते रहते थे और कभी मैं ही प्रयाग या लखनऊ में उनके पास चला जाता था, जिससे जीवन की विरस एकरूपता भंग होती रहती थी।

'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में मैंने अपने सामाजिक दर्शन को वाणी दी है। मेरे बहुत से आलोचकों को मेरी इस काल की रचनाओं से असन्तोष है—काव्य-प्रेमियों को इसलिए कि 'युगवाणी' में 'पल्लव' के मांसल शिल्प का अभाव है एवं 'ग्राम्या' में गाँवों को खोखली प्रचलित भावुकता में लपेटकर स्वर्ग नहीं बताया गया है; राजनीतिक मतवादियों को इसलिए कि उनमें उन्हें अग्निभरी विध्वंसकारी फुंकार न मिलकर केवल रचनात्मक मानवीय पुकार ही मिल सकी।

'पल्लव-गुंजन' के सौन्दर्य-कल्पना-लोक से बाहर निकलकर मेरा युग-जीवन की वास्तविकता का स्वागत करना रीतिकाव्य के संस्कारों में पली रुचि को किसी प्रकार भी कवि-कर्म नहीं प्रतीत हुआ। पर मेरे मनोविकास के लिए युग की वास्तविकता को आत्मसात् करना एक अनिवार्य आवश्यकता बन गयी थी। 'युगवाणी'-'ग्राम्या' में मैंने गांधीवाद-मार्क्सवाद का समन्वय करने की चेष्टा तो नहीं की है, पर हाँ, गांधीवाद के शुद्ध साधन—जिसका अर्थ मैं मानवीय साधन लेता हूँ—के सिद्धान्त तथा उसके सांस्कृतिक पक्ष को मेरा मन महत्त्व देता रहा है और मार्क्सवाद की जनतन्त्र की धारणा मुझे सदैव अधिक वास्तविक तथा वैज्ञानिक लगती रही है। दोनों के जीवन-दर्शनों में मेरे मन को जो रुचिकर तथा संग्रहणीय प्रतीत हुआ है, उसे मेरे इस युग की रचनाओं में स्वतः ही वाणी मिल गयी है। 'समाजवाद और गांधीवाद' शीर्षक रचना में मैंने 'युगवाणी' में कहा है :

मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद,
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद।

अपनी इस काल की रचनाओं के सम्बन्ध में मैं अपनी भूमिकाओं में पर्याप्त प्रकाश डाल चुका हूँ।

कालाकाँकर में भी स्वतन्त्रता-संग्राम की हलचल होती रहती थी। राजा साहब स्वयं कांग्रेसी थे। उनके जीवनकाल में मुझे दो-एक बार उनके साथ राज्य में स्वयंसेवकों के प्रदर्शनों में जाने का अवसर मिला है। गांधीजी के उपवासों तथा आमरण-व्रतों से मन उद्वेलित होता रहता था और साँझ-सवेरे रेडियो द्वारा उनके समाचार जानने को जी व्याकुल रहता था। हमारी पीढ़ी की भावना का विकास युद्धक्षेत्र ही में हुआ। दो

विश्व-युद्धों के अतिरिक्त, जिनका प्रभाव हमारे विचार-जगत् तथा विश्व-जीवन सम्बन्धी धारणा पर निश्चित रूप से पड़ा है, स्वयं हमारे देश और घर में जो अहिंसात्मक संग्राम सन् '४७ तक निरन्तर अनेक रूपों में चलता रहा है, वह विचारों, आदर्शों तथा मान्यताओं की दृष्टि से, ज्ञात-अज्ञात रूप से, हमें शिक्षा देता रहा है। उसने गांधीजी के व्यक्तित्व में एक तपःपूत उदार रूप धारण कर तथा अहिंसात्मक युद्ध के प्रति विश्व के अन्य देशों की जनता की सद्भावना जागृत कर हमारी व्यापक मनुष्यत्व की भावना तथा आस्था-सम्बन्धी दृष्टिकोण को अपने सात्विक, सक्रिय, ओजस्वी स्पर्श से निरन्तर अनुप्राणित किया है। इसीलिए छायावाद-युग में हिन्दी-काव्य भारतीय पुनर्जागरण की चेतना तथा लोक-जागरण के आह्वान के साथ सांस्कृतिक परम्पराओं को भी युगबोध के अनुरूप नवीन वाणी दे सका है और उसका सृजन दान अपना एक विशेष महत्त्व रखता है।

कालाकाँकर में मुझे अपने देश की मध्ययुगीन रूढ़िप्रिय संस्कृति को समझने तथा उसका विश्लेषण करने का अवसर मिला। 'ग्राम्या' के अन्तर्गत 'ग्रामदेवता' शीर्षक कविता में मैंने अपने तत्सम्बन्धी विचार प्रकट किये है। पाश्चात्य दर्शन के अध्ययन से—जिससे तर्क-बुद्धि की क्षमता तथा विश्लेषण करने की शक्ति मिलती है—मुझे अपने देश के सामंजस्यवादी दृष्टिकोण को समझने में सहायता मिली। 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' की रचनाओं में ग्राम-जीवन में प्रचलित मध्ययुगीन रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों के प्रति मेरे मन की प्रतिक्रिया का आभास मिलता है। इन वर्षों में मुझे तीन-चार बार शान्ति-निकेतन जाने तथा गुरुदेव के निकट सम्पर्क में आने का भी अवसर मिला। शान्ति-निकेतन मुझे उन्नीसवीं शती की शान्त, सौन्दर्य-उर्वर, कला-प्राण संस्था प्रतीत हुई। उसमें देश के स्वतन्त्रता युद्ध की अनुगूंज सुनने को नहीं मिली, न वहाँ के वातावरण में बीसवीं शती की महत्तम जीवन-प्रकाश की संवेदना तथा प्रसव-वेदना से गुंजरित अन्धकार-प्रकाश के संघर्ष की प्रेरणाप्रद सक्रिय चापों की ही प्रति-ध्वनि सुनायी दी। आज के सृजन-संस्थान में भूजीवन तथा मानवता को नये रूप में ढालने तथा नयी दिशा की ओर ले जाने की जिस अन्त क्षमता की आशा की जाती है उसका स्पर्श प्राणों को नहीं मिल सका।

सन् '३८ में मैंने 'रूपाभ' नामक पत्र का सम्पादन किया, जिसमें श्री नरेन्द्र शर्मा का अभिन्न सहयोग रहा। 'रूपाभ' का प्रकाशन प्रयाग से होता था। उसका उद्देश्य सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना को जन-जागरण का अंग बनाना था। सौभाग्यवश, साहित्य प्रेमियों ने तब उसका अच्छा स्वागत किया था और उसने उस युग की पत्रकारिता को भी अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया था। कुँवर सुरेशसिंह द्वारा सम्पादित किशोरों के लिए उपयोगी 'कुमार' नामक सुरुचि-सम्पन्न मासिक-पत्र भी उन दिनों कालाकाँकर से प्रकाशित होता रहा है, जिसमें मुझे काफ़ी रुचि रही है। दोनों पत्रों के आर्थिक पक्ष का संरक्षण कुँवर साहब ही करते थे।

सन् '४० के प्रारम्भ में 'ग्राम्या' की रचनाओं के समाप्त हो जाने पर मेरे मन को लगा कि अब कालाकाँकर में मेरा कार्य समाप्त हो गया है। जब मैंने कालकाँकर में रहने का विचार किया था तब भी मेरे मन ने कहा था कि वहाँ कुछ ही वर्षों तक रहना सम्भव हो सकता है। सन् '४० के

बाद में कालाकांकर से बाहर ही रहा। प्रयाग में तब अव्यवस्थित रूप से रहने में मुझे कठिनाई प्रतीत हुई। अल्मोड़े में मेरे भाई उन दिनों माननीय पन्तजी तथा अन्य नेताओं के साथ कारावास में थे। कुंवर सुरेशसिंह भी, जो नमक-सत्याग्रह के अवसर पर जेल जा चुके थे, तब अल्मोड़े ही में नज़रबन्द थे। इस कारण मुझे सन् '४१ में प्रायः एक वर्ष तक अल्मोड़े में रहना पड़ा। इस अवसर पर मैं वहाँ उदयशंकर संस्कृति-केन्द्र के भी सम्पर्क में आया, जहाँ मैं प्रारम्भ में कुछ समय तक नाटक का क्लास लेता रहा। इन्हीं दिनों मैंने 'आधुनिक कवि : भाग २' की भूमिका मे अपने तत्कालीन विचारों को संगृहीत करने का प्रयत्न किया, जिसमें सांस्कृतिक मान्यताओं के साथ ही भौतिक मान्यताओं के पक्ष का भी समर्थन किया गया है।

सन् '४२ में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के फलस्वरूप विदेशी सरकार के दमन ने छोटे-बड़े कस्बों तथा शहरों में जो बीभत्स रूप ग्रहण किया उससे मेरा चित्त अत्यन्त क्षुब्ध तथा अशान्त हो उठा। राजनीतिक संघर्ष के साथ ही मनुष्य की मानस-रचना के लिए या उसके भीतर के सोये मनुष्य को जगाने के लिए, आज के युग में एक समान्तर सांस्कृतिक आन्दोलन की भी उतनी ही आवश्यकता है, ये विचार फिर-फिर मेरे मन में उठने लगे। अपनी इस प्रेरणा के वशीभूत हो मैंने सन् '४२ में 'लोकायन' के नाम से एक व्यापक संस्कृति-पीठ की योजना बनायी, जिसमें रंगमंच के सांस्कृतिक प्रेरणा का माध्यम बनाने का विचार प्रस्तुत किया गया था। किन्तु उस नैराश्य तथा औदास्य के वातावरण में उसे मूर्त रूप देने में अपने को असमर्थ पाकर मैं फिर अल्मोड़ा उदयशंकर संस्कृति-केन्द्र में चला गया। इसके दो कारण थे। एक तो भाई के जेल में होने के कारण उनके बच्चों की देख-रेख के लिए तब वहाँ कोई नहीं था; दूसरा, संस्कृति केन्द्र में मैं मंच तथा अभिनय-सम्बन्धी कला सीखने तथा केन्द्र-संचालन-सम्बन्धी अनुभवों का ज्ञान प्राप्त करने का अवसर खोजना चाहता था। उदयशंकर का मंच मुख्यतः नृत्य-मंच था, यद्यपि नाटकों के अभिनय की भी वहाँ व्यवस्था हो सकती थी। किन्तु उदयशंकर तब अपने 'कल्पना' नामक चित्रपट की रूपरेखा बनाने में व्यस्त थे। मुझे भी उन्होंने उसी काम में लगा लिया। संस्कृति-केन्द्र में साल-भर तक भारतीय नृत्यों तथा लोक-नृत्यों के बारे में जानने तथा उन्हें देखने का अच्छा अवसर मिला। सन् १९४३ में मैंने उदयशंकर के ट्रुप के साथ दो-तीन महीने भारत-भ्रमण भी किया। यह समय अनेक दृष्टियों से मेरे लिए शिक्षाप्रद ही रहा। किन्तु मेरे अन्तरतम में एक अवसाद तथा अतृप्ति मुझे कुरेदती रही है और अपने जीवन के साथ ही मानव-जीवन की सार्थकता खोजने की साध निरन्तर मेरे मन में चलती रही है। मन की इस अस्थिर अवसाद की स्थिति में अनेक स्थानों में लगातार भ्रमण करने से श्रान्त क्लान्त होकर मेरे स्वास्थ्य ने कुछ समय के लिए फिर मेरा साथ छोड़ दिया। दीर्घकाल तक अपने मन तथा देह से लड़ने के बाद सन् '४४ में मुझे 'कल्पना' चित्र के सिलसिले में मद्रास जाना पड़ा, जहाँ श्री उदयशंकर ने, स्टूडियो की सुविधा के कारण, अपने चलचित्र का निर्माण करने का निश्चय किया था। 'कल्पना' में मैं अधिक समय तक नहीं रह सका, किन्तु मद्रास जाना मेरे

लिए शारीरिक तथा मानसिक दोनों दृष्टियों से अमूल्य लाभदायक सिद्ध हुआ, जिसकी चर्चा मैं अगले लेख में करूँगा।

नव मानवता का स्वप्न

[सन् १९४५ से १९५९ तक]

अल्मोड़े में, नगर से प्रायः दो-ढाई मील दूर, एक एकान्त मनोरम स्थान में वयोवृद्ध अमरीकी कलाकार मिस्टर-मिसेज़ ब्रूस्टर रहते थे, जिनके यहाँ कभी-कभी मैं अपने भाई स्व० श्री देवीदत्त पन्त के साथ चला जाता था। वह भाई के बड़े प्रशंसक थे। जब भाई कारावास भोग रहे थे और मैं उदयशंकर संस्कृति-केन्द्र में रहता था, उन्होंने दो-एक बार मुझे भाई के समाचार जानने के लिए बुलाया था। बड़ी देर तक वह अपने चित्र दिखलाते रहे, जिनमें अधिकांश अलमोड़े की आस-पास की पहाड़ियों तथा हिम-शिखरों के रंग मुखर धूपछाँहों के दृश्य थे। मि० ब्रूस्टर के रंगों के विविध मिश्रण तथा प्रयोग मुझे बहुत पसन्द थे। उन्होंने मुझसे कहा, "मैं संसार-भर में घूमा हूँ, मुझे अलमोड़े-सा शान्त-सुन्दर स्थान दूसरा नहीं मिला। अब तो मैंने इसे अपना घर ही बना लिया है।" बातों-ही-बातों में उनसे साहित्य तथा दर्शन-सम्बन्धी चर्चा छिड़ गयी। मि० ब्रूस्टर बड़े विद्याव्यसनी व्यक्ति थे; उनके पुस्तकालय में अनेक विषयों की पुस्तकें रहती थीं। उन्होंने मुझसे कहा, "तुम्हारे विचार श्री अरविन्द से बहुत मिलते-जुलते हैं। मुझे स्वयं उनके दर्शन से बड़ी शान्ति तथा प्रेरणा मिली है। तुम उसे अवश्य पढ़ो।" यह कहकर उन्होंने अपनी अलमारी से 'लाइफ़ डिवाइन' का प्रथम भाग निकालकर मेरे हाथ में रख दिया।

'ग्राम्या' के प्रणयन तथा सन् '४२ के आन्दोलन के बाद मेरी विचार-धारा में फिर एक परिवर्तन आने लगा था और मेरा मन साहित्य, संस्कृति तथा दर्शन-ग्रन्थों में अधिक रमने लगा था। संस्कृति-केन्द्र के कलात्मक वातावरण में मेरा सौन्दर्य-प्रिय जीवन-द्रष्टा मेरे भीतर फिर जगने लगा। मुझे प्रतीत होने लगा कि एक पूर्ण विकसित समाज में मनुष्य को अवश्य ही सौन्दर्य-प्रेमी तथा संस्कृत होना चाहिए। किन्तु सौन्दर्य और संस्कृति का व्यापक स्वरूप क्या हो और पूर्ण विकसित समाज की स्थापना कब, कैसे, किस रूप में सम्भव हो सकेगी, जिसमें सौन्दर्य आत्मोन्नयन तथा लोक-जीवन की प्रगति का साधन बन सके, यह द्वन्द्व मेरे भीतर निरन्तर चलता रहता था। मार्क्स के अध्ययन के बाद सम्पन्न लोक-जीवन का स्वप्न मेरी विचारधारा का एक अंग बन गया था। किन्तु वह स्वप्न केवल राजनीतिक-आर्थिक मान्यताओं की वृद्धि तथा भौतिक उपकरणों के विकास द्वारा ही पूर्ण होगा, इस पर से मेरा विश्वास उठने लगा था। बाह्य रूप से एक सुव्यवस्थित तथा समृद्ध तन्त्र में रहने पर भी यदि मानव-जीवन भीतर से उन्नत न हो सके और यदि उसमें उच्चतम मानवीय गुणों का विकास होने के बदले वह केवल समतल शक्तियों से जूझने के लिए यन्त्र-मात्र बन जाये और उसे मनुष्यत्व के मूल्य पर बाह्य व्यवस्था तथा

सन्तुलन स्थापित करना पड़े तो ऐसा समाज या तन्त्र और जिसके भी योग्य हो, मनुष्य के रहने योग्य नहीं कहा जा सकता। भौतिक दृष्टि से सम्पन्न और मानसिक-आत्मिक दृष्टि से रिक्त अकिंचन मनुष्य सम्भवत: मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। आज के राजनीतिक आन्दोलनों की एकांगिता की पूर्ति तथा सर्वांगीण विकास की परिपूर्णता के लिए मुझे युग-जीवन के अनुरूप एक व्यापक सांस्कृतिक जागरण की भी अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत हुई, जिसकी चर्चा मैंने विस्तारपूर्वक 'उत्तरा' नामक अपने काव्य-संग्रह की भूमिका में की है।

गांधीजी के अहिंसात्मक आन्दोलन में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की सम्भावनाएँ थीं। स्वामी विवेकानन्द के ओजस्वी विचारों में जो एक उन्नत आध्यात्मिक जीवन तथा व्यक्तित्व की कल्पना मिलती है उसकी पूर्ति गांधी-दर्शन तथा उनका व्यक्तित्व करता था, किन्तु युग के पलकों में जो एक विश्व-लोक-संस्कृति—रवीन्द्रनाथ के अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति नहीं—तथा भू-मानवता का स्वप्न उद्भासित हो रहा था, दर्शन की ऊर्ध्व रीढ़ के साथ, नैतिक सदाचार से ऊपर, जो एक सहज रस तथा सौन्दर्य की परिष्कृत मांसलता के स्पर्श की आवश्यकता प्रतीत होती थी, उसकी सम्भावना, जागरण तथा सुधारवादी आन्दोलन होने के कारण, तब मुझे मात्र गांधीवाद के ही सहारे सम्पन्न होती नहीं दीखती थी। गांधीवाद का आधार मुख्यत: दार्शनिक अथच आध्यात्मिक आदर्शवाद रहा है; उसमें वैज्ञानिक यथार्थवाद का परिपाक नहीं ही मिलता है। अपने इस ऊहापोह में मुझे तात्त्विक चिन्तन से लेकर भौतिक दर्शन तथा जैव-मनोविज्ञान तक एक अन्योन्याश्रित संगति तथा एकता का आभास तो मिलता था, जैसा कि मेरी 'युगवाणी-ग्राम्या' की रचनाओं से भी प्रकट होता है, पर उस एकता तथा सामंजस्य का व्यापक स्पष्ट चित्र तब मेरी कल्पना में नहीं उतर पाया था। उदयशंकर संस्कृति-केन्द्र वास्तव में नृत्य-केन्द्र था। वहाँ मूल्यों-सम्बन्धी संघर्ष तथा जिज्ञासा का समाधान मिलना सम्भव नहीं था, किन्तु वहाँ के कलात्मक वातावरण में श्री अरविन्द की 'लाइफ़ डिवाइन' का प्रथम भाग पढ़ने पर अपनी अनेक शंकाओं का उत्तर मुझे स्वत: ही मिलने लगा और विश्व तथा मन के आन्तरिक विधान-सम्बन्धी मेरा ज्ञान स्पष्ट होने लगा। एक प्रकार से मैं पहला ही भाग पढ़कर अपनी कल्पना की सहायता से श्री अरविन्द के सम्पूर्ण दर्शन का आभास पा गया। अपने अनेक विश्वासों का मुझे श्री अरविन्द दर्शन में समर्थन मिलने से मेरे मन में मानव-जीवन के भविष्य के सम्बन्ध मे नयी एक आशा तथा प्रेरणा का संचार होने लगा। इन्हीं दिनों संयोगवश उदयशंकर संस्कृति-केन्द्र में नृत्य सीखने के अभिप्राय से पाण्डिचेरी आश्रम से श्री अरविन्द के प्राइवेट सेक्रेटरी श्री पुराणीजी की लड़की अपनी माताजी के साथ अलमोड़े आयीं। माताजी अलमोड़े में दो-एक वर्ष उसी मकान में रहीं जिसमें मैं उन दिनों रहता था। उनसे परिचय तथा हेल-मेल बढ़ जाने पर आश्रम के बारे में अनेक विषयों का मेरा ज्ञान बढ़ने लगा। साथ ही श्री अरविन्द के कुछ काव्य-ग्रन्थ तथा कुछ अन्य पुस्तकें—'द मदर', 'लाइट्स ऑन योग', 'थाट्स एण्ड ग्लिम्सेज़' तथा 'एसेज़ ऑन गीता' आदि पढ़कर मेरी जिज्ञासा तथा उत्सुकता उनके योग तथा दर्शन के प्रति

अधिक बढ़ने लगी।

एक वर्ष बाद जब मैं अपनी दीर्घ अस्वस्थता से मुक्ति पाने पर सन् १९४४ में मद्रास पहुँचा तो मैं यह बिलकुल ही भूल गया था कि यहाँ से थोड़ी ही दूर पर पाण्डिचेरी है जहाँ श्री अरविन्द का साधना-केन्द्र एक आश्रम भी है। जब पाँच-छः महीने बाद उदयशंकर ट्रुप के कुछ व्यक्तियों ने पाण्डिचेरी जाने की इच्छा प्रकट की तो उनके साथ मैं भी आश्रम देखने के लिए चला गया। वहाँ के वातावरण में मुझे एक अज्ञात आकर्षण तथा वहाँ के जीवन में एक विशिष्ट सौन्दर्य-गरिमा तथा शान्ति मिली। उन दो-तीन वर्षों में, जब तक मैं दक्षिण भारत में रहा, मुझे अनेक बार पाण्डिचेरी जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आश्रम के स्वच्छ प्रभाव तथा श्री अरविन्द के उज्ज्वल सम्पर्क में आने के कारण मेरी आध्यात्मिक मान्यताओं-सम्बन्धी धारणाएँ अधिक उन्नत, विकसित तथा पुष्ट हुईं। 'ग्राम्या' के बाद मेरे मन में जो चिन्तन-धारा चल रही थी, उसका यहाँ आकर परिपाक हुआ। मेरे 'स्वर्णकिरण' तथा 'स्वर्णधूलि' नामक काव्य-संग्रहों की रचनाएँ मद्रास तथा बम्बई में लिखी गयीं। मेरी दृष्टि में उनमें 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना' तथा 'ग्राम्या' के चिन्तन तथा मूल्यों की स्वाभाविक परिणति तथा विकास हुआ है। मेरे इस युग की रचनाओं में, जिसे मैं चेतनावाद का युग कहता हूँ, मेरे विचारों तथा भावनाओं में स्पष्टता तथा व्यापकता, शैली में प्रौढ़ता, प्रांजलता तथा भौतिक-आध्यात्मिक मूल्यों-सम्बन्धी दृष्टिकोण में सम्भवतः संगति तथा सामंजस्य मिलता है। इस नवीन संचरण में मैं श्री अरविन्द-दर्शन को कहाँ तक आत्मसात् कर सका हूँ, इसका निर्णय भविष्य ही कर सकेगा। मेरी इस काल की रचनाओं को राजनीतिक मतवाद से कटु संघर्ष करना पड़ा और उन्हें मतवादी आलोचकों का अतिरंजित आक्रोश तथा विद्वेषपूर्ण विरोध सहना पड़ा। 'उत्तरा' तथा 'चिदम्बरा' की भूमिकाओं में मैंने अपनी रचनाओं के इस नवीन मोड पर विस्तृत विवेचन करने का प्रयास किया है। 'पल्लव', 'आधुनिक कवि', 'उत्तरा' तथा 'चिदम्बरा' की विस्तृत भूमिकाओं में मुझे युग कर्दम के पर्वतों को लाँघकर, काव्य-भावना के रथ को अपने साहित्यिक जीवन के चार कठिन मोड़ों से आगे बढ़ाने के लिए, कवि से आलोचक बनने को बाध्य होना पड़ा है। 'पल्लव' युग के सामने खड़ी-बोली को कविता का माध्यम बनाने तथा नवीन (छायावादी) काव्य-अभिव्यंजना को स्वीकृति मिलने का प्रश्न था। 'आधुनिक कवि' के प्रकाशन के समय 'युगवाणी-ग्राम्या' की भावना-धारा के रूप में भारतीय आदर्शवादी आध्यात्मिक परम्परा के अंचल में वैज्ञानिक यथार्थवाद को बाँधने का प्रश्न था। 'उत्तरा' के सम्मुख नवीन सांस्कृतिक चेतना की सुनहली किरण (स्वर्णकिरण) के प्रकाश में भौतिक वास्तविकता का अभिनव मूल्यांकन करने की समस्या थी। और 'चिदम्बरा' में पश्चिम के युद्धोत्तर सांस्कृतिक ह्रास तथा मध्यवर्गीय बुद्धिवादियों के व्यक्तिवाद से अतिरंजित हिन्दी के प्रयोगवादी साहित्य के सम्मुख विश्व-मानवता के व्यापक धरातल पर नवीन समूहीकरण के मूल्यों पर प्रकाश डालने का प्रश्न रहा है। इस प्रकार मैंने काव्य-चेतना की गहराइयों में डूबकर युग की विचार-पद्धतियों के विरोधों को सुलझाने का भी विनम्र प्रयास

किया है।

मेरे मद्रास के प्रवास-काल में, द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका से भी अधिक, भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में जो औदास्य तथा नैराश्य सरकारी दमन तथा गांधीजी आदि नेताओं के कारागृह में बन्दी रहने के कारण सर्वत्र छाया हुआ था वह रह-रहकर चित्त को विचलित करता रहा है। तटस्थ दर्शक होते हुए भी मुझे बाह्य आन्दोलनों की प्रगति से भीतर सदैव आशा तथा प्रेरणा का प्रकाश मिलता रहा है। भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम तथा गांधीजी का व्यक्तित्व मेरी भावनाधारा के अविच्छिन्न अंग रहे हैं। दिल्ली के अतिरिक्त मुझे महात्माजी से मिलने का संयोग प्रयाग, बम्बई, मद्रास आदि स्थानों में अनेक बार प्राप्त हो सका है। गांधीजी के संसर्ग में मुझे सदैव आत्मबल तथा आत्मविश्वास मिला है और श्री अरविन्द के सम्पर्क से मेरा मानसिक क्षितिज व्यापक, गहन तथा सूक्ष्म बन सका, ऐसा मेरा अनुभव है।

सन् १९४६ में प्रयाग की ममता ने मुझे फिर उत्तर-भारत बुला लिया, और दक्षिण-भारत से बम्बई होता हुआ मैं जुलाई में प्रयाग लौट आया। चाहे मैं उत्तर में रहूँ या दक्षिण में, चाहे गाँवों में रहूँ या शहरों में, मुझे ऐसा प्रतीत होता है, रहता मैं अपने ही भीतर हूँ। बाहर की परिस्थितियों से, जिनमें लोग भी हैं, मैं इतना निःसंग एवं अपरिचित रहता हूँ कि जब तक परिस्थितियाँ ही मुझे बाध्य नहीं करतीं, मैं अपनी इच्छा से कहीं आता-जाता नहीं। कालाकाँकर का भी मेरा ऐसा ही अनुभव है। कालाकाँकर में मेरे रहने का स्थान इतना एकान्त में, बस्ती से हटकर था कि मेरे मित्र दो ही दिन में वहाँ के एकाकीपन से ऊबकर मुझसे प्रायः पूछा करते थे कि मैं जंगल के भीतर ऐसी निर्जन सुनसान जगह में अकेली कुटी में कैसे रह लेता हूँ। तब मैं परिहास में उनसे कहता था कि मैं कुटी के भीतर कहाँ समा सकता हूँ; मैं तो यहीं से विश्व-भर में भ्रमण करता रहता हूँ। सच यह है कि मैं सदैव अपने ही मन में, अपने ही कल्पना-लोक के भीतर रहा हूँ और मेरे कल्पना-जगत् में सदैव इतना जीवन का स्पन्दन रहा है कि मुझे रिक्तता का अनुभव कभी नहीं निगल सका है। मेरा अन्तःकरण किसी-न-किसी समस्या से सदैव उलझता रहा है। पर के प्रति, सर्व के प्रति उसका ऐसा स्वाभाविक तथा जन्मजात आकर्षण रहा है कि अपने बाह्य जीवन-सम्बन्धी छोटे-मोटे अभावों की ओर मुड़कर या अपने सुख-दुःख में रमकर उसने कभी सोचना ही स्वीकार नहीं किया। सम्भवतः इसीलिए अत्यन्त निर्मम परिस्थितियों में भी मुझे कुण्ठा तथा नैराश्य का अनुभव कुचल नहीं सका। गुंजन-काल में अपने पारिवारिक वातावरण से विच्छिन्न हो जाने की छटपटाहट में जब कभी मेरा मन बाह्य जीवन-संघर्ष से विचलित होकर अपने छोटे अस्तित्व की ओर मुड़ा, तब उसने 'जग जीवन की ज्वाला में गल, बन अकलुष उज्ज्वल औ कोमल' अथवा 'मैं सीख न पाया अब तक सुख से दुख को अपनाना' की ही इच्छा प्रकट की। 'विश्वास चाहता है मन विश्वास पूर्ण जीवन पर'···अपने क्षुद्र स्वार्थों की सीमाएँ अतिक्रम कर मेरी कल्पना सदैव व्यापक जीवन की पूर्णता के लिए मुझे लाँघती रही है।

प्रयाग पहुँचने पर 'स्वर्णकिरण' तथा 'स्वर्णधूलि' नामक अपने नवीन काव्य-संग्रहों के प्रकाशित हो जाने पर मैंने अपने खैयाम की रुबाइयों के

अनुवाद को भी इधर-उधर संवार-सुधारकर 'मधुज्वाल' के नाम से 'भारती-भण्डार' के अनुरोध पर प्रकाशित करवा लिया। यह अनुवाद मैंने सन् १६२६ में फ़ारसी की रुबाइयों से स्वर्गीय असगर साहब गोंडवी की सहायता से किया था। इसकी पाण्डुलिपि कई साल तक खोयी रही, जिसका उद्धार मेरे बन्धु श्री रामचन्द्रजी टंडन की सहायता से हुआ। शब्द-योजना तथा भाव-व्यंजना की दृष्टि से मेरा अनुवाद हिन्दी में सम्भवतः सर्वाधिक मधुर है। मैंने उसमें यथाशक्ति तथा यथासम्भव उमर के ही विचारों को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। मुझे उमर में प्रायः विचारों की प्रधानता तथा कविता का अभाव मिला। उसे मुझे यत्र-तत्र अपनी कल्पना से मण्डित कर प्रस्तुत करना पड़ा। उमर की मौलिक रचनाओं से परिचित होने के कारण मैं कह सकता हूँ कि फ़िट्ज़रैण्ड ने भी अपने अंग्रेज़ी अनुवाद को अपनी ही कवित्व-शक्ति से मासल बनाया है।

स्वराज्य मिलने के बाद सन् '४८ में मैंने अपनी लोकायन की योजना को, जिसकी पहली रूपरेखा सन् '४२ में बनी थी, फिर से मूर्त रूप देने का एक बार प्रयत्न किया, पर अनेक कारणों से वह आगे नहीं बढ़ सकी। उपयुक्त आर्थिक सहायता के अभाव के साथ ही उसे साहित्यिक दलबन्दी तथा प्रतिस्पर्धा के कारण गण्यमान्य साहित्यिकों का आशीर्वाद तथा नवीन साहित्यिकों का सहयोग नहीं मिल सका। बहुत सम्भव है लोकायन के अपने स्वप्न को मैं भविष्य में साकार कर सकूँ। दक्षिण-भारत से चार-पाँच साल के बाद लौटने पर मुझे प्रयाग का साहित्यिक वातावरण क्षुब्ध तथा बदला हुआ मिला। तब साहित्यिक गुटबन्दियाँ जन्म लेने लगी थीं। विभिन्न विचारों एवं मतों के साहित्यिकों में परस्पर के सहयोग तथा सद्भावना का अभाव था। धीरे-धीरे आपस के असन्तोष तथा मनो-मालिन्य ने विरोध का रूप धारण कर प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद के शिविरों को साहित्यिक प्रतिद्वन्द्विता का क्षेत्र बना दिया था और विभिन्न वादों के आधार पर संगठित पृथक्-पृथक् साहित्यिक संस्थाओं में विद्वेष, कटुता तथा संकीर्णता का प्रदर्शन होने लगा था। मुझ-जैसे साहित्य-सेवी को, जो अपने को किसी दल का अंग न बना सका, दोनों शिविरों की प्रच्छन्न अप्रसन्नता का लक्ष्य बनना पड़ा। सन् '५० में ऑल इण्डिया रेडियो में परामर्शदाता के पद पर नियुक्त होने पर उस अप्रसन्नता ने व्यक्तिगत विद्वेष का क्षुद्र रूप भी धारण किया, जिसके अनेक उदाहरण उस काल की पत्र-पत्रिकाओं में अनेक रचनाओं के रूप में देखे जा सकते हैं। रेडियो का बहिष्कार मेरी दृष्टि में आधारहीन तथा असंगत था, इसलिए वह अधिक दिन नहीं ठहर सका। स्वराज्य मिलने के बाद हमारे भीतर का दबा हुआ मध्ययुगीन मन बाहर निकल आया है। आज भी देश के अधिकांश लोग उसी सीमित-खण्डित मानसिकता से परिचालित हैं, जिसे क्षीण तथा निःशेष होने में अभी समय लगेगा। आकाशवाणी द्वारा आज देश की अन्य भाषाओं के साथ हिन्दी का भी प्रसार तथा हित हो रहा है। मुझे रेडियो से सम्बद्ध होकर मानसिक लाभ ही हुआ। सन् '५७ की अप्रैल तक, जब तक मैं रेडियो से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध रहा, मेरे 'रजत शिखर', 'शिल्पी', 'सौवर्ण' तथा 'अतिमा' के नाम से चार काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। प्रथम तीन पुस्तकों में मेरे ग्यारह पद्यबद्ध समस्या-

रूपक संगृहीत हैं, जिनमें मैंने युग-जीवन की अनेक प्रमुख समस्याओं पर विवेचन किया है। इनमें भी 'ध्वंसशेष' तथा 'सौवर्ण' नाम के मेरे काव्य-रूपक विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। 'ध्वंसशेष' में मैंने अणुयुद्ध के बाद नवीन जीवन-रचना की दिशा की ओर इंगित किया है। उसमें मैंने वर्तमान युग का मूल्यांकन भी किया है। 'सौवर्ण' में मेरी नवीन मानवता की कल्पना का निदर्शन मिलता है। उसमें मैंने अपने देश की मध्ययुगीन आध्यात्मिक निष्क्रियता का भी विश्लेषण किया है। 'चिदम्बरा' की भूमिका में मैंने अपने काव्य-रूपकों के सम्बन्ध में सम्यक् रूप से विचार किया है। 'अतिमा' में मेरी सन् '५४ की कविताएं संगृहीत हैं जिनमें 'जन्मदिवस', 'शान्ति और क्रान्ति', 'यह धरती कितना देती है', 'संकेत' तथा 'कूर्माचल' शीर्षक मेरी लम्बी प्रकृति-चित्रण-प्रधान रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

सन् '५४ के बाद भाई की आकस्मिक मृत्यु हो जाने के कारण मेरा मन प्राय: एक वर्ष तक बड़ा क्षुब्ध रहा। पारिवारिक दायित्व बढ़ जाने के अतिरिक्त भाई के इस प्रकार के अप्रत्याशित बिछोह से मेरा मन अशान्त तथा दुखी रहा। अब केवल मेरे वयोवृद्ध बड़े भाई हैं जो प्राय: शैयाग्रस्त रहते हैं। यद्यपि मैं सदैव परिवार के लोगों से पृथक् ही रहा हूँ, पर पारिवारिकता के मूल मेरे भीतर विद्यमान हैं और मैंने अनेक आघात सहने पर भी उन्हें सजीव रहने दिया है। सन् '५१ के अन्त में 'वाणी' शीर्षक मेरी नवीन रचनाओं का संग्रह प्रकाशित हुआ है जिसमें 'आत्मिका' शीर्षक एक लम्बी रचना में मैंने अपने जीवन तथा युग की प्रमुख घटनाओं के संस्मरण छन्द-बद्ध किये हैं। उसमें मैंने अपनी वर्तमान मन:स्थिति के बारे में इस प्रकार कहा है :

मध्य वयस का शरद मनोरम सौम्य गगन अब, प्रांजल प्रांगण,
जीवन स्वप्नों में शोभारत मधु के स्वर्णिम पावक का मन !
जग जीवन के मेघ घुमड़कर प्राणों में भर अनुभव श्यामल,
इन्द्रधनुष स्मित अन्तरिक्ष नव खोल गये मानस में उज्ज्वल ! इत्यादि

'वाणी' में 'आत्मिका' के अतिरिक्त मेरी 'आत्मदान', 'अग्नि सन्देश', 'अभिषेक', 'चैतन्य सूर्य', 'बुद्ध के प्रति' आदि अनेक प्रमुख रचनाएँ हैं जिनमें मैंने अपने इधर के विचारों तथा भावनाओं को वाणी दी है।

मेरी 'ज्योत्स्ना-ग्राम्या' में निहित आदर्श यथार्थवादी विचारधाराएँ मेरे चेतना-काव्य में एक व्यापक सांस्कृतिक सामंजस्य में विकसित होकर धरती पर नवीन लोक-जीवन, विश्व-मानवता तथा मानव-एकता की प्रतिष्ठा के लिए सचेष्ट रही हैं। मानव-एकता का सत्य मानव-समानता के सत्य से अधिक महत्त्वपूर्ण है, किन्तु समानता के सत्य को अतिक्रम कर मानव-एकता की स्थापना सम्भव नहीं। वैज्ञानिक युग की विकसित परि-स्थितियों के अनुरूप मानवता के बहिरन्तर जीवन का समूहीकरण होना अनिवार्य है। इसकी जितनी उपेक्षा की जायेगी यह सर्वव्यापी समानता की भावना उतनी ही सशक्त तथा उग्र होती जायेगी। आज जब हम साहित्य में वैयक्तिक मूल्यों के मोह या दर्प में सामूहिकता के मूल्यों की अवहेलना करते हैं तब हम भूल जाते हैं कि किसी पिछले ऐतिहासिक युग या युगों में मानवता का पिछली (सामन्तकालीन) परिस्थितियों के अनुरूप समूहीकरण एवं सामंजस्यीकरण हो चुका है। आज की हमारी

क्षुद्र ग्रहंता ग्रथवा पृथक् वैयक्तिकता उसी विगत संगठित चैतन्य की स्फुलिंग मात्र है और उसी सांस्कृतिक क्षितिज के भीतर ऊब-डूब करती है। उसे हम अधिक महत्त्व देकर मानवता के नवीन समूहीकरण के पथ में बाधा उपस्थित करते हैं। द्वितीय युद्ध के बाद पश्चिमी विवेकवादी, ग्रस्तित्ववादी, पुनर्जागरणवादी या ह्रासोन्मुख कुण्ठावादी साहित्य से प्रभावित ग्राज की हमारी नवीनतम साहित्य की कुछ धाराएँ भी उसी मरणोन्मुख विगत मानव चैतन्य की टिमटिमाती हुई, क्षणदीप्त, ग्रात्ममुग्ध, क्षीण ली हैं, जिन्हें व्यापक समूहीकरण के मूल्यों में मिलकर स्वयं को विकसित तथा सामूहिक उन्नयन की धारा को अधिक व्यापक, वैचित्र्य-पूर्ण तथा समृद्ध बनाना है। नवीन सामूहिकता का भविष्य तभी उज्ज्वल हो सकेगा जब वह विगत सांस्कृतिक संचय को ग्रात्मसात् कर सकेगी। ग्रत: ग्राज के सामूहिकता के बाह्य संचरण को व्यापक तथा धैर्यशील तथा वैयक्तिकता के ग्रन्त:संचरण को विनम्र तथा ग्रहणशील बनाना पड़ेगा। सामूहिकता का विरोध ग्राज के युग में केवल सन्देहवाद, कुण्ठावाद तथा रिक्त विकृत ग्रहंतावाद को ही जन्म देगा। मानव-एकता का संचरण धरती पर ग्रपनी परिपूर्णता में तब तक प्रतिष्ठित नहीं हो सकेगा, जब तक समानता का सामूहिक संचरण उसके लिए उपयुक्त परिस्थितियों का ढाँचा प्रस्तुत नहीं कर सकेगा। सामूहिक संचरण का ग्रधिकाधिक सदुपयोग तभी हो सकेगा जब वह शक्ति-निर्मम तथा पदभ्रान्त न बनकर संस्कृत तथा उदार बने ग्रौर उचित मानवीय साधनों के प्रयोग द्वारा ग्रपने को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करे; ग्रन्यथा उसका विरोध तथा उसमे विकृतियों का ग्राना ग्रनिवार्य है। ग्राज का युग ग्रवतरण या उन्नयन का युग नहीं, वह राजनीतिक, ग्रार्थिक, मानसिक, सांस्कृतिक, ग्राध्यात्मिक ग्रादि सभी दृष्टियों से नि.सन्देह, वितरण का युग है।

मेरी सन् '५८ की रचनाग्रों का सग्रह 'कला ग्रौर बूढ़ा चाँद' हाल ही में प्रकाशित हुग्रा है। ये रचनाएँ, रूपविधान की दृष्टि से, मेरी पिछली रचनाग्रों से कुछ भिन्न हैं। 'पूर्ण नहीं कर सका ग्रभी तक मैं प्रणिहित कवि कर्म धरा पर', ग्रपनी इस उक्ति को चरितार्थ करने का मैं सम्भवत: भविष्य में प्रयत्न कर सकूं। इस सम्बन्ध में ग्रधिक लिखना ग्रभी संगत नहीं प्रतीत होता। मैंने ग्रपना लेखक का जीवन सर्वप्रथम एक उपन्यास लिखकर प्रारम्भ किया था ग्रौर ग्रन्त में भी मैं एक बृहद् उपन्यास के रूप में ही ग्रपने सृजनकर्म को समापन करने के उपरान्त ग्रपना शेष जीवन सामाजिक तथा सांस्कृतिक कार्य को समर्पित करना चाहता हूँ। धरती की करुणा ग्रौर काल का वरदान ही मेरे इन स्वप्नों को पूरा कर सकते हैं। 'युगवाणी' में मैंने लिखा था :

'संघर्षों में शान्ति बनूँ मैं !'

'ग्रन्धकार में पड़ जीवन के ग्रन्धकार की कान्ति बनूं मैं !'

ग्रपने भीतर ग्रब भी मैं नवीन चेतना के संघर्ष के गम्भीर मेघ उमड़ते पाता हूँ ग्रौर ग्रब भी 'युगवाणी' के युग की ग्रभीप्सा मेरे भीतर ज्यों-का-त्यों ग्रपना कार्य करती प्रतीत होती है। इसमें सन्देह नहीं कि सबसे पहले मेरे भीतर प्राप्ति का संघर्ष रहा है, 'ग्राम्या' के बाद संचय करने का ग्रौर ग्रब ग्रपने मानस-संचय को विनम्र ग्रंजलि के रूप में धरती के चरणों पर

संजोने का ! इस धरती के जीवन के प्रति अपने को सार्थक रूप में समर्पित करने का संघर्ष मैं निरन्तर अपने अन्तरतम में जागरूक पाता हूँ। भविष्य को क्या स्वीकार है, इसे कौन जानता है ! इन लेखों के उपसंहार रूप में इतना ही कहने की इच्छा होती है कि अजेय, अपरिमेय अक्षमताओं का नाम ही मनुष्य का व्यक्तित्व है। भीतरी अयोग्यता के अतिरिक्त बाहरी परिस्थितियों की बाधाओं के दुर्लंघ्य पर्वत मेरे मनःसंस्कार, कवि-कर्म-प्रेरणा, आत्म-प्रस्फुटन या विकास के पथ में रहे हैं। अपनी रचनाओं तथा व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में इन लेखों में विस्तारपूर्वक कहना सम्भव नहीं था। अपने सम्बन्ध में मैंने उतना ही कहना यथेष्ट समझा जितना अपने साहित्यिक जीवन की विकास-रेखा को स्पष्ट करने के लिए मुझे अनिवार्य प्रतीत हुआ। फिर भी कहीं उसमें अनुचित रूप से अतिरंजना अथवा आत्मश्लाघा का भाव आ गया हो तो उसके लिए खेद प्रकट करता हूँ। स्वतन्त्रता मिलने के बाद हमारे साहित्य में अनेक प्रकार की स्वस्थ-अस्वस्थ प्रवृत्तियों का उदय हुआ है। यह हमारे आत्म-निरीक्षण-परीक्षण का पहला ही चरण है। अभी हमारी सृजन-चेतना अपने दीर्घकालीन आत्म-दमन की कुण्ठाओं, पीड़ाओं तथा द्वन्द्वों से मुक्त नहीं हुई है; वह उन्हीं को वाणी देकर मुक्ति का अनुभव कर रही है। आज हमारी नयी पीढ़ी परस्पर की स्पर्धाओं से पीड़ित हो दूसरों पर अवांछित प्रहार तथा अनर्गल आक्षेप करने की स्वच्छन्दता प्राप्त कर अपने में साहस तथा बल का अनुभव कर रही है। जीवन की परिस्थितियों के सन्तुलित तथा मानसिक वातावरण के स्वच्छ, स्निग्ध तथा शान्त होने पर हम एक-दूसरे की कृतियों का मूल्यांकन अधिक निष्पक्षता के साथ, पूर्वग्रह तथा दल-बन्दियों से मुक्त होकर कर सकेंगे और आनेवाले युग की सृजन-प्रेरणा अधिक उपयोगी तथा स्थायी कृतित्व की जन्मदात्री बन सकेगी, इन्हीं शुभ संकल्पों के साथ इन संस्मरणों को समाप्त करता हूँ।

निबन्ध

जीवन-कथा

मेरा जन्म सन् १६०० मे २० मई को हुआ, इस प्रकार बीसवीं सदी के साथ ही मैं बड़ा हुआ हूँ। मेरी जन्मभूमि कौसानी का छोटा-सा गाँव है, जो हिमालय के अंचल में बसा हुआ है और उत्तर प्रदेश के एक उत्कृष्ट सौन्दर्य-स्थलों में माना जाता है। गांधीजी ने उसकी तुलना स्विट्ज़रलैण्ड से की है। कौसानी के बारे मे मैंने अपनी 'आत्मिका' नामक कविता में इस प्रकार कहा है:

हिमगिरि प्रान्तर था दिग् हर्षित, प्रकृति क्रोड ऋतु शोभा कल्पित,
गन्ध गुथी रेशमी वायु थी, मुक्त-नील गिरि पंखों पर स्थित ! ...

मेरी माँ की मृत्यु मेरे जन्म के छः-सात घण्टों के भीतर ही हो गयी थी। मैंने प्रकृति की गोद में पलकर ही, प्रारम्भ में, अपनी रचनाओं के लिए कौसानी के सौन्दर्यपूर्ण वातावरण मे प्रेरणा ग्रहण की। सन् १६२६ तक, जब तक मेरा सम्बन्ध हिमालय की तलहटी की रानी कौसानी से बना रहा, मेरी रचनाओं में प्रकृति-चित्रण की प्रधानता मिलती है। रचना-काल की दृष्टि से आप मेरे प्रकृति-काव्य के युग को 'पल्लव' की रचनाओं तक ले सकते हैं, जिसका प्रकाशन सन् १६२६ में हुआ। मेरी बाद की रचनाओं में भी प्रकृति सम्बन्धी उद्गार मिलते हैं, पर उनकी प्रधानता नही दिखायी देती।

कौसानी में चाय का बगीचा था और मेरे पिता वहाँ पहले एकाउंटेन्ट और पीछे मैनेजर के पद पर काम करते थे। चौथी कक्षा तक मेरी शिक्षा कौसानी के ही वर्नाक्यूलर स्कूल में हुई। उसके बाद प्राय: दस साल की उम्र में मुझे उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए अलमोड़ा गवर्नमेंट हाईस्कूल में भेज दिया गया जहाँ हमारा विशाल पैतृक गृह था और मेरे बड़े भाई पढ़ते थे। गाँव से नगर में जाने पर मुझे अनेक लाभ हुए। वहाँ मेरा मानसिक क्षितिज ही विस्तृत नहीं हुआ, साहित्य के अध्ययन-मनन की ओर भी मेरा अनुराग बढ़ा। और मुक्त प्रकृति के गीत गाने-वाला वन विहग छन्द अलंकार आदि सम्बन्धी काव्य-शास्त्र आदि का ज्ञान प्राप्त कर शास्त्रीय व्यायाम में दक्षता प्राप्त करने लगा। अपनी कुछ ऐसी ही अनुभूति के बारे में मैंने तब लिखा था:

तेरा कैसा गान, विहंगम, तेरा कैसा गान !
न गुरु से सीखे वेद पुराण, न षड्दर्शन, न नीति विज्ञान,
तुझे कुछ भाषा का भी ज्ञान ? मनन कर मनन, शकुनि नादान !

अलमोड़ा में सार्वजनिक सभाओं में नेताओं के जो भाषण होते, उनसे मेरे स्वदेश-प्रेम तथा मातृभाषा के प्रति सम्मान की भावना में वृद्धि हुई। पुस्तकालयों से अच्छी-अच्छी पुस्तकें सुलभ हो सकने के कारण साहित्य

के अतिरिक्त सामाजिक तथा ऐतिहासिक जीवन का ज्ञान भी अधिक गम्भीर तथा परिपुष्ट हो सका। उस समय के बारे में मैंने लिखा है :

इन्हीं दिनों तब विश्व युद्ध की दिग्ध्वनि प्रथम पड़ी कानों में
निर्मम विस्मय कौतूहल बन रही घुमड़ती जो प्राणों में।
'पराधीन यह भारतमाता, हमें काटने दुख के बन्धन,
नव युवकों को देश भक्ति हित अर्पित करने अपने जीवन—'
जागृति का सन्देश लिये नव मंचों से नित होते भाषण,—
जनपद से मैं नगरवास में करता विद्याध्ययन छात्र बन !

—इत्यादि।

१६१६ से '१८ तक मेरे दो काव्य-संग्रह 'कलरव' तथा 'नीरव तार' के नाम से लिखे गये और १६१६ में जब मैं आठवीं कक्षा में पढ़ता था मैंने 'हार' नामक एक खिलौना उपन्यास भी लिख डाला, जिसका प्रकाशन हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा मेरी षष्टि-पूर्ति के अवसर पर हुआ। इस प्रकार सन् '११ से '१८ तक का मेरा छात्र-जीवन मेरी साहित्यिक रुचि के विकास के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ और मैंने इस बीच भारतेन्दु युग से लेकर तत्कालीन द्विवेदी-युग तक के गद्य-पद्य साहित्य का गम्भीर अध्ययन कर डाला। मेरा शब्द-ज्ञान इतना समृद्ध हो गया था कि मेरे सहयोगी मुझे 'मशीनरी ऑफ़ वर्ड्स' कहा करते थे।

सन् १६१८ में मुझे मँझले भाई के साथ बनारस भेज दिया गया, जहाँ से मैं हाईस्कूल की परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ। बनारस का नौ-दस महीनों का प्रवास काव्य-बोध तथा साहित्य-साधना की दृष्टि से आशातीत रूप से लाभदायक सिद्ध हुआ। काशी जैसे बड़े नगर के भरे-पूरे जीवन तथा वहाँ की साहित्य तथा संस्कृति की परम्परा की ओर मेरा मन विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। वहाँ एक ओर जहाँ मेरे संस्कृत-साहित्य के ज्ञान की अभिवृद्धि हुई वहाँ दूसरी ओर अपने एक बंगाली मित्र की सहायता से मैं रवीन्द्र-साहित्य के सम्पर्क में आकर उनकी काव्य-माधुरी का रसास्वादन करने में भी समर्थ हुआ। रवीन्द्रनाथ की सौन्दर्य भावना, परिष्कृत कल्पना तथा युगबोध की चेतना मेरी काव्य-दृष्टि में नये आयामों को जोड़ने में सहायक हुई। इसी समय मैंने रीतिकालीन कवियों का भी अध्ययन किया जिससे मेरी भाषा में कोमलता तथा माधुर्य का पुट आया। मेरी 'वीणा' तथा 'ग्रन्थि' नामक काव्य-पुस्तकें इसी काल की रचनाएँ हैं, जिनमें द्विवेदी-युग का इतिवृत्तात्मक काव्य एक नया मोड़ लेता नज़र आता है। हमारा युग छायावाद युग कहलाता है। बहुत से विद्वानों का मत है कि इस युग का छायावाद नाम मेरी प्रसिद्ध कविता 'छाया' के कारण पड़ा, पर यह शायद उस युग की सौन्दर्य-दृष्टि तथा भावबोध के कारण भी पड़ा हो, जो द्विवेदी-युग की सौन्दर्य-दृष्टि तथा भावबोध से अधिक सूक्ष्म तथा परिष्कृत थी। मेरे सहयोगियों में प्रसाद, निराला तथा महादेवी भी रहे, जिनमें प्रसाद और निराला ने मुझसे पहले लिखना शुरू कर दिया था और महादेवी ने बाद को। पर छायावाद की काव्य-चेतना का उदय, सम्भवतः, हम सभी में प्रायः एक ही काल के आस-पास हुआ। फिर भी अग्रज होने के कारण कुछ लोग प्रसाद ही को इस काव्य-धारा का प्रवर्तक मानते हैं।

मेरी काव्य-प्रतिभा का सर्वाधिक विकास सन् १९१९ से '२९ के दशक में हुआ जब मैं प्रयाग म्योर सेन्ट्रल कॉलेज में विद्याध्ययन के लिए गया। सन् '२१ में गांधीजी के असहयोग आन्दोलन में मैंने उनके आह्वान पर कॉलेज छोड़कर छात्र-जीवन को तिलांजलि दे दी और तब से स्वतन्त्र रूप से अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत तथा बँगला साहित्य का अध्ययन करने लगा। इसमें सन्देह नहीं कि अंग्रेज़ी साहित्य के गम्भीर पठन तथा कालिदास आदि संस्कृत कवियों के अधिकाधिक सम्पर्क में आने से मुझे अपनी काव्य-चेतना, भाव-बोध तथा कला-शिल्प-सम्बन्धी दृष्टि के विकास में अभूतपूर्व सहायता मिली और इस समय की मेरी रचनाओं ने जो सन् '२६ में 'पल्लव' नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुईं, हिन्दी-कवियों में मुझे अपने विशिष्ट स्थान का अधिकारी बना दिया। 'पल्लव' काल तक मेरी कृतियों में कला, सौन्दर्यबोध तथा भावनाजनित आवेगों की प्रधानता मिलती है। सन् '२६ के बाद वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय संघर्ष के प्रति मेरा मन अधिक प्रवुद्ध होने लगा और पहला सन्तुलन मैंने भारतीय जीवन-दृष्टि के अनुरूप अपने व्यक्तिगत जीवन के उद्वेगों, संघर्षों तथा उत्थान-पतनों में स्थापित करने की चेष्टा की, जिस अन्त.साधना की अभिव्यक्ति मैंने 'गुंजन' के प्रगीतों में देने का प्रयत्न किया है। 'गुंजन' की रचनाओं में मैंने वैयक्तिक सुख-दुःख की भावना में समत्व स्थापित कर लोक-जीवन की ओर अपनी दृष्टि को मोड़ने का प्रयास किया है। इस सन् '२६ से '३० तक के काल को मैं आत्मसाधना का काल कहता हूँ जिसके स्पन्दनों को 'गुंजन' में वाणी मिली है। उसके बाद ही मैंने अपने समाज-दर्शन तथा मानवता की विकसित होती हुई धारणा को अपने 'ज्योत्स्ना' नामक नाट्य-रूपक में सँजोने का प्रयत्न किया है और सन् '३५ में 'युगान्त' की रचनाओं तक पहुँचते-पहुँचते मेरी जीवनदृष्टि में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे, जिसका आभास 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र' या 'गा कोकिल, बरसा पावक कण' आदि रचनाओं में मिलता है। कला-शिल्प के परदे को उठाकर मेरी दृष्टि भीतरी जीवन-सत्य तथा बाहरी जीवन-परिस्थितियों का साक्षात्कार करने लगी।

सन् '३६ के उपरान्त मेरे मानवतावादी दृष्टिकोण में उत्तरोत्तर व्यापकता आने लगी। सन् '३१ से '४० तक गाँवों के निकट सम्पर्क में आने के कारण तथा द्वितीय विश्वयुद्ध, भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की पृष्ठभूमि में कार्ल मार्क्स के जीवन-दर्शन तथा रूसी साम्यवादी वस्तुदृष्टि के अधिकाधिक प्रचार-प्रसार के कारण मैंने अपनी 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' नामक काव्य-संग्रहों में सामाजिक-भौतिक मूल्यों को भारतीय आदर्शवाद के अंचल में बाँधने का प्रयत्न कर मानव-जीवन के लिए उनकी अनिवार्य उपयोगिता पर बल दिया। इस युग का मेरा काव्य विश्वजीवन की राजनीतिक, सामाजिक प्रगति से सम्बद्ध रहा और उसमें एक प्रमुख स्तर गांधीजी के जीवन-दर्शन का भी रहा। इन रचनाओं में मेरी इस प्रकार की अनेक भावनाएँ मिलती हैं:

धन्य मार्क्स, चिर तमच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर
तुम त्रिनेत्र के ज्ञान चक्षु-से प्रकट हुए प्रलयंकर!

...   .

साम्यवाद के साथ स्वर्ण युग करता मधुर पदार्पण !

...   .

भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान !
जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान !—इत्यादि।

मानव-कल्याण अथवा लोकमंगल का जो व्यापक आधार मुझे इस युग की जन साम्य तथा लोक संगठन की भावना तथा अर्थशास्त्र सम्बन्धी कार्ल मार्क्स की वैज्ञानिक दृष्टि में देखने को मिला उसका शिखर मुझे भारतीय अध्यात्म के उन मानवतावादी मानव-प्रेम, जीवन-सौन्दर्य तथा आनन्द आदि के सांस्कृतिक मूल्यों मे मिला जिनके बिना मेरी मन की आँखों के सम्मुख विश्व जीवन एवं लोक मानवता का परिपूर्ण चित्र ही नही उतर पाता था। इसी से सन् १९४० के बाद की मेरी रचनाओ मे लोक मानव के राजनीतिक-आर्थिक उन्नयन के साथ ही उसके सास्कृतिक तथा आध्यात्मिक विकास के प्रति भी आग्रह मिलता है। 'स्वर्णकिरण' की 'इन्द्रधनुष' आदि रचनाएँ मेरी इन्ही मान्यताओ पर आधारित भावनाओ से ओतप्रोत हैं। 'लोकायतन' की कल्पना भी मानव सत्य के प्रति इसी समग्र दृष्टि से प्रेरित है। उसमे मैंने व्यापक सास्कृतिक जीवन, लोक ऐक्य तथा विश्वशान्ति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है और एक सन्तुलित लोक समता पर आधारित राजनीतिक-आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न जीवन-व्यवस्था के ढांचे मे मानव आत्मा के आनन्द, सौन्दर्य के साथ ही इस धरती के जीवन के प्रति प्रेम तथा हृदय की पवित्रता को प्रतिष्ठित करने का आग्रह किया है। इस संक्षिप्त आत्मकथा मे मैं अपनी कृतियो के सम्बन्ध मे इतना ही कहकर सन्तोष करता हूं।

प्रकृति में मेरा बचपन

मेरा जन्म प्रकृति की गोद में हुआ। उसी के आँगन में मैं खेला-कूदा और बड़ा हुआ। प्रकृति की गोद भी साधारण नहीं—विराट्, शुभ्र, शान्त हिमालय का सान्निध्य। प्राकृतिक शोभा का सजीव, साँस लेता हुआ हरित धवल अंचल। हिमालय स्वयं ही एक महान् धर्म ग्रन्थ—एक बृहत् काव्य है। पृथ्वी पर पवित्रता का मानदण्ड स्वरूप, पार्वती परमेश्वर का स्फटिक धवल, तप:पूत ज्योत्स्ना धौत महत् प्रासाद वैदिक ऋषि और कवि मुक्त प्रकृति के सम्पर्क में आकर आत्म-विस्मृत एवं आनन्द-विभोर हो, प्रकृति सौन्दर्य से उन्मेषित होकर क्यों प्राकृतिक तत्वों तथा शक्तियों को श्रद्धाजलि समर्पित करते हुए उन्हें देवी देवताओं की तरह पूजते थे—यह भाव हिमालय के दर्शन करने पर मेरे मन में अपने आप जैसे उद्भासित हो उठा। हिमालय का स्वर्गोन्नित, अन्त:स्थित, समाधिस्थ सौन्दर्य देखकर और उसके असीम प्रांगण में, किशोरी उमा की तरह खेलती हुई, घन नील कुन्तला, सद्य: स्फुट कुसुम कोमल देही, निश्छल निसर्ग श्री के स्वरूप का दर्शन कर, सामान्य व्यक्ति के हृदय में भी वैदिक द्रष्टाओं की दिव्य प्रशस्तियाँ अपने आप फूटने लगती हैं। हिमालय के एकान्त रुपहले शिखर पर खड़ी, स्वर्ग को छूती हुई, लम्बी, रश्मि शरीरी, स्वर्ण की उज्ज्वल रेख-सी खिची, उषा को देखकर किसके मन में उष: सूक्त स्वर्गिम निर्झर की तरह नहीं फूट पड़ेगा।

हिमालय को देखकर मुझे सदैव ही अपने जीवन में प्रेरणा मिलती रही है। वह मेरे लिए एक सजीव वरेण्य गुरु की तरह एवं स्नेही अभिभावक की तरह रहा है : हिमालय के लिए मैंने लिखा है—

शुभ्र शान्ति में समाधिस्थ हे
शाश्वत सुन्दरता के भूभृत्,
तुम्हें देख सौन्दर्य साधना
महाश्चर्य से मेरी विस्मित,…
मुझको लगता प्रिय हिमाद्रि तुम
मेरे शिक्षक रहे अपरिचित।

ऊषा का आवाहन करते हुए मेरा मन हिमालय के शिखरों पर तरुण तापसी की तरह उतरती हुई ऊषा को नहीं भूला है। उसका अभिवादन करते हुए मैंने लिखा है—

ओ नव-युग की नव ऊषाओ, नव प्रकाश क्षितिजों पर आओ
स्वर्णिम किरणों के प्रवाह में ऊँचे शिखरों को नहलाओ।
उच्च नभस्वत पथ की वासिनि, तुहिन पंक्ति रजतोज्वल हासिनि
अमृत कोष भुवनों की सौरभ, जन की साँसों में भर जाओ!

मेरा जन्म कौसानी नामक ग्राम में हुआ था, जो अल्मोड़े से ३२ मील उत्तर की ओर है। कौसानी कूर्माचल का सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्य स्थल है। कौसानी और हिमालय के बीच में दूसरी कोई भी पर्वत श्रेणी नहीं है। कौसानी से नीचे दूर तक फैली हुई कत्यूर की हरी-भरी घाटी है जिसके ऊपर धीरे-धीरे अपनी उत्तुंग गौरव-गरिमा में उठा हुआ क्षीर सागर की तरह उच्च तरंगित हिमालय शोभित है जिसके शिखर पर स्थित रेशम की निर्मल नील ध्वजा की तरह फहराता हुआ आकाश दिखायी देता है। कौसानी का वर्णन मैंने अपनी एक रचना में इस प्रकार किया है—

आरोही हिमगिरि चरणों पर
रहा ग्राम वह मरकत मणिकण,
श्रद्धानत, आरोहण के प्रति
मुग्ध प्रकृति का आत्म समर्पण।

आकाश की ओर आरोही हिमालय के चरणों पर स्थित कौसानी का हरा-भरा गांव ऐसा ही लगता है जैसे प्रकृति श्रद्धानत होकर उस विराट् आरोहण के सम्मुख प्रणत हो। आगे की पंक्तियों के प्रथम अक्षरों में कौसानी का नाम भी आ गया है—

कौश हरित तृण रचित तल्प पर
सातप वन श्री लगती सुन्दर,
नील झुका-सा रहता ऊपर,
अमित हर्ष से उसे अंक भर!

उस नैसर्गिक सौन्दर्य का प्रभाव मेरे किशोर मानस पर जिस प्रकार पड़ा, उसकी भी मैंने अपनी रचना में चर्चा की है जो इस प्रकार है—

अनजाने सुन्दर निसर्ग ने किया हृदय स्पर्शों से संस्कृत
उज्ज्वल स्वर्णिम आरोहों में अन्तर्मुख मन को कर केन्द्रित!
उस पवित्र प्रान्तर की आत्मा हुई निविष्ट हृदय में अविदित,
प्राणिमात्र में व्याप्त प्रकृति की गोपन सत्ता रहती निश्चित!
ऋषियों की एकाग्र भूमि में, मैं किशोर रह सका न चंचल,
उच्च प्रेरणाओं से अविरत आन्दोलित रहता अन्तस्तल!

प्रकृति के ऐसे मनोरम ऐश्वर्य क्रोड़ में पलकर शैशव तथा कैशोर धन्य हुए हैं—आज भी हिमालय के आकाशचुम्बी शिखरों से उतरकर बचपन की उज्ज्वल स्मृति चुपचाप मेरी आंखों के सम्मुख रमणीय स्वप्न की तरह झूल उठती है।

मैं और मेरा परिवेश

अपने और अपने परिवेश के बारे में सोचने पर मन में कई प्रकार की उलझनें पैदा होने लगती हैं और अनेक प्रकार के ऊहापोह उठने लगते हैं। पहली बात यह कि 'मैं' कोई स्थिर इकाई है या परिस्थिति तथा परिवेश की तरह ही यह भी परिवर्तनशील तथा विकासशील है! दूसरा यह कि 'मैं' को जीवात्मा का प्रतिनिधि समझा जाये या व्यक्ति की अहंता का!

मेरे विचार में 'मैं' साधारणतः अहंता ही का प्रतिनिधित्व करता है और आत्मा का प्रतिनिधि बनने तक, जो 'जीव जरे न मरे नहिं छीजे' के अनुसार अक्षय है, उसे समय लगता है और मन के अनेक स्तरों को पार करना पड़ता है जो सदैव ही सभी के लिए सम्भव नहीं है। अतः अपने 'मैं' को मानसिक अहंता ही की इकाई मानकर जब मैं अपने तथा अपने परिवेश के बारे मे सोचने लगता हूँ तो मेरे सामने मेरा अतीत चित्रपट की तरह झलक उठता है।

संयोगवश मेरा जन्म हिमालय के अंचल में कूर्माचल की सौन्दर्यस्थली कौसानी में हुआ जो अपनी नैसर्गिक शोभा के कारण प्रसिद्ध है। किशोर होने पर तथा अपने बाह्य जगत् का परिचय प्राप्त करने पर मैंने अपनी आँखों के सामने निरन्तर स्वर्गचुम्बी हिमालय के शिखरों को खड़ा देखा और साथ ही विभिन्न ऋतुओं में अपने रूप को बदलती हुई उस पहाड़ी उपत्यका की, आँखों को अनिमेष रखनेवाली, सुन्दरता को पाया। कौसानी में चाय का बगीचा होने के कारण वहाँ की आबादी काफी थी। मैं यह नहीं कहता कि वहाँ रहनेवालों को उस प्राकृतिक सौन्दर्य के सम्मोहन का अनुभव उसी प्रकार होता था जैसाकि मुझे हुआ करता था, पर उस पर्वत प्रदेश के सौन्दर्य तथा हिमालय की विराट् उच्च चोटियों ने जैसे मेरे भीतर एक कभी न मिटनेवाले उदात्त सौन्दर्य की गहरी नींव डाल दी जिस पर मैं आगे चलकर अपने जीवन अनुभवों का संसार निर्मित कर सका।

वास्तव में जिसे हम 'मैं' कहते हैं उसके साथ मनुष्य के पूर्वजन्म तथा वंश-कुल, माता-पिता आदि से ग्रहण किये हुए विशेष संस्कार अविच्छिन्न रूप में जुड़े होते हैं और उन्हीं संचित संस्कारों के अनुरूप मनुष्य अपने चतुर्दिक् व्याप्त संसार तथा जीवन की परिस्थितियों से अपने जीवन मूल्यों के विश्व को खोजकर अपने व्यक्तित्व का ज्ञात-अज्ञात रूप से निर्माण करता है और वही उसका संसार होता है। इस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों का 'मैं' उनके संस्कारों, रुचियों तथा स्वभावों का द्योतक होने के कारण सब में भिन्न-भिन्न होता है, और उनका संसार भी तदनुरूप ही भिन्न होता है। उदाहरण के लिए एक साहित्यकार जिस अन्तर्मन के संसार में रहता है, एक राजनीतिज्ञ उसमे नहीं रहता है। उसका संसार मुख्यतः परिवर्तित होती हुई वर्तमान बाह्य वास्तविकता का संसार होता है। इसी प्रकार एक समाज-सेवी या व्यापारी का भी अपना-अपना पृथक् संसार होता है। जहाँ मानव स्वभाव में विविधता पायी जाती है वहाँ उसके भीतर एक अटूट एकता का सूत्र भी पाया जाता है। इसलिए साहित्य, संस्कृति, राजनीति, समाज-रचना आदि के जीवन-मूल्यों के स्तर कहीं परस्पर जुड़े हुए भी होते हैं और मानवता के विकास में वे एक-दूसरे के सहायक होते हैं।

मेरे भीतर सौन्दर्य का संस्कार प्रबल रहा होगा जिसे प्रस्फुटित करने में कौसानी के दिग्चुम्बी सौन्दर्य ने मेरी सहायता की और कल्पना के जगत् को मेरे लिए वास्तविकता के जगत् से अधिक मोहक तथा सत्य बना दिया। हिमालय की एकान्त पृष्ठभूमि ने मेरे मन को एकान्तिकता प्रदान की, इसी-लिए यौवनारम्भ तक मैं बाह्य जगत् के संघर्ष के आघातों से अपरिचित, आम की डाली पर बैठे कोयल तथा फूलों पर मँडराते मधुकर की तरह,

अपनी ही भावना के जगत् में विचरण कर प्राकृतिक सौन्दर्य के पल-पल परिवर्तित रूपों के गीत गुनगुनाता रहा। तत्कालीन साहित्य के अध्ययन से शब्द, अर्थ, भाव तथा रस को लेकर मेरी असन्दिग्ध सौन्दर्य-दृष्टि ने उसमें जैसे रासायनिक प्रक्रिया पैदा कर उन्हें नयी व्यंजना के छन्दों तथा स्वरों में, नैसर्गिक सुषमा गरिमा की वेणी में गूँथ दिया। परिवेश मनुष्य को किस प्रकार प्रभावित करता है मेरा प्रारम्भिक जीवन इसका जीवन्त उदाहरण रहा है।

सौन्दर्य ? हाँ, सौन्दर्य — इसे मैं चिरन्तन जीवन मूल्य मानता हूँ। मनुष्यत्व के सभी मूल्य इस शाश्वत मूल्य में समाहित हो सकते हैं और इसके द्वारा अभिव्यक्ति पा सकते हैं। बचपन में सौन्दर्य की जो विराट् गम्भीर भावना मेरे अन्तरतम में प्रवेश कर गयी थी उसने आजीवन मेरा साथ नहीं छोड़ा। बल्कि कहना चाहिए वह आगे चलकर उतना आह्लाद का कारण नहीं रही जितना कि दुःख, संघर्ष, चिन्तन तथा निरन्तर तप का कारण बन गयी। युवावस्था में जब मुझे अध्ययन-मनन के लिए बड़े-बड़े नगरों की शरण लेनी पड़ी और साहित्यिक जीवन की स्वास्थ्य तथा अर्थ सम्बन्धी अनेक प्रकार की विवशताओं के कारण भारतीय गाँवों के अंचल में निवास करना पड़ा तब मेरी सौन्दर्य-दृष्टि अथवा सौन्दर्य-प्रेम मेरे लिए एक महान् संकट की वस्तु अथवा अभिशाप बन गया। उस सौन्दर्य को मानव जीवन में प्रतिष्ठित करने के लिए मेरा मन छटपटाने लगा और बाहरी तथा व्यक्तिगत दृष्टि से सुख-सुविधा के साधन सुलभ होने पर भी भीतरी दृष्टि से मैं एक सौन्दर्य-क्षुधित अपरिचित व्यक्ति की तरह जैसे अस्थायी रूप से इस संसार की सराय में रहने जैसा जीवन व्यतीत करने का अनुभव करने लगा।

अब मेरा प्राकृतिक सौन्दर्य का प्रेम मानव जीवन में सौन्दर्य खोजने के महान् अनुष्ठान में संलग्न हो गया और मुझे प्रतीत होने लगा जैसे प्रकृति का सबसे सूक्ष्म, निगूढ़, गहन तथा जटिल रूप, वनस्पति तथा पशु-पक्षी जगत् से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण, मानव जीवन में अभिव्यक्त हुआ है और उस सौन्दर्य को वर्तमान मानव जीवन की अनेक प्रकार की क्षुद्रताओं, विषमताओं, दरिद्रताओं तथा मानसिक दुर्बलताओं-रुग्णताओं, तथा अभावों में से खोज निकालकर उसे विश्व प्रकृति के अनुरूप विकसित मानव जीवन में स्थापित करना है जिससे मनुष्य निष्कलुष प्रकृति के अधिक निकट आकर पृथ्वी पर पशु-पक्षियों के जीवन को अतिक्रम कर जीवन-ईश्वर का प्रतिनिधि बन सके। और जिस दिव्यता के स्रोत का प्रवाह उसके भीतर रुक गया है वह उन्मुक्त रूप से प्रवाहित होकर इस धरती को नये जीवन-सौन्दर्य से आप्लावित कर सके।

इस सत्य को मूर्त रूप देने की सम्भावना इस युग में अधिक सम्भव प्रतीत होती है बशर्ते मनुष्य अपने को पिछली मानसिकता के आवरण से मुक्त कर सके और विगत युगों की जिन सीमित परिस्थितियों पर आधारित जीवन-मूल्यों से उसके मन का निर्माण हुआ है उनका विश्लेषण कर नयी परिस्थितियों के अनुरूप मानवीय मूल्यों का उद्घाटन कर उन्हें नये सामाजिक सम्बन्धों का रूप देने में समर्थ हो सके। विज्ञान ने आज ऐसी स्थिति उपस्थित कर दी है कि समस्त मानवता अपने को एक सूत्र में बाँध

सकती है। ज्ञान ने जिस प्रकार अतीत काल में मानव हृदय की ग्रन्थि खोली थी और अहंता के संकीर्ण आवरण को उठाकर मनुष्य को उसकी व्यापक आत्मा के दर्शन कराने के उपाय बतलाये थे उसी प्रकार इस युग में विज्ञान ने जड़ की ग्रन्थि खोल दी है और जिस मूलगत शक्ति से अणु की रचना हुई है उसे मुक्त कर मनुष्य के हाथ में सौंप दिया है। जड़ जगत् मानव-विकास के पथ में एक पर्वताकार अवरोध बना हुआ था, आज देश-काल मनुष्य को हस्तामलकवत् हो गये हैं। विज्ञान ने मनुष्य को अनेक प्रकार की शक्तियाँ देकर मानव जगत् के लिए सामूहिक उत्थान के द्वार खोल दिये हैं। इस बात को किसी तरह नहीं भुलाया जा सकता कि मनुष्य को सामूहिक जीवन की परिस्थितियों का पुनर्निर्माण कर बहुजन हिताय एक नवीन सभ्यता को जन्म देना है। आज व्यक्ति के जीवन का परिवेश उसके नगर, प्रान्त या देश तक ही सीमित नहीं रह गया है, वह इनसे कहीं अधिक व्यापक हो गया है। आज का मनुष्य विश्व-जीवन का अंग बनता जा रहा है और विश्व-जीवन की परिस्थितियाँ उसके बाहरी-भीतरी परिवेश को अधिकाधिक शासित करती जा रही हैं। आज विश्व-शान्ति तथा विश्व-मानवता के जीवन को सामने रखकर समस्त देशों को अपने आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में नवीन संयोजन तथा सन्तुलन स्थापित करने की आवश्यकता प्रतीत हो रही है अतः सामूहिक जीवन के पक्ष में आज इतिहास की पुकार को अनसुना नहीं किया जा सकता।

किन्तु मनुष्यत्व की पूर्ण एवं समग्र अभिव्यक्ति के लिए लोक-जीवन अथवा सामूहिक जीवन ही पर्याप्त नहीं है, भले ही वह एक अनिवार्य सत्य हो। मनुष्यत्व के सम्पूर्ण विकास के लिए व्यक्तित्व का भी अन्तर्विकास या ऊर्ध्व विकास करने की बहुत बड़ी आवश्यकता है। यदि मानवता का सामूहिक समदिग् विकास उसका आधारभूत धरातल है तो व्यक्ति के रूप में मानव का समग्र विकास उसके मनुष्यत्व का शिखर है। इस युग में आत्म-बोध के साथ ही युग-बोध भी प्राप्त करना परमावश्यक है। इस युग में विभिन्न विचारों, दर्शनों, राजनीतिक-सामाजिक संघर्षों के सम्पर्क में आने के उपरान्त और मानव जीवन की समस्याओं का गहन मनन एवं अध्ययन करने के बाद मैं इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ कि आज की आधि-भौतिक शक्तियों के विकास के युग में मनुष्य को अपनी आन्तरिक चेतना की शक्तियों का भी उसी अनुपात में विकास करना है, नहीं तो विश्व-जीवन में पारस्परिक आर्थिक राजनीतिक समदिक् स्पर्धा के कारण कभी भी संकट का क्षण उपस्थित हो सकता है और विज्ञान की शक्ति, निर्माण करने के बदले, विश्व-जीवन का ध्वंस कर सकती है जैसा कि शक्ति-सम्पन्न देशों की आणविक अस्त्रों की निरन्तर बढती हुई होड़ मे प्रतीत होता है। व्यक्ति-मुक्ति, सामूहिक समता और मानवीय एकता— ये तीनों मूल्य मानवता के भावी विकास के लिए अनिवार्य रूप से सत्य तथा उपयोगी हैं।

मेरे पास कोई जीवन-दर्शन नहीं है, केवल मानव जीवन में अन्तर्दृष्टि भर है। दर्शन की सीमा मुझे प्रौढ़ होते ही ज्ञात हो गयी थी। हिमालय के शिखरों ने जो एकान्तिकता मेरे स्वभाव को दी थी उसे इस भारतीय

पुनर्जागरण के युग में उपनिषदों के अध्ययन-मनन ने चैतन्य के शुभ्र शिखरों से आलोकित कर दिया और शीघ्र ही मुझे प्रतीत होने लगा कि एकान्तिकता को जीवन-विमुख न होकर जीवन के प्रति व्यापक सहानुभूति से उन्मुख होना है। मानवता का मंगल न मुझे थोथे समाजवाद के नारों ही में दीखने लगा, न कोरे अध्यात्मवाद के आह्वानों में। दोनों ही मुझे एकांगी और संकटग्रस्त प्रतीत होने लगे। किन्तु मानव के ऊर्ध्व एवं सांस्कृतिक विकास के लिए लोक-जीवन के निर्माण तथा उत्थान की आवश्यकता वर्तमान युग का सर्वोपरि सत्य है, भले ही इसे नहीं भुलाया जा सकता हो। वही पूर्ण सत्य नहीं है।

मानव जीवन की बहिरन्तर मान्यताओं का परिचय पाने के बाद मेरे मन में मानव भविष्य एवं लोक-मंगल के लिए एक आशावादी दृष्टिकोण पैदा हो गया और मुझे दृढ़ विश्वास हो गया कि मनुष्य के बाह्य और आन्तर विकास को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। शान्ति, प्रेम आनन्द, सौन्दर्य तथा रचना-शक्ति सब एक ही मानवीय सत्य के पर्याय हैं। मानव का समस्त बोध, साधना, कला तथा कर्मचेष्टा जीवन-चेतना के निर्माण के लिए समर्पित होनी चाहिए। जीवन-ईश्वर ही केवल मात्र पृथ्वी का ईश्वर है, उसके बिना उसका परात्पर रूप भी केवल शून्यवत् है। विश्व-जीवन के बहिरन्तर निर्माण की तुलना में आध्यात्मिक सिद्धियाँ केवल नट के खेल-सी लगती हैं।

कला से उसके माध्यम से व्यक्त सत्य का मूल्य मेरे लिए अधिक है। मानवता का वैयक्तिक तथा सामूहिक दृष्टि से बहिरन्तर रूप में परिपूर्ण निर्माण एवं विकास हो सके तभी वह उस समग्र सौन्दर्य की प्रतिनिधि हो सकती है जिसके दर्शन मुझे कभी हिमालय की गोद में हुए थे।

एवमस्तु !

मेरे साहित्यिक जीवन का समारम्भ

कभी मैं सोचता हूँ यदि मेरा साहित्यिक का जीवन न होता, अथवा यदि मैं लेखक या कवि न बनता तो और मैं क्या काम कर सकता— बहुत सोचने पर भी मुझे कोई उत्तर नहीं सूझता। हो सकता है अब पैंसठ वर्ष की अवस्था में इस प्रकार के ऊहापोह करने के लिए बहुत देर हो गयी हो —क्योंकि अब तो मेरा समस्त जीवन एक प्रकार से ढल चुका है— मेरा मन, मेरे विचार, रहन-सहन की पद्धति एक विशेष प्रकार के अभ्यासों में बँध चुके हैं, अब सम्भवतः मन को उतने पीछे ले जाकर किशोर जीवन के लिए एक नये प्रकार के जीवन-यापन की कल्पना के लिए समय नहीं रह गया। किन्तु इन सब अवरोधों के होते हुए भी मेरा मन अनेक बार यह जानना चाहता है कि क्या मैं वास्तव में साहित्यकार बनने के लिए पैदा हुआ था अथवा मानव स्वभाव के लचीलेपन के कारण अथवा मनुष्य के क्षमतावान् प्राणी होने के कारण मैंने कुछ बाहरी प्रभावों के कारण अपने किशोर-मन की दिशा को साहित्य की ओर मोड़ लिया था। तर्क

की दृष्टि से इस बात का कोई निश्चित उत्तर खोज निकालना निश्चय ही अत्यन्त कठिन है। किन्तु जब मैं अपने एकान्त-प्रिय, भावप्रवण, संवेदनशील स्वभाव की ओर ध्यान देता हूँ तो फिर मुझे इस बात पर सन्देह नहीं रहता कि मैं किसी इसी प्रकार का मानवीय जीवन व्यतीत करने के लिए बना था। क्योंकि कर्म-प्रधान जीवन की ओर मेरे मन का आकर्षण नहीं है, और न धन-सम्पत्ति बटोरने अथवा सांसारिक जीवन व्यतीत करने की ओर ही मुझे अपने भीतर किसी प्रकार का उत्साह दीखता है। सौन्दर्य के लिए निःसन्देह मेरे मन में बहुत छुटपन से ही आकर्षण रहा है और बचपन से मुझे सुन्दर वस्त्रों, सजे कमरों तथा सौम्य-सुन्दर स्वभाववाले मनुष्यों के निकट आने का शौक रहा है। अत्यन्त सुन्दर प्रकृति की क्रोड़ में पैदा होने के कारण मैं किशोर वयस से ही एक प्रकार के सौन्दर्यलोक में—चाहे वह निसर्ग का हो या मन की कल्पना का—खोया या डूबा-सा रहता था—अब कभी-कभी मुझे लगता है कि सौन्दर्य ही ईश्वर है और अगर वह सुन्दर न हो तो मुझे ईश्वर की ओर भी कोई आकर्षण न हो!

तो ऐसे सौन्दर्यप्रिय स्वभाव को लेकर मैं छुटपन से ही बाहरी दुनिया के सामने कुछ-न-कुछ हारता रहा और अपनी भीतरी दुनिया के सामने सदैव ही जीतता रहा। मेरे स्वभाव की इस दुर्बलता को सम्पर्क में आनेवाले लोग बहुत जल्दी ही समझ लेते हैं और मुझसे सभी प्रकार का लाभ उठाने में कभी नहीं हिचकते। आज भी अनेक प्रकार के लोग मुझे परेशान करना अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझते हैं और मैं थोड़ी देर को परेशान हो भी उठता हूँ, किन्तु धीरे-धीरे वह मुझे खिलवाड़-सा लगने लगता है और मैं भीतर-ही-भीतर नये विजय के उल्लास से नया बल संचय कर कुछ और सुन्दर सोचने या लिखने की ओर प्रवृत्त हो जाता हूँ।

ऐसे स्वभाव को लेकर जब मैं साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ तो शब्दों और भावों से मेरी थोड़े ही दिनों में प्रगाढ़ मैत्री हो गयी—मैं उनके जगत् में एक आत्मीय की तरह विचरण करने लगा। शब्दों के पिंजरों से उनकी आत्मा पंख खोलकर मेरे भीतर प्रवेश कर जाती और अनेक सौन्दर्य-भंगिमाओं से मेरे मन के आकाश में मँडराने लगती। जिस प्रकार पहाड़ी क्षितिजों में हिमालय के शिखरों से उठकर ढेर-ढेर काली घटाएँ घिरने लगती है उसी प्रकार मेरे अन्तर में भी भावनाओं की धूमिल रुई के घने फाहों-सी पर्वत घटाएँ आपस में टकराकर अपने विद्युत् स्पर्श से आँखों को चकाचौंध कर देतीं। प्राकृतिक जगत् के व्यापारों का सौन्दर्य मेरे भीतर भावों की तूली से चित्रित होकर, शब्दों के पंख फड़फड़ाकर गूँज उठता। मैं अपने मौन-मुखर मन को वाणी देने के लिए और अधिक शब्द खोजता, और अधिक शब्द संचय करता।

हिन्दी गद्य आचार्य द्विवेदीजी की अँगुली पकड़कर नये युग के प्रांगण में चलना सीख रहा था। और पद्य भी जुड़वा भाई की तरह अपने पैरों के बल खड़ा होने का अभ्यास कर रहा था। वह छन्दों की पायल-झंकार को लाँघकर नवीन भाव-भंगिमाएँ दिखला कविता में ढलने का प्रयत्न कर रहा था। श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, नाथूराम शंकर शर्मा आदि अनेक प्रतिभाशाली कवि सरस्वती के वरदहस्तों के समान अपने सात्विक सृजन की शुभ्र छटा काव्य-प्रांगण

में बखेर रहे थे। मैं मिश्रबन्धु विनोद, नवरत्न, कविता-कलाप आदि अनेक ग्रन्थों से नयी भारत-भारती का बोध प्राप्त करने में निमग्न रहता। देश की चेतना करवट बदल रही थी और नवीन जागृति के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे थे। 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल'—भारतेन्दु के इस मन्त्र के स्वर सबके भीतर गूँजने लगे थे। अलमोड़ा जैसे सुदूर पहाड़ी प्रान्त में भी मेरी पीढ़ी के नवयुवकों में मातृ भाषा के प्रति प्रेम तथा उत्साह अदम्य वेग से बढ़ने लगा था। यह सन् '१५-१६ का समय होगा।

उधर सुदूर से कवीन्द्र रवीन्द्र की रजनीगन्धा की भीनी गन्ध नासापुटों में प्रवेश करने लगी थी तो इधर स्वामी रामकृष्ण परमहंस का वचनामृत तथा स्वामी विवेकानन्द के घन गम्भीर उदात्त स्वर मन को सोचने को बाध्य करते। मन भीतर-ही-भीतर पूर्व में होनेवाले नये सूर्योदय की प्रतीक्षा करता जिसकी द्वाभा का आलोक स्वप्नों के क्षितिजों से उतरकर प्राणों में अधजली भाव-चेतना को स्पर्श करता। हिन्दी काव्य के अन्तरिक्ष का यही उषाकाल जैसे नवीन आलोक, नवीन सौन्दर्य, नवीन गन्ध-गुंजार लेकर तथा प्रकाश से भी सूक्ष्म नये चैतन्य के प्रकाश से मण्डित होकर छायावाद के नाम से हमारी पीढ़ी के कन्धों पर अवतरित हुआ। और मैं भी अपनी अन्तर-मूक 'वीणा में उसकी स्वर-साधना में तल्लीन हो गया। न जाने किसके स्पर्श से शब्दों के जगत् में नये शब्दों का जन्म हुआ—काव्य के पद नये छन्दों के नूपुरों से झंकृत हो उठे और मनोजगत् के कुहासे को चीरकर, नये सौन्दर्य प्रभात की तरह एक नया रश्मि-देही भावलोक कविता के आँगन पर उतर आया। युग-बोध का अन्तरिक्ष विश्व-विस्तृत हो उठा। धीरे-धीरे उस सूक्ष्म भावलोक ने मूर्त आकार ग्रहण करना शुरू किया। गांधीजी के नेतृत्व में स्वतन्त्रता के आन्दोलन ने उसी भाव-स्वप्न से मिलते-जुलते एक नये उदात्त आदर्श को लोक-जीवन में प्रतिष्ठित करने का आग्रह किया। काव्य-चेतना भावना तथा प्राणों के अन्तर्मुख स्तरों में उतरकर, जीवन-मांसल, कर्म-सक्रिय तथा लोक-सशक्त हो उठी। हममें से अनेक कवि राष्ट्र-प्रेम के गीत गाने लगे। अनेक सत्य अहिंसा से अनुप्राणित होकर विश्व-संस्कृति एवं विश्व-मानवता के स्वप्नों को अपने स्वरों में साकार करने का प्रयत्न करने लगे। इस प्रकार भारत की स्वाधीनता के रूप में काव्य-चेतना के पंखों में पोषित आदर्शवादी जीवन-वास्तविकता आकार ग्रहण कर सकी।

आशातीत वैज्ञानिक प्रगति तथा दो विश्व-युद्धों ने हमारे युग की संक्रान्तिकालीन काव्य-भावना को अनेक रूपों में विकसित तथा आन्दोलित किया। मूल्य, कलाबोध तथा संवेदना के अनेक नये पक्ष उभरे, विभिन्न दृष्टिकोणों में परस्पर संघर्ष भी रहा, लोक-जीवन के साथ व्यापक सहानुभूति के कारण तथा वैज्ञानिक युग की सम्भावनाओं के कारण यथार्थ की धारणा में एक रूपान्तर हो गया। किन्तु आज भी हमारा महान् युग अपनी महानतम समस्याओं के लिए कोई समाधान नहीं उपस्थित कर सका। आज धरती का जीवन एक ओर दो सशक्त राजनीतिक आर्थिक शिविरों में विभक्त है तो दूसरी ओर मानव चेतना तथा मन दो उतनी ही सशक्त तथा जटिल विचारधाराओं में विदीर्ण हैं। एक ओर नये

मानव-मूल्यपरक तथा समाजपरक विचार एवं भाव साहित्य में आज अभिव्यक्ति पा रहे हैं तो दूसरी ओर व्यक्ति-केन्द्रिक अवसरवादी उद्‌गारों का स्वार्थपूर्ण संगठनों के बल पर प्रचार बढ़ रहा है। विज्ञान ने मनुष्य जीवन की बाह्य परिस्थितियाँ तो आमूल बदल दी हैं पर भीतर का, अतीत की मान्यताओं में पला, आत्मनिष्ठ बौना मनुष्य अभी नहीं बदला है। वह जीवन-विकास के पथ पर अनेक प्रकार के अवरोध खड़े कर रहा है। इस प्रकार मैं देखता हूँ कि जिस निर्माण की चेतना के आशा-उल्लास के युग में मैंने अपना साहित्यिक जीवन का समारम्भ किया था वह इस विराट् संक्रमणशील युग के अनेक उत्थान-पतनों को देखता हुआ आज ह्रास तथा विघटन के घने अन्धकार के भीतर से गुजर रहा है। आज भय, संशय, अनास्था तथा मृत्यु-भीति ने मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों को दबा दिया है। एक रिक्त निर्नैतिक, अवसरवादी तथा क्षण-भोगी व्यक्तित्ववाद ने मानव-सद्भावनाओं को दबोचकर उसे निर्मम अहंता-हढ़ बना दिया है। कला आज चेतना की शक्ति तथा भावना के स्वास्थ्य का प्रतीक न रहकर मात्र खोखला अलंकरण बन गयी है। किन्तु जिस प्रकार प्रभात होने से पहले अन्धकार गहरा हो जाता है, उसी प्रकार इस विश्व-ह्रास के अकूल समुद्र को तैरकर मेरे काव्य-जीवन-समारम्भ का आस्था, विश्वास तथा नवनिर्माण के उल्लास का युग फिर से मानव-हृदय पर अपना अविजेय आधिपत्य स्थापित कर सकेगा, इसमें मुझे सन्देह नहीं। क्योंकि वही भावना इस युग की प्रतिनिधि भावना है और समस्त ज्ञान-विज्ञान नवीन सृजन-आनन्द के रथ में जुतने की प्रतीक्षा में खड़े नये मनुष्य के आगमन की बाट जोह रहे हैं।

मैंने कविता लिखना कैसे प्रारम्भ किया

देश भक्ति के साथ मोहिनी मन्त्र मातृभाषा का पाकर
प्रकृति प्रेम मधु-रस में डूबा गूँज उठा प्राणों का मधुकर !
फूलों की ढेरी में मुझको मिला ढँका अमरों का पावक
युग पिक बनना भाया मन को, जीवन चिन्तक, जन भू भावक !
नैसर्गिक सौन्दर्य, पुष्प-सा, खिला दृष्टि में निर्निमेष दल
प्रथम छन्द उर लगा गूँथने,—फूलहार मधु रँग ध्वनि कोमल !
प्राणों को था स्पर्श मिल चुका कविगुरु रस मानस का मादन
मेघदूत के छन्द हृदय में प्रेम मन्द्र भरते गुरु गर्जन !
नव युग के सौन्दर्य बोध से भारत माता को कर भूषित
कवि रवीन्द्र के स्वर्ण पंख स्वर श्रवणों में रहते मधु गुंजित !

इन थोड़े से शब्दों में मैंने 'आत्मिका' शीर्षक अपनी संस्मरण प्रधान कविता में, सूत्र रूप में, अपने कवि जीवन के श्रीगणेश के सम्बन्ध में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। अब भी जब मैं सोचता हूँ कि इस घोर राजनीति और अर्थशास्त्र के युग में मैंने अपने लिए यह अन्तर्मुख और बहिर्मौन सात्विक कविजीवन क्यों चुना तो मेरे भीतर बराबर एक ही

उत्तर उठता है और वह यह कि जिस अनिन्द्य नैसर्गिक सौन्दर्य की क्रोड़ में मैंने भाग्यवश जन्म लिया था उसने जैसे मेरे समस्त अस्तित्व को अपने सम्मोहन से वशीभूत कर जकड़ लिया। अपनी जन्मभूमि का चित्रण संक्षेप में मैंने 'आत्मिका' में इस प्रकार किया है :

आरोही हिमगिरि चरणों पर रहा ग्राम वह—मरकत मणि कण,
श्रद्धानत, आरोहण के प्रति मुग्ध प्रकृति का आत्मसमर्पण !
साँझ प्रात स्वर्णिम शिखरों से द्वाभाएँ बरसातीं वैभव
ध्यानमग्न निःस्वर निसर्ग निज दिव्य रूप का करता अनुभव !
भेद नील को मौन हिम शिखर जाने क्या कहते अन्तर में
निर्निमेष नयनों से पीता नत अनन्त के नीरव स्वर में !
दृग शोभा तन्मय रहते नित देख क्षीर शृंगों का सागर
उर असीम बन जाता, अन्तः स्पर्श शुभ्र सत्ता का पाकर !
शोभा चपल हुए किशोर पग, गरिमा विनत बना गभीर मन,
रंग भूमि थी प्रकृति मनोरम, पृष्ठ भूमि हिमवत् की पावन !
अनजाने सुन्दर निसर्ग ने किया हृदय स्पर्शों से संस्कृत,
उस पवित्र प्रान्तर की आभा हुई निविष्ट हृदय में अविदित !
ऋषियों की एकाग्र भूमि में मैं किशोर रह सका न चंचल,
उच्च प्रेरणाओं से अविरत आन्दोलित रहता अन्तस्तल !

तो, नैसर्गिक सौन्दर्य की प्रेरणा ही मेरी दृष्टि में वह मूल शक्ति थी जिसने मेरे एकान्त प्रिय मन को काव्य सृजन की ओर उन्मुख किया। और आज भी मेरे शब्दों के कुंजों से प्राकृतिक सौन्दर्य का मर्म मुखर मर्मर कलरव ही फूट पड़ता है। वैसे जब मैं अल्प वयस्क किशोर था तभी से भारतीय चेतना के जागरण का आह्वान मेरे कानों में पड़ने लगा था। 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' जैसे मन्त्रों द्वारा मातृभाषा के प्रति प्रेम के बीज मेरे मन में छुटपन ही में डाल दिये गये थे। मेरे बड़े भाई स्वयं संस्कृत काव्य के प्रेमी थे तथा हिन्दी एवं पहाड़ी में कविता भी करते थे। उनके सम्पर्क में आकर मेरा आकर्षण कविता की ओर और भी अधिक बढ़ने लगा था। मेरे अनेक समवयस्क भी उन दिनों अल्मोड़ा में कविता किया करते थे। उनके साथ मैत्री होने पर मेरी छन्द गूँथने की प्रवृत्ति को और भी आत्म-बल तथा प्रोत्साहन मिला। जैसे धान के खेत में चलते हुए कोई यों ही मनोरंजन के लिए सुनहली धान की बाली तोड़कर अँगुलियों में नचाने लगता है उसी प्रकार अल्मोड़े के अपने छात्र-जीवन के घने साहित्यिक वातावरण में मैंने भी जैसे अनजाने ही किसी अन्तर प्रवृत्ति के कारण अपने लिए कविकर्म को चुन लिया और तब से वह मुझे अपनी अँगुलियों के संकेतों पर नचाता आ रहा है। आज भी मुझे ऐसा लगता है कि जैसे मैं अभी नये रूप से कविता लिखना सीख रहा हूँ। मुझे तब नहीं मालूम था कि कविता करना शब्दों की रचना करना नहीं, बल्कि नये युग तथा नयी मानवता की रचना करना है और उसे पुस्तकों के पन्नों पर नहीं, मानव हृदयों पर अंकित करना है। मैं मन ही मन खूब जानता हूँ कि अभी मुझे कविता करना नहीं आया है। अपने को मैं महत् सृजन-कर्म के लिए कैसे तैयार करूँ, मुझे एकमात्र यही चिन्ता रहती है। आज के महानाश के भूकम्प में सिहरती हुई त्रस्त धरा पर मानव-जीवन

कविता के भारहीन स्वप्न-कोमल चरण धरकर सम्भवतः नवीन सम्भावनाओं के क्षितिजों की ओर अग्रसर हो सकें—न जाने क्यों मन ऐसा सोचता है ?

मेरी पहली कविता

जहाँ तक मुझे स्मरण है मेरी पहली कविता में कोई विशेषता नहीं थी, जैसे-जैसे मेरे मन का अथवा मेरी भावना या चेतना का विकास हुआ और मेरा जीवन का अनुभव गम्भीर होता गया, मेरी कविता में भी निखार आता गया।

मेरी पहली कविता एक न होकर अनेक थीं। अपने किशोर मन के आवेग और उत्साह को अथवा कविता के प्रति अपने नवीन आकर्षण को 'ताल और लय' में बाँधने की आकुलता में मैं अनेक छन्दों में अनेक पद साथ ही लिखा करता था। किसी छन्द में चार चरण और किसी में आठ या बारह चरण लिखकर मेरा सद्यःस्फुट काव्य-प्रेम मेरी अस्फुट भावना को अनेक रूपों में व्यक्त कर सन्तुष्ट होता था। इस प्रकार के मेरे समस्त प्रारम्भिक किशोर-प्रयत्न मेरी पहली कविता कहे जा सकते है, क्योंकि उन सबका एक ही विषय होता और उनमे एक ही भावना और प्रायः एक ही प्रकार के मिलते-जुलते शब्द रहते थे, जो केवल विभिन्न छन्दों और तुकों के कारण अलग-अलग रचना-खण्ड प्रतीत होते थे। उदाहरणस्वरूप, हमारे घर के ऊपर एक गिरजाघर था जहाँ प्रत्येक रविवार को सुबह-शाम घण्टा बजा करता था। यह अल्मोड़े की बात है और जैसा कि पहाड़ी प्रदेशों में प्रायः हुआ करता है, हमारा घर नीचे घाटी में था और गिरजाघर ऊपर सड़क के किनारे। उस गिरजे के घण्टे की ध्वनि मुझे अत्यन्त मधुर तथा मोहक प्रतीत होती थी। गिरजे के घण्टे पर मैंने प्रायः रविवार के दिन अनेक छन्दों में अनेक कविताएँ लिखी हैं, जिन्हें प्रयत्न करने पर भी अब मैं स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ। उन सब रचनाओं में प्रायः यही आशय रहता था कि "हम लोग बेखबर सोये हुए हैं। यह दुनिया एक मोह निद्रा है, जिसमें हम स्वप्नों की मोहक गलियों मे भटक रहे हैं। गिरजे का घण्टा अपने शान्त मधुर आह्वान से हमें जगाने की चेष्टा कर रहा है और हमें प्रभु के मन्दिर की ओर बुला रहा है जहाँ दुनिया की मोह-निशा का उज्ज्वल प्रभात हमारी प्रतीक्षा कर रहा है। ईश्वरीय प्रेम का जीवन ही केवल मात्र पवित्र जीवन है। प्रभु ही हमें पापों से मुक्ति प्रदान कर सकते हैं" इत्यादि। अल्मोड़े में पादरियो तथा ईसाई धर्म-प्रचारकों के भाषण प्रायः ही सुनने को मिलते थे, जिनसे मैं छुटपन में बहुत प्रभावित रहा हूँ। वे पवित्र जीवन व्यतीत करने की बातें करते थे और प्रभु की शरण में आने का उपदेश देते थे, जो मुझे बहुत अच्छा लगता था। गिरजे के घण्टे की ध्वनि से प्रेरणा पाकर मैंने जितनी रचनाएँ लिखी हैं, उन सबमें इन्हीं पादरियों के उपदेशों का सार-भाग किसी-न-किसी रूप में प्रकट होता रहा है। 'गिरजे का घण्टा' शीर्षक एक रचना

मैंने अपने आत्मविश्वास तथा प्रथम उत्साह के कारण श्री गुप्तजी के पास भेज दी थी, उन्होंने अपने सहज सौजन्य के कारण उसकी प्रशंसा में दो शब्द लिखकर उसे मेरे पास लौटा दिया था।

अब एक दूसरा उदाहरण लीजिए। मेरे भाई एक बार अल्मोड़े में किसी मेले से कागज के फूलों का एक गुलदस्ता ले आये, जिसे उन्होंने अपने कमरे में फूलदान में रख दिया था। मैं जब भी अपने भाई के कमरे में जाता था, कागज़ के उन रंग बिरंगे फूलों को देखकर मेरे मन में अनेक भाव उदय हुआ करते थे। मैं बचपन से ही प्रकृति की गोद में पला हूँ। कागज के वे फूल अपनी चटक-मटक से मेरे मन में किसी प्रकार की भी सहानुभूति नहीं जगा पाते थे। मैं चुपचाप अपने कमरे में आकर अनेक छन्दों में अनेक रूप से अपने मन के उस असन्तोष को वाणी देकर कागज के फूलों का तिरस्कार किया करता था। अन्त में मैंने सुस्पष्ट शब्दों में अपने मन के आक्रोश को एक चतुर्दशपदी में छन्दबद्ध करके उसे अल्मोड़े के एक दैनिक पत्र में प्रकाशनार्थ भेज दिया, जिसका आशय इस प्रकार था : हे कागज के फूलो, तुम अपने रूप-रंग में उद्यान के फूलों से अधिक चटकीले भले ही लगो, पर न तुम्हारे पास सुगन्ध है, न मधु। तुम स्पर्श को भी तो वैसे कोमल नहीं लगते हो। हाय, तुम्हारी पँखुड़ियाँ कभी कली नहीं रहीं, न वे धीरे-धीरे मुसकुराकर किरणों के स्पर्श से विकसित ही हुई। अब तुम्हीं बतलाओ तुम्हारे पास भ्रमर किस आशा से, कौन सी प्रेम-याचना लेकर मँडराये? क्या तुम अब भी नहीं समझ पाये कि झूठा, नकली और कृत्रिम जीवन व्यतीत करना कितना बड़ा अभिशाप है? हृदय के आदान-प्रदान के लिए जीवन में किसी प्रकार की तो सच्चाई होनी चाहिए। इत्यादि···।

एक और उदाहरण लीजिए : मेरे फुफेरे भाई हुक्का पिया करते थे। सुबह-शाम जब भी मैं उनके पास जाता, उन्हें हुक्का पीते पाता था। उनका कमरा तम्बाकू के धुएँ की नशीली गन्ध से भरा रहता था। उन्हें धुआँ उड़ाते देखकर तम्बाकू के धुएँ पर मैंने अनेक छन्द लिखे हैं, जिनमें से एक रचना अल्मोड़े के दैनिक में प्रकाशित भी हुई है। इस रचना की दो पंक्तियाँ मुझे स्मरण हैं जो इस प्रकार हैं—

सप्रेम पान करके मानव तुझे हृदय में
रखते, जहाँ बसे है भगवान विश्वस्वामी।

इस रचना में मैंने धुएँ को स्वतन्त्रता का प्रेमी मानकर उसकी प्रशंसा की थी। आशय कुछ-कुछ इस प्रकार था :—"हे धूम! तुम्हें वास्तव में अपनी स्वतन्त्रता अत्यन्त प्रिय है। मनुष्य तुम्हें सुगन्धित सुवासित कर, तुम्हें जल से सरस-शीतल बनाकर अपने हृदय में बन्दी बनाकर रखना चाहता है, उस हृदय में जिसमें भगवान का वास है। किन्तु तुम्हें अपनी स्वतन्त्रता इतनी प्रिय है कि तुम क्षण-भर को भी वहाँ सिमिटकर नहीं रह सकते और बाहर निकलकर इच्छानुरूप चतुर्दिक व्याप्त हो जाना चाहते हो। ठीक है. स्वतन्त्रता के पुजारी को ऐसा ही होना चाहिए, उसे किसी प्रकार का हृदय का लगाव या बन्धन नहीं स्वीकार होना चाहिए ··इत्यादि।

इस प्रकार अपने आस-पास से छोटे-मोटे विषयों को चुनकर मैं अपनी

प्रारम्भिक काव्य-साधना में तल्लीन रहा हूँ। मेरे भाव तथा विचार तो उस समय अत्यन्त अपरिपक्व एवं अविकसित रहे ही होंगे किन्तु उन्हें छन्दबद्ध करने में तब मुझे विशेष आनन्द मिलता था। छन्दों के मधुर संगीत ने मुझे इतना मोह लिया था कि मैंने अनेक पत्र भी उन दिनों छन्दों ही में गूँथकर लिखे हैं। यदि प्रारम्भिक रचनाओं के महत्त्व के सम्बन्ध में तब थोड़ा भी ज्ञान मुझे होता तो मैं उन कविताओं तथा पत्रों की प्रतिलिपियाँ अपने पास अवश्य सुरक्षित रखता। अब मुझे इतना ही स्मरण है कि अपने पास-पड़ोस और दैनन्दिन की परिस्थितियों एवं घटनाओं से प्रभावित होकर ही मेरी प्रारम्भिक रचनाएँ निःसृत हुई हैं और अपनी अस्फुट अबोध भावना को भाषा की अस्पष्ट तुतलाहट में बाँधकर मैं अपने छन्द-रचना के प्रेम को चरितार्थ करता रहा हूँ। एक प्रकार से आरम्भ से ही मुझे अपने मधुमय गान अपने चारों ओर 'धूलि की ढेरी में अनजान' बिखरे पड़े मिले हैं।

वैसे एक प्रकार से मैं अलमोड़े आने से और भी बहुत पहले छन्दों की गलियों में भटकता और चक्कर खाता रहा हूँ। तब मैं अपने पिताजी के साथ कौसानी मे रहता था और वहीं ग्राम-पाठशाला में पढ़ता था। मेरे फुफेरे भाई तब वहाँ अध्यापक थे और मेरे बड़े भाई बी० ए० की परीक्षा दे चुकने के बाद स्वास्थ्य सुधारने के लिए वहाँ आये हुए थे। मेरे बड़े भाई भी उन दिनों कविता किया करते थे। उनके अनेक छन्द मुझे अब भी कण्ठस्थ हैं। वह अत्यन्त मधुर लय में राजा लक्ष्मणसिंह-कृत मेघदूत के अनुवाद को भाभी को सुनाया करते थे। शिखरिणी छन्द तब मुझे बड़ा प्रिय लगता था और मैं, "सखा तेरे पी को जलद प्रिय मैं हूँ···" आदि पंक्तियों को गुनगुनाकर उन्हीं के अनुकरण में लिखने की चेष्टा करता था। कभी-कभी मैं भाई साहब के मुँह से कोई ग़ज़ल की धुन सुनकर उस पर भी लिखने की कोशिश करता था। लेकिन अब मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि मेरी तब की रचनाओं में छन्द अवश्य ही ठीक नहीं रहता होगा और मै बाल-चापल्य के कारण छन्द की धुन में बहुत कुछ असम्बद्ध और बेतुका लिखता रहा हूँगा। मुझे स्मरण है, एक बार भाई साहब को मेरी पीले कागज की कापी मिल गयी थी और उन्होंने मेरी ग़ज़लों की खूब हँसी उड़ायी थी। अतएव उस समय की कविता को मैं अपनी पहली कविता नहीं मान सकता।

व्यवस्थित एवं सुसम्बद्ध रूप से लिखना तो मैंने पांच-छः साल बाद अल्मोड़ा आकर ही प्रारम्भ किया। तब स्वामी सत्यदेव आदि अनेक विद्वानों के व्याख्यानों से अलमोड़े में हिन्दी के लिए उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत हो चुका था, नगर में शुद्ध साहित्य समिति के नाम से एक बृहत् पुस्तकालय की स्थापना हो चुकी थी और नागरिकों का मातृभाषा के प्रति आकर्षण विशेष रूप से अनुराग में परिणत हो चुका था। मुझे घर में तथा नगर में भी नवोदित साहित्यिकों, लेखकों एवं कवियों का साहचर्य सुलभ हो गया था। मैंने हिन्दी पुस्तकों का संग्रह करना प्रारम्भ कर दिया था, विशेषकर काव्य-ग्रन्थों का, और 'नन्दन पुस्तकालय' के नाम से घर में एक लाइब्रेरी की भी स्थापना कर दी थी। इसमें द्विवेदी युग के कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त मध्ययुग के कवियों के ग्रन्थ तथा प्रेमचन्दजी

के उपन्यासों के साथ बँगला, मराठी आदि उपन्यासों के अनुवाद भी रख लिये थे और कुछ पिंगल अलंकार आदि काव्यग्रन्थ भी जोड़ लिये थे। 'सरस्वती', 'मर्यादा' आदि उस समय की प्रसिद्ध मासिक पत्रिकाएँ भी मेरे पास आने लगी थीं और मैंने नियमित रूप से हिन्दी साहित्य का अध्ययन आरम्भ कर दिया था।

आदरणीय गुप्तजी की कृतियों ने और विशेषकर 'भारत-भारती', 'जयद्रथ वध' तथा 'विरहिणी ब्रजांगना' ने तब मुझे विशेषरूप से आकर्षित किया था। 'प्रिय-प्रवास' के छन्द भी मुझे विशेष प्रिय लगते थे। 'कविता कलाप' को मैं कई बार पढ़ गया था। 'सरस्वती' में प्रकाशित मुकुटधर पाण्डेयजीकी रचनाओं में नवीनता तथा मौलिकता का आभास मिलता था। इन्हीं कवियों के अध्ययन तथा मनन से प्रारम्भ में मेरी काव्य-साधना का श्रीगणेश हुआ और मैंने सुसंगठित रूप से विविध प्रकार के छन्दों का प्रयोग करना सीखा। छन्दों की साधना में मुझे विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ा। श्रवणों को संगीत के प्रति अनुराग होने के कारण तथा लय को पकड़ने की क्षमता होने के कारण सभी प्रकार के छोटे-बड़े छन्द धीरे-धीरे मेरी लेखनी से सरलतापूर्वक उतरने लगे। जो भी विषय मेरे सामने आते और जो भी विचार मन में उदय होते, उन्हें मैं नये-नये छन्दों में नये-नये रूप से प्रकट करने का प्रयत्न करता रहा। काव्य-साधना में मेरा मन ऐसा रम गया कि स्कूल की पाठ्य-पुस्तकों की ओर मेरे मन में अरुचि उत्पन्न हो गयी और मैंने खेलकूद में भी भाग लेना बन्द कर दिया। इन्हीं दिनों अल्मोड़ा हाईस्कूल में पढ़ने के लिए एक नवयुवक आकर हमारे मकान में रहने लगे, जिन्हें साहित्य से विशेष अनुराग था। उनके सम्पादन में हमारे घर से एक हस्तलिखित मासिक-पत्र निकलने लगा जिसमें नियमित रूप से दो-एक वर्ष तक मेरी रचनाएँ निकलती रहीं। उनके साहचर्य में मेरे साहित्यिक प्रेम को प्रगति मिली और नगर के अनेक नवयुवक साहित्यिकों से परिचय हो गया। मेरे मित्र अनेक प्रकाशकों के सूचीपत्र मँगवाकर पुस्तकों तथा चित्रों के पार्सल मँगवाते और उन्हें हम लोगों को बेचा करते थे। इस प्रकार उनकी सहायता से हिन्दी की अनेक उत्कृष्ट प्रकाशन-संस्थाओं तथा उनके द्वारा प्रकाशित पुस्तकों का मेरा ज्ञान सहज ही बढ़ गया।

हरिगीतिका, गीतिका, रोला, वीर, मालिनी, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी आदि छन्दों में मैंने प्रारम्भ में अनेकानेक प्रयोग किये हैं और छोटे-बड़े अनेक गीतों में प्रकृति-सौन्दर्य का चित्रण भी किया है। प्रकृति-चित्रण के मेरे दो-एक गीत सम्भवतः 'मर्यादा' नामक मासिक पत्रिका में भी प्रकाशित हुए हैं। 'भारत-भारती' के आधार पर अनेक राष्ट्रीय रचनाएँ तथा 'कविता कलाप' के अनुकरण में राजा रवि वर्मा के 'तिलोत्तमा' आदि चित्रों का वर्णन भी अपने छन्दों में मैंने किया है। अनेक पत्र तथा कल्पित प्रेम-पत्र लिखकर भी, जो प्रायः सखाओं के लिए होते थे, मैंने अपने छन्दों के तारों को साधा है। अपनी प्रारम्भिक काव्य-साधना काल में, न जाने क्यों, कविता का अभिप्राय मेरे मन में छन्दबद्ध पंक्तियों तक ही सीमित रहा है। छन्दों में संगीत होता है, यह बात मुझे छन्दों की ओर विशेष आकृष्ट करती थी और अनुप्रासों या ललित मधुर शब्दों द्वारा छन्दों में संगीत की

झंकारें पैदा करने की ओर मेरा ध्यान विशेष रूप से रहता था। कविता के भाव-पक्ष से मैं इतना ही परिचित था कि कविता में कोई अद्भुत या विलक्षण बात अवश्य कही जानी चाहिए। कालिदास की अनोखी सूझ की बात मैं अपने भाई साहब से बहुत छुटपन में ही सुन चुका था, जब वह भाभी को मेघदूत पढ़ाया करते थे। किन्तु उस विलक्षण भाव को संगीत के पंख लगाकर छन्द में प्रवाहित करने की भावना तब मुझे विशेष आनन्द देती थी और मैं अपनी छन्द-साधना के इस पक्ष पर विशेष ध्यान देना प्रारम्भ से ही नहीं भूला हूँ।

मेरी उस प्रारम्भिक काल की रचनाएँ, जिन्हें मैं अपनी पहली कविता कहता हूँ, न जाने पतझर के पत्तों की तरह मर्मर करती हुई, कब और कहाँ उड़कर चली गयीं, यह मैं नहीं कह सकता। अपनी बहुत-सी रचनाएँ काशी जाने से पहले मैं अल्मोड़े ही में छोड़ गया था जो मुझे घर की अव्यवस्था के कारण पीछे नहीं मिलीं। सम्भव है उन्हें कोई ले गया हो या किसी ने रद्दी काग़जों के साथ फेंक दिया हो या बाज़ार में बेच दिया हो। 'वीणा' काल से पहले के दो कविता-संग्रह जब मैं हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहता था, मेरी चारपाई में आग लग जाने के कारण, जलकर राख हो गये थे। कीट्स और शेली के दो सचित्र संग्रह भी, जो मुझे प्रो० शिवाधारजी पाण्डेय ने पढ़ने के लिए दिये थे, उनके साथ ही भस्म हो गये थे। अपने उन दो संग्रहों के जल जाने का दुःख मुझे बहुत दिनों तक रहा। उनमें मेरी काव्य-साधना के द्वितीय चरण की रचनाएँ थीं। मेरी आँखों में अब उन अस्फुट प्रयासों का क्या महत्त्व होता यह मैं नहीं कह सकता, पर ममत्व की दृष्टि से वे मुझे अपनी प्रारम्भिक काव्य-साधना के साक्षी के रूप में सदैव प्रिय रहते, इसमें मुझे सन्देह नहीं। अपने कवि-जीवन के प्रथम उषाकाल में स्वर्ग की सुन्दरी कविता के प्रति मेरे हृदय में जो अनिर्वचनीय आकर्षण, जो अनुराग तथा उत्साह था, उसका थोड़ा-सा भी आभास क्या मैं इस छोटी-सी वार्ता में दे पाया हूँ ? शायद नहीं।

मेरी सबसे प्रिय रचना

यदि मुझे अपनी रचना के सम्बन्ध में कहना न होता तो मैं आपको बिना किसी संकोच या हिचक के तुरन्त यह बतला देता कि शेली या वर्ड्सवर्थ, टैगोर या कालिदास, वाल्मीकि या व्यास की वह कौन-सी रचना है जो मुझे सबसे प्रिय है और वह क्यों मुझे सबसे प्रिय है ? पर बात अपनी कविता के बारे में कहने की है और यही सबसे कठिन समस्या है : 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' पढ़ने के बाद भी आप न जाने क्यों मुझसे यह पूछना चाहते हैं कि मुझे अपनी सबसे प्रिय रचना कौन-सी लगती है ? बात यह है कि मैं जिस समय जो भी रचना लिखता हूँ उस समय मुझे वही अपनी सबसे प्रिय रचना प्रतीत होती है,···दुबारा चाहे भले ही मेरा जी उसे पढ़ने को न करता हो या मैं नयी सृजन वेदना या सृजन उल्लास के नशे में फिर दूसरी रचना की सृष्टि करने में तल्लीन हो जाऊँ।

मैंने जब कविता लिखना आरम्भ किया था तब खड़ी बोली की कविता की नींव ही नहीं पड़ चुकी थी, उसके प्रासाद के कई शिखर-कलशों तथा गुम्बदों का भी निर्माण हो चुका था। द्विवेदी-युग के कवि नयी भारती की आरती का थाल सँजोकर तब वाणी के मन्दिर में उन्मुक्त उदात्त कण्ठों से गा रहे थे। खड़ी बोली जागरण की चेतना थी। द्विवेदी-युग जिस जागरण का प्रारम्भ था हमारा युग उसके विकास का समारम्भ था। छायावाद के शिल्प कक्ष में खड़ी बोली ने धीरे-धीरे काव्य-सौन्दर्य, पद-मार्दव तथा भाव-गौरव प्राप्त कर प्रथम बार भाषा का सिंहासन ग्रहण किया। गद्य में निखार लाने के लिए उसे अभी और भी साधना तथा तपस्या करनी है।

हमारी पीढ़ी एक प्रकार से, व्यापक अर्थ मे जागरण की ही पीढ़ी रही है। हिन्दी हम लोगों के लिए मात्र भाषा ही नहीं, एक नयी चेतना, नयी प्रेरणा का प्रतीक बनकर आयी थी। देश में सर्वत्र, सभी क्षेत्रों में, नवीन जागरण की लहर दौड़ रही थी, नवीन अभ्युदय के चिह्न उदय हो रहे थे,…हमने उस जागरण, उस अभ्युदय को, हिन्दी ही के रूप में पहचाना था। उसी सर्वतोन्मुखी सशक्त जातीय अभ्युत्थान की चेतना को वाणी देने के प्रयत्नों में हिन्दी का भी कण्ठ फूटा था। उसने अपनी मध्ययुगीन ब्रजभाषा की तुतलाहट ही को नहीं छोड़ दिया था, उसके भीतर एक सबल भावना का सिन्धु भी हिलोरे लेने लगा था। इस प्रकार हिन्दी हमारे भीतर भाषा के अतिरिक्त एक राष्ट्रीय जागरण, एक सामाजिक प्रेरणा-शक्ति के रूप में —एक मानवीय सौन्दर्यबोध तथा एक नवीन आत्माभिव्यक्ति के रूप में प्रकट हुई थी।

श्री गुप्तजी की 'भारत-भारती' तब हमारे लिए कितना महान् राष्ट्रीय उत्थान का सन्देश तथा आत्म-गौरव का आश्वासन लेकर आयी थी! श्रीकृष्ण ने न जाने कब बाँसुरी छोड़कर पांचजन्य उठा लिया था! प्रथम महायुद्ध के बाद धीरे-धीरे समस्त देश में स्वतन्त्रता का गान तथा उद्बोधन का मन्त्र गूँज उठा था। जो जागरण सर्वप्रथम बंगाल में रवीन्द्रनाथ के स्वरों में छनकर एक काव्यात्मक सम्बोध, सांस्कृतिक आह्वान तथा संकेत के रूप में ध्वनित हुआ था, वह हिन्दी के भीतर से धीरे-धीरे गांधीवादी कर्मचेतना के सक्रिय यथार्थ के रूप में प्रकट तथा प्रस्फुटित होने लगा। नया हिन्दी-काव्य केवल रवीन्द्रनाथ की ही प्रतिध्वनि नहीं रहा, उसने अपने युग की पृष्ठभूमि से स्वतन्त्र रूप से प्रेरणा ग्रहण की। इस प्रकार हमारे युग की कविता, जो छायावादी कविता कही जाती है, जहाँ एक ओर राष्ट्रीय अभ्युत्थान के गीत गुनगुना रही थी वहाँ, मुख्य रूप से, वह भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण को ही मुखरित करने में संलग्न थी। मध्ययुगीन काव्य-चेतना या तो अपने रीतिकालीन विलास-शृंगार के कर्दम में डूबी हुई सामन्ती रूप-भावना में सीमित थी या सन्त-परम्परागत रस-शुद्ध समदृष्टि जीवन-दर्शन से पीड़ित थी। छायावादी कविता सोयी हुई भारतीय चेतना की गहराइयों में नवीन रागात्मकता की माधुर्य-ज्वाला, नवीन जीवन दृष्टि का सौन्दर्यबोध तथा नवीन विश्वमानवता के स्वप्नों का आलोक उड़ेल रही थी। छायावाद से पहले खड़ीबोली का काव्य, भाव तथा भाषा की दृष्टि से, बिल्कुल दरिद्र था। छायावाद ने उसमें

अँगड़ाई लेकर जागते हुए भारतीय चैतन्य का भाव-वैभव भरा। विश्व-बोध के व्यापक आयाम, लोक-मानव की नवीन आकांक्षाएँ, जीवन-प्रेम से प्रेरित परिष्कृत अहंता का मांसल सौन्दर्य-परिधान पहले पहल उसी ने हिन्दी-कविता को प्रदान किया।

अपने युग के काव्य-साहित्य की पृष्ठभूमि का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराना इसलिए आवश्यक हो गया कि अपनी सबसे प्रिय रचना के बारे में कहने से पहले मैं आपके सम्मुख यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मेरी काव्यरुचि या संस्कार का निर्माण करने में किन शक्तियों का हाथ रहा तथा मेरी काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं को किस प्रकार सांस्कृतिक-राजनीतिक जागरण की व्यापक चेतना ने प्रेरित एवं प्रभावित किया। मेरी प्रिय-अप्रिय की भावना व्यक्तिगत रुचि से चालित न रहकर जीवन-मान्यताओं-सम्बन्धी दृष्टिकोण से शासित रही।

मैंने प्रकृति के एक सौन्दर्यवादी कवि के रूप में काव्य के सा रे ग म का अभ्यास आरम्भ किया। सौन्दर्य, स्वभाव से ही, मुझे अपनी भावना के सहज धरोहर के रूप में मिला। प्रकृति के सुन्दर मुख को मैंने छुटपन ही में पहचान लिया था। 'वीणा,' 'ग्रन्थि' तथा 'पल्लव' काल की मेरी किशोर कल्पना नैसर्गिक सौन्दर्य के ही मधुर स्वप्न देखती रही। रंगों की तूली से चित्रित सद्यःस्फुट प्रकृति की शोभा उसे विस्मय-विमुग्ध करती रही। 'गुंजन' में धीरे-धीरे मैंने अपनी ओर मुड़कर तथा अपने भीतर देखकर अपने बारे में गुनगुनाना सीखा। अपने भीतर मुझे अधिक नहीं मिला। व्यक्तिगत आत्मोन्नयन के सत्य में मुझे कुछ भी मोहक, सुन्दर तथा महत्त्वपूर्ण नहीं दिखायी दिया। मैंने जीवन-मुक्ति के लिए छटपटाती हुई प्राण-कामना तथा राग-भावना को 'ज्योत्स्ना' के रूपक में अधिक व्यापक, सामाजिक, अवैयक्तिक तथा मानवीय धरातल पर अभिव्यक्त करने की चेष्टा कर व्यक्तिगत जीवन साधना के प्रति — जिसकी क्षीण प्रतिध्वनियाँ 'गुंजन' में मिलती हैं – विद्रोह प्रकट किया और अपने परिवेश की सामाजिक चेतना से असन्तुष्ट होकर एक अधिक संस्कृत, सुन्दर एवं मानवोचित सामाजिक जीवन का स्वप्न प्रस्तुत किया। स्वप्न इसलिए कि उसे वैयक्तिक या सामाजिक जीवन में मूर्त करने की बात तब मेरे मन में नहीं उठी थी, उस ओर मेरा ध्यान ही नहीं गया था। बाधा-बन्धन-हीन किशोर कल्पना उड़ान भरना जानती थी, वह उसने भर दी। आदर्श, लक्ष्य अथवा साध्य का अनुमान कर उसकी रूपरेखा बनाना कठिन नहीं होता, पर उसकी ओर अग्रसर होने के लिए पथ का अन्वेषण करना सरल नहीं होता। उसके लिए जीवन की वास्तविकता का भी अनुभव चाहिए। पथ की खोज मुझे बराबर रही है, और अब भी है। लक्ष्य के प्रति मेरे मन में कोई सन्देह या दुविधा कभी नहीं रही।

गांधीवाद तथा मार्क्सवाद का मुख्य भेद साधन का भेद है, लक्ष्य दोनों का विभिन्न शब्दों में व्यापक लोकहित ही है। गांधीवाद युग के अधिक निकट होने के कारण युगीन पृष्ठभूमि की दृष्टि से अधिक आधुनिक है, मार्क्सवाद साधन के सम्बन्ध में निश्चय ही पिछड़ा हुआ है। 'नमक-सत्याग्रह' से लेकर सन् '४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के बीच का समय असहयोग-आन्दोलन के उतार का समय रहा है, जबकि हमारे जागरण

युग की कर्मचेतना श्रान्त-श्लथ होकर, एक प्रकार से, विश्राम ग्रहण कर रही थी और व्यक्तिगत सत्याग्रह में कभी-कभी इधर-उधर सुलगकर अपने जीवन्त अस्तित्व का स्मरण-भर दिला देती थी। इस बीच अनेक प्रकार का आशा-निराशा, उत्साह-कुण्ठा का स्नायविक संग्राम युग मानस में फलत: युग-साहित्य में, चलता रहा और अनेक प्रकार की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक विचारधाराओं एवं विचार-दर्शनों का प्रभाव मन में उथल-पुथल मचाता रहा। यह युग, साहित्य में, हिन्दी-कविता के प्रगतिशील युग के नाम से प्रसिद्ध है। इस काल में मैंने भी मार्क्स के गम्भीर आर्थिक, सामाजिक सिद्धान्तों तथा विचार-निर्णयों से प्रभावित होकर 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' लिखी थी, जिनसे सम्भवत: हिन्दी में प्रगतिवाद का नया चरण आरम्भ हुआ था। अपने इस नये रुझान का आभास मैं 'युगान्त' में पहले ही दे चुका था।

सामाजिक-ऐतिहासिक दर्शन के अध्ययन के फलस्वरूप मेरा जीवन-दृष्टिकोण आमूल परिवर्तित नहीं हो गया था, जैसा कि मेरे आलोचकों को तब प्रतीत हुआ, मेरी जीवन-दृष्टि अधिक व्यापक हो गयी थी। अर्थात् आदर्श के अन्तर्मुख-चिन्तन के साथ मेरे मन ने यथार्थ का बहिर्मुख-आग्रह भी स्वीकार कर लिया था। जीवनादर्श के प्रति मेरा प्रेम वैसा ही बना रहा, किन्तु उसकी प्राप्ति के लिए—उसके विकास के अंग के रूप में—वस्तु-जगत् के संघर्ष को भी मेरा मन समझने लगा, तथा उसकी यथार्थता को महत्त्व भी देने लगा किन्तु यह सब होने पर भी आदर्श तथा यथार्थ के बीच व्यवधान मेरे भीतर बना ही रहा। मेरी चेतना तब इतनी विकसित, सशक्त एवं परिपक्व नहीं हो सकी थी कि वह आदर्श और यथार्थ को एक ही मानव-सत्य के, समग्र सत्य के, अंगों—परस्पर पूरक अंगों—के रूप में देख सके अथवा ग्रहण कर सके।

अब मैं अपने कवि-मन के विकास के एक अत्यन्त आवश्यक मोड़ या स्थिति के बारे में कहने जा रहा हूँ, जहाँ से 'स्वर्ण-किरण' का युग आरम्भ होता है, और जिसे आप मेरे चेतना-काव्य का युग भी कह सकते हैं। यह 'ग्राम्या' से पाँच वर्ष के बाद का समय है। इस बीच मेरे मन में 'ज्योत्स्ना' और ग्राम्या' की चेतनाओं का—आदर्श और यथार्थ की चिन्तन-धाराओं का—संघर्ष तथा मन्थन चलता रहा और इसी का परिपाक 'स्वर्ण-किरण' की विकसित जीवन-चेतना के रूप में हुआ, जिसको मैं अपनी 'स्वर्णोदय' नामक रचना में सम्भवत: अधिक सफल अभिव्यक्ति दे सका हूँ।

'स्वर्ण-किरण' की काव्य-दृष्टि को मेरे आलोचकों ने समन्वयवादी जीवन-दर्शन कहकर आत्मसन्तोष ग्रहण किया है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि उसके पुष्कल चैतन्य की उन्होंने जान-बूझकर उपेक्षा की है। नहीं, उसकी ओर उन्होंने सम्भवत: यथेष्ट ध्यान नहीं दिया है। और उसे समझने की चेष्टा भी अभी नहीं जाग्रत हुई है। इसका एक कारण, और सम्भवत: मुख्य कारण, यह है कि वर्तमान सांस्कृतिक ह्रास के युग में मानव-चेतना और विशेषत: बुद्धिजीवियों एवं कलाकारों की भावप्रवण संवेदनशील चेतना प्राणिक जीवन-वृत्तियों के उच्छ्वासों तथा भावनाओं के उपचेतन स्तरों में ऐसी उलझ गयी है कि उन गुहाओं से घने अन्धकार को नवीन चैतन्य के स्वर्णिम प्रकाश से विगलित होने में समय लगेगा। सम्भवत:,

समय आने पर, 'स्वर्ण-किरण' के युग की मेरी रचनाएँ—जिनमें मेरी इधर की सभी रचनाएँ सम्मिलित हैं—पाठकों एवं आलोचकों का ध्यान अधिक आकृष्ट कर सकेंगी और उनके प्रति अधिक न्याय हो सकेगा। मैं उनके सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि उनमें केवल समन्वयवादी या अध्यात्मवादी बौद्धिक दर्शन ही नहीं है, उनमें मेरी समस्त जीवन-अनुभूति का, ग्राम्या की हरीतिमा का भी, निचोड़ है। उनमें जीवन-सौन्दर्य के परिधान में मूर्त नवीन जीवन्त मानव-चैतन्य भी है, जिसको अधिक परिपक्व अथवा पूर्णतम अभिव्यक्ति मैं अभी नहीं दे सका हूँ।

यह एक इतना विराट् तथा विश्वव्यापी चेतनात्मक, फलत: मान्यताओं की, क्रान्ति का युग है कि मानव-मन उसके महत्त्व को अभी पूर्णत: ग्रहण नहीं कर पाया है। यह महत् अन्त:क्रान्ति जो कि मानव-जीवन में एक महान परिवर्तन तथा रूपान्तर उपस्थित कर सकेगी, अभी केवल विकास के पथ में है। मैंने 'उत्तरा' के गीतों में इस ओर संकेत किया है। नव युग का सूक्ष्म सांस्कृतिक ऐश्वर्य, मनोवैभव तथा जीवन-सौन्दर्य अभी पूर्णत: प्रस्फुटित होकर मनुष्य के भीतर नहीं अवतरित हो सका है। इसीलिए सम्भवत: मेरी सबसे प्रिय रचना भी अभी कहीं रुकी हुई है, मैं उसे शब्दों में बाँधकर मूर्त नहीं कर सका हूँ। उसके लिए अभी उपयुक्त भावना-भूमि प्रस्तुत नहीं हो सकी है। सम्भव है, मैं कभी भविष्य में अपनी सबसे प्रिय रचना को आपके सम्मुख रख सकूँगा।

आज के युग में कविता को केवल वादों, बौद्धिक दर्शनों, सामूहिक नारों, अवचेतन के वैचित्र्य-भरे अपरूप उछ्वासों एवं उद्गारों के रूप में ही देखना उसके प्रति अन्याय करना है। जुगनुओं की पंक्तियों की भाँति मानव-मन की विपण्ण गहराइयों में जगमगाती, रीढ़-हीन बिखरी बेलों की तरह धरती पर जड़ी हुई एवं बेलबूटों की तरह कढ़ी हुई सतरें और जिस तथ्य को भी वाणी देती हों, वे निश्चय ही नये युग के नये मानव के चैतन्य को अथवा नये मानव-सत्य को अभिव्यक्त नहीं करतीं, इसमें मुझे रत्ती-भर सन्देह नहीं। सम्भवत: यह कविता के विश्राम ग्रहण करने का समय है। नया मानव-चैतन्य अन्तर्मुखी होकर अपने लिए नवीन भावभूमि, नवीन सौन्दर्यवाणी, नवीन माधुर्य-रस तथा नवीन इन्द्रिय-आनन्द का स्पर्श खोज रहा है। मैं नयी कविता को धीरे-धीरे, नवीन अनुराग की ज्वाला के चरण बढ़ाकर, और भी निकट आते हुए देख रहा हूँ। सम्भव है, उसी में कहीं मेरी सबसे प्रिय रचना हो।

काव्य संस्मरण

जिस प्रकार अनेक रंगों में हँसती हुई फूलों की वाटिका को देखकर दृष्टि सहसा आनन्द-चकित रह जाती है, उसी प्रकार जब काव्य-चेतना का सौन्दर्य हृदय में प्रस्फुटित होने लगता है, तो मन उल्लास से भर जाता है। न जाने जंगल में कहाँ किन घाटियों की छायाओं में, किन गाते हुए स्रोतों के किनारे तरह-तरह की फैली झाड़ियों की ओट में पत्तों के झरोखों

से झांकते हुए ये छोटे-बड़े फूल इधर-उधर बिखरे पड़े थे, जबकि मनुष्य के कलाप्रिय हृदय ने उनके सौन्दर्य को पहचानकर, उनका संकलन कर तथा उन्हें मनोहर रंगों की मैत्री में अनेक प्रकार की क्यारियों तथा आकारों में साज-सँवारकर उन्हें वाटिका अथवा उपवन का रूप दिया और इसी प्रकार अपने उपचेतन के भीतर भावनाओं तथा आकांक्षाओं के गूढ़ तहों में छिपे हुए अपनी जीवन-चेतना के आनन्द, सौन्दर्य तथा रस की खोज कर उसे काव्य के रूप में संचित किया।

जिस प्रकार बादलो के अन्धकार से सहसा अनेक रंगों के रहस्यभरे इन्द्रधनुष को उदित होते देखकर किशोर मन आनन्द-विभोर होकर किलकारी भरने लगता है, उसी प्रकार एक दिन कविता के रत्नच्छायामय सौन्दर्य से अनुप्राणित होकर मेरा मन 'मेघदूत' की कुछ पंक्तियाँ गुनगुनाने लगा। मैं तब नौ-दस साल का रहा हूँगा। मेरे बड़े भाई बी० ए० की परीक्षा समाप्त कर छुट्टियों में घर आये हुए थे और बड़ी भाभी को मधुर कण्ठ से गाकर राजा लक्ष्मण सिंह का मेघदूत सुनाया करते थे। मैं चुपचाप उनके पास बैठकर अत्यन्त तन्मयता के साथ मेघदूत के पद सुना करता था और एक अज्ञात आकुलता से मेरा मन चंचल हो उठता था, सम्भवतः, भाई साहब के कण्ठ-स्वर के प्रभाव के कारण। तब मैं यह नहीं जानता था कि मेघदूत कालिदास की रचना है और यह केवल उसका हिन्दी अनुवाद है। बार-बार सुनने के कारण मुझे मेघदूत के अनेक पद कण्ठस्थ हो गये थे और एकान्त में मेरा मन उन्हें दुहराया करता था, जैसे किसी ने उन्हे अपने आप मेरे स्मृति-पट पर अंकित कर दिया हो।

सखा तेरे पी को जलद प्रिय मैं हूँ पतिवती
सँदेसो ले वाको तव निकट आयो सुन सखी!

यह प्रिय का जलद मेरे लिए भी जैसे कुछ सन्देश लेकर आया है, तब मैं इसे नहीं जानता था। जिसे अब मैं शिखरिणी छन्द के नाम से जानता हूँ, तब वह मुझे बहुत प्रिय लगता था। मैं प्रायः गाया करता था—

'मिले भामा तेरो सुभग तन श्यामा लतन में
मुखाभा चन्दा में चकित हरिणी में दृग मिलें—
चलोर्मी में भौंहें, चिकुर बरही की पूछन में
न पै हा काहू में मुदि सकल तो आकृति मिले!'

अब मुझे लगता है कि विरही यक्ष की तरह ही मैं भी न जाने कब से चकित हरिणी-सी दृगवाली कविता-कामिनी के लिए छाया-पंख-मेघ द्वारा सन्देश भेजता रहा हूँ—किन्तु उसकी कोई पूर्ण आकृति—जिससे मन को सन्तोष हो ऐसी छवि, मैं अभी तक नहीं अंकित कर पाया हूँ, और मन ही मन सोचता हूँ:

घाम धूम नीर औ समीर मिले पायी देह,
ऐसो घन कैसे दूत काज भुगतावेगो।
नेह को सँदेसो हाथ चातुर पठैवे जोग,
बादर कहोजी ताहि कैसे के सुनावेगो॥

महाभारत के युद्ध का समर्थन जिस प्रकार गीता द्वारा कराया गया है, उसी प्रकार मेघ द्वारा दूत-कार्य कराने का समाधान मानो उपर्युक्त चरणों द्वारा किया गया है। 'मेघदूत' में यत्रतत्र आये हुए प्रकृति-वर्णनों ने मुझे

बहुत ही मुग्ध किया है। यहाँ केवल एक ही उदाहरण देकर सन्तोष करूँगा :

जल सूखत सिन्धु भई पतरी तन, बेनी सरी को दिखावती है।
तटरूखन तें झरें पात पके, छबि पीरी मनो अँग लावती है ॥
धरि सोहनो रूप बियोगिनी को वह तो में सुहाग मनावती है।
करियो घन सो विधि वाके लिये तन छीनता जो कि मिटावती है ॥

छुटपन में मुझे विरहिणी नारी की रूप-कल्पना अत्यन्त सुन्दर लगती थी, सम्भव है यह मेघदूत ही का प्रभाव हो।

शिला पै गेरू ते कुपित ललना तोहि लिखिके
धरयो जौ लों चाहूँ तन अपन तेरे पगन में।
चले आँसू तौ लों दृगन मग रोकें उमगिके
नहीं धाता धाती चहत हम याहू विधि मिलें।

इन पंक्तियों को गाते तो आँखों मे बरबस आँसू उमड़ आते थे।

'मेघदूत' के अतिरिक्त मुझे 'शकुन्तला' मे चौकड़ी भरते हुए हिरन का दृश्य भी बड़ा मोहक लगता था, जो इस प्रकार है :

फिर फिर सुन्दर ग्रीवा मोरत, देखन रथ पाछे जो घोरत।
कबहुँक डरपि बान मति लागे, पिछलो गात समेटत आगे।
अधरोंथी मग दाभ गिरावत, थकित खुले मुख ते बिखरावत।
लेत कुलाँच लखो तुम अबहीं, भरत पाँव धरती जब तब ही।

इस 'पिछलो गात समेटत आगे' का संस्कृत का रूप है---

पश्चार्धेन प्रविष्ट: शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वं कायम्—इस चरण में तो जैसे हिरन की गति आँखों के सामने मूर्तिमान हो उठती थी।

'पहरे बल्कल वसन यह लागत नीकी बाल' वाले छन्द को जब पीछे मैंने संस्कृत में पढ़ा, तब तो जैसे शकुन्तला की समस्त मधुरिमा के सौरभ से हृदय भर गया। वह इस प्रकार है :

सरसिज मनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं,
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मी तनोति
इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिवहिमधुराणां मंडनं नाकृतीनाम्।

अन्तिम पंक्ति का सत्य तो बार-बार जीवन में परखने को मिलता रहा।

इस प्रकार 'मेघदूत' और 'शकुन्तला' के, राजा लक्ष्मणसिंह-कृत हिन्दी अनुवादों ने ही छुटपन में सबसे पहले मेरे भीतर काव्य-प्रेम की नींव डाली। इसके बाद जिन पंक्तियों की ओर सर्वप्रथम मेरा ध्यान आकर्षित हुआ वह तुलसीकृत रामायण की हैं, जिनका पाठ मेरी बहिन किया करती थी, यह भी छुटपन ही की बात है। वे पंक्तियाँ है :

जय जय जय गिरिराज किशोरी, जय महेश मुख चन्द चकोरी।
जय गजवदन षडानन माता, जगत जननि दामिनि द्युति गाता।
नहि तव आदि मध्य अवसाना, अमित प्रभाव वेद नहिं जाना।
भव भव विभव पराभव कारिणि, विश्व विमोहिनि स्ववश विहारिणि।

इन पंक्तियों की ओर मेरा ध्यान इसलिए भी आकर्षित हुआ कि मैं गिरिराज हिमालय के अंचल में पला हूँ और रात-दिन हिमशिखरों का दृश्य

देखता रहा हूँ। पार्वती की इस स्तुति को सुनकर हिमालय के प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ गयी थी और जब उसके वाष्प-शुभ्र शृंगों पर कभी बिजली चमक उठती थी, जगत जननि दामिनिद्युति गाता का स्मरण हो आने से, मेरा मन. आँखों के सामने दिगन्तव्यापी हिम-श्रेणियों को देखकर विचित्र सम्भ्रम के भाव से भर जाता था।

मध्ययुगीन हिन्दी-कवियों में पीछे जिस रचना ने मुझे सबसे अधिक मोहित किया है वह है श्री नरोत्तमदास-कृत 'सुदामा-चरित', जिसे मैंने न जाने कितनी बार पढ़ा है :

सीस पगा न झगा तन में प्रभु जानै को आहि, बसे केहि ग्रामा,
धोती फटी-सी, लटी दुपटी, अरु पाँय उपानह की नहिं सामा।
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल, देखि रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा,
पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा॥

द्वार पर खड़ी सुदामा की मूर्ति आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो उठती थी और हृदय कुतूहल से भर जाता था कि देखें कृष्ण क्या कहते हैं? आज अनेक दीनहीन किसान-मजदूरों के काव्य-चित्र देखने को मिलते हैं—किन्तु नरोत्तमदास के सुदामा का वह जीवित सम्मोहन उनमें नहीं मिलता। सुदामा की स्त्री अपनी गृहस्थी का जो चित्र उपस्थित करती है, वह तो जैसे बरछी की तरह हृदय में चुभ जाता है :

कोदों सवाँ जुरतो भरि पेट, न चाहति हौं दधि दूध मठौती.
सीत वितीतत जो सिसियात तो हौं हठती पै तुम्हें न हठौती!
जौ जनती न हितू हरि सौं तो मैं काहे को द्वारिका पेलि पठौती,
या घर तें कबहू न गयो पिय, टूटो तवौ अरु फूटी कठौती।

वस्तु-स्थिति की ज्ञाता सुदामा की पत्नी उसे द्वारिका जाने को कई तरह से मनाती है। वह कहती है—लोचन अपार वै तुम्हें न पहचानि है?—जो पै सब जनम दरिद्र ही सतायौ तौ पै कौने काज आइहै कृपा-निधि की मित्रई?—किन्तु, निरीह स्वाभिमानी सुदामा उसे समझाता है—सुख दुख करि दिन काटे ही बनैगे भूलि विपति परे पै द्वार मित्र के न जाइए।

सुदामा का द्वारिका जाना, कृष्ण से मिलना और फिर लौटकर अपनी कुटी को न पहचान सकना—सभी वर्णन मेरे किशोर हृदय को अत्यन्त मर्मस्पर्शी लगते थे।

देव, बिहारी, पद्माकर, मतिराम आदि अनेक कवियों के चमत्कार-पूर्ण पदों ने तब मेरे मन को अनेक अनूठे भावों की सौरभ से रससिक्त किया है। और भी प्राचीन कवियों में विद्यापति मुझे बहुत प्रिय रहा है। उसकी कल्पना, उसका सौन्दर्य-बोध तथा कवित्व-शक्ति सदैव चिर नवीन रहेगी :

सरसिज बिनु सर सर बिनु सरसिज, की सरसिज बिनु सूरे
जीवन बिनु तन तन बिनु जीवन, की जीवन पिग दूरे।

पंक्तियाँ मन को एक अज्ञात अभाव से आकुल कर देती थीं।··· सूरदास के—'खंजन नैन रूप रस माते—चंचल चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते'—पद चंचल पक्षियों की तरह पंख मारकर कल्पना के आकाश में बार-बार मँडराया करते थे :

हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो,
इक लोहा पूजा में राख्यो इक घर बधिक परयौ
पारस गुन अवगुन नहिं देखत, कंचन करत खरयौ

इन पदों से मुझे सदैव बड़ी सान्त्वना मिलती रही है :

खड़ीबोली के कवियों में गुप्तजी के 'जयद्रथ-वध' नामक खण्डकाव्य के अनेक चरण मुझे कण्ठस्थ हो गये थे। उनमें उत्तरा का विलाप मुझे विशेष रूप से प्रिय लगता था :

गति मति सुकृति धृति पूज्य प्रिय पति स्वजन शोभन सम्पदा
हा एक ही जो विश्व में सर्वस्व था तेरा सदा
यों नष्ट उसको देखकर भी बन रहा तू भार है
हे कष्टमय जीवन तुझे धिक्कार बारम्बार है।

इन चरणों को मैं प्रायः गुनगुनाया करता था। आगे चलकर तो गुप्तजी की अनेक रचनाओं से मुझे प्रेरणा मिली है। उनकी नवीनतम कृतियों में 'पृथ्वी पुत्र' मुझे विशष प्रिय है। उस समय 'प्रिय-प्रवास' के भी अनेक अंश मुझे अच्छे लगते थे, विशेषकर यशोदा और श्रीराधा का विलाप। अब भी मुझे उसकी अनेक पंक्तियाँ याद है :

पत्रों पुष्पों रहित विटपी विश्व में हो न कोई
कैसी ही हो सरस सरिता वारिशून्या न होवे,
ऊधो सीपी सदृश न कभी भाग फूटे किसी का
मोती ऐसा रतन अपना हाय कोई न खोवे ! इत्यादि।

श्री नाथूराम शंकर शर्मा के भी कई छन्दों ने मुझे मुग्ध किया है—विशेषकर उनकी 'केरेल की तारा' नामक रचना ने, जो तब कविता-कलाप में प्रकाशित हुई थी :

चौंक चौंक चारों ओर चौकड़ी भरेगे मृग
खंजन खिलाडियों के पंख झड़ जायेंगे
आज इन अँखियो से होड़ करने को भला
कौन से अड़ीले उपमान अड़ जाएँगे—

अथवा मोहिनी की माँग के लिए 'तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है' आदि अनेक पंक्तियाँ आज भी स्मृति-पट पर जग उठती हैं।

किन्तु कोई विशेष काव्य-कृति कब, क्यों प्रिय लगती है, यह कहना सरल नहीं है। सम्भवतः बहुत कुछ उस समय के वातावरण तथा चित्त-वृत्ति पर भी निर्भर रहता है। और यदि कुछ रचनाएँ स्मृति-पट पर अंकित हो जाती हैं, तो वह सदैव ही उनकी उत्कृष्टता का प्रमाण नहीं माना जा सकता।

प्रसादजी की रचनाओं के सम्पर्क में मैं बहुत पीछे आया, उससे पहले मेरा परिचय निरालाजी की कविताओं से हो चुका था। सन् '३०-'३१ के बाद निरालाजी से व्यक्तिगत परिचय बढ़कर मैत्री में परिणत हो चुका था। तब वह प्रायः जिन रचनाओं को सुनाया करते थे, उनमें अनेक कविताएँ मुझे विशेष प्रिय रही हैं, जैसे—

भर देते हो—बार बार तुम करुणा की किरणों से
तप्त हृदय को शीतल कर देते हो !—इत्यादि अथवा

जागो एक बार—प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें
अरुण पंख तरुण किरण खोल रहीं द्वार ! आदि

और भी अनेक ऐसी रचनाएँ जिन्हें मैं स्मृति से उद्‌धृत कर सकता हूँ और जो अब उनके 'परिमल' नामक काव्य-संग्रह में संगृहीत है, मुझे प्रिय रही हैं। 'परिमल' की रचनाएँ मेरे अन्तर में निरालाजी की घन-गम्भीर मन्द मधुर ध्वनि में अंकित हैं। उनकी बड़ी रचनाओं में 'तुलसीदास', 'सरोज-स्मृति' तथा 'राम की शक्ति-पूजा' मुझे विशेष प्रिय है। छोटी रचनाओं में 'परिमल' के गीतों के अतिरिक्त गीतिका के अनेक गीत बड़े सुन्दर लगते हैं; यथा—सखि, वसन्त आया, भरा हर्ष वन के मन, नवोत्कर्ष छाया—अथवा—मौन रही हार, प्रिय पथ पर चलती, सब कहते शृंगार—अथवा—मेरे प्राणों में आओ, शतशत शिथिल भावनाओं के उर के तार सजा जाओ! इत्यादि। इस प्रकार 'गीतिका' के अनेक गीत मुझे अत्यधिक प्रिय है जिनमे 'वीणा-वादिनि वर दे' भी है जो अत्यन्त लोकप्रिय हो चुका है।

प्रसादजी की—'बीती विभावरी जाग री,
अम्बर पनघट पर डुबो रही ताराघट ऊषा नागरी'

गीत एक विचित्र आशा-जागरण का मन्त्र लेकर मन को लुभाता है। और उनका 'हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो मौन बने रहते हो क्यों—' गीत तो जैसे प्रसादजी की मूर्तिमती कविता की तरह हृदय में अपने आप गूँजता रहता है। प्रसादजी के नाटकों के अनेक अन्य गीतो की तरह 'कामायनी' के भी अनेक अंश मेरी स्मृति की प्रिय धरोहर में से हैं, जिनका उदाहरण देना सम्भव नहीं।

महादेवीजी का जो मर्म मधुर गीत सबसे पहले अपनी अपलक प्रतीक्षा की आशा लेकर मन में प्रवेश कर गया, वह उनके 'नीहार' नामक संग्रह में मिलता है :

जो तुम आ जाते एक बार !
कितनी करुणा, कितने संदेश, पथ में बिछ जाते बन पराग,
गाता प्राणों का तार तार, अनुराग भरा उन्माद राग।
आँसू लेते वे पद पखार !

मुझे अपनी रचनाओं में 'चाँदनी' सबसे प्रिय है, जो मेरे मन की आकांक्षाओं से मेल खाती है :

जग के दुख दैन्य शयन पर, यह करुणा जीवन बाला
रे कब से जाग रही यह आँसू की नीरव माला।

किन्तु, 'जो तुम आ जाते एक बार' को मैं इससे भी अधिक अपने निकट पाता हूँ। आगे चलकर तो महादेवीजी ने अनेक ऐसे गीत दिये हैं जिन्हें कण्ठस्थ कर लेने को जी करता है, जिनमें 'मैं नीरभरी दुख की बदली' भी है। 'सान्ध्यगीत' तथा 'दीपशिखा' के अनेक गीत मन के मौन सहचर बन गये हैं जो अन्तर को स्वप्न-ध्वनित करते रहते है।

बच्चन भी मेरा अत्यन्त प्रिय कवि तथा मित्र रहा है। 'निशा-निमन्त्रण' तथा 'एकान्त संगीत' के अनेक गीत 'मध्य निशा में पछी बोला' की तरह मन के अन्तरतम निराशा के स्तरों में गहरी वेदना उड़ेल देते हैं। वैसे बच्चन की ओर सबसे पहले मैं उसकी पगध्वनि से आकर्षित हुआ :

उर के ही मधुर अभाव चरण बन, करते स्मृति पट पर नर्तन
मुखरित होता रहता बन-बन,
मैं ही उन चरणों में नूपुर, नूपुर-ध्वनि मेरी ही वाणी
वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

बच्चन की कविता की पगध्वनि मेरे मन की चिरपहचानी बन चुकी है। उसकी 'मिलन यामिनी' के अनेक गीत मुझे पसन्द है, विशेषकर :

प्राण, सन्ध्या झुक गयी गिरि ग्राम तरु पर
उठ रहा है क्षितिज के ऊपर सिन्दूरी चाँद
मेरा प्यार पहिली बार लो तुम !   —इत्यादि।

काव्य-वन के चंचल खंजन श्री नरेन्द्र शर्मा को मैं नरेन कहता हूँ। सबसे पहले उनके 'प्रवासी के गीत' की प्रथम रचना ने ही मेरा ध्यान उनके कवि की ओर आकृष्ट किया :

साँझ होते ही न जाने छा गयी कैसी उदासी।

यह पंक्ति जैसे जीवन की अनेक गहरी साँझों को मौन मुखरित कर जीवन-विषाद के साक्षी की तरह मन की आँखों के सामने प्रत्यक्ष होती रहती है। उनके 'मिट्टी और फूल' की अनेक रचनाओं की पंक्तियाँ मन में जब-तब गूँज उठती हैं। नरेन्द्र के अतिरिक्त श्री अज्ञेयजी की भी अनेक रचनाएँ मेरी प्रिय रही है। 'हारिल' रचना मैंने कई बार पढ़ी है। 'हरी घास पर क्षण-भर' की हरियाली में क्षणभर ही नहीं, अनेक बार देर तक विचरण करता रहा हूँ। 'नदी के द्वीप' कविता के समर्थन में तो कई बार उनसे कह चुका हूँ कि मैं भी नदी का ही द्वीप हूँ।

वैसे अनेक और भी रचनाएँ मुझे अपने समकालीन एवं नवीन कवियो की प्रिय है, जिनकी चर्चा समयाभाव के कारण इस छोटी-सी वार्ता मे करना सम्भव नही। इनमें दिनकर की किरणो का सम्मोहन मुझे सर्वाधिक प्रिय है।

साहित्यकार के स्वर

अपने साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ मे, कवि या साहित्यकार कहाँ से कैसे, प्रेरणा ग्रहण कर 'मन्दः कवि यशः प्रार्थी' का कार्य आरम्भ करता है; यह बतलाना बडा कठिन है। सम्भवतः तब प्रेरणा के स्रोत भीतर न रहकर बाहर ही अधिकतर होते है और अपने समय के प्रसिद्ध कवियो की रचनाओं से ही किसी-न-किसी रूप में प्रभावित होकर उदीयमान कवि अपनी लेखनी की परीक्षा लेना आरम्भ करता है। जब मैंने कविता लिखना प्रारम्भ किया था तब मुझे यह कुछ भी ज्ञात नहीं था कि काव्य की मानव-जीवन के लिए क्या महत्ता या उपयोगिता है। न मैं यही जानता था कि उस समय काव्य-जगत् में कौन-सी शक्तियाँ कार्य कर रही थीं। जैसे एक दीपक दूसरे दीपक को जलाता है उसी प्रकार द्विवेदी-

युग के कवियों की कृतियों ने मेरे हृदय को अपने सौन्दर्यस्पर्श से छूआ और उसमें एक प्रेरणाशिखा को जगा दिया। उसके प्रकाश में मैं भी अपने भीतर-बाहर अपनी रुचि के अनुकूल काव्य के उपादानों को पहचानकर उनका चयन तथा संग्रह करने लगा। यह ठीक है कि दीपशिखा जैसे तद्वत् दूसरी दीपशिखा को जन्म देती है उस प्रकार पिछली पीढ़ी की काव्यचेतना ज्यों की त्यों मेरे भीतर नहीं उतर आयी। मेरे मन ने उसका अपनी रुचि के अनुरूप संस्कार कर उसमें अपनेपन की छाप लगा दी।

वास्तव में भारतेन्दु-युग से हिन्दी कविता में एक प्रकार के जागरण या देशप्रेम की चेतना, बादलों के अन्धकार में बिजली की तरह कौंधने लगी थी और द्विवेदी-युग में श्री गुप्तजी आदि की रचनाओं में खड़ी बोली के मंच से यह अधिक प्रभावोत्पादक होकर हृदय को स्पर्श करने लगी। गुप्तजी की 'भारत भारती' में यह शंखध्वनि की तरह उद्‌बोधन गीत बनकर हिन्दी जगत में गूंज उठी थी। राष्ट्रीय चेतना के अतिरिक्त द्विवेदी-युग के काव्य में एक प्रकार से काव्य के अन्य उपकरणों का अभाव ही सा रहा है। न उसमें किसी प्रकार का नवीन सौन्दर्यबोध या कला-शिल्प रहा है, न रस या भावोद्रेक ही। अधिकांश रचनाएँ केवल छन्दों के अस्थि-पंजर या ढांचे भर रही हैं, जिनमें खड़ी बोली के शब्दों को गति-यति के नियमानुसार कवायद भर करायी गयी है। किन्तु उस युग के शब्दों के अम्बार से भी, रेती में बहती हुई कलकल करती जलधारा की तरह, सच्ची कविता चुनी जा सकती है। द्विवेदी-युग की कविता में जो शील मिलता है अन्यत्र उसके दर्शन नहीं होते।

द्विवेदी-युग का काव्यगत रेखाचित्र देने मे मेरा अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है कि जब मैंने कविता लिखना आरम्भ किया था तब वास्तव में हिन्दी में कविता देवी के अभिवादन के लिए उपयुक्त वातावरण नहीं प्रस्तुत था। हमारे युग को—जो पीछे छायावादी युग के नाम से प्रसिद्ध हुआ—मुख्यतः प्रेरणा बंगला में कवीन्द्र रवीन्द्र से तथा उन्नीसवीं सदी के अंग्रेजी कवियों से मिली। किन्तु अंग्रेजी कवियों से प्रेरणा ग्रहण करना तब सम्भव न होता और न बंगाल में रवीन्द्रनाथ के चोटी के व्यक्तित्व का ही विकास तब सम्भव हो पाता यदि श्रीरामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द के समान प्रकाशपुंज नक्षत्रों का अवतरण तब भारत में न हो गया होता। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय चेतना के सर्वांगीण पुनर्जागरण और मुख्यतः दर्शन, विचार, काव्य, चित्र, शिल्प, कला आदि के जागरण के बाह्य कारणों में पश्चिमी सभ्यता-संस्कृति तथा अंग्रेजी भाषा का जो भी हाथ रहा हो, उसका मुख्य कारण तथा मौलिक प्रेरणा-स्रोत प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष रूप में, अवश्य ही परमहंसदेव के तपः शक्तिपुंज आध्यात्मिक व्यक्तित्व में रहा है। श्रीरामकृष्ण देव के महत् जन्म में ही जैसे प्रतीक रूप में नये भारत ने जन्म लिया था। अनेक शतियों से जो भारतीय जीवन तथा मानस में एक प्रकार का निष्क्रिय औदास्य, वैराग्य तथा क्लैब्य छाया हुआ था वह जैसे रामकृष्ण देव के शुभ आगमन से तिरोहित हो गया। जिस प्रकार सरोवर के ऊपर का शैवाल हटा देने से नीचे का निर्मल जल दिखायी देने लगता है उसी प्रकार मध्ययुगीन

जाड्य की सीमाओं तथा कुहासे से मुक्त होकर भारतीय चैतन्य का व्यक्तत्व मनश्चक्षुओं के सामने निखरकर प्रत्यक्ष होने लगा। अनेक पौराणिक व्यक्तित्वों एवं संकीर्ण धार्मिक नैतिक मान्यताओं की भूलभुलैया मे खोया हुआ परम्परागत मानस जैसे नवीन तथा स्वतन्त्र रूप से सत्य की खोज करने लगा और उपनिषदों की उन्मेषपूर्ण स्वयंप्रभ मन्त्रदृष्टि से प्रेरणा प्राप्त कर नये आलोक-क्षितिजों में विचरण करने लगा। इस भाव-मुक्ति के नवोल्लास की प्रथम अभिव्यक्ति नये युग के भारतीय साहित्य मे हमें रवीन्द्रनाथ की कविता में मिलती है। मानव-जीवन सम्बन्धी सत्य के पिटेपिटाये शास्त्रीय दृष्टिकोण से छुटकारा पाकर युग की चेतना जैसे नवीन सौन्दर्यबोध तथा आनन्द की खोज मे नवीन कल्पना के सोपानों पर आरोहण करने लगी। ज्ञान, भक्ति, कर्म, ब्रह्म, विश्व, व्यक्ति आदि सम्बन्धी पथरायी हुई एकरस भावनाओं में नवीन प्राणों तथा चेतना का संचार होने लगा। और नये युग की कला, और विशेषत: कविता, नवीन भावऐश्वर्य का निःसीम आनन्दस्वर्ग लेकर प्रकट हुई। इस नयी चेतना ने अपने मुक्त प्रवाह से हिन्दी कविता की भाषा को भी नवीन रूपमाधुर्य प्रदान किया। और यह नवीन जागरण की प्रेरणा अपने भाववैभव के साथ ही नवीन जीवन संघर्ष भी लायी जिसने एक ओर भारतीय मानस में विचार-क्रान्ति पैदा की और दूसरी ओर राजनीतिक क्रान्ति, जिसके कारण सदियों से पराधीन इस भारतभूमि में स्वतन्त्रता के शस्त्रहीन संग्राम ने जन्म लिया और मात्र अपने संगठित मन: संकल्प से अन्त मे देश को स्वाधीन भी कर दिया। इस प्रकार भावऐश्वर्य के अतिरिक्त हिन्दी काव्य-चेतना की एक धारा ने सामूहिक कर्म एवं सामाजिक आदर्शों को प्रेरणा देकर प्रगतिशील दृष्टिकोण से नवीन जीवन-मूल्यों का आकलन तथा सृजन किया।

यह हमारे लिए बड़े सौभाग्य की बात है कि हमने इस विराट् युग में जन्म लेकर, साहित्य के क्षेत्र में इन नव नवोन्मेषिणी भावशक्तियों को धारण तथा वहन करने का गौरव प्राप्त किया है। स्वर्ग से नरक तक के स्तर आज के युग में आन्दोलित हो उठे हैं। मानवजाति की सर्वोच्च मान्यताओ के शिखर तथा निश्चेतन मन के अन्धकार भरे गह्वर आज नवीन आलोक की रेखाओं तथा नवीन प्राणों के स्पर्श से उन्मीलित हो रहे हैं। आज हम देश, जाति, वर्ग, श्रेणी, राष्ट्र, अन्तर्राष्ट्र, व्यक्ति तथा समाज की धारणाओं के पार इन सबकी एक सम्मिलित संश्लिष्ट इकाई को विश्व-जीवन में नवीन मानवता के रूप में प्रतिष्ठित करने के प्रयत्नों में संलग्न हैं। मेरे युग की जो काव्य-चेतना राष्ट्रीय जागरण के बाह्य प्रभावों से जागृत होकर, पश्चिमी सभ्यता तथा संस्कृति के स्पर्शों से सौन्दर्य ग्रहण कर, भारतीय चैतन्य के अभिनव आलोक से अनुप्राणित होकर, क्रमशः, प्रस्फुटित एवं विकसित हुई थी, आज वह अनेक भावनाओं तथा विचारों के धरातलों को पार कर मानव-मन की गहनतम तलहटियों तथा उच्चतम शिखरों के छाया-प्रकाश का समावेश करती हुई, अधिक प्रौढ़ एवं अनुभव-पक्व होकर, मानव-जीवन के मंगलमय उन्नयन एवं मानव-जाति के परस्पर सम्मिलन के स्वर्ग के निर्माण में अविरत साधना-संलग्न है। आज की काव्य-चेतना अनेक युगों को पार कर नवीन युग में प्रवेश कर रही

है। यह उसके लिए अत्यन्त संकट तथा संघर्ष का युग है। आज स्वप्न और वास्तविकता, सत्य और यथार्थ, एक-दूसरे के विरोध में खड़े, एक अधिक व्यापक एवं समुन्नत जीवन-सत्य की चरितार्थता में विलीन होने की प्रतीक्षा कर रहे है। आज मानव-क्षमता तथा मानव-दुर्बलता एक-दूसरे को चुनौती दे रही हैं। आज धरा-सृजन और विश्व-संहार आमने-सामने खड़े ताल ठोंक रहे हैं। ऐसी महान् सम्भावनाओं और घोर दुःसम्भावनाओं के युग में कवि एवं कलाकार को अपने अन्तर्विश्वास के शिखर पर अविचल खड़ा रहकर, मानव-अन्तश्चैतन्य से प्रकाश ग्रहण कर, स्वप्न और कल्पना के ही उपादानों से सही, महत्तम मानव-भविष्य का निर्माण करना है, और धरती के मानस का पिछली मान्यताओं एवं परिस्थितियों का कलमष-कर्दम धोकर, उसे नवीन जीवन-चैतन्य के सौन्दर्य से मण्डित कर मानवीय एवं स्वर्गोपम बनाना है। मानव अहंता के तुषानल के ताप से बिना झुलसे उसे अपने फूलों के हँसते हुए चरण आगे बढ़ाने हैं और स्वप्नों की अमूर्त अँगुलियों के कोमलतम स्पर्शों से छूकर भू-मानव के मन की निर्मम जड़ता को द्रवीभूत करना है। साहित्यकार के स्वर की उपयोगिता, महत्ता तथा उत्तरदायित्व इस युग में जितना अधिक बढ गया है उतना शायद इधर मानव-इतिहास के किसी युग में नहीं बढ़ा था। आज उसे धरती के विशृंखल जीवन को नये छन्दों में बाँधना है—मनुष्य की बौद्धिक अनास्थाओं को अतिक्रम कर उसके भीतर नवीन हृदय की रचना करनी है। युग-परिस्थितियों के घोर अन्धकार से प्रकाश खींचकर उसे दुःस्वप्नों से आतंकित मानव के मानस क्षितिज में नया अरुणोदय लाना है।

आज के महासंक्रान्ति के युग मे मुझे प्रतीत होता है कि मेरे भीतर मेरे उदयकाल में जिस किशोर कवि ने वीणा के गीत गुनगुनाये थे, आज वह अपना सर्वस्व गवाँकर केवल आज के विश्वजीवन का तथा भविष्य के अन्तरिक्ष में मुस्कराती हुई नवीन मानवता का विनम्र प्रतिनिधि-स्वर तथा सौम्य सन्देशवाहक एवं दूत भर रह गया है—उसकी क्षीण कण्ठध्वनि आज के तुमुल कोलाहल में लोगों को सुनायी देगी कि नहीं—मैं नहीं जानता।

जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण

कूर्मांचल की सौन्दर्य-पंख तलहटी में पैदा होने के कारण मुझे जीवन प्रकृति की गोद में पेंग भरता हुआ मिला। सबसे पहले मैंने उसके मुख को सुन्दर के रूप में पहचाना। किन्तु बचपन की चंचलता-भरी आँखों को जीवन का बाहरी समारोह जैसा मोहक तथा आकर्षक लगता है, वास्तव में उसका वैसा ही रूप नहीं है। एक सृजन-प्राण साहित्यजीवी को वह जैसा प्रतीत होता है, जन-साधारण को वैसा नहीं लगता। साहित्य, सौन्दर्य तथा संस्कृति का उपासक स्वभावतः भावप्रवण, कोमल प्राण, स्वाधीन

प्रकृति तथा संसार की दृष्टि से असफल प्राणी होता है। उसके मन को नित्य नवीन स्वप्न लुभाते रहते हैं और उसकी सौन्दर्य-भोग की प्रवृत्ति उसे कठोर वास्तविकता से पलायन करने की ओर उन्मुख करती रहती है। अपनी भावुकता तथा स्वभाव-कोमल दुर्बलता के कारण उसे जीवन में अधिक संघर्ष करना पड़ता है, और अपनी महत्वाकांक्षा के कारण बाहर के संसार के अतिरिक्त अपने अन्तर्जगत् से भी निरन्तर जूझते रहना पड़ता है। किन्तु यह सब होने पर भी जीवनी शक्ति के प्रति उसके मन में एक अगाध विश्वास तथा अमिट आशा का संचार होता रहता है, जो जन-साधारण के मन में कम पाया जाता है।

कुछ ऐसा ही स्वभाव लेकर मैंने भी इस संसार में पदार्पण किया। मेरी भीतर की दुनिया मेरे लिए इतनी सक्रिय तथा आकर्षक रही कि अपने बाहर के जगत् के प्रति मैं छुटपन से ही प्रायः उदासीन रहा। मैंने अपने समय का अधिकांश भाग कमरे के भीतर ही बिताया है और खिड़कियों के चौखटों में जड़ा हुआ जो पास-पड़ोस का दृश्य मुझे देखने को मिलता रहा उसी से मैं सन्तोष करता रहा हूँ। और अगर कभी मुझे खिड़की के पथ से फूलों से भरी पेड़ की डाल दिखायी दी अथवा चिड़ियों का चहकना कानों मे पड़ गया, तब मेरी कल्पना जैसे उसमें अपना गन्ध-मधु मिलाकर मुझे किसी अपरूप स्वर्ग में उड़ा ले गयी है और मैं बाहर के संसार के प्रति आँखें मूँदकर और भी अपने भीतर पैठ गया हूँ, जहाँ पहुँचने पर मेरा मन धीरे-धीरे जिस स्वप्न-जगत् का निर्माण करने लगता है, उससे मेरे जीवन के समस्त अभावों की पूर्ति होती रहती है।

आप सोचेंगे कि मैं कैसा निकम्मा और आलसी जीवन व्यतीत करता हूँ, जो बाह्य जीवन के आर-पार-व्यापी यथार्थ से अपने को वंचित अथवा विरक्त कर अपनी चेतना को स्वप्नों के झूठे सम्मोहन में लिपटाये हुए रूमानी वातावरण के नशे में डूबा रहता हूँ। पर बात ठीक ऐसी नहीं है। वास्तव में बाहर और भीतर की दुनिया दो अलग दुनिया नहीं हैं। केवल यथार्थ का मुख देखते रहने से ही जीवन के सत्य तक नहीं पहुँचा जा सकता और जो स्वप्न है उसे केवल असत्य कहकर नहीं उड़ाया जा सकता। स्वप्न से मेरा क्या अभिप्राय है, यह आप समझ रहे होंगे। वह नींद में पगी अलस पलकों का खुमार नहीं, बल्कि सतत जागरूक दृष्टि का नशा है। कोई यथार्थ से जूझकर सत्य की उपलब्धि करता है और कोई स्वप्नों से लड़कर। यथार्थ और स्वप्न दोनों ही मनुष्य की चेतना पर निर्मम आघात करते हैं, और दोनों ही जीवन की अनुभूति को गहन गम्भीर बनाते हैं। तो, मैं स्वप्न का स्वर्ण-कपाट खोलकर जीवन के मर्म की ओर बढ़ा हूँ, जो स्थूल के लौह कपाट से कहीं निर्मम तथा कठोर होता है क्योंकि वह सूक्ष्म, मोहक तथा अर्धप्रकट होता है।

संसारी लोग मुझ जैसे व्यक्तियों पर मन ही मन हँसते हैं, क्योंकि इतरजन जीवन की जिन परिस्थितियों का सामना सहज रूप से बिना नाक-भौंह सिकोड़े कर सकते हैं, उनसे मैं बार-बार क्षुब्ध तथा विचलित हो उठता हूँ। जीवन में सुख-दुःख, दैन्य-सम्पदा, रोग-व्याधि तथा कुरूपता-कठोरता उन्हें अत्यन्त स्वाभाविक तथा जीवन के अनिवार्य अंग-सी जान पड़ती हैं, और इन सब विरोधों या द्वन्द्वों को वे भाग्य की कभी न भरने-

वाली टोकरी में डालकर सन्तोष ग्रहण कर लेते हैं। किन्तु मुझ जैसे व्यक्ति के लिए जीवन के तथाकथित यथार्थ को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेना कठिन हो जाता है। मेरी आँखों के सामने जीवन का एक विशिष्ट विधान, एक पूर्णतम मूर्ति रहती है। मेरा मन मानव-जीवन का उद्देश्य जानना चाहता है, वह उसकी तह तक पैठकर उसे नये रूप में सँजोना चाहता है और ध्येय की खोज में अनेक प्रकार के प्रश्नों, समस्याओं तथा कार्य-कारण-भावों की गुत्थियों में उलझा रहता है। जीवन के यथार्थ को अपने विश्वासों के अनुकूल बनाने के बदले उसके सामने मूक भाव से मस्तक नवाने की नीति को वह किसी तरह अंगीकार नहीं करना चाहता। वह अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख की भावनाओं में आत्म-संयम तथा साधना द्वारा सन्तुलन स्थापित कर सामाजिक यथार्थ को आदर्श की ओर ले जाने में विश्वास करता है। इसीलिए यदि वह यथार्थ की तात्कालिक कुरूपता को उतना महत्व न देकर, उससे आँखें हटाकर, तथाकथित स्वप्न-जगत् में उसके आदर्श रूप को निरूपित करने में व्यग्र रहता है, तो वह निष्क्रिय या आलसी जीवन नहीं व्यतीत करता।

स्वप्नद्रष्टा या निर्माता वही हो सकता है, जिसकी अन्तर्दृष्टि यथार्थ के अन्तस्तल को भेदकर उसके पार पहुँच गयी हो, जो उसे सत्य न समझकर केवल एक परिवर्तनशील अथवा विकासशील स्थिति भर मानता हो। विचारकों ने जीवन का कुछ भौतिक-बौद्धिक मान्यताओं तथा नैतिक-आध्यात्मिक मूल्यों में विश्लेषण-संश्लेषण कर, उसे सिद्धान्तों में जकड़ दिया है। मनुष्य की चेतना उन जटिल, दुरूह मूल्यांकनों को आर-पार न भेद सकने के कारण उन्हीं की परिधि के भीतर घूम-फिरकर, उनकी बालू की-सी चकाचौंध में खो जाती है। किन्तु जीवन के मूल इन सबसे परे हैं। वह अपने ही में पूर्ण है, क्योंकि वह सृजनशील तथा विकासशील है। मनुष्य द्वारा अनुसन्धानित समस्त नियम तथा मान्यताएँ उसके छोटे-मोटे अंग तथा उसकी अभिव्यक्ति के बनते-मिटते हुए पदचिह्न-भर हैं। वह आत्म-सृजन के आनन्द तथा आवेश में अपनी अभिव्यक्ति के नियमों को अति-क्रम कर अपनी साम्प्रत पूर्णता को निरन्तर और भी बड़ी पूर्णता में परिणत करता रहता है।

हमारा युग जैसे लाठी लेकर आदर्श के पीछे पड़ा हुआ है। वह यथार्थ के ही रूप में जीवन के मुख को पहचानना चाहता है, और उसी को गढ़कर, बदलकर मनुष्य को उसके अनुरूप ढालना चाहता है। यह मनुष्य नियति का शायद सबसे बड़ा व्यंग्य है और यह ऐसा ही है जैसे मैं अपनी प्रकृति को बदलकर अपने को बदलना चाहूँ अथवा अपनी वेशभूषा बदल लेने से अपने को भी बदला हुआ समझ लूँ। आज का मनुष्य इसीलिए यथार्थ की समस्त कुरूपता से समझौता कर, उसे आत्मसात् कर, उससे उसी के स्तर पर जूझ रहा है। "ए टूथ फार ए टूथ" का प्राकृतिक आदिम संस्कार आज उसके लिए सर्वोपरि सत्य बन गया है, और दलदल में फँसे हुए हाथी की तरह मानव-अस्तित्व युग के कर्दम-कल्मष में लिपटता हुआ स्वयं भी कुरूप तथा कुत्सित बनता जा रहा है।

यथार्थ का दर्पण जिस प्रकार जगत् की बाह्य परिस्थितियाँ हैं, उसी प्रकार आदर्श का दर्पण मनुष्य के भीतर का मन है। यदि वह उस पर

केवल यथार्थ की ही छाया को घनीभूत होने देगा, तो वह यथार्थ के भीषण बोझ से दबकर उसी की तरह कुरूप तथा बौना हो जायेगा। यदि वह आदर्श और यथार्थ को दो आमूल भिन्न, स्वतन्त्र तथा कभी न मिल सकने वाली इकाइयाँ मानेगा, तो वह उनके निर्मम पाटों के बीच पिस जायेगा। यदि वह यथार्थ को आदर्श के अधीन रखकर उसे आदर्श के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करेगा, तो वह यथार्थ पर विजयी होकर मानव-जीवन के विकास में सहायता पहुँचा सकेगा।

जिस प्रकार आज का युग आदर्श से विमुख है उसी प्रकार वह व्यक्ति के प्रति विरक्त है। वह केवल समाज और सामूहिकता का अनुयायी है। वह व्यक्ति को समाज की भारी-भरकम निष्प्राण मशीन का कल-पुरजा बना देना चाहता है। अन्तर्जीवी व्यक्ति की जो महान् सामाजिकता रूपी बाह्य देन है, वह मनुष्य की आत्मा को उसके अधीन रखकर चलाना चाहता है। यह ऐसा ही हुआ जैसे कोई मूल जल-स्रोत की धारा को बन्द कर उसे उसी के प्रभाव से एकत्र हुए तालाब के पानी में डुबा देना चाहे। ऐसी अनेक प्रकार की असंगतियाँ आज के युग में मेरे समान अन्तर्मुख प्राणी को अधिकाधिक चिन्तनशील बनाती जाती हैं, जिसे मैं युग का ऋण समझकर चुकाने का प्रयत्न करता हूँ।

वैसे मैं जीवनी शक्ति को अपने में सम्पूर्ण मानता हूँ, जिसका प्रकाश भीतर है, छायाभास बाहर; जिसका केन्द्र मनुष्य के अन्तरतम में है, बाह्य परिधि विशाल मानव-समाज में; जिसका सत्य अन्तर्मुखी है; प्रसार तथा नियमों में बँधा तथ्य बहिर्मुखी, जो मन तथा आत्मा से परिचालित होने पर भी उनके अधीन नहीं है। मन तथा आत्मा की इकाइयाँ जीवन के सत्य से ऊँची हो सकती हैं, किन्तु उससे अधिक समृद्ध तथा परिपूर्ण नहीं—जीवन, जो भगवत्-करुणा का वरदान स्वरूप, उनके आनन्द-इंगित से चालित, उनकी मनोहर लीला का विकासशील उपक्रम-स्वरूप है। विकसित मनुष्य सृजनशील अन्तःस्थित प्राणी होता है, न कि तर्कबुद्धि में अवसित बाह्य परिस्थिति-जीवी व्यक्ति; वह जीवन की अखण्डनीय एकता से संयुक्त होता है, न कि उसके चंचल वैचित्र्य में खोया हुआ; वह द्रष्टा होता है, न कि कोरा विचारक और चिन्तक; वह इन्द्रियों के स्वामी की तरह प्रकृति का उपभोग करता है, न कि उनका दास बनकर प्रकृति के हाथ का खिलौना बना रहता है। विकसित मनुष्य, वह जीवनी शक्ति का प्रतिनिधि होता है—जीवनी शक्ति, जो अन्ततः सच्चिदानन्दमयी दिव्य प्रकृति है। एवमस्तु।

रचना-प्रक्रिया के आत्मीय क्षण

इसमें सन्देह नहीं कि रचना-प्रक्रिया एक अत्यन्त सूक्ष्म तथा जटिल प्रणाली है, जिसकी गतिविधि के बारे में स्पष्ट रूप से कुछ कहना बड़ा कठिन है। इसका सम्बन्ध एक ओर कलाकार की तात्कालिक चित्तवृत्ति एवं मानसिक स्वास्थ्य से है और दूसरी ओर यह वस्तुस्थिति, वातावरण

तथा सामाजिक परिवेश से भी नियमित होती है। इसके अतिरिक्त भी अनेक स्थूल-सूक्ष्म ऐसे कारण होते हैं जो इसके प्रस्फुटन, विकास तथा संयमन में सहायता देते हैं।

मेरे भीतर रचना-प्रक्रिया की एक ही पद्धति काम नहीं करती रही। मनोवेगों की अवस्थानुसार तथा अनुभूतियों की परिपक्वता के साथ ही और भी अनेक ऐसे कारण तथा घटनाओं का हाथ रहा, जिससे समय-समय पर उसका स्वरूप बदलता रहा। उदाहरणार्थ, किशोर वयस में मेरा मन विस्मय की भावना से अधिक अभिभूत रहता था और मन की आश्चर्य से प्रेरित स्थिति प्राय: अपने को अज्ञात रूप से काव्य-रचना में संलग्न पाती थी। 'वीणा'-काल की अनेक रचनाओं में मुझे विराट् के प्रति विस्मय, प्राकृतिक सौन्दर्य के नित्य नवीन रूपों के प्रति विस्मय, छोटी-छोटी प्राकृतिक वस्तुओं तथा घटनाओं के प्रति विस्मय ने कविता लिखने की प्रेरणा दी है। 'वीणा' की 'प्रथम रश्मि का आना रंगिणि, तूने कैसे पहचाना' एक ऐसी ही रचना है। प्रभात होते ही चिड़ियों का चहक उठना किशोर मन में आनन्द-मिश्रित आश्चर्य पैदा करता था। यद्यपि यह रचना बनारस में लिखी गयी, जहाँ मैं अपने कमरे की खिड़की से प्रभात का स्वागत करता था और आनन्दातिरेक से कलरव करती हुई चिड़ियों के कण्ठों की ध्वनियाँ प्रभात-किरणों के साथ मेरे मन को उनके स्वर में स्वर मिलाने को प्रोत्साहित करती रही हैं, पर रचना के वातावरण में अज्ञात रूप से पर्वत-प्रदेश के प्रभात की उज्ज्वलता, माधुर्य तथा उल्लास मिलकर समा गये हैं। विशेषकर 'ऊँघ रहे थे घूम द्वार पर प्रहरी-से जुगनू नाना' तथा 'झलका हास कुसुम अधरों पर हिल मोती का-सा दाना' आदि ऐसे अनेक उपादान पर्वत-उपत्यकाओं में उदय हो रहे प्रभात में ही मुख्यत: देखने को मिलते हैं।

पहाड़ी चिड़ियाँ-बड़ी सुन्दर होती हैं और चिड़ियाँ मुझे लगती भी बड़ी अच्छी हैं। चिड़ियों के कलरव पर आधारित 'वीणा' में एक और रचना है जो इस प्रकार है—

'अँगड़ाते तम में,
अपने कलरव ही से कोमल
मेरे मधुर गान में अविकल
सुमुखि, देख लो दिव्य स्वप्न-सा,
जग का नव्य प्रभात।"

छाया, ओस, झरने, उड़ते हुए शुभ्र बादल मेरे मन में ऐसी ही विस्मय-भरी भावना जगाते थे। तब मैं पूरी की पूरी कविता राह चलते, मन ही मन, लिख लेता था और पीछे समय मिलने पर उसे कापी में उतार लेता था।

'पल्लव'-काल तक प्रकृति के इतने सुन्दर-सुन्दर उपकरण मेरे मन में अपने-आप एकत्रित हो गये थे कि तब उन्हें अनेक चित्रों तथा उपादानों से अलंकृत करना मेरे लिए स्वाभाविक हो गया था। 'वीणा'-काल में कोई भी काव्योन्मेष का क्षण या विषय मेरे भीतर तुरन्त रचना-प्रक्रिया को जागृत कर देता था। उस काल की रचनाओं में भावों की सीधी उड़ान तथा अन्विति मिलती है, कविता के प्रयोजन में एकाग्रता पायी जाती है।

'पल्लव'-युग में मेरे मन में काव्यचित्र अधिक स्पष्ट होकर उतरते थे—उनमें रंगों की ताज़गी, सुन्दरता का निखार, भावों की सूक्ष्मता तथा बिम्बों की बहुलता स्वाभाविक रूप से आ गयी है। मेरी विस्मय की भावना में गहराई आ गयी है, वह जिज्ञासा में बदल गयी है। 'वीणा' का 'कलरव' पल्लव में 'सोने के गान' में परिणत हो जाता है :

'कहो हे प्रमुदित विहग-कुमारि,
कहाँ पाया सोने का गान ?
विटप में थी तुम छिपी अजान,
विकल क्यों हुए अचानक प्राण,
छिपाओ अब न रहस्य कुमारि,
लगा यह किसका कोमल वाण ? इत्यादि

भावना में एक वय:सुलभ आवेग आ गया है। 'वीणा' की छोटी 'छाया' शीर्षक रचना 'पल्लव' में जिस 'रहस्यमय अभिनय की यवनिका' बन गयी है वह भावनाओं का रंगस्थल मेरी उस समय की मनोदशा का द्योतक है। इसी प्रकार 'वीणा' में एक छोटा-सा गीत 'शिशु की मुसकान' पर है :

"कैसा नीरव मधुर राग यह,
शिशु के कम्पित अधरों पर,
सजनि, खिल रहा है रह-रह" इत्यादि

'पल्लव' की 'स्वप्न' शीर्षक रचना भी इसी जिज्ञासा का समाधान खोजती है :

"बालक के कम्पित अधरों पर,
किस अतीत स्मृति का मृदु हास,
जग की इस अविरत निद्रा का
करता नित रह-रह उपहास !" इत्यादि।

किन्तु उसमें अधिक, गम्भीरता भाव-चित्र-संगति तथा कल्पना का विकास दृष्टिगोचर होता है। 'पल्लव' की रचनाओं की प्रक्रिया अधिक वैचित्र्य-पूर्ण, सूक्ष्मता के साथ ही व्यापकता लिये हुए है, उसमें ऐसे अनेक बिम्ब, उपमाएँ तथा भावनाएँ मिलती हैं जो मेरी सृजन-वृत्ति को उस समय प्रत्यक्ष रूप से प्रेरित तथा प्रभावित करती रही है; जैसे—

"विपिन में पावस के - से दीप,
सुकोमल सहसा सौ-सौ भाव,
सजग हो उठते नित उर बीच," इत्यादि।

यह चित्र पहाड़ी घाटियों में जुगनुओं के चमकने से मन में स्वत: ही उदय हो सका है। 'उच्छ्वास' शीर्षक रचना की 'पावस ऋतु थी पर्वत-प्रदेश,' आदि पंक्तियों में नैनीताल की प्राकृतिक छटा का चित्र अंकित है।

"उड़ गया अचानक लो, भूधर,
फड़का अपार वारिद के पर"—यह दृश्य तो नैनीताल

में वर्षाऋतु में प्राय: ही देखने को मिलता है। नये-नये बादलों का सुफेद मेमनों की तरह पर्वत-शिखरों पर कुदकने का दृश्य मुझे कौसानी में अपने ही घर के सामने बराबर देखने को मिलता रहा है। पतझर में पक्षियों के पंखों की तरह बिखरे पेड़ के अनेक पत्तों को एक साथ हवा में उड़ते देखकर मेरा किशोर मन हर्ष से नाचने लगता था। 'मुसकान'

शीर्षक रचना में मैंने अपने इसी अनुभव का चित्रण किया है :

"कभी उड़ते पत्तों के साथ,
मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
गुदगुदाते ये तन मन प्राण," इत्यादि ।

'पल्लव', 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना'-काल तक मेरा मन प्राकृतिक सौन्दर्य के हिंडोले में निर्बाध स्वच्छन्द रूप से झूलता रहा है । मानव-जीवन के सुख-दुःखों के आघात पाकर धीरे-धीरे उसने प्रकृति से मानव जगत् की ओर मुड़ना आरम्भ किया । 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र' जैसी रचनाओं में पतझर या प्रकृति की ओर ध्यान न जाकर मानव-जगत् में चल रही परिवर्तन की आँधी का ही चित्र आँखों के सामने आता है । कालाकाँकर के गाँवों की पृष्ठभूमि में ऐसी अनेक घटनाओं ने मेरे हृदय को स्पर्श किया जो मेरे साहित्य का एक अविच्छिन्न अंग बन गयी हैं । 'दो लड़के' शीर्षक 'युगवाणी' की रचना की प्रेरणा मेरे मन में दो छोटे-से लड़कों को देखकर उदित हुई थी जो मेरी काटेज के आस-पास मँडराकर भीटे की ढाल में पड़े हुए कूड़े-कचरे से रंगीन डोरियाँ, चमकीली पन्नियाँ तथा अखबारों में छपी हुई रंग-बिरंगी कटी-फटी तस्वीरें चुनने के लालच से प्रायः आते रहते थे । उनकी नंगी गदबदी देह, सरल डरपोक स्वभाव और स्वच्छन्द हँसी ने बरबस उनकी ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया था ।

"सुन्दर लगती नग्न देह, मोहती नयन मन,
मानव के नाते उर में भरता अपनापन !"—आदि भावनाएँ

मन में अपने-आप ही आ गयी थीं ।

'झंझा में नीम' शीर्षक कविता मैंने आँधी में झूमते हुए अपने आँगन के नीम के पेड़ पर लिखी थी । इसी प्रकार 'ग्राम्या' की 'वे आँखें', 'वह बुड्ढा', 'कठपुतले' आदि अनेक रचनाएँ मैंने विशेष व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर, विशेष परिस्थितियों का आघात पाकर लिखी हैं । 'वह बुड्ढा' तो मेरे ही नौकर का बाबा था, जिसकी उम्र एक सौ साल से ऊपर बतलायी जाती थी :

"खड़ा द्वार पर लाठी टेके,
वह जीवन का बूढ़ा पंजर,
बैठी छाती की हड्डी जब,
झुकी पीठ कमठा-सी टेढ़ी"—इत्यादि

उसी का चित्र है । गाँवों के दारिद्र्य के परिपार्श्व में मनुष्य की दयनीय दुर्दशा देखकर मेरे विचारों में तीव्र उथल-पुथल का होना स्वाभाविक था । किशोर-कल्पना की आँखों से देखा हुआ सौन्दर्य का स्वप्न तो कभी का टूट चुका था किन्तु मानव-जीवन की दुःखद समस्याओं के बाहरी समाधान के सम्बन्ध में भी मन धीरे-धीरे सशंकित हो उठा । बहिर्मुखी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक अभ्युत्थान के साथ ही अपनी क्षुद्र अहंता तथा अल्प एवं सीमित जीवन-बोध के अन्धकार में आकण्ठ डूबे हुए बौने मानव के अन्तर में सुप्त चेतना को जागृत कर जब तक उसका व्यापक मानवता, सभ्यता तथा संस्कृति के स्पर्शों से परिष्कार नहीं किया जायगा तब तक यह भिन्न-भिन्न मतों, धर्मों, जाति-पाँतियों तथा रूढ़ियों में विभक्त स्वार्थान्ध मानव भला बाहरी दृष्टि से भी अपना तथा दूसरों का

सामाजिक अथवा ऐहिक कल्याण कैसे कर सकेगा ? राग-द्वेष, ईर्ष्या, दर्प के विष से पीड़ित मानव-चेतना आत्म-कल्याण तथा लोककल्याण का मूल्य ही कैसे पहचानेगी ? इन्हीं गम्भीर प्रश्नों एवं समस्याओं से मन्थित होकर मेरी संवेदना ने अपने उत्तर काव्य में मानव-भविष्य के स्वप्न को अंकित करने का प्रयत्न किया है और भूत तथा वर्तमान के अनेक अन्तर्विरोधों के बीच जिस नवीन प्रकाश की अनुभूति को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है वह केवल मेरे बौद्धिक आवेश एव कल्पना-प्रेम का ही प्रतीक नहीं है, प्रत्युत मेरी गम्भीर अन्तःस्पर्शी जीवन-अनुभूतियों के कारण ही सम्भव हो सका है। इन अनुभूतियों की आग में तपकर मैंने बहुत सृजन-वेदना सही है। 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि', 'उत्तरा' आदि अपने अनेक काव्य-संग्रहों में मैंने मानव-चेतना के नवीन विकास-संचरण की रूपरेखा उपस्थित कर मानव-मन के अतल-स्पर्शी अन्तर्द्वन्द्व को मनोजीवियों के सम्मुख अभिव्यक्त करने का साहस किया है। नये मानव को सम्बोधित करके मैंने कहा है :

"ओ अग्नि चक्षु, अभिनव मानव !
सम्पर्कज रे तेरा पावक,
चेतना-शिखा में उठा धधक,
इसको मन नहीं सकेगा ढँक,
मानव भू सुलग रही धकधक।" इत्यादि।

अपने काव्य के इस नये स्फुरण-काल में मैं मनुष्य के अन्तर्जगत् का पथिक रहा हूँ और जो अनेक अनुभूतियाँ मुझे इस काल में हुई हैं इस छोटी-सी वार्ता में उनके बारे में विस्तार से कहना सम्भव नहीं है। यह मेरे लिए चरम मानसिक तथा भावनात्मक संघर्ष का युग रहा है।

"ढह रहे अन्धविश्वास शृंग,
युग बदल रहा, यह ब्रह्म अहन्,
फिर शिखर चिरन्तन रहे निखर,
वह विश्व संचरण रे नूतन !"—मानव के इस चेतनामूलक

जीवनसंघर्ष की ज्वालामुखी के शिखर पर बैठा हृदय आज नवीन आस्था के पावक से नवीन भावना-रस तथा सौन्दर्य का प्रकाश संचित कर—मुट्ठी भर-भरकर अपने युग को बाँटना चाहता है :

मैं मुट्ठी भर-भर बाँट सकूँ जीवन के स्वर्णिम पावक कण
जन मन में मैं भर सकूँ अमर संगीत तुम्हारा सुर-मादन !

मेरे जीवन के प्रेरक ग्रन्थ

प्रेरणाएँ और प्रभाव, ये सदैव ही विकास-क्रम में सहायक होते हैं। मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी तथा जड़ वस्तुएँ भी परस्पर प्रभावित होते रहते हैं, इसके अनेक उदाहरण जीवन का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करने पर मिलते रहते हैं। उसी प्रकार लिखित ग्रन्थों के अतिरिक्त अलिखित ग्रन्थ भी जीवन पर और विशेषतः मानव जीवन पर अपना प्रभाव छोड़ते हैं।

एक विशालकाय मूर्ति को देखकर मन में अनेक प्रकार के भाव तथा विचार जन्म लेते रहते हैं। ऐसी ही विशाल कृतियाँ निसर्ग जगत् में भी पायी जाती हैं। उदाहरण के लिए आप हिमालय के रजतशुभ्र विराट् व्यक्तित्व को ले लीजिए। जो लोग मेरी तरह हिमालय के अंचल में पैदा होकर उसके सान्निध्य में पले हैं उन पर हिमालय की उदात्तता का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में अवश्य पड़ता है और यदि आप भावप्रवण हैं तो वह प्रभाव और भी व्यापक तथा गम्भीर रूप से आपके मनोजगत् के निर्माण का अंग बन जाता है।

जो सबसे बड़ा अलिखित ग्रन्थ—जिसने मुझे बचपन में अपनी गरिमा से विमोहित तथा विस्मयाभिभूत रखा वह कौसानी की सौन्दर्य अधित्यका में आर-पार स्थित स्वर्ग-चुम्बी हिमालय ही रहा है। उसकी विराट्ता, व्यापकता तथा उन्नत गरिमामय व्यक्तित्व का अध्ययन भी मैंने अनेक वर्षों तक एक महान् ग्रन्थ ही की तरह किया है और उसके सन्निकट सम्पर्क में आकर मेरे भीतर अनेक प्रकार के प्रेरणा-स्रोतों का उदय हुआ है। शान्ति, सौन्दर्य-बोध और उदात्त भावनाओं का शिक्षक मेरे लिए हिमालय ही रहा है, इसीलिए उसे भी मेरा मन बराबर श्रीमद्-भागवत् तथा रामायण की तरह एक महान् प्रेरणाप्रद ग्रन्थ मानता आया है।

दूसरा महान् प्रभाव मेरे युवा-मन में जिन कृतियों ने छोड़ा उनमें कालिदास का कुमारसम्भव, रघुवंश तथा शकुन्तला आती हैं। हिमालय के अंचल की प्रकृति ने मेरे भीतर जिस सौन्दर्य-बोध के अंकुर पैदा कर दिये थे, उन्हें कालिदास की कृतियों ने और विशेषकर रघुवंश और कुमारसम्भव ने गंगा-यमुना की धाराओं की तरह मेरे किशोर-मन की उर्वर भूमि में प्रवाहित होकर सिंचित तथा विकसित किया। कालिदास की सौन्दर्य-दृष्टि जिस ताजगी, जिस टटकेपन, जिस नव-नवता तथा जिस अजेय सम्मोहन का क्षितिज मन की आँखों में खोल देती है वह अपने में एक महार्घ्य सृष्टि है, जो किसी भी कलाप्राण हृदय के लिए एक चिरन्तन वरदान-सी प्रमाणित होती है। यही सौन्दर्य-बोध का स्वप्न मुझे कवीन्द्र रवीन्द्र की कल्पना एवं काव्य-कृतियों में मिला जिसने मेरे तरुण हृदय को प्रेम, आनन्द तथा सौन्दर्य के स्पर्श से भाव-विभोर कर दिया। पीछे सौन्दर्य-बोध का यह स्वप्न मेरे भीतर उन्नीसवीं सदी के अंग्रेज़ी कवियों—विशेषकर शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ आदि कवियों के अध्ययन से पोषित तथा विकसित हुआ। पर ग्रन्थों के बाहरी अध्ययन-मनन से जैसी भी प्रेरणा विकासोन्मुख मन को मिलती हो, वास्तव में उनका अप्रत्यक्ष कार्य यह होता है कि वे मनुष्य के अन्तर्जगत् में सोये मौलिक संस्कारों को जगा देते हैं और मनुष्य को जीवनसौन्दर्य की वास्तविक अनुभूति तभी होती है जब उसके प्रति मनुष्य की अन्तर्दृष्टि स्वाभाविक रूप में खुल जाती है क्योंकि कोई भी प्रभाव या प्रेरणा हो, वह बाहर से नहीं बटोरी जा सकती। जब तक अन्तर में छिपा चैतन्य का स्रोत प्रवहमान नहीं हो उठता, कवि, लेखक या कलाकार स्थायी सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकता। इसीलिए एक और अलिखित ग्रन्थ जो मनुष्य के भीतर प्रच्छन्न अन्तश्चैतन्य का ग्रन्थ है, वही वास्तव में मनुष्य-जीवन के सभी आयामों

के निर्माण में—चाहे वह सौन्दर्य-बोध का आयाम हो, या आनन्द का, रस का, अथवा उदात्त भावों एवं आदर्शों का आयाम हो—वह अन्तर्बोध सभी प्रकार के विकास में सहायता देता है।

हिमालय के सान्निध्य ने जो मेरे भीतर त्रिकोण गवाक्ष खोल दिया था उसमें सौन्दर्यदृष्टि के अतिरिक्त शान्ति तथा विराट्ता के भी आयाम थे। सौन्दर्य के स्फीत जीवन-सागर में गहरी डुबकी लगाने के बाद मेरे मन को धीरे-धीरे जीवन की विराट्ता आकर्षित करने लगी और मेरे मन में मानव-समाज तथा विश्व-जीवन एवं लोकजीवन को पहचानने की जिज्ञासा जाग्रत् होने लगी। मैं मानव-समाज तथा विश्व-जीवन में कार्य कर रही शक्तियों का विश्लेषण-संश्लेषण कर उनका परिचय प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगा। मुझे मानव-जीवन के राजनीतिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक आयामों का विशेष अध्ययन करना पड़ा और साहित्य तथा कला के सन्दर्भों में भी जीवन का मूल्यांकन करना पड़ा। यह मेरे मनोविकास का दूसरा सोपान था जिसमें मैं प्रकृति के सौन्दर्य-जगत् से मानव जीवन चैतन्य के सौन्दर्य-जगत् में पदार्पण कर सका। भौतिक वानस्पतिक प्रकृति का, जीव-प्रकृति और विशेषत. मानव-प्रकृति के रूप में, जो अधिक सूक्ष्म, जटिल, गम्भीर तथा व्यापक स्वरूप पाया जाता है, उसी को वाणी देने का प्रयत्न मेरी सृजन-कल्पना का स्वाभाविक ध्येय बन गया। विश्व-जीवन का इस धरती के जीवन के रूप में अनेक देशों, राष्ट्रों तथा उनके परस्पर सम्बन्धों के रूप मे इस वैज्ञानिक युग में आर-पार निरीक्षण करने के उपरान्त मेरे भीतर उस तीसरे दृष्टि-कोण या आयाम का उदय हुआ जो हिमालय के सम्पर्क से निश्चल शान्ति के रूप में मेरे हृदय में प्रतिष्ठित हो चुका था। इस अजेय निस्तल शान्ति का महत्त्व तथा मूल्य मानवता तथा विश्व-जीवन के लिए आँकने के प्रयत्न में मुझे धर्म, दर्शन-ग्रन्थों, नैतिक दृष्टिकोणों, लोकाचारों-विचारों का यथेष्ट निरीक्षण-परीक्षण तथा मन्थन करना पड़ा। इस युग में जो ग्रन्थ मेरे लिए सबसे प्रेरणाप्रद तथा सहायक प्रमाणित हुए उनमें मैं गीता, उपनिषद् ग्रन्थ तथा बाइबिल का सर्वोपरि स्थान मानता हूँ। उपनिषदों ने जहाँ मुझे नित्य शुद्ध मुक्त चैतन्य का स्पर्श दिया वहाँ बाइबिल ने उस चैतन्य के मानवीय पक्ष दिव्य प्रेम तथा लोकसेवा का महत्त्व मेरे मन में अंकित किया। औपनिषदिक सत्य जहाँ बौद्धिक विचार-विमर्श के ऊपर सम्बोधि तथा संज्ञान की साधना की उपलब्धि है वहाँ बाइबिल का ईश्वरीय प्रेम तथा मानवीय बोध हृदय की साधना की सम्भूति है। मेरी चेतना में दोनों ही, ताने-बानों की तरह, आपस में गुँथकर जीवन-सृष्टि के रूप में परिणत हो सके हैं। अपनी उत्तर रचनाओं में मैं अपनी सीमाओं के भीतर इसी दृष्टि को वाणी देने का प्रयत्न करता हूँ जो मुझे मानव-भविष्य के लिए सर्वोपरि श्रेयस्कर प्रतीत होती है। इस प्रकार अपने विनम्र जीवन के प्रेरक ग्रन्थों में मैं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान अलिखित दृश्य ग्रन्थ हिमालय, अलिखित श्रुति ग्रन्थ उपनिषद् तथा अलिखित ईश्वरीय प्रेम और आस्था के ग्रन्थ बाइबिल को देता हूँ यद्यपि वैज्ञानिक युग की वास्तविकता को समझने में मुझे मार्क्स, एँगिल्स तथा फ्रायड, एडलर जैसे विचारकों से भी विशेष सहायता मिली है।

पुस्तकें, जिनसे मैंने सीखा

मेरे विचार में प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह पुस्तकों से ही सीखे। पुस्तकों के अतिरिक्त और भी अनेकानेक साधन हैं, जिनसे मनुष्य शिक्षा प्राप्त कर सकता है और अपने भीतर सुरुचि, शील तथा उच्चतम संस्कारों को संचित कर सकता है। पुस्तकों की शिक्षा एक प्रकार से एकांगी शिक्षा है। हम प्रायः लोगों को कहते सुनते हैं कि अभी तुमने पढ़ा ही है, गुना नहीं। इससे यही ध्वनि निकलती है कि पुस्तकों की कोरी पढ़ाई को जीवन और स्वभाव का अंग बनाने के लिए और भी अनेक प्रकार की शिक्षाओं की आवश्यकता है, जिनमें सबसे प्रमुख स्थान शायद अनुभूति का है। वैसे भी सच्ची शिक्षा के लिए, जिससे कि मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास हो सके, पुस्तकों के अध्ययन-मनन के साथ ही उपयुक्त वातावरण तथा संस्कृत व्यक्तियों का सहवास, जिसे सत्संग कहते हैं, अत्यन्त आवश्यक है : जिनके बिना हम कोरे कागज़ी उपदेशों अथवा नैतिक सत्यों को अपने मन तथा स्वभाव का अंग नहीं बना सकते। महान् व्यक्तियों के उन्नत विचारों तथा महान् ग्रन्थों के उत्तम आदर्शों को आत्मसात् कर उन्हें जीवन में परिणत करने के लिए यह भी नितान्त आवश्यक है कि उन्हें अपने कार्यों एवं आचरणों में अभिव्यक्त करने के लिए हमें मनोनुकूल व्यापक सामाजिक क्षेत्र मिले। जिस देश या समाज में बाह्य परिस्थितियाँ, व्यक्तिगत राग-द्वेष तथा छोटे-मोटे स्वार्थों के कारण, मनुष्य की उन्नत आन्तरिक प्रेरणाओं का विरोध करती हैं, वहाँ भी शिक्षा का परिपाक अथवा व्यक्तित्व का यथोचित विकास नहीं हो पाता। ऐसी परिस्थितियाँ केवल नाटे, बौने, ठिगने, कुबड़े व्यक्तियों को जन्म देकर रह जाती हैं।

स्वभाव से ही अत्यन्त भाव-प्रवण तथा कवि होने के कारण मेरी रुचि पुस्तकों की ओर अधिक नहीं रही। मैंने व्यक्तियों के जीवन से, परस्पर के जनसमागम से तथा महान् पुरुषों के दर्शन एवं उनके मानसिक सत्संग से कहीं अधिक सीखा है, जिसे मैं सहज सीखना या सहज शिक्षा कहता हूँ। इससे भी अधिक मैंने प्रकृति के मौन मुखर सहवास से सीखा है। भावुक तथा संवेदनशील होने के कारण मेरे भीतर स्व-भाव का अंश अत्यधिक रहा है। स्व-भाव का अंश, जिसमें अच्छा-बुरा, ऊँच-नीच, सबल तथा दुर्बल सभी-कुछ रहा है और अत्यधिक रहा है। छुटपन से ही मैं सदैव अपने स्व-भाव से उलझता रहा हूँ। अपने स्व-भाव से संघर्ष करते रहने के कारण ही मैं थोड़ा-बहुत सीख सका हूँ, अपनी दुर्बलताओं तथा अपनी एकान्त आकांक्षाओं का ध्यान मेरे भीतर बराबर बना रहा है। अपने को भूलकर, आत्मविस्मृत होकर, अपने चिन्तन अथवा चिन्ता के घेरे से बाहर निकलकर शायद ही मैं कभी आत्मविभोर-भाव से संसार के साथ रह सका हूँ। अगर किसी ने मुझे इस भावना से मुक्ति दी है, तो वह प्रकृति ने। प्रकृति के रूप को देखकर मैं अनेकानेक बार आत्म-विस्मृत हो चुका हूँ। जैसे माँ बच्चे को अपनाती है, वैसे प्रकृति ने मुझे अपनाया है। उसने मेरे चंचल मन की आकुल व्याकुलता को, जिसे मैं किसी पर प्रकट नहीं कर सका हूँ और न स्वयं ही समझ सका हूँ—अपने में ले लिया है।

प्रकृति के मुख का निरीक्षण कर मेरे भीतर अनेक गहरी अनुभूतियाँ उतरी हैं। संसार के छोटे-मोटे संघर्षों तथा जीवन के कटु-तिक्त अनुभवों क परे उसने एक व्यापक पुस्तक की तरह खुलकर मेरे भीतर अनेक सहानुभूतियाँ, सान्त्वनाएँ, स्नेह, ममत्व की भावनाएँ तथा अवाक् अलौकिक, अपने को भुला देनेवाली, शक्तियों का स्पर्श अंकित किया है।

प्रकृति से मेरा क्या अभिप्राय है, शायद इसे मैं न समझा सकूँगा। अगर किसी वस्तु को बिना सोचे-विचारे, केवल उसका मुख देखकर, मेरे मन ने स्वीकार किया है, तो वह प्रकृति है। वह शायद मेरा ही एक अंग है, सबसे स्निग्ध, उज्ज्वल और व्यापक अंग, जिसके प्रशान्त अन्तस्तल में सब प्रकार के सद्-असद्, उच्च-क्षुद्र, तथा सुख-दुःख अपने-आप जैसे घुलमिलकर एकाकार हो जाते हैं। उसकी एकान्त क्रोड में बैठकर मैं अपने को सबसे बड़ा अनुभव करता हूँ, जो अनुभूति मुझे और किसी के सम्मुख नहीं हुई है। छुटपन में दूसरों ने मुझे सदैव अपनी विकृतियों, संकीर्णताओं, कठोरताओं, निर्दयताओं तथा ढिठाइयों से दबाने का प्रयत्न किया है। अशिष्टता, रुखाई तथा असभ्यता का सामना करने में अपने को अक्षम पाने के कारण मैं सदैव, दूसरों की अयोग्यता के सामने भी संकोचवश सिकुड़कर रहा हूँ। किन्तु प्रकृति ने अपने आँगन में मुझे सदैव खुल खेलने को उसकाया है। उसने मेरे अनेक मानसिक घावों को अपने प्रेम-स्पर्श से भर दिया है; मेरी अनेक दुर्बलताओं को अपनी प्रेरणाओं के प्रकाश से धोकर मानवीय बना दिया है। इस प्रकार जो सर्वप्रथम पुस्तक मुझे देखने को मिली, वह प्रकृति ही है।

फूल, चाँद, तारे, इन्द्रधनुष और जगमगाते हुए ओसों से भरी इस रहस्यमयी प्रकृति के बाद—जिसका आनन्द-सन्देश मुझे सायं-प्रातः पक्षी देते हैं—जिस दूसरे महान् ग्रन्थ ने अपनी पवित्र मधुर छाप मेरे हृदय में अंकित की है, वह है बाइबिल का न्यू टेस्टामेंट। बाइबिल भी उदार मधुर प्रकृति की तरह अनजाने ही अपने-आप मेरे भीतर के जीवन का एक अमूल्य अंग बन गयी। चिन्तन और बौद्धिक व्यायाम की कठोरता से अछूती अन्तरतम की सहज मर्मपूर्ण पुकार की तरह बाइबिल, जैसे भागवत हृदय की, प्रेम-करुणा से भरी, पवित्र भावना की ज्योति-प्रेरित वाणी है। वह आत्मा का शुष्क ज्ञान नहीं, आत्मा की भाव-विगलित कविता की कविता है। क्राइस्ट के अश्रुधौत, महत् त्यागपूर्ण मूर्तिमान प्रेम के व्यक्तित्व ने मेरे हृदय को मुग्ध कर दिया। दर्शन और मनोविज्ञान के नीरस तथ्यों से ऊबकर मेरा हृदय चुपचाप, शिशु के अखण्ड पवित्र विश्वास की तरह, सरल मधुर, बाइबिल की दिव्य लय में बँध गया। Look at the lilies of the field, how they grow कहनेवाले महान् अन्तर्द्रष्टा ने मेरे भीतर जीवन के स्वतःस्फूर्त, सूक्ष्म, अन्तः-सौन्दर्य का रहस्य खोल दिया। Resist not evil ने जैसे ईश्वरीय सत्य की अवश्यम्भावी अन्तिम विजय का सन्देश मेरे मन में अंकित कर दिया। Blessed are they that mourn, for they shall be comforted. Blessed are the meek for they shall inherit the earth. जैसी सूक्तियों ने ईश्वर की अक्षय करुणा और प्रेम के न्याय के प्रति मेरे हृदय को अडिग विश्वास से भर दिया। इस क्षणभंगुर, रागद्वेष और

कलह-कोलाहल के अन्धकार के परदे को चीरकर सबसे पहले बाइबिल ने ही मेरे हृदय को ईश्वर की महिमा, स्वर्ग के राज्य तथा मानवता के भविष्य की ओर आकृष्ट किया। 'ye are the salt of the earth, ye are the light of the world' आदि वाक्यों ने मेरे मन की वीणा में एक अक्षय आशावादिता का स्वर जगा दिया। सब मिलाकर बाइबिल के अध्ययन ने संसार की अचिरता और 'परिवर्तन' के विषाद से भरे हुए मेरे अन्तःकरण को एक अद्भुत नवीन विश्वास का स्वास्थ्य तथा अमरत्व प्रदान किया। अब भी बाइबिल पढ़ने से उसी प्रकार भगवत्-प्रेम के अश्रुओं से धुला, आत्म-त्याग से पवित्र, जीवन के सात्विक सौन्दर्य का जगत्, अपने मौन मधुर रूपरंगों के वैभव में मेरी मन की आँखों के सम्मुख प्रस्फुटित हो उठता है, जिसके चारों ओर एक अखण्डनीय शान्ति का स्निग्ध वातावरण व्याप्त रहता है, जो दिव्य औषधि की तरह मन की समस्त क्लान्ति को मिटाकर उसे नवीन शक्ति प्रदान करता है।

बाइबिल के अतिरिक्त उपनिषदों के अध्ययन ने भी मेरे हृदय में प्रेरणाओं के अक्षय सौन्दर्य को जगाया है। 'जग के उर्वर आँगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन' का अत्यन्त प्रकाशपूर्ण वैभव मेरे अन्तर में उपनिषदों ने ही बरसाया है। उपनिषदों का अध्ययन मेरे लिए शाश्वत प्रकाश के असीम सिन्धु में अवगाहन के समान रहा है। वे जैसे अनिर्वचनीय अलौकिक अनुभूतियों के वातायन हैं, जिनसे हृदय को विश्वक्षितिज के उस पार अमरत्व की अपूर्व झाँकियाँ मिलती हैं। अपने सत्यद्रष्टा ऋषियों के साथ चेतना के उच्च-उच्चतम सोपानों में विचरण करने से अन्तःकरण एक अवर्णनीय आह्लाद से ओतप्रोत हो गया। मन का कलुष और जीवन की सीमाएँ जैसे अमृत के झरनों में स्नान करने से एक बार ही धुलकर स्वच्छ एवं निर्मल हो गयीं। उपनिषदों का मनन करने से मन के बाह्य आधार नष्ट हो जाते हैं। उसकी सीमित कुण्ठित तर्क-भावना को धक्का लगता है और बुद्धि के कपाट जैसे ऊपर को खुल जाते हैं। मन एक ऐसे अतीन्द्रिय केन्द्र में स्थित हो जाता है, जहाँ से वह साक्षी की तरह तटस्थ भाव से विश्व-जीवन के व्यापारों का निरीक्षण करने लगता है। उपनिषदों में भी ईशोपनिषद् ने नाविक के तीर की तरह मेरे मन के अन्धकार को भेदने में सबसे अधिक सहायता दी है। 'ईशावस्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्' के मनन-मात्र से ही जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदल जाता है और हृदय में जिज्ञासा जग उठती है कि किस प्रकार इस क्षणभंगुर संसार के दर्पण में उस शाश्वत के मुख का बिम्ब देखा जा सकता है। ईशोपनिषद् के विद्या और अविद्या के समन्वयात्मक दृष्टिकोण ने भी मेरे मन को अत्यन्त बल तथा शान्ति प्रदान की।

उपनिषदों के अध्ययन के बाद जब मैंने टालसटाय की My Religion नामक पुस्तक पढ़ी, तो मेरा मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठा और मुझे लगा कि जैसे आकाश से गिरकर मैं खाई में पड़ गया हूँ। टालसटाय की विचारधारा पाप-भावना से ऐसी कुण्ठित तथा पीड़ित लगी कि उसके सम्पर्क में आकर मेरे भीतर गहरा विषाद जमा हो गया। उपनिषदों के उज्ज्वल, उन्मुक्त, अपापविद्ध ऊर्ध्वाकाश के वातावरण में साँस लेनेवाले मन की गति जैसे श्रान्ति-क्लान्ति से शिथिल होकर निर्जीव पड़ने लगी।

इससे उपनिषदों के ब्रह्मवाद का महत्त्व मेरे मन में और भी बढ़ गया। इस देशकाल नामरूप के सापेक्ष जगत के परे जो सत्य का परात्पर शिखर है, जो द्वन्द्वों में विभक्त इस जागतिक चेतना की सीमाओं से ऊपर और बुद्धि से अतीत है, वही परम मानवीय सत्य का आधार हो सकता है। देश, काल, परिस्थितियों के अनुरूप बदलती हुई सापेक्ष नैतिक तथा सामाजिक मान्यताओं की स्थापना का रहस्य भी वही है।

किन्तु 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो' वाले उपनिषदों के सत्य में मन अधिक समय तक केन्द्रित नहीं रह सका। मेरा स्वभाव फिर मुझसे उलझने लगा और मेरे मन में बार-बार यह जिज्ञासा उठने लगी कि यह सापेक्ष सत्य, जिसे माया कहते हैं, जो देश-काल के अनुरूप नित्य परिवर्तित होता रहता है, वह किन नियमों के अधीन है और उसे कौन-सी शक्तियाँ संचालित करती रहती हैं। मेरी इस जिज्ञासा की पूर्ति अनेक अंशों तक मार्क्सवाद कर सका। हमारी सामाजिक मान्यताओं का जगत् क्यों और कैसे बदलता है और उसमें युगीन समन्वय किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है, इसका सन्तोषप्रद निरूपण, इसमें सन्देह नहीं, केवल मार्क्सवाद ही यथेष्ट रूप से करा सकता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की तर्कप्रणाली हमारा परिचय उन नियमों से कराती है जिनके बल पर मानवीय सत्य का छिलका अथवा सामाजिक जीवन का ढाँचा संगठित होता है। वह मानव-जीवन-सिन्धु के उद्वेलन-आलोड़न का, सामाजिक उत्थान-पतन तथा सभ्यता के प्रगति-विकास का इतिहास है। मानव-जीवन के इस समतल संचरण के वृत्त को मैंने अपनी 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में वाणी देने का प्रयत्न किया है।

किन्तु पुस्तकों के अध्ययन के अतिरिक्त मानव-जीवन के अध्ययन तथा मानव-स्वभाव के संघर्ष की अनुभूतियों से मैं जिन परिणामों पर पहुँचा हूँ, उनसे मुझे प्रतीत होता है कि मानव-विकास की वर्तमान स्थिति में हमें मानव-जीवन के सत्य को उसके आध्यात्मिक तथा भौतिक स्वरूपों में पहचानने के बदले, उसे विश्वव्यापक सांस्कृतिक स्वरूप मे पहचानने तथा अभिव्यक्ति देने की आवश्यकता है, जिससे उसके आध्यात्मिक तथा भौतिक जीवन के अन्तर्विरोध नवीन जीवन-सौन्दर्य की भावना में समन्वित हो सकें। इस सांस्कृतिक सौन्दर्य की भावना ही में मैं नवीन मनुष्यत्व एवं मानवता की भावना को अन्तर्निहित पाता हूँ जो धर्म और काम के बीच, व्यक्ति और विश्व के बीच, स्वभाव और नैतिक कर्तव्य के बीच, ऐहिक और पारलौकिक के बीच एक सुनहली पुल की तरह झूलती हुई मुझे दिखायी देती है, जिसमें मानव-जाति की प्रगति तथा विकास अपने अन्तरतम संगीत की लय में बँधे हुए युग-युग तक अविराम चरण धरते एवं आगे बढ़ते हुए जीवन को असीमता तथा शाश्वतता का प्रमाण देकर ईश्वर की आनन्द-लीला को सार्थक करते जायेंगे। एवमस्तु।

मेरी सर्वप्रिय पुस्तक

कहते हैं इस युग में मनुष्य का जितना ज्ञान-वर्धन हुआ है, सभ्यता के इतिहास में उतना ज्ञान मनुष्य ने और कभी अर्जित नहीं किया। ऐसे युग में मनुष्य लाख प्रकृति का प्रेमी हो और उसे पाषाण-शिलाओं, नदियों तथा प्रकृति के अन्य उपकरणों में चाहे कितने ही प्रवचन लिखे हुए मिलें, पर वह मानव ज्ञानवर्धन के आधुनिक साधनों, पुस्तकों की उपेक्षा नहीं कर सकता, और शिक्षा तथा विद्वत्ता की होड़ के इस युग में मैंने भी पुस्तकें अनेक पढ़ी हैं, कुछ का अध्ययन किया है, कुछ सरसरी दृष्टि से देखी है, और कुछ केवल उलट-पलटकर रख दी हैं। पर विचार और चिन्तनप्रिय होते हुए भी जिस पुस्तक ने मेरे हृदय को सबसे अधिक मोहा है वह है कालिदास का 'मेघदूत'। वैसे कालिदास ने 'रघुवंश', 'कुमार सम्भव' और 'शकुन्तला' जैसी प्रसिद्ध पुस्तकें लिखी हैं जो कई दृष्टियों से 'मेघदूत' से अधिक प्रौढ़, सशक्त तथा काव्य-शिल्प की दृष्टि से सुथरी हैं। किन्तु जो मोहिनी मुझे 'मेघदूत' की पंक्ति-पंक्ति में मिली वह अन्यत्र नहीं सुलभ हो सकी। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। 'मेघदूत' भाव-काव्य तथा रस-काव्य होने के साथ ही चित्र-काव्य है। शुरू से ही प्रकृति के अद्वितीय चितेरे कवि ने उसमें एक के बाद एक जो प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण किया है उसने मेरे प्रकृतिप्रेमी मन पर अपना सबसे गहरा प्रभाव डाला है। 'मेघदूत' को पढ़ना मानो नैसर्गिक सौन्दर्य की विशाल रंगस्थली में भ्रमण करना है, ऐसी रंगस्थली जहाँ आपकी आँखों के सामने मानव-हृदय-स्पर्शी सुख-दुःखान्त प्रेम का नाटक अत्यन्त स्वाभाविक रूप से घटित हो रहा है। एक से एक रमणीक तथा मनोमोहक दृश्य आपकी आँखों के सम्मुख खुलने लगते हैं और आप अनजाने ही विस्मयाभिभूत तथा रस-विभोर हो उठते हैं।

मेघ को दूत बनाने की कल्पना ही कुछ बेजोड़ है। मेघ क्या मानव-प्रेम की संयोग-वियोग भरी करुण कोमल भावनाओं का मूर्त रूप है! ऐसा उन्मत्त, रंग-विरंगा, भावप्रवण, उदार, मनोमोहक, इन्द्रधनुष तथा विद्युत, पावक से निर्मित, मयूरों के शुक्लापांगों से अभिनन्दित राजहंसों के सौन्दर्यपंखों में उड़नेवाला बादल सम्भवतः और किसी भाषा के साहित्याकाश में देखने को नहीं। मिलेगा ऐसे बादल के लिए 'धूम ज्योतिः सलिल-मरुतां संनिपातः' कहकर उसको सन्देशवाहक दूत बनाने के लिए औचित्य खोजने की कहीं भी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, वह तो स्वयं ही जैसे जीता-जागता सन्देश है। इस मेघ को प्रेम का दूत बनाने में मुझे कवि की सबसे बड़ी मौलिकता का परिचय मिलता है। और सीधे उसे अपना श्रोत्र-पेय सन्देश न सुनाकर 'मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपं' कहकर तो कवि जैसे आशातीत रूप से हृदय को विस्मय-विमुग्ध कर देता है। और फिर मार्ग-निरूपण में अपने भौगोलिक ज्ञान का परिचय देते हुए, वह क्रमशः, एक के बाद एक, जिस प्रकार इस देश के सौन्दर्य-स्थलों का उद्‌घाटन करता है, उनका तो इस छोटी-सी वार्ता में वर्णन करना ही सम्भव नहीं है। फिर भी 'रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाम्'

जैसे शब्द-चित्र तो जैसे मूर्तिमान होकर दृष्टि के सामने चिपक-से जाते हैं। रास्ते में मेघ को किस प्रकार आचरण करना चाहिए, इस प्रकार के उपदेशों में मुझे बड़ी ही आत्मीयता का परिचय मिलता रहा है। बादल-जैसी एक वायवी वस्तु को ऐसा जीवन्त व्यक्तित्व कालिदास ही दे सकता है। साँझ होने से पहिले ही मेघ को महाकाल के मन्दिर में जाने का आग्रह करना और उसका आरती के समय गरजकर नगाड़ा बजाना भी मेरे मन को लुभाता रहा है। 'नृत्तारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां शान्तोद्वेगास्तिमितनयनं द्रष्टभक्तिर्भवान्या', जैसी उक्तियाँ तो बादल का रूप ही जैसे बदल देती हैं। पूर्वमेघ में ऐसे अनेक स्थल हैं जिनसे इस देश की उच्च मर्यादाओं एवं सुरुचि से सम्पन्न वैभवशाली संस्कृति का परिचय मिलता है। शिव की अन्तःस्पर्शी कल्पना कालिदास को विशेष रूप से प्रिय है, उसका वर्णन 'कुमारसम्भव' के अतिरिक्त 'मेघदूत' में भी अत्यन्त भाव-तन्मयता के साथ किया गया मिलता है। 'मेघदूत' का अलका-वर्णन भी साहित्य में अद्वितीय है। प्रारम्भ में ही इन्द्रधनुष तथा विद्युत्-गर्जन भरे मेघ से अलका की तुलना कर कवि आपकी कल्पना को मोह लेता है। इस संघर्ष-भरे युग की थकान मिटाने को कौन 'मेघदूत' की अलका में कुछ देर विचरण करना नहीं पसन्द करेगा ? वहाँ शिशिर-मथिता पद्मिनी के समान जो तन्वी श्यामा शिखरदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी यक्ष-पत्नी है वह 'या तत्रस्याद्युवति विषये सृष्टिराद्येव धातुः' ही नहीं है, कवि को भी युवति-विषये ऐसी मनोहर दूसरी सृष्टि सम्भवतः अपने काव्य में अन्यत्र नहीं मिलेगी जो एक साथ ही सौन्दर्य, ममता, करुणा, हास और अश्रु की सजीव प्रतिमा है। निस्सन्देह 'मेघदूत' कवि की अमृतवाणी है, जिसका प्रेमसन्देश केवल वियोगी पति-पत्नियों को ही नहीं, मानवहृदय को भी सदैव सान्त्वना तथा शान्ति प्रदान करता रहेगा।

मेरा रचना-काल

मेरे कवि-जीवन के विकास-क्रम को समझने के लिए पहले आप मेरे साथ हिमालय की प्यारी तलहटी में चलिए। आपने अल्मोड़े का नाम सुना होगा। वहाँ से बत्तीस मील और उत्तर की ओर चलने पर आप मेरी जन्म-भूमि कौसानी में पहुँच गये। वह जैसे प्रकृति का रम्य शृंगार-गृह है, जहाँ कूर्माचल की पर्वत-श्री एकान्त मे बैठकर अपना पल-पल-परिवर्तित वेश सँवारती है। आज से चालीस साल पहले की बात कहता हूँ, तब मैं छोटा-सा चंचल भावुक किशोर था। मेरा काव्य-कण्ठ अभी तक फूटा नहीं था, पर प्रकृति मुझ मातृहीन बालक को कवि जीवन के लिए मेरे बिना जाने ही जैसे तैयार करने लगी थी। मेरे हृदय में वह अपनी मीठी, स्वप्नों से भरी हुई, चुप्पी अंकित कर चुकी थी, जो पीछे मेरे भीतर अस्फुट तुतले स्वरों में बज उठी। पहाड़ी पेड़ों का क्षितिज न जाने कितने गहरे-हल्के रंगों के फूलों और कोंपलों में मर्मर ध्वनि कर मेरे भीतर अपनी सुन्दरता की रंगीन सुगन्धित तहें जमा चुका था। 'मधुबाला की मृदु-

बोली-सी' अपनी उस हृदय की गुंजार को मैंने अपने 'वीणा' नामक संग्रह में 'यह तो तुतली बोली में है एक बालिका का उपहार !' कहा है। पर्वत-प्रदेश के निर्मल चंचल सौन्दर्य ने मेरे जीवन के चारों ओर अपने नीरव सौन्दर्य का जाल बुनना शुरू कर दिया। मेरे मन के भीतर बरफ की ऊँची चमकीली चोटियाँ रहस्य-भरे शिखरों की तरह उठने लगी थीं, जिन पर खड़ा हुआ नीला आकाश रेशमी चँदोवे की तरह आँखों के सामने फहराया करता था। कितने ही इन्द्रधनुष मेरे कल्पना के पट पर रंगीन रेखाएँ खींच चुके थे, बिजलियाँ बचपन की आँखों को चकाचौंध कर चुकी थीं, फेनों के झरने मेरे मन को फुसलाकर अपने साथ गाने के लिए बहा ले जाते और सर्वोपरि हिमालय का आकाशचुम्बी सौन्दर्य मेरे हृदय पर एक महान् सन्देश की तरह, एक स्वर्गोन्मुखी आदर्श की तरह तथा एक विराट् व्यापक आनन्द, सौन्दर्य तथा तपःपूत पवित्रता की तरह प्रतिष्ठित हो चुका था। मैं छुटपन से ही जनभीरु और शरमीला था। उधर हिम-प्रदेश की प्राकृतिक सुन्दरता मुझ पर अपना जादू चला चुकी थी, इधर घर में मुझे 'मेघदूत,' 'शकुन्तला' और 'सरस्वती' मासिक पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं का मधुर पाठ सुनने को मिलता था, जो मेरे मन में भरे हुए अवाक् सौन्दर्य का जैसे वाणी की झंकारों में झनझना उठने के लिए अज्ञात रूप से प्रेरणा देता था। मेरे बड़े भाई साहित्य और काव्य के अनुरागी थे। वे खड़ीबोली में, और पहाड़ी में भी, प्रायः कविता लिखते थे। मेरे मन में तभी से लिखने की ओर आकर्षण पैदा हो गया था, और मेरे प्रारम्भिक प्रयास भी शुरू हो गये थे, जिन्हें मुझे किसी को दिखाने का साहस नहीं होता था। तब मैं दस-ग्यारह साल का रहा हूँगा। उसके बाद मैं अलमोड़ा हाईस्कूल में पढ़ने चला गया। अलमोड़ा मे उन दिनों जैसे हिन्दी की बाढ़ आ गयी थी, एक पुस्तकालय की भी स्थापना वहाँ हो चुकी थी और अन्य नवयुवकों के साथ मैं भी उस बाढ़ में बह गया। पन्द्रह-सोलह साल की उम्र में मैंने एक प्रकार से नियमित रूप से लिखना प्रारम्भ कर दिया था। मैं तब आठवीं कक्षा में था। हिन्दी साहित्य में तब जो कुछ भी सुलभ था, उसे मैं बड़े चाव से पढ़ता था। मध्ययुग के काव्य-साहित्य का भी थोड़ा बहुत अध्ययन कर चुका था। श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती,' 'जयद्रथ-वध,' 'रंग में भंग' आदि रचनाओं से प्रभावित होकर मैं हिन्दी के प्रचलित छन्दों की साधना में तल्लीन रहता था। उस समय के मेरे चपल प्रयास कुछ हस्तलिखित पत्रों में, 'अलमोड़ा अखबार' नामक साप्ताहिक में तथा मासिक पत्रिका 'मर्यादा' में प्रकाशित हुए थे। इन वर्षों की रचनाओं को मैं प्रयोगकाल की रचनाएँ कहूँगा।

सन् १९१८ से '२० तक की अधिकांश रचनाएँ मेरे 'वीणा' नामक काव्य-संग्रह में छपी हैं। 'वीणा'-काल में मैंने प्रकृति की छोटी-मोटी वस्तुओं को अपनी कल्पना की तूली से रँगकर काव्य की सामग्री इकट्ठा की है, फूल-पत्ते और चिड़ियाँ, बादल-इन्द्रधनुष, ओस-तारे, नदी-झरने ऊषा-सन्ध्या, कलरव, मर्मर और टलमल जैसे गुड़ियों और खिलौनों की तरह मेरी बाल-कल्पना की पिटारी को सँजाये हुए हैं।

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूं लोचन ?"

—इत्यादि सरल भावनाओं को बखेरती हुई मेरी काव्य-कल्पना जैसे अपनी समवयस्का बालप्रकृति के गले में बाँहें डाले प्राकृतिक सौन्दर्य के छायापथ में विहार कर रही है :

"उस फैली हरियाली में
कौन अकेली खेल रही माँ,
सजा हृदय की थाली में,
क्रीड़ा कौतूहल कोमलता
मोद मधुरिमा हास-विलास
लीला विस्मय अस्फुटता भय
स्नेह पुलक सुख सरल हुलास !"

इन पंक्तियों में चित्रित प्रकृति का रूप ही तब मेरे हृदय को लुभाता रहा है। उस समय का मेरा सौन्दर्य-ज्ञान उस ओसों के हँसमुख वन-सा था, जिस पर स्वच्छ निर्मल स्वप्नों से भरी चाँदनी चुपचाप सोयी हुई हो। उस शीतल वन में जैसे अभी प्रभात की सुनहली ज्वाला नहीं प्रवेश कर पायी थी। स्निग्ध सुन्दर मधुर प्रकृति की गोद माँ की तरह मेरे किशोर जीवन का पालन-परिचालन करती थी। 'वीणा' के कई प्रगीत माँ को सम्बोधन करके लिखे गये हैं :

"माँ, मेरे जीवन की हार
तेरा उज्ज्वल हृदय हार हो अश्रुकणों का यह उपहार"

—आदि रचनाओं में प्रकृति-प्रेम के अलावा मेरे भीतर एक उज्ज्वल आदर्श की भावना भी जाग्रत हो चुकी थी। 'वीणा' के कई प्रगीतों में मैंने अपने मन के इन्हीं उच्छ्वासों एवं उद्गारों को भरकर स्वर-साधना की है।

मेरा अध्ययन-प्रेम धीरे-धीरे बढ़ने लगा था। श्रीमती नायडू और कवि ठाकुर की अंग्रेजी रचनाओं में मुझे अपने हृदय में छिपे सौन्दर्य और रुचि की अधिक मार्जित प्रतिध्वनि मिलती थी। यह सन् १९१९ की बात है, मैं तब बनारस में था। मैने रवीन्द्र-साहित्य बँगला में भी पढ़ना शुरू कर दिया था। 'रघुवंश' के कुछ सर्ग भी देख चुका था। 'रघुवंश' के उस विशाल स्फटिक प्रासाद के झरोखों और लोचन-कुवलयित गवाक्षों से मुझे रघु के वंशजों के वर्णन के रूप में कालिदास की उदात्त कल्पना की सुन्दर झाँकी मिलने लगी थी। मैं तब भावना के सूत्र में शब्दों की गुरियों को अधिक कुशलता से पिरोना सीख रहा था। इन्हीं दिनों मैंने 'ग्रन्थि' नामक वियोगान्त खण्ड-काव्य लिखा था। 'ग्रन्थि' के कथानक को दु:खान्त बनाने की प्रेरणा देकर जैसे विधाता ने उस युवावस्था के आरम्भ में ही मेरे जीवन के बारे में भविष्य-वाणी कर दी थी।

'वीणा' में प्रकाशित 'प्रथम रश्मि का आना रंगिणि' नामक कविता ने काव्य-साधना की दृष्टि से नवीन प्रभात की किरण की तरह प्रवेशकर मेरे भीतर 'पल्लव'-काल के काव्य-जीवन का समारम्भ कर दिया था। १९१९ की जुलाई में मैं कालेज पढ़ने के लिए प्रयाग आया, तब से करीब दस साल तक प्रयाग ही में रहा। यहाँ मेरा काव्य-सम्बन्धी ज्ञान धीरे-

धीरे व्यापक होने लगा। शेली, कीट्स, टेनिसन आदि अंग्रेजी कवियों से मैंने बहुत-कुछ सीखा। मेरे मन में शब्द-चयन और ध्वनि-सौन्दर्य का बोध पैदा हुआ। 'पल्लव'-काल की प्रमुख रचनाओं का प्रारम्भ इसके बाद ही होता है। प्रकृति-सौन्दर्य और प्रकृति-प्रेम की अभिव्यंजना 'पल्लव' में अधिक प्रांजल एवं परिपक्व रूप में हुई है। 'वीणा' की रहस्य-प्रिय बालिका अधिक मांसल, सुरुचि, सुरंगपूर्ण बनकर प्रायः मुग्धा युवती का हृदय पाकर जीवन के प्रति अधिक सवेदनशील बन गयी है; 'सोने का गान', 'निर्झर गान,' 'मधुकरी', 'निर्झरी', 'विश्व-वेणु', 'वीचि-विलास' आदि रचनाओं में वह प्रकृति के रंगजगत् में अभिनय करती-सी दिखायी देती है। अब उसे तुहिन-वन में छिपी स्वर्ण-ज्वाल का आभास मिलने लगा है, उषा की मुसकान कनक-मदिर लगने लगी है। वह अब इस रहस्य को नहीं छिपाना चाहती कि उसके हृदय में कोमल बाण लग गया है। निर्झरी का अंचल अब आँसुओं से गीला जान पड़ता है, उसकी कलकल ध्वनि उसे मूकव्यथा का मुखर भुलाव प्रतीत होती है। वह मधुकरी के साथ फूलों के कटोरों से मधुपान करने को व्याकुल है। सरोवर की चंचल लहरी उससे आँख-मिचौनी खेलकर उसके व्याकुल हृदय को दिव्य प्रेरणा से आश्वासन देने लगी है। वह उससे कहता है :

"मुग्धा की-सी मृदु मुसकान,
खिलते ही लज्जा से म्लान,
स्वर्गिक सुख की-सी आभास
अतिशयता में अचिर,—महान
दिव्य भूति-सी आ तुम पास
कर जाती हो क्षणिक विलास
आकुल उर को दे आश्वास !"

सन् १९२१ के असहयोग आन्दोलन में मैंने कालेज छोड़ दिया। इन दो-एक वर्षों के साहित्यिक प्रवास में ही मेरे मन ने किसी तरह जान लिया था कि मेरे जीवन का विधाता ने कविता के साथ ही ग्रन्थि-बन्धन जोड़ना निश्चय किया है। 'वीणा' में मैंने ठीक ही कहा था :

"प्रेयसि कविते, हे निरुपमिते,
अधरामृत से इन निर्जीवित शब्दों में जीवन लाओ !"

बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं और प्रासादों से लेकर छोटी-छोटी झाड़-फूस की कुटियों से जनाकीर्ण इस जगत् में मुझे रहने के लिए मन का एकान्त छायावन मिला, जिसमें वास्तविक विश्व की हलचल चित्रपट की तरह दृश्य बदलती हुई मेरे जीवन को अज्ञात आवेगों से झकझोरती रही है। इसके बाद का मेरा जीवन अध्ययन-मनन और चिन्तन ही में अधिक व्यतीत हुआ। १९२१ में मैंने 'उच्छ्वास' नामक प्रेम-काव्य लिखा, और उसके बाद ही 'आँसू'। मेरे तरुण-हृदय का पहला ही आवेश प्रेम का प्रथम स्पर्श पाकर जैसे उच्छ्वास और आँसू बनकर उड़ गया। उच्छ्वास के सहस्र दृग-सुमन खोले हुए पर्वत की तरह मेरा भविष्य-जीवन भी जैसे स्वप्नों और भावनाओं के घने कुहासे से ढँककर अपने ही भीतर छिप गया :

"उड़ गया अचानक, लो, भूधर
फड़का अपार वारिद के पर

रव शेष रह गये हैं निर्झर,
लो, टूट पड़ा भू पर अम्बर !
धँस गये धरा में सभय शाल
उठ रहा धुआँ जल गया ताल,
यों जलद यान में विचर विचर, था इन्द्र खेलता इन्द्रजाल !"

इसी भूधर की तरह वास्तविकता की ऊँची-ऊँची प्राचीरों से घिरा हुआ यह सामाजिक जगत्, जो मेरे यौवन-सुलभ आशा-आकांक्षाओं से भरे हुए हृदय को, अनन्त विचारों, मतान्तरों, रूढ़ियों, रीतियों की भूल-भुलैया-सा लगता था, जैसे मेरे आँखों के सामने से ओझल हो गया। यौवन के आवेशों से उठ रहे वाष्पों के ऊपर मेरे हृदय में जैसे एक नवीन अन्तरिक्ष उदय होने लगा।

'पल्लव' की छोटी-बड़ी अनेक रचनाओं में जीवन के और युग के कई स्तरों को छूती हुई, भावनाओं की सीढ़ियाँ चढ़ती हुई, तथा प्राकृतिक सौन्दर्य की झाँकियाँ दिखाती हुई मेरी कल्पना 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में मेरे उस काल के हृदय-मन्थन और बौद्धिक संघर्ष की विशाल दर्पण-सी है, जिसमें 'पल्लव'-युग का मेरा मानसिक विकास एवं जीवन की संग्रहणीय अनुभूतियाँ तथा राग-विराग का समन्वय बिजलियों से भरे बादल की तरह प्रतिबिम्बित है। इस अनित्य जगत् में नित्य जगत् को खोजने का प्रयत्न मेरे जीवन में जैसे 'परिवर्तन' के रचना-काल से ही प्रारम्भ हो गया था, 'परिवर्तन' उस अनुसन्धान का केवल प्रतीक-मात्र है। हृदयमन्थन का दूसरा रूप आप आगे चलकर 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना'-काल की रचनाओं में पायेंगे।

मैं प्रारम्भ में आपको ४० साल पीछे ले गया हूँ और प्राकृतिक सौन्दर्य की, जुगनुओं से जगमगाती हुई, घाटी में घुमाकर धीरे-धीरे कर्म-कोलाहल से भरे संसार की ओर ले आया हूँ। 'परिवर्तन' की अन्तिम कुछ पंक्तियों में जैसे इन चालीस वर्षों का इतिहास आ गया है :

"अहे महाम्बुधि, लहरों-से शत लोक चराचर
क्रीड़ा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर !
तुग तरंगों-से शत युग, शत-शत कल्पान्तर
उगल, महोदर मे विलीन करते तुम सत्वर !"

मेरा जन्म सन् १९०० में हुआ है, और १९४७ तक मैं जैसे इस संक्रमणशील युग के प्राय: अर्द्ध-शताब्दी के उत्थान-पतनों को देख चुका हूँ। अपना देश इन वर्षों में स्वतन्त्रता के अदम्य संग्राम से आन्दोलित रहा। उसके मनोजगत् को हिलाती हुई नवीन जागरण की उद्दाम आँधी—जैसे

"द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र, हे स्रस्त ध्वस्त, हे शुष्क शीर्ण,
हिमताप पीत मधुवात भीत, तुम वीतराग जड़ पुराचीन !"

—का सन्देश बखेरती रही है। दुनिया इन वर्षों में दो महायुद्ध देख चुकी है :

"बहा नर शोणित मूसलधार
रुण्डमुण्डों की कर बौछार,

छेड़ खर शस्त्रों की झंकार
महाभारत गाता संसार !—"

'परिवर्तन' की इन पंक्तियों में जैसे इन्हीं वर्षों के इतिहास का दिग्घोष भरा हुआ है। मनुष्य-जाति की चेतना इन वर्षों में कितने ही परिवर्तनों और हाहाकारों से होकर विकसित हो गयी है। कितनी ही प्रतिक्रियात्मक शक्तियाँ धरती के जीर्ण-जर्जर जीवन के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए, बिलों में छेड़े हुए साँपों की तरह फन उठाकर फूत्कार करती रही हैं।

यह सब इस युग में क्यों हुआ ? मानव-जाति प्रलय-वेग से किस ओर जा रही है ? मानव-सभ्यता का क्या होगा ? इस भिन्न-भिन्न जातियों, वर्गों, देशों, राष्ट्रों के स्वार्थों में खोये हुए धरती के जीवन का भावी निर्माण किस दिशा को होना चाहिए ?—इन प्रश्नों और शंकाओं का समाधान मैंने 'ज्योत्स्ना' नामक नाटिका द्वारा करने का प्रयत्न किया। 'ज्योत्स्ना' में वेदव्रत कहता है : "जिस प्रकार पूर्व की सभ्यता अपने एकांगी आत्मवाद और अध्यात्मवाद के दुष्परिणामों से नष्ट हुई, उसी प्रकार पश्चिम की सभ्यता भी अपने एकांगी प्रकृतिवाद, विकासवाद और भूतवाद के दुष्परिणाम से विनाश के दलदल में डूब गयी। पश्चिम के जड़वाद की मांसल प्रतिमा में पूर्व के अध्यात्म-प्रकाश की आत्मा भरकर एवं अध्यात्मवाद के अस्थि-पंजर में भूत या जड-विज्ञान के रूप-रंगों को भरकर हमने आनेवाले युग की मूर्ति का निर्माण किया है।"

'ज्योत्स्ना' में मैंने जिस सत्य को सार्वभौमिक दृष्टिकोण से दिखाने का प्रयत्न किया है, 'गुंजन' में उसी को व्यक्तिगत दृष्टिकोण से कहा है। 'गुंजन' के प्रगीत मेरी व्यक्तिगत साधना से सम्बद्ध हैं। 'गुंजन' की 'अप्सरी' में 'ज्योत्स्ना' की ही भावना-धारा को व्यक्तित्व दिया गया है। कला की दृष्टि से 'गुंजन' की शैली 'पल्लव' की तरह मांसल एवं ऐन्द्रिय रूप-रंगों से भरी हुई नहीं है; उसकी व्यंजना अधिक सूक्ष्म, मधुर तथा भावप्रवण है। उसमें 'पल्लव' का-सा कल्पना-वैचित्र्य नहीं है, पर भावों की सच्चाई और चिन्तन की गहराई है।

'गुंजन'-काल के इन अनेक वर्षों के ऊहापोह, संघर्ष और सन्धि-पराभव के बाद आप मुझे 'युगान्त' के कवि के रूप में देखते हैं। 'युगान्त' के मरु में मेरे मानसिक निष्कर्षों के धुंधले पद-चिह्न पड़े हुए हैं। वही चिन्तन के भार से डगमगाते हुए पैर जैसे 'पाँच कहानियाँ' की पगडण्डियों में भी भटक गये हैं।

'युगान्त' में मैं निश्चय रूप से इस परिणाम पर पहुँच गया था कि मानव-सभ्यता का पिछला युग अब समाप्त होने को है और नवीन युग का प्रादुर्भाव अवश्यम्भावी है। मैंने जिन प्रेरणाओं से प्रभावित होकर यह कहा था, उनका आभास 'ज्योत्स्ना' में पहले ही दे चुका हूँ। अपने मानसिक चिन्तन और बौद्धिक परिणामों के आधारों का समन्वय मैंने युगवाणी' के 'युगदर्शन' में किया है। 'युगदर्शन' में मैंने भौतिकवाद या मार्क्सवाद के सिद्धान्तों का जहाँ समर्थन किया है, वहाँ उनका अध्यात्मवाद के साथ समन्वय एवं संश्लेषण भी करने का प्रयत्न किया है; 'भौतिकवाद के प्रति' रचना में, मानव-जीवन की बहिर्गतियों का वैज्ञानिक

निरूपण कर मैंने अपने वयोवृद्ध विचारकों में जीवन तथा जगत् के प्रति जो विरक्ति अथवा उपेक्षा पायी जाती है उसे दूर करने का प्रयत्न किया है तथा अध्यात्म-दर्शन के बारे में जो नवशिक्षित युवकों में भ्रान्त धारणाएँ फैली हैं, उस पर भी प्रकाश डाला है। मैंने 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में मध्ययुग की संकीर्ण नैतिकता का घोर खण्डन किया है। 'ग्राम्या' को समाप्त करने के बाद आप सन् १९४० में पहुँच गये हैं। इस बीच में हिन्दी साहित्य की सृजनशीलता हिन्दुस्तानी के स्वादहीन आन्दोलन से तथा उसके बाद १९४२ के आन्दोलन से काफी प्रभावित रही। दोनों आन्दोलनों से हिन्दी की सृजनशील चेतना को अपने-अपने ढंग का धक्का पहुँचा, और दोनों ने ही उसे पर्याप्त मात्रा में चिन्तन-मनन के लिए सामग्री भी दी। फिर भी इन वर्षों के साहित्यिक इतिहास के मुख पर एक भारी वितृष्णा-भरे विषाद का घूँघट पड़ा रहा। इसके उपरान्त सन् १९२९ की तरह मैं अपने मानसिक संघर्ष के कारण प्रायः दो साल तक अस्वस्थ रहा। इधर मेरी नवीन रचनाओं के दो संग्रह 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' के नामों से प्रकाशित हुए हैं। 'स्वर्ण-किरण' में स्वर्ण का प्रयोग मैंने नवीन चेतना के प्रतीक के रूप में किया है। उसमें मुख्यतः चेतनाप्रधान कविताएँ हैं। 'स्वर्ण-धूलि' का धरातल अधिकतर सामाजिक है, जैसे वही नवीन चेतना धरती की धूलि में मिलकर एक नवीन सामाजिक जीवन के रूप में अंकुरित हो उठी हो।

'स्वर्ण-किरण' में मैंने, पिछले युगों में जिस प्रकार सांस्कृतिक शक्तियों का विभाजन हुआ है, उनमें समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उसमें पाठकों को विश्व-जीवन एवं धरती की चेतना-सम्बन्धी समस्याओं का दिग्दर्शन मिलेगा। भिन्न-भिन्न देशों एवं युगों की संस्कृतियों को विकसित मानववाद में बाँधकर मैंने भू-जीवन की नवीन रचना की ओर संलग्न होने का आग्रह किया है। 'स्वर्ण-किरण' में 'स्वर्णोदय' शीर्षक रचना इस दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखती है। उसके कुछ पद उद्धृत कर इस वार्ता को समाप्त करता हूँ :

"भू रचना का भूतिपाद युग हुआ विश्व-इतिहास में उदित
सहिष्णुता सद्भाव शान्ति से हों गत संस्कृति धर्म समन्वित !
वृथा पूर्व पश्चिम का दिग्भ्रम मानवता को करे न खण्डित
बहिर्नयन विज्ञान हो महत् अन्तर्दृष्टि ज्ञान से योजित।
एक निखिल धरणी का जीवन, एक मनुजता का संघर्षण,
विपुल ज्ञान-संग्रह भव-पथ का विश्व क्षेम का करे उन्नयन !"

मैं और मेरी कला

जब मैंने पहले लिखना प्रारम्भ किया था, तब मेरे चारों ओर केवल प्राकृतिक परिस्थितियों तथा प्राकृतिक सौन्दर्य का वातावरण ही एक ऐसी सजीव वस्तु थी जिससे मुझे प्रेरणा मिलती थी! और किसी भी परिस्थिति या वस्तु की मुझे याद नहीं, जो मेरे मन को आकर्षित कर

मुझे गाने अथवा लिखने की ओर अग्रसर करती रही हो। मेरे चारों ओर की सामाजिक परिस्थितियाँ तब एक प्रकार से निश्चल तथा निष्क्रिय थीं, उनके चिर परिचित पदार्थ में मेरे किशोर मन के लिए किसी प्रकार का आकर्षण नहीं था। फलत: मेरी प्रारम्भिक रचनाएँ प्रकृति की ही लीला-भूमि में लिखी गयी हैं। पर्वत-प्रान्त की प्रकृति के नित्य नवीन तथा परिवर्तनशील रूप से अनुप्राणित होकर मैंने स्वत: ही, जैसे किसी अन्तर्विवशता के कारण, पक्षियों तथा मधुपों के स्वरों में स्वर मिलाकर, जिन्हें तब मैंने विहग-बालिका तथा मधुबाला कहकर सम्बोधित किया है, पहले-पहल गुनगुनाना सीखा है।

मेरी प्रारम्भिक रचनाएँ 'वीणा' नामक संग्रह के रूप में प्रकाशित हुई हैं। इन रचनाओं में प्रकृति ही अनेक रूप धरकर, चपल मुखर नूपुर बजाती हुई अपने चरण बढ़ाती रही है। समस्त काव्यपट प्राकृतिक सुन्दरता के धूप-छाँह से बुना हुआ है। चिड़ियाँ, भौंरे, झिल्लियाँ, झरने, लहरें आदि, जैसे मेरी बाल-कल्पना के छायावन में मिलकर वाद्य-तरंग बजाते रहे हैं :

"प्रथम रश्मि का आना रंगिणि, तूने कैसे पहचाना,
कहाँ कहाँ हे बाल विहंगिनि, पाया तूने यह गाना ?"

अथवा "आओ सुकुमारि विहग बाले,
निज कोमल कलरव में भरकर, अपने कवि के गीत मनोहर,
फैला आओ वन-वन घर-घर, नाचें तृण तरु पात।"

आदि गीत आपको 'वीणा' में मिलेंगे जिनके भीतर से प्रकृति गाती है।

"उस फैली हरियाली में—कौन अकेली खेल रही माँ,
वह अपनी वयबाली में ?"

अथवा "छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले, तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?"...

आदि उस समय की अनेक रचनाएँ तब मेरे प्रकृति-विहारी होने की साक्षी हैं।

जिस प्रकार प्रकृति ने मेरे किशोर हृदय को अपने सौन्दर्य से मोहित किया है, उसी प्रकार पर्वत-प्रदेश की निर्वाक् अलंघ्य गरिमा तथा हिम-राशि की स्वच्छ शुभ्र चेतना ने मेरे मन को आश्चर्य तथा भय से अभिभूत कर उसमें अपने रहस्यमय मौन संगीत की स्वरलिपि भी अंकित की है। पर्वत-श्रेणियों का वह नीरव सन्देश मेरी प्रारम्भिक रचनाओं में विराट् भावनाओं अथवा उदात्त स्वरों में अवश्य नहीं अभिव्यक्त हो सका है, किन्तु मेरे रूप-चित्रों के भीतर से एक प्रकार का अरूप सौन्दर्य यत्र-तत्र अवश्य छलकता रहा है, और मेरी किशोर दृष्टि को चमत्कृत करनेवाले प्राकृतिक सौन्दर्य में एक गम्भीर अवर्णनीय पवित्रता की भावना का भी अपने-आप ही समावेश हो गया है :

"अब न अगोचर रहो सुजान,
निशानाथ के प्रियवर सहचर, अन्धकार, स्वप्नों के यान,
तुम किसके पद की छाया हो किसका करते हो अभिमान ?"

अथवा "तुहिन बिन्दु बनकर सुन्दर, कुमुद किरण से उतर-उतर,

मा, तेरे प्रिय पद पद्मों में मैं अर्पण जीवन को कर दूँ।
इस ऊषा की लाली में !"

आदि पंक्तियों में पर्वत-प्रदेश के रहस्यमय अन्धकार की गम्भीरता और वहाँ के प्रभात की पावनता तथा निर्मलता एक अन्तर्वातावरण की तरह अथवा सूक्ष्माकाश की तरह व्याप्त है। 'वीणा' की रचनाओं मे मेरे अध्ययन अथवा ज्ञान की कमी को जैसे प्रकृति ने अपने रहस्य-संकेत तथा प्रेरणा-बोध से पूरा कर दिया है। उनके भीतर से एक प्राकृतिक जगत् का टहटहापन, सहज उल्लास तथा अनिर्वचनीय पवित्रता फूटकर स्वतः काव्य का उपकरण अथवा उपादान बन गयी है।

'वीणा' के बाद की रचनाएँ मेरे 'पल्लव' नामक संग्रह में प्रकाशित हुई हैं। 'पल्लव'-काल में मुझसे प्रकृति की गोद छिन जाती है। 'पल्लव' की रूप-रेखाओं में प्राकृतिक सौन्दर्य तथा उसकी रंगीनी तो वर्तमान है, किन्तु केवल प्रभावों के रूप में—उससे वह सान्निध्य का सन्देश लुप्त हो जाता है।

"कहो हे सुन्दर विहग कुमारि, कहाँ से आया यह प्रिय गान ?"

अथवा

"सिखा दो ना, हे मधुपकुमारि, मुझे भी अपने मीठे गान।"

आदि 'पल्लव'-काल की रचनाओं में विहग, मधुप, निर्झर आदि तो वर्तमान हैं, उनके प्रति हृदय की ममता भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है, लेकिन अब जैसे उनका साहचर्य अथवा साथ छुट जाने के कारण वे स्मृति-चित्र तथा भावना के प्रतीक-भर रह गये है। उनके शब्दों में कला का सौन्दर्य है, प्रेरणा का सजीव स्पर्श नहीं। प्रकृति के उपकरण रागवृत्ति के स्वर बन गये हैं, वे अकलुष ऐन्द्रिय मुग्धता के वाहन अथवा वाहक नहीं रह गये हैं। 'वीणा'-काल का प्राकृतिक सौन्दर्य का सहवास 'पल्लव' की रचनाओं में भावना के सौन्दर्य की माँग बन गया है, प्राकृतिक रहस्य की भावना ज्ञान की जिज्ञासा मे परिणत हो गयी है। 'वीणा' की रचनाओं में जो स्वाभाविकता मिलती है, वह 'पल्लव' में कला-संस्कार तथा अभिव्यक्ति के मार्जन में बदल गयी है। बाहर का रहस्यमय पर्वत-प्रदेश आँखों के सामने से ओझल हो जाने के कारण एक भीतरी रहस्यमय प्रदेश मन की आँखों को विस्मित करने लगा है। अब भी 'पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश' वाला पर्वत का दृश्य सामने आता है, पर उसके साथ 'सरल शैशव की सुखद स्मृति-सी' एक मनोरम बालिका भी पास ही खड़ी दिखायी देती है। बाल-कल्पना की तरह अनेक रूप धरनेवाले उड़ते बादलों में हृदय का उच्छ्वास और तुहिन-बिन्दु-सी चंचल जल की बूँदों में आँसुओं की धारा मिल गयी है। प्रकृति का प्रांगण छायाप्रकाश की बीथी बन गया है, उसके भीतर से हृदय की भावना अनेक रूप धारण कर विचरण करती हुई दिखायी पड़ती है। उपलों पर बहुरंगी लास तथा भंगिमय भृकुटिविलास दिखानेवाली निश्छल निर्झरी अब सजल आँसुओं की अंचल-सी प्रतीत होती है। निश्चय ही 'पल्लव' की काव्य-भूमिका से 'वीणा'-काल का पवित्र प्राकृतिक सौन्दर्य 'उड़ गया अचानक, लो, भूधर, फड़का अपार वारिद के पर' के सदृश ही विलीन हो जाता है, और उसके स्थान पर 'रव-शेष रह गये हैं निर्झर' शेष रह जाते हैं। उस पवित्रता का स्पर्श

पाने के लिए हृदय जैसे छटपटाकर प्रार्थना करने लगता है—

"विहग बालिका का-सा मृदु स्वर, अर्ध खिले वे कोमल अंग,
क्रीड़ा कौतूहलता मन की, वह मेरी आनन्द उमंग।
अहो दयामय, फिर लौटा दो मेरी पद प्रिय चंचलता,
तरल तरंगों-सी वह लीला, निर्विकार भावना लता!"

'पल्लव' की अधिकांश रचनाएँ प्रयाग में लिखी गयी हैं। १९२१ के असहयोग-आन्दोलन के साथ ही देश की बाहरी परिस्थितियों ने भी जैसे हिलना-डुलना सीखा। युग-युग से जड़ीभूत उनकी वास्तविकता में सक्रियता तथा जीवन के चिह्न प्रकट होने लगे। उनके स्पन्दन, कम्पन तथा जागरण के भीतर से एक नवीन वास्तविकता की रूपरेखा मन को आकर्षित करने लगी; मेरे मन के भीतर वे संस्कार धीरे-धीरे संचित तो होने लगे, पर 'पल्लव' की रचनाओं में वे मुखरित नहीं हो सके; न उसके स्वर उस नवीन भावना को वाणी देने के लिए पर्याप्त तथा उपयुक्त ही प्रतीत हुए। 'पल्लव' की सीमाएँ छायावाद की अभिव्यंजना की सीमाएँ थीं। वह पिछली वास्तविकता के निर्जीव भार से आक्रान्त उस भावना की पुकार थी, जो बाहर की ओर राह न पाकर 'भीतर' की ओर स्वप्न-सोपानों पर आरोहण करती हुई युग के अवसाद तथा विवशता को वाणी देने का प्रयत्न कर रही थी और साथ ही काल्पनिक उड़ान द्वारा नवीन वास्तविकता की अनुभूति प्राप्त करने की चेष्टा कर रही थी। 'पल्लव' की सर्वोत्तम तथा प्रतिनिधि-रचना 'परिवर्तन' में विगत वास्तविकता के प्रति असन्तोष तथा परिवर्तन के प्रति आग्रह की भावना विद्यमान है। साथ ही जीवन की अनित्य वास्तविकता के भीतर से नित्य सत्य को खोजने का प्रयत्न भी है, जिसके आधार पर नवीन वास्तविकता का निर्माण किया जा सके। 'गुंजन'-काल की रचनाओं में नित्य सत्य पर जैसे मेरा दृढ़ विश्वास प्रतिष्ठित हो गया है।

"सुन्दर से नित सुन्दरतर, सुन्दरतर से सुन्दरतम
सुन्दर जीवन का क्रम रे, सुन्दर-सुन्दर जग जीवन।"

आदि रचनाओं में मेरा मन परिवर्तनशील अनित्य वास्तविकता से ऊपर उठकर नित्य सत्य की विजय के गीत गाने को लालायित हो उठा है और उसके लिए आवश्यक साधना को भी अपनाने की तैयारी करने लगा है। उसे 'चाहिए विश्व को नव जीवन' भी अनुभव होने लगा है और वह इस आकांक्षा से व्याकुल भी रहने लगा है। 'ज्योत्स्ना' में मैंने इस नवीन जीवन तथा युग-परिवर्तन की धारणा को एक सामाजिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। 'पल्लव'-कालीन जिज्ञासा तथा अवसाद के कुहासे से निखरकर 'ज्योत्स्ना' का जगत्, जीवन के प्रति एक नवीन विश्वास, आशा तथा उल्लास लेकर प्रकट होता है। 'युगान्तर' में मेरा वह विश्वास बाहर की दिशा में भी सक्रिय हो गया है और विकासकामी हृदय क्रान्तिकामी भी हो गया है। 'युगान्त' की क्रान्ति की भावना में आवेश है और है एक नवीन मनुष्यत्व के प्रति संकेत। अनित्य वास्तविकता का बोध मेरे मन में पहले परिवर्तन और फिर क्रान्ति का रूप धारण कर लेता है। नित्य सत्य के प्रति आकर्षण नवीन मानवता के रूप में प्रस्फुटित होने लगता है। दूसरे शब्दों में बाहरी क्रान्ति की आवश्यकता

की पूर्ति, मेरा मन, नवीन मनुष्यत्व की भावात्मक देन द्वारा करना चाहता है।

"द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र, हे स्रस्त ध्वस्त, हे शुष्क शीर्ण" द्वारा जहाँ पिछली वास्तविकता को बदलने के लिए ओजपूर्ण आह्वान है, वहाँ 'कंकाल जाल जग में फैले फिर नवल रुधिर पल्लव लाली' में 'पल्लव'-काल की स्वप्न-चेतना द्वारा उस रिक्त स्थान को भरने के लिए आग्रह भी है। 'गा कोकिल बरसा पावककण ! नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन, ध्वंस-भ्रंश जग के जड़ बन्धन' के साथ ही 'हो पल्लवित नवल मानवपन, रच मानव के हित नूतन मन' भी मैंने कहा है। यह क्रान्ति की भावना, जो अब साहित्य में प्रगतिवाद के नाम से प्रसिद्ध हो चुकी है मेरी 'ताज,' 'कलरव' आदि 'युगान्त'-कालीन रचनाओं में विशेष रूप से अभिव्यक्त हो सकी है और मानववाद की भावना 'युगान्त' की 'मानव', 'मधुस्मृति' आदि रचनाओं में। 'बापू के प्रति' शीर्षक मेरी उस समय की रचना गांधीवाद की ओर झुकाव की द्योतक है जो 'युगवाणी' में भूतवाद तथा अध्यात्मवाद के समन्वय का प्रारम्भिक रूप धारण कर लेती है। 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में मेरी क्रान्ति की भावना मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित ही नहीं होती, उसे आत्मसात् करने का भी प्रयत्न करती है।

"भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान,
जहाँ आत्म दर्शन अनादि से समासीन अम्लान"

'मुझे स्वप्न दो', 'मन के स्वप्न', 'आज बनो तुम फिर नव मानव' 'संस्कृति का प्रश्न', 'सांस्कृतिक हृदय' आदि उस समय की अनेक रचनाएँ मेरी उस सांस्कृतिक तथा समन्वयात्मक प्रवृत्ति की द्योतक हैं। 'ग्राम्या' मेरी सन् १९४० की रचना है, जब प्रगतिवाद हिन्दी साहित्य में घुटनों के बल चलना सीख रहा था। आज के दिन प्रगतिवाद का एक रूप जिस प्रकार वर्गयुद्ध की भावना के साथ दृढ़ क़दम रखकर आगे बढ़ना चाहता है, उस दृष्टि से 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' को प्रगतिवाद की तुतलाहट ही कहना पड़ेगा। सन् १९४० के बाद का समय द्वितीय विश्वयुद्ध का वह काल रहा है जिसमें भौतिक विज्ञान तथा मांसपेशियों की संगठित शक्ति ने मानवता के हृदय पर नग्न पैशाचिक नृत्य किया है। '४२ के असहयोग-आन्दोलन में भारत को जिस पाशविक अत्याचार तथा नृशंसता का सामना करना पड़ा, उससे हिंसात्मक क्रान्ति के प्रति मेरा समस्त उत्साह अथवा मोह विलीन हो गया। मेरे हृदय में यह बात गम्भीर रूप से अंकित हो गयी कि नवीन सामाजिक संगठन राजनीतिक-आर्थिक आधार पर नहीं, सांस्कृतिक आधार पर होना चाहिए। यह धारणा सर्वप्रथम सन् १९४२ में मेरी 'लोकायन' की योजना में और आगे चलकर 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि' की रचनाओं में अभिव्यक्त हुई है। नवीन सांस्कृतिक संगठन की रूप-रेखा तथा नवीन मान्यताओं का आधार क्या हो, इस सम्बन्ध में मेरे मन में ऊहापोह चल ही रहा था कि इसी समय मैं श्री अरविन्द के जीवन-दर्शन के सम्पर्क में आ गया और मेरी 'ज्योत्स्ना-काल' की चेतना एक नवीन युग-प्रभात की व्यापक चेतना में प्रस्फुटित होने लगी, जिसको मैंने प्रतीकात्मक रूप से स्वर्णचेतना कहा है। और मेरा विश्वास धीरे-धीरे और भी दृढ़ हो गया कि नवीन सांस्कृतिक

आरोहण इसी चेतना के आलोक में सम्भव हो सकता है, जो मनुष्य की वर्तमान मानसिक चेतना को अतिक्रम कर उसे एक अधिक ऊर्ध्व, गम्भीर तथा व्यापक धरातल पर उठा देगी। इस प्रकार आनेवाली क्रान्ति केवल रोटी की क्रान्ति, समान अधिकारों की क्रान्ति ही न होकर जीवन के प्रति नवीन दृष्टिकोण की क्रान्ति, मानसिक मान्यताओं की क्रान्ति तथा सामाजिक अथच नैतिक आदर्शों की भी क्रान्ति होगी। दूसरे शब्दों मे भावी क्रान्ति राजनीतिक-आर्थिक क्रान्ति तक ही सीमित न रहकर आध्यात्मिक क्रान्ति भी होगी, क्योंकि वस्तु-जगत् के प्रति हमारे ज्ञान का स्तर हमारी आध्यात्मिक धारणा के सूक्ष्म स्तर से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है और वर्तमान युग की विशृंखलता को नवीन मानवीय सामंजस्य देने के लिए मनुष्य की अन्न-प्राण-मन-सम्बन्धी चेतनाओं का बहिरन्तर रूपान्तर होना आवश्यक तथा अवश्यम्भावी है, जिसे मैंने 'स्वर्ण-किरण' में इस प्रकार कहा है :

"सस्मित होगा धरती का मुख, जीवन के गृह प्रांगण शोभन,
जगती की कुत्सित कुरूपता सुषमित होगी, कुसुमित दिशिक्षण !
विस्तृत होगा जन-मन का पथ, शेष जठर का कटु संघर्षण,
संस्कृति के सोपान पर अमर सतत बढ़ेंगे मनुज के चरण !"

भौतिक तथा आध्यात्मिक संचरणों के मध्य समन्वय की मेरी भावना धीरे-धीरे विकसित होकर अधिक वास्तविक होती गयी है और आज प्रतिगामी शक्तियों की अराजकता के युग में प्रगतिवादी दृष्टिकोण के प्रति मेरे मन की निष्ठा अधिकाधिक बढ़ती जा रही है।

कवि के स्वप्नों का महत्त्व

कवि के स्वप्नों का महत्त्व !—विषय सम्भवत: थोड़ा गम्भीर है। स्वप्न और यथार्थ मानव-जीवन-सत्य के दो पहलू हैं : स्वप्न यथार्थ बनता जाता है और यथार्थ स्वप्न। 'एक सौ वर्ष नगर उपवन, एक सौ वर्ष विजन वन', —इस अणु-संहार के युग में इस सत्य को समझना कठिन नहीं है। वास्तव में स्वप्न और वास्तविकता के चरणों पर चलकर ही जीवन-सत्य विकसित होकर आगे बढ़ता है। सामान्य दिवा-स्वप्नों और कवि के स्वप्नों में भेद होता है : दिवा-स्वप्न अतृप्त आकांक्षाओं की उपज होते हैं और कवि के स्वप्न युग की आवश्यकताओं की सम्भावित सृष्टि अथवा समय की माँगों की पूर्ति। उनकी पृष्ठभूमि मे ऐतिहासिक संचरण होता है और उनका आधार होता है हमारे जीवन की या भू-जीवन की प्रगति का सत्य।

कौन नहीं जानता कि आज धरती पर घोर अन्धकार चल रहा है —विश्वव्यापी संहार का निर्मम कुत्सित रंगमंच तैयार हो रहा है और सभ्यता के विनाश का अभिनय अथवा रिहर्सल आये दिन भीषण अस्त्र-शस्त्रों की परीक्षाओं के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। साथ ही दूसरी ओर कुछ प्रबुद्ध, युगचेतन मानस जाति-पाँति, वर्गश्रेणियों से मुक्त, दैन्य-

अविद्या के अभावों से सदैव के लिए संरक्षित, नवीन मानवता के निर्माण के स्वप्नों को कलाशिल्प, शब्द अथवा नवीन सामाजिक चेतना एवं जीवन-रचना के द्वारा मूर्त करने के प्रयास में संलग्न हैं। सदियों की दासता से मुक्त अपना विशाल देश आज स्वयं विराट् लोकनिर्माण की कृच्छ्र साधना में तत्पर एड़ी से चोटी तक पसीना बहा रहा है।

सूरज-चाँद-सितारों के साथ खेलनेवाली यह सुनहली हरी-भरी धरती,—इसकी सुन्दरता का कहीं अन्त है? आकाश की हँसमुख नीलिमा को देखते जी नहीं अघाता। तारों की भूलभुलैया मे आँखें खो जाती हैं। आग, मिट्टी, पानी, हवा और आकाश ये सब कितने प्यारे, कितने विचित्र हैं! रंग-रंग के गन्ध भरे मौन फूल—उड़ती तितलियाँ और चहकती हुई चिड़ियाँ—सब कितनी सुन्दर, कितनी मधुर है! —इस धरती पर चलने-फिरनेवाले जीवन की एक अलिखित रहस्य भरी कथा है—और उस जीवन की प्रतिनिधि स्वरूप मानव-जाति का अपना एक बृहत् अकथित इतिहास है। सभ्यताओं का विकास, संस्कृतियों का निर्माण—भाषाओं की उत्पत्ति और साहित्यों की रचना—बर्नैले पशुओं से भरे घने जंगलों के स्थान पर विशाल जन-नगरों की स्थापना—देश-काल की पलकों पर झूलते हुए वास्तविकता के इन स्वप्नों की अपनी एक सार्थकता है। और यह है विश्व-जीवन का एक मोहक व्यापक चित्र।—आइए थोड़े और निकट से देखिए। औद्योगिक क्रान्ति!—और उसके बाद मानव-जीवन में, उसके रहन-सहन में होनेवाली कायापलट!—भूत विज्ञान का अविराम विकास: नयी शक्तियों की उपलब्धि: जिनके बल पर मनुष्य आज आकाश के ज्योतिर्मय ग्रहों पर अपने उपनिवेश बनाने की बात सोच रहा है। पर क्या यहीं मनुष्य के स्वप्नों का अन्त हो गया? जरा और पास से देखिए: इस भाप और कोयले के भद्दे युग को! यह वैज्ञानिक युग का पहिला ही चरण है। क्या रेल की सीटी आपके कान के परदे नहीं फाड़ दे रही है? उफ, इन लोहे की पटरियों पर दौड़ते हुए पहियों की खड़-खड़ाहट—धूल और धुआँ। यह क्या मनुष्य की शरीर-रचना के अनुकूल है?—और देखिए, इन बनियों, पंजीपतियों की सभ्यता और संस्कृति को। इनकी साम्राज्यवादी तृष्णा को—उपनिवेश स्थापित करने के स्वप्नों को—बड़े-बड़े राष्ट्रों की परस्पर शक्ति और वाणिज्य सम्बन्धी स्पर्धा को। एक देश द्वारा दूसरे देशों के, एक मनुष्य द्वारा अन्य मनुष्यों के निर्दय अमानुषी शोषण को। सभ्य देश आज विश्व-विध्वंसक अणु उद्जन बम बनाने में व्यस्त है, नये ब्रह्मास्त्रों को जन्म देने के हेतु व्यग्र हैं, जिनसे पलक मारते ही भू-खण्डों का विध्वंस हो सकता है। विज्ञान के उत्पातों के अतिरिक्त भी अभी तक धर्म सम्प्रदाय सम्बन्धी घोर मत-भेद, जाति-वर्ण सम्बन्धी निर्मम पूर्वग्रह दूर नहीं हुए है। आप और कहीं नहीं जा सकते तो अपने देश के गाँवों ही का निरीक्षण कीजिए—यह सदियों से पुंजीभूत अपरिमेय दारिद्र्य, अन्धविश्वास और अशिक्षा। हमारे गाँवों की मानवता का रहन-सहन, उनके रहने के मिट्टी के घरौंदे—अर्थ-हीन रूढि-रीतियों में जकडा जन-समुदाय का अस्थिपंजर जर्जर-जीवन। क्या नरक की विभीषिका की वास्तविकता इस सबसे बडी हो सकती है?

तो, ऐसी आज की धरती पर और युग-युग से घूमती हुई इस धरती

पर मनुष्य की वीभत्स वासना, तृष्णा और लोभ के अन्ध उद्दाम भँवर स्वरूप इस संसार-चक्र से मर्दित, रक्तस्रवित कवि-हृदय से आप क्या आशा रखते हैं ? वह स्वप्न देखना छोड़कर, आकाश में उड़ना छोड़कर आज की वास्तविकता के कल्मष में स्वयं भी सन जाय ? वह मनुष्य के मन पर जमे हुए कठोर कुरूप अन्धकार के वज्र कपाट पर अपने प्रकाश-पुंज शब्दों की अविराम मुट्ठियों का प्रहार करना छोड़कर इस घृणित चक्की के पाटों के नीचे स्वयं भी पिस जाय ? यह तो मानव के हृदय पर उसकी मोहान्धता की विजय होगी—आज के युग पर उसकी सर्व-संहारकारिणी पैशाचिक प्रवृत्ति की विजय होगी—यदि आप कवि के स्वप्नों को उसका जीवन से पलायन कहते हैं, यदि आप कवि से चाहते हैं कि वह भी आज की तथाकथित महान शक्तियों की तरह A Tooth for a tooth के या 'शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्' के वास्तविकतावादी सिद्धान्त को अपनाये तब तो यह मनुष्य की तर्कबुद्धि की घोर बिडम्बना होगी, मानव के विवेक की घोर पराजय होगी। क्रूर पशुबल अथवा अन्ध आसुरी शक्ति का सिद्धान्त तो इस अणु-बल के युग में अपनी पराकाष्ठा तक पहुँचकर स्वयं खोखला, अर्थहीन, वीभत्स, नारकीय तथा आत्म-पराजित प्रमाणित हो चुका है। तथाकथित वास्तविकता और यथार्थ—वे अपने ही किमाकार बोझ से दबकर आज ध्वस्त हो रहे हैं। वास्तविकता और यथार्थ को आज अपनी सीमाओं से बाहर निकलकर—अपनी मान्यताओं के डिम्ब कवचों को तोड़कर नये जीवन के धरातल में प्रवेश करना है।

तो, आइए, कवि के साथ मानव-चेतना के ऊँचे शिखरों पर विचरण कीजिए : इस कलुष-कर्दम भरी धरती पर नवीन मनोबल के पैरों पर चलकर आगे बढ़ना सीखिए; मानव-भविष्य के प्रति दृढ़ आशा और आत्म-विश्वास के पंखों पर उड़ान भर, धरती के धुएँ और कुहासे से ऊपर उठकर, मुक्त व्यापक विवेक के वातावरण में विचरण कीजिए ! कब तक इतिहास के जाति वर्ण वादों के वैमनस्य और विद्वेष भरे विभाजनों में बंटे रहिएगा ? कब तक धर्म-सम्प्रदाय-वर्गों की दीवारों से घिरे रहकर संसार को कारागार बनाये रखिएगा ? विगत का इतिहास विकासशील मानव-मन और जीवन की छाया है। इस छाया मन के प्रेतों को अपने पूर्व-ग्रहों से वास्तविकता प्रदान कर उनके सम्मुख पराजित होना छोड़िए। छोड़िए इस मिथ्या अभिमान को, थोथे ज्ञान को, देश, जाति, कुल-वंश के अहंकार—युगों के घोर अन्धकार को।—क्या मानव-प्रेम और मानव-समानता से बड़ा कोई और धर्म है ? क्या मानव-एकता से बड़ा कोई और ऐश्वर्य है ? धरती पर आज देह, मन, प्राण के वैभव से सम्पन्न शिक्षित संस्कृत सौन्दर्यप्रिय मानवता एक ही आनन्द तथा चैतन्य सिन्धु की अगणित तरंगों की तरह मुखरित अपनी जीवन लीला का विस्तार करे—यह आपको अच्छा लगता है या राष्ट्र, वर्ग-धर्म, नीति-सम्प्रदाय—तुच्छ मतों-वादों, क्षुद्र गुटों और संकीर्ण गिरोहों में बँटी, बिखरी, परस्पर घृणा-द्वेष, दर्प-क्रोध, झूठे पाण्डित्य, थोथे सिद्धान्तों और दानवीय सैन्य एवं शस्त्र बल का प्रदर्शन करती हुई आत्मघातक, विश्वविनाशक आज की यह कीड़े-मकोड़ों की तरह दैन्य-दुःख-अशिक्षा के अभावों के कीचड़ में रेंगने-वाली यथार्थ और वास्तविकता की प्रतिकृति मनुष्यता आपको पसन्द है ?

तो, कवि के रक्त के आँसुओं से धुले स्वप्नों की वकालत करने की आवश्यकता नहीं है। कवि की वाणी में निःसन्देह ईश्वरीय संगीत बहता है : उसके हृदय के अजिर में दैवी प्रकाश आँख-मिचौनी खेलता है। उसके विषादसिक्त हृदय के सौन्दर्य-मधुर स्वप्नों से जीवन-मंगल तथा लोक-कल्याण की सृष्टि होती है। आइए, तर्कों, वादों के घृणित दलदल से बाहर निकलकर कवि के अग्निपंख सुनहले स्वप्न-बीजों को मानस में बोकर नवमानवता की, व्यापक मनुष्यत्व की हँसमुख जीवन्त फसल उगाइए और इस मानव-अज्ञान के अन्धकार में सोयी हुई जड़ धरती को मानव-आत्मा के जागरण के प्रकाश के जीते-जागते जीवन-सौन्दर्य के स्वर्ग में परिणत कर मानव-हृदय के प्रतिनिधि कवि के स्वप्नों को श्रद्धांजलि दीजिए। एवमस्तु !

मैं क्यों लिखता हूँ ?

मैं क्यों लिखता हूँ—यह प्रश्न मेरे जैसे व्यक्ति के लिए उतना स्वाभाविक नहीं जितना कि मैं क्यों न लिखूँ। जब लिखने को जी करता है, उसमें सुख मिलता है जो कि एक उपेक्षणीय वस्तु नहीं—तब कोई क्यों न लिखे ? किन्तु जागतिक ऊहापोहों के कारण कभी मेरे मन में भी यह बात आती है कि मैं वास्तव में क्यों लिखता हूँ। मेरा मन आज तक इस प्रश्न का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सका है, यद्यपि छोटे-बड़े बाहरी कारणों की खोज वह हमेशा ही करता रहा है। सबसे बड़ा उत्तर तो अपने ही लिए नहीं, सभी लेखकों के लिए इस प्रश्न का मुझे यह प्रतीत होता है कि मनुष्य जन्मतः ही एक सृजनप्राण व्यक्ति या सृजनशील प्राणी है। मनुष्य ही नहीं, अन्य जीव भी किसी-न-किसी सीमा में सृजन-चेतना से प्रेरित एवं अनुप्राणित रहते हैं। और मनुष्य तो, जोकि सृष्टि में सबसे विकसित प्राणी है, सृजन द्वारा अपने को आत्माभिव्यक्ति देने में विशेष आनन्द तथा सम्पूर्ण चरितार्थता का अनुभव करता है। मेरी दृष्टि में इस युग में, जिसे हम यन्त्र-युग कहते है, मनुष्यों के अवसाद, असन्तोष, निराशा तथा कुण्ठा का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि उन्हें रचना-प्रक्रिया द्वारा आत्माभिव्यक्ति तथा आत्मपूर्ति का अवसर नहीं मिलता। इस सिद्धान्त के आधार पर मैं जीवन-रचना को सबसे महत्त्वपूर्ण मानव-मूल्यों में मानता हूँ।

चाहे साहित्यकार हो या चित्रकार, मूर्तिकार अथवा कुम्हार वह लिखने, चित्र बनाने, कठोर पत्थर में प्रतिमा अंकित कर उसे मानवीय संवेदना से विद्रवित करने में अथवा चाक में अरूप मिट्टी को अनेक आकार-प्रकारों में सँवारने में जिस सुख तथा तन्मयता का अनुभव करता है वह निश्चय ही अनिर्वचनीय है। जो आत्मविस्मृति सृजन-क्रिया द्वारा सुलभ होती है वह किसी अन्य रूप से प्राप्त करना सम्भव नहीं है। सृजन-प्रवृत्ति मनुष्य को पूर्णरूपेण समाधिस्थ कर देती है, वह देह-मन-प्राण, भावबुद्धि, कर्म तथा आत्मिक एकाग्रता की समाधि होती है, जिसके रुपहले एकान्त

से मनुष्य सूक्ष्म शक्ति संचय कर अपनी कृति को अलौकिक सौन्दर्य, आनन्द तथा जीवन्त पूर्णता से मण्डित करता है। इसलिए उपर्युक्त प्रश्न का सबसे सन्तोषप्रद उत्तर मुझे यही प्रतीत होता है कि चूंकि मनुष्य तथा अन्य जीव अजेय सृजन-शक्ति के प्रतिनिधि हैं, इसी से वे सर्जना के लिए बार-बार अदृश्य रूप से प्रेरित होते रहते हैं।

किन्तु, यह तो हुआ एक सर्व-सामान्य तथा व्यापक उत्तर जिसका एक व्यक्तिगत पक्ष भी निश्चय रूप से हो सकता है। अतएव जब मैं इसे व्यक्तिगत रूप से देखकर अपने लेखन के सम्बन्ध में घटित करता हूँ तो वहाँ भी मुझे कोई पूर्णतः सन्तोषदायक उत्तर तो नहीं मिलता, पर हाँ, अनेक ऐसी अपने स्वभाव की प्रवृत्तियों तथा जीवन की परिस्थितियों की ओर मेरा ध्यान जाता है जिनका सम्भवतः मेरी सृजन-प्रेरणा से सम्बन्ध हो या मेरी लेखन-प्रक्रिया मे हाथ हो। वास्तव में, 'क्यों' एक अत्यन्त गूढ तथा भयानक प्रश्न है, मैं क्यों लिखता हूँ, संसार क्यों है, जीवन क्यों है, मनुष्य क्यों है, आदि ये सभी प्रश्न मनुष्य की बुद्धि को अन्धी गली में ले जाकर भटकाते रहे हैं। दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, अध्यात्म तथा प्राणि-शास्त्र आदि अन्य शास्त्र भी इस प्रश्न से भय खाते रहे हैं। सृष्टि क्यों है इसका उत्तर दर्शनशास्त्र न देकर सृष्टि क्या है, वह कैसे बनी, इन प्रश्नों का ही समीचीन उत्तर हमे दे सका है। इसी प्रकार अन्य चिन्तन-प्रधान शास्त्रों तथा विज्ञानों ने भी 'क्यों' की अन्धी गली में भटकना स्वीकार न कर 'क्या' और 'कैसे' की ही पटरियों पर अपने बोधयान को संचालित करने का श्रेय प्राप्त किया है। मैं भी इस अनबूझ पहेली के जटिल दार्शनिक पक्ष को छोडकर आपको अपनी जीवन-स्थितियों तथा मनोवृत्तियों की कुछ छोटी-मोटी बातें ही इस सन्दर्भ में बता सकूंगा जिन्होंने मुझे लिखने की ओर उन्मुख किया है और अब भी करती रहती हैं।

सबसे पहली बात तो यह है कि प्राकृतिक सौन्दर्य-स्थल हिमालय के अंचल में पैदा होने के कारण बचपन से ही मेरे भीतर एक सौन्दर्य-बोध अथवा सौन्दर्य-प्रेम की भावना पैदा हो गयी थी और हिमालय के सान्निध्य ने गम्भीर एकान्तप्रियता को भी मेरे स्वभाव का अंग बना दिया था। ये दोनों ही ऐसे तत्त्व, मेरी समझ में, हैं जो मनुष्य को अपनी सौन्दर्यदृष्टि को सृजन-प्रक्रिया द्वारा रूप-रेखाओं अथवा ध्वनि-छन्दों में सँवारने की ओर अग्रसर करते हैं। दूसरी प्रमुख बात, मैं सोचता हूँ, मेरे अन्तर्मुखी स्वभाव की भी देन इस दिशा में रही है। मेरे मझले भाई मेरे हमजोली-से रहे हैं, वे भी मेरे साथ उसी प्रकृति की गोद में खेले-कूदे और बढ़े हैं, पर उनका स्वभाव छुटपन से ही बहिर्मुखी होने के कारण उनका रुझान स्कूल के दिनों में खेलकूद की ओर तथा विश्वविद्यालय में पहुँचने पर राजनीति की ओर अधिक बढा और वे बराबर असहयोग-आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेते रहे हैं। इसीलिए मैं सोचता हूँ कि अन्तर्मुखी प्रवृत्ति भी लेखक बनने के लिए सम्भवतः एक आवश्यक उपादान है। बात यह है कि बाहर ही विचरनेवाला मन विश्व-जीवन की दैनन्दिन घटनाओं का ऐतिहासिक फोटोग्राफर भले ही बन सके, पर वह मनुष्य की अन्तरतम गूढ भावनाओं का चितेरा शायद ही हो सकता है—उसके लिए तो जीवन-सौन्दर्य का आन्तरिक आनन्द तथा गूढ़ अनिर्वचनीय रस का सूक्ष्म द्रष्टा

तथा गम्भीर भोक्ता होना ही शायद एक अनिवार्य शर्त है।

तीसरी बात मेरे सामने यह आती है कि कुछ बड़ा होने पर जब मैंने होश सँभाला तो मुझे अपने सामने जीवन की अनेक दिशाएँ खुली मिलीं—मैं एक सम्पन्न परिवार का प्राणी था, कोई भी राह मेरे लिए दुष्कर न थी। किन्तु तब भी मुझे जो सबसे अधिक चरितार्थता अपनी प्रतीत होती थी वह साहित्य का अध्ययन करने में, अनेकानेक कवियों की वाणी का रसपान कर उनके छन्दों की लय तथा भावों के संगीत में तन्मय होकर झूमने में, तथा नये-नये ग्रन्थों के झरोखों से मानव-जीवन तथा मन के नये सौन्दर्य के रूपों का निरीक्षण कर नयी रचना-दृष्टि प्राप्त करने में। मेरा संसार धीरे-धीरे मेरे अध्ययन-कक्ष के भीतर सिमटने लगा और एक नया ही विश्व, अनेक अद्भुत क्षितिजों की सम्भावनाएँ लिये हुए, मेरे हृदय में उदय होने लगा जिसकी सुन्दरता के सामने बाहर का जगत बिल्कुल ही फीका तथा अरोचक प्रतीत होने लगा। मुझे अपने भाइयों तथा परिवार के लोगों से इस राजयोग की साधना के लिए प्रोत्साहन मिलना तो दूर, बार-बार फटकार ही मिलती रही कि मैं चौबीसों घण्टे कमरे की घुटन में बन्द रहकर अपना स्वास्थ्य खो रहा हूँ—बात यह थी कि मैं छुटपन से ही बहुत दुबला-पतला था, माँ की अनुपस्थिति के कारण मेरा पालन-पोषण सम्भवतः सम्यक् रूप से नहीं हो सका था—तो इस सबसे भी मैं अब इसी परिणाम पर पहुँचता हूँ कि मैं सम्भवतः एक छोटे-मोटे लेखक के ही संस्कार लेकर पैदा हुआ था अन्यथा इस अनेक प्रकार के वैचित्र्य से भरे विशाल विस्तृत संसार में मुझमें केवल अपने भीतर पैठने तथा 'साहित्य संगीत कला विहीनः' न कहलाये जाने का ही कुतूहल सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण रूप धारण कर प्रकट न होता।

चौथी बात मेरे मन में यह आती है कि यदि विधि ने मुझे लेखक बनने के लिए न भेजा होता तो अपने जीवन में मुझे इतने उत्थान-पतन देखने को न मिलते। स्वयं अपने व्यक्तिगत जीवन में मैं राजा से रंक और फिर रंक से मनुष्य बना हूँ—मनुष्य, जितना कि आज की परिस्थितियों में बना जा सकता है। यद्यपि मेरे व्यक्तिगत जीवन-संघर्ष का भी, आत्म-चरितार्थता के लिए, मेरे लेखक बनने में बड़ा हाथ रहा है पर उसकी चर्चा मैं अधिक नहीं करूँगा। अपने युग में जो उत्थान-पतन मुझे देखने को मिले वही मेरे जैसे भावप्रवण, बुद्धिप्राण व्यक्ति को लेखक बनाने के लिए पर्याप्त शक्ति रखते हैं। मैं बीसवीं सदी के साथ ही पैदा होकर बड़ा हुआ हूँ। और बीसवीं सदी का जो महत्त्व मानव सभ्यता के इतिहास के लिए है, उस महत्त्व का अंशभागी इस शती का लेखक भी है। आज मैं वयोवृद्ध होकर इस विशाल जीवनोदधि के तट पर खड़ा उसकी उत्ताल तरंगों का उत्थान-पतन देख रहा हूँ। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश ग्रहण लग जाने से तिरोहित हो जाता है उसी प्रकार आज धरती की चेतना भी जैसे घोर ह्रास से आक्रान्त हो रही है। उसके अवचेतन गर्त जिस प्रकार अन्धकार उगल रहे हैं, आकाश उसी अनुपात में प्रकाश उलीच रहा है। समस्त सभ्यता, संस्कृति और मानव-इतिहास करवट बदल रहा है। मनुष्य का अतीत आज उसे लौह शृंखला की तरह जकड़े हुए है, उसके बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर उसे नये व्यापक मूल्यों में केन्द्रित होना है। सुदूर

क्षितिजों में जो नया अरुणोदय हो रहा है, आज मैं एक लेखक, एक कवि के नाते उसे अंजुलि में भरकर धरती के कोने-कोने में बखेरना चाहता हूँ। आज का लेखक या स्रष्टा एक छोटा-मोटा पैगम्बर, मनोभूमि का एक छोटा-बड़ा योद्धा तथा सेनानी है -- वह और कुछ हो ही नहीं सकता—उसे निश्चय ही इस युग के मानव-मंगल के पावक को, मानवप्रेम के अमृत को अपनी संवेदना के घट में भरकर विश्व-भर में वितरित करना है। यही इस युग का सत्य है, सर्जना का सत्य, लोक-रचना का सत्य तथा विश्वनिर्माण का सत्य है। सर्जना का सत्य युग का पथिक है, जन-मगल या विश्व-मंगल उसके योग की दिशा या ध्येय है—नये मानव-जीवन का सौन्दर्य इस शूल-फूलों की धरती पर उसका अखण्ड, अनन्त पथ है। स्वर्गीय गुप्तजी के शब्दों में थोड़ा हेर-फेर कर :

इस युग का ही जन्म महत् जन काव्य है
कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है।

—एवमस्तु !

मेरी लेखन-प्रक्रिया

लेखन-प्रक्रिया के अनेक आयाम होते है। लेखक या कवि क्यों लिखता है, यह बताना सम्भव नहीं है। दर्शनशास्त्र के पास भी क्यों का कोई उत्तर नही है, जब वह अपने से प्रश्न करता है कि यह सृष्टि क्यो है ? किन्तु सृष्टि कैसे रची गयी अथवा लेखक कैसे लिखता है, इसके उत्तर में कुछ अनुसन्धान करना सम्भव हो सकता है। प्रथम प्रश्न उठता है लेखक या कवि की प्रतिभा के सम्बन्ध में—किसी लेखक या कवि की प्रतिभा की क्या विशेषता है। व्यास, कालिदास या शेक्सपियर को युग-द्रष्टा, सौन्दर्य-स्रष्टा या नाटककार किन विशेष प्रतिभा-तत्त्वों ने बनाया ? व्यास की जीवनदृष्टि में तो इतनी गहराई, व्यापकता तथा ऊँचाई देखने को मिलती है कि उनके लिए संस्कृत के विद्वान् काव्य-पारखियों को कहना पड़ा—अचतुर्वदनो ब्रह्मा, द्विबाहुपरोहरि:, अभाललोचनः शम्भु: भगवान्बादरायण:। कालिदास प्रतिभा की दृष्टि से रसचेता एवं सौन्दर्यद्रष्टा रहे हैं, उसी प्रकार कहा जा सकता है कि शेक्सपियर की प्रतिभा मानव-स्वभाव के निगूढ वैचित्र्य को थाहने में मुख्यत: सफल हुई है। मानव स्वभाव के रहस्यो का वैसा पारखी तथा चितेरा कम ही देखने को मिलता है। यदि हम अपने ही युग में हिन्दी साहित्य के भीतर से देखें तो प्रसाद तथा प्रेमचन्द दोनों ही प्रतिभावान् स्रष्टा हुए—पर दोनों के स्वभाव, रुचि तथा सृजन के क्षेत्र में महान् अन्तर है। दोनों प्राय: एक ही युग-चेतना से अनुप्राणित रहे किन्तु दोनों के व्यक्तित्व, अन्तर्दृष्टि तथा मनस्तत्व अथवा अन्तर्वृत्ति में विभेद होने के कारण एक ने भारत के सांस्कृतिक अतीत का मन्थन कर महाकवि की दृष्टि से मानव-मानस का पुनर्निर्माण करने का प्रयत्न किया, दूसरे ने प्रसिद्ध उपन्यासकार की तरह अपने युग में व्याप्त लोकजागरण की चेतना को वाणी दी। इससे हम सहज ही समझ सकते हैं कि लेखन

प्रक्रिया को संचालित तथा नियन्त्रित करने में मुख्य हाथ लेखक की रुचि, स्वभाव तथा प्रतिभाजन्य अन्त:संस्कारों का रहता है जिसे हम उसकी विशेष दृष्टि कह सकते हैं, जिससे वह अपनी सृजन-प्रक्रिया के लिए विशिष्ट सामग्री चुनकर उसे अपनी कृति के रूप में संयोजित करता है। उदाहरणस्वरूप हम बर्नार्ड शॉ को भी ले सकते हैं। शॉ की अन्तर्दृष्टि शेक्सपियर की तरह मानव-स्वभाव की वैचित्र्य भरी गहराइयों में उतनी नहीं उतरी जितनी मन.स्थिति-विशेष के निरूपण में। शॉ ने अपने नाटकों में अनेक गम्भीर तथा प्रभावोत्पादक मन:स्थितियाँ उपस्थित की हैं। उसके पात्र उन विशेष मन स्थितियों के ही प्रतिनिधि रहे हैं और उनका कथानक भी मुख्यत: कुछ विशेष मन:स्थितियों पर ही आधारित रहा है। यह शॉ की अपनी विशेषता रही है, उनके नाटकों में शेक्सपियर की तरह पात्रों के स्वभावों तथा घटनाओं की टकराहट न होकर विचारों तथा आदर्शों की टकराहट अधिक मिलती है और वह अपनी कृतियों द्वारा युग-चिन्तन के लिए प्रभूत सामग्री अपने पाठकों तथा दर्शकों को देते हैं; यह सम्भवत: उनके युग का प्रभाव रहा हो। तो, जो दूसरी मुख्य विधायिनी शक्ति लेखक की सृजन-प्रक्रिया को निरूपित करती है वह है लेखक के युग तथा उसकी परिस्थितियों का प्रभाव। जिस प्रकार युग का प्रभाव लेखन-प्रक्रिया को व्यापकता प्रदान करता है और लेखक को आत्मनिष्ठा के कोष मे बाहर निकालकर उसे वस्तुनिष्ठता तथा यथार्थोन्मुखता की ओर अग्रसर करता है उसी प्रकार परिस्थितियों का प्रभाव उसके कृतित्व को एक निजता, निकटता तथा आंचलिक वैचित्र्य प्रदान करने में सहायक होता है। जब मैं अपनी सृजन-प्रक्रिया का विश्लेषण करता हूँ तो मुझे लगता है कि मेरी रचनाओं को मेरी परिस्थितियों की चेतना ने बहुत हद तक प्रभावित किया है। उदाहरणार्थ, में कूर्माचल में पैदा हुआ, और प्रकृति की रम्य क्रोड़ में आँख खोलने के कारण मेरे कृतित्व में प्राकृतिक सौन्दर्य की प्रधानता रही है। मेरे किशोर मन में सौन्दर्य के प्रति जो संस्कार पर्वत प्रदेश की उन्मुक्त प्रकृति ने संचित कर दिये वे अनिवार्य रूप से मेरी सृजन-क्रिया के अंग बन गये। और यह भी शायद पर्वत प्रदेश के एकान्त एकाग्र वातावरण ही का प्रभाव है कि मैं अधिक कल्पना प्रधान हूँ। अपने एकाकीपन की रिक्तता को भरने के लिए मैंने, अपने को दुहरा बनाकर, अपनी कल्पना ही को अज्ञात रूप से अपना साथी बना लिया। इसलिए आपको मेरी प्रारम्भिक रचनाओं में—पल्लव-गुंजन-काल तक—कल्पना का ही प्राधान्य मिलता है। किन्तु गुंजन-ज्योत्स्ना के बाद मेरा कल्पनाप्रधान दृष्टिकोण धीरे-धीरे वस्तून्मुखी बनकर जीवनयथार्थ की ओर आकर्षित होता रहा। यह सम्भवत: मेरे स्वभाव की परिणति या विशेषता रही हो। मैं आत्मनिष्ठ कभी नहीं रहा और कल्पनानिष्ठता से वस्तुनिष्ठता में उतर आना एक सहज स्वाभाविक प्रक्रिया है। क्योंकि जिसे हम जीवन यथार्थ या वस्तुबोध कहते हैं वह भी अधिदर्शन की दृष्टि से एक कल्पना ही है—काल-सापेक्ष, दिशा-अधिष्ठित कल्पना। जैसे-जैसे मेरे भीतर जीवन-मूल्य का विकास होता गया मेरी भावानुगामिनी कल्पना वस्तून्मुखी अथवा यथार्थोन्मुखी होती गयी। कुछ लोगों को बाह्य दृष्टि से इसमें एक विसंगति लगती है किन्तु मैं इसकी अन्त:संगति से भलीभाँति

परिचित हूँ और यह मेरे लिए एक सहज स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में ही सम्भव हो सका है।

कल्पनाशक्ति से परिचालित होकर मैंने जो रचनाएँ लिखी हैं उन्हें मैं भावना का विलास ही मानता हूँ, जैसा, 'परिवर्तन' को छोड़कर, मेरी अधिकांश पल्लव-काल की रचनाएँ हैं। उनमें प्राकृतिक सौन्दर्य चित्रण के तत्व हैं, पर तब मैं सौन्दर्य को मूल्य के रूप में नहीं ग्रहण कर सका था। सौन्दर्य-मूल्य कला की दृष्टि से भाव-विचार अथवा जीवन-मूल्य की अन्तिम परिणति है, और सौन्दर्य मे परिचालित होना एक बात है, सौन्दर्य-मूल्य से परिचालित होना दूसरी बात। सौन्दर्य को नवीन मूल्य देने की प्रक्रिया में मुझे इस युग के ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक यथार्थ का गम्भीर चिन्तन-मनन करना पड़ा। वास्तव में जिसे सामान्य अर्थ में यथार्थ कहते हैं, उसमें इस संक्रान्ति युग के अनेक ह्रास तथा विघटन के तत्व घुलमिल गये हैं, और इस यथार्थ को भी एक विशेष लेखक वर्ग आज अपने गद्य-पद्य साहित्य में वाणी देने का प्रयत्न कर रहा है। जहाँ तक इस ह्रासयुगीन विघटित यथार्थ के चित्रण का प्रश्न है, वह ठीक है; किन्तु उसी यथार्थ को पूर्ण मान लेना और नये जन्म ले रहे यथार्थ की सम्भावनाओं की ओर आँख मूंद लेना सचमुच ही प्रत्येक दृष्टि से घातक है। वास्तव में, जिसे साधारणत. ऐतिहासिक यथार्थ-बोध कहा जाता है वह भी अपने में एकांगी है, वह केवल समदिक् विकसित हो रही वास्तविकता को ही मानवजीवन की पूर्ण वास्तविकता मान लेता है, और उसकी सीमाओं मे परिचित नहीं है। नवीन सर्वांगीण वास्तविकता वही हो सकती है जिसमें नव युग के यथार्थ तथा आदर्श की भावनाएं पूर्णरूपेण संयोजित हों, जिसमें हम बाह्य यथार्थ को अन्तश्चैतन्य के प्रकाश में और अन्तश्चैतन्य को बाह्य विकास की सम्भावनाओं के अनुरूप नया मूल्य दे सकें। मेरी रचनाओं में इस प्रकार के प्रयत्न युगवाणी-ग्राम्या-काल से ही दृष्टिगोचर होने लगते हैं यद्यपि तब बाह्य वास्तविकता का आग्रह ही उनमें अधिक मिलता है। किन्तु जैसे-जैसे मेरे भीतर मूल्य की धारणा विकसित होती गयी मैंने उस बाह्य ऐतिहासिक वास्तविकता को एक भीतरी आयाम भी देने का प्रयत्न किया, इसके अनेक उदाहरण मेरी 'ग्राम्या' के बाद की कृतियों में मिलसकते है। जिसे मेरा स्वर्ण काव्य या चेतना काव्य कहा जाता है, उसमें जीवन की वास्तविकता को एक अन्तर्मूल्य देने के मेरे प्रयत्न स्पष्टत: दृष्टिगोचर होते हैं और यह निरपेक्ष भाव से स्वीकार किया जा सकता है कि जिस प्रकार मेरे युगवाणी-ग्राम्या काल में बाह्य जीवन अथवा राशि के प्रति अधिक आग्रह मिलता है उसी प्रकार मेरे स्वर्णकाव्य में—विशेषत: स्वर्णकिरण, उत्तरा में अन्तर्जीवन एवं गुणात्मक उन्नयन को अधिक महत्व दिया गया है। अतिमा तथा वाणी में मैं धीरे-धीरे इन दोनों दृष्टियों में अधिक सर्वांगीण संयोजन एवं सन्तुलन स्थापित करने की ओर अग्रसर हुआ हूँ और 'लोकायतन' में मैं जिस मानवमूल्य की एवं जीवनदृष्टि की खोज में पल्लव-काल के बाद प्रयत्नशील रहा हूँ, उसे अपनी क्षमता के अनुरूप अधिक समग्र दृष्टि से प्रतिष्ठित कर सका हूँ।

मूल्य की दृष्टि से भारतीय 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के आदर्श में रचना-प्रक्रिया के तीनों आयाम समन्वित मिलते हैं। जिस सौन्दर्य की आधार-

भूमि सत्य हो, अर्थात् जो सौन्दर्य जीवन की वास्तविकता में प्रतिष्ठित हो और जिसका गुण शिव अथवा लोकमंगल हो, निश्चयमेव, वही सौन्दर्य या कला-मूल्य सफल लेखन की कसौटी है और इसी कसौटी में कसी जाकर लेखन प्रक्रिया भी प्रौढ़ता प्राप्त कर लोकव्यापी सम्प्रेषणीयता से युक्त होकर निखर उठती है। हमारा युग वैश्वनिर्माण का युग है, इसमें प्रत्येक बुद्धिजीवी तथा कलाजीवी को, चाहे वह कितना ही प्रतिभासम्पन्न हो, मूल्यबोध के लिए निरन्तर संघर्ष करना पड़ता है। जागरणयुग के लेखक या चारण की तरह उसे पके-पकाये मूल्य सुलभ नहीं हो सकते जिन्हें वह नवीन रूप से स्थापित करे। इसके विपरीत उसे विगत विघटित होती हुई वास्तविकता के अन्धकार को टोहकर नये प्रकाश का रश्मिस्पर्श प्राप्त करना होता है और उसे नवीन वास्तविकता के रूप में संयोजित कर जीवनमूर्त करना होता है। इस युग में विशेषतः जबकि देश-काल सिमट-कर मनुष्य के हस्तामलकवत् हो गये हैं और विभिन्न देशों की संस्कृतियाँ, भावनाएँ, विचारधाराएँ तथा साहित्यिक मान्यताएँ परस्पर निकट सम्पर्क में आकर मनुष्य को अपने पिछले जीवन-अभ्यासों, नैतिक दृष्टिकोणों तथा सौन्दर्यरस-मूल्यों को अधिक व्यापक जीवन पट में संयोजित करने को बाध्य करती हैं वही रचनाकार जीवित रह सकता है जो युग-संघर्ष के भीतर से निरन्तर नये भू-जीवन-मूल्य को उपलब्ध कर उसे अपनी कृतियों में वाणी दे सके। इस विराट्वैश्व युग में ह्रास तथा निर्माण की, विघटन तथा विकास की, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य तथा विश्वसंगठन की, लोक साम्य तथा मानवीय एकता की इतनी विविधमुखी तथा परस्परविरोधी प्रतीत होनेवाली शक्तियाँ मानव-मन तथा विश्व-चेतना में कार्य कर रही हैं कि आज अनेक अवसर-वादी, यशःकांक्षी कलाकार तथा साहित्यकार इनमें से किसी एक पक्ष के हाथों बिककर उसी के प्रचार-प्रसार के लिए अपने आत्मनिष्ठ, स्वार्थसिद्ध जीवन को अर्पित कर, भीतर ही भीतर अनास्था, संशय, भय से ग्रस्त होकर, बाहर कलाबोध के नाम में प्रवंचना को तथा जीवनमूल्य के नाम में आत्मरुचि को महत्व दे रहे हैं। इनमें से अनेक अप्रबुद्ध पूंजीपतियों से साँठगाँठ भिड़ाकर, उनके काले धन के सहारे पत्रकारिता के आधुनिक विकसित साधनों का दुरुपयोग कर, दूसरे देशों की भावों-विचारों की लड़ाई अपने देश में लडकर चरितार्थता का अनुभव कर रहे है। किन्तु इस प्रकार की विकृतियाँ संक्रान्ति के युगों में सदैव ही लक्ष्यहीन मनुष्यों को ग्रस्त कर लेती हैं। आज के युग में रचना-प्रक्रिया एक सशक्त जीवन्त शक्ति के रूप में कार्य कर रही है और इस युग के राजनीतिक-आर्थिक आन्दोलनों से इस सांस्कृतिक मानस-मन्थन का कम महत्त्व नहीं है। जो युगप्रबुद्ध कलाकार लोकमंगल तथा नवीन मनुष्यत्व की गम्भीर प्रेरणा से अनु-प्राणित है, और नये मानव मूल्य को जीवनमूर्त करने के लिए अजस्र संघर्षरत हैं, उन्हीं की रचना-प्रक्रिया अतीत के ऊहापोहों को अतिक्रम कर भविष्य के लिए अपना अक्षय मूल्य रखती है, काल की रेती में आत्म-छलना के मृगजल के पीछे भटके शेष पदचिह्न स्वयं ही मिटकर आत्म-निष्ठ अस्तित्व की शून्यता में विलीन हो जायेंगे।

मेरी साहित्यिक मान्यताएँ—१

यदि मान्यताओं की दृष्टि से देखा जाये तो मेरा काव्य मुख्यतः मान्यताओं ही का काव्य रहा है। 'पल्लव' काल तक मेरी लेखनी कलापक्ष की साधना करती रही है। 'पल्लव' की भूमिका में मेरे कला-सम्बन्धी विचार व्यक्त हुए हैं, किन्तु उसके बाद की मेरी रचनाओं में इस युग के मान्यताओं-सम्बन्धी संघर्ष को ही वाणी मिली है। साहित्यिक मान्यताएँ जीवन की मान्यताओं से पृथक् नहीं हो सकतीं, अतएव साहित्यिक मान्यताओं के मूलों को खोजने के लिए लोकजीवन की व्यापक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना स्वाभाविक हो जाता है। युग की संक्रमणशील परिस्थितियों के कारण मेरा मन अनजाने ही इस युग की महान् विचार एवं भावक्रान्ति के भँवर में पड़ गया और उससे बाहर निकलने के लिए युगमानस का मन्थन करना तथा जीवन मूल्यों के सोपान पर आरोहण करना मेरे लिए अनिवार्य हो गया।

कुछ लोग कविदर्शन को तर्क की कसौटी में कसकर उसमें एक बाहरी संगति खोजते हैं और अपनी व्यावसायिक दृष्टि की परख में उसमें तरह-तरह के खोट निकालते हैं। ऐसे लोग निश्चय ही कविता का दुरुपयोग कर उससे अनुचित काम लेना चाहते हैं। कविदर्शन तर्कसम्मत नहीं, भावना तथा प्रेरणा-सम्मत होता है। तर्क बुद्धि के खड़े किये बौने अवरोधों को वह हँसते-हँसते लाँघ जाता है। यदि आप उसे अपनी भावना से ग्रहण करने तथा कल्पना का अंग बनाने में असमर्थ हैं तो वह आपकी पकड़ में नहीं आ सकता। बहुत लोग कल्पना के धन-संचरण को समझने में अक्षम होने के कारण उसके ऋण पक्ष पलायन ही को महत्त्व देते हैं। ऐसे लोगों के पास काव्य से संस्कार ग्रहण करने के लिए उपयुक्त मानसिकता नहीं होती। इन कठिनाइयों का ज्ञान होते हुए भी मुझे यह कहने में हिचक नहीं मालूम देती कि जीवन मूल्यों में दार्शनिक से भी गहरी अन्तर्दृष्टि कवि के पास होती है।

मेरे साहित्यिक मूल्यों की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति 'ज्योत्स्ना' नामक मेरे भावना रूपक में मिलती है जिसमें इस युग की खर्व वास्तविकता को अतिक्रम कर मेरी जीवन दृष्टि एक अधिक व्यापक तथा पूर्ण क्षितिज में मानवता के नवीन जीवन की अवतारणा करने का प्रयत्न करती है।

मानव-समाज के रूपान्तर की भावना का उदय मेरे मन में 'ज्योत्स्ना' काल ही में हो गया था। 'ज्योत्स्ना' में मनः स्वर्ग से अनेक नवीन सृजन शक्तियाँ भू-मानस पर अवतरित होती हैं। दूसरे शब्दों में ज्योत्स्ना, जो उस नाटिका की नायिका भी है—अनेक उच्चतम भावनाओं तथा आदर्शों को मानवीय परिधान पहनाकर उन्हें लोक मानस में मूर्तित करती है। भौतिक आध्यात्मिक समन्वय तथा रूपान्तरित भू-जीवन के मूल्यों की नींव —जिन्हें मेरी आगे की रचनाओं में अधिक पूर्ण अभिव्यक्ति मिल सकी है—मेरे मन में इसी काल में पड गयी थी। 'युगान्त' तक मेरी भावना में नवीन के प्रति एक आग्रह उत्पन्न हो चुका था जिसे मैंने 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण-पत्र हे स्रस्त ध्वस्त हे शुष्क शीर्ण' अथवा 'गा, कोकिल, बरसा पावक कण, रच मानव के हित नूतन मन' आदि रचनाओं में वाणी दी है। इस नवीन

भावबोध के सम्मुख मेरा 'पल्लव' युग का कलात्मक रूप-मोह पीछे छूटने लगा था। मेरा मन युग के आन्दोलनों, विचारों, भावों तथा मूल्यों के नवीन प्रकाश से ऐसा आन्दोलित रहा कि 'पल्लव-गुंजन' काल की सूक्ष्म कला-रुचि को मैं अपनी रचनाओं में बहुत बाद को परिवर्तित एवं परिणत रूप में, सम्भवतः, 'अतिमा'—'वाणी' के छन्दों में पुनः प्रतिष्ठित कर सका हूँ, जिनमें उसका विकास तथा परिष्कार भी हुआ है और उसमे कला-वैभव के साथ भाव-वैभव भी उसी अनुपात में अनुस्यूत हो सका है, जो 'पल्लव-गुंजन' काल की रचना में सम्भव न था।

'युगवाणी' और 'ग्राम्या' काल में अनेक नवीन सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण मेरे मन में उदय हुए हैं। इनमें मेरी कल्पना ने अनेक अनुद्घाटित नवीन भूमियों तथा क्षितिजों में प्रवेश किया है। वह केवल मेरे भावप्रवण हृदय का आवेग ज्वार था जो विगत युगों की भौतिक, सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक मान्यताओं से ऊब खीझकर, अपनी अबाध जिज्ञासा के प्रवाह में, अन्धरूढ़ियों के बन्धनों तथा निषेध वर्जनों के अवरोधों को लाँघता हुआ, पार्थिव अपार्थिव नवीन चैतन्य के धरातलों तथा शिखरों की ओर बढ़ता एवं आरोहण करता गया। वास्तव में वह आरोहण मेरे लिए स्वयं एक कलात्मक अनुभव तथा सांस्कृतिक अनुष्ठान रहा है। इन अनेक अनुभूतियों के क्षितिजों को पार कर 'स्वर्ण किरण' में मेरा मन एक व्यापक सामंजस्य की भूमि में पदार्पण कर सका है। उसके बाद की रचनाओं में वह भाव चैतन्य कभी भी मेरी आँखों के सामने ओझल नहीं हुआ है। सौन्दर्यबोध तथा भाव ऐश्वर्य की दृष्टि से 'उत्तरा' को मैं अपनी सर्वोत्कृष्ट रचनाओं में मानता हूँ। 'उत्तरा' के पद नव मानवता के मानसिक आरोहण की सक्रिय चेतना आकांक्षा से झंकृत हैं। चेतना की ऐसी क्रियाशीलता मेरी अन्य रचनाओं में नहीं मिलती। 'उत्तरा' के गीतों से ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जो युग मानव के भीतर नवीन जीवन आकांक्षा के उदय की सूचना देते हैं। अपनी रचनाओं से मैंने अपने युग के बहिरन्तर के जीवन तथा चैतन्य को नवीन मानवता की कल्पना से मण्डित कर वाणी देने का प्रयत्न किया है। आध्यात्मिकता के पैर मैंने सदैव पृथ्वी पर स्थिर रखे हैं। मानवता के स्वर्ग को मैंने भौतिकता के ही हृदय कमल में स्थापित किया है। आध्यात्मिकता के निष्क्रिय निषेधात्मक ऋण पक्ष की अवहेलना कर मैंने उसे भू-जीवन के विकास तथा जन मंगल का साधन बनाने का प्रयत्न किया है। मैंने भौतिक-आध्यात्मिक दोनों दर्शनों से जीवनोपयोगी तत्त्वों को लेकर, जड़ चेतन सम्बन्धी एकांगी दृष्टिकोण का परित्याग कर, व्यापक सक्रिय सामंजस्य के धरातल पर नवीन लोक जीवन के रूप में सर्वांगपूर्ण मनुष्यत्व अथवा मानवता का भाव-दर्शन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार मान्यताओं की दृष्टि से मैंने अपनी रचनाओं में जीवन-सत्य और जीवन-सौन्दर्य का उपयोग लोकजीवन मांगल्य के लिए ही करना काव्योचित समझा है। 'वाणी' की 'आत्मिका' शीर्षक रचना में मैं अपने मान्यताओं-सम्बन्धी दृष्टिकोण को अधिक परिपूर्ण अभिव्यक्ति दे सका हूँ।

मेरी साहित्यिक मान्यताएँ—२

सृजन प्रेरणा का संचालन मुख्यतः दो शक्तियाँ करती है : एक तो परिस्थितियों की चेतना—जिन व्यक्तिगत एवं सामाजिक परिस्थितियों तथा वातावरण में मनुष्य पलता है उनका प्रभाव उसके मनो-विन्यास पर पड़ना स्वाभाविक तथा अनिवार्य है—दूसरा व्यक्ति या सर्जक का स्वभाव तथा संस्कार भी उसकी सृजन-प्रक्रिया को प्रभावित किये बिना नहीं रहते। अत. यह साधारणतः कहा जा सकता है कि एक सफल साहित्यकार की रचना में युगबोध की छाप प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में अवश्य वर्तमान रहनी चाहिए और एक उच्चसाहित्यकार की तरह उसमें युग-परिस्थितियों के बोध को दिशा भी देने की शक्ति होनी चाहिए क्योंकि एक सच्चे कलाकार का मन अपने चतुर्दिक् के वातावरण में साँस लेनेवाले जन-साधारण से अधिक प्रबुद्ध तथा भावप्रवण होता है। किन्तु यदि किसी सर्जक की रचनाएँ युग परिस्थितियों के बोध से अछूती ही रहती हैं तो उसका कारण यह हो सकता है कि उसके अपने निजी संस्कार अत्यन्त प्रबल तथा मौलिक हैं और उसका जीवन-यथार्थ सम्बन्धी बोध भी अपने ही अन्तःसंस्कारों द्वारा प्रभावित है। पर अधिकतर किसी भी सर्जक की कृति में उपर्युक्त दोनों चेतनाओं का प्रभाव न्यूनाधिक मात्रा में अवश्य वर्तमान रहता है, इन चेतनाओं को हम वस्तुगत चेतना तथा भावगत चेतना भी कह सकते हैं।

वैसे किसी भी सफल एवं उच्चकोटि की रचना के लिए यह अनिवार्य नहीं कि वह युग परिस्थितियों के मूल्यों से प्रतिबद्ध हो अथवा अपनी ही अन्तर्दृष्टि या अन्तःसंस्कारों से प्रतिबद्ध हो। एक सफल तथा उच्च श्रेणी की साहित्य-सर्जना के लिए और भी विशेष प्रतिभाजनित गुणों की आवश्यकता होती है, उसमें अनेक ऐसी प्रच्छन्न शक्तियाँ भी, सम्भवतः, कार्य करती हैं जिनका विश्लेषण या बोध हो सकना सम्भव नहीं है। यदि किसी साहित्यिक में इन विशिष्ट प्रातिभ-प्रेरणाओं एवं गुणों का अभाव है तो वह समाज अथवा अपने प्रति प्रतिबद्धता के बावजूद भी उच्चकोटि का सिद्ध स्रष्टा नहीं हो सकता।

साहित्य के इतिहास में ऐसे भी युग आते हैं जब कि जीवन यथार्थ की प्रेरणा गौण हो जाती है और आन्तर अभिव्यक्ति ही मूल्य बन जाती है तथा बाहरी वातावरण का प्रभाव महत्त्वहीन हो जाता है। ऐसे युग आदर्शवादी युग होते हैं और बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित युग यथार्थवादी या वस्तुवादी युग कहलाते हैं। प्रकृति में हमें जिस द्वन्द्ववाद के दर्शन मिलते हैं उसके फलस्वरूप कभी स्थूल वस्तु-परिस्थितियों का संचरण प्राधान्य प्राप्त करता है और कभी सूक्ष्म भाव परिस्थितियों की चेतना। वस्तुजगत् का सत्य यदि जीवन को सामाजिक तथा नैतिक अनुशासन प्रदान करता है—जो कि उसके विकास के लिए परम आवश्यक है—तो भाव जगत् का सत्य वस्तुजगत् की परिस्थितियों को मानवीय मूल्य से मण्डित करता है।

उपर्युक्त चिन्तना के सन्दर्भ में जब मैं अपने कृतित्व का विश्लेषण करता हूँ तो मुझे उसमें अन्तर्हित जो मान्यताएँ मिलती हैं उसमें यथार्थ तथा आदर्श दोनों ही संचरणों का संयोजन मिलता है। वास्तव में जिसे हम

यथार्थ या आदर्श अथवा बाह्य या आभ्यन्तर कहते हैं वे एक ही सत्य के दो मुख हैं और सदैव अविच्छिन्न रूप से संयुक्त रहते हैं। आदर्श की पाद-पीठ भी यथार्थ ही होती है, वह जैसे उसी के कन्धे पर चढ़कर अपनी ऊर्ध्व-मुखी दृष्टि से अधिक दूर तक देखने में समर्थ हो सकता है, और यथार्थ को व्यापक अर्थ प्रदान कर उसका पथ निर्देशन करता है। यथार्थ का संचरण आदर्श को जीवन-मूर्त करने का प्रयत्न करता है। देश-काल की सीमाओं के भीतर से उसे आत्मसात् कर, उसे इतिहास की भूमिका पर प्रतिष्ठित करने में समर्थ होता है। यथार्थ या वास्तविकता को हम एक प्रकार से सामूहिक अवचेतन भी कह सकते हैं जिसमें युग-युग के जन-जीवन के परम्परागत संस्कार तथा उत्थान-पतनों से आन्दोलित एवं आलोक-अन्धकार से प्रेरित जीवन विकास सरणि के प्रभाव-चिह्न संचित होते हैं। विकास का अर्थ ही वस्तुतः यथार्थ की वेणी में आदर्श को बाँधने के प्रयास से सम्बन्ध रखता है। सभ्यता तथा संस्कृति का समस्त संघर्ष वास्तविकता को आदर्श का स्पर्श प्रदान कर अतीतोन्मुखी जन-मानस को भविष्योन्मुखी बनाने के अजस्र अश्रान्त प्रयत्नों में निहित होता है।

'पल्लव' काल तक मैं प्राकृतिक शोभा की पृष्ठभूमि से प्रेरित होकर कला तथा सौन्दर्य की साधना में मुख्यतः संलग्न रहा। उसके बाद ही मेरे मन में आन्तरिक संस्कारों के दबाव से जिस भाव-सौन्दर्य का विस्फोट हुआ उसे मैंने जीवन संस्कार के रूप में अपने 'गुंजन' के प्रगीतों तथा बाह्य रूप से 'ज्योत्स्ना' में सर्वप्रथम वाणी देने का प्रयत्न किया। 'ज्योत्स्ना' में मेरी सृजन-कल्पना ने परम्परागत जीवन की वास्तविकता को अतिक्रम कर एक नवीन विश्वजीवन के आरोहण की भूमिका को अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है। 'ज्योत्स्ना' की मानवता मेरी अन्तर्मुखी दृष्टि की उपज है, उसमें परिस्थितियों की चेतना का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं मिलता। आगे चलकर परिवेश तथा वातावरण के दबाव से उस दृष्टि को 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' के धरातल पर अवरोहण करना पड़ा। तब मेरी जीवन-परिस्थितियाँ पर्याप्त बदल गयी थीं और मैं नगरों के सम्पर्क से दूर गाँवों में रहने लगा था। वह सन् '३२ से '३८ तक का समय था। देश में स्वतन्त्रता का संग्राम तब दूसरे दौर से गुजर रहा था। ग्रामों के अभाव एवं अशिक्षाग्रस्त जीवन से मेरी अन्तर्मुखी दृष्टि को पहला प्रबल धक्का लगा। मनुष्य के भीतर उच्च संस्कार एवं नये भाव-सत्य को प्रतिष्ठित करने के लिए मुझे वस्तु-सत्य की भी अनिवार्य रूप से आवश्य-कता प्रतीत होने लगी। 'ज्योत्स्ना' की सांस्कृतिक चेतना का स्वप्न मानव-जीवन में अवतरित होने के लिए एक नयी ऐतिहासिक वस्तु-पीठिका खोजने लगा और स्वभावतः ही मेरा ध्यान इस युग के ऐतिहासिक दर्शन तथा विज्ञान की ओर अधिकाधिक आकर्षित होने लगा। मेरे मस्तिष्क के पीछे छिपा हुआ इतिहास-तत्त्व जैसे बराबर मुझे यह संकेत करने लगा कि उन्नत मानवीय-जीवन की प्रतिष्ठा केवल विकसित संस्कारों या देव-संस्कारों के बल पर सम्भव नहीं हो सकती। उसके लिए जीवन की बाह्य पीठिका को भी परिवर्तित करने की नितान्त आवश्यकता है। इस प्रकार मेरे भीतर जड़-चेतन मूल्यों, आध्यात्मिक भौतिक मूल्यों तथा सांस्कृतिक ऐतिहासिक मूल्यों सम्बन्धी धारणा स्वतः ही बदलने लगी और मुझे उनमें

'वागर्थाविव' एक अविच्छिन्न एवं अखण्ड सत्य का बोध मिलने लगा। उस समय के मेरे अध्ययन-मनन ने भी इस दृष्टि की सम्पुष्टि की और इसका प्रभाव मेरे कला तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी मूल्यों पर भी अबाध रूप से पड़ा।

कला को अब कला के लिए महत्त्व देना सम्भव नहीं हो सका। कला के रंगगन्धों की पखड़ियाँ किस देवता के चरणों पर अर्पित की जायें, किस ज्ञात-अज्ञात मूल्य की अभिव्यक्ति के रूप में उनकी सार्थकता चरितार्थ हो सकती है, यह प्रश्न मन को निरन्तर मन्थित करने लगा। 'ग्राम्या' तथा 'युगवाणी' में युगदेवता का पाद-पीठ प्रस्तुत करने के उपरान्त उसके षोडश कलापूर्ण व्यक्तित्व की खोज के लिए हृदय आतुर रहने लगा। मन की खोज प्राय: समाप्त होने पर हृदय की खोज के समारम्भ का युग उदय हुआ। नये जीवन-मूल्य के पीछे एक अनिर्वचनीय सत्य की उपस्थिति प्रतीत होने लगी, जो वैज्ञानिक युग की नयी भौतिक पीठिका पर नये चैतन्य के सौन्दर्य-चरण रखे खड़ा दिखायी देने लगा। 'ग्राम्या' लिखने के बाद नये देवता की शोध में मेरे छ:-सात साल के अध्ययन-मनन ने मेरे भीतर इस नये दृष्टिबोध की परिपुष्टि की।

'स्वर्णकिरण' से लेकर 'वाणी' तक की रचनाएँ इसी दृष्टिबोध की देन हैं। इन रचनाओं में मैंने अपनी नवीन अन्तर्दृष्टि को विश्व-जीवन के विभिन्न क्षेत्र तथा अंगों पर डाला है। मेरे काव्यरूपकों में भी इसी दृष्टि को अभिव्यक्ति मिली है। इस दृष्टि की तुलना मैं उस सुनहले सेतु से करूँगा जिसने आध्यात्मिक-भौतिक को, ऐहिक-पारलौकिक को, स्वर्ग-पृथ्वी को तथा ईश्वर और मनुष्य को अथवा भागवत जीवन तथा भू-जीवन को एक ही चैतन्य के अविच्छिन्न आलिंगनपाश में बाँधकर उन्हें सदैव के लिए संयुक्त तथा अभिन्न कर दिया है; जिसने मध्ययुगों के वैराग्य, त्याग तथा निषेध-जनित मूल्यों को अतिक्रम कर एवं प्रवृत्तियों का परिष्कार कर जीवन-विकास को एक सर्वांगीण एवं समग्र पद्धति के रूप में स्वीकार किया है। इस दृष्टि का विकास मेरी रचनाओं में 'स्वर्णकिरण' से लेकर 'अतिमा' तथा 'वाणी' तक क्रमश: होता गया है। 'ज्योत्स्ना' की अन्तश्चेतन दृष्टि इस युग की कविताओं में, जिसे मेरी कविता का स्वर्णयुग कहते हैं, अधिक सांगोपांग तथा जीवनमांसल बन सकी है। मानव एकता के सांस्कृतिक-आध्यात्मिक मूल्य का सामंजस्य लोक-समता के ऐतिहासिक मूल्य से स्थापित करना सम्भव हो सका है। इस युग की अनेकानेक विकृतियों का संस्कार उपर्युक्त नयी जीवनदृष्टि को अपनाने से मेरे लिए सम्भव हो सका है। इस युग की रचनाओं को मैं अपनी काव्य-साधना की सिद्धि का एक महत्त्वपूर्ण सोपान मानता हूँ। इन समस्त कृतियों में कला-सौन्दर्य का उपयोग जीवन की परिपूर्णता तथा परिष्कार को अभिव्यक्ति देने के लिए किया गया है।

'लोकायतन' तथा उसके बाद की रचनाओं में मैंने इस दृष्टि को और भी व्यापक तथा सहज बनाकर युग-जीवन के आँचल में बाँधने का प्रयत्न किया है। 'लोकायतन' की समस्त जीवन-साधना राग-भावना की साधना के स्तर पर अवतरित होकर स्त्री-पुरुष के जीवन का अभिन्न अंग बन जाती है। विश्व-जीवन के विकास तथा उन्नयन के लिए इससे सरल, सरस तथा सहज ही ग्राह्य पथ मेरी दृष्टि में दूसरा नहीं है, जिसमें व्यक्ति

विश्लेषण-संश्लेषण के अगणित तर्क-जटिल गलियों में न भटककर एवं सौन्दर्य, प्रेम, आनन्द और आलोक के सहज बोध के प्रति समर्पित होकर लोकजीवन के अभ्युदय तथा मंगल के लिए विस्तृत तथा प्रशस्त राजमार्ग खोल देती है। जिस प्रकार सीताराम-केन्द्रिक वैयक्तिक राग भावना कृष्ण-युग में राधाकृष्ण-जनित व्यापक आयाम ग्रहण कर सकी है उसी प्रकार 'लोकायतन' में युग्म प्रीति के प्रति मूल्यजनित भावना अधिक परिष्कृत तथा यथार्थमूलक बनकर और भी मानवीय तथा जीवन-मूर्त हो सकी है।

अपनी वैयक्तिक जीवन-साधना को विश्व-जीवन-साधना का अंग बनाकर मैं जिस विकासशील परात्पर प्रकाश का स्पर्श पा सका हूँ उसी के ऐश्वर्य को मैं अंजलि भर-भरकर समय-समय पर अपनी साहित्यिक मान्यताओं के रूप में उड़ेल सका हूँ।

मेरी कविता का परिचय

मैं प्रकृति की गोद में पला हूँ। मेरी जन्मभूमि कौसानी कूर्माचल की पहाड़ियों का सौन्दर्यस्थल है, जिसकी तुलना महात्मा गांधी ने स्विट्जरलैण्ड से की है, यह स्वाभाविक था कि मुझे कविता लिखने की प्रेरणा सबसे पहले प्रकृति से मिलती। मेरी प्रारम्भिक कविताएँ प्राकृतिक सौन्दर्य-दर्शन से प्रभावित हैं, जिनमें मुख्यतः 'वीणा' और 'पल्लव' की रचनाएँ हैं। प्रकृति अनेक मनोरम रूपों में मेरे किशोर काव्यपट में प्रकट हुई है और उससे मुझे सदैव लिखने की प्रेरणा मिली है। मैं छुटपन से ही अत्यन्त भाव प्रवण तथा गम्भीर प्रकृति का रहा हूँ। मैं अपने साथियों के साथ बहुत कम खेला हूँ, मैंने अपना अधिकांश समय एकान्त में अपने ही साथ बिताया है। पुस्तकों का अध्ययन तथा उन पर मनन-चिन्तन करना मुझे सदैव ही प्रिय रहा है, जिसका प्रभाव मेरे लिखने पर भी यथेष्ट पड़ा है। परिणामतः 'पल्लव' के अन्तर्गत 'परिवर्तन' जैसी गम्भीर कविता भी मैं चौबीस वर्ष की आयु में ही लिख सका हूँ। इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक देश का कवि, चिन्तक या कलाकार अपने देश की बाहर-भीतर की परिस्थितियों से ज्ञात-अज्ञात रूप से प्रभावित होता है। हमारा देश सदियों से पराधीन रहा है जिसके कारण हमारे जीवन तथा मन में एक गहरा विषाद घिरा रहा है। इस गहरे विषाद को मेरे समकालीन सभी कवियों ने वाणी दी है। 'गुंजन' की रचनाओं तक मेरे मन में भी अपने देश की परिस्थितियों का दबाव रहा है। मेरे प्रणयन-काल में राष्ट्रीय जागरण की भावना वृद्धि पाने लगी थी और गांधीजी के नेतृत्व में स्वतन्त्रता का युद्ध भी बल पकड़ने लगा था। हमारा स्वतन्त्रता का युद्ध हमारे देश की सांस्कृतिक परम्परा के अनुरूप ही था, उसने अहिंसात्मक रूप ग्रहण किया। इस प्रकार हमारे देश का राजनीतिक जागरण साथ ही साथ सांस्कृतिक जागरण भी रहा है।

अपने देश के राजनीतिक-सांस्कृतिक जागरण से प्रभावित होकर मैंने अनेक रचनाएँ कीं, जिनमें 'ज्योत्स्ना' नामक मेरा भावरूपक मुख्य है।

'ज्योत्स्ना' में मैंने नये सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन का चित्रण किया है और मानव-जीवन तथा विश्व-जीवन को छोटे-मोटे देश-जातिगत विरोधों से ऊपर एक व्यापक धरातल पर संवारने का प्रयत्न किया है। 'ज्योत्स्ना' सन् १९३१ की रचना है, उसके बाद अपने देश के स्वातन्त्र्य युद्ध के जागरण तथा मार्क्सवाद के अध्ययन के फलस्वरूप मैंने 'युगान्त', 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में संकलित अनेक कविताएँ लिखीं जिनमें मैंने एक ओर अपने देश की मध्ययुगीन परम्पराओं के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठायी और दूसरी ओर आर्थिक दृष्टि से मार्क्सवादी विचारधारा का समर्थन किया। मध्य युगों से हमारे देश में जीवन के प्रति जो एक निषेधात्मक वैराग्य तथा नैराश्य की भावना फैल गयी है उसका मैंने अपने इस युग की रचनाओं में घोर खण्डन किया है। इस काल की रचनाओं में मैंने जीवन के बाह्य यथार्थ को वाणी दी है, वह बाह्य यथार्थ जिसका सम्बन्ध मुख्यत: मनुष्य के भौतिक-सामाजिक जीवन से है। इस युग में मेरी सामन्ती यथार्थ की भावना अधिक विस्तृत तथा विकसित हुई है।

'ग्राम्या' सन् १९४० की रचना है। सन् '४० से '४७ तक द्वितीय विश्वयुद्ध की परिस्थितियो के कारण मेरे मन का एक नया आयाम विकसित हुआ। मुझे प्रतीत होने लगा कि स्थायी विश्वशान्ति तथा लोक-मंगल के लिए केवल बाह्य जीवन के यथार्थ की धारणा को बदलना ही पर्याप्त नही होगा, उसके लिए मानवता को विस्तृत सामाजिक-आर्थिक धरातल के साथ ही एक व्यापक उच्च सांस्कृतिक धरातल के विकास की भी आवश्यकता पड़ेगी; जिसके लिए हमें बाहरी मूल्यों को व्यापक बनाने के साथ ही भीतरी मूल्यों को भी बदलना पड़ेगा, वे भीतरी मूल्य जिनके मूल मनुष्य के जाति, धर्म, राष्ट्रगत नैतिक, सास्कृतिक तथा सौन्दर्य-विषयक संस्कारों तथा रुचियों में हैं। 'स्वर्णकिरण' के बाद की मेरी समस्त रचनाओं में मानव-जीवन के प्रति इसी व्यापक तथा सर्वांगीण दृष्टिकोण को अभिव्यक्ति मिली है। और जैसा कि मैंने 'चिदम्बरा' की भूमिका में भी लिखा है, मेरा उत्तर काव्य प्रथमत: इस युग के महान् संघर्ष का काव्य है। 'युगवाणी' से 'वाणी' तक मेरा समस्त काव्य युग-मानव एवं नव मानव के अन्तरतम संघर्ष का काव्य है।···दूसरे शब्दों में, मेरा काव्य भू-जीवन, लोक-मंगल तथा मानव-मूल्यों का काव्य है, जिसमे मनुष्यत्व और जनगण दो भिन्न तत्त्व नहीं, एक-दूसरे के गुण-राशि-वाचक पर्याय हैं।

हमारा युग ऐतिहासिक दृष्टि से एक महान् संक्रान्ति का युग है। इस युग में विज्ञान ने मानव के जीवन-सम्बन्धी दर्शन तथा दृष्टिकोण में घोर उथल-पुथल पैदा कर दी है। भौतिक विज्ञान ने जीवन की समदिक् भौतिक परिस्थितियों को अत्यन्त सक्रिय बना दिया है। इस बाह्य सक्रियता के अनुपात में मनुष्य की भीतरी मानसिक-परिस्थितियाँ, उसके विश्वास, आस्थाएँ तथा सस्कार नवयुग के अनुरूप विकसित नही हो सके हैं। प्राचीन जीवन-प्रणाली के अभ्यासों से उसका मन मुक्त नही हो सका है। साथ ही विज्ञान उसके ऊर्ध्व मान्यताओं सम्बन्धी दृष्टिकोण को, जो पहले धर्म तथा अध्यात्म का क्षेत्र रहा है—विकसित या उर्वर बनाने में सहायक नहीं हो सका है। इसलिए आज विचारकों एवं मानव-जीवन के उन्नायकों

के सामने अनेक समस्याएँ खड़ी हैं। विश्व की राजनीतिक-आर्थिक परिस्थितियों में भी इस युग में अभी सन्तुलन स्थापित नहीं हो सका, तत्सम्बन्धी विषमताएँ तथा विरोध ही दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। ऐसी शीतयुद्ध की परिस्थिति में आज जो पंचशील तथा सह-अस्तित्व के सिद्धान्त तथा आदर्श हमारे सामने उदय हो रहे है वे भी इतने सशक्त तथा प्रेरणाप्रद नही प्रतीत होते कि युगजीवन को आज के संक्रान्तिकालीन संकट से उबारकर मनुष्यत्व की प्रगति को आगे बढ़ाना सम्पन्न हो सके। ऐसे घोर वैषम्य के युगों में मानव जीवन के रथ को भू-पथ पर अक्षत रख सकने के लिए मैंने अपनी 'अतिमा' तथा 'वाणी' की रचनाओं में कुछ समाधान उपस्थित करने का प्रयत्न किया है जो मेरे कवि-मन के अन्तःस्फुरण है। यदि वे लोकमंगल तथा मानवप्रेम की भावना की अभिवृद्धि करने में सहायक हो सके तो मैं अपने कवि-कर्म को सफल समझूँगा। आज के कवि तथा कलाकार का मैं यह कर्तव्य समझता हूँ कि वह विश्व मानवता के पथ को युग जीवन के वैषम्यों तथा विरोधों से मुक्त कर, इस पृथ्वी के देशों को एक-दूसरे के निकट लाकर, उन्हें चिरस्थायी मानव प्रेम, जीवन-सौन्दर्य तथा लोक-कल्याण की ओर अग्रसर कर सके। 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्णधूलि', 'उत्तरा', 'रजतशिखर', 'शिल्पी', 'अतिमा', 'सौवर्ण' तथा 'वाणी' की रचनाओं में मैने अपनी क्षमता के अनुरूप अपनी कविता के चरण इसी दिशा की ओर बढाने का प्रयत्न किया है।

मेरी कविता का पिछला दशक

रचना प्रक्रिया तथा कृतित्व की दृष्टि से मेरा पिछला दशक—अर्थात् सन् उनचास से सन् उनसठ तक का समय एक प्रकार से उर्वर ही रहा है। इस दशक की सबसे बडी विशेषता मेरी दृष्टि मे, यह रही कि मेरे मन मे जो अनेक प्रकार तथा अनेक स्तरों की विचारधाराएँ—जो अनेक अंशों में विभिन्न, परस्परविरोधी तथा परस्पर पूरक भी रही हैं—वे मेरी इस काल की कृतियों के व्यापक सामंजस्य तथा सन्तुलन ग्रहण कर मेरे मानसिक क्षितिज को विस्तृत, अधिक स्पष्ट, तथा भावग्राही बना सकी हैं। इस दशक की समाप्ति पर अब मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है कि जिस भावना-भूमि पर विचरण करने के लिए मेरा हृदय सदैव से, ज्ञात-अज्ञात रूप मे, संघर्ष तथा प्रयत्न करता रहा है उस भाव-भूमि की उपलब्धि, विचारों की इन प्रणालियों से गुजरे बिना मेरे लिए सम्भव न हो सकती—जिनके संवेदन का बोध तथा अनुभव मैं एक प्रकार से 'पल्लव' युग की रचनाओं के बाद 'गुंजन-ज्योत्स्ना' से प्रारम्भ कर क्रमशः 'वाणी' तक की रचनाओं में व्यक्त करता आया हूँ। 'चिदम्बरा' की भूमिका को समाप्त करते हुए मैंने इस ओर संकेत किया है। इस मानसिक परिणति का उपयोग, सम्भवतः मेरे लिए भविष्य में करना सुलभ हो सके।

सन् उनचास में 'उत्तरा' प्रकाशित हुई थी। 'ग्राम्या' तथा 'उत्तरा' के बीच का समय—जिसमें यथेष्ट विचार तथा भाव-मन्थन के बाद

'स्वर्णकिरण' तथा 'स्वर्णधूलि' का प्रणयन हुआ—मेरे लिए बड़ा संकटापन्न रहा। व्यक्तिगत जीवन-सम्बन्धी कठिनाइयों तथा संघर्ष के अतिरिक्त इस युग में मेरे कवि के अस्तित्व तथा कृतित्व के प्रति प्रबल विरोध की बाढ़ आयी। अनेक रूपों मे मेरे विचारों तथा भावों की अतिरंजित तथा विकृत व्याख्याएँ की गयी। यहाँ तक कि 'युगवाणी-ग्राम्या' की पूर्व स्वीकृत एवं प्रतिष्ठित जीवन-मान्यताओं का भी एक दल की ओर से उन्मूलन करने का प्रयत्न किया गया है। मेरी कवि-कल्पना को तब राजनीतिक मतवाद के अन्ध कट्टर चट्टान से टकराना पड़ा। 'उत्तरा' की भूमिका इसी क्लिष्ट पृष्ठभूमि को सामने रखकर लिखी गयी थी। 'उत्तरा' की रचनाओं के सम्बन्ध में मैंने 'चिदम्बरा' की भूमिका में इन थोड़े-से शब्दों में लिखा है : 'उत्तरा' को सौन्दर्यबोध तथा भाव-ऐश्वर्य की दृष्टि से, मैं अब तक की अपनी सर्वोत्कृष्ट कृति समझता हूँ। उसके गीत, अपने काव्य-तत्त्व तथा भाव-चैतन्य की ओर, समय आने पर, पाठकों का ध्यान आकर्षित कर सकेंगे। 'उत्तरा' के पद नव 'मानवता' के मानसिक आरोहण की सक्रिय चेतन आकांक्षा से झंकृत हैं। चेतना की ऐसी क्रियाशीलता मेरी अन्य रचनाओं में नहीं मिलती है। यथा—

'स्वप्न ज्वाल धरणी का अंचल, अन्धकार उर रहा आज जल।'
या—'स्वप्नों की शोभा बरस रही रिमझिम झिम अम्बर से गोपन'
या—'कैसी दी स्वर्ग विभा उड़ेल तुमने भू-मानस में मोहन।' इत्यादि ऐसे अनेक पद 'उत्तरा' में है, जो युग-मानव के भीतर नवीन आकांक्षा के उदय की सूचना देते हैं। 'कहाँ बढाते भीरु जन चरण, बाहर का रण हुआ समापन'—क्रिया के ऐसे भूतकालिक प्रयोग मैंने 'उत्तरा' में भविष्यवाचक, अन्तश्चेतन अर्थ में किये हैं। 'उत्तरा' के बाद मैंने 'क्रमशः' नामक एक उपन्यास लिखने का श्रीगणेश किया था और उसके कई परिच्छेद लिख भा चुका था, किन्तु उम अपनी अन्तिम कृति के रूप में प्रकाशित करवाने के विशेष अभिप्राय से मैंने उसे आगे लिखना स्थगित कर दिया। सन् पचास में रेडियो से सम्बद्ध होने से मेरी भावना तथा विचारधारा मुक्तक प्रगीतों में अभिव्यक्त न होकर काव्यरूपकों के रूप में प्रस्फुटित हुई। सन् '५० में मैंने 'विद्युत्वसना', 'शुभ्र पुरुष' तथा 'उत्तरशती' नामक तीन काव्यरूपक लिखे जो आंशिक रूप से भारत भारती कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रसारित हुए। इन रूपकों में मैंने मुख्यतः युग की समस्याओं को ही काव्यात्मक वाणी देने का प्रयत्न किया है। प्रगीतों की तुलना में इनमें मेरी विचार तथा भावना-धारा अधिक सम्बद्ध तथा व्यवस्थित रूप में व्यक्त हो सकी है। 'विद्युत् वसना' नामक रूपक स्वतन्त्रता दिवस के अवसर पर लिखा गया था। भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति को विश्व-मानवता के विकास का एक अंग मानकर मैंने इस रूपक में राष्ट्रों की स्वातन्त्र्य भावना को विश्व-एकता या मानव-एकता के अधीन रखना भू-जीवन के लिए उपयोगी बतलाया है। 'शुभ्र पुरुष' नामक रूपक महात्माजी के जन्म-दिवस के अवसर पर लिखा गया था जिसमें महात्माजी के व्यक्तित्व तथा कृतित्व को युग की श्रद्धांजलि अर्पित की है। 'उत्तरशती' सन् '५० के समापन पर लिखी गयी थी, इसमें शताब्दी के पूर्वार्द्ध की समस्याओं तथा संघर्षों का आकलन कर उसके उत्तरार्द्ध की प्रगति की

दिशा की ओर इंगित करते हुए, विश्वशान्ति की छाया में नवीन लोक-जीवन-रचना की आकांक्षा प्रकट की गयी है। सन् '५१ के प्रति कहा है :

'स्वागत, नूतन वर्ष, शिखर तुम विंश शती के
लाओ नूतन हर्ष, नवागन्तुक जगती के!
कब से अपलक नयन प्रतीक्षा करते भू जन,
विश्व शान्ति में लोक क्रान्ति हो परिणत नूतन।'

सन् '५१ में मैंने 'फूलों का देश', 'रजतशिखर' तथा 'शरद चेतना' नामक तीन रूपक लिखे। 'फूलों का देश' सांस्कृतिक चेतना का रूपक है। इसमें विज्ञान और अध्यात्म वस्तु और आदर्श के समन्वय का महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है और विज्ञान और अध्यात्म को एक-दूसरे के पूरक के रूप में मानव-जीवन के अभ्युदय के लिए उपयोगी बतलाया है। इसी प्रकार 'रजतशिखर' में मैंने मनोविश्लेषकों के उपचेतन-निश्चेतन मानसिक स्तरों के संघर्ष को उपस्थित कर आज के जैव विज्ञान का उपयोग मानव जीवन के संस्कार के लिए प्रस्तुत किया है। 'शरद चेतना' प्रकृति-सौन्दर्य का गवाक्ष है।

सन् '५२ के काव्य रूपकों में मैंने अधिक गम्भीर समस्याओं को उपस्थित किया है। 'शिल्पी' में कलाकार के कला-सम्बन्धी युगबोध का संघर्ष अंकित है। जनजागरण के रूप में सक्रिय, धरती के विरोधी तत्त्वों से जड़ीभूत उपचेतन को किस प्रकार मानव-एकता के रूप में ढाला-सँवारा जाय, यही 'शिल्पी' की व्यापक समस्या है। 'शिल्पी' अपने कला-कक्ष में एक अनगढ़ पाषाण फलक के साथ छेनी से लड़ता हुआ अन्त में उसमें नवीन मानव-चेतना की सजीव मूर्ति अंकित कर पाता है। और सुख की साँस लेकर कहता है—'ईश्वर, अब जाकर पाषाण सजीव हो सका'। 'ध्वंस शेष' की समस्या और भी गम्भीर तथा जटिल है। उसमें अणु-ध्वंस का भयावह चित्र उपस्थित करने के साथ ही, इस सर्वग्रासी विनाश के कारणों का विश्लेषण तथा नवीन भूजीवन के निर्माण की दिशा का आभास दिया गया है। मानव-चेतना के नवीन आरोहण का बोध प्राप्त कर लोकतन्त्र का प्रतिनिधि कहता है :

'लोकतन्त्र का यह अनुभव अब,—सामूहिकता
निगल नहीं सकती अन्त.स्थित मनुज सत्य को।'

'अप्सरा' सौन्दर्य चेतना का रूपक है। आज के युग-संघर्ष के सन्देह, अनास्था, कुण्ठा आदि के घने कुहासे के भीतर से किस प्रकार नवीन सौन्दर्य-चेतना अपने सुनहले आँचल में नवीन मूल्यों तथा आस्थाओं को लेकर जन्म ले रही है। 'अप्सरा' में एक भावुक कलाकार के मानसिक द्वन्द्व के रूप में इसी सत्य का उद्घाटन हुआ है। मेरे काव्यरूपकों में सबसे महत्त्वपूर्ण 'सौवर्ण' है जो सन् '५४ में लिखा गया था। इसमें मैंने हिमालय की पृष्ठभूमि में—जो मानव-जाति के सांस्कृतिक संचय का प्रतीक है—नवयुग की जीवन-मान्यताओं के संघर्ष के भीतर से 'सौवर्ण' के व्यक्तित्व में नवीन मानव की अवतारणा करने की चेष्टा की है। इसका क्रान्त द्रष्टा विगत युगों के निष्क्रिय आध्यात्मिक दृष्टिकोण की ओर ध्यान आकर्षित हुए कहता है :

देख रहा मैं, बरफ बन गया, बरफ बन गया,
बरफ बन गया, पथराकर, जमकर, युग-युग का
मानव का चैतन्य शिखर, नीरव, एकाकी,
निष्क्रिय, नीरस, जीवन-मृत—सब बरफ बन गया।
चट्टानों पर चट्टानें सोयी शतियों की
जमे फलक पर फलक शवों-से श्वेत रक्त के,
अट्टहास भरते जो नीरव खीस काढ़कर
महाकाय कंकालों के अवशेष पुरातन!—इत्यादि

'अतिमा' मेरी सन् '५३-५४ की कविताओं का संग्रह है जिसमें 'जन्म-दिवस', 'शान्ति और क्रान्ति', 'यह धरती कितना देती है', तथा 'सन्देश' आदि रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। 'अतिमा' तथा 'वाणी' में—जो सन् '५७ की रचना है—मेरी विचार तथा भावना-धारा अधिक प्रस्फुटित तथा प्रौढ़ होकर अधिक सरल तथा सशक्त शैली में व्यंजित हो सकी है। 'वाणी' की 'आत्मिका' नामक रचना मेरे जीवन-संस्मरण तथा जीवन-दर्शन की द्योतक है। उसमें मैंने अपने मानसिक द्वन्द्व तथा देश के स्वतन्त्रता-युद्ध का भी वर्णन किया है। मेरी सन् '५९ की रचनाओं का संग्रह 'कला और बूढ़ा चाँद' के नाम से प्रकाशित हुआ है। उसमें ६० कविताएँ हैं। उसे मैंने रश्मिपदी—सहजबोध-प्रधान काव्य कहा है। 'कला और बूढ़ा चाँद' की रचनाएँ मेरी इधर की रचनाओं से भिन्न प्रकार की है।

यदि मैं संक्षेप में कहूँ तो पिछले दशक की मेरी समस्त रचनाओं में परिस्थितियों के सत्य के ऊपर मानव-चेतना के सत्य को प्रतिष्ठित करने का आग्रह है। जीवन-चेतना प्रणतरीढ़ पशुओं के धरातल पर परिस्थितियों के अनुरूप बदली है, किन्तु मनुष्य के ऊर्ध्व रीढ़-स्तर पर उसने परिस्थितियों को बदलकर उनका अपनी आवश्यकता के अनुरूप निर्माण किया है और उन पर मानव चैतन्य की छाप लगायी है। गांधीवाद तथा विज्ञान, दोनों दृष्टियों से, मैंने अपने युग को पुरुषार्थ का युग माना है जिसमें हमे बाह्य परिस्थितियों को नवीन मानव-मूल्यों के अनुरूप ढालना है न कि अपने चतुर्दिक की बाहरी-भीतरी सीमाओं से सन्त्रस्त तथा पीड़ित होकर, अपनी महत् संकल्प-शक्ति को मानव की कुण्ठा, घुटन, तथा आत्मदया की क्षुद्र-अहंता में विकीर्ण कर बलिदानी बनने का खोखला निष्क्रिय गौरव वहन करना है। निःसन्देह, मनुष्य रचनाशील प्राणी है, वह आवश्यकता पड़ने पर मरुभूमि को शस्य श्यामल बनायेगा, पर्वत की चोटी पर हल चलायेगा और समुद्र को चुल्लू में भरकर पी जायेगा। अपराजेय प्रकृति का अपराजित स्वामी, वह पिछले युगों के अभावों के बोझ को अपनी रीढ़ नहीं तोड़ने देगा, बल्कि अपने आत्मबल के लोहे की टापों से नये युग का निर्माण करेगा। 'वाणी' में मैंने 'भारतमाता' शीर्षक कविता में कहा है—

उसे चाहिए लौह संगठन,
सुन्दर तन श्रद्धादीपित मन,
भू-जीवन प्रति अथक समर्पण,

लोक कला मयि
रस विलासिनी !

यही मेरी रचना का पिछला दशक है।

मैं और मेरी रचना 'गुंजन'

अपनी रचनाओं में मैं 'गुंजन' का स्थान महत्त्वपूर्ण मानता हूँ। 'गुंजन' की कविताओं से पहले मेरा ध्यान अपनी ओर कभी नही गया था। यह बड़ी विचित्र बात है कि इकत्तीस-बत्तीस साल की उम्र तक, जब मैंने 'गुंजन' की रचनाएँ लिखीं मुझे बाह्य जगत् इतना लुभाता रहा कि मुझे जैसे अपनी सुधि ही नही रही। बाह्य जगत् से अभिप्राय प्रकृति के जगत से है, जिसने मुझे सर्वप्रथम कविता लिखने की प्रेरणा दी और जो मुझे दस-बारह साल की उम्र से तीस-बत्तीस साल की उम्र तक किसी न किसी रूप में अपनी सुन्दरता से रिझाता तथा मोहता रहा। यह बात नही है कि उसके बाद प्राकृतिक शोभा ने मुझे आकर्षित नही किया हो। उसके आकर्षण को तो मैं जीवित रहने के लिए एक प्राणप्रद तथा आवश्यक उपादान मानता हूँ। किन्तु 'गुंजन' के रचना-काल तक मैं जिस प्रकार प्रकृति की क्रोड में निश्चिन्त विचरण करता हुआ अपने को भूला रहता था वह बात आगे मेरे साहित्य में नही पायी जाती। 'गुंजन' के पहले की मेरी कुछ रचनाएँ 'वीणा' 'ग्रन्थि' और 'पल्लव' नाम के तीन संग्रहों में प्रकाशित हो चुकी थी जिनमें 'वीणा' में मेरी प्रारम्भिक रचनाएँ, 'ग्रन्थि' में एक काल्पनिक प्रेम-कथा और 'पल्लव' में विशेष रूप से मेरे प्रगीत संगृहीत हुए हैं। प्रकाशन की दृष्टि से 'पल्लव' ही पहले प्रकाशित हुआ। 'पल्लव' में मेरे अधिकांश प्रगीतों के विषय मुख्यत: प्रकृति के सौन्दर्य से सम्बद्ध रहे है। उनमें मैंने अपनी रचनाओं के रूप-विधान के लिए प्राकृतिक उपकरणों का ही विविध रूपों में प्रयोग किया है। हिन्दी में जितना वस्तुपरक काव्य मैंने लिखा है, उतना शायद ही और किसी ने लिखा हो। 'पल्लव' में अन्तिम रचना सन् '२५ की मिलती है। सन् १९२५ से लेकर सन् '३०, तक इन पाँच वर्षों में, मेरा काव्य, जो अनेक ज्ञात-अज्ञात कारणों से वस्तुपरक से धीरे-धीरे भावपरक हो गया, वह शायद स्वाभाविक ही था। इन भाव-परक प्रगीतों का सर्वप्रथम संग्रह 'गुंजन' के नाम से सन् '३२ में प्रकाशित हुआ। 'पल्लव-कालीन कल्पना-कोमल तथा वस्तुमूलक कविताओं का 'गुंजन' की रचनाओं में एकदम कायापलट देखकर मेरे पाठकों को कुछ समय तक आश्चर्य-चकित, विचारमग्न अथवा प्रश्नमौन रहना पड़ा। पर मैं, जोकि अपने मानसिक विकास के अन्त:सूत्र से भलीभाँति परिचित हूँ, अपने काव्य के इस दिशा-परिवर्तन को विस्मय की दृष्टि से नहीं देखता। आगे चलकर ऐसे और भी नये क्षितिज मेरे भीतर खुले हैं जिन्होंने मेरी काव्य-कल्पना को नवीन दिशाएँ प्रदान की हैं और मैं उन कारणों को अच्छी तरह जानता हूँ।

कौन जाने, आज जो मेरे भीतर एक नया अन्तर्द्वन्द्व चल रहा है वह

मेरी आगामी रचनाओं की दिशा को फिर से एक दूसरा मोड़ दे दे, पर यह बात अभी से ठीक तरह नहीं कही जा सकती।

'गुंजन'—जैसा कि इस शब्द से ध्वनित होता है—मेरी भावनात्मक तथा चिन्तनप्रधान रचनाओं का दर्पण है जिसमें मेरा आत्मान्वेषी, जिज्ञासु व्यक्तित्व प्रतिफलित हुआ है। 'गुंजन' के स्वर में मैं अपने अत्यन्त समीप आकर सोचने लगता हूँ। वैसे 'पल्लव' के अन्तर्गत अपनी 'परिवर्तन' शीर्षक रचना में भी मैंने विचार-दर्शन दिया है, पर वे विचार मुख्यत: बाह्य जगत् से प्रेरित हैं। उसमें मैंने केवल जगज्जीवन के रूप को परखा है, जो निर्ममरूप से बदलता रहता है। मैं उसका विश्लेषण कर विक्षुब्ध हुआ हूँ :

"आज बचपन का कोमल गात, जरा का पीला पात !
चार दिन सुखद चाँदनी रात, और फिर अन्धकार अज्ञात !"
"शून्य साँसों का विधुर वियोग, छुड़ाता अधर मधुर संयोग,
मिलन के पल केवल दो चार, विरह के कल्प अपार !"
"खोलता इधर जन्म लोचन, मूँदती उधर मृत्यु क्षण-क्षण।" इत्यादि।

अब भी इन सब बातो को सोचकर मन में अवसाद भर जाता है। जगज्जीवन का संश्लेषण कर मैंने परिवर्तन से सान्त्वना भी ग्रहण की है; जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों में अभिव्यक्त हुआ है :

"बिना दुख के है सुख निस्सार, बिना आँसू के जीवन भार।
दीन दुर्बल है रे संसार, इसी से दया क्षमा औ प्यार।"
"आज का दुख कल का आह्लाद, और कल का सुख आज विषाद,
समस्या स्वप्न गूढ़ संसार, पूर्ति जिसकी उस पार"...

पर, यह केवल सान्त्वना ही तो थी। सामाजिक विषमताओं और द्वन्द्वों का भी 'परिवर्तन' में यत्र-तत्र चित्रण हुआ है :

'काँपता इधर दैन्य निरुपाय, रज्जु-सा, छिद्रों का कृशकाय।'
'लालची गीधों-से दिन रात, नोंचते रोग शोक नित गात !'
'सकल रोओं से हाथ पसार, लटता इधर लोभ गृह द्वार;
उधर वामन डग स्वेच्छाचार, नापता जगती का विस्तार।'
'बजा लोहे के दन्त कठोर, नचाती हिंसा जिह्वा लोल।' इत्यादि।

किन्तु यह सब होते हुए भी मेरा ध्यान तब मन के भीतर छिपी हुई शक्ति की ओर नहीं गया था और परम्परागत भाग्यवाद की भूमिका से प्रेरणा ग्रहण कर मैंने

'हमारे निज सुखदुख निःश्वास, तुम्हें केवल परिहास;
तुम्हारी ही विधि पर विश्वास, हमारा चिर आश्वास'

कहकर अपने मन को आश्वस्त किया था।

मेरे जीवन-विकास में यह बड़ी अद्भुत बात हुई कि 'पल्लव' काल के समाप्त होते-होते, जब 'यहाँ सुख सरसों, शोक सुमेरु' की धारणा के कारण मेरे भीतर जगज्जीवन के प्रति अत्यन्त विषाद तथा विरक्ति का दुःसह बोझ जमा हो गया था, तब जैसे उसी अवसाद के भार के तीक्ष्ण दबाव के कारण मेरे भीतर एक अज्ञात आनन्द-स्रोत फूट पड़ा, जिसने मेरा ध्यान 'यही तो है असार संसार' से सहसा हटाकर मन के भीतर भी प्रच्छन्न आनन्द-स्रोत की ओर आकर्षित कर दिया और इस अनुभूति ने जैसे 'गुंजन' के सा रे ग म ही बदल दिये।

उस आनन्द-स्पर्श ने पहली अभिव्यक्ति सन् '२७ के एक प्रगीत में पायी :

"लायी हूँ फूलों का हास,
लोगी मोल, लोगी मोल ?
तरल तुहिन वन का उल्लास ?
लोगी मोल, लोगी मोल ?
फैल गयी मधुऋतु की ज्वाल,
जल-जल उठती वन की डाल,
कोकिल के कुछ कोमल बोल,
लोगी मोल, लोगी मोल ?
उमड़ पडा पावस परिप्रोत,
फूट रहे नव-नव जलस्रोत,
जीवन की ये लहरें लोल,
लोगी मोल, लोगी मोल ?"—इत्यादि

यह तरल तुहिन वन का उल्लास, मधुऋतु की ज्वाल, कोकिल के कोमल बोल अथवा जीवन की लोल लहरें—मुझे उसी आनन्द-स्फुरण के रूप में मिले। सन् '३० में मैंने :

"जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन,
बरसो कुसुमों मे मधु बन,
प्राणों मे अमर प्रणय धन,
स्मिति स्वप्न अधर पलकों में,
उर अंगों में सुख यौवन,
बरसो सुख वन, सुषमा बन,
बरसो जग जीवन के घन,
दिशि-दिशि में औ' पल-पल में,
बरसो संसृति के सावन"···आदि

रचना द्वारा भी उसी आनन्दघन का आवाहन किया है। 'गुंजन' की रचनाओं में ऐसे अनेक प्रगीत हैं जो इस शुद्ध अमिश्रित आनन्द की क्रीड़ा के साक्षी हैं; यथा :

"विहग विहग !
फिर चहक उठे ये पुंज-पुंज,
कल कूजित कर उर का निकुंज
चिर सुभग सुभग !"

अथवा

"जीवन का उल्लास,
यह सिहर सिहर,
यह लहर लहर,
यह फूल-फूल करता विलास" ···आदि।

इस भीतरी आनन्द के स्पर्श से मुझे आत्म-संस्कार, आत्मोन्नयन, आत्म-समर्पण तथा आत्म-संयमन के लिए भी प्रेरणा मिली। मेरे मन की इन

वृत्तियों की द्योतक अनेक कविताएँ 'गुंजन' में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं, जिनमें से कुछ के उदाहरण मैं दे रहा हूँ। 'गुंजन' की पहली ही कविता है :

"तप रे मधुर-मधुर मन !
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष उज्ज्वल औ' कोमल,
तप रे विधुर विधुर मन !"

यह मेरे मन की एक प्रकार की आध्यात्मिक व्यथा अथवा 'मेटाफिज़िकल एंग्विश' है। इन पंक्तियों में 'मधुर-मधुर' शब्द आनन्द-स्पर्शजनित व्यथा का परिचायक है। अकलुष और उज्ज्वल बनने के बाद मैंने अपने मन से जीवन की पूर्णता अथवा समग्रता में बँधने को कहा है, जो इस प्रकार है :

"अपने सजल स्वर्ण से पावन, रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम !
स्थापित कर जग में अपनापन, ढल रे ढल आतुर मन !"

आत्मोन्नयन के लिए उत्सुकता, विह्वलता अथवा व्यथा मेरे इस समय की अनेक रचनाओं के ताने-बाने में मिल गयी है और इसके कारण जग-जीवन के सुख-दुःखों के प्रति, जिनसे कि मैं 'पल्लव' और 'परिवर्तन'-काल में विचलित हो उठता था—मेरा दृष्टिकोण ही आमूल बदल गया और वे मुझे एक-दूसरे के पूरक तथा आत्मोन्नयन के लिए आवश्यक सोपान प्रतीत होने लगे। अनेक गीतों में मैंने इस भावना को वाणी दी है; जैसे:

"मैं नहीं चाहता चिर सुख, मैं नही चाहता चिर दुख
सुख दुख की खेल मिचौनी, खोले जीवन अपना मुख।
सुख दुख के मधुर मिलन से, यह जीवन हो परिपूरण,
फिर घन में ओझल हो शशि, फिर शशि में ओझल हो घन !"

निष्क्रिय विषाद से अधिक महत्त्व मेरे मन ने सक्रिय आनन्द को ही दिया है; जैसे :

"आँसू की आँखों से मिल भर ही आते हैं लोचन,
हँसमुख ही से जीवन का पर हो सकता अभिवादन।"
"दुख इस मानव आत्मा का रे नित का मधुमय भोजन,
दुख के तम को खा-खाकर भरती प्रकाश से वह मन।"
अथवा "वन की सूखी डाली में सीखा कलि ने मुसकाना,
मैं सीख न पाया अब तक सुख से दुख को अपनाना।"

इस सबके साथ ही जीवन के प्रति और जीवन के विकसित प्रतीक मानव के प्रति मेरे मन में एक नवीन आस्था पैदा हो गयी। अपनी अन्तर-अनुभूति को चिरस्थायी बनाकर चरितार्थ करने के लिए 'गुंजन'-काल में मेरे मन ने कठोर साधना की और यह साधना मुझे बिलकुल भी नहीं खली। मानव और जीवन के प्रति आस्था ने जगज्जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण ही बदल दिया :

"काँटों से कुटिल भरी हो यह जटिल जगत की डाली,
इसमें ही तो जीवन के पल्लव की फूटी लाली !"
या "अपनी डाली के काँटे बेंधते नहीं अपना तन
सोने-सा उज्ज्वल बनने तपता नित प्राणों का धन।"

आदि रचनाएँ मेरे उसी व्यापक दृष्टिकोण की परिचायक हैं।

इस निरतिशय आनन्द-भावना ने मुझे एक नवीन सौन्दर्य-बोध भी जीवन-पदार्थ के प्रति प्रदान किया। वह सौन्दर्य-बोध, संक्षेप में, अन्तःसौन्दर्य का ही बाह्य जगत् में प्रतिबिम्ब है। इस सौन्दर्यानुभूति को मैंने अनेक गीतों में वाणी दी है; यथा :

"सुन्दर विश्वासों से ही बनता रे सुखमय जीवन,
ज्यों सहज-सहज साँसों से चलता उर का मृदु स्पन्दन।"

अथवा,

"सुन्दर मृदु-मृदु रज का तन, चिर सुन्दर सुख-दुख का मन,
सुन्दर शैशव यौवन रे, सुन्दर-सुन्दर जग-जीवन।
सुन्दर से नित सुन्दरतर, सुन्दरतर से सुन्दरतम,
सुन्दर जीवन का क्रम रे, सुन्दर-सुन्दर जग-जीवन।
इत्यादि।

'गुंजन'-काल की आनन्द-भावना ने मुझे जो एक प्रकार की तन्मयता प्रदान की, वही 'गुंजन' के छन्दों में एक श्लक्ष्ण सूक्ष्म संगीत बनकर मूर्त हुई है। 'गुंजन' के प्रगीतों की छन्द-योजना अपनी एक विशेषता रखती है। 'गुंजन' की पहली ही कविता के पदों में जैसे वह तन्मयता रजत-मुखर हो उठती है :

वन वन उपवन
छाया उन्मन उन्मन गुंजन
नव वय के कलियों का गुंजन।
रुपहले सुनहले आम्र बौर
नील पीले औ' ताम्र भौर
रे गन्ध अन्ध हो ठौर-ठौर
उड़ पाँति-पाँति में चिर उन्मन
करते मधु के वन में गुंजन।

इस प्रकार आप देखते हैं, 'गुंजन' का काव्य मेरी अन्तःसाधना का संयम-शुभ्र काव्य है। वह मेरे मन की एक विशेष भावस्थिति का, मेरे जीवन विकास के एक विशिष्ट रजत-शिखर का द्योतक है। किन्तु इस शिखर पर आगे चलकर जो धूल और सौरभ-भरी आँधियाँ टूटीं, जो इन्द्रधनुष और बिजली-भरे बादल गरजे, जिनके कारण कि मुझे मानव-जगत तथा जीवन का फिर से नये रूप में अध्ययन करना पड़ा, उसकी कथा कभी फिर बतला सकूँगा। तथास्तु।

मानसी

'मानसी' मैंने सन् १९४६ में लिखी थी। मैं तब दक्षिण भारत में था। मानसी मनुष्य की राग भावना अथवा राग चेतना का प्रतीक रूपक है। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि आज के संक्रान्ति युग में जब कि हम अपनी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक मान्यताओं में नवीन

सन्तुलन स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे हैं, मनुष्य की पिछड़ी हुई आदिम राग भावना को भी निरखने-परखने की आवश्यकता है तथा उसमें मानव की सांस्कृतिक-आध्यात्मिक आवश्यकताओं के अनुरूप ही नवीन सन्तुलन एवं रूपान्तर लाने की अपेक्षा है। इस वैज्ञानिक युग में एक विकसित भौतिक तथा बौद्धिक सामाजिकता के लिए हमारी नर-नारी सम्बन्धी सामन्तयुगीन मान्यताएँ अपर्याप्त तथा असन्तोषकर लगती हैं। विकसित राग चेतना ही मानव-संस्कृति की आधारशिला बन सकती है। पुरुष और नारी इस राग चेतना के अभिन्न तथा अनिवार्य अंग है।

प्रारम्भ का अंश, जो इस संगीत रूपक के लिए आवश्यक है, मानव राग भावना के उद्दीपन की भूमिका स्वरूप है। उसमें प्रकृति की एकान्त रमणीय क्रोड़ में एक नवयुवक, जो पुरुष की आत्मा का प्रतीक है, अनुभव करता है कि यह विश्व प्रकृति एक अनन्त यौवना महिमामयी नारी के समान है, जिसकी शोभा ही उसके भीतर युवती की सुषमा में लिपटी हुई कामना का रूप धरकर, नवीन उषा की तरह उदित हो रही है। उसे निर्जन में कोयल का मधुर गीत सुनायी पड़ता है, जैसे उसके हृदय में सोयी हुई कोई गोपन भावना जाग उठी हो और उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना चाहती हो। दूर से आता हुआ पपीहे का आकुल स्वर उसे आमन्त्रित तथा आन्दोलित करता है। उसमें एक आवेश है, प्रेम के लिए त्याग की वेदना है। उसकी सुप्त राग चेतना पिक तथा पपीहे के कण्ठों से प्रेरणा ग्रहण कर, प्रेम सम्बन्धी विरह-मिलन की व्यक्तिगत सीमाओं को अतिक्रम कर, व्यापक सामाजिक धरातल में प्रवेश करती है। इस रूपक में पिक मिलन और भोग का तथा पपीहा विरह और त्याग का प्रतीक है।

इसके बाद युवक राग भावना का आवाहन करता है, और ऐतिहासिक तथा सामाजिक धरातल पर, उसकी दृष्टि के सम्मुख, मानव राग भावना का विकास तथा परिणति, विभिन्न सांस्कृतिक युगों में विभिन्न रूप धरकर, जैसे अनावृत अथवा अनवगुण्ठित हो उठती है। मध्ययुगीन राग भावना की प्रतिनिधि स्वरूप राम, कृष्ण, बुद्ध युग की अबलाएँ तथा आधुनिक युग की नारियाँ युवक के स्मृति पट में मूर्त होकर जैसे मानव राग चेतना के विकासक्रम की विविध झाँकियाँ प्रस्तुत करती हैं। इसमें यह ध्यान में रखने की बात है कि ये विविध झाँकियाँ अपने-अपने युगों के ह्रास की स्थिति का चित्रण करती हैं।

इस प्रकार विगत युगों की राग भावना का अपने मन में मूल्यांकन करता हुआ आज के नये युग का मानव राग भावना के अधिक विकसित तथा सन्तुलित स्वरूप का आवाहन करता है, जिससे पृथ्वी के जीवन में नर-नारियों के सम्बन्धों की नवीन परिणति अपनी पिछली रागद्वेष, द्रोह-मोह की सीमाओं से मुक्त होकर, इस विराट् भू-जीवन का सक्रिय रचनात्मक अंग बन सके। नव युग के नर-नारी उसके कल्पना क्षितिज में अवतरित होकर देहबोध से ऊपर अपनी सृजनप्राण प्रेमभावना को जीवन मंगल तथा लोक कर्म के रूप में चरितार्थ करते हैं। गृहों की देहलियों की सीमाएँ लाँघकर राग चेतना विशाल सामाजिक प्रांगण में अपनी सार्थकता खोजती है। नवयुवतियाँ नवीन संस्कृति की सन्देश-

वाहिका बनकर नवीन भावना के पुष्पों के रूप में नवीन सांस्कृतिक मूल्यों का वितरण करती हैं। भीतर से युक्त और बाहर से मुक्त नर-नारीगण नव जीवन की उल्लसित, नृत्य-मुखर पदचापों से धरती के आँगन को शोभा सम्पन्न तथा आनन्द गुंजरित करते है। दो शब्दों में यदि मैं कहूँ तो 'मानसी' गीतिनाट्य में इसी मानव राग भावना का चिरन्तन स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है। इस कार्यक्रम में मानसी के सार्थक अंश चुन लिये गये हैं। इसका प्रारम्भ वन में पपीहे की प्यासी पुकार से होता है जिसे सुनकर युवक की राग-भावना जग उठती है।

प्रेरणा

जैसा मैं प्रारम्भ में कह चुका हूँ, 'मानसी' का रूपक मैंने दक्षिण-भारत में लिखा था। मद्रास में जिस मकान के निचले हिस्से में मैं रहता था, वहाँ मकान-मालकिन की विदुषी लडकी का विवाहोत्सव देखने का अवसर मुझे मिला था। दक्षिण में स्त्रियों के चटकीले रेशमी वस्त्र अपनी विशेषता रखते हैं। अनेक रंगों की साडियों में उपस्थित अनेक सम्भ्रान्त महिलाओं को, उस गीत नृत्य मन्त्रोच्चार से गुंजरित, फूलों से सज्जित विवाह-मण्डप में देखकर यकायक मेरा ध्यान मानव राग भावना की क्रिया-शीलता की ओर आकृष्ट हुआ। विवाह की संस्था को केन्द्र बनाकर मेरे मन में जो भावनाएँ उठीं, उनको मैंने पीछे 'मानसी' नामक इस रूपक में सँजोने की चेष्टा की।

मानसी नाम

'मानसी' नाम इस रूपक का मैंने इसलिए रखा कि मुझे प्रतीत हुआ कि राग भावना का सबसे सुन्दर तथा विकसित छोर अभी जैसे मानव-मन के ही भीतर अव्यक्त है। उसे जैसे बाहर समुचित परिस्थितियाँ पाकर अभी नवीन नरनारी के सम्बन्धों के रूप में प्रस्फुटित होना है। उसी अव्यक्त राग-चेतना को मैंने 'मानसी' नाम दिया है और अन्तिम दृश्यों में उसे अवतरित कराने की चेष्टा भी की है।

गीतिनाट्य रूपक

इस रूपक को मैंने गीतों में लिखना इसलिए उचित समझा कि प्रथमतः संगीत राग-भावना को व्यक्त करने के लिए सबसे उपयुक्त तथा हृदयस्पर्शी माध्यम है। गीत की लय वास्तव में मनोराग ही की लय है। नाट्यरूपक का रूप मैंने इसलिए देना उचित समझा कि जिससे अनेक नर-नारी अनेक प्रकार से रंगीन वस्त्रों में उपस्थित होकर अपने हावभाव तथा अभिनय के द्वारा राग-भावना की आढ्यता तथा वैचित्र्य को दर्शकों के सामने मूर्तिमान कर सकें। 'मानसी', भावना की दृष्टि से, सूक्ष्म होने के कारण इसे जीवन्त स्थूल माध्यम द्वारा प्रकट करना आवश्यक था जिससे मेरे विचार अधिक सम्प्रेषणीय बन सकें। इस रूपक में राम, कृष्ण और बुद्ध-युग की नारियों की रूप-सज्जा, हाव-भाव तथा आधुनिकाओं की वेश-भूषा और नवीनतम नर-नारियों की आकृति-प्रकृति स्वयं ही राग-भावना के विकास-क्रम को आँखों के सामने साकार करने में सहायता देती है। मेरा विचार है कि उपयुक्त संगीत तथा मंच-सज्जा के साथ यह रूपक काफी प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है।

वाणी

आज मैं आपको अपने विशिष्ट काव्य-संग्रह 'वाणी' के बारे में बतलाना चाहता हूँ जिसमें मेरी सन् १९५७ की रचनाएँ संकलित हैं। जैसा कि इसके नाम ही से प्रकट है, 'वाणी' को मैंने अपने विचारों को वाणी देने का माध्यम बनाया है। इसे आप चाहें तो एक प्रकार से मंच-काव्य या प्रवचन-काव्य कह सकते हैं।

प्रारम्भ की अनेक रचनाएँ इसमें प्रगीतात्मक हैं, पर, उनमें भी, यत्र-तत्र, काव्य-मूल्यों तथा शब्द-शिल्प आदि के सम्बन्ध में इंगित किया गया है। 'वाणी' की रचनाओं का शिल्प मेरी इधर की अन्य रचनाओं से अपेक्षाकृत सरल, सशक्त तथा संयमित है। उसकी कुछ रचनाएँ प्रतीकात्मक है, कुछ व्यंग्यात्मक तथा कुछ को आप प्रवचनात्मक कह सकते हैं। अपनी प्रतीकात्मक कविताओं में मैंने नवीन जीवनमूल्यों तथा सौन्दर्य सम्बन्धी दृष्टिकोणों का उद्घाटन कर भू-जीवन को नवीन शोभा तथा अनुराग-भावना से मण्डित किया है। व्यंग्यात्मक रचनाओं में मैंने युगजीवन के विरोधों तथा असंगतियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। मंच-काव्य के अन्तर्गत मुख्यतः चार रचनाएँ आती हैं, जिनके शीर्षक हैं, 'आत्मदान', 'अग्नि सन्देश', 'अभिषेक' तथा 'चैतन्य सूर्य'। इन रचनाओं में उद्बोधन के स्वर ही प्रमुख है। इनमें मैंने एकांगी भौतिक विकास के दुष्परिणामों का का दिग्दर्शन कराकर युग-परिस्थितियों मे व्यापक सामजस्य स्थापित करने का आग्रह किया है। मनुष्य की मानसिक सीमाओं तथा संकीर्णताओं के कारण विध्वंस की शक्तियाँ जिस प्रकार विश्वसभ्यता को निगलने के लिए मुँह बाये आगे बढ़ रही हैं, उनके प्रति मैंने इन रचनाओं द्वारा युग-मानव को सावधान किया है। इनमें मैंने भौतिक-आध्यात्मिक मूल्यों के समन्वय पर बल दिया है। और प्रबुद्ध मनुष्य आज जिस नयी चेतना के संवेदनों का अनुभव कर रहा है उसके विकास के लिए क्षेत्र प्रस्तुत करने को कहा है।

इन रचनाओं के अतिरिक्त 'वाणी' में 'बुद्ध के प्रति' शीर्षक एक लम्बी रचना है, जिसमें मैंने अपने देश की मध्ययुगीन जीवन-मान्यताओं का आलोचनात्मक विवेचन किया है और हमारे देश के मानस में जो निषेधात्मक ऋण प्रवृत्तियाँ घर कर गयी है, और जिस प्रकार उनसे हमारे सामाजिक जीवन की अकल्पनीय क्षति हुई है उस पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। 'कवीन्द्र रवीन्द्र' शीर्षक कविता मे मैंने रवीन्द्रनाथ के युग मे हमारे युग में जो मानव-मूल्यों सम्बन्धी दृष्टिकोण में परिवर्तन आ रहा है उसकी ओर अप्रत्यक्ष रूप से संकेत किया है।

इस संग्रह की अन्तिम और सबसे प्रमुख रचना है 'आत्मिका' जिसमें मैंने संक्षेप में अपने जीवन-संस्मरण के साथ परिस्थितियों से प्रेरित अपने जीवन-दर्शन का भी निरूपण किया है। पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों के सम्पर्क में आने से मेरे भीतर जीवन-मान्यताओं का विकास किस रूप में हुआ उसका संक्षिप्त विवरण 'आत्मिका' में प्रस्फुटित हो सका है। मेरा विचारों का दृष्टिकोण इस रचना मे अधिक सन्तुलित तथा परिपक्व रूप में अभिव्यक्त हुआ है। आज विज्ञान के कारण विभिन्न देशों के मनुष्य

तथा संस्कृतियाँ परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क में आकर एक-दूसरे से प्रभावित हो रही है। इसके साथ ही विज्ञान ने आज मानव-जीवन की परिस्थितियों को अधिक सक्रिय बनाकर उनकी सीमाओं में व्यापक रूपान्तर उपस्थित कर दिया है। ऐसे युग में मैंने नवीन मानवता पर आधारित विश्वसंस्कृति की ओर अपने काव्यप्रेमियों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया है।

पर्यालोचन

मैं अपने यत्किंचित् साहित्यिक प्रयासों को आलोचक की दृष्टि से देखने के लिए उत्सुक नहीं था, किन्तु हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की इच्छा मुझे विवश करती है कि मैं प्रस्तुत संग्रह मे अपने बारे में स्वयं लिखूँ। सम्भव है, मैं अपने काव्य की आत्मा को, स्पष्ट और सम्यक् रूप से, पाठकों के सामने न रख सकूँ; पर जो कुछ भी प्रकाश मैं उस पर डाल सकूँगा, मुझे आशा है, उससे मेरे दृष्टिकोण को समझने में मदद मिलेगी। 'पल्लव' की भूमिका में काव्य के बहिरंग पर, अपने विचार प्रकट करने के बाद यह प्रथम अवसर है कि मैं अपने विकास की सीमाओं के भीतर से, काव्य के अन्तरंग का विवेचन कर रहा हूँ। इस संक्षिप्त पर्यालोचन में जो कुछ भी त्रुटियाँ रह जायँ, उनके लिए सहृदय सुज्ञ पाठक क्षमा करें।

इस सौ-सवा सौ पृष्ठों के संग्रह में मेरी सभी संग्रहणीय कविताएँ अवश्य नही आ सकी हैं, पर जिन पथों का मेरी कल्पना ने अनुसरण किया है, उन पर अंकित पद-चिह्नों का थोडा-बहुत आभास इससे मिल सकता है; और, सम्भव है, अपने युग में प्रवाहित प्रमुख प्रवृत्तियों और विचारधाराओं की अस्पष्ट रूप-रेखाएँ भी इसमें मिल जायँ। अस्तु—

कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्माचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी मुझे याद है, मै घण्टों एकान्त में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था; और कोई अज्ञात आकर्षण, मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँखें मूँदकर लेटता था, तो वह दृश्यपट, चुपचाप, मेरी आँखों के सामने घूमा करता था। अब मैं सोचता हूँ कि क्षितिज में सुदूर तक फैली, एक के ऊपर एक उठी, ये हरित-नील-धूमिल कूर्माचल की छायांकित पर्वत-श्रेणियाँ, जो अपने शिखरों पर रजत-मुकुट हिमाचल को धारण किये हुए हैं, और अपनी ऊँचाई से आकाश की अवाक् नीलिमा को और भी ऊपर उठाये हुए हैं, किसी भी मनुष्य को अपने महान् नीरव सम्मोहन के आश्चर्य में डुबाकर, कुछ काल के लिए, भुला सकती हैं! और यह शायद पर्वत-प्रान्त के वातावरण ही का प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गम्भीर आश्चर्य की भावना, पर्वत ही की तरह, निश्चल रूप से, अवस्थित है। प्रकृति के साहचर्य ने जहाँ एक ओर मुझे सौन्दर्य, स्वप्न और कल्पना-जीवी बनाया, वहाँ दूसरी ओर जन-भीरु भी

बना दिया। यही कारण है कि जनसमूह से अब भी मैं दूर भागता हूँ और मेरे आलोचकों का यह कहना कुछ अंशों तक ठीक ही है कि मेरी कल्पना लोगों के सामने आने में लजाती है।

मेरा विचार है कि 'वीणा' से 'ग्राम्या' तक मेरी सभी रचनाओं में प्राकृतिक सौन्दर्य का प्रेम किसी न किसी रूप में विद्यमान है।

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?"—

आदि 'वीणा' के चित्रण, प्रकृति के प्रति, मेरे अगाध मोह के साक्षी हैं। प्रकृति-निरीक्षण से मुझे अपनी भावनाओं की अभिव्यंजना में अधिक सहायता मिली है, कहीं-कहीं उससे विचारों की भी प्रेरणा मिली है। प्राकृतिक चित्रणों में प्राय: मैंने अपनी भावनाओं का सौन्दर्य मिलाकर उन्हें ऐन्द्रिय चित्रण बनाया है, कभी-कभी भावनाओं को ही प्राकृतिक सौन्दर्य का लिबास पहना दिया है। यद्यपि 'उच्छ्वास', 'आँसू', 'बादल', 'विश्ववेणु', 'एकतारा', 'नौकाविहार', 'पलाश', 'दो मित्र', 'झंझा में नीम' आदि अनेक रचनाओं में मेरे रूप-चित्रण के भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं।

प्रकृति को मैंने अपने से अलग, सजीव सत्ता रखनेवाली, नारी के रूप में देखा है :

"उस फैली हरियाली में,
कौन अकेली खेल रही, मा,
वह अपनी वय बाली में"—

पंक्तियाँ मेरी इस धारणा की पोषक हैं। कभी जब मैंने प्रकृति से तादात्म्य का अनुभव किया है तब मैंने अपने को भी नारी-रूप में अंकित किया है। मेरी प्रारम्भिक रचनाओं में इस प्रकार के हिप्नोटिज्म के अनेक उदाहरण मिलेंगे।

साधारणत: प्रकृति के सुन्दर रूप ही ने मुझे अधिक लुभाया है, पर उसका उग्र रूप भी मैंने 'परिवर्तन' में चित्रित किया है। मानव-स्वभाव का भी मैंने सुन्दर पक्ष ही ग्रहण किया है, इसी से मेरा मन वर्तमान समाज की कुरूपताओं से कटकर भावी समाज की कल्पना की ओर प्रधावित हुआ है। यह सत्य है कि प्रकृति का उग्र रूप मुझे कम रुचता है। यदि मैं संघर्षप्रिय अथवा निराशावादी होता, तो 'Nature red in tooth and claw' वाला कठोर रूप, जो जीव-विज्ञान का सत्य है, मुझे अपनी ओर अधिक खींचता, किन्तु 'वह्नि, बाढ, उल्का, झंझा की भीषण भू पर' इस 'कोमल मनुज कलेवर' को भविष्य में अधिक से अधिक 'मनुजोचित साधन' मिल सकेंगे और वह अपने लिए ऐसा 'मानवता का प्रासाद' निर्माण कर सकेगा, जिसमें 'मनुष्य जीवन की क्षण-धूलि' अधिक सुरक्षित रह सकेगी—यह आशा मुझे अज्ञात रूप से सदैव आकर्षित करती रही है :

"मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें—मानव ईश्वर !
और कौन-सा स्वर्ग चाहिए तुझे धरा पर ?"

'वीणा' और 'पल्लव', विशेषत: मेरे प्राकृतिक साहचर्य-काल की रचनाएँ

हैं। तब प्रकृति की महत्ता पर मुझे विश्वास था और उसके व्यापारों में मुझे पूर्णता का आभास मिलता था। वह मेरी सौन्दर्य-लिप्सा की पूर्ति करती थी, जिसके सिवा, उस समय, मुझे कोई वस्तु प्रिय नहीं थी। स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के अध्ययन से, प्रकृति-प्रेम के साथ ही मेरे प्राकृतिक दर्शन के ज्ञान और विश्वास में भी अभिवृद्धि हुई। 'परिवर्तन' में इस विचारधारा का काफी प्रभाव है। अब मैं सोचता हूँ कि प्राकृतिक दर्शन, जो एक निष्क्रियता की सीमा तक सहिष्णुता प्रदान करता है और एक प्रकार से प्रकृति को सर्वशक्तिमयी मानकर उसके प्रति आत्मसमर्पण सिखलाता है, वह सामाजिक जीवन के लिए स्वास्थ्यकर नहीं है।

"एक सौ वर्ष नगर उपवन,—एक सौ वर्ष विजन वन !
यही तो है असार संसार,—सृजन, सिंचन, संहार !"

आदि भावनाएँ मनुष्य को, अपने केन्द्र से च्युत करने के बाद, किसी सक्रिय सामूहिक प्रयोग के लिए अग्रसर नहीं करतीं, बल्कि उसे जीवन की क्षणभंगुरता का उपदेश-भर देकर रह जाती हैं। इस प्रकार की अभावात्मकता के मूल हमारी संस्कृति में मध्ययुग से भी गहरे घुसे हुए हैं, जिसके कारण, जातीय दृष्टि से, हम अपने स्वाभाविक आत्म-रक्षण की सहज प्रवृत्तियों को खो बैठे हैं, और अपने प्रति किये गये अत्याचारों को, थोथी दार्शनिकता का रूप देकर, चुपचाप, सहन करना सीख गये हैं। साथ ही हमारा विश्वास मनुष्य की संगठित शक्ति से हटकर आकाश-कुसुम-वत् दैवी शक्ति पर अटक गया है, जिसके फलस्वरूप हम देश पर विपत्ति के युगों में सीढ़ी-दर-सीढ़ी नीचे गिरते गये हैं।

'पल्लव' और 'गुंजन'-काल के बीच में मेरी किशोर-भावना का सौन्दर्य-स्वप्न टूट गया। 'पल्लव' की 'परिवर्तन' कविता, दूसरी दृष्टि से, मेरे इस मानसिक परिवर्तन की भी द्योतक है। इसलिए वह 'पल्लव' में अपना विशेष महत्त्व रखती है। दर्शनशास्त्र और उपनिषदों के अध्ययन ने मेरे रागतत्त्व में मन्थन पैदा कर दिया और उसके प्रवाह की दिशा बदल दी। मेरी निजी इच्छाओं के संसार में कुछ समय तक नैराश्य और उदासीनता छा गयी। मनुष्य के जीवन के अनुभवों का इतिहास बड़ा ही करुण प्रमाणित हुआ। जन्म के मधुर रूप में मृत्यु दिखायी देने लगी, वसन्त के कुसुमित आवरण के भीतर पतझर का अस्थिपंजर !

"खोलता इधर जन्म लोचन,
मूँदती उधर मृत्यु क्षण-क्षण !"
"वही मधुऋतु की गुंजित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिंचनता में निज तत्काल
सिहर उठती—जीवन है भार !"

मेरी जीव-दृष्टि का मोह एक प्रकार से छूटने लगा और सहज जीवन व्यतीत करने की भावना में एक तरह का धक्का लगा। इस क्षणभंगुरता के 'बुद्बुदों के व्याकुल संसार' में परिवर्तन ही एकमात्र चिरन्तन सत्ता जान पड़ने लगी। मेरे हृदय की समस्त आशाऽकांक्षाएँ और सुख-स्वप्न अपने भीतर और बाहर किसी महान् चिरन्तन वास्तविकता का अंग बन जाने के लिए लहरों की तरह, अज्ञात प्रयास की आकुलता में, ऊबडूब

करने लगे।

किन्तु दर्शन का अध्ययन विश्लेषण की पैनी धार से, जहाँ जीवन के नाम-रूप-गुण के छिलके उतारकर मन को शून्य की परिधि में भटकाता है, वहाँ वह छिलके में फल के रस की तरह व्याप्त एक ऐसे सूक्ष्म संश्लेषणात्मक सत्य के आलोक से भी हृदय को स्पर्श करता है कि उसकी सर्वातिशयता चित्त को अलौकिक आनन्द से मुग्ध तथा विस्मित कर देती है। भारतीय दर्शन ने मेरे मन को अस्थिर कर दिया।

"जग के उर्वर आँगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन,
बरसो लघु लघु तृण तरु पर हे चिर अव्यय चिर नूतन !"

इसी सविशेष की कल्पना के सहारे, जिसने 'ज्योत्स्ना' को और 'गुंजन' की 'अप्सरा' को जन्म दिया है, मैं 'पल्लव' से 'गुंजन' में अपने को सुन्दरम् से शिवम् की भूमि पर पदार्पण करते हुए पाता हूँ। 'गुंजन' में मेरी बहिर्मुखी प्रकृति, सुख-दुःख मे समत्व स्थापित कर अन्तर्मुखी बनने का प्रयत्न करती है; साथ ही 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' में मेरी कल्पना अधिक सूक्ष्म एवं भावात्मक हो गयी है। 'गुंजन' के भाषा-संगीत में एक सुघरता, मधुरता और श्लक्ष्णता आ गयी है, जो 'पल्लव' में नहीं मिलती। 'गुंजन' के संगीत में एकता है, 'पल्लव' के स्वरों में बहुलता। 'पल्लव' की भाषा दृश्य जगत् के रूप-रंग की कल्पना से मांसल और पल्लवित है, 'गुंजन' की भाषा भाव और कल्पना के सूक्ष्म सौन्दर्य से गुंजित। 'ज्योत्स्ना' का वातावरण भी सूक्ष्म की कल्पना से ओतप्रोत है, उसका सांस्कृतिक समन्वय परात्परता के आलोक (दर्शन) को विकीर्ण करता है।

यह कहा जाता है कि मेरी कविताओं से सुन्दरम् और शिवम् से भी बड़े लक्ष्य सत्यम् का बोध नहीं होता, साथ ही उनमें वह अनुभूति की तीव्रता नहीं मिलती, जो सत्य की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है। यह सच है कि व्यक्तिगत सुख-दुःख के सत्य को अथवा अपने मानसिक संघर्ष को मैंने अपनी रचनाओं में वाणी नहीं दी है, क्योंकि वह मेरे स्वभाव के विरुद्ध है। मैंने उससे ऊपर उठने की चेष्टा की है। 'गुंजन' में "तप रे मधुर-मधुर मन" तथा "मैं सीख न पाया अब तक सुख से दुख को अपनाना" आदि अनेक रचनाएँ मेरी इस रुचि की द्योतक हैं। मुझे लगता है कि सत्य शिव में स्वयं निहित है। जिस प्रकार फूल में रूप-रंग हैं, फल में जीवनोपयोगी रस और फूल की परिणति फल में सत्य के नियमों ही द्वारा होती है, उसी प्रकार सुन्दरम् की परिणति शिवम् में सत्य ही द्वारा हो सकती है। यदि कोई वस्तु उपयोगी (शिव) है, तो उसके आधारभूत कारण उस उपयोगिता से सम्बन्ध रखनेवाले सत्य में अवश्य होने चाहिए, नहीं तो वह उपयोगी नहीं हो सकती। इसी प्रकार अनुभूति की तीव्रता भी सापेक्ष है और मेरी रचनाओं में उसका सम्बन्ध मेरे स्वभाव से है। सत्य के दोनों रूप हैं---शराबी शराब पीता है, यह सत्य है; उसे शराब नहीं पीना चाहिए, यह भी सत्य है। एक उसका वास्तविक रूप है, दूसरा परिणाम से सम्बन्ध रखनेवाला। मेरी रचनाओं में सत्य के दूसरे पक्ष के प्रति मोह मिलता है; वह मेरा संस्कार है, आत्मविकास की ओर जाना। अनुभूति की तीव्रता का बोध बहिर्मुखी स्वभाव अधिक करवा सकता है, मंगल का बोध अन्तर्मुखी स्वभाव, क्योंकि दूसरा कारण-

रूप अन्तर्द्वन्द्व को अभिव्यक्त न कर उसके फलस्वरूप कल्याणमयी अनुभूति को वाणी देता है। मेरी 'पल्लव'-काल की रचनाओं में, तुलनात्मक दृष्टि से, मानसिक संघर्ष और हार्दिकता अधिक मिलती है और बाद की रचनाओं में आत्मोत्कर्ष और सामाजिक अभ्युदय की इच्छा।

यदि मेरा हृदय अपने युग में बरते जानेवाले आदर्शों के प्रति विश्वास न खो बैठता, तो मेरी आगे की रचनाओं में भी हार्दिकता पर्याप्त मात्रा में मिलती। जब वस्तुजगत् के जीवन से हृदय को भोजन अथवा भावना को उद्दीपन नहीं मिलता, तब हृदय का सूनापन बुद्धि के पास, सहायता माँगने के लिए, पुकार भेजता है :

'आते कैसे सूने पल, जीवन में ये सूने पल,
....'

'खो देती उर की वीणा झंकार मधुर जीवन की'—

आदि उद्गार 'गुंजन' में आये हैं। ऐसी अवस्था मे मेरा हृदय वर्तमान जीवन के प्रति घृणा या विद्वेष की भावना प्रकट कर सकता था, और मैं सन्देहवादी या निराशावादी बन सकता था। पर मेरे स्वभाव ने मुझे रोका और मैंने इस बाह्य निश्चेष्टता और सूनेपन के कारणों को बुद्धि से सुलझाने का प्रयत्न किया। यही कारण है कि मेरी आगे की रचनाएँ भावनात्मक न रहकर बौद्धिक बनती गयी—या मेरी भावना का मुख प्रकाशवान् हो गया? 'ज्योत्स्ना' मे मेरी भावना और बुद्धि के आवेश का मिश्रित चित्रण मिलता है।

जब तक रूप का विश्व मेरे हृदय को आकर्षित करता रहा, जोकि एक किशोर-प्रवृत्ति है, मेरी रचनाओं में ऐन्द्रिय चित्रणों की कमी नहीं रही। प्राकृतिक अनुराग की भावना क्रमश: सौन्दर्यप्रधान से भावप्रधान और भावप्रधान से ज्ञानप्रधान होती जाती है। बौद्धिकता हार्दिकता ही का दूसरा रूप है, वह हृदय की कृपणता से नहीं आती। 'परिवर्तन' में भी मैंने यही बात कही है—

"वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप, हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप, लोक सेवा में शिव अविकार।"

'गुंजन' से पहले, जबकि मैं परिस्थितियों के वश अपनी प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी बनाने के लिए बाध्य नहीं हुआ था, मेरे जीवन का समस्त मानसिक संघर्ष और अनुभूति की तीव्रता 'ग्रन्थि' और 'परिवर्तन' में प्रकट हुई। जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ, तब मैं प्राकृतिक दर्शन से अधिक प्रभावित था और मानव-जाति के ऐतिहासिक संघर्ष के सत्य से अपरिचित था। दर्शन मनुष्य के वैयक्तिक संघर्ष का इतिहास है, विज्ञान सामूहिक संघर्ष का।

"मानव जीवन प्रकृति संचलन में विरोध है निश्चित,
विजित प्रकृति को कर जन ने की विश्व सभ्यता स्थापित।"

जीवन की इस ऐतिहासिक व्याख्या के अनुसार हम संसार में लोकोत्तर मानवता का निर्माण करने के अधिकारी हैं :

"अचिर विश्व में अखिल,—दिशावधि, कर्म, वचन, मन,
तुम्हीं चिरन्तन, अहे विवर्तनहीन विवर्तन!"

जीवन की इस प्राकृतिक व्याख्या के अनुसार हमें प्रकृति के नियमों की

परिपूर्णता एवं सर्वशक्तिमत्ता के सम्मुख मस्तक नवाने ही में शान्ति मिल सकती है।

'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' में मेरी सौन्दर्य-कल्पना क्रमशः आत्मकल्याण और विश्व-मंगल की भावना को अभिव्यक्त करने के लिए उपादान की तरह प्रयुक्त हुई है।

"प्राप्त नहीं मानव जग को यह मर्मोज्ज्वल उल्लास"
या "कहाँ मनुज को अवसर देखे मधुर प्रकृति मुख"
अथवा "प्रकृतिधाम यह : तृण तृण कण कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित,
वहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण, जीवन्मृत !"

आदि बाद की रचनाओं में मेरे हृदय का आकर्षण मानवजगत् की ओर अधिक प्रकट होता है। 'ज्योत्स्ना' तक मेरे सौन्दर्य-बोध की भावना मेरे ऐन्द्रिय हृदय को प्रभावित करती रही है, मैं तब तक भावना ही से जगत् का परिचय प्राप्त करता रहा, उसके बाद मैं बुद्धि से भी संसार को समझने की चेष्टा करने लगा हूँ। अपनी भावना की सहज दृष्टि को खो बैठने के कारण या उसके दब जाने के कारण मैंने 'युगान्त' में लिखा है—

"वह एक असीम अखण्ड विश्व व्यापकता
खो गयी तुम्हारी चिर जीवन सार्थकता !"

भावना की समग्रता को खो बैठने के कारण मैं, खण्ड-खण्ड रूप में, संसार को, जग-जीवन को समझने का प्रयत्न करने लगा। यह कहा जा सकता है कि यहाँ से मेरी काव्यसाधना का दूसरा युग आरम्भ होता है। जीवन के प्रति एक अन्तर्विश्वास मेरी बुद्धि को अज्ञात रूप से परिचालित करने लगा और दिशाभ्रम के क्षणों में प्रकाश-स्तम्भ का काम देने लगा। जैसा कि मैंने 'युगान्त' में भी लिखा है—

"......जीवन लोकोत्तर
बढ़ती लहर, बुद्धि से दुस्तर;
पार करो विश्वास चरण धर !"

अब मैं मानता हूँ कि भावना और बुद्धि से, संश्लेषण और विश्लेषण से, हम एक ही परिणाम पर पहुँचते हैं।

'पल्लव' से 'गुंजन' तक मेरी भाषा में एक प्रकार के अलंकार रहे हैं, और वे अलंकार भाव-संगीत को प्रेरणा देनेवाले तथा भाव-सौन्दर्य की पुष्टि करनेवाले रहे हैं। बाद की रचनाओं में भाषा के अधिक गर्भित हो जाने के कारण मेरी अलंकारिता अभिव्यक्तिजनित हो गयी है।

"नयन नीलिमा के लघु नभ में किस नव सुषमा का संसार
विरल इन्द्रधनुषी-बादल-सा बदल रहा है रूप अपार ?"

की अलंकृत भाषा जिस प्रकार 'स्वप्न' का रूप-चित्र सामने रखती है, उसी प्रकार गीत-गद्य 'युगवाणी' की 'युग-उपकरण', 'नव संस्कृति' आदि रचनाएँ मनोरम विचार-चित्र उपस्थित करती हैं। 'पुण्यप्रसू', 'घननाद', 'रूपसत्य', 'जीवनस्पर्श' आदि रचनाओं में भी विषयानुकूल अलंकारिता का अभाव नहीं है। यदि यह मेरा सृजन आवेशमात्र नहीं है, तो 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में मेरी कल्पना, ऊर्णनाभ की तरह, 'सूक्ष्म अमर अन्तरजीवन का' मधुर वितान तानकर, देश और काल के छोरों को मिलाने में संलग्न रही है। इस ह्रास और विश्लेषण-युग के स्वल्पप्राण लेखक की सृजनशील

कल्पना अधिकतर जीवन के नवीन मानों की खोज ही में व्यय हो जाती है, उसका कलाकार स्वभावतः पीछे पड़ जाता है; अतएव उससे अधिक कला-नैपुण्य की आशा रखनी भी नहीं चाहिए।

'युगवाणी' का रूप-पूजन समाज के भावी रूप का पूजन है। अभी जो वास्तव में अरूप है, उसके कल्पनात्मक रूप-चित्र को स्वभावतः अलंकृत होना चाहिए। 'युगवाणी' में कहा भी है—

"बन गये कलात्मक भाव जगत के रूप नाम"
"सुन्दर शिव सत्य कला के कल्पित माप-मान
बन गये स्थूल जग जीवन से हो एक प्राण।"

'जगत के रूप नाम' से मेरा अभिप्राय नवीन सामाजिक सम्बन्धों से निर्मित भविष्य के मानव-संसार से है। जब हम कला को जीवन की अनुवर्तिनी मानते हैं, तब कला का पक्ष गौण हो जाता है। विकास के युग में जीवन कला का अनुगामी होता है। 'युगवाणी' में यह बात कई तरह से व्यक्त की गयी है कि भावी जीवन और भावी मानवता की सौन्दर्य-कल्पना स्वयं ही अपना आभूषण है। 'रूप रूप बन जायँ भाव स्वर, चित्र गीत झंकार मनोहर' द्वारा भविष्य के अरूप-सौन्दर्य का, रूप के पाश में बँधने के लिए, आवाहन किया गया है।

प्राचीन प्रचलित विचार और जीर्ण आदर्श समय के प्रवाह में अपनी उपयोगिता के साथ अपना सौन्दर्य-संगीत भी खो बैठते हैं, उन्हें सजाने की जरूरत पड़ती है। नवीन आदर्श और विचार अपनी ही उपयोगिता के कारण संगीतमय एवं अलंकृत होते हैं, क्योंकि उनका रूप-चित्र सद्यः होता है और उनके रस का स्वाद नवीन। 'मधुरता मृदुता-सी तुम प्राण, न जिसका स्वाद स्पर्श कुछ ज्ञात' उनके लिए भी चरितार्थ होता है। इसी से उनकी अभिव्यंजना से अधिक उनका भावतत्त्व काव्यगौरव रखता है :

"तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार!"

से भी मेरा यही अभिप्राय है कि संक्रान्तियुग की वाणी के विचार ही उसके अलंकार हैं। जिन विचारों की उपयोगिता नष्ट हो गयी है, जिनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि खिसक गयी है, वे पथराये हुए मृत विचार भाषा को बोझिल बनाते हैं। नवीन विचार और भावनाएँ, जो हृदय की रस-पिपासा को मिटाते हैं, उड़नेवाले प्राणियों की तरह, स्वयं हृदय में घर कर लेते हैं। आनेवाले काव्य की भाषा अपने नवीन आदर्शों के प्राणतत्त्व से रसमयी होगी, नवीन विचारों के ऐश्वर्य से सालंकार और जीवन के प्रति नवीन अनुराग की दृष्टि से सौन्दर्यमयी होगी। इस प्रकार काव्य के अलंकार विकसित और सांकेतिक हो जायेंगे।

छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्यबोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था। द्विवेदी-युग के काव्य की तुलना में छायावाद इसलिए आधुनिक था कि उसके सौन्दर्यबोध और कल्पना में पाश्चात्य साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ गया था, और उसका भाव-शरीर द्विवेदी-युग के काव्य की परम्परागत सामाजिकता से पृथक् हो गया था। किन्तु वह

नये युग की सामाजिकता और विचारधारा का समावेश नहीं कर सका था। उसमें व्यावसायिक क्रान्ति और विकासवाद के बाद का भावना-वैभव तो था, पर महायुद्ध के बाद की 'अन्नवस्त्र' की धारणा (यथार्थ का बोध) नहीं आयी थी। उसके 'हास-अश्रु आशाऽकांक्षा' 'खाद्य-मधु-पानी' नहीं बने थे। इसलिए एक ओर वह निगूढ़, रहस्यात्मक, भावप्रधान (एवं आत्मगत) और वैयक्तिक हो गया, दूसरी ओर केवल टेकनीक और आवरणमात्र रह गया। दूसरे शब्दों मे नवीन सामाजिक जीवन की वास्तविकता को ग्रहण कर सकने से पहले हिन्दी कविता, छायावाद के रूप में, ह्रासयुग के वैयक्तिक अनुभवों, ऊर्ध्वमुखी विकास की प्रवृत्तियों, ऐहिक जीवन की आकांक्षाओं-सम्बन्धी स्वप्नों, निराशाओ और सवेदनाओं को अभिव्यक्त करने लगी और व्यक्तिगत जीवन-संघर्ष की कठिनाइयों से क्षुब्ध होकर, पलायन के रूप में, प्राकृतिक दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर, भीतर-बाहर में, सुख-दुःख में, आशा-निराशा और संयोग-वियोग के द्वन्द्वों में सामंजस्य स्थापित करने लगी। सापेक्ष की पराजय उसमें निरपेक्ष की जय के रूप में गौरवान्वित होने लगी।

महायुद्ध के बाद की अँग्रेजी-कविता भी अतिवैयक्तिकता, बौद्धिकता, दुरूहता, संघर्ष, अवसाद, निराशा आदि से भरी हुई है। वह भी उन्नीसवीं सदी के कवियों के भाव और सौन्दर्य के वातावरण से कटकर अलग हो गयी है। किन्तु उसकी करुणा और क्षोभ की प्रतिक्रियाएँ व्यक्तिगत असन्तोष से सम्बन्ध न रखकर वर्ग एवं सामाजिक जीवन की परिस्थितियों से सम्बन्ध रखती हैं। वह वैयक्तिक स्वर्ग की कल्पना से प्रेरित न होकर सामाजिक पुनर्निर्माण की भावना से अनुप्राणित है। उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध इंग्लैण्ड में मध्यवर्गीय संस्कृति का चरमोन्नत युग रहा है, महायुद्ध के बाद उसमें विघटन के चिह्न प्रकट होने लगे। छायावाद और उत्तरयुद्धकालीन अँग्रेजी-कविता, दोनों, भिन्न-भिन्न रूप से, इस संक्रान्ति-युग के स्नायविक विक्षोभ की प्रतिध्वनियाँ हैं।

'पल्लव'-काल में मैं उन्नीसवीं सदी के अँग्रेजी कवियों—मुख्यत: शेली, वर्ड्सवर्थ, कीट्स और टेनिसन—से विशेष रूप से प्रभावित रहा हूँ, क्योंकि इन कवियों ने मुझे मशीन-युग का सौन्दर्यबोध और मध्यवर्गीय संस्कृति का जीवन-स्वप्न दिया है। रविबाबू ने भी भारत की आत्मा को पश्चिम की, मशीन-युग की, सौन्दर्य-कल्पना ही में परिधानित किया है। पूर्व और पश्चिम का मेल उनके युग का नारा भी रहा है। इस प्रकार मैं कवीन्द्र की प्रतिभा के गहरे प्रभाव को भी कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करता हूँ। और यदि लिखना एक अचेतन, चेतन प्रक्रिया (अनकॉन्शस कॉन्शस प्रोसेस्) है, तो मेरे उपचेतन ने इन कवियों की निधियों का यत्रतत्र उपयोग भी किया है, और उसे अपने विकास का अंग बनाने की चेष्टा की है।

ऊपर मैं एक अखण्ड भावना की व्यापकता को खो बैठने की बात लिख चुका हूँ। अब मैं जानता हूँ कि वह केवल सामन्त-युग की सांस्कृतिक भावना थी, जिसे मैंने खोया था, और उसके विनाश के कारण मेरे भीतर नहीं, बल्कि बाहर के जगत् में थे। इस बात को 'ग्राम्या' में मैं निश्चयपूर्वक लिख सका हूँ—

"गत संस्कृतियों का आदर्शों का था नियत पराभव !"
"वृद्ध विश्व सामन्तकाल का था केवल जड़ खँडहर !"

'युगान्त' के 'बापू' ('बापू के प्रति' में) सामन्त-युग के सूक्ष्म के प्रतीक हैं, 'ग्राम्या' के 'महात्मा' ('महात्माजी के प्रति' में) ऐतिहासिक स्थूल के सम्मुख 'विजित नर वरेण्य' हो गये हैं, जो वर्तमान युग की पराजय है।

"हे भारत के हृदय, तुम्हारे साथ आज निःसंशय
चूर्ण हो गया विगत सांस्कृतिक हृदय जगत का जर्जर !"

भावी सांस्कृतिक क्रान्ति की ओर संकेत करता है।

हम सुधार और जागरण-काल में पैदा हुए, किन्तु युग-प्रगति से बाध्य होकर हमें संक्रान्ति-युग की विचारधारा का वाहक बनना पड़ा है। अपने जीवन में हम अपने ही देश में कई प्रकार के सुधार और जागरण के प्रयत्नों को देख चुके हैं। उदाहरणार्थ स्वामी दयानन्दजी सुधारवादी थे, जिन्होंने मध्य युग की संकीर्ण रूढ़ि-रीतियों के बन्धनों से इस जाति और सम्प्रदायों में विभक्त हिन्दू-धर्म का उद्धार करने की चेष्टा की। श्री परमहंस देव और स्वामी विवेकानन्द का युग भारतीय दर्शन के जागरण का युग रहा है। उन्होंने मनुष्य-जाति के कल्याण के लिए धार्मिक समन्वय करने का प्रयत्न किया। डा० रवीन्द्रनाथ का युग विश्वव्यापी सांस्कृतिक समन्वय पर जोर देता रहा है :

"युग युग की संस्कृतियों का चुन तुमने सार सनातन
नव संस्कृति का शिलान्यास करना चाहा भव शुभकर"

कवीन्द्र की प्रतिभा के लिए भी लागू होता है। वह एक स्थान पर अपने बारे में लिखते भी हैं, "मैं समझ गया कि मुझे इस विभिन्नता में व्याप्त एकता के सत्य का सन्देश देना है।" डा० टैगोर के जीवन-मान भारतीय दर्शन के साथ ही मानव-शास्त्र (एन्थ्रोपोलॉजी), विश्ववाद और अन्तर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों से प्रभावित हुए हैं। उनके युग का प्रयत्न भिन्न-भिन्न देशों और जातियों की संस्कृतियों के मौलिक सारभाग से मानव-जाति के लिए विश्व-संस्कृति का पुनर्निर्माण करने की ओर रहा है। वैज्ञानिक आविष्कारों से मनुष्य की देश-कालजनित धारणाओं में प्रकारान्तर उपस्थित हो जाने के कारण एवं आवागमन की सुविधाओं से भिन्न-भिन्न देशों और जातियों के मनुष्यों में परस्पर का सम्पर्क बढ़ जाने के कारण उस युग के विचारकों का मानव-जाति के आन्तरिक (सांस्कृतिक) एकीकरण करने का प्रयत्न स्वाभाविक ही था। महात्माजी भी, इसी प्रकार, विकसित व्यक्तिवाद के मानों का पुनर्जागरण कर, भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों के बीच, संसार में एक सामंजस्य स्थापित करना चाहते थे। किन्तु इस प्रकार के एकदेशीय, एकजातीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्न भी, इस युग में, तभी सफल हो सकते हैं, जब उनको परिचालित करनेवाले सिद्धान्तों के मूल विकासशील ऐतिहासिक सत्य में हों :

'विश्व सभ्यता का होना था नखशिख नव रूपान्तर,
रामराज्य का स्वप्न तुम्हारा हुआ न यों ही निष्फल !"

आनेवाला युग-जीवन के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन

लाना चाहता है। वह सामन्तयुग के सगुण (सांस्कृतिक मन) से मानव-चेतना को मुक्त कर, मनुष्य के मौलिक संस्कारों का यन्त्रयुग की विकसित परिस्थितियों और सुविधाओं के अनुरूप नवीन रूप से मूल्यांकन करना चाहता है। वह मानव-संस्कृति को एक सामूहिक विकास-प्रवाह मानता है। 'प्रस्तर-युग की जीर्ण सभ्यता मरणासन्न, समापन' से इसी प्रकार के युग-परिवर्तन की सूचना मिलती है। दूसरे शब्दों में, आनेवाला युग मनुष्य-समाज का वैज्ञानिक ढंग से पुनर्निर्माण करना चाहता है। ज्ञान को सदैव विज्ञान ने वास्तविकता प्रदान की है। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धान भी मानव-जाति की नवीन जीवन-कल्पना को पृथ्वी पर अवतरित करने के प्रयत्न में सलग्न हैं। जिस संक्रान्तिकाल से मानव-सभ्यता गुजर रही है, उसके परिणाम के हेतु आशावादी बने रहने के लिए विज्ञान ही हमारे पास अमोघ शक्ति और साधन है। इस विश्व-व्यापी युद्ध के रूप में, जैसे, विज्ञान भिन्न-भिन्न जातियों, वर्गों और स्वार्थों में विभक्त 'आदिम मानव' ('आदिम मानव करता अब भी जन में निवास') का संहार कर रहा है, वह भविष्य में नवीन मानव के लिए लोकोपयोगी समाज का भी निर्माण कर सकेगा। 'ग्राम्या' में १९४० सन् का सम्बोधन करते हुए मैंने लिखा है—

"आओ हे दुर्धर्ष वर्ष लाओ विनाश के साथ नव सृजन,
विंश शताब्दी का महान विज्ञान ज्ञान ले, उत्तर यौवन!"

सभ्यता के इतिहास में और भी कई युग बदले हैं और उन्हीं के अनुरूप मनुष्य की आध्यात्मिक धारणा अपने अन्तर और बहिर्जगत् के सम्बन्ध में परिवर्तित हुई है:

"पशु युग में थे गण देवों के पूजित पशुपति,
थी रुद्रचरों से कुण्ठित कृषि युग की उन्नति।
श्रीराम रुद्र की शिव में कर जन हित परिणति,
जीवित कर गये अहल्या को, थे सीता-पति।"

श्रीराम, इस दृष्टि से अपने देश में कृषि-क्रान्ति के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं, जिन्होंने कृषि-जीवन की मान-मर्यादाएँ निर्धारित कीं। स्थिर एवं सुव्यवस्थित कृषि-जीवन की व्यवस्था पशु-जीवियों की कष्टसाध्य अस्थिर जीवन-चर्या से श्रेष्ठ और लोकोपयोगी प्रमाणित हुई। एक स्त्री-पुरुष का सदाचार कृषि-संस्कृति ही की देन है। कृष्ण का युग कृषि-जीवन के विभव का युग रहा है। भारतवर्ष-जैसे विशाल, उर्वर और सम्पन्न देश की सामन्तकालीन सभ्यता और संस्कृति अपने उत्कर्ष के युग में संसार को जो कुछ दे सकती थी—उसका समस्त वैभव, बहुमूल्य उपादान, उसकी अपार गौरव-गरिमा, ऋद्धि-सिद्धि, दृष्टि चकित कर देनेवाले रूप-रंग—उस युग की विशद भावना, बुद्धि, कल्पना, प्रेम, ज्ञान, भक्ति, रहस्य, ईश्वरत्व—उसके समस्त भौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक उपकरणों को जोड़कर, जैसे, उस युग के चरमोन्नति का प्रतीकस्वरूप, श्रीकृष्ण की प्रतिमा निर्माण की गयी है। इससे परिपूर्ण रूप अथवा प्रतीक सामन्तयुग की संस्कृति का और हो भी नहीं सकता था। और कृषि-सम्पन्न भारत के सिवा कोई दूसरा देश, शायद, उसे दे भी नहीं सकता था।

मर्यादापुरुषोत्तम के स्वरूप में कृषि-जीवन के आचार-विचार, रीति-नीति सम्बन्धी सात्त्विक चाँदी के तारों से बुने हुए भारतीय संस्कृति के

बहुमूल्य पट में विभवमूर्ति कृष्ण ने सोने का सुन्दर काम कर उसे रत्न-जटित राजसी बेलबूटों से अलंकृत कर दिया। कृष्ण-युग की नारी भी हमारी विभव-युग की नारी है। वह 'मनसा वाचा कर्मणा जो मेरे मन राम' वाली एकनिष्ठ पत्नी नहीं—लाख प्रयत्न करने पर भी उसका मन वंशीध्वनि पर मुग्ध हो जाता है, वह विह्वल है, उच्छ्वसित है। सामन्त-युग की नैतिकता के तंग अहाते के भीतर श्रीकृष्ण ने, विभव-युग के नर-नारियों के सदाचार में भी, क्रान्ति उपस्थित की है। श्रीकृष्ण की गोपियाँ, अभ्युदय के युग में, फिर से गोप-संस्कृति का लिबास पहनती हुई दिखायी देती हैं।

भारतीय संस्कृति का जो स्वरूप हमें मध्ययुग में देखने को मिला है, वह श्री तुलसी के रामायण में सुरक्षित है। तुलसी ने 'कृषि-मन युग अनुरूप किया निर्मित।' देश की पराधीनता और ह्रास के युग में संस्कृति के संरक्षण के लिए प्रयत्न शुरू हुए। अन्य संस्कृतियों से ग्रहण कर सकने की उसकी प्राणशक्ति मन्द पड़ गयी, और भारतीय संस्कृति का गतिशील जीवन-द्रव जातियों, सम्प्रदायों, संघों, मतों, रूढ़ि-रीति-नीतियों और परम्परागत विश्वासों के रूप में जमकर कठोर एवं निर्जीव हो गया। आर्थिक और राजनीतिक पराभव के कारण जनसाधारण में देह की अनित्यता, जीवन का मिथ्यापन, संसार की असारता, मायावाद, प्रारब्ध-वाद, वैराग्य-भावना आदि ह्रासयुग के अभावात्मक विचारों और आदर्शों का प्रचार बढ़ने लगा। जिस प्रकार कृषि-युग ने पशुजीवी-युग के मनुष्य की अन्तर्बाह्य-चेतना में प्रकारान्तर उपस्थित कर दिया, उसी प्रकार यन्त्रयुग का आगमन सामन्त-युग की परिस्थितियों में अमूल परिवर्तन लाने की सूचना देता है। सामन्त-युग में भी, समय-समय पर, छोटी-बड़ी विश्लिष्ट युगों की गण-संस्कृतियों का समन्वय हुआ है, तथा सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक क्रान्तियाँ हुई हैं, किन्तु उन सबके नतिक मानों और आदर्शों को सामन्त-युग की परिस्थितियों ही ने प्रभावित किया है। भविष्य में इस प्रकार के सभी प्रयत्नों से सम्बन्ध रखनेवाले मौलिक सिद्धान्तों और मानों को यन्त्र-युग की आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ निर्धारित करेंगी।

यन्त्र-युग के दर्शन को हम ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते हैं जो उन्नीसवीं सदी के संकीर्ण भौतिकवाद से पृथक् है। नवीन भौतिकवाद, दर्शन और विज्ञान का, मानव-सभ्यता के अन्तर्बाह्य विकास का, ऐतिहासिक समन्वय है।

"दर्शन युग का अन्त, अन्त विज्ञानों का संघर्षण,
अब दर्शन-विज्ञान सत्य का करता नव्य निरूपण।"

वह मनुष्य के सामाजिक जीवन-विकास के प्रति ऐतिहासिक दृष्टिकोण है। सामाजिक प्रगति के दर्शन के साथ ही वह उसे सामूहिक वास्तविकता में परिणत करने योग्य नवीन तन्त्र का भी विधायक है।

"विकसित हो बदले जब जब जीवनोपाय के साधन,
युग बदले, शासन बदले, कर गत सभ्यता समापन।
सामाजिक सम्बन्ध बने नव अर्थ-भित्ति पर नूतन,
नव विचार, नव रीति नीति, नव नियम, भाव, नव दर्शन।"

इतिहास-विज्ञान के अनुसार जैसे-जैसे जीवनोपाय के साधन-स्वरूप हथियारों और यन्त्रों का विकास हुआ है, मनुष्य-जाति के रहन-सहन और सामाजिक विधान में भी युगान्तर हुआ। नवीन आर्थिक व्यवस्था के आधार पर नवीन राजनीतिक प्रणालियाँ और सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हुए हैं और उन्हीं के प्रतिरूप रीति-नीतियों, विचारों एवं सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ है। साथ ही उत्पादन के नवीन यन्त्रों पर जिस वर्ग-विशेष का अधिकार रहा है, उसके हाथ जनसाधारण के शोषण का हथियार भी लगा है, और उसी ने जन-समाज पर अपनी सुविधानुसार राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व भी स्थापित किया है। पूँजीवादी युग ने संसार को जो 'विविध ज्ञान-विज्ञान, कला-यन्त्रों का अद्भुत कौशल' दिया है, उसके अनुरूप सभ्यता और मानवता का प्रादुर्भाव न होने का मुख्य कारण पूँजीवादी प्रथा ही है, जिसकी ऐतिहासिक उपयोगिता अब नष्ट हो गयी है। आज, जब कि संसार में इतिहास का सबसे बड़ा युद्ध हो रहा है, और जिसके बाद पूँजीवादी साम्राज्यवाद का—जिसका हिंस्र रूप फ़ासिज्म है—शायद, अन्त भी हो जाय, इस प्रथा के विरोधों का विवेचन करना पिष्टपेषण के समान है। मनुष्य-स्वभाव की सीमाएँ, एक ओर, वर्ग-संघर्ष एवं राजनीतिक युद्धों के रूप में, मानव-जाति के रक्त का उग्र प्रयोग करवा रही है, दूसरी ओर मनुष्य की विकास-प्रिय प्रकृति समयानुकूल उपयुक्त साहित्य एवं विचारों का प्रचार कर, नवीन मानवता का वातावरण पैदा करने के लिए सांस्कृतिक प्रयोग भी कर रही है। भले ही इस समय उसकी देन अत्यन्त स्वल्प हो और अन्धकार की प्रवृत्तियाँ कुछ समय के लिए विजयी हो रही हों, किन्तु एक कलाकार और स्वप्नस्रष्टा के नाते मैं दूसरे प्रकार की—सांस्कृतिक अभ्युदय की—शक्तियों को बढ़ाने का पक्षपाती हूँ।

'राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत के सम्मुख,'
....

'आज वृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित,
खण्ड मनुजता को युग युग की होना है नव निर्मित।'

यन्त्रों का पक्ष भी मैंने इसलिए ग्रहण किया है कि वे मानव-समूह की सांस्कृतिक चेतना के विकास में सहायक हुए हैं।

'जड़ नहीं यन्त्र, वे भाव रूप, संस्कृति द्योतक।
....

वे कृत्रिम निर्मित नहीं, जगत क्रम में विकसित
....

दार्शनिक सत्य यह नहीं,—यन्त्र जड़ मानव कृत,
वे हैं अमूर्त : जीवन विकास की कृति निश्चित!'

मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना उसकी वस्तु-परिस्थितियों से निर्मित सामाजिक सम्बन्धों का प्रतिबिम्ब है। यदि हम बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन ला सकें, तो हमारी आन्तरिक धारणाएँ भी उसी के अनुरूप बदल जायेंगी।

'कहता भौतिकवाद वस्तु जग का कर तत्वान्वेषण,
भौतिक भव ही एक मात्र मानव का अन्तर दर्पण।

स्थूल सत्य आधार, सूक्ष्म आधेय, हमारा जो मन,
बाह्य विवर्तन से होता युगपत् अन्तर परिवर्तन।'

जब हम कहते हैं कि आनेवाला युग आमूल परिवर्तन चाहता है, तो वह बहिरन्तर्मुखी दोनों प्रकार का होगा। सामन्त-युग की परिस्थितियों की सीमाओं के भीतर व्यक्ति का विकास जिस सापेक्ष-पूर्णता तक पहुँच सका अथवा उस युग के सामूहिक विकास की पूर्णता व्यक्ति की चेतना में जिन विशिष्ट गुणों में प्रतिफलित हुई, सामन्त-काल के दर्शन ने व्यक्ति के स्वरूप को उसी तरह निर्धारित किया है। यन्त्र-युग की सामूहिक विकास की पूर्णता उस धारणा में मौलिक (प्रकार का) परिवर्तन उपस्थित कर सकेगी।

प्रकृति और विवेक की तरह मनुष्य-स्वभाव के बारे में भी कोई निश्चयात्मक (पॉजिटिव) धारणा नहीं बनायी जा सकती। 'मनुष्य एक विवेकशील पशु है,—कहना पर्याप्त नहीं है। मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना उसके मौलिक संस्कारों के सम्बन्ध में वस्तु-जगत् की परिस्थितियों से प्रभावित होती है, वे परिस्थितियाँ ऐतिहासिक दिशा में विकसित होती रहती हैं। मनुष्य के मौलिक संस्कारों का देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार जो मान निर्धारित हो जाता है, अथवा उनके उपयोग के लिए जो सामाजिक प्रणालियाँ बँध जाती हैं, उनका वही व्यावहारिक रूप संस्कृति से सम्बद्ध है।

हम आनेवाले युग के लिए 'स्थूल' को (यन्त्र-युग की विकसित ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रतीक को) इसलिए 'सूक्ष्म' (भावी सांस्कृतिक मानों का प्रतीक) मानते हैं कि हमारे विगत सांस्कृतिक सूक्ष्म की पृष्ठ-भूमि विकसित व्यक्तिवाद के तत्त्वों से बनी है, और हम जिस स्थूल को कल का 'शिव सुन्दर सत्य' मानते हैं, वह स्थूल प्रतीक है सामूहिक विकासवाद का।

'स्थूल युग का शिव सुन्दर सत्य, स्थूल ही सूक्ष्म आज, जन-प्राण!'

सामन्त-युग में जिस प्रकार सामाजिक रहन-सहन और शिष्टाचार का सत्य राजा से प्रजा की ओर प्रवाहित हुआ है, उसी प्रकार नैतिक सदाचार और आदर्श उस युग के सगुण की दिशा में विकसित व्यक्ति से जनसाधारण की ओर। आज के व्यक्ति की प्रगति सामूहिक विकासवाद की दिशा को होनी चाहिए, न कि सामन्त-युग के लिए उपयोगी विकसित व्यक्तिवाद की दिशा को। 'तब वर्ग व्यक्ति गुण, जन समूह गुण अब विकसित'—सामन्त-युग का नैतिक दृष्टिकोण, उस युग की परिस्थितियों के कारण, तथोवत उच्च वर्ग के गुण से प्रभावित था।

आनेवाला युग सामन्त-युग की नैतिकता के पाश से मनुष्य को बहुत कुछ अंशों में मुक्त कर सकेगा और उसका 'पशु' (मौलिक संस्कारों-सम्बन्धी सामन्तकालीन नैतिक मान), विकसित वस्तु-परिस्थितियों के फलस्वरूप, आध्यात्मिक दृष्टिकोण के परिवर्तन से बहुत कुछ अंशों में 'देव' (सांस्कृतिक मानों का प्रतीक) बन सकेगा।

'नहीं रहे जीवनोपाय तब विकसित,
जीवन यापन कर न सके जन इच्छित।
....

देव और पशु भावों में जो सीमित
युग युग में होते परिवर्तित, विकसित।'

भावी सामाजिक सदाचार मनुष्य के मौलिक संस्कारों के लिए अधिक विकसित सामाजिक सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा।

'अति मानवीय था निश्चय विकसित व्यक्तिवाद,
मनुजों में जिसने भरा देव पशु का प्रमाद'
'मानव स्वभाव ही बन मानव आदर्श सुकर
करता अपूर्ण को पूर्ण, असुन्दर को सुन्दर'—

आदि विचार मनुष्य के दैहिक संस्कारों के प्रति इसी प्रकार के आध्यात्मिक दृष्टिकोण के परिवर्तन की ओर संकेत करते हैं।

मनुष्य क्षुधा-काम की प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर सामाजिक संगठन की ओर, और जरा-मरण के भय से आध्यात्मिक सत्य की खोज की ओर अग्रसर हुआ है। भौतिक दर्शन का यह दावा ठीक ही जान पड़ता है कि एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था में, जिसमें कि अधिकाधिक मनुष्यों को क्षुधा-काम की परितृप्ति के लिए पर्याप्त साधन मिल सकते हैं और वे वर्तमान युग की संरक्षण-हीनता से मुक्त हो सकते हैं, उन्हें अपने सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए भी अधिक अवकाश और सुविधाएँ मिल सकेंगी। एक ओर समाजवादी विधान, उत्पादन-यन्त्रों की सामाजिक उपयोगिता बढ़ाकर, मनुष्य को वर्तमान आर्थिक संघर्ष से मुक्त कर सकेगा, दूसरी ओर वह उसे सामन्तवादी सांस्कृतिक मानों की संकीर्णता से मुक्ति दे सकेगा, जिनकी ऐतिहासिक उपयोगिता अब नहीं रह गयी है और जिनकी धारणाएँ आमूल विकसित एवं परिवर्तित हो गयी हैं। यदि भावी समाज मनुष्य को रोटी (जन-आवश्यकताओं का प्रतीक) की चिन्ता से मुक्त कर सका, तो उसके लिए केवल सांस्कृतिक संघर्ष का प्रश्न ही शेष रह जायेगा। प्रत्येक धर्म और संस्कृति ने अपने देश-काल से सम्बन्ध रखनेवाले सापेक्ष सत्य को निरपेक्ष (सम्पूर्ण) सत्य का रूप देकर, मनुष्य के (स्वर्ग-नरक सम्बन्धी) दुख और भय के संस्कारों से लाभ उठाकर, उसकी चेतना में धार्मिक और सामाजिक विधान स्थापित किये हैं जोकि सामन्त-युग की परिस्थितियों को सामने रखते हुए, व्यावहारिक दृष्टि से उचित भी था। इस प्रकार प्रत्येक युग-पुरुष, राम कृष्ण बुद्ध आदि, जोकि अपने युग के सापेक्ष के प्रतीक हैं, जनता द्वारा शाश्वत पुरुष (निरपेक्ष) की तरह माने और पूजे गये हैं। सामन्तकालीन उदात्त नायक के रूप में हमारे साहित्य के 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के शाश्वत मान भी केवल उस युग के सगुण से सम्बन्ध रखनेवाली सापेक्ष धारणाएँ मात्र हैं। जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूँ, मनुष्य के मौलिक संस्कार, क्षुधा-काम आदि निरपेक्षतः कोई सांस्कृतिक मूल्य नहीं रखते। सभ्यता के युगों की विविध परिस्थितियों के अनुरूप उनका जो व्यावहारिक, सामाजिक और नैतिक मूल्य निर्दिष्ट हो जाता है उसी का प्रभाव मनुष्य के सत्य-शिव-सुन्दर की भावनाओं पर भी पड़ता है। मनुष्य की दैहिक प्रवृत्तियों और सामाजिक परिस्थितियों के बीच में जितना विशद सामंजस्य स्थापित किया जा सकेगा, उसी के अनुरूप, जन-समाज की सांस्कृतिक चेतना का भी विकास हो सकेगा। जिस सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक

सदाचार और व्यक्ति की आवश्यकताओं की सीमाएँ एक-दूसरे में लीन हो जायेंगी, उस समाज में व्यक्ति और समाज के बीच का विरोध मिट जायेगा, व्यक्ति के क्षुद्र देहज्ञान की (अहमात्मिका) भावना विकसित हो जायेगी; उसके भीतर सामाजिक व्यक्तित्व स्वतः कार्य करने लगेगा, और इस प्रकार व्यक्ति अपने सामूहिक विकास की आध्यात्मिक पूर्णता तक पहुँच जायेगा।

सामन्त-युग के स्त्री-पुरुष सम्बन्धी सदाचार का दृष्टिकोण अब अत्यन्त संकुचित लगता है। उसका नैतिक मानदण्ड स्त्री की शरीर-यष्टि रहा है! उस सदाचार के एक अंचल-छोर को हमारी मध्ययुग की सती और हमारी बाल-विधवा अपनी छाती से चिपकाये हुए है और दूसरे छोर को उस युग की देन वेश्या। 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' के अनुसार उस युग के आर्थिक विधान में भी स्त्री के लिए कोई स्थान नहीं और वह पुरुष की सम्पत्ति समझी जाती रही है। स्त्री-स्वातन्त्र्य सम्बन्धी हमारी भावना का विकास वर्तमान युग की आर्थिक परिस्थितियों के विकास के साथ ही हो रहा है। स्त्रियों का निर्वाचन-अधिकार सम्बन्धी आन्दोलन बूर्ज्वा-संस्कृति एवं पूँजीवादी युग की आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम है। सामन्त-युग की नारी नर की छायामात्र रही है।

'सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित,
पूतयोनि वह : मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित।
वह समाज की नहीं इकाई—शून्य समान अनिश्चित
उसका जीवन मान, मान पर नर के है अवलम्बित।
योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ससार अभी सामन्त-युग की क्षुद्र नैतिक और सांस्कृतिक भावनाओं ही से युद्ध कर रहा है, पृथ्वी पर अभी यन्त्र-युग प्रतिष्ठित नहीं हो सका है। आनेवाला युग मनुष्य की क्षुधा-काम की प्रवृत्तियों में विकसित सामाजिक सामंजस्य स्थापित कर हमारे सदाचार के दृष्टिकोण एवं 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की धारणाओं में प्रकारान्तर उपस्थित कर सकेगा।

ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय अध्यात्म-दर्शन में मुझे किसी प्रकार का विरोध नहीं जान पड़ा, क्योंकि मैंने दोनों का लोकोत्तर कल्याण-कारी सांस्कृतिक पक्ष ही ग्रहण किया है। मार्क्सवाद के अन्दर श्रमजीवियों के संगठन, वर्ग-संघर्ष आदि से सम्बन्ध रखनेवाले बाह्य दृश्य को, जिसका वास्तविक निर्णय आर्थिक और राजनीतिक क्रान्तियाँ ही कर सकती हैं, मैंने अपनी कल्पना का अंग नहीं बनने दिया है। इस दृष्टि से, मानवता एवं सर्वभूतहित की जितनी विशद भावना मुझे वेदान्त में मिली, उतनी ही ऐतिहासिक दर्शन में भी। भारतीय दार्शनिक जहाँ सत्य की खोज में, सापेक्ष के उस पार, 'अवाङ्मनसगोचर' की ओर चले गये हैं, वहाँ पाश्चात्य दार्शनिकों ने सापेक्ष के अन्तस्तल में डुबकी लगाकर, उसके आलोक में जन-समाज के सांस्कृतिक विकास के उपयुक्त राजनीतिक विधान देने का भी प्रयत्न किया है। पश्चिम में वैधानिक संघर्ष अधिक रहने के कारण नवीनतम समाजवादी विधान का विकास भी वहीं हो

सका है।

फ्रॉयड जैसे अन्तरतम के मनोवैज्ञानिक 'इड' के विश्लेषण में सापेक्ष के स्तर से नीचे जाने का आदेश नहीं देते हैं। वहाँ अचेतन पर, विवेक का नियन्त्रण न होने के कारण, वे भ्रान्ति पैदा होने का भय बतलाते हैं। भारतीय तत्त्वद्रष्टा, शायद, अपने सूक्ष्म नाड़ी-मनोविज्ञान (योग) के कारण सापेक्ष के उस पार सफलतापूर्वक पहुँचकर 'तदन्तरस्य सर्वस्य तत्सर्वस्यास्य बाह्यतः' सत्य की प्रतिष्ठा कर सके हैं।

मैं, अध्यात्म और भौतिक, दोनों दर्शन-सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ हूँ। पर भारतीय दर्शन की, सामन्तकालीन परिस्थितियों के कारण, जो एकान्त परिणति व्यक्ति की प्राकृतिक मुक्ति में हुई है (दृश्य जगत् एवं ऐहिक जीवन के माया होने के कारण उसके प्रति विराग आदि की भावना जिसके उपसंहार-मात्र हैं), और मार्क्स के दर्शन की, पूँजीवादी परिस्थितियों के कारण, जो वर्ग-युद्ध और रक्त-क्रान्ति में परिणति हुई है, ये दोनों परिणाम मुझे सांस्कृतिक दृष्टि से उपयोगी नहीं जान पड़े।

अध्यात्म-दर्शन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह सापेक्ष जगत् ही सत्य नहीं, इससे परे जो निरपेक्ष सत्य है वह मन और बुद्धि से अतीत है। किन्तु इस सापेक्ष जगत् का जिसका सम्बन्ध मानव-जाति की संस्कृतियों—आचार-विचार, रीति-नीति और सामाजिक सम्बन्धों से है, विकास किस प्रकार हुआ, इस पर ऐतिहासिक दर्शन ही प्रकाश डालता है। हमारे सांस्कृतिक हृदय के 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का बोध सापेक्ष है, परम सत्य इस सूक्ष्म से भी परे है—यह अध्यात्म-दर्शन की विचारधारा का परिणाम है। जीवनशक्ति गतिशील है, सामन्तकालीन सूक्ष्म से अथवा विगत सांस्कृतिक मानों और आदर्शों से मानव-समाज का संचालन भविष्य में नहीं हो सकता, उसे नवीन जीवन-मानों की आवश्यकता है, जिसके ऐतिहासिक कारण हैं, आदि,—यह आधुनिक भौतिक दर्शन की विचारधारा का परिणाम है। एक जीवन के सत्य को ऊर्ध्वतल पर देखता है, दूसरा समतल पर।

समन्वय के सत्य को मानते हुए भी मैं जो वस्तु-दर्शन के सिद्धान्तों पर इतना ज़ोर दे रहा हूँ, इसका यही कारण है कि परिवर्तन के युग में भाव-दर्शन की—जोकि अभ्युदय और जागरण-युग की चीज है—उपयोगिता प्रायः नष्ट हो जाती है। सच तो यह है कि हमें अपने देश के युगव्यापी अन्धकार में फैले, इस मध्यकालीन संस्कृति के तथाकथित ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ को, जड़ और शाखारहित, उखाड़कर फेंक देना होगा। और उस सांस्कृतिक चेतना के विकास के लिए देशव्यापी प्रयत्न और विचार-संग्राम करना पड़ेगा, जिसके मूल हमारे युग की प्रगतिशील वस्तुस्थितियों में हों। भारतीय दर्शन की दृष्टि से भी मुझे अपने देश की संस्कृति के मूल उस दर्शन में नहीं मिलते, जिसका चरम विकास अद्वैतवाद में हुआ है। यह मध्यकालीन आकाशलता, शताब्दियों के अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, प्रथाओं, और मत-मतान्तरों की शाखा-प्रशाखाओं में पुंजीभूत और विच्छिन्न होकर, एवं हमारे जातीय जीवन के वृक्ष को जकड़कर, उसकी वृद्धि रोके हुए है। इस जातीय रक्त का शोषण करनेवाली व्याधि से मुक्त हुए बिना, और नवीन वास्तविकता के आधारों और सिद्धान्तों

को ग्रहण किये बिना, हम में वह मानवीय एकता, जातीय संगठन, सक्रिय चैतन्यता, सामूहिक उत्तरदायित्व, परोक्ष और विपत्तियों का निर्भीक साहस के साथ सामना करने की शक्ति और क्षमता नहीं आ सकती, जिसकी कि हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में महाप्राणता भरने के लिए सबसे बडी आवश्यकता है। युग के सृजन एवं निर्माण-काल में संस्कृति के मूल सदैव परिस्थितियों की वास्तविकता ही में होते हैं, वह अधोमूल वास्तविकता, समय के साथ-साथ, विकास एवं उत्कर्ष-काल में, ऊर्ध्वमूल (भावरूप) सांस्कृतिक चेतना बन जाती है। आज जबकि पिछले युगों की वास्तविकता आमूल परिवर्तित और विकसित होने जा रही है, हमारी संस्कृति को, नवीन जन्म के प्रयास में, फिर से अधोमूल होना ही पड़ेगा। हम शताब्दियों से एक ही मूल सत्य को नित्य नवीन रूप देते आये हैं, अब उस सामन्तयुग की, नवीन वस्तु-स्थितियों के अनुरूप, रूपान्तरित होने की मौलिक क्षमता समाप्त हो गयी है, क्योंकि विगत युगों की वास्तविकता आज तक मात्राओं मे घट-बढ़ रही थी, अब वह प्रकार में बदल रही है।

मनुष्य का विकास समाज की दिशा को होता है, समाज का इतिहास की दिशा को,—इस ऐतिहासिक प्रगति के सिद्धान्त को हम इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या कहते हैं।

'अन्तर्मुख अद्वैत पड़ा था युग युग से निष्क्रिय निष्प्राण,
जग में उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तु विधान।'

भौतिक दर्शन 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सत्य को सामाजिक वास्तविकता में परिणत करने योग्य समाजवादी विधान का जन्मदाता है। भारतीय दर्शन के अद्वैतवाद के सत्य को देश-काल के भीतर (संस्कृति के रूप में) प्रतिष्ठित करने के योग्य विधान को जन्म देना सामन्त-युग की परिस्थितियों के बाहर था। उसके लिए एक ओर भौतिक विज्ञान के विकास द्वारा भौतिक शक्तियों पर आधिपत्य प्राप्त करने की जरूरत थी, दूसरी ओर मनुष्य की सामूहिक चेतना के विकास की। जीवन की जिस पूर्णता के आदर्श को मनुष्य आज तक अन्तर्जगत में स्थापित किये हुए था, अब उसे, एक सर्वांगपूर्ण तन्त्र के रूप में, वह बहिर्जगत् में स्थापित करना चाहता है। रहस्य और अलौकिकता के प्रति अब उसकी धारणा अधिक बौद्धिक और वास्तविक हो रही है। आनेवाला युग सामन्त-युग के स्वर्ग की अन्तर्मुखी कल्पना और स्वप्नों को सामाजिक वास्तविकता का रूप दे सकेगा। मनुष्य की सृजन-शक्ति का ईश्वर लोक-कल्याण के ईश्वर में विकसित हो जायेगा।

'स्वप्न वस्तु बन जाय सत्य नव, स्वर्ग मानसी ही भौतिक भव,
अन्तर जग ही बहिर्जगत बन जावे, वीणा पाणि, इ!'

भौतिक जगत् की प्रारम्भिक कठोर परिस्थितियों से कुण्ठित 'आदिम मानव' की हिंस्र आत्मा नवीन परिस्थितियों के प्रकाश में डूबकर आलोकित हो जायेगी। यन्त्रयुग के साथ-साथ मानव-सभ्यता में स्वर्णयुग पदार्पण कर सकेगा। ऐसी सामाजिकता में मनुष्य-जाति 'अहिंसा' को भी व्यावहारिक सत्य में परिणत कर सकेगी।

'मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद,
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद'—
वर्तमान विश्वव्यापी युद्ध के युग में उपर्युक्त विवेचना के लिए शायद ही दो मत हो सकते हैं।

यदि स्वर्णयुग की आशा आज की अतृप्त आकांक्षा की काल्पनिक पूर्ति और पलायन-प्रवृत्ति का स्वप्न भी है, तो वह इस युग की मरणासन्न वास्तविकता से कहीं सत्य और अमूल्य है। यदि इस विज्ञान के युग में, मनुष्य अपनी बुद्धि के प्रकाश और हृदय की मधुरिमा से, अपने लिए पृथ्वी पर स्वर्ग का निर्माण नहीं कर सकता और एक नवीन सामाजिक जीवन आज के रिक्त और सन्दिग्ध मनुष्य में जीवन के प्रति नवीन अनुराग, नवीन कल्पना और स्वप्न नहीं भर सकता, तो यह कहीं अच्छा है कि, इस 'दैन्य जर्जर अभाव ज्वर पीड़ित' जाति-वर्ग में विभाजित, रक्त की प्यासी मनुष्य-जाति का अन्त हो जाय। किन्तु जिस जीवन-शक्ति की महिमा युग-युग के दार्शनिक और कवि गाते आये हैं, जिसके क्रिया-कलापों और चमत्कारों का विश्लेषण कर आज के वैज्ञानिक चकित और मुग्ध हैं, वह सर्वमयी शक्ति केवल पृथ्वी के गौरव मानव-जाति के विश्व को ही इस प्रकार जीता-जागता नरक बनाये रहेगी, इस पर किसी तरह विश्वास नहीं होता।

इन्हीं विचारधाराओं, स्वप्नों और कल्पनाओं से प्रेरित होकर मैंने 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' को जन्म दिया। 'ग्राम्या' के लिए 'युगवाणी' पृष्ठभूमि का काम करती है। 'ग्राम्या' की भूमिका में मैंने ग्रामीणों के प्रति अपनी जिस बौद्धिक सहानुभूति की बात लिखी है, उस पर मेरे आलोचकों ने मुझ पर आक्षेप किये हैं। 'ग्राम जीवन में मिलकर, उसके भीतर से' मैं इसलिए नहीं लिख सका कि मैंने ग्राम-जनता को 'रक्त मांस के जीवों' के रूप में नहीं देखा है, एक मरणोन्मुखी संस्कृति के अवयव-स्वरूप देखा है, और ग्रामों को सामन्तयुग के खंडहर के रूप में।

'यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित
यह भारत का ग्राम, सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित।'
'मानव दुर्गति की गाथा से ओतप्रोत, मर्मान्तक
सदियों के अत्याचारों की सूची यह रोमांचक!'

इसी ग्राम को मैंने 'ग्राम्या' की रंगहीन रंगभूमि बनाया है।

'रूढ़ि रीतियों के प्रचलित पथ, जाति पाँति के बन्धन,
नियत कर्म हैं, नियत कर्मफल,—जीवन चक्र सनातन!'

सांस्कृतिक दृष्टि से जिस प्रिय-अप्रिय या सत्य-मिथ्या के बोध से उनका जीवन परिचालित होता है उसकी ऐतिहासिक उपयोगिता नष्ट हो चुकी है।

'ये जैसे कठपुतले निर्मित···युग-युग की प्रेतात्मा अविदित
इनकी गतिविधि करती यन्त्रित।'—

यह बात 'सारा भारत है आज एक रे महाग्राम' के लिए भी चरितार्थ होती है। इस प्रकार मैंने ग्रामीणों को भावी के 'स्वप्नपट' में चित्रित किया है, जिसमें—

'आज मिट गये दैन्य दुःख सब क्षुधा तृषा के क्रन्दन
भावी स्वप्नों के पट पर युग जीवन करता नर्तन।
ग्राम नहीं वे, नगर नहीं वे,—मुक्त दिशा औ' क्षण से
जीवन की क्षुद्रता निखिल मिट गयी मनुज जीवन से !'

जिसकी तुलना में उनकी वर्तमान दशा 'ग्राम आज है पृष्ठ जनों की करुण कथा का जीवित'—प्रमाणित हुई है।

किन्तु जनता की इस सांस्कृतिक मृत्यु के कारणों पर नवीन विचार-धारा पर्याप्त प्रकाश डालती है और वहाँ वे व्यक्ति नहीं रहते, प्रत्युत एक प्रणाली के अंग बन जाते हैं। इसीलिए मैं उन्हें बौद्धिक सहानुभूति दे सका हूँ।

'आज असुन्दर लगते सुन्दर, प्रिय पीड़ित शोषित जन,
जीवन के दैन्यों से जर्जर मानव मुख हरता मन !'

या 'वृथा धर्म गण तन्त्र—उन्हें यदि प्रिय न जीव जन जीवन' अथवा 'इन कीड़ों का भी मनुज बीज, यह सोच हृदय उठता पसीज' आदि पंक्तियाँ हार्दिकता से शून्य नहीं हैं। यदि मुझे सामन्त-युग की संस्कृति के पुनर्जागरण पर विश्वास होता, तो जनता के संस्कारों के प्रति मेरी हार्दिक सहानुभूति भी होती। तब मैं लिखता—'इस तालाब में (जन-मन में) काई लग गयी है, इसे हटाना भर है, इसके अन्दर का जल अभी निर्मल है।'—जो पुनर्जागरण की ओर लक्ष्य करता। पर मैंने लिखा है—'इस तालाब का पानी सड़ गया है, इस कृमिपूर्ण जल से काम नहीं चलेगा, उसमें भविष्य के लिए उपयोगी नया जल (संस्कृति) भरना पड़ेगा।'—जो सांस्कृतिक क्रान्ति की ओर लक्ष्य करता है। मैंने 'यहाँ धरा का मुख कुरूप है' ही नहीं कहा है 'कुत्सित गर्हित जन का जीवन' भी कहा है। जहाँ आलोचनात्मक दृष्टि की आवश्यकता है, वहाँ केवल भावुकता और सहानुभूति से कैसे काम चल सकता है ? वह तो ग्रामीणों के दुर्भाग्य पर आँसू बहाने या पराधीन क्षुधा-ग्रस्त किसानों को तपस्वी की उपाधि देने के सिवा हमें आगे नहीं ले जा सकती। इस प्रकार की थोथी सहानुभूति या दया-काव्य से मैंने 'वे आँखें', 'गाँव के लड़के', 'वह बुड्ढा', 'ग्रामवधू', 'नहान' आदि कविताओं को बचाया है जिनमें, वर्तमान प्रणाली के शिकार, ग्रामीणों की दुर्गति का वर्णन होने के कारण ये बातें सहज ही में आ सकती थीं।

डी० एच० लारेंस ने भी निम्न वर्ग की मानवता का चित्रण किया है और वह उन्हें हार्दिकता दे सका है, पर हम दोनों के साहित्यिक उप-करणों में बड़ा भारी अन्तर है। उसकी सर्वहारा (मशीन के सम्पर्क में आयी हुई जनता) की बीमारी उनके राजनीतिक वर्ग-संस्कार हैं जिनका लारेंस ने चित्रण किया है। अपने देश के जनसमूह की बीमारी उससे कहीं गहरी, आध्यात्मिकता के नाम में रूढ़ि-रीतियों एवं अन्धविश्वासों के रूप में पथराये हुए उनके सांस्कृतिक संस्कार हैं। लारेंस के पात्र अपनी परि-स्थितियों के लिए सचेतन और सक्रिय हैं। 'ग्राम्या' के दरिद्र-नारायण अपनी परिस्थितियों ही की तरह जड़ और अचेतन।

'वज्रमूढ़, जड़भूत, हठी, वृष बान्धव कर्षक,
ध्रुव, ममत्व की मूर्ति, रूढ़ियों का चिर रक्षक।'

फिर लारेंस जीवन के मूल्यों के सम्बन्ध में प्राणिशास्त्रीय मनोविज्ञान से प्रभावित हुआ है, मैं ऐतिहासिक विचारधारा से; जिसका कारण स्पष्ट ही है कि मैं पराधीन देश का कवि हूँ। लारेंस जहाँ द्वन्द्व-पीड़न से मुक्ति चाहता है, मैं राजनीतिक-आर्थिक शोषण से। फिर भी मुझे विश्वास है कि 'ग्राम्या' को पढ़कर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि मैंने दरिद्रनारायण के प्रति हृदयहीनता दिखलायी है।

ऐतिहासिक विचारधारा से मैं अधिक प्रभावित इसलिए भी हुआ हूँ कि उसमें कल्पना के स्रोत को विशद और वास्तविक पथ मिलता है। छायावाद के दिशाहीन शून्य आकाश में अति काल्पनिक उड़ान भरने वाली अथवा रहस्यवाद के निर्जन अदृश्य शिखर पर कालहीन विराम करनेवाली कल्पना को एक हरी-भरी ठोस जनपूर्ण धरती मिल जाती है।

'ताक रहे हो गगन ? मृत्यु नीलिमा गहन गगन ?
निःस्पन्द शून्य, निर्जन, निःस्वन ?
देखो भू को, स्वर्गिक भू को !
मानव पुण्य प्रसू को !'

इसी लक्ष्य-परिवर्तन की ओर इंगित करता है। 'कितनी चिड़िया उड़े अकास, दाना है धरती के पास' वाली कहावत के अनुसार ऐतिहासिक भूमि पर उतर आने से कल्पना के लिए जीवन के सत्य का दाना सुलभ और साकार हो जाता है; और कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय, कलाकौशल, समाजशास्त्र, साहित्य, नीति, धर्म, दर्शन के रूप में, एवं भिन्न-भिन्न राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्थाओं में खण्ड-खण्ड विभक्त मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना का ज्ञान अधिक यथार्थ हो जाता है।

'किये प्रयोग नीति सत्यों के तुमने जन जीवन पर,
भावादर्श न सिद्ध कर सके सामूहिक जीवन हित'

के अनुसार मध्य युग के अन्तर्मुखी वैयक्तिक प्रगति के सिद्धान्तों की जन-समूह के लिए व्यावहारिक उपयोगिता के प्रति मेरा विश्वास उठ गया। और—

'वस्तुविभव पर ही जन गण का भाव विभव अवलम्बित'

सत्य के आधार पर मेरा हृदय नवीन युग की सुविधाओं के अनुरूप एक ऐसी सामूहिक सांस्कृतिक चेतना की कल्पना करने लगा जिसमें मनुष्य के हृदय से सामन्त-युग की क्षुद्र चेतना का बोध डूब जाय! साथ ही अभाव-पीडित जनसमूह की दृष्टि से, अतृप्त इच्छाओं का सात्विक विकास एवं उन्नयन किया जा सकता है—इस नैतिक तथ्य की व्यावहारिकता पर भी मुझे सन्देह होने लगा।

छायावादी कवियों पर अतृप्त वासना का लांछन मध्यवर्गीय मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से नहीं लगाया जा सकता। भारत की मध्य युग की नैतिकता का लक्ष्य ही अतृप्त वासना और मूक वेदना को जन्म देना रहा है, जिससे बंगाल के वैष्णव कवियों के कीर्तन एवं सूर-मीरा के पद भी प्रभावित हुए हैं। संसार में सभी देशों की संस्कृतियाँ अभी सामन्त-युग की नैतिकता से पीडित हैं। हमारी क्षुधा (सम्पत्ति) और काम (स्त्री) के लिए अभी वही भावना बनी है। पुरानी दुनिया का सांस्कृतिक सगुण अभी निष्क्रिय नहीं हुआ है, और यन्त्रयुग उन परिस्थितियों को जन्म नहीं

दे सका है जिन पर अवलम्बित सामाजिक सम्बन्धों से उदित नवीन प्रकाश (चेतना) मानव-जाति का नवीन सांस्कृतिक हृदय बन सके।

'गत सगुण आज लय होने को : औ' नव प्रकाश
नव स्थितियों के सर्जन से हो अब शनैः उदय
बन रहा मनुज की नव आत्मा, सांस्कृतिक हृदय।'

मेरी कल्पना भविष्य की उस मनुष्यता और सामाजिकता को चित्रित करने में सुख का अनुभव करने लगी जिसका आधार ऐतिहासिक सत्य है। ऐतिहासिक शब्द का प्रयोग मैं इतिहास-विज्ञान ही के अर्थ में कर रहा हूँ जो दृश्य और द्रष्टा के सामूहिक विकास के नियमों का निरूपण करता है,—'मानव गुण भव रूप नाम होते परिवर्तित युगपत्।' मैं यह भी मानता हूँ कि सामूहिक विकास में बाह्य स्थितियों से प्रेरित होकर मनुष्य की अन्तश्चेतना, तदनुकूल, पहले ही विकसित हो जाती है; यथा—

'जग जीवन के अन्तर्मुख नियमों से स्वयं प्रवर्तित
मानव का अवचेतन मन हो गया आज परिवर्तित।'

किन्तु उसके बाद भी मनुष्य के उपचेतन के आश्रित विगत सांस्कृतिक गुणों की प्रक्रियाएँ होती रहती है जिसका परिणाम वाह्य संघर्ष होता है, साथ ही वह नव विकसित अचेतन की सहायता से प्रबुद्ध होकर नवीन सत्य का समन्वय भी करता जाता है।

अध्ययन से मेरी कल्पना जिन निष्कर्षों पर पहुँच सकी है उनका मैंने ऊपर, संक्षेप में, निरूपण करने का प्रयत्न किया है। मै कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता हूँ और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश भी मानता हूँ। मेरी कल्पना को जिन-जिन विचारधाराओं से प्रेरणा मिली है, उन सबका समीकरण करने की मैंने चेष्टा की है। मेरा विचार है कि, 'वीणा' से लेकर 'ग्राम्या' तक, अपनी सभी रचनाओ मे मैंने अपनी कल्पना ही को वाणी दी है, और उसी का प्रभाव उन पर मुख्य रूप से रहा है। शेष सब विचार, भाव, शैली आदि उसकी पुष्टि के लिए गौण रूप से काम करते रहे हैं।

मेरे आलोचकों का कहना है कि मेरी इधर की कृतियों में कला का अभाव रहा है। विचार और कला की तुलना में इस युग मे विचारों ही को प्राधान्य मिलना चाहिए। जिस युग मे विचार का स्वरूप परिपक्व और स्पष्ट हो जाता है, उस युग में कला का अधिक प्रयोग किया जा सकता है। उन्नीसवीं सदी में कला का कला के लिए भी प्रयोग होने लगा था, वह साहित्य में विचार-क्रान्ति का युग नहीं था। किन्तु क्या चित्रकला में, क्या साहित्य में, इस युग के कलाकार केवल नवीन टेकनीकों का प्रयोग मात्र कर रहे हैं, जिनका उपयोग भविष्य में अधिक संगतिपूर्ण ढंग से किया जा सकेगा। जागरण-युग के कवियों में, कविगुरु कालिदास और रवीन्द्रनाथ की तरह, कला का अत्यन्त सुचारु मिश्रण और मार्जन देखने को मिलता है। कवीन्द्र रवीन्द्र अपनी रचनाओं में सामन्त-युग के समस्त कला वैभव का नवीन रूप से उपयोग कर सके हैं। उनसे परिपूर्ण, कलात्मक, संगीतमय, भावप्रवण और दार्शनिक कवि एवं साहित्य-स्रष्टा शताब्दियों तक दूसरा कोई हो सकता है, इसके लिए ऐतिहासिक कारण भी नहीं हैं। भारत जैसे सम्पन्न देश का समस्त सामन्तकालीन वाङ्मय,

अपने युग के सांस्कृतिक समन्वय का विश्वव्यापी स्वप्न देखने के लिए, बुझने से पहले, जैसे अपनी समस्त शक्ति को व्यय कर, रवि-आलोकित प्रदीप की तरह, एक ही बार में प्रज्वलित होकर, अपने अलौकिक सौन्दर्य के प्रकाश से संसार को परिप्लावित कर गया है। फिर भी मैं स्वीकार करता हूँ कि इस विश्लेषण-युग के अशान्त, सन्दिग्ध, पराजित एवं असिद्ध कलाकार को विचारों और भावनाओं की अभिव्यक्ति के अनुकूल कला का यथोचित एवं यथासम्भव प्रयोग करना चाहिए। अपनी युग-परिस्थितियों से प्रभावित होकर मैं साहित्य में उपयोगितावाद ही को प्रमुख स्थान देता हूँ। लेकिन सोने को सुगन्धित करने की चेष्टा स्वप्नकार को अवश्य करनी चाहिए।

प्रगतिवाद उपयोगितावाद ही का दूसरा नाम है। वैसे सभी युगों का लक्ष्य सदैव प्रगति ही की ओर रहा, पर आधुनिक प्रगतिवाद ऐतिहासिक विज्ञान के आधार पर जन-समाज की सामूहिक प्रगति के सिद्धांतों का पक्षपाती है। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य का सामूहिक व्यक्तित्व उसके वैयक्तिक जीवन के सत्य की सम्पूर्ण अंशों में पूर्ति नहीं करता। उसके व्यक्तिगत सुख, दुःख, नैराश्य, विछोह आदि की भावनाएँ, उसके स्वभाव और रुचि का वैचित्र्य, उसकी गुण-विशेषता, प्रतिभा आदि का किसी भी सामाजिक जीवन के भीतर अपना पृथक् और विशिष्ट स्थान रहेगा किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि एक विकसित सामाजिक प्रथा का, परस्पर के सौहार्द और सद्भावना की वृद्धि के कारण, व्यक्ति के निजी सुख-दुःखों पर भी अनुकूल ही प्रभाव पड़ सकता है और उसकी प्रतिभा एवं विशिष्टता के विकास के लिए उसमें कहीं अधिक सुविधाएँ मिल सकती हैं। ऐतिहासिक विचारधारा वर्तमान युग की उस स्थिति-विशेष का समाधान करती है, जो यन्त्रयुग के प्रथम चरण पूंजीवाद ने धनी और निर्धन वर्गों के रूप में पैदा कर दी है, और जिसका उदाहरण सभ्यता के इतिहास में दूसरा नहीं मिलता। मध्ययुगों की 'अन्न वस्त्र पीड़ित, असभ्य, निर्बुद्धि, पंक में पालित' जनता का इस वाष्पविद्युद्गामी युग में सम्पूर्ण जीर्णोद्धार न करना उनके मनुष्यत्व के प्रति कृतघ्नता के सिवा और कुछ नहीं है। 'युगवाणी' का 'कर्म का मन' चेतन और सामूहिक कर्म का दर्शन है, जो सामूहिक सृजन और निर्माण का, 'भव रूप कर्म' का सन्देश देता है।

विशिष्ट व्यक्ति की चेतना सदैव ही ह्रासोन्मुख समाज की रूढ़ि-रीति-नीतियों से ऊपर होती है, उसके व्यक्तित्व की सार्वजनिक उपयोगिता रहती है। अतएव उसे किसी समाज और युग में मान्यता मिल सकती है। विचार और कर्म में किसका प्रथम स्थान है, हेगेल की 'आइडिया' प्रमुख है कि मार्क्स का 'मैटर,' ऐसे तर्क और ऊहापोह व्यर्थ जान पड़ते हैं। उन्नीसवीं सदी के शरीर और मनोविज्ञान सम्बन्धी अथवा आदर्शवाद एवं वस्तुवाद सम्बन्धी विवादों की तरह हमारा अध्यात्म और भौतिकवाद सम्बन्धी मतभेद भी एकांगी है। आधुनिक भौतिकवाद का विषय ऐतिहासिक (सापेक्ष) चेतना है और अध्यात्म का विषय शाश्वत (निरपेक्ष) चेतना। दोनों ही एक-दूसरे के अध्ययन और ग्रहण करने में सहायक होते हैं और ज्ञान के सर्वांगीण समन्वय के लिए प्रेरणा देते हैं!

आज इस संक्षिप्त 'वीणा-ग्राम्या' चयन के पृष्ठों पर आरपार दृष्टि डालने से मुझे यही जान पड़ता है कि जहाँ मेरी कल्पना ने मेरा साथ दिया है वहाँ मैं भावी मानवता के सत्य को सफलतापूर्वक वाणी दे सका हूँ और जहाँ मैं, किसी कारणवश, अपनी कल्पना के केन्द्र से च्युत या विलग हो गया हूँ वहाँ मेरी रचनाओं पर मेरे अध्ययन का प्रभाव अधिक प्रबल हो उठा है, और मैं केवल आंशिक सत्य को दे सका हूँ। इस भूमिका में मैंने उस प्रश्नावली के उत्तरों का भी समावेश कर दिया है जो सुहृद्वर श्री वात्स्यायनजी ने, मेरे आलोचक की हैसियत से, ऑल इण्डिया रेडियो से ब्राडकास्ट किये जाने के लिए, तैयार की थी और जिसके बहुत से प्रश्नोत्तरों का आशय प्रस्तुत संग्रह में सम्मिलित रचनाओं पर प्रकाश डालने के लिए मुझे आवश्यक प्रतीत हुआ। इसके लिए मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

मानव-समाज का भविष्य मुझे जितना उज्ज्वल और प्रकाशमय जान पड़ता है, उसे वर्तमान के अन्धकार के भीतर से प्रकट करना उतना ही कठिन भी लगता है। भविष्य के साहित्यिक को इस युग के वाद-विवादों, अर्थशास्त्र और राजनीति के मतान्तरों द्वारा, इस सन्दिग्धकाल के घृणा-द्वेष-कलह के वातावरण के भीतर से अपने को वाणी नहीं देनी पड़ेगी। उसके सामने आज के तर्क, संघर्ष, ज्ञान, विज्ञान, स्वप्न, कल्पना सब घुल-मिलकर एक सजीव सामाजिकता और सांस्कृतिक चेतना के रूप में वास्तविक एवं साकार हो जायेंगे। वर्तमान युद्ध और रक्तपात के उस पार वह एक नवीन, प्रबुद्ध, विकसित और हँसती-बोलती हुई, विश्व-निर्माण में निरत, मानवता से अपनी सृजन-सामग्री ग्रहण कर सकेगा। इस परिवर्तन-काल के विक्षुब्ध लेखक की अत्यन्त सीमाएँ और अपार कठिनाइयाँ हैं। इन पृष्ठों में अपने सम्बन्ध में लिखने में यदि कहीं, ज्ञात-अज्ञात रूप से, आत्मश्लाघा का भाव आ गया हो, तो उसके लिए मैं हार्दिक खेद प्रकट करता हूँ। मैंने कहीं-कहीं अपने को दुहराया है और शायद विवादपूर्ण सिद्धान्तों का विस्तारपूर्वक समाधान भी नहीं किया है। अन्त में मैं 'ग्राम्या' की अन्तिम रचना 'विनय' से दो पंक्तियाँ उद्धृत कर लेखनी को विराम देता हूँ—

> 'हो धरणि जनों की : जगत स्वर्ग,—जीवन का घर,
> नव मानव को दो, प्रभु, भव मानवता का वर!'

(१५ दिसम्बर १६४१) (आधुनिक कवि, भाग २ की भूमिका)

परिदर्शन

'रश्मिबन्ध' पहला ही संकलन है जिसमें मेरी 'वीणा' से लेकर 'वाणी' तक की चुनी हुई रचनाएँ संगृहीत हैं। इसके छोटे आकार में मेरी वाणी केवल इंगितों द्वारा ही अपने को अभिव्यक्त कर सकी है; फिर भी, चयन की दृष्टि से, मुझे विश्वास है, यह किरणों का पुलिन्दा, अपने सतरंग-वैभव से पाठकों का ध्यान आकर्षित कर, अपना नाम सार्थक कर सकेगा।

अपने साहित्यिक जीवन का श्रीगणेश करने के लिए कवि या कलाकार कहाँ से, कैसे, प्रेरणा ग्रहण कर 'मन्दः कवियशः प्रार्थी' का कार्य आरम्भ करता है, यह बतलाना कठिन है। सम्भवतः तब प्रेरणा के स्रोत भीतर न होकर अधिकतर बाहर ही रहते हैं। अपने समय के प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं से ही किसी-न-किसी रूप में प्रभावित होकर उदीयमान कवि अपनी लेखनी की परीक्षा लेता है। जब मैंने कविता लिखना प्रारम्भ किया था, तब मुझे भी ज्ञात नहीं था कि काव्य की मानव-जीवन के लिए क्या उपयोगिता या महत्ता है! न मैं यही जानता था कि उस समय काव्य-जगत् में कौन-सी शक्तियाँ कार्य कर रही थीं। जैसे एक दीपक दूसरे दीपक को जलाता है, उसी प्रकार द्विवेदी-युग के कवियों की कृतियों ने मेरे हृदय को अपने सौन्दर्य से स्पर्श किया और उसमें एक प्रेरणा की शिखा जगा दी। उसके प्रकाश में मैं भी अपने भीतर-बाहर अपनी रुचि के अनुकूल काव्य के उपादानों का चयन एवं संग्रह करने लगा। यह ठीक है कि दीप-शिखा जैसे तद्वत् दूसरी दीपशिखा को जन्म देती है, उस प्रकार पिछली पीढ़ी की काव्य-चेतना मेरे भीतर ज्यों की त्यों नहीं उतर आयी। मेरे मन ने अपनी रुचि के अनुरूप उसका संस्कार कर उसमें अपनेपन की छाप लगा दी।

अपने काव्य-जीवन पर दृष्टिपात करने पर मेरे भीतर यह बात स्पष्ट हो उठती है कि मेरे किशोर-प्राण मूक कवि को बाहर लाने का सर्वाधिक श्रेय मेरी जन्मभूमि के उस नैसर्गिक सौन्दर्य को है जिसकी गोद में पलकर मैं बड़ा हुआ हूँ। मेरे भीतर ऐसे संस्कार अवश्य रहे होंगे, जिन्होंने मुझे कवि-कर्म करने की प्रेरणा दी, किन्तु उस प्रेरणा के विकास के लिए स्वप्नों के पालने की रचना पर्वत-प्रदेश की दिगन्त-व्यापी प्राकृतिक शोभा ही ने की, जिसने छुटपन से ही मुझे अपने रुपहले एकान्त में एकाग्र तन्मयता के रश्मि-दोल में झुलाया, रिझाया तथा कोमल कण्ठ वनपाखियों के साथ बोलना-कुहुकना सिखलाया। प्रकृति-निरीक्षण और प्रकृति-प्रेम मेरे स्वभाव के अभिन्न अंग ही बन गये हैं, जिनसे मुझे जीवन के अनेक संकट क्षणों में अमोघ सान्त्वना मिली है।

कौसानी की उस जुगनुओं की जगमगाती हुई एकान्त घाटी का अवाक् सौन्दर्य मेरी रचनाओं में अनेक विस्मय-भरी उद्भावनाओं में प्रकट हुआ है:

"उस फैली हरियाली में
कौन अकेली खेल रही मा,
वह अपनी वय बाली में!"—

ऊषा, सन्ध्या, फूल, कोंपल, कलरव, मर्मर, ओसों के वन और नदी-निर्झर मेरे एकाकी किशोर-मन को सदैव अपनी ओर आकर्षित करते रहे हैं और सौन्दर्य के अनेक सद्यःस्फुट उपकरणों से प्रकृति की मनोरम मूर्ति रचकर, मेरी कल्पना, समय-समय पर, उसे काव्य-मन्दिर में प्रतिष्ठित करती रही है। प्रस्तुत संग्रह की 'हिम-प्रदेश' शीर्षक रचना में कौसानी का वर्णन इस प्रकार आया है—

"आरोही हिमगिरि चरणों पर
रहा ग्राम वह मरकत मणि कण

श्रद्धानत,—आरोहण के प्रति
मुग्ध प्रकृति का आत्म-समर्पण !
साँझ प्रात स्वर्णिम शिखरों से
द्वाभाएँ बरसातीं वैभव,
ध्यानमग्न निःस्वर निसर्ग निज
दिव्य रूप का करता अनुभव !"

'हिमाद्रि' शीर्षक रचना में भी प्राकृतिक सौन्दर्य के अनेक रूपों का चित्रण मिलेगा :

"मेघों की छाया के सँग-सँग,
हरित घाटियाँ चलतीं प्रतिक्षण,
वन के भीतर उड़ता चंचल
चित्र तितलियों का कुसुमित वन !
रँग - रँग के उपलों पर रणमण
उछल उत्स करते कल गायन
झरनों के स्वर जम-से जाते
रजत हिमानी सूत्रों में घन !"

'मेरा रचना-काल' तथा 'मैं और मेरी कला' आदि शीर्षक अपने निबन्धों में मैंने कवि-जीवन की प्रारम्भिक अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है : "तब मैं छोटा-सा चंचल-भावुक किशोर था, मेरा काव्यकण्ठ अभी नहीं फूटा था। पर, प्रकृति मुझ मातृहीन बालक को कवि-जीवन के लिए, मेरे बिना जाने ही, जैसे तैयार करने लगी थी। मेरे हृदय में वह अपनी मीठी, स्वप्नों से भरी चुप्पी अंकित कर चुकी थी, जो पीछे मेरे भीतर अस्फुट तुतले स्वरों में बज उठी। पहाड़ी पेड़ों का क्षितिज न जाने कितने ही हलके-गहरे रंगो की कोपलों और फूलों में मर्मर गुंजन भरकर मेरे भीतर अपनी सुन्दरता की रंगीन सुगन्धित तहें जमा चुका था। 'मधुबाला की मधुबोली-सी' अपने हृदय की उस गुंजार को मैंने 'वीणा' नामक काव्यसंग्रह में 'यह तो तुतली बोली में है एक बालिका का उपहार' कहा है। पर्वत-प्रदेश के उज्ज्वल-चंचल सौन्दर्य ने मेरे जीवन के चारों ओर अपने नीरव सम्मोहन का जाल बुनना शुरू कर दिया था। मेरे मन के भीतर बरफ की ऊंची चमकीली चोटियाँ रहस्य-भरे शिखरों की तरह उठने लगी थीं, जिन पर टिका हुआ रेशमी आकाश, विशाल पक्षी की तरह, अपने निःस्वर नील पंख फैलाये प्रतिक्षण जैसे उड़ने को प्रस्तुत लगता था। कितने ही इन्द्रधनुष मेरे कल्पना-पट पर रंगीन रेखाएँ खींच चुके थे, बिजलियाँ बचपन की आँखों को चकाचौंध कर चुकी थीं, फेनों के झरने मेरे मन को फुसलाकर अपने साथ गाने के लिए बहा ले जाते और सर्वोपरि हिमालय का आकाशचुम्बी सौन्दर्य मेरे हृदय पर एक महान् सन्देश, एक स्वर्गोन्मुख उदात्त आदर्श तथा एक विराट् व्यापक आनन्द, सौन्दर्य तथा तपःपूत पवित्रता की तरह प्रतिष्ठित हो चुका था।"

आगे चलकर अपनी 'हिमाद्रि' शीर्षक रचना में मैंने अपनी इस अनुभूति को इस प्रकार वाणी दी है :

"शिखर शिखर ऊपर उठ तुमने
मानव-आत्मा कर दी ज्योतित

हे असीम आत्मानुभूति में लीन
ज्योति शृंगों के भूभृत् !"
... ...
"सोच रहा, किसके गौरव से
मेरा यह अन्तर्जग निर्मित,
लगता तब, हे प्रिय हिमाद्रि,
तुम मेरे शिक्षक रहे अपरिचित !"

सन् १६१८ से '२० तक की मेरी अधिकांश रचनाएँ 'वीणा' नामक काव्य-संग्रह में छपी हैं। 'वीणा'-काल में मैंने प्रकृति की छोटी-मोटी वस्तुओं को अपनी कल्पना की तूली से रँगकर काव्य की सामग्री इकट्ठा की है। 'वीणा' में प्रकाशित 'प्रथम रश्मि' नामक कविता ने काव्य-साधना की दृष्टि से नवीन प्रभात किरण की तरह प्रवेश कर मेरे भीतर 'पल्लव'-काल के काव्य-जीवन का समारम्भ कर दिया था। सन् १६१६ की जुलाई में मैं कालेज में पढ़ने के लिए प्रयाग आया, तब से प्रायः दस साल तक प्रयाग ही में रहा। यहाँ मेरा काव्य-सम्बन्धी ज्ञान धीरे-धीरे व्यापक होने लगा। शैली, कीट्स, टेनिसन आदि अंग्रेजी कवियों से मैने बहुत-कुछ सीखा। मेरे मन में शब्द-चयन और ध्वनि-सौन्दर्य का बोध पैदा हुआ—'पल्लव'-काल की प्रमुख रचनाओं का आरम्भ इसके बाद ही होता है। प्रकृति-सौन्दर्य और प्रकृति-प्रेम की अभिव्यंजना 'पल्लव' में अधिक प्रांजल तथा परिपक्व रूप में हुई है। 'वीणा' की विस्मयभरी रहस्यप्रिय बालिका अधिक मांसल, सुरुचि-सुरंगपूर्ण बनकर, प्रायः मुग्धा युवती का हृदय पाकर, जीवन के प्रति अधिक संवेदनशील होकर, 'पल्लव' में प्रकट हुई है। इस प्रकार प्रकृति की रमणीय वीथिका से होकर ही मैं काव्य के भाव-विशद सौन्दर्य-प्रासाद में प्रवेश पा सका।

'पल्लव' की छोटी-बड़ी अनेक रचनाओं मे प्राकृतिक सौन्दर्य की झाँकियाँ दिखाती हुई तथा भावना के अनेक स्तरों को स्पर्श करती हुई मेरी कल्पना 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में मेरे उस काल के हृदय-मन्थन तथा बौद्धिक संघर्ष का विशाल दर्पण-सी बन गयी है, जिसमें 'पल्लव'-युग का मेरा मानसिक विकास तथा जीवन की संग्रहणीय अनुभूतियों के प्रति मेरा दृष्टिकोण प्रतिबिम्बित है। इस अनित्य जगत् में नित्य जगत् को खोजने का प्रयत्न मेरे जीवन में 'परिवर्तन' के रचना-काल से ही प्रारम्भ हो गया था। 'परिवर्तन' उस अनुसन्धान का केवल एक प्रारम्भिक भावोच्छ्वास-मात्र है।

'वीणा'-काल का प्राकृतिक सौन्दर्य का प्रेम 'पल्लव' की रचनाओं में भावना के सौन्दर्य की माँग बन गया है और प्राकृतिक रहस्य की भावना ज्ञान की जिज्ञासा में परिणत हो गयी है। 'वीणा' की रचनाओं में जो स्वाभाविकता मिलती है, वह 'पल्लव' में कला-संस्कार तथा अभिव्यक्ति के मार्जन में बदल गयी है। 'पल्लव' की अधिकांश रचनाएँ प्रयाग में लिखी गयी हैं। सन् १६२१ के असहयोग आन्दोलन के साथ ही हमारे देश की बाहरी परिस्थितियों ने भी जैसे हिलना-डुलना सीखा। युग-युग से जड़ीभूत उनकी वास्तविकता में सक्रियता तथा जीवन के चिह्न प्रकट होने लगे। इस जागरण के भीतर से एक नवीन वास्तविकता की रूप-

रेखा चित्त को आकर्षित करने लगी। मेरे मन में वे संस्कार धीरे-धीरे संचित तो होने लगे, पर 'पल्लव' की रचनाओं में वे मुखरित नहीं हो सके। 'पल्लव' की सीमाएँ छायावादी अभिव्यंजना की सीमाएँ हैं। वह पिछली वास्तविकता के निर्जीव भार से आक्रान्त उस भावना की पुकार थी जो बाहर की ओर राह न पाकर भीतर की ओर स्वप्न-सोपानों पर आरोहण करती हुई युग के अवसाद तथा विवशता को वाणी देने का प्रयत्न कर रही थी और साथ ही कल्पना द्वारा नवीन वास्तविकता की अनुभूति प्राप्त करने की चेष्टा कर रही थी। 'पल्लव' की प्रतिनिधि रचना 'परिवर्तन' में विगत वास्तविकता के प्रति असन्तोष तथा परिवर्तन के प्रति आग्रह की भावना विद्यमान है। साथ ही जीवन की अनित्य वास्तविकता के भीतर से नित्य सत्य को खोजने का प्रयत्न भी है, जिसके आधार पर नवीन वास्तविकता का निर्माण किया जा सके। 'गुंजन'-काल की रचनाओं में जीवन-विकास के सत्य पर मेरा विश्वास प्रतिष्ठित हो चुका है :

"सुन्दर से नित सुन्दरतर, सुन्दरतर से सुन्दरतम
सुन्दर जीवन का क्रम रे, सुन्दर-सुन्दर जग जीवन !"

आदि रचनाओं में मेरा मन युगीन वास्तविकता से ऊपर उठकर स्थायी वास्तविकता के विजय-गीत गाने को लालायित हो उठता है और उसके लिए आवश्यक साधना को अपनाने की तैयारी करने लगता है। उसे 'चाहिए विश्व को नव जीवन' का अनुभव भी होने लगता है और वह अपनी इस आकांक्षा से व्याकुल रहने लगा है।

'गुंजन' में धीरे-धीरे मैंने अपनी ओर मुड़कर तथा अपने भीतर देखकर अपने बारे में गुनगुनाना सीखा। अपने भीतर मुझे अधिक नहीं मिला। व्यक्तिगत आत्मोन्नयन के सत्य में मुझे तब कुछ भी मोहक, सुन्दर तथा महत्त्वपूर्ण नहीं दिखायी दिया। मैंने जीवन-मुक्त के लिए छटपटाती हुई अपनी जीवन-कामना तथा राग-भावना को 'ज्योत्स्ना' के रूपक में अधिक व्यापक, सामाजिक, अवैयक्तिक तथा मानवीय धरातल पर अभिव्यक्त करने की चेष्टा कर व्यक्तिगत जीवन-साधना के प्रति—जिसकी क्षीण प्रतिध्वनियाँ 'गुंजन' में मिलती हैं—विद्रोह प्रकट किया और अपने परिवेश की सामाजिक चेतना से असन्तुष्ट होकर, एक अधिक संस्कृत, सुन्दर एवं मानवोचित सामाजिक जीवन का स्वप्न प्रस्तुत किया।

'ज्योत्स्ना' में मैंने नवीन जीवन तथा युग-परिवर्तन की धारणा को सामाजिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। 'पल्लव'-कालीन जिज्ञासा तथा भावना के कुहासे से निखरकर 'ज्योत्स्ना' का जगत्, जीवन के प्रति नवीन विश्वास, आशा तथा उल्लास लेकर प्रकट होता है। 'युगान्त' में मेरा वह विश्वास बाहर की दिशा की ओर भी सक्रिय हो उठता है और विकासकामी हृदय क्रान्तिकामी भी हो जाता है। 'युगान्त' की क्रान्ति-भावना में आवेश है, और है नवीन मनुष्यत्व के प्रति संकेत। नवीन सत्य के प्रति मेरे मन का आकर्षण अधिक वास्तविक बनकर नवीन मानवता के रूप में प्रस्फुटित होने लगता है। दूसरे शब्दों में, बाह्यक्रान्ति के साथ ही मेरा मन अन्त:क्रान्ति का, नवीन मनुष्यत्व की भावात्मक उपलब्धि का भी आकांक्षी बन जाता है।

"द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र,
हे स्रस्त ध्वस्त, हे शुष्क शीर्ण"—में जहाँ पिछली वास्तविकता को बदलने के लिए ओजपूर्ण आवेश है, वहाँ—"कंकाल जाल जग में फैले फिर नवल रुधिर पल्लव लाली"—में रिक्त डालों को नवीन जीवन पल्लवों से सौन्दर्य-मण्डित करने का भी आग्रह है।

"गा कोकिल. बरसा पावक कण
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन" के साथ ही मैने
"रच मानव के हित नूतन मन···
हो पल्लवित नवल मानवपन"–भी कहा है।

यह क्रान्ति-भावना, जो आगे चलकर साहित्य मे प्रगतिवाद के नाम से प्रसिद्ध हुई, मेरी 'युगान्त'-कालीन रचनाओं में 'ताज', 'कलरव' आदि में अभिव्यक्त हुई है और मानवतावाद की भावना मेरी 'मानव', 'मधुस्मृति' आदि रचनाओं में। 'बापू के प्रति' शीर्षक उस समय की रचना गाधीवाद की ओर मेरे झुकाव की द्योतक है, जो 'युगवाणी' मे भौतिकवाद-अध्यात्मवाद के समन्वय का प्रारम्भिक रूप धारण कर लेती है। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में मेरी क्रान्ति-भावना मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित ही नही होती, उसे आत्मसात कर प्रभावित करने का भी प्रयत्न करती है :

"भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान,
जहाँ आत्मदर्शन अनादि मे समासीन, अम्लान !"

'मुझे स्वप्न दो', 'मन के स्वप्न', 'आज बनो तुम फिर से मानव', 'संस्कृति का प्रश्न', 'सांस्कृतिक हृदय' आदि उस समय की अनेक रचनाएँ मेरी समन्वयात्मक सांस्कृतिक प्रवृत्ति की द्योतक हैं। 'युगवाणी' मेरी सन् १९३७-३८ की और 'ग्राम्या' सन् '४० की रचना है, जब प्रगतिवाद हिन्दी-साहित्य में घुटनों के बल चलना सीख रहा था। आगे चलकर प्रगतिवाद ने जिस संकीर्ण दृष्टिकोण को अपनाया, उससे अधिकांश हिन्दी-लेखक सहमत नही हो सके।

कवि या लेखक अपने युग से प्रभावित होता है, साथ ही वह अपने युग को प्रभावित भी करता है। छायावादी काव्य वास्तव में भारतीय जागरण की चेतना का काव्य रहा है। उसकी एक धारा राष्ट्रीय जागरण से सम्बद्ध रही है, जिसकी प्रेरणा गांधीजी के नेतृत्व मे स्वतन्त्रता के युद्ध में निहित रही है और दूसरी धारा का सम्बन्ध उस मानसिक-दार्शनिक जागरण की भावनात्मक तथा सौन्दर्यबोध-सम्बन्धी प्रक्रियाओं से रहा है, जिसका समारम्भ औपनिषदिक विचारों तथा पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति के प्रभावों के कारण हुआ।

श्री रामकृष्णदेव के महत् जन्म में, जैसे प्रतीक-रूप में, नये भारत ने जन्म लिया था। अनेक शतियों मे भारतीय जीवन तथा मानस मे जो एक प्रकार का निष्क्रिय औदास्य, वैराग्य तथा कार्पण्य छाया हुआ था, वह जैसे रामकृष्णदेव के शुभ आगमन से तिरोहित हो गया। जिस प्रकार सरोवर के ऊपर का शैवाल हटा देने मे नीचे का निर्मल जल दिखायी देने लगता है, उसी प्रकार मध्ययुगीन जाड्य की सीमाओं तथा कुहासों से मुक्त होकर भारतीय चेतना का उज्ज्वल मुख मनश्चक्षुओं के सामने निखरकर प्रत्यक्ष होने लगा। अनेक पौराणिक व्यक्तित्वों एवं धार्मिक-

नैतिक मान्यताओं की भूल-भुलैया में खोया हुआ परम्परागत मानस जैसे नवीन तथा स्वतन्त्र रूप से सत्य की खोज करने लगा और उपनिषदों की उन्मेषपूर्ण स्वयंप्रभ मन्त्रदृष्टि से प्रेरणा प्राप्त कर नये आलोक-क्षितिजों में विचरण करने लगा। इस भाव-मुक्ति के नवोल्लास की प्रथम अभिव्यक्ति, नये युग के भारतीय साहित्य में हमें रवीन्द्रनाथ की कविता में मिलती है। मानव-जीवन-सम्बन्धी सत्य के पिटेपिटाये शास्त्रीय दृष्टिकोण से छुटकारा पाकर युग की चेतना जैसे नवीन सौन्दर्यबोध तथा आनन्द की खोज में नवीन कल्पना के सोपानों पर आरोहण करने लगी। ज्ञान, भक्ति, कर्म, ब्रह्म, विश्व, व्यक्ति आदि सम्बन्धी पथराई हुई एकरस भावनाओं में नवीन प्राणों तथा चेतना का संचार होने लगा; और नये युग की कला, विशेषतः कविता, नवीन भाव-ऐश्वर्य का निःसीम आनन्द-स्वर्ग लेकर प्रकट हुई। इस नयी चेतना ने अपने मुक्त प्रवाह में हिन्दी-कविता की भाषा को भी नवीन रूप-माधुर्य प्रदान किया और यह नवीन जागरण की प्रेरणा अपने भाव-वैभव के साथ ही नवीन जीवन-संघर्ष भी लायी, जिसने एक ओर भारतीय मानस में विचार-क्रान्ति पैदा की और दूसरी ओर राजनीतिक-क्रान्ति, जिसने सदियों से पराधीन इस भारतभूमि मे स्वतन्त्रता के शस्त्रहीन संग्राम को जन्म दिया और मात्र अपने संगठित मनःसंकल्प से अन्त में देश को स्वाधीन भी कर दिया। इस प्रकार भाव-ऐश्वर्य के अतिरिक्त हिन्दी-काव्य-चेतना की एक धारा ने सामूहिक कर्म एवं सामाजिक आदर्शों को प्रेरणा देकर प्रगतिशील दृष्टिकोण से नवीन जीवन-मूल्यों का आकलन तथा सृजन किया। खड़ीबोली जागरण की चेतना थी। द्विवेदी-युग जिस जागरण का प्रारम्भ था, हमारा युग उसके विकास का समारम्भ। छायावाद के शिल्प-कक्ष में खड़ीबोली ने धीरे-धीरे सौन्दर्यबोध, पद-मार्दव तथा भाव-गौरव प्राप्त कर प्रथम बार काव्योचित भाषा का सिंहासन ग्रहण किया। गद्य में निखार लाने के लिए उसे अभी और भी साधना तथा तपस्या करनी है। हमारी पीढ़ी एक प्रकार से व्यापक अर्थ में जागरण ही की पीढ़ी रही है। हिन्दी हम लोगों के लिए मात्र भाषा ही नहीं, एक नयी चेतना, नयी प्रेरणा का प्रतीक बनकर आयी थी। देश में सर्वत्र---सभी क्षेत्रों में नवीन जागरण की लहर दौड़ रही थी, नवीन अभ्युदय के चिह्न उदय हो रहे थे; हमने उस जागरण, उस अभ्युदय को हिन्दी ही के रूप में पहचाना था। उसी सर्वतोमुखी राष्ट्रीय जातीय अभ्युत्थान की चेतना को वाणी देने के प्रयत्न मे हिन्दी का भी कण्ठ फूटा था; उसने अपनी मध्ययुगीन ब्रजभाषा की तुतलाहट ही को नहीं छोड़ दिया था, उसके भीतर एक सबल भावना का सिन्धु भी हिलोरें लेने लगा था। इस प्रकार हिन्दी हमारे भीतर भाषा के अतिरिक्त एक राष्ट्रीय जागरण, एक सामाजिक प्रेरणा-शक्ति के रूप में एक मानवीय सौन्दर्यबोध तथा एक नवीन आत्माभिव्यक्ति के रूप में प्रकट हुई थी। छायावादी कविता ने सोयी हुई भारतीय चेतना की गहराइयों मे नवीन रागात्मकता की माधुर्य ज्वाला, नवीन जीवन-दृष्टि का सौन्दर्यबोध, तथा नवीन विश्व-मानवता के स्वप्नों का आलोक उँड़ेला। छायावाद से पहले खड़ीबोली का काव्य भाव तथा भाषा की दृष्टि से निर्धन ही रहा। छायावाद ने उसमें अँगड़ाई-लेकर-जागते-हुए भारतीय चैतन्य का भाव-वैभव

भरा। विश्वबोध के व्यापक आयाम, लोकमानव की नवीन आकांक्षाएँ, जीवनप्रेम से प्रेरित, परिष्कृत-अहंता के मांसल सौन्दर्य का परिधान उसने पहले पहल हिन्दी-कविता को प्रदान किया।

यह सब छायावाद के लिए इसलिए सम्भव हो सका कि भारतीय पुनर्जागरण विश्व-सभ्यता के इतिहास के एक और भी महान् लोक-जागरण का अंग बनकर आया था; विश्व-सभ्यता के इतिहास का ही नहीं, वह मानव-चेतना की भी एक महान् सांस्कृतिक क्रान्ति के युग का समारम्भ बनकर उदय हुआ था। इसलिए छायावाद में हमे राष्ट्रीय जागरण के मुखर गीतों के अतिरिक्त मानवीय जागरण के गम्भीर स्वप्न-मौन सवेदन-भरे स्वर तथा धरती के जनजागरण के संघर्ष-मुखर विद्रोह-भरे स्वर भी एक साथ सुनने को मिलते हैं। प्रगतिशील कविता वास्तव में छायावाद की ही एक धारा है। दोनों के स्वरों में जागरण का उदात्त सन्देश मिलता है—एक में मानवीय जागरण का, दूसरे में लोक-जागरण का। दोनों की जीवन-दृष्टि में व्यापकता रही है—एक में सत्य के अन्वेषण या जिज्ञासा की, दूसरे में यथार्थ की खोज या बोध की। दोनों ही वैयक्तिक क्षुद्र अहंता को अतिक्रम कर प्रवाहित हुई हैं; एक ऊपर की ओर, दूसरी विस्तृत धरातल की ओर। दोनों ही क्षमतापूर्ण रही हैं, एक अन्तर-गम्भीर्य की, दूसरी सामाजिक गति की शक्ति से।

छायावाद के रूप-विन्यास में कवीन्द्र रवीन्द्र तथा अंग्रेजी कवियों का प्रभाव पड़ा। भावना में महात्माजी के सांस्कृतिक व्यक्तित्व तथा युग-संघर्ष की आशा-निराशा का और विचार-दर्शन में विश्ववाद, सर्वात्मवाद तथा विकासवाद का, जो आगे चलकर, धीरे-धीरे अधिक वास्तविक भूमि पर उतरकर, जनभूवाद तथा नवमानववाद में परिणत हो गये। विश्ववाद आदि का प्रभाव छायावादी कवियों ने आरम्भ में मुख्यत: कवीन्द्र रवीन्द्र तथा अंशत: शेली आदि अंग्रेजी कवियों से ग्रहण किया। रवीन्द्रनाथ का युग विशिष्ट व्यक्तिवाद तथा व्यक्तित्ववाद का युग था। कवीन्द्र विश्वभावना तथा लोकमंगल को विशिष्ट मानव-व्यक्तित्व का अंग बनाकर ही अपने साहित्य में दे सके। जन-सामाजिकता तथा सामूहिक व्यक्तित्व की कल्पना उनके युग की विचार-सरणि का अंग नहीं बन सकी थी। यन्त्र-युग के मध्यवर्गीय सौन्दर्यबोध से उनका काव्य ओतप्रोत है, किन्तु यन्त्र-युग की जनवादी सौन्दर्य-भावना का उदय तब अपने देश के साहित्य में नहीं हो सका था। जनवादी भावना के विपरीत रवीन्द्र के विचार-दर्शन में यन्त्रों के प्रति विरोध की भावना मिलती है, जो मध्य-युगीन भारतीय संस्कृति की प्रतिक्रिया-मात्र है। श्रीकृष्ण चैतन्य एवं वैश्ववाद उनकी रचनाओं में आधुनिक रूप धारण कर सर्वात्मवाद बनकर निखरे हैं। सांस्कृतिक धरातल पर उन्होंने वसुधैव कुटुम्बकम् की भारतीय भावना का समन्वय मनोविज्ञान, विकासवाद तथा नृतत्वशास्त्र की दिशा में किया है।

कवीन्द्र महान् प्रतिभा से सम्पन्न होकर आये थे। उन्होंने अपने युग के जागरण की समस्त शक्तियों का मनन कर उनके प्राणप्रद तथा स्वास्थ्यकर सार-तत्वों का संग्रह अपने अन्तर में कर लिया था; और अनेक छन्दों, तालों तथा लयों में अपनी मर्मस्पर्शी वाणी को नित्य नवीन रूप देकर

रूढ़िग्रस्त भारतीय चेतना को अपने स्वर के तीव्र-मधुर आघातों से जाग्रत्, विमुक्त तथा विमुग्ध कर, उसे एक नवीन आकांक्षा के सौन्दर्य तथा नवीन आशा के स्वप्नों से मण्डित कर दिया था। भारतीय अध्यात्म के प्रकाश को उन्होंने पश्चिम के यन्त्रयुग के सौन्दर्य से मण्डित कर उसे पूर्व तथा पश्चिम दोनों के लिए समान रूप से आकर्षक बना दिया था। इस प्रकार नवीन युग की आत्मा के अनुकूल स्वर-झंकृति प्रस्तुत कर कवीन्द्र रवीन्द्र ने एक नवीन सौन्दर्यबोध का झरोखा भी कल्पनाशील युवक साहित्यकारों के हृदय में खोल दिया था।

इन्हीं आध्यात्मिक सांस्कृतिक तथा सौन्दर्यबोध-सम्बन्धी भावनाओं से हिन्दी में छायावादी युग के कवि भी प्रभावित हुए, किन्तु उनके युग की पृष्ठभूमि जैसे-जैसे बदलती गयी उनके काव्य-पदार्थ का भी उसी अनुपात में रूपान्तर होता गया। वे सूक्ष्म से स्थूल की ओर, आध्यात्मिकता से भौतिकता की ओर, भाव से वस्तु की ओर, सर्वात्मवाद आदि से भूवाद, जनवाद, मानवतावाद की ओर अग्रसर होते गये। कुछ ने लेखन स्थगित कर दिया, किन्तु अधिकांश लेखकों को विचारों की दृष्टि से, युग की पृष्ठभूमि ने किसी-न-किसी रूप तथा परिमाण में अवश्य प्रभावित किया है। सत्य की खोज में उड़ती हुई अस्पष्ट अभीप्सा युगपरिवेश, सामाजिक वातावरण तथा वैयक्तिक सामूहिक परिस्थितियों से प्रभावित एवं घनीभूत होकर वास्तविकता की भूमि पर विचरण करने लगी! छायावादी कविता केवल रवीन्द्र-काव्य की प्रतिध्वनि ही नहीं रही, उसने अपने युग-जीवन की शक्तियों से स्वतन्त्र रूप से प्रेरणा ग्रहण की।

छायावाद का विकास प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्यवर्ती काल में हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद प्राय: सर्वत्र ही युग की वास्तविकता के प्रति मनुष्य की धारणा बदल गयी। छायावाद ने जो नवीन सौन्दर्यबोध, जो आशा-आकांक्षाओं का वैभव, जो विचार-सामंजस्य तथा समन्वय प्रदान किया था वह पूँजीवादी युग की विकसित परिस्थितियों की वास्तविकता पर आधारित था। मानव-चेतना तब युग की बदलती हुई कठोर वास्तविकता के निकट सम्पर्क में नहीं आ सकी थी। उसकी समन्वय तथा सामंजस्य की भावना केवल मनोभूमि पर ही प्रतिष्ठित थी। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद वह सर्वधर्म-समन्वय, सांस्कृतिक समन्वय, ससीम-असीम तथा इहलोक-परलोक-सम्बन्धी समन्वय की अमूर्त भावना अपर्याप्त लगने लगी, जिससे छायावाद ने प्रारम्भिक प्रेरणा ग्रहण की थी। अनेक कवि तथा कलाकारों की सृजन-कल्पना इस प्रकार के कोरे मानसिक समाधानों से विरक्त होकर अधिक वास्तविक तथा भौतिक धरातल पर उतर आयी और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित होकर प्रगतिवाद के नाम से एक नवीन काव्य-चेतना को जन्म देने में संलग्न हो गयी। जिस प्रकार मार्क्स के भौतिकवाद ने अर्थनीति तथा राजनीति-सम्बन्धी दृष्टिकोणों को प्रभावित किया उसी प्रकार फ्रायड, युग आदि पश्चिम के मनोविश्लेषकों ने रागवृत्ति-सम्बन्धी नैतिक दृष्टिकोण में एक महान् क्रान्ति उपस्थित कर दी। फलत: छायावादी युग के सूक्ष्म आध्यात्मिक तथा नैतिक विश्वासों के प्रति सन्दिग्ध होकर तथा पश्चिम की भौतिक तथा जैवी विचार-धाराओं से अधिक-कम मात्राओं में प्रभावित होकर अनेक

प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, प्रतीकवादी कलाकार अपने हृदय के विक्षोभ तथा कुण्ठित आशा-आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति देने के लिए संक्रान्तिकाल की बदलती हुई वास्तविकता से प्रेरणा ग्रहण करने लगे।

सामूहिकता एवं सामाजिकता को प्रधानता देकर व्यक्ति के कल्याण का पथ किस प्रकार प्रशस्त तथा उन्मुक्त किया जा सकता है, यह समस्या छायावाद के द्वितीय चरण के सम्मुख उपस्थित हुई, जिसकी मर्मराहट हमें विद्रोह-भरे अनगढ प्रगतिवाद के कवियों मे मिलती है। प्रगतिवाद का जीवन-दर्शन भावप्रधान तथा वैयक्तिक न रहकर, धीरे-धीरे, वस्तुप्रधान तथा सामाजिक हो गया; किन्तु इतने व्यापक तथा मौलिक परिवर्तन को प्रगतिवाद ठीक-ठीक समझ सका और अपनी वाणी से सामूहिक विकास की भावना को ठीक पथ पर अग्रसर कर सका, ऐसा कहना अनुचित होगा। काव्य की दृष्टि से उसका सौन्दर्यबोध पूंजीवादी तथा मध्यवर्गीय भावना की प्रतिक्रियाओं से पीडित रहा। उसका भावोद्वेग किसी जनवादी यथार्थ तथा जीवन-सौन्दर्य को वाणी देने के बदले केवल धन-पतियों तथा मध्यवृत्तिवालों के प्रति विद्वेष और विक्षोभ उगलता रहा। नवीन लोक-मानवता की गम्भीर सशक्त चेतना के जागरण-गान के स्थान पर नंगे-भूखे श्रमिक कृषकों के अस्थि-पंजरों के प्रति मध्यवर्ग के आत्मकुण्ठित बुद्धिवादियों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का हुंकार-भरा क्रन्दन ही अधिक सुनायी पड़ने लगा। विचार-दर्शन की दृष्टि से, वह नवीन जन-भावना को अभिव्यक्ति न दे सकने के कारण केवल तात्कालिक परिस्थितियों के कोरे राजनीतिक नारों को बार-बार दुहराकर उनका पिष्टपेषण-मात्र करता रहा। समीक्षा की दृष्टि से अधिकांश प्रगतिवादी आलोचक साहित्य-चेतना के सरोवर-तट पर राजनीतिक प्रचार का झण्डा गाडे, ऊपर ही हाथ-पाँव मारकर, काई-सने झागों में तैरने का सुख लूटते रहे हैं और छिछले स्थलों से कीचड़ उछालते हुए काव्य की आत्मा को ढँककर तथा उसकी रीढ़ को तोड-मरोडकर नवदीक्षितों को दिग्भ्रान्त-भर करते रहे हैं।

छायावाद का प्रारम्भिक अस्पष्ट अध्यात्मवादी दृष्टिकोण प्रगतिवाद मे धूमिल भौतिकवाद तथा वस्तुवाद बनने का प्रयत्न करने लगा। जिस प्रकार छायावादियों में भागवत या विराट् चेतना के प्रति एक क्षीण दुर्बल आग्रह, आकुलता तथा बौद्धिक जिज्ञासा की भावना रही है, उसी प्रकार तथाकथित प्रगतिवादियों में जनता तथा जनजीवन के प्रति एक निर्जीव संवेदना तथा निर्बल ललक का भाव दुराग्रह की सीमा तक परिलक्षित होने लगा। दोनों ही के मन में सम्यक् साधना, अभीप्सा तथा बोध की कमी के कारण अपने इष्ट या लक्ष्य की रूपरेखा तथा धारणा निश्चित नहीं बन पायी। एक भीतरी कुहासे में लिपटे रहे, दूसरे बाहरी धुएँ मे घिरे रहे। कला की दृष्टि से प्रगतिवाद के सफल कवि छायावादी शब्दों की रेशमी रंगीनी एवं उपमाओं की अभिनव सुन्दरता का सजीव प्रयोग कर सके। छन्दों की दृष्टि से सम्भवत: उन्होंने अपनी लयहीन भावनाओं तथा क्रुद्ध उद्गारों के लिए मुक्तछन्द के रूप में पंक्तिबद्ध गद्य को अपनाना उचित समझा, जिसका प्रवाह उनके बहिर्मुख दृष्टिकोण के अनुरूप ही असम्बद्ध, बिखरा तथा ऊबड-खाबड रहा। अपने निम्न स्तर पर प्रगतिवाद में सुरुचि-संस्कारिता का स्थान विकृत तथा कुत्सित ने ले लिया। छायावादी भावना का उदार

वैचित्र्य सिमटकर उसमें अत्यन्त संकीर्ण मतवाद में बदल गया। किन्तु फिर भी प्रगतिवादियों ने किसी प्रकार अपने गिरते-पड़ते पैर मिट्टी की गर्द-गुबार-भरी व्यापक वास्तविकता की ओर उठाये।

प्रगतिवाद के अतिरिक्त छायावादी काव्य-भावना ने एक और आत्माभिव्यक्ति की पगडण्डी पकड़ी, जो, पीछे, स्वतन्त्र रूप धारण करने पर, प्रयोगवादी कविता कहलायी। जिस प्रकार प्रगतिवादी काव्य-धारा मार्क्सवाद एवं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम पर अनेक प्रकार के सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक तर्क-वितर्कों में फँसकर एक किमाकार यान्त्रिक सामूहिकता की ओर बढ़ी, उसी प्रकार प्रयोगवाद की निर्झरिणी कलकल-छलछल करती हुई फ्रायडवाद से प्रभावित होकर, स्वर-संगतिहीन भावना-लहरियों में मुखरित, अवचेतन की रुद्ध ग्रन्थियों को मुक्त करती हुई एवं दमित-कुण्ठित आकांक्षाओं को वाणी देती हुई, लोकचेतना के स्रोत से द्वीप की तरह प्रकट होकर, अपने पृथक् अस्तित्व पर अडिग जमी रही। छायावादी भावना की सूक्ष्मता इसमें टेकनीक की सूक्ष्मता बन गयी, छायावादी शब्द-वैचित्र्य इसमें उक्ति-वैचित्र्य और उसके शाश्वत दृष्टिकोण का स्थायित्व क्षणिक का उद्दीपन बन गया। अपनी रागात्मक विकृतियों तथा सन्देहवादिता के कारण इसकी सौन्दर्य-भावना अपने निम्न स्तर पर केंचुओं-घोंघों के सरीसृप जगत् से अनुप्राणित रही, जो वास्तव में पश्चिम की आधुनिकतम ह्रासोन्मुखी संस्कृति तथा साहित्य का प्रभाव है। इस प्रकार छायावाद के अन्तर्गत उसकी जीवन-सौन्दर्यवादी काव्यधारा आज अपनी अतिवैयक्तिक उपचेतनग्रस्त भावना, आत्मदया-पीड़ित अहंता तथा रूपकारिता एवं साज-सँवार-सम्बन्धी अतिप्राग्रह के कारण प्रयोगवाद के रूप में विकीर्ण हो रही है। उसमें अब वह मानववादी व्यापकता, उदात्तता, वह अन्त स्पर्शी अन्तर्भेदी दृष्टि की गहराई, वह लोकाभ्युदय की अभीप्सा तथा जागरण के सन्देश का प्रकाश नहीं देखने को मिलता। उसमें उर्दू शायरी की-सी बारीकियों, रीतिकालीन स्वरैस्यपूर्ण चित्रणों, अत्युक्तियों, भेदोपभेदों की विचित्रताओं तथा सस्ती अहंजन्य असमाधारणताओं के कारण सभी ओर से ह्रास के चिह्न प्रकट होने लगे हैं।

नयी कविता इन दोषों से कुछ हद तक अपने को मुक्त कर सकी है, पर वह अधिकतर 'कला के लिए कला' वाले सौन्दर्यवादी सिद्धान्त की प्रतिध्वनि-मात्र रह गयी है। इस समय उसका सर्वाधिक आग्रह रूपविधान एवं शिल्प के प्रति प्रतीत होता है। भाव-पक्ष को वह वैयक्तिक निधि या सम्पत्ति मानती है। भावना की उदात्तता, सार्वजनिक उपयोगिता एवं अर्थगाम्भीर्य की ओर वह अधिक आकृष्ट नहीं। भावों एवं मान्यताओं की दृष्टि से वह अभी अपरिपक्व, अनुभवहीन तथा अमूर्त ही है। वह अपने चारों ओर की परिस्थितियों के अँधेरे तथा मानसिकता के कुहासे में कुछ टटोल-भर रही है। सत्य से अधिक उसकी आस्था क्षण के बदलते हुए यथार्थ ही में है और टटोलने के ही भावुक सुख-दुःख-भरे प्रयत्न को वह अधिक महत्त्व देती है। लक्ष्य से अधिक मूल्य वह लक्ष्य के अनुसन्धान की व्यथा को देती है। इसी से उसके मानस में रस का संचार होता है, जो उसकी किशोर प्रवृत्ति है। ऐसा भाव या वस्तु-सत्य, जिसका मानव-जीवन के कल्याण के लिए उपयोग हो सके, उसे नहीं रुचता। वह उसकी काव्यगत मान्यताओं के

भीतर समा भी नहीं सकता—वह तो साधारणीकरण की ओर बढ़ना हुआ। उसे विशेषीकरण से मोह है। वह प्रतीकों, बिम्बों, शैलियों और विधाओं को जन्म दे रही है, वह अतिवैयक्तिक रुचियों की तथ्यशून्य तथा आत्ममुग्ध कविता है। आज जो एक सर्वदेशीय संस्कृति, विश्वमानवता आदि का प्रश्न साहित्य के सम्मुख है, उसकी ओर उसका रुझान नहीं। उसकी मानवता वैयक्तिक और कुछ अर्थों में अतिवैयक्तिक मानवता है। सामाजिक दृष्टि से वह समाजीकरण के विरोध में आत्मरक्षा तथा व्यक्तिगत अधिकारों के प्रति सचेष्ट तथा सन्नद्ध मानवता है।

छन्दों की दृष्टि से नयी कविता ने किसी प्रकार के महत्त्वपूर्ण मौलिक प्रयोग नहीं किये हैं। अधिकतर छन्दों का अंचल छोड़कर तथा शब्दलय को न सँभाल सकने के कारण वह अर्थलय अथवा भावलय की खोज में लयहीन, स्वरसंगतिहीन गद्यवद्‌ पंक्तियों को काव्य के लिबास में उपस्थित कर रही है, जो बहुधा भावाभिव्यक्ति को सहायता पहुँचाने में असमर्थ प्रतीत होती है। रूप और भावपक्ष की अपरिपक्वता के कारण अथवा तत्सम्बन्धी दुर्बलता को छिपाने के लिए वह शैलीगत शिल्प को ही अधिक महत्त्व देती है और व्यक्तिगत होने के कारण शैली एक ऐसी वस्तु है कि उसकी दुहाई देकर कृतिकार कुछ अंशों तक सदैव अपनी रक्षा कर सकता है।

छायावाद ने हिन्दी-छन्दों की प्रचलित प्रणाली को आमूल बदल दिया था। आमूल शब्द का प्रयोग इसलिए कर रहा हूँ कि छायावादी कवियों ने छन्दों में मात्राओं से अधिक महत्त्व उनके प्रसार तथा स्वर-संगति को दिया। उन्होंने कई प्रचलित छन्दों को अपनाते हुए भी, उनके पिटे-पिटाये यति-गति में बँधे रूप को स्वीकार न कर, उनमें प्रसार की दृष्टि से नये प्रयोग कर दिखाये। स्वर-संगति का भी उनकी कविताओं में अद्‌भुत चमत्कार मिलता है। इन कारणों से छन्द उनके हाथों से बिलकुल नये होकर निखरे। वैसे एक ही रचना में कम-अधिक मात्राओं की पंक्ति का उपयोग कर उन्होंने गति तथा लय-वैचित्र्य की सृष्टि तो की ही—जिसे आज नये कवि भी महत्त्व देते हैं—पर उससे भी अधिक छन्द-सृष्टि को उनकी देन रही है, स्वर-संगति-सम्बन्धी वैचित्र्य की। मात्रिक तथा लय छन्दों के अतिरिक्त छायावाद-युग में आलापोचित, अक्षर-मात्रिक मुक्त छन्दों का भी बहुतायत से प्रयोग हुआ है। आधुनिकतम कविता में, मुक्त-छन्दों में, प्रायः अधिक बिखराव आ जाने के कारण वे गद्यवत्‌ तथा विशृंखल लगते हैं। छन्दों के अतिरिक्त छायावाद-युग में अलंकरण-सम्बन्धी रूढ़िगत दृष्टिकोण में भी भारी परिवर्तन उपस्थित हुआ। उपमा-रूपक आदि के रहते हुए भी उनकी रीतिकालीन एक-स्वरता तथा द्विवेदी-युगीन समस्वरता में नवीन सौन्दर्य के लक्षण प्रकट हुए और शब्दालंकार केवल प्रसाधन तथा सामंजस्य द्योतक उपकरण न रहकर, भावों की अभिव्यक्ति में घुलमिलकर, उसके अनिवार्य अंग हो गये, तथा अधिक मार्मिक एवं परिपूर्ण होकर नवीन सौन्दर्य के प्रतीक बन गये। सौन्दर्यबोध—जो रूपविधान और भावबोध दोनों का प्रतिनिधित्व करता है—वह, जैसे, छायावादी युग की सर्वोपरि देन है, जिसने हमारे रूढ़ि-रीतियों के ढाँचे में बँधे हुए इतिवृत्तात्मक जीवन के विवर्ण मुख से विषाद की निष्प्रभ छाया उठाकर उस पर नवीन मोहिनी डाल दी।

छायावादी काव्यचेतना का संघर्ष मुख्यतः मध्ययुगीन निर्मम, निर्जीव जीवन-परिपाटियों से था जो, कुरूप छाया तथा घिनौनी काई की तरह युग-मानस के दर्पण पर छायी हुई थीं और क्षुद्र-जटिल नैतिक साम्प्रदायिकता के रूप में आकाश-लता की तरह लिपटकर मन में आतंक जमाये हुए थीं। दूसरा संघर्ष छायावादी चेतना का था, उपनिषदों के दर्शन के पुनर्जागरण के युग में उनका ठीक-ठीक अभिप्राय ग्रहण करने का। ब्रह्म, आत्मा, प्राण विद्या, अविद्या, शाश्वत, अनन्त, क्षर, अक्षर, सत्य आदि मूल्यों एवं प्रतीकों का अर्थ समझकर, उन्हें युग-मानस का उपयोगी अंग बनाना और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उनके बाहरी विरोधों को सुलझाकर उनमें सामंजस्य बिठाना—ये सब अत्यन्त गम्भीर और आवश्यक समस्याएँ थीं, जिनकी भूलभुलैया से बाहर निकल, कृतिकार को, मुक्त रूप से सृजन कर तथा सदियों से निष्क्रिय, विपण्ण एवं जीवन-विमुख लोकमानस को आशा, सौन्दर्य, जीवन, प्रेम, श्रद्धा, आस्था आदि का भाव-काव्य देकर, उसमें नया प्रकाश उँड़ेलना था। छायावाद मुख्यतः प्रेरणा का काव्य रहा और इसीलिए वह कल्पना-प्रधान भी रहा। कल्पना का पलायन से भिन्न, उच्च अर्थ में प्रयोग छायावादी काव्य में ही हो सका है। वह भीतर की वास्तविकता से उलझा रहा। उसने व्यक्तिगत रुचि-विमूढ़ मानव-भावनाओं को वाणी न देकर युग के व्यक्तित्व तथा व्यापक मनुष्यत्व का निर्माण करने का प्रयत्न किया।

छायावादी छन्दों में आत्मान्वेषण की शान्त स्निग्ध अन्तःस्वर-संगति है, जो अपने दुर्बल क्षणों में प्रेरणाशून्य, कोरा कोमल पद-लालित्य बनकर रह जाती है। प्रगतिवादी छन्दों में सामूहिक आन्दोलन का जागरण कोलाहल तथा स्पन्दन-कम्पन है, जो अधिकतर खोखली हुंकार तथा तर्जन-गर्जन बनकर रह जाता है। प्रयोगवादी छन्दों मे नींद-भरी करुण स्वप्न-मर्मर है, जो प्रायः आत्मदया एवं आत्मव्यथा मे द्रवित होकर भावुक उच्छ्वासों की निरर्थक सिसकियों में डूब जाता है। छायावादी प्रेमकाव्य सौन्दर्य-भावना-प्रधान है, प्रयोगवादी प्रणय-काव्य राग-मूलक। अपने स्वस्थ रूप में छायावाद एक नवीन अध्यात्म को वाणी देने का प्रयत्न करता रहा है, प्रगतिवाद एक नवीन वास्तविकता को तथा प्रयोगवाद सामूहिक साधारणता के विरोध में व्यक्ति के सूक्ष्म-गहन वैचित्र्य से भरी अहंता तथा रुग्ण कुण्ठा को। काव्य की ये तीनों धाराएँ आज की युग-चेतना के ऊर्ध्व, व्यापक, गहन संचरणों को अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रही हैं, और तीनों अभिन्न रूप से सम्पृक्त हैं।

मैंने प्रगतिवाद और प्रयोगवाद को छायावाद की उपशाखाओं के रूप में इसलिए माना है कि मूलतः ये तीनों धाराएँ एक ही युग-चेतना अथवा युग-सत्य से अनुप्राणित हुई है। उनके रूपविधान तथा भावना-सौष्ठव में कोई विशेष अन्तर नहीं और अपने विचार-दर्शन में भी वे भविष्य मे एक दूसरे के निकट आ जायेंगी। ये तीनों धाराएँ एक दूसरे की पूरक हैं। आज के संघर्षनिरत विकासकामी युग मे हम मानव-जीवन में एक नवीन संतुलन चाहते हैं, अपनी वैयक्तिक और सामाजिक धारणाओं में नवीन समन्वय चाहते हैं, अपने भीतर के सत्य और बाहर के यथार्थ को परस्पर सन्निकट लाना चाहते हैं, अपनी रागात्मक वृत्ति (प्रेय) तथा

लोक-जीवन के प्रति अपने उत्तरदायित्व (श्रेय) में नया सामंजस्य चाहते हैं। हमारी यही मूलगत आकांक्षाएँ आज हमारे साहित्य में विभिन्न अनुरंजनाओं तथा अतिरंजनाओं के साथ अभिव्यक्ति पा रही हैं। इस प्रकार जिस काव्य-संचरण का समारम्भ अपने विशिष्ट भावनात्मक दृष्टिकोण तथा अमूर्त रूप-शिल्प के कारण छायावाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ, उसकी मैं भविष्य में अनेक रूपों में नवीन सम्भावनाएँ देखता हूँ। वह हमारे विकासशील युग की भाव, विचार तथा सौन्दर्य-सम्पदा को और विकसित मानव-मूल्यों के बहिरन्तर के वैभव को पूर्णतम अभिव्यक्ति देने में सफल तथा समर्थ हो सकेगा।

अपने युग के काव्य साहित्य की पृष्ठभूमि का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराना इसलिए आवश्यक हो गया कि मैं आपके सम्मुख यह स्पष्ट कर सकूँ कि मेरी काव्यरुचि या संस्कार का निर्माण करने में किन शक्तियों का हाथ रहा तथा मेरी काव्य सम्बन्धी मान्यताओं को किस सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक जागरण की व्यापक चेतना ने प्रेरित एवं प्रभावित किया। मेरी प्रिय-अप्रिय की भावना व्यक्तिगत रुचि से बाधित न रहकर जीवन-मान्यताओं सम्बन्धी दृष्टिकोण से ही परिचालित रही है। सामाजिक-ऐतिहासिक दर्शन के अध्ययन के फलस्वरूप मेरा जीवन-दृष्टिकोण आमूल परिवर्तित नहीं हो गया था, जैसा कि मेरे आलोचकों को तब प्रतीत हुआ—मेरी जीवन-दृष्टि अधिक व्यापक हो गयी। अर्थात्, आदर्श के अन्तर्मुख चिन्तन के साथ मेरे मन ने यथार्थ के बहिर्मुख आग्रह को भी स्वीकार कर लिया। जीवनादर्श के प्रति मेरा प्रेम वैसा ही बना रहा, किन्तु उसकी प्राप्ति के लिए, उसके विकास के अंग के रूप में—वस्तुजगत् के संघर्ष को भी मेरा मन समझने लगा, तथा उसकी यथार्थता को भी महत्त्व देने लगा। किन्तु यह सब होने पर भी आदर्श तथा यथार्थ के बीच व्यवधान मेरे भीतर बना ही रहा। मेरी चेतना तब इतनी विकसित, सशक्त एवं परिपक्व नहीं हो सकी थी कि वह आदर्श और यथार्थ को एक ही मानवसत्य के—समग्र सत्य के—परस्पर पूरक अंगों के रूप में देख सके अथवा ग्रहण कर सके।

अब मैं अपनी काव्य-चेतना के विकास के एक अत्यन्त आवश्यक मोड़ या स्थिति के बारे में कहने जा रहा हूँ, जहाँ से 'स्वर्णकिरण'-युग का आरम्भ होता है, जिसे आप मेरे चेतना-काव्य का युग भी कह सकते हैं। यह 'ग्राम्या' से पाँच वर्ष के बाद का समय है। इस बीच मेरे मन में 'ज्योत्स्ना' और 'ग्राम्या' की चेतनाओं का आदर्श और यथार्थ की चिन्तन-धाराओं का संघर्ष तथा मन्थन चलता रहा। और इसी का परिपाक 'स्वर्णकिरण' की विकसित जीवन चेतना के रूप में हुआ जिसको मैंने अपनी 'स्वर्णोदय' नामक रचना में तथा 'वाणी' की 'आत्मिका' शीर्षक रचना में अधिक परिपक्व रूप में अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है।

'स्वर्णकिरण' में मैंने मानवता के व्यापक सांस्कृतिक समन्वय की ओर ध्यान आकृष्ट किया है :

"भू रचना का भूतिपाद युग हुआ विश्व इतिहास में उदित,
सहिष्णुता सद्भाव शान्ति के हों गत संस्कृति धर्म समन्वित !

वृथा पूर्व पश्चिम का दिग्भ्रम मानवता को करे न खण्डित
बहिर्नयन विज्ञान हो महत् अन्तर्दृष्टि ज्ञान से योजित !
सस्मित होगा धरती का मुख, जीवन के गृह प्रांगण शोभन,
जगती की कुत्सित कुरूपता सुषमित होगी, कुसुमित दिशि क्षण !
विस्तृत होगा जन मन का पथ, शेष जठर का कटु संघर्षण,
संस्कृति के सोपान पर अमर सतत बढ़ेंगे मनुज के चरण !"

'वाणी' में मैंने मानव-जीवन के प्रति विगत युगों के सीमित दृष्टि-कोण को अतिक्रम कर नवीन जीवन चेतना के धरातल पर सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है :

"नव मानवता को निःसंशय होना रे अब अन्तःकेन्द्रित
जन भू स्वर्ग नहीं युग सम्भव बाह्य साधनों पर अवलम्बित।
वैयक्तिक सामूहिक गति के दुस्तर द्वन्द्वों में जग खण्डित
ओ अणुमृत जन, भीतर देखो, समाधान भीतर, यह निश्चित !
'आज विशेषीकरण, समाजीकरण साथ चल रहे धरा पर,
महत् धैर्य से गढ़ने सबको मन के मन्दिर, जीवन के घर !
यह दीक्षा का युग न कला में—वृहत् लोक युग से हो प्रेरित,
भू रचना के स्वर्णिम युग के कला शिल्प स्वर शब्द हों अमित'।
'भू पर संस्कृत इन्द्रिय जीवन मानव आत्मा को रे अभिमत
ईश्वर को प्रिय नहीं विरागी, संन्यासी, जीवन से उपरत।
आत्मा को प्राणों से विलगा अधिदर्शन ने की जग की क्षति
ईश्वर के संग विचरें मानव भू पर, अन्य न जीवन परिणति !"

अपने इस नवीन काव्य-संचरण में मैंने मध्ययुगीन आध्यात्मिकता तथा आदर्शवाद की चेतना को नवीन लोक चेतना का स्वरूप देने का प्रयत्न कर उसकी निष्क्रियता को गतिमत्ता प्रदान करने की, उसकी वैयक्तिकता को उन्नत सामाजिकता में परिणत करने की चेष्टा की है। मैंने आदर्शवाद तथा वस्तुवाद के विरोधों को नवीन मानव-चेतना के समन्वय में ढालने का प्रयत्न किया है और भौतिक-आध्यात्मिक अति-रंजनाओं का विरोध कर, भौतिकता-आध्यात्मिकता को एक ही सत्य के दो पहलुओं के रूप में ग्रहण कर, उन्हें लोककल्याण के लिए महत्तर सांस्कृतिक समन्वय में, एक दूसरे के पूरक के रूप में संयोजित करना चाहा है। अपनी नवीन कृतियों में मैंने मनुष्य के लिए नवीन सांस्कृतिक हृदय को जन्म देने की आवश्यकता बतलायी है और उसे नवीन रागात्मक संवेदनों तथा नवीन प्रकाश के स्पर्शों से अनुप्राणित करने का प्रयास किया है।

'स्वर्णकिरण' और उसके बाद की मेरी काव्य-दृष्टि को मेरे आलोचकों ने समन्वयवादी जीवन-दर्शन कहकर सन्तोष कर लिया है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि उसमें पुष्कल चैतन्य की उन्होंने जान-बूझकर उपेक्षा की है। नहीं, उसकी ओर उन्होंने सम्भवतः यथेष्ट ध्यान नहीं दिया है और उसे समझने की प्रेरणा का भी अभी उदय नहीं हुआ है। इसका एक कारण, और सम्भवतः मुख्य कारण यह है कि वर्तमान सांस्कृतिक ह्रास तथा राजनीतिक उत्थान-पतन के युग में मानव चेतना और विशेषतः बुद्धिजीवियों एवं कलाकारों का भावप्रवण संवेदनशील हृदय, प्राणिक जीवन-वृत्तियों के उच्छ्वासों तथा भावनाओं के उपचेतन-स्तरों में ऐसा

उलझ गया है कि उन गुहाओं के घने अन्धकार को नवीन चैतन्य के स्वर्णिम प्रकाश से विगलित होने में समय लगेगा। सम्भवतः समय आने पर 'स्वर्णकिरण' के युग की मेरी रचनाएँ—जिनमें मेरी इधर की सभी रचनाएँ सम्मिलित हैं--पाठकों एवं आलोचकों का ध्यान अधिक आकृष्ट कर सकेंगी और उनके लिए अधिक न्याय हो सकेगा; मैं उनके सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि उनमें केवल समन्वयवादी या अध्यात्मवादी बौद्धिक दर्शन ही नहीं है—उनमें मेरी समस्त जीवन-अनुभूतियों का तथा 'ग्राम्या' की हरीतिमा का भी निचोड है। उनमें जीवन-सौन्दर्य के परिधान में मूर्त, नवीन जीवन्त मानव-चैतन्य भी है, जिसको अधिक पूर्ण अभिव्यक्ति 'वाणी' के अन्तर्गत मेरी 'आत्मिका' शीर्षक रचना में मिल सकी है।

नयी चेतना के बारे में उसमें मैंने इस प्रकार कहा है—

"कोटि सूर्य जलते रे उज्ज्वल उस मानव पर्वत के भीतर
मनुष्यत्व नव बहिर्दीप्त वह अन्तःसंस्कृत, आत्म मनोहर!
लोक प्रेम वह, मनुज हृदय वह, इन्द्रिय मन जिसमें संयोजित
अणु विनाश को अतिक्रम कर वह निज रचनाप्रियता में जीवित!"

यह एक इतना विराट् तथा विश्व-व्यापी चेतनात्मक क्रान्ति का युग है कि मानव-मन उसके महत्त्व को अभी पूर्णतः ग्रहण नहीं कर पाया है—यह महत् अन्तःक्रान्ति, जो मानव-जीवन में एक महान् परिवर्तन तथा रूपान्तर उपस्थित कर सकेगी, अभी केवल विकास के पथ में है,—मैंने 'उत्तरा' के गीतों में इस ओर संकेत किया है—उसका सूक्ष्म सांस्कृतिक ऐश्वर्य, मनोवैभव तथा जीवन-सौन्दर्य अभी सम्पूर्णतः प्रस्फुटित होकर मनुष्य के भीतर नहीं अवतरित हो सका है।

आज के युग में कविता को केवल वादों, बौद्धिक दर्शनों, सामूहिक नारों, अवचेतन के वैचित्र्य-भरे अपरूप उच्छ्वासों एवं उद्गारों के रूप ही में देखना उसके प्रति अन्याय करना है। जुगनुओं की पंक्तियों की भाँति मानव-मन की विपण्ण गहराइयों में जगमगाती हुई, रीढ़हीन, फूल-पत्तियों की बेलों की तरह धरती में चिपकी हुई या बेलबूटों की तरह कढ़ी हुई सतरें और जिस तथ्य को भी वाणी देती हों, वे निश्चय ही नये युग के नये मानव-चैतन्य अथवा नये मानव-सत्य को अभिव्यक्त नहीं करतीं, इसमें मुझे रत्ती-भर सन्देह नहीं। सम्भवतः यह कविता के विश्राम-ग्रहण करने का समय है। नया मानव-चैतन्य अन्तर्मुखी होकर अपने लिए, नवीन भावभूमि, नवीन सौन्दर्य-वाणी, नवीन माधुर्य रस तथा नवीन इन्द्रिय आनन्द का स्पर्श खोज रहा है।

यह हमारे लिए बड़े सौभाग्य की बात है कि हमने इस विराट् युग में जन्म लेकर, साहित्य के क्षेत्र में, इन नव नवोन्मेषिणी भाव-शक्तियों को धारण तथा वहन करने का गौरव प्राप्त किया है। स्वर्ग से नरक तक के स्तर आज के युग में आन्दोलित हो उठे हैं। मानव-जाति की सर्वोच्च मान्यताओं के शिखर तथा निश्चेतन मन के अन्धकार-भरे गह्वर आज नवीन आलोक की रेखाओं तथा नवीन प्राणों के स्पर्श से उन्मीलित हो रहे हैं। आज हम देश, जाति, वर्ग आदि सब की सम्मिलित संश्लिष्ट इकाई को विश्व-जीवन में, नवीन मानवता के रूप में प्रतिष्ठित करने के

प्रयत्नों में संलग्न हैं। मेरे युग की जो काव्य-चेतना राष्ट्रीय जागरण के बाह्य प्रभावों से जाग्रत होकर, पश्चिमी सभ्यता तथा संस्कृति के स्पर्शों से सौन्दर्यबोध ग्रहण कर, भारतीय चैतन्य के अभिनव आलोक से अनुप्राणित होकर, क्रमशः प्रस्फुटित एवं विकसित हुई थी, आज वह अनेक भावनाओं तथा विचारों के धरातलों को पार कर, मानव-मन की गहनतम तलहटियों तथा उच्चतम शिखरों के छाया-प्रकाश का समावेश करती हुई, अधिक प्रौढ़ एवं अनुभव-पक्व होकर, मानव-जीवन के मंगलमय उन्नयन एवं मानव-जाति से परस्पर सम्मिलन के स्वर्ग के निर्माण में अविरत रूप से साधना-रत है। आज की काव्य-चेतना अनेक युगों को पार कर नवीन युग में प्रवेश कर रही है। यह उसके लिए अत्यन्त संकट तथा संघर्ष का युग है। आज स्वप्न और वास्तविकता, सत्य और यथार्थ एक दूसरे के विरोध में खड़े, एक अधिक व्यापक एवं समुन्नत जीवन-सत्य की चरितार्थता में संयोजित होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। आज मानव-क्षमता तथा मानव-दुर्बलता एक दूसरे को चुनौती दे रही हैं। आज धरा-सृजन और विश्व-संहार आमने-सामने खड़े ताल ठोंक रहे हैं।

उन्हीं विचारों तथा भावनाओं को मैंने अपने इधर के काव्य में इस प्रकार वाणी दी है :

"भूखण्डों में भग्न, विभाजित बहिर्मुखी युग मानव का मन,
स्थापित स्वार्थों से शत खण्डित मानव आत्मा का हत प्रांगण!
देश खण्ड से भू मानव का परिचय देने का क्या क्षण यह?—
मानवता में देश जाति हों लीन, नये युग का सत्याग्रह!"
"व्यक्ति विश्व के संघर्षण से निखर उठा मन में नव मानव
जो विकास पथ में अब भू पर अन्तर में ले अक्षय वैभव!
जन्म पीढ़ियों में ले नव-नव मर्त्य अमर को होना विकसित,
भू जीवन मन को अतिक्रम कर स्वर्ग धरा पर रचना जीवित!"
"जन भू पर निर्मित करना नव जीवन बहिरन्तर संयोजित,
मनुज धरा को छोड़ कहीं भी स्वर्ग नहीं सम्भव, यह निश्चित!"

ऐसी महान् सम्भावनाओं और घोर दुःसम्भावनाओं के युग में कवि एवं कलाकार को अपने अन्तर्विश्वास के शिखर पर अविचल खड़ा रहकर, मानव-अन्तश्चैतन्य से प्रकाश ग्रहण कर, स्वप्न और कल्पना के ही उपादानों से सही, महत्तम मानव-भविष्य का निर्माण करना है : और धरती के मानस को—पिछली मान्यताओं एवं परिस्थितियों का कलमष-कर्दम धोकर—उसे नवीन जीवन-चैतन्य के सौन्दर्य से मण्डित कर, मानवीय एवं स्वर्गोपम बनाना है। मानव-अहंता के तुषानल के ताप से बिना झुलसे उसे अपने फूलों के हँसते हुए चरण आगे बढ़ाने हैं, और स्वप्नों की अमूर्त अँगुलियों के कोमलतम स्पर्शों से छूकर भू-मानव के मन की निर्मम जड़ता को द्रवीभूत करना है। साहित्यकार की वाणी की उपयोगिता, महत्ता तथा उत्तरदायित्व इस युग में जितना अधिक बढ़ गया है, उतना शायद इधर मानव-इतिहास के किसी युग में नहीं बढ़ा था। आज उसे धरती के विशृंखल जीवन को नये छन्द में बाँधना है—मनुष्य की बौद्धिक अनास्थाओं को अतिक्रम कर उसके भीतर नवीन हृदय की रचना करनी है। युग-परिस्थितियों के घोर अन्धकार से प्रकाश खींचकर उसे दुःस्वप्नों से

आतंकित मानव के मानस-क्षितिज में नया अरुणोदय लाना है।

आज के महासंक्रान्ति के युग में मुझे प्रतीत होता है कि मेरे भीतर मेरे उदयकाल में जिस किशोर-कवि ने वीणा के गीत गुनगुनाये थे, आज वह अपना सर्वस्व गँवाकर केवल आज के विश्व-जीवन का तथा भविष्य के अन्तरिक्ष मे मुसकुराती हुई नवीन मानवता का विनम्र स्वर, सौम्य सन्देशवाहक एव दूत-भर रह गया है—उसकी क्षीण कण्ठध्वनि आज के तुमुल कोलाहल में लोगों को सुनायी देगी कि नहीं, मैं नही जानता।

विज्ञान और साहित्य—विशेषत: काव्य-साहित्य—ही लोकमंगल का पथ ग्रहण कर, अपनी असीम स्थूल-सूक्ष्म शक्तियों की सम्भावनाओं से, आज मानव-जगत् तथा मन का बहिरन्तर रूपान्तर एवं पुनर्निर्माण कर इस युग के नरक को नये स्वर्ग का रूप दे सकते है, इसमें मुझे रत्ती-भर सन्देह नही। हमारे युवकों तथा छात्रों को मानव-चेतना के नवीन प्रकाश का सन्देशवाहक बनकर आज धरती के पथराये मन में अपने नवीन रक्त का संगीत-स्पन्दन, तरुण हृदयों के स्वप्नों का जागरण तथा अदम्य प्राणों का सौन्दर्य एवं ऐश्वर्य भरना है—मानवता के प्रति वे अपने इस अमूल्य दायित्व को न भूलें। ('रश्मिबन्ध' से)

चरण-चिह्न

'चिदम्बरा' को पाठकों के सम्मुख रखने से पहले उस पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेने की इच्छा होती है। इस परिदर्शन में, अपने विगत कृतित्व को, आलोचक की दृष्टि से देखने की अनधिकार चेष्टा नही करना चाहता; युग की मुख्य प्रवृत्तियों से मेरा काव्य किस प्रकार सम्बद्ध रहा, उस ओर, संक्षेप में, ध्यान-भर आकृष्ट कर देना पर्याप्त समझता हूँ।

'पल्लविनी' मेरी प्रथम उत्थान की रचनाओं की चयनिका थी, जिसमें 'वीणा', 'ग्रन्थि', 'पल्लव', 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना' तथा 'युगान्त' की विशिष्ट कविताएँ संकलित है। इस संचरण के कृतित्व के प्रति मेरे आलोचक प्राय: कृपालु और उदार रहे है, सम्भवत: इसलिए कि उस उत्थान के कृतित्व ने छायावाद के बहिरंग को सँवारने तथा उसे कोमल कान्त कलेवर की शोभा प्रदान करने के प्रयत्न में हाथ बँटाया है।

छायावाद की सार्थकता, मेरी दृष्टि में, उस युग के विशिष्ट भावनात्मक दृष्टिकोण तक ही सीमित है, जो भारतीय जागरण की चेतना का सर्वात्मवादमूलक कैशोर समारम्भ-भर था; उस युग की कविता में और भी अनेक प्रकार के अभिव्यंजना के तत्व, तथा रूप-शिल्प की विशेषताओं के व्यापक उपकरण है, जो खड़ीबोली के गद्य-पद्य के लिए स्थायी देन के रूप में रहेंगे। मेरी रचनाओं में वह भावनात्मक दृष्टिकोण, अधिकतर, 'वीणा' में तथा 'पल्लव' की कुछ रचनाओं में मिलता है; मेरा तब का काव्य मुख्यत: प्रकृति-काव्य है। 'ग्रन्थि', 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' में छायावादी दृष्टिकोण प्राय: उनके रूपविधान तक ही सीमित है; 'युगान्त' में विधान-शिल्प में भी मौलिक रूपान्तर के चिह्न प्रकट होते हैं। कुछ

आलोचकों का कहना है कि 'युगवाणी-ग्राम्या' के बाद, 'स्वर्णकिरण', 'उत्तरा' की रचनाओं में, मैं फिर छायावादी शैली में लौट आया हूँ, जिससे मैं सहमत नहीं। छायावादी शैली में भाव और रूप अन्योन्याश्रित होकर शब्द की चित्रात्मकता में प्रस्फुटित होते हैं। मेरे उत्तर-काव्य में स्वत: चेतना या प्रेरणा अपनी अतिशयता में रूपविधान को अतिक्रम करती रही है, जो मेरा व्यक्तिगत अनुभव है। 'स्वर्णकिरण', 'उत्तरा' तथा 'अतिमा' की शब्द-योजना में प्रस्फुटन से अधिक परिणति है।

'चिदम्बरा' मेरी काव्य-चेतना के द्वितीय उत्थान की परिचायिका है। उसमें 'युगवाणी' से लेकर 'अतिमा' तक की रचनाओं का संचयन है, जिसमें 'युगवाणी', 'ग्राम्या' तथा 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि'; 'युग-पथ' के अन्तर्गत 'युगान्तर', 'उत्तरा', 'रजत-शिखर', 'शिल्पी', 'सौवर्ण' अथच 'अतिमा' की चुनी हुई कृतियों के साथ 'वाणी' की अन्तिम रचना 'आत्मिका' भी सम्मिलित है। 'पल्लविनी' में सन् '१८ से लेकर '३६ तक, मेरे उन्नीस वर्षों के कृतित्व के पदचिह्न हैं, और 'चिदम्बरा' में सन् '३७ से '५७ तक, प्राय. बीस वर्षों की विकास-श्रेणी का विस्तार। मेरी द्वितीय उत्थान की रचनाएँ, जिनमें युग की, भौतिक-आध्यात्मिक, दोनों चरणों की प्रगति की चापें ध्वनित हैं, समय-समय पर, विशेष रूप से कटु आलोचनाओं एवं आक्षेपों का लक्ष्य रही है। ये आलोचनाएँ, प्रकारान्तर से, उस युग के साहित्यिक मूल्यों तथा रूप-शिल्प सम्बन्धी संघर्षों तथा द्वन्द्वों का निदर्शन है, और, स्वयं अपने में एक मनोरंजक अध्ययन भी। आने-वाली पीढ़ियाँ निश्चयपूर्वक देख सकेंगी कि उस युग का साहित्य, विशेष-कर आलोचना-क्षेत्र, किस प्रकार संकीर्ण, एकांगी, पक्षधर तथा वाद-ग्रस्त रहा है और उसमें तब की राजनीतिक दलबन्दियों के प्रतिफलस्वरूप किस प्रकार मान्यताओं तथा कला-रुचि-सम्बन्धी साहित्यिक गुटबन्दियाँ रही है। भविष्य, निश्चय ही, इस युग के कृतित्व पर अधिक निष्पक्ष निर्णय दे सकेगा, काल ही वह राज-मराल है, जो नीर-क्षीर-विवेक की क्षमता रखता है।

मुझे स्मरण है, 'पल्लव' की प्रमुख रचना 'परिवर्तन' लिखने के बाद मेरा काव्य-बोध का क्षितिज बदलने लगा था, जिसका आभास 'छाया-काल' शीर्षक 'पल्लव' की अन्तिम रचना मे मिलता है, जिसमें मैंने अपने किशोर मन से प्रकट रूप से बिदा ली है :

"स्वस्ति, जीवन के छाया काल,
मूक मानस के मुखर मराल,
स्वस्ति, मेरे कवि बाल!
... ...
दिव्य हो भोला बालापन,
नव्य जीवन, पर, परिवर्तन!
स्वस्ति, मेरे अनंग नूतन,
पुरातन मदन दहन!"

इसके अतिरिक्त कि 'बालापन', 'परिवर्तन' तथा 'अनंग,' 'पल्लव' की रचनाओं के शीर्षक हैं, इस प्रगीत में अन्य बातों की ओर भी संकेत है। मैंने अपने मानस को मूक कहा है; मेरा विचारों का मन तब जाग्रत्

नहीं था, केवल भावों का मराल मुखर था। मैंने अनंग नूतन के रूप में अनागत अरूप नूतन का स्वागत किया है, साथ ही पुरातन-रूढ़ि-रीतियों में बद्ध जीवन का मदन-दहन करने की इच्छा प्रकट की है, जो 'युगान्त' में मुखरित हो सकी है। यह सम्पूर्ण कविता मेरी उस काल की मनोवृत्ति का सच्चा दर्पण है; उसे मैंने 'पल्लव' के अन्त में विशेष रूप से स्थान दिया है।

'परिवर्तन' में अंकित मानव-जीवन के दुःख-दैन्य के कारण-बीज अधिकतर हमारी पुरातन रूढ़ि-रीतियों तथा मध्ययुगीन सामाजिक व्यवस्था में है, इसका बोध मुझे तब होने लगा था। 'पल्लव' सन् '२६ में प्रकाशित हुआ है, तब से सन् '३२ तक—जब 'गुंजन' प्रकाशित हुआ—मेरे मानस-मन्थन का युग रहा है, जिसमें मुझे एक सूक्ष्म दृष्टि भी प्राप्त हुई है, जिसके प्रारम्भिक स्फुरण "जग के उर्वर आँगन में" तथा "लायी हूँ फूलों का हास" आदि सन् '३० की रचनाओं में, और व्यापक स्वरूप के दर्शन 'ज्योत्स्ना' के नवीन युग-प्रभात में मिलते है, जो सन् '३४ में प्रकाशित हुई है। 'गुंजन' में मेरी नवीन साधना के प्रगीत है। अवश्य ही 'पल्लव'-कालीन किशोर मानस तब अपना सहज सन्तुलन खो चुका था, जो प्रकृतिगत जीवन-सिद्ध संस्कारों तथा संसार के प्रति जन्मजात विश्वासों का बना होता है। 'गुंजन'-काल में मुझे अपने प्रति पुनः नवीन आत्म-विश्वास जाग्रत् करने की आवश्यकता थी। पारिवारिक अवलम्ब छूट जाने के कारण, जिसकी चर्चा 'आत्मिका' में है, व्यक्तिगत सुख-दुःखों एवं मानसिक ऊहापोहों को नवीन बोध के धरातल पर उठाने के साथ ही जग-जीवन से भी नवीन रूप से सम्बन्ध स्थापित करने की जीवनाकांक्षा मुझे प्रेरित करने लगी थी। "जग जीवन में है सुख दुख" अथवा "स्थापित कर जग मे अपनापन" आदि, अनेक रचनाएँ इस इच्छा की द्योतक हैं। "तप रे मधुर मधुर मन" में—जो 'गुंजन' की प्रथम रचना है—मैं अनुभवों की आँच में तपकर अपने मन को नवीन रूप से नवीन विश्वासों मे ढालता हूँ। "सुन्दर विश्वासों से ही बनता है सुखमय जीवन" भी इसी मानस-रचना के प्रयत्न का परिचायक है। वह जिज्ञासाओं के संघर्ष का युग था; 'गुंजन' की 'अप्सरा' जब पीछे 'ज्योत्स्ना' के रूप मे प्रस्फुटित होकर मेरे मन में अवतीर्ण हुई तब तक मुझे अनेक नवीन विश्वासों, आदर्शो तथा विचारों की उपलब्धियाँ हो चुकी थीं।

मानव-समाज के रूपान्तर की भावना का उदय मेरे मन में 'ज्योत्स्ना'-काल ही में हो गया था। 'ज्योत्स्ना' में मनःस्वर्ग से अनेक नवीन सृजन-शक्तियाँ भू-मानस पर अवतरित होती हैं। उनका गीत इस प्रकार है :

"हम मनःस्वर्ग के अधिवासी,
जग जीवन के शुभ अभिलाषी,
नित विकसित, नित वर्धित, अर्चित,
युग-युग के सुरगण अविनाशी!
हम नामहीन, अस्फुट नवीन,
नव युग अधिनायक, उद्भासी!"

इस गीत में नित विकसित नित वर्धित तथा हम नामहीन, अस्फुट नवीन, नवयुग अधिनायक-विशेषण विशेष ध्यान देने योग्य हैं। स्वप्न और कल्पना

ज्योत्स्ना से कहते हैं : "इन नवीन भावनाओं के वस्त्र पहनाकर एवं मानवीय रूप-रंग-आकार ग्रहण कराकर हमें आपने उन्मुक्त निःसीम से किस दिव्य प्रयोजन के लिए अवतीर्ण करवाया, सम्राज्ञि !" उसी दृश्य में वेदव्रत कहता है : "जिस प्रकार पूर्व की प्राचीन सभ्यता अपने एकांगी तत्त्वावलोचन के दुष्परिणामस्वरूप काल्पनिक मुक्ति के फेर में पड़कर···जनसमाज की ऐहिक उन्नति के लिए बाधक हुई, उसी प्रकार पश्चिमी सभ्यता एकांगी जड़वाद के दुष्परिणामस्वरूप···विनाश के दलदल में डूब गयी।" और भी, "पाश्चात्य जड़वाद की मांसल प्रतिमा में पूर्व के अध्यात्म-प्रकाश की आत्मा एवं अध्यात्मवाद के अस्थि-पंजर में जड़-विज्ञान के रूप-रंग भरकर हमने नवयुग की सापेक्षतः परिपूर्ण मूर्ति का निर्माण किया है। उसी पूर्ण मूर्ति के विविध अंग-स्वरूप पिछले युगों के अनेक वादविवाद यथोचित रूप ग्रहण कर सके हैं।" भौतिक-आध्यात्मिक समन्वय तथा रूपान्तरित भू-जीवन के मूल्यों की नींव—जिन्हें मेरी आगे की रचनाओं में अधिक पूर्ण अभिव्यक्ति मिल सकी है—मेरे मन में इसी काल में पड़ गयी थी। 'ज्योत्स्ना' की सूक्ष्म दृष्टि मेरी आँखों के सामने एक गहरी वर्णमैत्री के विराट् इन्द्रधनुष की तरह खुली थी। मेरे मन को एक सूक्ष्म आनन्द, जो आस्था भी था, स्पर्श कर चुका था। 'ज्योत्स्ना' का ज्योति-अन्धकार का युद्ध मेरे ही मन का युद्ध था, जिसकी चर्चा मैंने 'आत्मिका' में की है :

'मानस तल में ऊपर नीचे चलता तब संघर्षण अविरत
तम पर्वत, सागर प्रकाश का मन्थित रहते शिखरों में शत !
...   .
करवट लेता भावी नवयुग, गत भू मन को कर क्षत विक्षत,
...   .
मुँह तक तम से भर जाता मन उपचेतन आवेशों से श्लथ !
...   .
अविदित भय से कँपता अन्तर स्वर्गिक संकेतों से पोषित,
...   .
तम प्रकाश की युग सन्ध्या में होता मन में मौन अवतरित
'ज्योत्स्ना' का जीवन प्रभात नव, भू पर श्री मुख शोभा कल्पित !

'युगान्त' तक मेरी भावना में नवीन के प्रति एक आग्रह उत्पन्न हो चुका था, जिसे "द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र" अथवा "गा, कोकिल, बरसा पावक कण"—"रच मानव के हित नूतन मन"—आदि रचनाओं में मैंने वाणी दी है। इस नवीन भाव-बोध के सम्मुख मेरा 'पल्लव'-युग का कलात्मक रूप-मोह ('पल्लव' की भूमिका जिसका निदर्शन है) पीछे हटने लगा। मेरा मन युग के आन्दोलनों, विचारों, भावों तथा मूल्यों के नवीन प्रकाश से ऐसा आन्दोलित रहा कि 'पल्लव'-'गुंजन' की सूक्ष्म कला-रुचि को मैं अपनी रचनाओं में बहुत बाद को, परिवर्तित एवं परिणत रूप में, सम्भवतः 'अतिमा'-'वाणी' के छन्दों में, पुनः प्रतिष्ठित कर सका हूँ, जिनमें उसका विकास तथा परिष्कार भी हुआ है और उसमें कला-वैभव के साथ भाव-वैभव भी उसी अनुपात में अनुस्यूत हो सका है, जो 'पल्लव'-'गुंजन'-काल की रचनाओं में सम्भव न था।

कुछ आलोचकों को 'युगवाणी' से 'उत्तरा' तक की मेरी रचनाओं में कला-ह्रास के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं, जिसे मैं दृष्टि-भेद की विडम्बना कहूँगा। 'उत्तरा' को सौन्दर्यबोध तथा भाव-ऐश्वर्य की दृष्टि से, मैं अब तक की अपनी सर्वोत्कृष्ट कृति मानता हूँ। उसके अनेक गीत, जो 'चिदम्बरा' में सम्मिलित हैं, अपने काव्यतत्त्व तथा भाव-चैतन्य की ओर, समय आने पर, पाठकों का ध्यान आकर्षित कर सकेंगे। 'उत्तरा' के पद नव मानवता के मानसिक आरोहण की सक्रिय चेतन आकांक्षाओं से झंकृत हैं। चेतना की ऐसी क्रियाशीलता मेरी अन्य रचनाओं में नहीं मिलती है।

"स्वप्नज्वाल धरणी का अचल,
अन्धकार उर आज रहा जल !
... ...
तुम रजत वाष्प के अम्बर से
बरसाती शुभ्र सुनहली झर !
... ...
स्वप्नों की शोभा बरस रही
रिम झिम-झिम अम्बर से गोपन !
... ...
लो, आज झरोखों से उडकर
फिर देवदूत आते भीतर !
... ...
कैसी दी स्वर्ग विभा उडेल
तुमने भू मानस में मोहन !" इत्यादि।

ऐसे अनेक उदाहरण 'उत्तरा' से दिये जा सकते हैं जो युग-मानव के भीतर नवीन जीवन-आकांक्षा के उदय की सूचना देते हैं, जिस नवीन भाव-बोध की पृष्ठभूमि (मनोभूमि) के कारण ही आज बहिर्जीवन का दैन्य मनुष्य को इतना कुत्सित तथा कुरूप प्रतीत होने लगा है। 'उत्तरा' में मैंने पृथ्वी पर स्वर्गिक शिखरों का वैभव लुटाने का दावा किया है :

मैं स्वर्गिक शिखरों का वैभव,
हूँ लुटा रहा जन धरणी पर !
... ...
देवों को पहना रहा पुनः
मैं स्वप्न-मांस के मर्त्य वसन !"

'ग्राम्या' में भी, मेरी दृष्टि में, ग्राम जीवन के भाव-क्षेत्र के अनुरूप कला-शिल्प वर्तमान है। 'ग्राम्या' की भाषा गाँवों के वातावरण की उपज है :

"गंजी को मार गया पाला
अरहर के फूलों को झुलसा,
हाँका करती दिन-भर बन्दर
अब मालिन की लड़की तुलसा !
... ...
बैठी छाती की हड्डी अब
झुकी पीठ कमठा - सी टेढ़ी,

पिचका पेट, गढ़े कन्धों पर,
फटी बिवाई से हैं एड़ी !
... ...
खैर, पैर की जूती, जोरू
एक न सही, दूसरी आती,
पर जवान लड़के की सुध कर
साँप लोटते, फटती छाती !" इत्यादि ।

'ग्राम्या' के भाव-पक्ष में—जिसे मैंने कोरी भावुकता से बचाकर, सहानुभूतिपूर्वक, मान्यताओं के प्रकाश में सँवारा है—लोक-जीवन के कलुष पंक को धोने के लिए नव मानव की अन्तर-पुकार है। 'युगवाणी' और 'स्वर्ण-धूलि' मे भाव-ऐश्वर्य की तुलना में कला-पक्ष सम्भवत: गौण हो गया है, जो मेरी दृष्टि में स्वाभाविक है। इनमें मेरी कल्पना ने अनुद्घाटित नवीन भूमियों तथा क्षितिजों में प्रवेश किया है। वह केवल मेरे भाव-प्रवण हृदय का आवेग-ज्वार था, जो विगत युगों की भौतिक, सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक मान्यताओं से ऊब-खीझकर, अपनी अबाध जिज्ञासा के प्रवाह में, अन्ध-रूढ़ियों के बन्धनों तथा निषेध-वर्जनों के अवरोधों को लाँघता हुआ, पार्थिव-अपार्थिव नवीन चैतन्य के धरातलों तथा शिखरों की ओर बढ़ना एवं आरोहण करता गया। वास्तव में वह आरोहण मेरे लिए स्वयं एक कलात्मक अनुभव एवं सांस्कृतिक अनुष्ठान रहा है। कविता और कला-शिल्प मेरी दृष्टि में फूल और उसके रूप-मार्दव की तरह अभिन्न हैं। रूप-मार्दव ?—हाँ, किन्तु रंग-गन्ध-मधु-फल ही फूल का वास्तविक दान है। अन्नभरी सुनहली बाल, नाल पर खड़ी रहने के बदले यदि अपने ऐश्वर्य-भार से झुक जाती है, तो इसे विधाता की कला की परिणति ही समझना चाहिए। कुछ ऐसा ही कलात्मक सम्बन्ध, मेरे मन का, 'युगवाणी', 'स्वर्ण-किरण' तथा 'स्वर्ण-धूलि' की रचनाओं से रहा है। 'स्वर्ण-धूलि' में आर्षवाणी के अन्तर्गत वैदिक साहित्य के अध्ययन से प्रभावित जो मेरी रचनाएँ हैं, वे अक्षरश: वैदिक छन्दों के अनुवाद नहीं हैं। मेरे भाव-बोध ने उन मन्त्रों को जिस प्रकार ग्रहण किया है वही उनका मुख्य तत्त्व और स्वर है। कहीं-कहीं तो मैंने उन मन्त्रों की व्याख्या कर दी है।

'पल्लव' के सौन्दर्य-बोध के क्षितिज से बाहर निकलते-निकलते जब मैं अपने तथा बाहर के जगत् के प्रति प्रबुद्ध हुआ, तो मुझे जीवन की भीतरी-बाहरी परिस्थितियों का बोध पीड़ित करने लगा। 'पल्लव'-काल में मैं परमहंसदेव के वचनामृत तथा स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के विचारों के सम्पर्क में आ गया था। अपने देश में स्वतन्त्रता युद्ध के स्वरूप तथा गांधीजी के व्यक्तित्व ने मेरा ध्यान भारत के मानस-महत्त्व तथा जीवन-दैन्य की ओर आकृष्ट किया। सन् '२१ के असहयोग में मैं अपने छात्र-जीवन से विदा ले चुका था। गांधीजी का तप:पूत, कर्मठ व्यक्तित्व, जो धीरे-धीरे गांधीवाद का रूप ग्रहण करने लगा था, मन को अधिकाधिक आकर्षित करता था। 'गुंजन' के आत्म-संस्कार के स्वर में, अप्रत्यक्ष रूप से, गांधीजी का भी प्रभाव हो सकता है। उनके सांस्कृतिक चैतन्य को मैंने, उस युग की अनेकानेक छोटी-बड़ी रचनाओं में, श्रद्धांजलि

अर्पित की है।

देश के जीवन-दर्शन से बाहर मेरा ध्यान सर्वाधिक तब जिन वस्तुओं की ओर आकृष्ट हुआ था, वे थे मार्क्सवाद तथा रूसी क्रान्ति। गांधीवाद के साथ तब प्रायः समाजवाद-साम्यवाद के विचारों, आदर्शों तथा कार्य-प्रणालियों की प्रतिध्वनियाँ कानों में पड़ती थीं। मेरे किशोर-सखा पूरन (जो पी० सी० जोशी के नाम से प्रसिद्ध हैं) तब प्रयाग विश्वविद्यालय में इतिहास के छात्र थे। उनसे प्रायः ही नये राजनीतिक-आर्थिक सिद्धान्तों की चर्चा और उन पर वाद-विवाद होता था। उनका व्यक्तित्व एवं मानस, उन तीन-चार वर्षों के भीतर, मेरी आँखों के सामने ही, धीरे-धीरे, डलिहया के भरे-पुरे फूल की तरह, पूर्ण साम्यवादी के रूप में प्रस्फुटित हुआ था। ऐतिहासिक चेतना से प्रभावित होने के कारण उनको जीवन के समस्त क्रिया-कलापों, अभावों तथा दैन्यों का निदान और समाधान बाह्य जगत् में ही दिखायी देता था। उनकी मानसिक परिणति ने मार्क्स-वाद तथा साम्यवाद के अनेक दुर्बल-सशक्त पक्षों को मेरी आँखों के सामने अपने-आप खोल दिया और उनकी निष्कपट मैत्री के स्पर्श ने उन उग्र सिद्धान्तों को ममता तथा सहानुभूति की दृष्टि से देखना सिखला दिया। मार्क्सवाद का जटिल आर्थिक पक्ष मुझे मेरे भाई स्व० देवीदत्त पन्त ने सम-झाया था। वह तब प्रयाग विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में एम० ए० कर चुके थे और कुशाग्र बुद्धि होने के कारण अपने विषय के मर्मज्ञ थे। अपने मित्र तथा भाई के सम्पर्क में आकर मैं मार्क्सवाद के गहन कान्तार को, अपने ढीठ कल्पना-पंखों से, साहस-पूर्वक, अत्यन्त उत्साह तथा हर्षानुभूति के साथ पार कर सका, (तब, जब हिन्दी में सम्भवतः, इस प्रकार की कविता का जन्म भी नहीं हुआ था, जो पीछे प्रगतिशील कविता कहलायी) और कालाकाँकर के गाँवों का वातावरण पाकर 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की रचनाओं में अपनी उस नवीन जीवन-दृष्टि की प्रक्रियाओं को उन्मुक्त रूप से वाणी दे सका। 'युगवाणी' की रचनाएँ सन् '३७-'३८ में लिखी गयी थीं। उनमें से अधिकांश सन् '३८ में 'रूपाभ' के अंकों में प्रकाशित हो चुकी थीं। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में ('ग्राम्या' में सन् '३९-'४० की रचनाएँ हैं) अनेक नवीन सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण मेरे मन में उदय हुए हैं। आज भी, जब नव मानवतावाद की दृष्टि से, मैं विश्व-जीवन के बाह्य पक्ष की समस्याओं पर विचार करता हूँ, तो मार्क्सवाद की उपयोगिता मुझे स्वयं-सिद्ध प्रतीत होती है।

आज की राजनीतिक दलबन्दी में खोये हुए, पूर्वग्रह-पीड़ित आलोचकों को जब छायावाद-त्रयी या चतुष्टय में, केवल मैं ही अप्रगतिशील लगता हूँ और वे सब प्रगतिशील लगते हैं, जो सम्भवतः, तब युग-दायित्व के प्रति पूर्णतः प्रबुद्ध भी न थे, तो मैं उनका प्रतिवाद नहीं करता। मानव जीवन के व्यापक सत्यों को, चाहे वे आर्थिक हों या आध्यात्मिक, पूर्वग्रह और विद्वेष की टेढ़ी-मेढ़ी सँकरी गलियों में भटकाकर, झुठलाया नहीं जा सकता; समय पर वे लोक-मानस में अपना अधिकार अवश्य स्थापित करेंगे। सम्भवतः जिस संकीर्ण अर्थ में अब प्रगतिवाद का प्रयोग किया जाता है, उस अर्थ में मैं प्रगतिवादी हूँ भी नहीं।

अपने-अपने 'हीरो' (नायक) के उपासक, ये पक्षधर आलोचक जब

'पल्लव' की कला का समर्थन करते हैं, तो मैं जानता हूँ, वे पाठकों का ध्यान मेरी उन कृतियों से विरत करने का बहाना खोजते हैं, जिनमें उन्हें अपनी दलगत संकीर्णता तथा एकांगिता का समर्थन नहीं मिलता। काव्य-गुण तथा लोक-मांगल्य की दृष्टि से मेरी उत्तर-कृतियों के चैतन्य तथा कला-बोध के सामने 'पल्लव' की कला अल्प-प्राण बालिका के समान तुतलाती प्रतीत होती है। वे पूछते हैं, प्रकृति तथा इन्द्रधनुष को देखकर मेरे मन में अब भी वैसी ही विस्मयकारी कैशोर प्रतिक्रियाएँ क्यों नहीं होती, जैसी 'पल्लव'-काल मे होती थीं। ऐसे अबोध प्रश्नों का क्या उत्तर हो सकता है?

कला के कोमल फेन का मूल्य मानवीय संवेदना के स्वस्थ सौन्दर्य से अधिक है, इसे मेरा मन नहीं मानता। फिर कला के अनेक रूप हैं, जिनसे वह मर्म को स्पर्श करती है। 'युगवाणी' की अनेक पंक्तियाँ 'पल्लव' की मांसल कल्पना एवं अलंकरणों से रहित होने पर भी अपनी कलात्मक क्षमता रखती हैं। "आज असुन्दर लगते सुन्दर" इस आधे चरण से आज के युग-जीवन की विपन्न रूप-रेखा आँखों के सामने आ जाती है, क्या यह कला की शक्ति नहीं? 'बन गये कलात्मक भाव, जगत के रूप नाम" में समस्त मानव-भविष्य के निर्माण का चित्र खिंच जाता है। "कंकाल जाल जग में फैले फिर नवल रुधिर, पल्लव लाली" का गतिशील स्वस्थ सौन्दर्य छिपा नहीं है। वनस्पतिशास्त्री कहते हैं, जब वन में वसन्त आता है तब वनस्पति-जगत् के जीवन में इतनी अधिक गति का संचार होता है कि वन के जीव-जन्तुओं का जीवन भी अपनी भागदौड़ में उससे होड़ नहीं ले पाता। उपर्युक्त चरण मे भी उसी वेग से नव जीवन का रुधिर दौड़ता दिखायी देता है। "इस धरती के रोम-रोम में भरी सहज सुन्दरता"—'पल्लव' में ऐसी व्यापक अनुभूति की सरल कलात्मक अभिव्यक्ति कहीं नहीं मिलती। ऐसी सैकड़ों पंक्तियाँ पल्लवोत्तर काव्य-ग्रन्थों से चुनी जा सकती हैं। मैंने अधिकांश उदाहरण 'युगवाणी' से इसलिए दिये हैं कि उसमें कला का एकान्त अभाव बताया जाता है। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की कलात्मक अभिव्यक्ति वस्तुपरक है। 'युगवाणी' के तीसरे संस्करण की भूमिका में मैंने इस पर प्रकाश डाला है। वह हमारे युग की अदम्य कलात्मक न्याय की पुकार थी, जिसने मुझे 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' लिखने को बाध्य किया। 'स्वर्ण-किरण' और बाद की रचनाओं का कला-पक्ष भी भाव-सौन्दर्य-मण्डित, अन्तर्दीप्त एवं मांगल्य शक्ति-सम्पन्न है; यह दूसरी बात है कि उनमें राजनीतिक दलबन्दी की रिक्त पुकार तथा रूक्ष प्रचार न हो।

वास्तव में हमारे साहित्य में जीवन-यथार्थ की धारणा इतनी एकांगी, खोखली तथा रुग्ण हो गयी है कि हमें शोषित, जर्जर और लघु मानव के रुग्ण-चित्रण में ही कलात्मक परितृप्ति मिलती है। हम स्वस्थ मानवता की दिशा की ओर दृष्टिपात नहीं करना चाहते क्योंकि वहाँ हम अपनी मध्यवर्गीय कुण्ठाओं से ग्रस्त, आत्मपराजित, क्षुद्र, संकीर्ण, द्वेषदग्ध, काममूढ़ जीवन के लिए सहानुभूति नहीं जगा पाते, जिसे युग-जीवन तथा कला का परिधान पहनाकर दूसरों के करुणा-कण प्राप्त करने के लिए हम आत्म-विस्तार का माध्यम बनाना चाहते हैं,—जो नवलेखन का

दृष्टिकोण है, जो सद्य: और क्षणिक की अँगुली पकड़े हुए है। अथवा, हम राजनीतिक आवेगों एवं शक्तिमद की आकांक्षा से प्रेरित होकर आलोचना के नाम में मतवाद तथा गाली-गलौज का अन्धड़ उठाकर उसमें साहित्यिक मूल्यों को आमूल, वृक्षों की तरह, उखाड़ फेंकना चाहते हैं, जो हमारा प्रगतिशील दृष्टिकोण रहा है। दोनों ही में घन-यथार्थ की धारणा का अभाव है—ऐसा धन या भाव यथार्थ जो आज के विश्वव्यापी ह्रास से मानव-जीवन को ऊपर उठाकर उसे शान्ति, प्रकाश तथा कल्याण के भुवनों की ओर ले जा सके।

प्रेमचन्दजी का यथार्थ राजनीतिक दाँव-पेंचों का यथार्थ न होकर मानवीय तथा साहित्यिक यथार्थ था। वह लघु मानव की कुण्ठाओं से भरा, तुच्छ, आत्मपीड़ित यथार्थ नहीं, जिसमें मनुष्य परिस्थितियों की निर्ममता को अपनी रीढ़ तोड़ने देता है और अपनी आगे न बढ़ सकने की लुंजपुंज क्षोभ भरी वास्तविकता का चित्रण कर आत्म-तृप्ति का अनुभव करता है। प्रेमचन्द का यथार्थ सामाजिक जीवन के साथ संघर्ष करता हुआ, विकासशील, आशा-क्षमतापूर्ण, मनुष्य को आगे बढ़ानेवाला व्यापक यथार्थ था, जिसमें लोकमांगल्य के नव-अंकुरित बीज मिलते हैं।

यदि प्रगतिशील विचारकों का ध्येय साहित्यिक नेतागीरी तथा यान्त्रिक-तार्किक मूल्यों का प्रचार करना रहा है, तो नवलेखन का ध्येय, अधिकतर, रूपविधान का मोह तथा रीढ़हीन, आत्म-सुख-दु:ख के कर्दम में रेंगनेवाले लघु यथार्थ के कला-फेन की सृष्टि करना—जिसमें भाव की समस्त शक्ति रूप की भूलभुलैया में खो जाती है। लोकजीवन एवं विश्वजीवन-प्रवाह की मुख्य मान्यताओं का परित्याग कर और व्यापक मानवीय मूल्यों की ओर से आँखें मूंदकर, अधिकांश नव लेखकों ने गौण, अतिवैयक्तिक, भावोच्छ्वासपरक, तथा कुछ अंशों में, प्रतिक्रियात्मक मान्यताओं को अपनाया है। उनमें से अनेक प्रतिभासम्पन्न लेखक जनतन्त्र-वादी देशों से विभीन पश्चिम के कोमल अस्थि, अल्पसंख्यक बौद्धिकों तथा अस्तित्ववादियों से प्रभावित है, जो समतल निराशा एवं विषाद के कारण महत् के प्रति सन्दिग्ध तथा क्षणिक एवं अल्प के प्रति सुखवादियों की तरह मुग्ध होकर, संक्रान्तिकालीन मध्यवर्गीय तुच्छ दु:ख-दर्द के प्रति आस्था-ममता रखनेवाली अहंता, कुण्ठा एवं आत्मरति-भरी वास्तविकता को कला के ललित फेन में लपेटकर, कला को कला के लिए सँवारकर, उसे साहित्य के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। आज की नयी कविता अपनी प्रयोगवादी सीमाओं को अतिक्रम करने के प्रयत्न में, नवीन मानव-मूल्यों की खोज में, सामाजिक चेतना की वास्तविकता के घनत्व से हीन एक भयानक शून्य में भटक गयी है और उपचेतन व्यक्तित्व के मोहक गर्त में फँसकर ऐसे अनिर्वैयक्तिक छायाभासों तथा व्यक्तिगत रुचियों के भावना-मूढ़ भेदोपभेदों, अतिवास्तविक प्रतीकों तथा शशक-शृंगबिम्बों को जन्म दे रही है जिनका मानवता तथा लोक-मांगल्य से दूर का भी सम्बन्ध नहीं—मांगल्य, जो बहुमुखी मानव-सत्य की एक-मात्र कसौटी है। इस प्रकार वह एक कृत्रिम-भाविक अलंकरण-मात्र बनती जा रही है।

प्रयोगवादी कविता की भविष्य में क्या सम्भावनाएँ हैं, यह अभी नहीं कहा जा सकता। अभी तक तो उसमें असम्पृक्त खण्डित बिम्बों तथा भग्न

प्रतिमाओं के खँडहरों में इधर-उधर क्षण-सौन्दर्य की झाँकी के साथ चकाचौंध और कृत्रिम चमत्कार ही अधिक मिलता है। प्रकाश जो अन्तस्तल एवं अन्तर्गठन है, उसके बीज तथा अंकुर अभी नहीं दिखायी पड़ते हैं। किन्तु भविष्य की कविता अवश्य ही मानवता की सर्वश्रेष्ठ सिद्धि होगी, जिसमें सौन्दर्य, प्रेम, प्रकाश और आनन्द अपने क्षितिजों के पार के ऐश्वर्य को रूप-बोध के सूक्ष्म सूत्रों में गूँथ सकेंगे, इसमें सन्देह नहीं। अपनी अनेक सीमाओं के रहते हुए भी—जो भविष्य में मिटायी जा सकती हैं—हिन्दी-काव्य के राजपथ पर, अभी तक तो छायावाद ही, नवीन सौन्दर्य-मंजरियों का मुकुट लगाये, नवीन प्रकाश-दिशा की खोज में, मन्द-धीर गति से चरण बढ़ा रहा है, ऐसा मेरा अनुमान है।

नये लेखक-आलोचक, आत्म-विज्ञापन की धुन में, छायावादका परिचय अपने पाठकों को उसी प्रकार देते हैं, जिस प्रकार कोई रामायण में तुलसी की नारीत्व के प्रति भावना को "ढोल गँवार शूद्र पशु नारी" का उदाहरण देकर उपस्थित करे। छायावाद तथा काव्य-मूल्यों के सम्बन्ध में दोनों दलो के लेखकों के जो अधिकांश आलोचनात्मक ग्रन्थ तथा लेख विगत वर्षों में निकले हैं, वे इस बात के प्रमाण हैं। मैं यह सब लिखकर सामान्य हिन्दी पाठकों के लिए—जो लेखक-वर्ग में नहीं हैं—इधर की काव्य-मान्यताओं तथा साहित्यिक आलोचनाओं की पृष्ठभूमि स्पष्ट किये दे रहा हूँ, जिससे उन्हें युग-साहित्य को समझने में सहायता मिले।

'पल्लव'-काल तक मेरा कवि आत्म-प्रबुद्ध नहीं हुआ था; उसके बाद ही वह अपने बाहर-भीतर के जीवन-प्रवाह के प्रति सचेत हो सका, और अपने बाहर के सामाजिक जीवन की सीमाओं से क्षुब्ध होकर उसने 'युगान्त', 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में, पुरानी दुनिया की अन्ध रूढ़ि-रीति-परम्पराओं तथा वैज्ञानिक युग से पहले की संकीर्ण आर्थिक-राजनीतिक प्रणालियों तथा सामाजिक परिस्थितियों में पथरायी हुई बाह्य जीवन की चेतना पर निर्मम आघात किये और अपने युग की सम्भावनाओं से नयी दृष्टि प्राप्त कर नवीन परिस्थितियों के विकसित सत्य को वाणी देने का प्रयत्न किया। साथ ही, विगत युगों के नैतिक-धार्मिक विचारों एवं आदर्शों की सीमाओं से परिचित होने पर मानव-जीवन तथा मन को व्यापक धरातल पर उठाने के अभिप्राय से युग का ध्यान नवीन चैतन्य तथा अध्यात्म के शिखरों की ओर आकृष्ट किया और शतियों के पुंजीभूत निष्क्रिय मानस-अन्धकार को नवीन स्वप्नों की सुनहली लपटों में जगाने की चेष्टा की। इसमें मेरी निर्मम सीमाएँ परिलक्षित होती हों, पर ये वे सीमाएँ नहीं, जिनकी कि पक्षधर आलोचक घोषणा करते हैं।

मेरा भावप्रवण हृदय बचपन से ही सौन्दर्य के प्रेरणाप्रद स्पर्शों के प्रति संवेदनशील रहा है, वह सौन्दर्य चाहे नैसर्गिक हो या सामाजिक, मानसिक हो या आध्यात्मिक। मैं हिमालय तथा कूर्माचल के प्राकृतिक ऐश्वर्य से उसी प्रकार किशोरावस्था में प्रभावित हुआ हूँ, जिस प्रकार युवावस्था में गांधीजी तथा मार्क्स से अथवा मध्य वयस में श्री अरविन्द के दर्शन तथा व्यक्तित्व से। हिमालय पर मेरी सबसे बड़ी रचना मद्रास में लिखी गयी, जहाँ विशाल समुद्र के तट पर हिमालय के विराट् सौन्दर्य की शुभ्र स्मृति मनश्चक्षुओं के सामने निखर उठी और किशोर जीवन की

अनेक मधुर स्मृतियों एवं अनुभवों में पुंजीभूत प्रवासी मन में 'हिमाद्रि' तथा 'हिमाद्रि और समुद्र' शीर्षक रचनाएँ मूर्त हो उठीं। युवावस्था के आरम्भ में रवीन्द्रनाथ तथा अंग्रेजी कवियों ने भी मेरी कला-रुचि का संस्कार किया है; किन्तु कला-रुचि एवं सौन्दर्य-बोध से भी अधिक मूल्यवान जो इस युग के लिए नवीन भाव-चैतन्य, नवीन सामाजिकता तथा नवीन मानवता का बोध है, वह मुझमें गांधी, मार्क्स तथा श्री अरविन्द के सम्पर्क से विकसित हुआ। निस्सन्देह, मेरे भीतर अपने विशिष्ट संस्कार रहे हैं। प्रबुद्ध होने पर अपने युग तथा समाज से मुझे घोर असन्तोष रहा है। धरती के जीवन को नवीन मानवीय ऐश्वर्य एवं सौन्दर्य से मण्डित देखने की दुर्निवार आकांक्षा मुझमें, अधिक कल्पनाशील होने के कारण, युवावस्था ही में उत्पन्न हो गयी थी। साथ ही, मेरे भीतर अनेक प्रकार की बौद्धिक-भाविक सूक्ष्म प्रक्रियाएँ भी निरन्तर चलती रही हैं, जिनसे, ग्रहणशीलता की वृद्धि के अतिरिक्त, मुझे अनेक उपलब्धियाँ भी होती रही हैं। मैंने बाहर के प्रभावों को सदैव अपने ही अन्तर के प्रकाश में ग्रहण किया है, और वे प्रभाव मेरे भीतर प्रवेश कर नवीन दृष्टिकोणों तथा उपकरणों से मण्डित होकर निखरे हैं, जिन्हें मैं समय-समय पर अपनी रचनाओं में वाणी दे सका हूँ। जब मानव-मन की सूक्ष्म अनुभूतियों के प्रति आधुनिकता का दावा करनेवाले, आज के कोरे बौद्धिक सन्देह प्रकट करते हैं, तो यह समझने में देर नहीं लगती कि उनकी बौद्धिकता तथा आधुनिकता कितने गहरे पानी में है। 'चिदम्बरा' की पृथु-आकृति में मेरी भौतिक, सामाजिक, मानसिक, आध्यात्मिक संचरणों से प्रेरित कृतियों को एक स्थान पर एकत्र देखकर पाठकों को उनके भीतर व्याप्त एकता के सूत्रों को समझने में अधिक सहायता मिल सकेगी। इनमें, मैंने अपनी सीमाओं के भीतर, अपने युग के बहिरन्तर के जीवन तथा चैतन्य को, नवीन मानवता की कल्पना से मण्डित कर, वाणी देने का प्रयत्न किया है। मेरी दृष्टि में 'युगवाणी' से लेकर 'वाणी' तक मेरी काव्य-चेतना का एक ही संचरण है, जिसके भौतिक और आध्यात्मिक चरणों की सार्थकता द्विपद-मानव की प्रगति के लिए, सदैव ही, अनिवार्य रूप से रहेगी।

'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में भी मेरा दृष्टिकोण मानव-जीवन के सत्य के प्रति समन्वयात्मक ही रहा है, जैसा कि मैं 'आधुनिक कवि—भाग दो' की भूमिका में कह चुका हूँ। मैंने मानव-जीवन के विकास के लिए भौतिक-आध्यात्मिक दोनों मूल्यों की अनिवार्य आवश्यकता बतलायी है :

"भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान,
जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान!
... ...
अन्तर्मुख अद्वैत पड़ा था युग-युग से निष्क्रिय, निष्प्राण,
जग में उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तु विधान!
... ...
मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद,
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद!"

इसी प्रकार 'ग्राम्या' में मैंने युग-संघर्ष को राजनीति-अर्थनीति तक ही सीमित नहीं रखा है :

"राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत् के सम्मुख,
आज बृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित !
...   .
नव प्रकाश में तमस युगों का होगा शनैः निमज्जित !"

मध्ययुगीन नैतिकता के प्रति मेरे मन की प्रतिक्रिया 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में इस प्रकार व्यक्त हुई है :

"स्वर्ण पींजरे में बन्दी है मानव आत्मा निश्चित !
...   .
विविध जाति वर्गों धर्मों को होना सहज समन्वित,
मध्ययुगों की नैतिकता को मानवता में विकसित !"

यन्त्रों के लिए 'ग्राम्या' में मैंने कहा है :

"जड़ नहीं यन्त्र, भावरूप, वे संस्कृति द्योतक !
...   .
दार्शनिक सत्य यह नहीं यन्त्र जड़, मानवकृत,
वे हैं अमूर्त, जीवन विकास की स्थिति निश्चित !"

ऐसे और भी बीसियों उद्धरण दिये जा सकते हैं जिनमें मानव-जीवन की समस्याओं एवं उनके समाधान के रूप में मेरा निश्चित दृष्टिकोण प्रकट होता है, जो आगे चलकर 'स्वर्ण-किरण' से 'वाणी' तक की रचनाओं में विकसित होकर अधिक पूर्ण अभिव्यक्ति पा सका है। अपनी उत्तरकालीन रचनाओं में मैंने इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अतिक्रम कर और भी अधिक व्यापक क्षितिजों का उद्घाटन किया है। भूतवाद अथवा अध्यात्मवाद दोनों ही मुझे अपने में अधूरे लगे हैं। कोरे भूतवादियों से मैंने 'युगवाणी' में कहा है :

"हाड़ मांस का आज बनाओगे तुम मनुज समाज ?
हाथ पाँव संगठित चलायेंगे जग जीवन काज ?
दया द्रवित हो गये देख दारिद्र्य असंख्य तनों का ?
अब दुहरा दारिद्र्य उन्हें दोगे असहाय मनों का ?

'उत्तरा' में मैंने भूतवाद तथा अध्यात्मवाद के एकांगी समर्थकों की भर्त्सना की है :

"तुम भाप उन्हें कहते हँसकर, वे तुमको मिट्टी का ढेला
वे उड़ सकते, तुम अड़ सकते, जीवन तुम दोनों का मेला !
फिर भी यदि जड़ता तुमको प्रिय, उनको चेतनता—दुख नितान्त,
है सत्य एक—जो जड़ चेतन, क्षर अक्षर, परम, अनन्त शान्त !"

आध्यात्मिकता के पैर मैंने सदैव पृथ्वी पर स्थिर रखे हैं। मानवता के स्वर्ग को मैंने भौतिकता के ही हृदय-कमल में स्थापित किया है। आध्यात्मिकता के निष्क्रिय, निषेधात्मक तथा ऋण-पक्ष की अवहेलना कर मैंने उसे भू-जीवन-विकास तथा जनमंगल का साधन बनाने का प्रयत्न किया है, जिसका सर्वप्रथम उदाहरण 'ज्योत्स्ना' का रूपक है। 'स्वर्ण-किरण' में 'द्वा सुपर्णा' शीर्षक रचना में मैंने वैदिक ऋषि के द्रष्टा तथा भोक्ता-रूपी पक्षियों (जीवों) को पृथक् रूप में स्वीकार न कर ऋषि से प्रश्न किया है :

"कहीं नहीं क्या पक्षी ? जो चखता जीवन फल
विश्व वृक्ष पर वास, देखता भी है निश्चल ?
परम अहम् औ' द्रष्टा भोक्ता जिसमें संग-संग ?"

और इसका उत्तर भी दिया है :

"ऐसा पक्षी जिसमें हो सम्पूर्ण सन्तुलन
मानव बन सकता है निर्मित कर तरु जीवन।"

मैंने कहा है शान्ति, आनन्द अथवा ईश्वर-प्राप्ति के लिए भू-जीवन का त्याग करने की आवश्यकता नहीं, उसके लिए नवीन रूप से लोक-जीवन-निर्माण करने की आवश्यकता है। 'स्वर्णकिरण' में अपनी 'इन्द्र-धनुष' तथा 'स्वर्णोदय' नामक रचनाओं में मैंने जीवन-मूल्यों पर विस्तार-पूर्वक प्रकाश डालने की चेष्टा की है :

"हमें विश्व संस्कृति पृथ्वी पर करनी आज प्रतिष्ठित,
मनुष्यत्व के नव द्रव्यों से मानव उर कर निर्मित !
... ...
नव मूल्यों से हो जो कल्पित पुन: लोक संस्कृति पर ज्योतित,
हो कृतकाम नियति मानव की, स्वर्ग धरा पर विचरे जीवित।
... ...
भू रचना का भूतिपाद युग हुआ विश्व इतिहास में उदित,
सहिष्णुता, सद्भाव, शान्ति से हों गत संस्कृति धर्म समन्वित !
वृथा पूर्व पश्चिम का दिग्भ्रम मानवता को करे न खण्डित,
बहिर्नयन विज्ञान हो महत् अन्तर्दृष्टि ज्ञान से योजित।
... ...
एक निखिल धरणी का जीवन एक मनुजता का संघर्षण,
अर्थ ज्ञान संग्रह भव पथ का विश्व क्षेम का करे उन्नयन !"

मानवता के भविष्य पर अपनी अमिट आस्था प्रकट करते हुए मैंने कहा है :

"सस्मित होगा धरती का मुख, जीवन के गृह प्रांगण शोभन,
जगती की कुत्सित कुरूपता सुषमित होगी, कुसुमित दिशि क्षण !
विस्मृत होगा जन-मन का पथ, शेष जठर का कटु संघर्षण,
संस्कृति के सोपान पर अमर सतत बढ़ेंगे मनुज के चरण।"

इस प्रकार पाठक देखेंगे कि मैंने भौतिक-आध्यात्मिक, दोनों दर्शनों से जीवनोपयोगी तत्वों को लेकर, जड़-चेतन सम्बन्धी एकांगी दृष्टिकोण का परित्याग कर, व्यापक सक्रिय सामंजस्य के धरातल पर, नवीन लोक-जीवन के रूप में, भरे-पूरे मनुष्यत्व अथवा मानवता का निर्माण करने का प्रयत्न किया है, जो इस युग की सर्वोपरि आवश्यक समस्या है। 'वाणी' में, जिसे आप मंच-काव्य या प्रवचन-काव्य भी कह सकते हैं, मेरा मानव-भविष्य का दर्शन अधिक महत्त्वपूर्ण स्तर पर 'आत्मिका' में अवतीर्ण हुआ है :

"सत्य तथ्य विज्ञान ज्ञान, दो पक्ष एक बृहु के पोषक नित,
लोक श्रेय, जीवन उद्भव हित रहे विषम सम चरण समन्वित !

वैयक्तिक सामूहिक गति के दुस्तर द्वन्द्वों में जग खण्डित,
ओ अणुमृत जन, भीतर देखो, समाधान भीतर, यह निश्चित !
... ...

देश खण्ड से भू मानव का परिचय देने का क्या क्षण यह
मानवता में देश जाति हों लीन, नये युग का सत्याग्रह ।
आज विशेषीकरण समाजीकरण साथ चल रहे धरा पर
महत् धैर्य से गढ़ने सबको मन के मन्दिर, जीवन के घर !
... ...

मनुज-धरा को छोड़ कहीं भी स्वर्ग नहीं सम्भव, यह निश्चित !
... ...

ईश्वर से इन्द्रिय जीवन तक एक संचरण रे भू पावन !

ऐसे अनेक उदाहरण 'वाणी' से प्रस्तुत किये जा सकते हैं ।

सामाजिक-सांस्कृतिक मान्यताओं का विकास इस युग में बहिरन्तर संयोजित मानवता की रचना के रूप में होना चाहिए, जिस पर अनेक दृष्टिकोणों से प्रकाश डालने की आवश्यकता है, और जिसका सर्वाधिक दायित्व हमारी नवीन पीढ़ियों की प्रतिभाओं के कन्धों पर है । कवीन्द्र रवीन्द्र के युग से हमारे युग की जीवन-मान्यताओं का संघर्ष अत्यधिक प्रबल तथा जटिल हो गया है । 'वाणी' में मैंने 'कवीन्द्र रवीन्द्र' शीर्षक रचना में नवीन युग-बोध की समस्या को प्रस्तुत किया है :

"मग्न अचेतन कर्दम में भू जीवन शतदल,
उसे उठा, कर सके कलुष का मुख तुम उज्ज्वल ?
... ...

विश्व कवे, तुम जिस मानवता के प्रतिनिधि बन
आये, वह खो चुकी हाय, मानुष्य परम धन !
... ...

क्या सोचा था ? नरक स्वर्ग ही का लघु उपक्रम
जागेगा सोया प्रकाश, धरती का जो तम ?
... ...

महाकवे, युग पलकों पर झूला नव सावन,
दिग् विराट् नव मनुष्यत्व का दिव्य स्वप्न बन ।"

कवि या द्रष्टा, तन्तुवाय की तरह, अपने ही भीतर से किसी काल्पनिक सत्य का जाल नहीं बुनता । उनकी अन्तर्दृष्टि काल के अभ्यन्तर या विश्व-मानस में काम कर रही सूक्ष्म शक्तियों की क्रीडा के प्रति सजग रहती है, वह उसी सत्य को अपने अनुभव की वाणी में गूँथकर लोक-मानस के सम्मुख रख देता है ।

युग-संघर्ष के अनेक रूपों को मैंने अपने काव्य-रूपकों द्वारा भी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है । 'फूलों का देश' में मैंने संस्कृति और विज्ञान के समन्वय के प्रश्न को उठाया है । 'ध्वंसशेष' में अणुयुद्ध के बाद नवीन मानवता के निर्माण की समस्या प्रस्तुत की है । 'विद्युत् वसना' में मैंने मानव-स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को मानव-एकता के अधीन रखने की उपयोगिता पर प्रकाश डाला है । 'शिल्पी' में कला-मूल्यों तथा 'रजत-शिखर' में उपचेतन की समस्याओं तथा जीवन-मान्यताओं के संघर्ष का

समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। 'अप्सरा' नामक अपने काव्य-रूपक में मैंने युग-जीवन की कुरूपता से प्रस्फुटित होती नवीन सौन्दर्य-चेतना का विजय-केतन फहराया है। 'ध्वंसशेष' के तृतीय दृश्य में, जो इस संकलन में जा रहा है, मैंने वर्तमान सभ्यता के विविध तत्वों का मूल्यांकन किया है और उसके अन्तिम दृश्य में नवीन मानवता के सांस्कृतिक मूल्यों को विकसित लोकतन्त्र के रूप में प्रतिष्ठित कर, ध्वंस के बाद, नवीन मानव-संस्कृति के उद्भव तथा निर्माण की दिशा की ओर संकेत किया है। अपने 'सौवर्ण' नामक काव्य-रूपक में मैंने प्राचीन निष्क्रिय अध्यात्म को सक्रिय बनाने की आवश्यकता पर बल दिया है। उसका क्रान्ति-द्रष्टा कहता है :

"देख रहा मैं, बरफ बन गया, बरफ बन गया,
मानव का चैतन्य शिखर, नीरव, एकाकी,
निष्क्रिय, नीरस, जीवन-मृत,सब बरफ बन गया !
... ...
आह, उसे प्राणों का स्पन्दित ताप चाहिए,
जीने को जन-मन का भावोच्छ्वास चाहिए।"

सौवर्ण के व्यक्तित्व में, जिसका बाह्य रूप वर्तमान जनयुग के संघर्ष की झंझा का द्योतक है—सौवर्ण झंझा के रथ पर चढ़कर आता है—मैंने जीवनोपयोगी धन आध्यात्मिकता का मानवीकरण कर भावी मानवता का स्वरूप उपस्थित किया है। अपने काव्य-रूपकों को मैं नाटक न कहकर कथोपकथन-प्रधान श्रव्य काव्य ही की संज्ञा दूंगा।

'आत्मिका' शीर्षक इस संग्रह की अन्तिम रचना में मैंने विगत युगों की आध्यात्मिकता का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। 'वाणी' की 'बुद्ध के प्रति' नामक रचना में भी नवीन मूल्यों का प्रतिपादन मिलता है :

"जड़ से चेतन, जीवन से मन, जग से ईश्वर को वियुक्त कर,
जिस चिन्तक ने भी युग दर्शन दिया भ्रान्तिवश जन-मन दुस्तर
किया अमंगल उसने भू का, अर्ध सत्य का कर प्रतिपादन,
जड़ चेतन जीवन मन आत्मा एक, अखण्ड, अभेद्य संचरण !
... ...
भू पर संस्कृत इन्द्रिय जीवन मानव आत्मा को रे अभिमत,
ईश्वर को प्रिय नहीं विरागी, संन्यासी, जीवन से उपरत !
आत्मा को प्राणों से विलग अविदर्शन ने की जग की क्षति,
ईश्वर के सँग विचरे मानव भू पर, अन्य न जीवन परिणति !"

इस प्रकार अपनी अनेक रचनाओं में मैंने धार्मिक, साम्प्रदायिक, दार्शनिक विचारों के आवर्तों से जीवनोपयोगी सिद्धान्तों को उबारकर पाठकों के मन.क्षितिज में नवीन आध्यात्मिक शिखरों का सौन्दर्य चित्रित करने का प्रयत्न किया है, जो आनेवाली मानवता की ऊँचाई, गहराई एवं व्यापकता का द्योतक है। मैंने अपना जीवन-दर्शन, युग की आवश्यकताओं एवं मानवता के विकास की सम्भावनाओं को सम्मुख रखकर, अनेक महान ग्रन्थों तथा महापुरुषों से प्रेरणा ग्रहण कर, उनके उपयोगी तत्वों को आत्मसात् कर, लोक-कल्याण एवं भू-मंगल की भावना के उद्देश्य से, अपने काव्य-पट में गुम्फित करने का साहस किया है।

'स्वर्ण-किरण' और 'उत्तरा' में कहीं-कहीं दीप्त लावण्य के स्थल आये हैं, जिनसे मेरे कुछ मित्र तथा आलोचकों को आपत्ति है। विशेषतः इसलिए कि उनकी संगति मेरे आध्यात्मिक काव्य के साथ नहीं बैठती। कवि-दृष्टि निर्वैयक्तिक होती है, वह स्त्री-सौन्दर्य को उपभोग के गुण्ठन में सुरक्षित रखने के बदले उसे व्यापक आनन्द के लिए वितरित कर देती है। यह आदिकवि वाल्मीकि-काल से प्रचलित व्यास, कालिदास की परम्परा है, जिसके गवाक्ष से स्त्री-सौन्दर्य पर मधुर प्रखर भावोष्ण प्रकाश पड़ता रहा है। स्त्री की शोभा पृथ्वी पर कला की पीठिका है, उसका शील-सदाचार और अध्यात्म का द्वार। मेरी दृष्टि में इसमें युग्म-जीवन तथा सहजीवन के मूल्यों का प्रश्न भी निहित है, जिस पर नवीन युग की भूमिका पर अधिक व्यापक दृष्टि से विचार करना उचित होगा। भौतिक-आध्यात्मिक मान्यताओं के अतिरिक्त मेरी इस काल की रचनाओं में रागात्मक मूल्यों का भी एक विशिष्ट तथा महत्त्वपूर्ण स्तर है। आनेवाली संस्कृति के धरातल पर नारी-सौन्दर्य मानव-जीवन के उन्नयन में बाधक न होकर सहायक ही होगा। तब नर-नारी का एक-दूसरे के प्रति सहज अनुराग का चन्द्र यतियों की कृच्छ्र, जीवन-विरत कल्पना के राहु से मुक्त हो सकेगा। भावी की प्रबुद्ध मानवता के सम्मुख स्त्री-देह को 'चाम की तुच्छ थैली' के रूप में चित्रित करना लज्जास्पद प्रतीत होता है। कला देह-सौष्ठव के साथ कामना की अग्नि का भी सौन्दर्य-बोध तथा राग की लय में वेष्टित कर उज्ज्वल बना देती है, उसमें, उद्दीपन से अधिक, आह्लाद और तृप्ति का ही अनुभव होना चाहिए।

वास्तव में सौन्दर्य-चित्रण से अधिक, राग-भावना के प्रति जो मौलिक दृष्टिकोण का प्रश्न है, उसी पर मैंने इस उत्थान की रचनाओं में अधिक प्रकाश डाला है। इस विषय पर, समय आने पर, अधिक गम्भीर तथा रूढ़ि-ग्रह-मुक्त विवेचना हो सकेगी। राग-भावना को, स्वस्थ मानवता के स्तर पर, उन्मुक्त, परिणत तथा संस्कृत होना ही पड़ेगा। वैराग्यवाद तथा निषेध वर्जनाओं के आधार पर मानवता अथवा सामाजिकता से उसका उन्मूलन नहीं किया जा सकता। भावी पीढ़ियों को मैं पिछले युगों का देह-बोध का भार वहन करते हुए धूप और छाँह की तरह, दो अनमेल इकाइयों में विच्छिन्न नहीं देखना चाहता। यह मात्र मध्ययुगीन नैतिक दृष्टिकोण है जो स्त्री-सम्पर्क को आध्यात्मिकता का विरोधी मानता है। सच तो यह है कि पिछली आध्यात्मिकता तथा नैतिकता की धारणा ही खोखली, एकांगी तथा अवास्तविक रही है, जिसे स्त्री-स्पर्श तथा सम्पर्क उन्नत करने के बदले कलुषित कर सका है। निश्चय ही, वह जीवनोन्मुखी अध्यात्म न होकर रिक्त, जीवन-विरत तथा अप्राकृतिक अध्यात्म रहा है, जिसका दूसरा छोर हमारा वाममार्गी, वज्रयानी साधना-पथ, तथा पण्डों, पुरोहितों और महन्तों का धार्मिक जीवन रहा है। स्त्री-संसर्ग तथा उच्च धर्म-सम्बन्धी दृष्टिकोण में सम्भवतः अति प्राचीन काल में इसलिए विरोध रहा हो कि तब मनुष्य पहली बार पाशविकता तथा बर्बरता के जंगल से बाहर निकला था। अब भी, सम्भवतः विशिष्ट परिस्थितियों में, धर्म और काम को विच्छिन्न करने की आवश्यकता पड़ सकती है, किन्तु विकसित सामाजिकता के लिए स्त्री-पुरुष का सन्तुलित

संस्कृत रागात्मक सहजीवन अनिवार्य सत्य है, और बहुत सम्भव है, कभी वह विभिन्न इकाइयों में विभक्त गृहों की संकीर्ण देहलियों एवं प्रांगणों को लाँघकर एक अधिक व्यापक विकसित धरातल पर आत्मसंयमित, स्वत:निर्देशित, शील-सौम्य मानवता में परिणत हो सकेगा।

क्षुधा-काम के सामंजस्य का प्रश्न मानवता के सम्मुख महत्त्वपूर्ण तथा जटिल प्रश्न है। उदर क्षुधा के समाधान का प्रश्न यदि आज की राजनीति एवं अर्थनीति का प्रश्न है, तो युग्म-भावना एवं रागात्मकता का प्रश्न कल की संस्कृति का प्रश्न है। क्षुधा-काम तब देह और व्यक्ति के मूल्य न रहकर सामाजिकता तथा संस्कृति के मूल्यों, आत्मा तथा लोक-मंगल के मूल्यों में बदल जायँगे। इन्द्रिय विषयक मूल्य मनुष्य की पिछली बहिरन्तर की सीमाओं से निर्धारित हैं; नैतिक मूल्यों तथा लोकाचार को बदलने से पहिले हमें अपनी चेतना तथा मानस के अंचल को, जिसमें पिछले मूल्यों की छाप है, व्यापक, परिष्कृत रागभावना में डुबोकर प्रक्षालित कर लेना होगा। लोककर्म से संयमित रागात्मकता वैसे भी अन्त:शुद्ध होगी, जब स्त्री-पुरुष तटस्थ, आत्मस्थ, मोहमुक्त, दो समान्तर रेखाओं-से होंगे, और लोकमंगल के विकासशील लक्ष्य से प्रेरित होकर परस्पर संयुक्त रहेंगे।

यदि हम प्राण भावना के धरातल से अन्तश्चैतन्य के शिखर की ओर देखें, तो रति-काम की अन्त:शुद्ध स्थिति ही पार्वती-परमेश्वर का रूप है, जो अन्त:प्रेम में सम्पृक्त है; और उन्हीं का बहिरन्तर सन्तुलित सांस्कृतिक रूप कृषियुग की परिस्थितियों के अनुरूप श्री सीताराम तथा राधाकृष्ण का युगल रूप अपने यहाँ है। स्त्री-पुरुषों के बीच रागात्मक सामंजस्य संस्कृति का मूल उपादान है। वैरागियों के दमन से युग्मेच्छा का सन्तुलित उन्नयन, संस्कृति की दृष्टि से, अधिक लोकोपयोगी एवं सौन्दर्य-उर्वर है। ऐसे समाज की प्रतिष्ठा अवश्य ही अत्यन्त धैर्य, शील, सहिष्णुता तथा जागरूकता से ही पृथ्वी पर सम्भव है। आध्यात्मिक-लौकिक मूल्यों को परस्पर विरोधी पृथक् मूल्यों में विच्छिन्न करने का यही कारण है कि मानव-राग-भावना का अभी विकास या परिष्कार नहीं हो सका है। इसलिए न तो हमारा गृह-जीवन और सामाजिक जीवन ही संस्कृति की दृष्टि से पूर्ण बन सका है, न हमारे आश्रमों, तपोवनों तथा तीर्थस्थानों का जीवन ही वास्तविक अर्थ में भगवज्जीवन बन सका है; दोनों ही एकांगी, स्वर्ग (पुण्य)-भीरु तथा धरा (पाप)-भीत होकर पंगु, निष्क्रिय या अर्ध-सक्रिय, अपूर्ण तथा अक्षम ही रह गये हैं; न हमारे दिव्य जीवन की ही धारणा पूर्णता प्राप्त कर सकी है, न लौकिक जीवन की ही। पूर्णता प्राप्त करने के लिए हमें समग्र लोक-जीवन को ही रागात्मक विकास की उपयुक्त पीठिका बनाना होगा। ये विचार मैं केवल भावी सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों के रूप में ही यहाँ दे रहा हूँ, जिन पर आधारित मानव-जीवन आसक्ति-मुक्त, राग-शुद्ध, अन्तःस्थित होकर घृणा, उपेक्षा, तथा कामद्वेष से रहित, व्यापक प्रेम में संगठित हो सकेगा। वास्तव में जिस भगवत्प्रेम को आज हम अन्त:शुद्धि तथा यम-नियमों के आधार पर मानसिक भावना के स्तर पर प्राप्त करना चाहते हैं, वह हमें संस्कृत लोकजीवन के धरातल पर उपलब्ध होना चाहिए। श्रीकृष्ण की रास-

लीला तथा चैतन्य की भावलीला में हमें परिष्कृत राग-भावना की आंशिक झाँकियाँ मिलती हैं।

'युगवाणी' की 'राग-साधना' कविता से लेकर 'वाणी' की 'पुनर्मूल्यांकन' रचना तक मैंने अपनी अनेकानेक कृतियों में नवयुग की इस अभीप्सा को वाणी दी है। 'मानसी' नामक गीत-रूपक में भी मैंने इसी भावना का विकास दिखाया है और 'स्वर्णोदय' में इस सत्य को इस प्रकार व्यक्त किया है :

"क्यों मानव यौवन वसन्त-सा हो न लोकजीवन में कुसुमित,
मधुर प्रीति हो सामाजिक सुख, प्राणभावना आत्मसंयमित !
करें मुक्त उपभोग हृदय का नर-नारी निज रुचि से प्रेरित,
आदर प्रीति विनय हो उर में, अंग लालसा का मुख संस्कृत !
हृदय तमस आलोक स्रोत पा हो जीवन सौन्दर्य में द्रवित,
प्राण कामना सृजन शील बन, धरा स्वर्ग रचना में योजित !"

रागात्मिका वृत्ति के परिष्कार को मैंने नव मानवता के निर्माण के लिए अनिवार्य मूल्य माना है। स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी समस्त मान्यताएँ तथा नैतिक-सामाजिक दृष्टिकोण मुझे अपूर्ण, कृत्रिम, अव्यावहारिक, अस्वाभाविक तथा मानवता के अन्तर्विकास के लिए घातक प्रतीत हुए हैं। यह प्रवृत्ति-पथ नहीं, निवृत्ति-पथ नहीं, निवृत्ति-सन्तुलित, प्रीति-संयमित प्रवृत्ति-पथ है। इन्द्रिय-पथ नहीं, इन्द्रिय-मूल्यों पर आधारित शील-पथ है। मैं साधु-सन्तों के तपोमय जीवन का प्रेमी हूँ, पर जीवन के अन्तरतम वाग्यों में जो मुक्त अबाध व्यापक अनुराग की धारा बहती है उसी को मैं उपर्युक्त शील-पथ के रूप में, स्वस्थ लोक-जीवन-निर्माण के लिए, प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिसका लक्ष्य भू-रचना तथा जनमंगल है।

मैं यहाँ यह भी स्पष्ट कर दूँ कि मेरा काव्य मुख्यत: आध्यात्मिक काव्य नहीं है, और यदि है भी, तो प्राचीन रूढ़ अर्थ में नहीं, जिसमें अध्यात्म वैराग्य के सोपान पर, अन्न-प्राण-मन की श्रेणियों को पारकर, केवल ऊर्ध्वमुख चिदाकाश की ओर आरोहण करना है। मेरे द्वितीय उत्थान के काव्य के लिए उपयुक्त संज्ञा होगी, नवीन चेतनाकाव्य, जिसके अन्तर्गत मानव-जीवन-मन के उच्च एवं समदिक् दोनों स्तरों की संस्कृत, सन्तुलित, व्यापक सामाजिकता तथा नवमानवता के तत्त्व वर्तमान हैं। मेरी काव्य-चेतना मुख्यत: नवीन संस्कृति की चेतना है, जिसमें आध्यात्मिकता तथा भौतिकता का नवीन मनुष्यत्व के धरातल पर संयोजन है। मेरा काव्य प्रथमत: इस युग के महान् संघर्ष का काव्य है। जो लोग युग-संघर्ष को वर्ग-संघर्ष तक ही सीमित रखकर उसे केवल बाहरी आर्थिक-राजनीतिक स्तरों पर ही देख सकते हैं, उनकी बात मैं नहीं करता, अन्यथा 'युगवाणी' से 'वाणी' तक मेरा समस्त काव्य युग-मानस एवं नव मानव के अन्तरतम संघर्ष का काव्य है। मेरी काव्य चेतना केवल मध्ययुगीन नैतिक-बौद्धिक अन्धकार तथा जीवन के प्रति तज्जनित सीमित दृष्टिकोण से ही नहीं संघर्ष करती रही, वह भावी मानवता के पथ के बहिरन्तर के दुर्गम अवरोधों से भी निरन्तर जूझती रही है। आज के विराट् मानवीय संघर्ष को वर्ग-संघर्ष तक ही सीमित करना विगत युगों की खर्व-चेतना तथा ऐतिहासिक अन्धकार की एक हिंस्र प्रतिक्रिया-मात्र है। दूसरे शब्दों में,

मेरा काव्य भू-जीवन, लोकमंगल तथा मानव-मूल्यों का काव्य है, जिसमें मनुष्यत्व और लोकगण दो भिन्न तत्त्व नहीं, एक दूसरे के गुण-राशि-वाचक पर्याय हैं। वैसे तुलसी रामायण भी लोक-मंगल का काव्य है, पर वह मुख्यतः आध्यात्मिक काव्य और धर्मग्रन्थ है, जिसमें लोकजीवन-सत्ता और भगवत्-सत्ता दो पृथक् मूल्यों में विभक्त है। उसमें श्रद्धा-भक्ति से मानस अजिर उज्ज्वल रखने तथा नामकीर्तन, आराधना द्वारा अपवर्ग तथा मोक्ष-प्राप्ति का सन्देश निहित है। मेरे चेतना-काव्य में नवीन भू-जीवन तथा भगवज्जीवन, "सियाराम मय सब जग जानी" के भावनात्मक अर्थ में नहीं, इससे भी व्यापक अर्थ में, अभिन्न सत्ता है: उसमें भगवत्-प्रेम जीवन-मुक्ति का नहीं, जीवन-रचना मंगल का उपादान है। तपःपूत व्यक्ति का मन ईश्वर का मन्दिर है, इस पर अधिक बल न देकर मैंने संयुक्त, संस्कृत बहिरन्तर संयोजित सामाजिक जीवन ही भगवत्-चेतना की मूर्त पीठ है और उन्नत-लोक-जीवन-रचना ही भगवत् सान्निध्य-प्राप्ति का साधन है—इसको अधिक महत्त्व दिया है। भू-जीवन तथा भगवज्जीवन के मध्य मुझे किसी प्रकार का ज्ञान-वैराग्य-जनित आध्यात्मिक व्यवधान अभिप्रेत नहीं है, तथा संस्कृत मानव-जीवन एवं उन्नत भू-रचना के अतिरिक्त मुझे आध्यात्मिकता के लिए अन्य उपकरण उतने मूल्यवान नहीं प्रतीत होते। आध्यात्मिक दृष्टिकोण के प्रति यह मौलिक अन्तर मेरी रचनाओं में ध्यान देने योग्य है। विकसित, परिपूर्ण लोकजीवन ही भगवत्-पूजन का प्रतीक हो, मुझे यह अधिक स्वाभाविक लगता है। इस सम्बन्ध में मुझे 'उत्तरा' की कुछ पंक्तियाँ स्मरण आ रही हैं:

"आज व्यक्ति के उतरो भीतर, निखिल विश्व में विचरो बाहर
कर्म वचन मन जन के उठकर बनें युक्त आराधन!

... ...

जगती मानव में देवोत्तर मिट्टी की प्रतिमाएँ नश्वर,
युग प्रभात छवि स्नात निखरते भू जनपद, पुर, प्रान्तर।"

धरती के जीवन से भगवत्-सत्ता को पृथक् कर, लोकमानवता के बदले किसी कल्पना या सिद्धि के मनःस्वर्ग में, ध्यान धारणा के शिखर पर, ईश्वर-साक्षात्कार की भावना को सीमित करना, भविष्य की दृष्टि से, मुझे कृत्रिम और अस्वाभाविक लगता है। इससे मानव-जीवन का हित होने के बदले उसकी उपेक्षा एवं अहित ही हुआ है। एक ही अखण्ड सत्य की सत्ता पारलौकिक-ऐहिक रूपों में विभक्त हो गयी है। मध्ययुग की समस्त नैतिकता और सदाचार के मानदण्ड तथा भगवत्-सम्बन्धी ज्ञान, आध्यात्मिक मान्यताएँ और विचारधाराएँ इसका उदाहरण हैं। भौतिक-आध्यात्मिक संचरणों का परस्पर विरोधी समझे जाने का भी यही कारण है, क्योंकि समतल जीवन की उपेक्षा के कारण ऊर्ध्व के साथ उसका संयोजन नहीं किया जा सका। यह सच होने पर भी, हमें मध्ययुगीन विचारकों, दार्शनिकों, सन्तों तथा कवियों के प्रति कृतज्ञ रहना चाहिए, जिन्होंने उस घोर सांस्कृतिक विघटन, ह्रास के कुहासे, जीवन-नैराश्य तथा धरती के अन्धकार से निरन्तर संघर्ष कर, हमारे भीतर किसी न किसी रूप में, सत्य की ज्योति को प्रज्वलित रखा है। किन्तु नवीन युग को, इस

जड़ धरती के जीवन को ही उच्च विकास की उपयुक्त पीठिका बनाना है। विज्ञान और धर्म को भविष्य में नव मानवता के रूप में संयोजित होना है :

"ईश्वर के सँग विचरे मानव भू पर,
अन्य न जीवन परिणति।"

हमारी अनेक ऊर्ध्व (अध्यात्मिक) मान्यताएँ इसलिए भी रहस्य में खोयी हुई आकाश-कुसुम-सी लगती हैं कि वे समदिक् लौकिक जीवन से विच्छिन्न तथा असंयोजित रहने के कारण उच्च सिद्धान्तों के सूक्ष्म धरातल पर भी ठीक से ग्रहण नहीं की जा सकी हैं। इसलिए, एक दृष्टि से पुरानी दुनिया का अध्यात्म तथा ईश्वर-बोध, अधिकतर कल्पना ही में लिपटा हुआ रह गया है। मेरी दृष्टि में भू-जीवन को भगवज्जीवन बनाने के लिए हमें कहीं ऊपर नहीं खो जाना है, प्रत्युत् जीवन-आकांक्षाओं का पुनर्मूल्यांकन कर विगत मूल्यों को अधिक व्यापक बनाना है। निश्चय ही जो आध्यात्मिकता मानव-जीवन के रक्त-मांस के उपादानों का बहिष्कार या अवहेलना कर किसी उच्च जीवन की कल्पना करती है, वह जीवन-मंगल की द्योतक नहीं हो सकती। मुझे यह अनुभूति 'युगवाणीग्राम्या'-काल ही में हो चुकी थी। 'युगवाणी' की 'मानव-पशु', 'जीवन-तम, 'राग', 'रागसाधना' तथा 'जीवन-मांस' आदि रचनाएँ मेरी इसी अनुभव की द्योतक हैं, "ईश्वर है यह मांस, पूर्ण यह !" या "रूपमास है अमर प्रकाश !" कहकर मैंने 'युगवाणी' में रूप-मांस अर्थात् संस्कृति-शुद्ध जीवन ही को भगवत्प्रकाश का मूर्त उपादान बतलाया है।

जैसा कि ऊपर कह चुका हूँ, मैं आध्यात्मिकता के विकास को सामाजिक जीवन से पृथक्, वैराग्य के स्फटिक शीत मन्दिर में रहकर, सम्भव नहीं मानता। वह तो पुरानी आध्यात्मिकता है जिसने भगवत्-चेतना को जीवन में प्रतिष्ठित करने के बदले "भूतेषु-भूतेषू विचिन्त्य धीरा:" कहकर, अन्तरतम में उसके अमृत प्रकाश का स्पर्श पाकर, सन्तोष कर लिया। जगत् या सृष्टि के मूल में जो ईश्वर या भागवत चेतना है, उसे विकास-क्रम में मनुष्य के सामाजिक जीवन एवं विश्व-जीवन में मूर्त होना ही चाहिए; यही मेरी दृष्टि में मात्र भागवत साक्षात्कार है—ईश्वरत्व को जीवन की वास्तविकता प्रदान करना; और सब चाहे भले ही ईश्वर-बोध हो, भगवत्-साक्षात्कार मेरे चेतना-काव्य में एक लम्बी विकासशील सामाजिक प्रणाली है। दूसरा यह कि इन्द्रिय-जीवन तथा भागवत जीवन में विरोध मानना मेरी दृष्टि में, भ्रम है। संस्कृत सन्तुलित इन्द्रिय-जीवन ही में—जो अन्तत: सामूहिक या सामाजिक स्तर पर ही पूर्णत: सम्भव हो सकता है—केवल भागवत जीवन का साक्षात्कार किया जा सकता है। उपनिषदों का "स प्रत्यागाच्छक्रमकायमव्रणं" ब्रह्म सत्य है; वह जीवन-चेतना का अन्तरतम या ऊर्ध्वतम, सूक्ष्मात्पर, शाश्वत, अति-चेतन स्तर है। किन्तु पदार्थ, प्राण और मन की भूमिका का परित्याग कर उसे प्राप्त करने या आत्ममुक्ति के अनुसन्धान में उसकी ओर जाने का प्रश्न मध्ययुगीन ध्येय या आदर्श का प्रश्न रहा है। हमारा युग-सत्य है—जगत्-जीवन और भू-क्षेत्र को ही ब्रह्म की मूर्तिमान वास्तविकता में परिणत करना। ऐसे अन्त:संगठित जीवन में नि:सन्देह राग-द्वेष, लोभ-

मोह, क्रोध-अहंकार आदि की उपयोगिता नहीं रहेगी—जोकि विकास-पथ के स्थूल और क्रूर साधन रहे हैं—और रागवृत्ति भी परिष्कृत होकर आनन्द, सौन्दर्य, प्रेम, शान्ति तथा सहज व्यापक पवित्रता में परिणत हो जायेगी। जिस सीमित नैतिक या धार्मिक अर्थ में पवित्रता का प्रयोग होता है, उस अर्थ में नहीं, जीवन का व्यापक संचरण ही अपनी समग्रता में अन्तःसन्तुलित होकर मन में पवित्रता का उद्रेक करेगा; पवित्रता के अर्थ में अधिक घनत्व तथा वास्तविकता आ जायेगी। जैसा मैंने ज्योत्स्ना' में भी प्रतिपादित किया है; आनन्द, सौन्दर्य, प्रेम, शान्ति आदि उस सृजन-चेतना के मौलिक मूलभूत गुण हैं, जो सृष्टितत्त्व में अभिव्यक्त हुई है, और मानव-जगत् को उसी सत्य का दर्पण बनाना है। यही एकमात्र सभ्यता, संस्कृति तथा धर्मों का अनादिकाल से प्रश्न और लक्ष्य रहा है। इतिहास के उत्थान-पतन जो मानव-समाज के अपने अन्तःसत्य के अपरिचय तथा ब्रह्माण्ड के अन्त.स्वरूप के अज्ञान तथा उन्नत जीवन-साधना के अभाव के कारण, विकास-क्रम की भ्रान्ति, क्लान्ति, उद्वेग-जनित, अश्रुस्वेद-रक्तमय, बाहरी वास्तविकता के छिलके-भर हैं।

मेरी प्रेरणा के स्रोत, निःसन्देह मेरे ही भीतर रहे हैं, जिन्हें युग की वास्तविकता ने सींचकर समृद्ध बनाया है। मैंने अपने अन्तर के प्रकाश में ही बाह्य प्रभावों को ग्रहण तथा आत्मसात् किया है। मैं अत्यन्त विनम्रता-पूर्वक अपने समस्त प्रेरकों, शिक्षकों तथा अभिभावकों के प्रति अनन्य हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिनके सम्पर्क में आकर मैं कुछ सीख सका हूँ। मैं न दार्शनिक हूँ, न दर्शनज्ञ ही; न मेरा अपना ही कोई दर्शन है, और न मुझे यही लगता है कि दर्शन द्वारा मनुष्य को सत्य की उपलब्धि हो सकती है। ये केवल मेरे कवि-मन के प्रकाश-स्फुरण अथवा भाव-प्ररोह हैं, जिन्हें मैंने अपनी रचनाओं में शब्द-मूर्त करने का प्रयत्न किया है। अपनी भावना तथा कल्पना के पखों से मैं जिन सौन्दर्य-क्षितिजों को छू सका हूँ, वे मुझे दार्शनिक सत्यों से अधिक प्रकाशवान एवं सजीव लगते हैं। दर्शन-ग्रन्थों तथा महापुरुषों के वचनों में अपनी भावात्मक उपलब्धियों का समर्थन पाकर मैं आश्वस्त हुआ हूँ और मुझे उससे मनोबल भी प्राप्त हुआ है। मेरे काव्य-दर्शन की कुंजी निश्चय ही 'ज्योत्स्ना' में है। उसी के भौतिक संचरण का विकास मेरे मन में मार्क्सवाद के ज्ञान से हुआ, जिससे मैं अपनी भौतिक जीवन-सम्बन्धी धारणा को व्यापकता, शब्दार्थ-संगति तथा वैज्ञानिक रूप दे सका। 'ज्योत्स्ना' का चेतनात्मक संचरण मेरी उत्तर-रचनाओं में पूर्व-पश्चिम के दर्शनों तथा विचारधाराओं के अध्ययन-मनन तथा गांधीजी और श्रीअरविन्द के महत् सम्पर्क में आने से प्रस्फुटित तथा विकसित हुआ है। सामूहिक जीवन-निर्माण के लिए गांधीजी का सक्रिय अहिंसा का सांस्कृतिक राजस दान नव मानवता के अमूल्य उपादानों में रहेगा। 'युगान्तर' में मैंने गांधीजी को इन शब्दों में स्मरण किया है :

"आत्म दान से लोक सत्य को दे नव जीवन
नव संस्कृति की शिला रख गये भू पर चेतन!
... ...

आओ, उसकी अक्षय स्मृति को नींव बनाएँ
उस पर संस्कृति का लोकोत्तर भवन उठाएँ।
स्वर्ण शुभ्र धर सत्य कलश स्वर्गोच्च शिखर पर
विश्व प्रेम में खोल अहिंसा के गवाक्ष वर!"

'वाणी' में श्रीअरविन्द को नवयुग-सारथि के रूप में मैंने इस प्रकार श्रद्धांजलि दी है:

"सारथि श्रीअरविन्द रहे तब ऐसे भगवत् द्रष्टा भू पर
विश्व ग्लानि कर गये विलय जो अतिमानस से धर्म हानि भर!
प्रातः रवि-सा स्फुरत् रश्मि स्मित था भगवत् चैतन्य तपोज्ज्वल
भू मानस में पूर्ण प्रस्फुटित अन्तः स्वर्णिम हो सहस्रदल!"

मैंने अपनी काव्य-चेतना में अन्न-प्राण मन के विकसित, संस्कृत जीवन से विच्छिन्न किसी उच्च जीवन की कल्पना को स्वीकार नहीं किया है। एक तो वह लोक-जीवन एवं सामाजिकता की दृष्टि से सम्भव नहीं, दूसरा वह इन्द्रिय-संस्कारों की परिणति को, उसकी मौलिक चेतनाओं की क्रियाओं को अग्राह्य कर सम्भव बतलाती है। मुझे उन्नत इन्द्रिय-जीवन अदिव्य तथा अपावन नहीं लगता है, भागवत चेतना ही इन्द्रियों में प्ररोहित प्रतीत होती है। इस भावना को मैंने अनेक रूप से व्यक्त किया है:

"मैं उपकृत इन्द्रियो, रूप रस गन्ध स्पर्श स्वर,
तीना द्वार खुले अनन्त के बाहर भीतर:
अप्सरियों से दीपित सुरधनुओं के अम्बर,
निज असीम शोभाओं में तुम पर न्योछावर!
आत्म मुक्ति के लिए क्या अमित यह ग्रह ग्रथित रंग भव सर्जित
प्रकृति इन्द्रियों का दे वैभव, मानव तप कर मुक्त बने नित!
नहीं सन्त कुल हुआ सन्त रे, जीव प्रकृति के सब जन निश्चित,
लोक मुक्ति ही ध्येय प्रकृति का, मनुज करे जग जीवन निर्मित!"

मैं पूर्ण विकसित लोकजीवन के ही रूप में, मुख्यतः, भगवत्-सत्ता या चेतना का मूर्त विकास सम्भव मानता हूँ। महापुरुषों, सिद्धों, योगियों तथा विशिष्ट व्यक्तियों में भी भगवत्-चेतना के विशेष रूपों तथा गुणों की पूर्ण या आंशिक अभिव्यक्ति हो सकती है, और वह सामूहिक उपलब्धि के स्तर से, एक प्रकार से, अधिक सूक्ष्म, उच्च और पूर्ण भी हो सकती है। पर मैंने इस युग में अधिक महत्त्व भू-जीवन की उन्नत मंगल रचना को ही देना उचित समझा है, जिसमें व्यापक से व्यापक अर्थ में भागवत गुणों का अवतरण एवं भागवत वास्तविकता का साक्षात्कार सम्भव हो सकता है। 'ज्योत्स्ना' के अन्तिम दृश्य में, नवयुग-प्रभात के रूप में, मैंने भू-जीवन के स्तर पर, नवीन चेतना के इसी सत्य की परिणति दिखलायी है। मैं अब भी यही सोचता हूँ कि समस्त ज्ञान-विज्ञान, अर्थ-तन्त्र आदि का सचय एवं उपयोग नव-मानवता के लिए धरा-स्वर्ग की शुभ रचना करने ही में सार्थकता प्राप्त कर सकता है। मात्र सैद्धान्तिक शुभ से रचना-शुभ अधिक वास्तविक तथा सम्पूर्ण है; उसी में एकमात्र अनन्त पीढ़ियों में व्याप्त मानव-जीवन के अमरत्व की चरितार्थता है। यह जैसे आँख खोलकर ईश्वर का ध्यान अथवा भगवत्-सत्ता का साक्षात्कार करना है।

निश्चय ही इन्द्रियगोचर होने से परात्पर या इन्द्रियातीत सीमित नहीं हो जाता, न उसमें अन्तर या भेद ही आता है। सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही आंशिक सत्य हैं, उनसे पूर्ण सत्य है सूक्ष्म-स्थूल का सामंजस्य। आज जो अन्तर्दृष्टि या ऊर्ध्व स्तर का सत्य है, कल वह बहिर्दृष्टि को समतल पर भी सुलभ हो सकेगा।

ऐसा अवश्य है कि वर्तमान विकास की स्थिति में, विशेष ज्ञान-संस्थानों तथा आश्रमों में, हमें विशिष्ट उच्चतम मान्यताओं के आधार पर, अन्तर्मन तथा अन्तर्जीवन के संगठन-संयोजन के लिए, ऊर्ध्वतम आध्यात्मिक साधना की आवश्यकता पड़ेगी, जहाँ हम भागवत करुणा के सम्पर्क में आकर अन्तश्चेतन के आलोक तथा अन्तर्वैज्ञानिक सिद्धियों के द्वारा लोकजीवन के विकास-पक्ष की बाधाओं तथा व्यवधानों को हटाने, मानस-ग्रन्थियों को सुलझाने एवं विश्व-जीवन का उन्नयन करने में सफल हो सकेंगे। ऐसे तपोवन तथा साधना-द्वार हमारे देश की विशेषता रहे हैं। वे सदैव हमारी श्रद्धा-भक्ति के पवित्र पथ-प्रदर्शक केन्द्र और हमारी चेतना-विषयक उच्च प्रयोगशालाएँ रहेंगे, जहाँ से हमें शान्ति, पवित्रता, आनन्द, भगवत्-प्रेम, आलोक, कल्याण, सद्भावनाओं तथा सद्विचारों का अक्षय दान प्राप्त होता रहेगा। जैसा मैंने 'उत्तरा' की भूमिका में भी लिखा है, हमारा देश अन्तर्जगत् का सिद्ध वैज्ञानिक है। मुझे गंगा-तट पर, जो भस्म रमाये हुए, जटाधारी साधु, एक हाथ ऊपर उठाये, या लोहे की प्रखर शलाकाओं पर लेटे मिलते हैं, उन्हें भी मेरा मन अपने देश के देह-मन के सत्य सम्बन्धी प्रयोक्ताओं के ही रूप में देखता है, जिसकी उपलब्धि हम अब अधिक श्रेष्ठ साधनों से कर सकते हैं। ऐसे अनेक प्रकार के सम्प्रदाय आज प्राचीन प्रारम्भिक पद्धतियों के अवशिष्ट स्मृति-चिह्न तथा "उदर निमित्तं बहुकृत वेशः" आदि पाखण्ड-मात्र रह गये हैं।

आज के संघर्ष और संहार के युग में मेरे उपर्युक्त विचार तथा मान्यताएँ आधुनिक यथार्थवादियों को स्वप्न-कल्पित अतिरंजनाएँ-मात्र प्रतीत हो सकती हैं। किन्तु आज के पक्षधर आलोचकों की यथार्थवाद की धारणाओं पर तथा पूर्वग्रहों में खण्डित और विभक्त पाठकों की रुचियों के निर्णयों पर निर्भर रहकर मेरा जैसा 'तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरं' अल्पमति कवि सृजन-कर्म नहीं कर सकता। उसे नवीन मानवता के प्रति श्रद्धा तथा भगवत्-करुणा पर विश्वास रखकर अपनी अन्तरतम अनुभूतियों, प्रेरणाओं एवं प्रकाश पर ही अवलम्बित रहना पड़ेगा। वर्तमान के संघर्ष और संहार की विभीषिका से भी अधिक महत् तथा शक्तिमय जो अमृतत्व का सागर आज संवेदनशील हृदयों के भीतर नवीन चेतना-ज्वारों में उठकर मानव-अन्तर के नव जीवन-बोध के स्तरों को स्पर्श कर रहा है, उसका मंगल सन्देश कैसे भुलाया जा सकता है? आज के भू-व्यापी संघर्ष, विरोध, अनास्था, निराशा, विषाद तथा संहार की यही वास्तविकता है कि वह मानव-समाज को नवीन मान्यताओं के क्षितिजों, नवीन जीवन-बोध के धरातलों तथा महत्तर सामंजस्य की भूमिकाओं की ओर अग्रसर कर रहा है। निःसन्देह, अकल्पनीय सिद्धियों तथा महान् विनिमयों का है हमारा युग। आज के विज्ञान, दर्शन और सृजन-प्रेरणा का श्रेय उसी को है।

इस युग के विक्षोभ का मुख्य कारण है मानव-जीवन के ऊर्ध्व तथा समतल संचरणों में सामंजस्य अथवा सन्तुलन का अभाव। आज हमें भूत-अध्यात्म, यथार्थ-आदर्श-सम्बन्धी अपनी पिछली धारणाओं को अधिक व्यापक बनाकर उन्हें एक दूसरे के निकट लाना है। यथार्थ अथवा आदर्श के व्यापक सत्य के बारे में या तो हम मध्ययुगीन अभावों एवं निषेधों के कुहासों के पार न देख पाने के कारण उदासीन हैं, या पश्चिम के अन्ध अनुकरण के कारण बाह्य युग-जीवन के अन्धकार में भटक गये हैं। आज के बड़े राष्ट्रों को, जो भू-जीवन के विकास तथा उन्नयन को अवरुद्ध किये हुए हैं, वैज्ञानिक चेतना या मानवीय जीवन-यथार्थ का प्रतिभू मानना हमारा भ्रम है। वे अभी धरती की प्राचीन ऐतिहासिक बर्बरता ही का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं और विज्ञान को जीवन-निर्माण तथा मनोविकास का माध्यम बनाने के बदले, उसके पंखों के ताप में आणविक डिम्बों एवं विनाश के विस्फोटकों को सेकर, अपनी ऋण-सामर्थ्य का नग्न प्रदर्शन कर रहे हैं। जिस प्रकार कभी भारतवर्ष अपनी आध्यात्मिक शक्ति के सम्मोहन से दिग्भ्रान्त हो गया था, उसी प्रकार आज के शिखर-राष्ट्र भौतिक क्षमता से मदोन्मत्त हो विश्व-जीवन एवं मानवता को विनाश की ओर ले जाने की स्पर्धा कर रहे हैं। मुझे मानव-चेतना पर विश्वास है; वह इस अणुसंहार के नृशंस हिंस्र नाटक को अवश्य ही नवीन निर्माण तथा रचना-मंगल की दिशा एवं भूमिका देकर मानवता की प्रगति का द्वार उन्मुक्त कर सकेगी।

जो नवीन प्रकाश मनुष्य के मनःक्षितिज में उदय हो रहा है उसी के आलोक में नवीन मानवता का निर्माण भविष्य में सम्भव है। आज की बौनी, खंडित, अपर्याप्त मान्यताओं से सचमुच ही आनेवाले मनुष्य का काम नहीं चल सकेगा, चाहे वह चन्द्रलोक में रहे या मंगल-लोक में। 'वाणी' में मैंने प्रश्न किया है :

"चन्द्रकलश प्रासाद रचोगे तुम दिग्विस्तृत ?
कैसा होगा वहाँ भाव ऐश्वर्य अखण्डित ?
कैसा नव चैतन्य ? मानसी भूति अपरिमित ?
कैसा संस्कृत जन जीवन सौन्दर्य अकल्पित ?
अणु बम वहाँ बनायेंगे क्या सभ्य शिष्ट नर ?
शीत युद्ध से कम्पित कर शंकित भू पंजर ?" इत्यादि।

आज के युग का सन्देह, अविश्वास, जीवन-संघर्ष, विनाश के साधन, बाहरी-भीतरी क्रान्तियाँ—अर्थशक्ति-संचय, ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियाँ तथा अप्रतिहत साहस इसी महत् निर्माण, विकास तथा मानवता के आमूल रूपान्तर के अग्रदूत हैं—इनका कोई दूसरा अर्थ नहीं हो सकता। मनुष्य के अन्तःकरण में जो अपापविद्ध, स्वयंशुद्ध, शाश्वत अमृतत्व है, उसकी अन्य क्या सार्थकता या परिणति हो सकती है? मानव-जीवन की, युगों के अन्धकार एवं नैतिक संकीर्णता की कलंक-कालिमा में सनी चेतना की चादर को—जिसे कबीर जतन से ओढ़कर ज्यों की त्यों रख गये थे—नवीन प्रकाश के जल में डुबोकर, उसे संस्कृति के व्यापक मूल्यों की स्वच्छ शोभा प्रदान कर, हमें सबके ओढ़ने योग्य बनाना होगा। नहीं तो अन्तरिक्ष के दीप्त ग्रहों में मन के इस अन्धकार को ले जाने से क्या लाभ हो सकता है?

आज के युग का प्रश्न केवल भारतीय या एकदेशीय आध्यात्मिकता या संस्कृति का नया संस्करण प्रस्तुत करना नहीं है, जैसा मध्ययुगों में रहा है, आज समस्त मानवता तथा विश्व-जीवन को एक सक्रिय, जीवनोपयोगी आध्यात्मिक चेतना तथा सांस्कृतिक पीठिका प्रदान करना है। आनेवाला मानव निश्चय ही न पूर्व का होगा, न पश्चिम का। वह देशों (दिशा) की सीमाओं एवं विभेदों को अतिक्रम कर काल के शिखर की ओर आरोहण करने को उत्सुक होगा। आज की बाह्य वास्तविकता की बौनी विकृतियों से मुक्त, उसके भीतर, एक अन्तर-वास्तविकता एवं अन्तश्चेतना का उदय तथा विकास होगा। वह विज्ञान को अपना उपयुक्त वाहन बना सकेगा। वही, काल के हृदय-कमल में स्थित, कालविद्, अत्याधुनिक मानव होगा —जिसे धारण कर धरती, सूर्य की परिक्रमा करने में, गौरव का अनुभव करेगी। इस मानव को सम्बोधित कर 'बुद्ध के प्रति' रचना की अन्तिम प्रार्थना उद्धृत करता हूँ :

"आओ, शान्त, कान्त, वर, सुन्दर, धरो धरा पर स्वर्ण युग चरण !
विचरो नव युग पान्थ, बुद्ध बन, जन भू मन करता अभिवादन !
अणु रचना के भूति-मंच पर हो सुखान्त मानव युग का रण,
तुमसे नव मानुष्य स्पर्श पा विष हो अमृत, मृत्यु नव जीवन !"

अन्त में, इस भूमिका के रूप में प्रस्तुत अपने विचारों, विश्वासों तथा जीवन-मान्यताओं की त्रुटियों एवं कमियों के सम्बन्ध में पाठकों से क्षमा-प्रार्थना करते हुए, अपनी द्वितीय उत्थान की सृजन-चेतना के चरण-चिह्नों को यहीं समय के बालू पर छोड़कर, नवीन रचना-भूमिका में प्रवेश करने के उत्साह में, मैं अपने अतीत के इस स्वप्न-भारनत संस्मरणों से विदा लेता हूँ :

"स्वस्ति, चेतना काव्य के काल,
रजत मानस के स्वर्ण मराल,
रश्मि दीपित कवि भाल !"

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी,
६ सितम्बर, १९५८ ('चिदम्बरा' की भूमिका)

मेरी दृष्टि में नयी कविता

नयी कविता के सम्बन्ध में इधर कुछ वर्षों से पुस्तकों, और विशेषकर मासिक पत्र-पत्रिकाओं में, जो लेख तथा निबन्ध प्रकाशित हो रहे हैं उनसे इस नवीन साहित्य स्रोतस्विनी के मर्म-मधुर, मुखर सौन्दर्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ चुका है। यह ठीक है कि ये निबन्ध या तो मुख्यतः नयी कविता के व्याख्याताओं तथा पक्षपातियों की ओर से लिखे गये हैं जिनमें प्रायः ही नयी काव्य-प्रवृत्तियों के बारे में अतिरंजनाओं तथा अतिशयोक्तियों का बाहुल्य मिलता है या ये आलोचनात्मक लेख विपक्षियों की लेखनी से निःसृत हुए हैं, जिनमें नयी कविता के सम्बन्ध में पूर्वग्रहजनित आक्षेप ही अधिकतर पाये जाते हैं। इस प्रकार के दृष्टिकोण एकांगी होने के कारण

इस नवीन साहित्य-धारा को समझने के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि सत्साहित्य को न पूर्वग्रहपीड़ित आलोचनाएँ ही मार सकती है और न अतिरंजनाएँ ही असत् साहित्य को दीर्घ जीवन प्रदान कर सकती हैं। किसी भी साहित्य-धारा का उपयोगी अध्ययन तभी सम्भव हो सकता है जब हम उस पर निष्पक्ष सन्तुलित एवं सहानुभूतिपूर्वक विचार करें।

जैसा कि मैंने अन्यत्र भी लिखा है आज के युग जीवन और अन्तश्चेतना को वाणी देने के लिए छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद, जो अब नयी कविता का रूप ग्रहण कर रहा है, तीनों ही एक-दूसरे के पूरक के रूप में पाये जाते हैं। उनमें छायावाद आदर्श-मूलक है जो युग जीवन के आदर्श की दिशा की ओर इंगित करता रहा है, प्रगतिवाद सामूहिक यथार्थ का प्रतिनिधित्व करता आया है और हमारी सामाजिक संघर्ष की बहिर्मुखी वास्तविकता को वाणी देता रहा है और प्रयोगवाद एवं नयी कविता हमारे व्यक्तिगत जीवन के अन्तर्यथार्थ की गहराइयों पर प्रकाश डालती आयी हैं। काव्य की यह नयी धारा मानव-अन्तर के माधुर्य, सौन्दर्य, विषाद, करुणा, भय, संशय, अनास्था, विवेक, चिन्तना तथा कभी प्रज्ञा को भी काव्य के धूपछाँह पट में गूँथने का प्रयत्न करती आ रही है। यह नयी धारा हिन्दी ही में नहीं विदेशी भाषा साहित्यों में भी अपना विशिष्ट गुण तथा व्यक्तित्व लेकर प्रकट हुई है और इन सभी भाषाओं की कविताओं में अनेक प्रकार की समान गुणधर्मा प्रवृत्तियों का आकलन प्रचुर मात्रा में पाया जाता है।

नयी कविता में अनेक विशेषताएँ देखने को मिलती हैं। प्रथमतः यह सामयिक यथार्थ की भावना को अभिव्यक्त करती आयी है। इस युग की अनेक छोटी-मोटी दैनन्दिन की समस्याओं में नये कवि का भावप्रवण संवेदनशील मन उलझा रहता है, वह उनके सूक्ष्म आघातों की संवेदनाओं को, शीत-ताप-मापक यन्त्र की तरह, भाव सौन्दर्य के विविध धरातलों पर अंकित करता रहता है। नया कवि जहाँ युग संक्रान्ति के वैषम्य तथा वैचित्र्य को चित्रित करने का प्रयत्न करता है, वहाँ उसके भीतर निहित मूल्यों की ओर भी दृष्टिपात करना नहीं भूलता। यद्यपि उसकी अनुभूति में अभी अधिक गहराई के दर्शन नहीं होते, पर उसकी अभिव्यक्ति की नवीनता, उसका सँवार-सजाव तथा उसका चमत्कार बरबस पाठकों का ध्यान आकर्षित किये बिना नहीं रहता। अधिकांश कवि तो अभिव्यक्ति को माँजने और उसके लिए नये-नये अलंकार तथा बिम्ब खोजने ही में खो जाते हैं : उनके रूप-विधान की भूलभुलैया में से जीवित भावना या आत्मा को ढूंढ निकालना कठिन हो जाता है या सम्भवतः उनकी कविता केवल एक साज, एक बनाव अथवा एक कोरा अलंकरण ही होकर रह जाती है, उसके भीतर भावना या अनुभूति की उपलब्धि कुछ भी नहीं होती। ऐसे कवियों की संख्या नये कवियों में, मेरी दृष्टि में, हिन्दी में अधिक पायी जाती है। किन्तु ऐसे नये कवि भी निःसन्देह, सौभाग्यवश, वर्तमान हैं जिनकी रचनाएँ हृदय को गम्भीरतापूर्वक स्पर्श करती हैं और जो वर्तमान युग के संघर्ष-संशय के वातावरण में निर्माण की नयी दिशाओं का संबोध रखते हैं और अपने प्रति मुख्यतः, और विश्व जीवन के प्रति

गौणतः, आस्थावान भी हैं। यह ठोस आस्था कभी-कभी उनमें अहम् का खोखला रूप भी धारण कर लेती है और यह अहम् भावना जहाँ बाहर के कलुष संशय और निराशा से लड़ते-लड़ते प्रायः अत्यन्त निर्मम, कुरूप तथा कठोर रूप में अभिव्यक्त होती है, वहाँ कभी-कभी उसका बड़ा सुन्दर, संस्कृत, सुरुचिपूर्ण, मधुर स्वरूप भी देखने को मिलता है जो स्वयं काव्य का एक उपादान बनकर मन को मुग्ध करने की क्षमता रखता है।

प्रतिष्ठित मान्यताओं, प्रचलित काव्य-पद्धतियो, उपमा-अलंकरणों तथा शब्दों के प्रति उपेक्षा तथा विरक्ति और विद्रोह की भावना भी नयी कविता की एक विशेषता है। नया कवि अपने युग जीवन के यथार्थ तथा व्यक्तिगत परिस्थितियों से ऐसा चिपका हुआ है कि परम्परा तथा प्रतिष्ठित मूल्यों के प्रति अपनी अनास्था प्रकट करते हुए भी वह उनके जोड़ की नयी मान्यताओं को जन्म देने में अभी समर्थ नहीं हो सका है। किन्तु इस विद्रोह से वह जिस नवीन विशेषीकरण की ओर अग्रसर हो रहा है, सम्भव है, वह आगे चलकर उसकी उपलब्धियों को नवीन महत्त्वपूर्ण ऊँचाइयों की ओर ले जा सके। वास्तव में युग के विघटन का बोझ आज के कृतिकार की चेतना पर इतना अधिक है कि उससे ईमानदारी से संघर्ष करने और अपने अन्तर के विद्रोह को सफल सबल वाणी देने में उसकी सृजन प्रक्रिया अधिकतर परास्त हो जाती है। अपने अन्तर की आस्था, विश्वास के बल पर वह, आज के आँधी-तूफान और गर्द-गुबार के भीतर से उगते हुए, जिन नये शिखरों को देखने और ग्रहण करने का प्रयत्न करता है वे फिर-फिर उसकी मनोदृष्टि से ओझल हो जाते हैं और उनके स्थान पर वह घृणा, उपेक्षा और विषाद के भुजंगों के सिर पर खड़े आत्मविश्वास की ही दुहाई देकर रह जाता है। प्रचलित प्रणालियों को छोड़ने के फलस्वरूप वह काव्य-जगत को नयी शैलियाँ, विधाएँ, बिम्ब तथा साज-सँवार के साधन प्रचुर मात्रा में प्रदान कर रहा है। इनमें चयन की आवश्यकता अवश्य ही पड़ेगी क्योंकि अधिकांश बिम्ब तथा उपमा-अलंकरण खण्डित, अपूर्ण तथा अपर्याप्त ही रह जाते है।

नये कवि का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह निरन्तर सजग है, और उसमें अथक प्रयत्न तथा अनुसंधान करने की क्षमता है। वह विघटित होते हुए मानव-व्यक्तित्व का तटस्थ साक्षी बन सकता है। दुःख पर—आत्म-विघटन, जीवन-संघर्ष और नव-निर्माण की क्लान्ति के दुःख पर—उसे अमिट आस्था है। प्रकाश को वह अन्धकार के छोर से, सुख को दुःख के छोर से, अस्तित्व को अहं के छोर से और आस्था को वह संशय के छोर से पकड़ता है। इस प्रकार अपने को न भावना के समुद्र ही में डूबने देता है और न विवेक के शिखर पर चढ़कर वहाँ ठहरा ही रह सकता है।

नयी कविता हिन्दी में एक प्रकार से छायावाद, प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद की उत्तराधिकारिणी बनकर आयी है अतः उसमें उपर्युक्त सभी प्रकार की चेतनाओं और भावनाओं के सूत्र गुम्फित मिलते हैं। एक ओर उसमें रोमांटिक कवि नयी शैली में अपनी रंगीन भावनाओं की डोरियों को सौन्दर्य-शिल्प के चित्रात्मक विधान में गुम्फित कर रहे हैं तो दूसरी ओर सामाजिक यथार्थ तथा चेतना के उद्बोधक स्वर तथा सामाजिक

वैषम्य से प्रेरित क्षुब्ध विद्रोह भरी सशक्त, गठी अभिव्यंजनाएँ भी उसमें सृजन प्रक्रियाओं को गुरुत्व प्रदान करने में सफल हुई हैं। साथ ही उसमें संशय, नैराश्य, कुण्ठा, अनास्था की खोखली कटुता तथा विद्वेष, घृणा भरी, विघटित हो रही युगीन वास्तविकता का प्रयोगवादी चित्रण तथा निष्क्रिय, आत्मदंश भरे विषाक्त अहम् के भी अनेक रुद्ध दृप्त रूपों का गर्जन-तर्जन भावना के क्षितिज को धुंधला बनाता हुआ, विषाद की घटा की तरह उमड़ता दृष्टिगोचर होता है। किन्तु नयी कविता मे छायावाद, प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद का सर्वांगीण संयोजन न मिलने के कारण वह इनकी शारद परिणति या प्रतिनिधि नहीं कही जा सकती। नये कवि के स्वर में बौद्धिकता तथा वैज्ञानिक यथार्थ के प्रति आकर्षण अथवा आस्था भी मिलती है। इनके माध्यम से वह वैयक्तिक स्वातन्त्र्य को जीवन यथार्थ की भूमि पर प्रतिष्ठित करना चाहता है। किन्तु आज के यान्त्रिक भौतिक जीवन के स्वादहीन अवसाद को चीरकर उसकी रचनात्मक बुद्धि किसी व्यापक मानवीय सामाजिक वास्तविकता तथा उच्च मानवीय वस्तुगत आदर्श की प्रतिष्ठा कर सकी है अथवा उस दिशा की ओर अग्रसर हो रही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसके वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की पुकार बहुत हद तक केवल उसकी अहंता की पुकार अथवा युग के बिखरे व्यक्ति की पुकार बनकर रह गयी है। उसमें गतिशील रचनात्मक सामाजिक यथार्थ का कहीं लवलेश भी नहीं होने के कारण वह आत्म-रुचि तथा आत्मरति की द्योतक बनकर ही, लगता है, निःशेष हो जायेगी। इस प्रकार आज की नयी कविता की चेतना नयी मानव-रचना या विश्व-निर्माण की सूचक न होकर, केवल वैयक्तिक स्तर पर सृजनशील तथा संवेदनशील बनकर, भावना-भूमि से ऊपर—सच्ची बौद्धिक भूमि पर नहीं उठ सकी है—ऐसी बौद्धिक भूमि जिसमें भावी मानव-सभ्यता या संस्कृति का सत्य निहित हो अथवा मनुष्यत्व के मूल्य निखरकर सामने आये हों। वह भावना-भूमि से नीचे उतरकर उस जीवन-यथार्थ की भूमि पर भी अपने चरण नहीं स्थापित कर सकी है जिसमें सामाजिक संकल्प का घनत्व होने के कारण आगे बढ़ने की सुविधा हो। वह केवल इन्द्रधनुष जड़े हुए मनोद्वेग के वाष्पपिण्ड की तरह, अभिव्यक्ति की दृष्टि से, अधिक रंगीन, मोहक, सुन्दर तथा स्वप्न सर्जक बनकर रह गयी है, जिसमें प्रगीत का सम्मोहन तो है, सौन्दर्य का बाहरी सत्य भी है—पर, शिव का सत्य, लोक-मंगल तथा मानव-मंगल का भीतरी सत्य कहीं खोजने पर भी दृष्टिगोचर नहीं होता और मेरी दृष्टि में यही उसकी सबसे बड़ी कमी है। फिर भी नयी कविता की भविष्य में अनेक सम्भावनाएँ हो सकती हैं और मैं इस शुद्ध साहित्यिक धारा का हृदय से स्वागत करता हूँ।

आज की कविता और मैं

आज की कविता में अनेक स्तर और अनेक छायाएँ हैं। वह एकदेशीय

भी है, विश्वजनीन भी; वैयक्तिक भी है, सामाजिक भी; और इन सबके परे वह एक नवीन सत्य, नवीन प्रकाश एवं नवीन मनुष्यत्व की सन्देश-वाहक भी है—एक ऐसा मनुष्यत्व जिसमें आज के देश और विश्व, व्यक्ति और समाज के बाहरी-भीतरी विरोध, नवीन सामंजस्य ग्रहण कर रहे हैं।

जब मै विश्व-साहित्य एवं काव्य पर दृष्टि डालता हूं, तब मुझे लगता है कि उसमें मनुष्य-जाति के जीवन का संघर्ष, उसके मन का चिन्तन तथा हृदय का मन्थन, ज्ञात और अज्ञात रूप से, सदैव प्रतिफलित होता रहा है। प्रत्येक युग का साहित्यिक अथवा कवि अपने युग की समस्याओं को महत्त्व देता रहा है और उनसे किसी-न-किसी रूप में प्रभावित होता रहा है। आज का युग भी इसका अपवाद नहीं है। आज का युग अनेक दृष्टियों से कई युगों का युग है। आज मनुष्य-जीवन में बहिरन्तर क्रान्ति के चिह्न प्रकट हो रहे है। आज वह अपने पिछले संचय को नवीन रूप से सँजोने का प्रयत्न कर रहा है। एक ओर वह समाज के जीर्ण-शीर्ण ढाँचे को बदल रहा है और दूसरी ओर जीवन की नवीन मान्यताओं को जन्म दे रहा है। आज उसे भीतर-ही-भीतर अनुभव हो रहा है कि वह सभ्यता के विकास की एक नवीन भूमिका पर पदार्पण करने जा रहा है। ऐसे संक्रान्ति के युग में ध्वंस और निर्माण साथ-साथ चलते हैं। शिव और ब्रह्मा विष्णु के नवीन रूप को प्रकट करने में सहायक होते है। पौराणिक शब्दों मे आज का युग कलियुग और सतयुग का सन्धिस्थल है। ऐसे युग में साहित्य या कवि का उत्तरदायित्व कितना अधिक बढ़ जाता है, और कौन साहित्यिक उसे निभाने में कहाँ तक सफल हो पाता है, इस पर निर्णय केवल इतिहास का आनेवाला चरण ही दे सकता है, जब कि वर्तमान की समस्याएँ अपना समाधान प्राप्त कर नवीन व्यक्तित्व धारण कर चुकेंगी। अतएव प्रस्तुत वार्ता में आज की कविताओं के सम्बन्ध में ही अपने विचार प्रकट करने का प्रयत्न करूँगा और अपने सम्बन्ध में निर्णय देने का अधिकार आनेवाले आलोचकों पर छोड़कर सन्तोष करूँगा।

सन् १६०० में मेरे जन्म के साथ ही 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का भी जन्म हुआ, जो हिन्दी अथवा खड़ी बोली की पहली प्रतिष्ठित मासिक पत्रिका थी। देश के उदयाचल पर जागरण के चिह्न प्रकट हो चुके थे और खड़ी बोली उसी जागरण की सशक्त वाणी बनने का प्रयत्न कर रही थी। मेरे काव्य-जीवन के प्रारम्भ होने से २-३ वर्ष पहले ही श्री गुप्तजी की 'भारत-भारती' प्रकाशित हो चुकी थी। यद्यपि उसमें स्वामी रामकृष्ण परमहंस द्वारा अनुभूत तथा स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रचारित सर्वधर्म-समन्वय की भावना तथा अध्यात्म का व्यापक प्रकाश नहीं था, जिसने विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ के काव्य को प्रेरणा दी, किन्तु उसमें उस समय के लोकचिन्तन के स्वर स्पष्ट रूप से गूँज रहे थे, जो इस प्रकार थे :

"हम कौन थे, क्या हो गये है, और क्या होंगे अभी,
आओ, विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।"

साथ ही उसके भविष्यत् खण्ड में हमारी कुम्भकर्णी नीद में सोयी हुई भूमि के लिए उद्बोधन और जागरण की आशा भी थी :

"हतभाग्य हिन्दू जाति तेरा पूर्व दर्शन है कहाँ।
वह शील, शुद्धाचार, वैभव, देख, अब क्या है यहाँ।।

अब भी समय है जागने का देख आँखें खोल के।
सब जग जगाता है तुझे, जगकर स्वयं जय बोल के।।"

किन्तु द्विवेदी-युग के कवियों के काव्य-सौष्ठव से हमारे युग को, जिसका श्रीगणेश प्रसादजी से होता है—न काव्य के रूप-निर्माण के सम्बन्ध में विशेष प्रेरणा मिली, न भावना और दर्शन के सम्बन्ध में। छायावादी कवियों का लक्ष्य हिन्दू-जाति के जागरण तक सीमित नहीं रहा, उनका आध्यात्मिक दृष्टिकोण पौराणिक आचार-विचारों को अतिक्रम कर नये प्रकाश की खोज करने लगा। उनके रूप-विन्यास में कवीन्द्र तथा अंग्रेजी के कवियों का प्रभाव पड़ा, भावना में युग-संघर्ष की आशा-निराशा का, तथा विचार-दर्शन में विश्ववाद, सर्वात्मवाद तथा विकासवाद का, जो धीरे-धीरे अधिक वास्तविक भूमि पर उतरकर भूवाद, नव मानववाद में परिणत हो गये। द्विवेदीयुग के कवियों में आगे चलकर श्री गुप्तजी ने छायावाद की चेतना को पौराणिक परिपाटी के भीतर से अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया।

विश्ववाद, सर्वात्मवाद आदि का प्रभाव छायावादी कवियों ने अधिकतर कवीन्द्र रवीन्द्र से और अंशतः शेली आदि अंग्रेजी कवियों से ग्रहण किया। कवीन्द्र रवीन्द्र का युग विशिष्ट व्यक्तिवाद का युग था। कवीन्द्र विश्व-भावना तथा लोकमंगल-भावना को अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का अंग बनाकर ही अपने काव्य में दे सके। जन-सामाजिकता तथा सामूहिक व्यक्तित्व की कल्पना उनके युग की विचार-सरणि का अंग नहीं बन सकी थी। यन्त्रयुग के मध्यवर्गीय सौन्दर्यबोध से उनका साहित्य ओतप्रोत है, किन्तु यन्त्रयुग की जनवादी सौन्दर्यभावना का उदय तब नहीं हो सका था, न पूँजीवाद ही उनके आत्म-निर्माणकाल में ऐसा वीभत्स रूप धारण कर चुका था। जनवादी भावना के विपरीत उनके साहित्य में यन्त्रों के प्रति विरोध की भावना मिलती है, जो मध्यकालीन भारतीय संस्कृति की प्रतिक्रिया-मात्र है। श्रीकृष्ण चैतन्य अथवा वैश्ववाद उनकी रचनाओं में आधुनिक रूप धारण कर सर्वात्मवाद बनकर निखरा है। सांस्कृतिक धरातल पर उन्होंने वसुधैव कुटुम्बकम् की भारतीय भावना का समन्वय नृतत्त्वशास्त्र की दिशा में किया है।

इन्हीं आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी भावनाओं से हिन्दी में छायावादी कवि भी प्रभावित हुए, किन्तु उनके युग की पृष्ठभूमि जैसे-जैसे बदलती गयी, उनके काव्य का पदार्थ भी उसी अनुपात में बदलता गया। वे सूक्ष्म से स्थूल की ओर, आध्यात्मिकता से भौतिकता की ओर, रूप से वस्तु की ओर, सर्वात्मवाद आदि से मानववाद, भूवाद, जनवाद की ओर बढ़ते गये। सत्य की खोज की उड़ती हुई अस्पष्ट अभीप्सा युग-परिवेश, सामाजिक वातावरण और वैयक्तिक तथा सामूहिक परिस्थितियों से प्रभावित एवं घनीभूत होकर वास्तविकता की भूमि पर विचरण करने लगी।

प्रसादजी की 'कामायनी' छायावाद के प्रथम चरण की सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि रचना है, उनका 'आँसू' छायावादी युग की एक निर्बल सृष्टि। 'कामायनी' में पूर्वी-पश्चिमी विचार-दर्शन का, उनके युग का समन्वय है। उस मे इड़ा (तर्कबुद्धि) पश्चिम के रीज़न या रैशनलिज़्म की प्रतीक है,

श्रद्धा भारतीय अभीप्साजनित भावना की। मनु मानव-मन का प्रतीक है। चिन्ता, आशा, काम, निर्वेद आदि प्रवृत्तियों का विकास जैव विकासवाद से प्रभावित मनोवैज्ञानिक विकासवाद के काव्यात्मक प्रयोग का निदर्शन है। इड़ा-श्रद्धा का संघर्ष; श्रद्धा की विजय; भक्ति, कर्म, ज्ञान का समन्वय; अन्त में समरस आनन्द की व्यापक स्थिति—सब अत्यन्त सत्य, सफल और सुन्दर है। प्राचीन पौराणिक कथानक में विकासवाद की सक्रिय चेतना तथा शैवदर्शन की आत्मा प्रतिष्ठित कर उन्होंने युग के अनुरूप अद्भुत काव्य-सृष्टि की है। अन्तश्चेतना की सूक्ष्म देवशक्तियों का प्रवृत्तियों के रूप में मानसीकरण कर उन्हें भेद-बुद्धि द्वारा स्थूल जीवन-संघर्ष में डालकर, श्रद्धा की सहायता से पुनः निखारकर तथा उसी के द्वारा कर्म, भक्ति, ज्ञान के रूप में जीवन, भावना तथा बुद्धि में सामंजस्य स्थापित कर अभेद आनन्दमय सत्य की अवतारणा की है।

"नीचे जल था, ऊपर हिम था
एक तरल था, एक सघन,
एक तत्व ही की प्रधानता
कहो उसे जड या चेतन।"

की भूमिका पर उठाकर प्रसादजी ने 'कामायनी' के श्रद्धा-प्रासाद को—

"समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।"

की आत्मानुभूति के स्वर्ग में प्रतिष्ठित कर दिया। व्यक्ति का जीवन 'कामायनी' के दर्शन के बिना असफल है। 'कामायनी' के काव्य-पदार्थ में प्राचीन ऋषियों का हृदय-स्पन्दन तथा उनके विचार-दर्शन की प्रतिध्वनियाँ मिलती हैं और अन्तिम सर्गों में विचार-दर्शन से ऊपर आध्यात्मिकता का भी समरस प्रकाश मिलता है। प्राचीन तत्त्व-द्रष्टाओं की तरह प्रसादजी ने भी व्यक्ति-चेतना अथवा वैयक्तिक संचरण को प्राधान्य देकर सामूहिक एवं लोक-कल्याण की समस्या का निदान किया है। किन्तु समूह एवं सामाजिकता को प्रधानता देकर व्यक्ति के कल्याण का पथ किस प्रकार उन्मुक्त तथा प्रशस्त किया जाय—यह समस्या छायावाद के द्वितीय चरण के सम्मुख उपस्थित हुई, जिसकी मर्मराहट हमें अनगढ़, विद्रोह-भरे प्रगतिवाद के कवियों में मिलती है। प्रगतिवाद का जीवन-दर्शन भाव-प्रधान तथा वैयक्तिक न रहकर धीरे-धीरे वस्तु-प्रधान तथा सामाजिक हो गया। किन्तु इतने व्यापक तथा मौलिक परिवर्तन को प्रगतिवाद ठीक-ठीक समझ सका और अपनी वाणी से सामूहिक विकास की भावना को ठीक पथ पर अग्रसर कर सका, ऐसा कहना ग़लत होगा। काव्य की दृष्टि से उसका सौन्दर्यबोध पूंजीवादी तथा मध्यवर्गीय सौन्दर्य-भावना की प्रतिक्रिया से पीड़ित रहा. उसका भावोद्वेग किसी जनवादी यथार्थ तथा जीवनसौन्दर्य को वाणी देने के बदले केवल धनपतियों तथा मध्यवृत्तिवालों के प्रति विद्वेष तथा विक्षोभ प्रकट करता रहा। नवीन लोकमानवता की गम्भीर सशक्त चेतना के जागरण-गान के स्थान पर उसमें नंगे-भूखे श्रमिक-कृषकों के अस्थि-पंजरों के प्रति मध्यवर्गीय आत्मकुण्ठित बुद्धिवादियों की मानसिक

प्रतिक्रियाओं का हुंकार-भरा क्रन्दन सुनायी पड़ने लगा। विचार-दर्शन की दृष्टि से, वह नवीन जन-भावना को अभिव्यक्ति न दे सकने के कारण, केवल कुछ तात्कालिक परिस्थितियों के कोरे राजनीतिक नारों को बार-बार दुहराकर, उनका पिष्टपेषण करता रहा। समीक्षा की दृष्टि से, अधिकांश प्रगतिवादी आलोचक साहित्य-चेतना के सरोवर-तट पर राजनीतिक प्रचार का झण्डा गाड़े, ऊपर ही ऊपर हाथ-पाँव मारकर झागों में तैरने का सुख लूटते रहे हैं और छिछले स्थलों से कीचड़ उछालते हुए काव्य की आत्मा को तोड़-मरोड़कर नव दीक्षितों को दिग्भ्रान्त करते रहे हैं।

छायावाद का प्रारम्भिक अस्पष्ट अध्यात्मवादी एवं आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रगतिवाद में अस्पष्ट भौतिकवाद अथवा वस्तुवाद बनने की हठ करने लगा। जिस प्रकार छायावादियों में भागवत् या विराट्-चेतना के प्रति एक क्षीण दुर्बल आग्रह, आकुलता या बौद्धिक जिज्ञासा की भावना रही, उसी प्रकार तथाकथित प्रगतिवादियों में जनता तथा जन-जीवन के प्रति एक निर्जीव संवेदना तथा निर्बल व्याकुलता का भाव दुराग्रह की सीमा तक परिलक्षित होने लगा। दोनों ही के मन में सम्यक् साधना, अभीप्सा तथा बोध की कमी के कारण अपने इष्ट अथवा लक्ष्य की रूप-रेखा या धारणा निश्चित नहीं बन पायी। एक भीतरी कुहासे में लिपटे रहे, दूसरे बाहरी कोहरे से घिरे रहे। कला की दृष्टि से प्रगतिवाद के सफल कवि छायावादी शब्दों की रेशमी रंगीनी का एवं उपमाओं की अभिनव सुन्दरता का सजीव प्रयोग कर सके। छन्दों की दृष्टि से सम्भवतः उन्होंने अपनी अन्तर्लय-हीन भावनाओं तथा उच्छृंखल उद्‌गारों की अभिव्यक्ति के लिए मुक्त छन्द के रूप में पंक्तिबद्ध गद्य को अपनाया, जिसका प्रवाह उनके बहिर्भूत दृष्टिकोण के अनुरूप ही अधिक असम्बद्ध, छितरा-बिखरा तथा ऊबड़-खाबड़ रहा। अपने निम्न स्तर पर प्रगतिवाद में सुरुचि संस्कारिता का स्थान विकृत कुत्सित भदेस ने ले लिया। छायावादी भावना की अति उदारता उतनी ही अधिक सिमटकर अत्यन्त संकीर्ण अन्धानुयायिता में बदल गयी। किन्तु फिर भी प्रगतिवादियों ने किसी प्रकार अपने गिरते-पड़ते पैर मिट्टी के गर्द-गुबार से भरी एक व्यापक वास्तविकता की ओर उठाये। जागरणवादी कुछेक कवियों ने छायावादी चेतना ही को मिट्टी की ओर ले जाकर उसे हुंकार के साथ अभिव्यक्ति दी, जिनमें 'दिनकर' प्रमुख हैं।

प्रगतिवाद के अतिरिक्त छायावादी काव्य-भावना ने एक ओर आत्माभिव्यक्ति की पगडण्डी पकडी, जो हमारी सड़कों के नये नामों की तरह, पीछे स्वतन्त्र रूप धारण करने पर, प्रयोगवादी कविता कहलायी। जिस प्रकार प्रगतिवादी काव्य-धारा मार्क्सवाद एवं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम पर अनेक प्रकार के सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक तर्क-वितर्कों में फँसकर एक किमाकार कुरूप सामूहिकता की ओर बढ़ी, उसी प्रकार प्रयोगवाद की निर्झरिणी कलकल-छलछल करती हुई, फ्रायडवाद से प्रभावित होकर, स्वर-संगतिहीन भावनाओं की लहरियों में मुखरित, उपचेतन-अवचेतन की रुद्ध-क्रुद्ध ग्रन्थियों को मुक्त करती हुई तथा दमित-कुण्ठित आकांक्षाओं को वाणी देती हुई लोकचेतना के स्रोत में नदी के द्वीप की

तरह प्रकट होकर अपने पृथक् अस्तित्व पर जमी रही। छायावादी भावना की सूक्ष्मता इसमें टेकनीक की सूक्ष्मता बन गयी, छायावादी शब्दों का वैचित्र्य, उक्ति का वैचित्र्य और उसके शाश्वत का स्थायित्व इसमें क्षणभंगुर रंगरलियों का उद्दीपन बन गया। अपनी रागात्मक विकृतियों तथा सन्देहवादिता के कारण अपने निम्न स्तर पर इसकी सौन्दर्य-भावना केचुओं, घोंघों, मेढकों के उपमानों के रूप में सरीसृपों के जगत् से अनुप्राणित होने लगी, जो वास्तव में पश्चिम की ह्रासोन्मुखी संस्कृति का प्रभाव-मात्र है।

छायावादी छन्दों में आत्मान्वेषण की शान्त स्निग्ध अन्तःस्वर-संगति है, जो अपने दुर्बल क्षणों में कोरा प्रेरणाशून्य कोमल लालित्य बनकर रह जाती है। प्रकृतिवादी छन्दों में सामूहिक आन्दोलन का कोलाहल तथा स्पन्दन-कम्पन है, जो अधिकतर खोखली हुंकार तथा तर्जन-गर्जन बनकर रह जाता है। प्रयोगवादी छन्दों में एक करुणा-मिश्रित नींदभरी स्वप्न-मर्मर है, जो प्रायः आत्मदया में द्रवित होकर प्रणय के आँसुओं तथा उच्छ्वासों की निरर्थक सिसकियों में डूब जाता है। छायावादी प्रीति-काव्य सौन्दर्य-भावना-प्रधान है, प्रयोगवादी प्रणय-गीत राग और वासना-मूलक।

अपने स्वस्थ रूप में छायावाद एक नवीन अध्यात्म को वाणी देने का प्रयत्न करता रहा। प्रगतिवाद एक नवीन सामूहिक वास्तविकता को तथा प्रयोगवाद सामूहिक साधारणता के विरोध में व्यक्ति के सूक्ष्म गहन वैचित्र्य से भरी कुण्ठित अहंता को। काव्य की ये तीनों धाराएँ आज की युग-चेतना के ऊर्ध्व, व्यापक तथा गहन संचरणों को अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रही हैं और तीनों ही एक-दूसरे से अभिन्न रूप से सम्पृक्त हैं।

इन प्रमुख धाराओं के अतिरिक्त आज की कविता में राष्ट्र-भावना से भरी देश-प्रेम की झंकारें भी मिलती हैं, जो मुख्यतः गांधीवाद से अनुप्राणित एवं प्रभावित हैं। राष्ट्रवादी कवियों में मुख्यतः सियारामशरणजी, माखनलालजी तथा सोहनलाल द्विवेदीजी हैं। प्रथम दो के स्वरों में तप और संयम है; संस्कृत रुचि, उद्बोधन तथा आह्वान है। इनकी राजनीतिक भावना में सांस्कृतिक चेतना की उपेक्षा नहीं है। इनमें अतीत की स्वस्थ परम्पराओं के जागरण के साथ आधुनिक विश्व-बन्धुत्व तथा नवीन मानवता की भावना का भी समावेश है। साध्य-साधन का सामंजस्य, हृदय-परिवर्तन का आग्रह, लोकहित तथा अहिंसात्मक क्रान्ति का निर्देश है; साथ ही आज की समतल विचार-धारा की अराजकता में ऊर्ध्व उदात्त सन्तुलन स्थापित करने की चेष्टा भी। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद साहित्यिकों को विशेष सृजन-प्रेरणा न मिल सकने के कारण इस प्रकार की कविता में आज एक प्रकार का गतिरोध-सा दृष्टिगोचर होता है।

देशप्रेम के अतिरिक्त इस युग में मानवीय प्रेम की भावनाओं पर आश्रित स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी रागात्मक कविताएँ भी लिखी गयी हैं, जिसके प्रतिनिधि बच्चन हैं। बच्चन ने अपने हालावाद में प्रेम के प्रतीक को, सूफियों की तरह, यौवन के भावोन्माद के लिबास में लपेटकर प्रस्तुत किया है। उसकी यौवन की प्रेम-भावना 'निशानिमन्त्रण', 'आकुल अन्तर'

तथा 'एकान्त संगीत' में प्रच्छन्न विरह के रूप में उमड़ी है, 'सतरंगिणी' तथा 'मिलनयामिनी' में उन्मुक्त मिलन-उल्लास के रूप में। छायावादी अशरीरी प्रेम-भावना बच्चन में मानवीय वास्तविकता ग्रहण कर सकी है, पर उसमें युगीन परिष्कार का अभाव है। उसके भीतर परम्परागत मध्यवर्गीय प्रेम के हृदय का उच्छ्वसित स्पन्दन है, किसी प्रकार का नवीन सौन्दर्य-भावना से मण्डित, सस्कृत, मानवीय निखार नहीं। उसमें नवीन सामाजिकता के भीतर स्त्री-पुरुष की रागात्मक वृत्ति का नवीन सौन्दर्य में मूर्त, सुघर सन्तुलित रागोच्छ्वास देखने को नहीं मिलता। बच्चन का प्रणय-निवेदन 'वह पग ध्वनि मेरी पहचानी' से लेकर 'इसीलिए खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो' तक रीतिकालीन प्रणय-काव्य से पृथक् होने पर भी उर्दू प्रेम-काव्य की परम्परा से अनुरंजित एवं प्रभावित है। वह हृदय को स्पर्श न कर इन्द्रिय-संवेदनों को उकसाता है तथा बहिर्मुखी तृषा-पिपासा को तृप्त करता है। स्त्री-पुरुष की संज्ञा-चेतना को शुभ्र ऊँचाइयों में उठाने अथवा गहन अन्तर्लीन करने में सहायक नहीं होता। बच्चन की कविता की भाषा हिन्दी काव्य-भाषा की परम्परा में छनकर आयी है, वह छायावादी सौन्दर्योन्मेष और कल्पना-पंखों की स्वर्णिम उड़ान लेकर नहीं आयी। उसमें सूक्ष्म विश्लेषण-संश्लेषण की रंगच्छायाएँ नहीं मिलतीं, वह अपने उच्चस्तर पर मुहावरों में बँधी और उक्तियों से भरी होती है। उसकी इधर की 'प्रणय-पत्रिका' की रचनाएँ भी —जो 'विनय पत्रिका' का आधुनिक संस्करण समझी जानी चाहिए— काव्य की दृष्टि से उसी परम्परागत आत्मनिवेदन की कोटि में आती हैं। उदाहरणस्वरूप— 'तन के सौ सुख सौ सुविधा में मेरा मन वनवास दिया-सा' अथवा 'आज मलार कहीं तुम छेड़े मेरे नयन भरे आते हैं।' इत्यादि।

मैंने प्रगतिवाद और प्रयोगवाद को छायावाद की उपशाखाओं के रूप में इसलिए लिया है कि मूलतः ये तीनों धाराएँ एक ही युग-चेतना अथवा युग-सत्य से अनुप्राणित हुई है। उनके रूप-विन्यास, भावना-सौष्ठव में कोई विशेष अन्तर नहीं और उनका विचार-दर्शन भी धीरे-धीरे एक दूसरे के निकट आ रहा है। ये तीनों धाराएँ एक दूसरे की पूरक हैं। आज के युद्ध-जर्जर युग में हम एक नवीन सन्तुलन चाहते हैं। अपनी वैयक्तिक और सामाजिक धारणाओं में नवीन समन्वय चाहते हैं, अपने भीतर के सत्य और बाहर के यथार्थ को परस्पर सन्निकट लाना चाहते हैं। अपनी रागात्मक वृत्ति (प्रेय) तथा लोकजीवन के प्रति अपने उत्तरदायित्व (श्रेय) में नया सामंजस्य चाहते हैं। हमारी यही मूलगत आकांक्षाएँ आज हमारे साहित्य में विभिन्न अनुरंजनाओं तथा अतिरंजनाओं के साथ अभिव्यक्ति पा रही हैं।

अपने युग की महत् चेतना से, एक साहित्य-जीवी के रूप में, मैं भी अपने ढंग से अनुप्राणित एवं प्रभावित हुआ हूँ। इसके चढ़ाव-उतार में मेरी भी छोटी-सी देन है। अपने पूर्ववर्ती सभी महान कवियों के ऐश्वर्य को मैंने शिरोधार्य किया है और अपने समकक्षियों तथा सहयोगियों की प्रतिभा का भी मैं प्रशंसक तथा समर्थक रहा हूँ। अपने इस नवीन काव्य-संचरण में, अथवा अपनी काव्य-साधना में मैंने सन्त कवियों तथा डा० टैगोर से अनुप्राणित छायावाद की मध्ययुगीन आध्यात्मिकता तथा आदर्श-

वादिता को अन्तश्चेतना तथा नवीन लोक-चेतना का स्वरूप देने का प्रयत्न कर उसकी निष्क्रियता को सक्रियता प्रदान करने की, उसकी वैयक्तिकता को लौकिकता में परिणत करने की चेष्टा की है। मैंने आदर्शवाद तथा वस्तुवाद के विरोधों को नवीन मानव-चेतना के समन्वय में ढालने का प्रयत्न किया है। मैं अपने युग की चेतना में छाये हुए अन्धविश्वासों तथा निरर्थक रूढ़ि-रीतियों के प्रेतों से लड़ा हूँ। मैंने विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों तथा जातियों-वर्गों में बँटे हुए लोगों को अपनी काव्य-चेतना के प्रांगण में आमन्त्रित कर उनको एक दूसरे के पास लाने का प्रयत्न किया है। मैंने आध्यात्मिक तथा भौतिक अतिरंजनाओं का विरोध किया है। भौतिकता तथा आध्यात्मिकता को एक ही सत्य के दो पहलुओं के रूप में ग्रहण कर उन्हें लोककल्याण के लिए महत्तर सांस्कृतिक समन्वय में, एक-दूसरे के पूरक की तरह. संयोजित करना चाहा है। 'युगवाणी' से लेकर 'स्वर्ण-किरण' तक मैंने जीवन की बहिरन्तर मान्यताओं को सामंजस्य के ताने-बानों में गूँथकर नवीन मानवता के सांस्कृतिक पट को शब्द-ग्रथित करने का विनम्र प्रयत्न किया है। अपने प्रगीतों में मैंने मनुष्य के लिए नवीन सांस्कृतिक हृदय को जन्म देने की आवश्यकता बतलायी है। उसे नवीन रागात्मक संवेदनाओं, नवीन आदर्शों के स्पन्दन से अनुप्राणित करने का प्रयास किया है। कलापक्ष में मैंने अपनी युग-चेतना को नवीन सौन्दर्य का परिधान देने का प्रयत्न किया है, जिस सबमें मुझे अवश्य ही सफलता नहीं मिल सकी है और जिसकी चर्चा करना मुझे केवल आत्मश्लाघा प्रतीत हो रहा है। भविष्य में यदि मैं कभी अपने मन की पुण्य इच्छाओं तथा स्वप्न-सम्भावनाओं को सापेक्षत: परिपूर्ण काव्यकृति का रूप दे सका, तो मैं अपनी साहित्यिक साधना को सफल समझूँगा।

आधुनिक काव्य-प्रेरणा के स्रोत

प्रस्तुत वार्ता का विषय है 'आधुनिक काव्य-प्रेरणा के स्रोत', जिनसे हमारा अभिप्राय उन मौलिक प्रेरणाओं, मान्यताओं एवं उन धारणाओं तथा प्रवृत्तियों से है जो आधुनिक हिन्दी काव्य को जन्म देने में सहायक हुई हैं और जिन्होंने उसके प्रवाह को निर्दिष्ट दिशा की ओर मोड़ा है। प्रत्येक युग अपनी विशेष विचारधारा, विशेष भावनाओं के आधार तथा अपना विशेष दृष्टिकोण लेकर आता है; जो उस युग के साहित्य में प्रतिफलित होता है। साहित्यिक अथवा कलाकार का सूक्ष्म भाव-प्रवण हृदय अपने युग की उन विकास तथा प्रगति की शक्तियों को पहचानकर अपनी कला के माध्यम द्वारा उन्हें जन-समाज के लिए सुलभ बना देता है।

काव्यात्मकता केवल रसात्मक वाक्य तक ही सीमित नहीं है। यद्यपि रसात्मक वाक्य होना अथवा रमणीयता प्रतिपादक शब्द होना काव्य का सहज नैसर्गिक गुण है। छन्दों की झंकृति, वेश-भूषा, शब्दों तथा अलंकारों का सौष्ठव, भाषा की चित्रमयी अभिव्यंजना, कल्पना की सतरंगी

उड़ान तथा सौन्दर्य बोध आदि काव्य के बाह्य उपादान-मात्र कहे जा सकते हैं। इन सबसे अधिक उपयोगी काव्य की वह अन्तश्चेतना है, जो युग-विशेष के हृदय-मन्थन तथा जीवन-संघर्ष को प्रतिबिम्बित करती हुई उस नवीन आलोक-दिशा का इंगित देती है, जिस ओर युग का जीवन प्रवाहित होता है।

हिन्दी काव्य का आधुनिक युग छायावाद से प्रारम्भ होता है, जो द्विवेदी-युग तथा प्रयोगवादी युग का मध्यवर्ती काल है और जिसकी एक विशेष धारा प्रगतिवादी तथा दूसरी प्रयोगवादी कविता कही जाती है। छायावाद से पहले भी हिन्दी काव्य-साहित्य में नवीन प्रेरणाएँ काम करने लग गयी थीं और एक प्रकार से द्विवेदी-युग से पहले भी श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में हिन्दी कविता में नये विषयों का समावेश होने लगा था। श्री भारतेन्दु के 'भारतदुर्दशा' नाटक में देशभक्ति की मार्मिक व्यंजना मिलती है। उनकी स्वतन्त्र कविताओं में भी यत्र-तत्र देश के अतीत गौरव की महिमा, वर्तमान अधोगति का वेदनापूर्ण चित्र और भविष्य का उद्‌बोधन-गान पाया जाता है।

देश की वर्तमान दशा से क्षुब्ध होकर भारतेन्दु कहते हैं :

हाय, वहै भारत भुव भारी, सबही विधि सों भई दुखारी।
हाय पंचनत, हा पानीपत, अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत।
तुममें जल नहिं जमुना गंगा, बढ़हु वेगि किन प्रबल तरंगा।
बोरहु किन झट मथुरा कासी, धोवहु यह कलंक की रासी।

भारतेन्दु के इस प्रकार के करुण उद्‌गारों में देशभक्ति के साथ ही एक शक्तिमयी नयी अभिव्यजना मिलती है। द्विवेदी-युग में भारतीय जागरण के साथ ही देशभक्ति तथा राजनीति से प्रभावित अनेक ओजपूर्ण रचनाएँ लिखी गयीं। श्री गुप्तजी की 'भारत भारती' ने अपने युग को सबसे अधिक प्रभावित किया। द्विवेदी-युग का मुख्य प्रयत्न खड़ीबोली को गद्य-पद्य के रूप में मार्जित करने की ओर रहा। उनके युग में हिन्दी, भाषा के सौन्दर्य से तो वंचित रही, किन्तु उसका आधुनिक रूप निश्चित रूप से निखर आया और उसमें एक प्रकार का संयम तथा सुथरापन आ गया।

द्विवेदी-युग का काव्य अधिकतर गद्यवत्, इतिवृत्तात्मक तथा अभिधा-प्रधान रहा, किन्तु उसका भावना-क्षेत्र भारतेन्दु-युग से कहीं अधिक विस्तृत तथा व्यापक हो गया। उसमें अनेकानेक नवीन विषयों का समावेश होने लगा और उसमें भारतीय पुनर्जागरण की चेतना जन्म लेने लगी। द्विवेदी-युग के कवियों में तीन प्रमुख नाम हमारे सामने आते हैं : श्री श्रीधर पाठक, श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त। वैसे अन्य भी कई कवि उस युग के साहित्य के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेंगे।

श्रीधर पाठकजी का प्रकृति-वर्णन उस युग के काव्य में अपना विशेष महत्त्व रखता है, उनसे पहले प्रकृति का चित्रण केवल उद्दीपन के रूप में प्रयुक्त होता रहा। पाठकजी प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रेमी तथा उपासक थे। उनके शब्दों का चयन भी अत्यन्त मधुर तथा सुथरा होता था। उनकी वाणी में जो एक प्रसाद था, वह स्वयं हिन्दी काव्य की नवीन चेतना का द्योतक था। उनके प्रकृति-वर्णन का एक उदाहरण

लीजिए :

बिजन वन प्रान्त था, प्रकृति-मुख शान्त था,
अटन का समय था, रजनि का उदय था।
प्रसव के काल की लालिमा में लसा,
बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा।

"प्रसवकाल की लालिमा से लसे बाल शशि" की कल्पना में आधुनिकता की छाप है। उनकी 'स्वर्गीय वीणा' की पंक्तियों में ध्वनि-संकेत की मधुरिमा देखिए :

कहीं पै स्वर्गीय कोई बाला सुमंजु वीणा बजा रही है,
सुरों के संगीत की-सी कैसी सुरीली गुंजार आ रही है।
कभी नयी तान प्रेममय है, कभी प्रकोपन, कभी विनय है,
दया है दाक्षिण्य का उदय है, अनेकों बानक बना रही है।
भरे गगन में हैं जितने तारे, हुए हैं बदमस्त गत पै सारे,
समस्त ब्रह्माण्ड-भर को मानो दो उँगलियों पर नचा रही है।

वीणा के सुरीले स्वरों पर गगन के तारों तथा समस्त ब्रह्माण्ड का तन्मय होकर नाच उठना जिस आनन्दातिरेक की ओर इंगित करता है, वह अधिमानस की एकता का परिचायक है। पाठकजी ने 'श्रान्त पथिक' तथा 'ऊजड़ ग्राम' के नाम से गोल्डस्मिथ के Traveller तथा Deserted Village के भी काव्यमय अनुवाद प्रस्तुत किये हैं। कश्मीर-सुषमा उनके प्रकृति-प्रेम का रमणीय लीलाकक्ष है, उसमें उनका पदविन्यास अत्यन्त कोमल तथा ललित होकर निखरा है। पाठकजी की रचनाओं में समाज-सुधार की भी भावना मिलती है, इस नवीन धारा का प्रारम्भ भारतेन्दु-युग में हो चुका था। श्रीधर पाठक वास्तव में एक प्रतिभावान तथा सुरुचि-सम्पन्न कवि थे।

द्विवेदी-युग के कवियों में 'हरिऔध' जी का अपना विशिष्ट स्थान है। उन्हें बोलचाल की भाषा पर भी उतना ही अधिकार था, जितना संस्कृत-गर्भित भाषा पर। उनके 'प्रियप्रवास' का शब्द-संगीत छायावाद के शब्द-संगीत के अधिक निकट है :

दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला
तरु शिखा पर थी अब राजती, कमलिनी कुल बल्लभ की प्रभा।

तरुशिखा पर अस्तमित सूर्य की प्रभा का चित्रण छायावादी अभिव्यंजना है।

रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका, राकेन्दु बिम्बानना
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका, क्रीड़ा कला पुत्तली
शोभा वारिधि की अमूल्य मणि-सी लावण्य लीलामयी
श्री राधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य सन्मूर्ति थीं।

इन चरणों की स्वर-झंकृति अधिक मधुर तथा सरल बनकर पीछे छायावाद के संगीत में प्रतिध्वनित हुई। भाव-सौन्दर्य की दृष्टि से भी 'प्रियप्रवास' में श्री राधा का व्यक्तित्व रीतिकालीन पंकिलता से मुक्त होकर अधिक स्वच्छ तथा आधुनिक बन गया है।

द्विवेदी-युग के कवियों में सबसे अधिक प्राणवान् तथा युगचेतना के प्रतीक-स्वरूप महाकवि श्री मैथिलीशरणजी गुप्त हुए। जैसा कि हम

ऊपर कह आये हैं, भारतेन्दु-युग की स्वदेश-प्रेम की भावना गुप्तजी की 'भारत भारती' में विकसित राष्ट्रभावना का स्वरूप ग्रहण कर सकी। आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी के शब्दों में "गुप्तजी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता रही, कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य-प्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति। इस दृष्टि से हिन्दी-भाषी जनता के प्रतिनिधि-कवि ये निःसन्देह कहे जा सकते हैं। इधर के राजनीतिक आन्दोलनों ने जो स्वरूप धारण किया, उसका पूरा आभास गुप्तजी की रचनाओं में मिलता है। सत्याग्रह, अहिंसा, मनुष्यत्ववाद, विश्वप्रेम, किसानों और श्रमजीवियों के प्रति प्रेम और सम्मान, सबकी झलक हम उनमें पाते हैं।" गुप्तजी की आधुनिकतम रचनाओं में युग की चेतनात्मक क्रान्ति तथा विद्रोह के स्वर भी स्पष्ट रूप से मुखरित हो उठे हैं। उनकी 'झंकार' छायावादी युग की वस्तु है और 'पृथ्वी-पुत्र' प्रगतिवादी युग की। गुप्तजी में पुरातन के प्रति सम्मान और नूतन के प्रति उत्साह तथा आग्रह की भावना मिली है। उनका यह सामंजस्य छायावादी युग के लिए अनुकूल पृष्ठभूमि का काम करता है। उन्हें प्रबन्ध-काव्य तथा आधुनिक प्रगीत-मुक्तकों में समान रूप से सफलता मिली है। उनके मुक्तकों में छायावादी अभिव्यंजना तथा लाक्षणिक प्रयोगों का वैचित्र्य पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। उनके प्रबन्ध-काव्य 'साकेत' को काव्य की उपेक्षिता उर्मिला का विरह-वर्णन एक नवीनता प्रदान कर देता है। अनसूया, उर्मिला आदि काव्य की उपेक्षिताओं की ओर गुप्तजी अपने काव्य-संस्कार मे बँगला के अध्ययन से प्रभावित हुए हैं। सर्वप्रथम कवीन्द्र रवीन्द्र ने इस ओर ध्यान आकृष्ट किया था।

आगे चलकर हम देखेंगे कि हिन्दी की नवीन काव्यधारा में बँगला-कवियों, विशेषकर रवीन्द्रनाथ, का विशेष प्रभाव पड़ा है। वैसे ही श्री मुकुटधर पाण्डेय आदि की रचनाओं में छायावाद की सूक्ष्म भाव-व्यंजना तथा रंगीन कल्पना धीरे-धीरे प्रकट होने लगी थी, जो आगे चलकर प्रसादजी के युग में पुष्पित-पल्लवित होकर, एक नूतन चमत्कार एवं चेतना का संस्कार धारण कर, हिन्दी काव्य के प्रांगण में नवीन युग के अरुणोदय की तरह मूर्तिमान हो उठी।

प्रसादजी छायावाद के सर्वप्रथम प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके युग में आने तक हिन्दी-कविता के अन्तर्विधान में भी बंगला का, और विशेष-कर कवीन्द्र रवीन्द्र के काव्य का, अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ चुका था। कवीन्द्र रवीन्द्र भारतीय पुनर्जागरण के अग्रदूत बनकर आये। उन्होंने भारतीय साहित्य को नवीन चेतना का आलोक, नवीन भावों का वैभव, नवीन कल्पना का सौन्दर्य, नवीन छन्दों की स्वर-झंकृति प्रदान कर उसे विश्व-प्रेम तथा मानववाद के व्यापक धरातल पर उठा दिया। कवीन्द्र के युग से जो महान् प्रेरणा हिन्दी काव्य-साहित्य को मिली, वही वास्तव में छायावाद के रूप में विकसित हुई।

कवीन्द्र रवीन्द्र के आगमन के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि प्रस्तुत हो चुकी थी। बँगला में भारतीय पुनर्जागरण का समारम्भ हो चुका था। एक ओर श्री रामकृष्ण परमहंसजी के आविर्भाव तथा स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव से आध्यात्मिक जागरण तथा सर्वधर्म-समन्वय का प्रकाश फैल

चुका था, दूसरी ओर स्वदेशी आन्दोलन के रूप में राष्ट्रीय तथा राजनीतिक चेतना जाग्रत हो उठी थी। ब्रह्म-समाज के रूप में पूर्व तथा पश्चिम की संस्कृतियों का समन्वय करने की ओर भी कुछ लोगों का ध्यान आकृष्ट हो चुका था।

रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर स्वयं भी ब्रह्मसमाजी थे। कवीन्द्र महान् प्रतिभा से सम्पन्न होकर आये थे। उन्होंने अपने युग की समस्त जागरण की शक्तियों का मनन कर उनके प्राणप्रद तथा स्वास्थ्यकर सारतत्त्वों का संग्रह अपने अन्तर में कर लिया था। और अनेक छन्दों, तालों तथा लयों में अपनी मर्मस्पर्शी वाणी को नित्य नवीन रूप देकर रूढ़िग्रस्त भारतीय चेतना को अपने स्वर के तीव्र मधुर आघातों से जाग्रत, विमुक्त तथा विमुग्ध कर, उसे एक नवीन आकांक्षा के सौन्दर्य तथा नवीन आशा के स्वप्नों में मण्डित कर दिया था। भारतीय अध्यात्म के प्रकाश को उन्होंने पश्चिम के यन्त्रयुग के सौन्दर्य में वेष्ठित कर उसे पूर्व तथा पश्चिम दोनों के लिए समान रूप से आकर्षक बना दिया था। इस प्रकार नवीन युग की आत्मा के अनुकूल स्वर-झंकृति प्रस्तुत कर कवीन्द्र रवीन्द्र ने एक नवीन सौन्दर्यबोध का झरोखा भी कल्पनाशील युवक साहित्यकारों के हृदय में खोल दिया था।

इसी काव्यमय आध्यात्मिक आलोक, सौन्दर्य-चेतना तथा सृजन-कल्पना की मुक्ति को ग्रहण कर हिन्दी में छायावाद ने प्रवेश किया। द्विवेदी-युग की पौराणिक भावना, कला-परम्परा तथा राष्ट्रीय जागरण के स्वर छायावाद के युग में एक नवीन विराट् आध्यात्मिक चेतना, नवीन छन्द और शैलियों के प्रयोग तथा एक व्यापक विश्व-प्रेम की भावना के रूप में परिणत हो गये। प्रसादजी का 'झरना' जैसे हिन्दी में एक नवीन अभिव्यक्ति का झरना था। उनके 'आँसू' के कणों में जैसे छायावादी युग की समस्त मूक करुणा तथा भावनात्मक वेदना एक नवीन अभिव्यंजना का वैचित्र्य लेकर उमड़ उठी। प्रसादजी की 'कामायनी' में छायावाद का अन्तःस्पर्शी गाम्भीर्य सौन्दर्य तथा विचार-सामंजस्य जैसे एक विशाल स्फटिक-प्रासाद के रूप में साकार हो उठा। निरालाजी ने छायावादी कविता को छन्दों के बन्धनों से मुक्त कर उसे एक अधिक व्यापक भूमि पर खड़ा कर दिया। उन्होंने अपनी उज्ज्वल, ओजपूर्ण शैली द्वारा भारतीय दर्शन के आलोक को वितरित किया। 'परिमल' तथा 'गीतिका' में उनके अनेक प्रगीत गीति-काव्य की परिपूर्णता प्राप्त कर सके हैं। छायावादी कविता मुख्यतः प्रगीतों का रहस्य-इंगितमय सौन्दर्य लेकर प्रस्फुटित हुई। महादेवीजी के प्रगीत इस दृष्टि से विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करते हैं। दूसरी ओर श्री नवीनजी, भारतीय आत्मा तथा दिनकरजी ने राष्ट्रीय भावना को छायावादी परिधान प्रदान कर उसे अधिक सजीव, सक्रिय, ओजपूर्ण तथा मर्मस्पर्शी बना दिया। छायावाद के आकाश में और भी अनेक नक्षत्र प्रकाशपूर्ण व्यक्तित्व लेकर जगमगा उठे, जिनकी अमर देन से हिन्दी का काव्य-साहित्य अनेक रूप से सम्पन्न हुआ।

छायावाद का विकास प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्यवर्ती काल में हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद प्रायः सर्वत्र ही युग की वास्तविकता के प्रति मनुष्य की धारणा बदल गयी। छायावाद ने जो नवीन सौन्दर्य-

बोध, जो ग्राशा-ग्राकांक्षाग्रों का वैभव, जो विचार-सामंजस्य तथा समन्वय प्रदान किया था, वह पूँजीवादी युग की विकसित परिस्थितियों पर ग्राधारित था। मानव-चेतना तब युग की बदलती हुई कठोर वास्तविकता के निकट सम्पर्क में नहीं ग्रा सकी थी। उसकी समन्वय तथा सामंजस्य की भावना केवल मनोभूमि पर ही प्रतिष्ठित थी। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद वह सर्वधर्म-समन्वय, सांस्कृतिक समन्वय, ससीम-ग्रसीम तथा इहलोक-परलोक-सम्बन्धी समन्वय की ग्रमूर्त भावना ग्रपर्याप्त लगने लगी, जिससे छायावाद ने प्रेरणा ग्रहण की थी। ग्रौर ग्रनेक कवि तथा कलाकारों की सृजन-कल्पना इस प्रकार के कोरे मानसिक समाधानों से विरक्त होकर ग्रधिक वास्तविक तथा भौतिक धरातल पर उतर ग्रायी ग्रौर मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित होकर प्रगतिवाद के नाम से एक नवीन काव्य-चेतना को जन्म देने में संलग्न हो गयी। जिस प्रकार मार्क्स के भौतिकवाद ने ग्रर्थनीति तथा राजनीति तथा राजनीति-सम्बन्धी दृष्टिकोणों को प्रभावित किया, उसी प्रकार फ्रायड, युंग ग्रादि पश्चिम के मनोविश्लेषकों ने रागवृत्ति-सम्बन्धी नैतिक दृष्टिकोण में एक महान क्रान्ति उपस्थित कर दी। फलतः छायावादी युग के सूक्ष्म ग्राध्यात्मिक तथा नैतिक विश्वासों के प्रति सन्दिग्ध होकर तथा पश्चिम की भौतिक तथा प्राणिशास्त्रीय विचारधाराग्रों से ग्रधिक या कम मात्रा में प्रभावित होकर ग्रनेक प्रगतिवादी, प्रयोगवादी तथा प्रतीकवादी कलाकार ग्रपने हृदय के विक्षोभ तथा कुण्ठित ग्राशा-ग्राकांक्षाग्रों को ग्रभिव्यक्ति देने के लिए संक्रान्ति-काल की बदलती हुई वास्तविकता से प्रेरणा ग्रहण करने लगे।

किन्तु छायावाद की जो सीमाएँ सूक्ष्म धरातल पर थीं, प्रगतिवादियों की वही सीमाएँ स्थूल धरातल पर हैं। छायावादी कवि ग्रथवा कलाकार वास्तव में ग्राध्यात्मिक चेतना की ग्रनुभूति नहीं प्राप्त कर सका था। वह केवल बौद्धिक ग्रधिदर्शनों, मान्यताग्रों तथा धारणाग्रों से प्रभावित हुग्रा था। इसीलिए वह युग-जीवन की कठोर वास्तविकता से कटकर कुछ दार्शनिक एवं मानसिक विरोधों में सामंजस्य स्थापित कर सन्तुष्ट रहने की चेष्टा करने लगा। इसी प्रकार ग्राज के ग्रधिकांश प्रयोगवादी एवं तथाकथित प्रगतिवादी कलाकार पिछले ग्रन्तर्मुख ग्रादर्शों तथा नये बहिर्मुख यथार्थ के बीच प्रतिदिन बढ़ती हुई गहरी खाई में गिरकर तथा सूक्ष्म के प्रति, ग्रादर्श के प्रति, व्यक्ति के प्रति ग्रपना विद्रोह प्रकट कर, संक्रान्ति-काल की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों तथा सामूहिक सर्वसाधारणता को वाणी देकर सन्तोष करना चाहते हैं।

कवि-सम्मेलन का पहिला ग्रनुभव

वैसे मैंने प्रायः १५-१६ वर्ष की ग्रवस्था से व्यवस्थित रूप से लिखना शुरू कर दिया था, ग्रौर मेरी रचनाएँ तब स्थानीय पत्रों तथा 'मर्यादा' ग्रादि मासिक पत्रिकाग्रों में निकलने भी लगी थीं। पर ऐसा मुझे याद

नहीं पड़ता कि तब मुझे किसी कवि-सम्मेलन या काव्य-गोष्ठी में कविता-पाठ करने का अवसर मिला हो। सम्भवतः अल्मोड़े में—जहाँ मैं स्थानीय हाइस्कूल में पढ़ता था—तब कवि-सम्मेलन की प्रथा प्रारम्भ नहीं हुई थी और होगी भी तो मुझ जैसे अज्ञात स्कूली छात्र को उसमें नहीं बुलाया जाता होगा। पर जहाँ तक मैं सोचता हूँ तब ऐसी किसी प्रकार की पद्धति उस पहाड़ी प्रान्त में नहीं थी।

बनारस में भी मुझे स्मरण नहीं पडता कि मैंने किसी काव्य पाठ के आयोजन में भाग लिया हो। सेण्ट्रल हिन्दू स्कूल में एक बार अलबत्ता कविता प्रतियोगिता हुई थी, जिसमें हिन्दू विश्वविद्यालय पर कविता लिखने को कहा गया था। स्कूल के हॉल में बाकायदा जिस प्रकार परीक्षार्थियों के लिए डेस्क लगाये जाते हैं, कुछ उसी प्रकार का इस प्रतियोगिता में भाग लेनेवाले छात्रों के लिए बैठने का प्रबन्ध, दो घण्टे का समय और दो कागज़ के परचे तथा एक पेंसिल। कविता तैयार करने की आज्ञा दी गयी थी। मैं तब जयनारायण हाइस्कूल में १०वीं कक्षा का छात्र था और स्कूल की ही ओर से प्रतियोगिता में सम्मिलित होने को भेजा गया था, पर वहाँ ऐसा अवसर नहीं दिया गया था कि नवोदित या कवि-यश प्रार्थी छात्र अपनी-अपनी रचनाएँ सुनायें। दो घण्टे के बाद डेस्कों से काव्य-विषयक परचे एकत्रित कर लिये गये थे और एक सप्ताह के अन्दर ही पुरस्कार की घोषणा भी कर दी गयी थी। उस वर्ष जयनारायण हाइस्कूल को ही प्रथम पुरस्कार मिला, इतना मुझे याद है; क्योंकि चाँदी का कप देखकर हम लोग बड़े प्रसन्न हुए थे।

उसके बाद ही हाइस्कूल की परीक्षा देकर मैं प्रयाग म्योर सेन्ट्रल कालेज में ११वीं कक्षा में जुलाई के महीने में भर्ती हो गया और उसी वर्ष दीक्षान्त समारोह के सिलसिले में आयोजित अन्य दिलचस्प कार्यक्रमों के साथ हिन्दू बोर्डिंग हाउस में नाटक तथा कवि-सम्मेलन का आयोजन हुआ। मैं तब बड़ा ही संकोचशील था और किसी से मिलने में भी झेंप तथा झिझक का अनुभव करता था जैसा कि प्रायः अधिकांश प्रथम वर्ष के छात्र किया करते हैं जो सम्भवतः इसी कारण 'फर्स्ट इयर फ़ूल' कहलाते है। किन्तु अपने सहपाठियों का आग्रह और सीनियर लडकों का आदेश न टाल सकने के कारण मुझे छात्रावास के दोनों आयोजनों—नाटक तथा कवि-सम्मेलन में भाग लेना पडा। यह सन् १९१९ की बात है—कविता का विषय प्रायः दो सप्ताह पहिले घोषित कर दिया गया था और वह था 'स्वप्न'। यह रचना अब मेरे 'पल्लव' नामक संकलन में संगृहीत मिलती है, वैसे उसी वर्ष यह 'सरस्वती' नामक प्रसिद्ध मासिक पत्रिका में भी प्रकाशित हो गयी थी जिसका सम्पादन तब श्री देवीप्रसादजी शुक्ल करते थे जो तब हिन्दू हास्टल के भी वार्डन थे।

उस कवि सम्मेलन के संयोजक कौन थे अब मुझे स्मरण नहीं, पर अनुमान से इतना कहा जा सकता है कि पाँचवें ब्लाक के कोई सीनियर छात्र रहे होंगे जिनमें उन दिनों श्री रामनाथ सेठ तथा श्री रामचन्द्र टण्डन आदि विशेष रूप से हिन्दी साहित्य के प्रेमी समझे जाते थे और इन्हीं में से कोई सज्जन तब हास्टल मैगजीन या पत्रिका का भी सम्पादन करते थे जिसमें मेरी भी तब अप्रकाशित 'वीणा' की कुछ रचनाएँ समय-समय

पर निकली थीं।

कवि-सम्मेलन छात्रावास के बड़े से हॉल में प्राय: ६-७ बजे सन्ध्या के समय हुआ था। श्रोताओं के बैठने का प्रबन्ध ज़मीन पर ही किया गया था जिनमें अधिकांश हॉस्टल के ही छात्र थे और कुछ नागरिक अतिथि भी जो कि हॉस्टल के छात्रों के जीवन से सहानुभूति या हॉस्टल के कार्य-क्रमों में दिलचस्पी रखते थे। हॉल के एक भाग में एक छोटे-मोटे मंच की स्थापना की गयी थी जिसमें मुख्यत: हॉस्टल के वार्डन श्री शुक्लजी, कविगोष्ठी के दो संयोजक छात्र तथा मध्य में सभापति के आसन पर प्रो० श्री शिवाधारजी पाण्डेय सुशोभित थे, जो हमें तब अंग्रेजी पढ़ाते थे। कवियों में अधिकांश छात्र ही थे और श्रोताओं की संख्या करीब १००-१५० के रही होगी। छात्रावास का हॉल फूल-पत्तियों से सजा हुआ तब उस उत्सव के अनुरूप ही विद्युत् प्रकाश विकीर्ण कर रहा था। प्रारम्भ में सरस्वती वन्दना के उपरान्त प्रो० पाण्डेय ने कवि सम्मेलन के उद्घाटन के स्वरूप एक छोटा-सा रोचक अभिभाषण हिन्दी में दिया था और उसमें मनुष्य के जीवन में साहित्य, कला और विशेषत: कविता का क्या मूल्य है इस पर प्रकाश डाला था। भाषण सुनने के बाद छात्रों ने बड़े उत्साह से ताली पीटी थी और उसके बाद ही तुरन्त कवि सम्मेलन का समारम्भ हुआ था। आरम्भ में हॉस्टल के सीनियर लड़कों को कविता पाठ के लिए आमन्त्रित किया गया था और उन्होंने सीनियर होने के कारण बड़े आत्म-विश्वास से अपनी रचनाएँ सुनायी थीं और प्रत्येक कविता सुनने के बाद छात्र वर्ग तालियों की गड़गड़ाहट से हॉल को थोड़ी देर तक गुंजायमान रखता था। पाण्डेयजी के भाषण का मेरे मन में अच्छा प्रभाव पड़ा था, उनका स्वर धीमा पर स्पष्ट था और उनके भावों का सारतत्व काव्यात्मक था। पर सीनियर छात्रों की कविताओं का मेरे ऊपर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। बल्कि अपनी रचना की श्रेष्ठता पर मेरा आत्मविश्वास ही उन्हें सुनकर अधिक दृढ़ होता गया। 'स्वप्न' का विषय वैसे भी अमूर्त तथा सूक्ष्म होने के कारण उस पर जल्दी ही छात्र-वयस-सुलभ आवेश में मार्मिक उच्च कोटि की रचना करना सरल नहीं था, शायद ही १०-१२ पंक्तियों से अधिक कोई उस विषय पर संगति बिठाकर लिख सका था। सीनियर छात्रों के बाद जब बीच में अचानक मेरा नाम पुकारा गया तो अपने पर विश्वास होने पर भी क्षण-भर के लिए मेरे मन में एक प्रकार की झिझक का अनुभव होने लगा। पर मैंने शीघ्र ही अपने को संवरण कर लिया। भाग्यवश उन दिनों छात्र कविता को मनोरंजन का विषय समझकर कवि की खिल्ली नहीं उड़ाते थे। बल्कि हिन्दी के लिए तथा हिन्दी कविता के लिए उनके मन में तब वास्तविक आकर्षण तथा सद्य: श्रद्धा का भाव उदय हो रहा था। मेरे खड़े होते ही श्रोताओं ने मेरी वेशभूषा तथा केशराशि के सम्मान में ताली बजाना शुरू कर दिया और जब मैंने कविता पढ़ना प्रारम्भ किया तो छात्रों का चित्त मेरे कण्ठ-स्वर में बँधकर एकाग्र हो गया और जब तक मैंने प्राय: ७०-८० पंक्तियों की कविता समाप्त नहीं कर ली हॉल में एक आश्चर्य तथा आनन्दमिश्रित शान्ति छायी रही। कविता समाप्त होते ही छात्रों ने देर तक अपनी करतल ध्वनि से जैसे अपने मन के उल्लास तथा अनुमोदन को प्रकट किया। मेरा

मन अपने काव्यपाठ की इस अप्रत्याशित सफलता के कारण एक स्निग्ध सन्तोष से भर गया। किसी ने मेरी पीठ थपथपायी तो किसी ने अपनी हार्दिक प्रशंसा तथा प्रसन्नता को मुखर कर मेरा स्वागत किया। उसके बाद ३-४ छात्र और रह गये थे, पर उनके काव्यपाठ की ओर फिर श्रोतागणों का ध्यान नहीं आकर्षित हो सका। अन्त में पाण्डेयजी ने अपनी एक रचना सुनाकर उस गोष्ठी को मधुरेण समापन किया। हॉल से बाहर निकलने पर पाण्डेयजी ने मुझे बहुत बधाई दी और मेरी काव्य प्रतिभा के भविष्य को उज्ज्वल बतलाकर मुझे बहुत प्रोत्साहित किया। दूसरे रोज सबेरे मेरे कमरे में आकर उन्होंने मुझे शेक्सपीयर के सम्पूर्ण नाटकों तथा कविताओं का एक बहुमूल्य कलात्मक संस्करण अपने आशीर्वाद के रूप में भेंट कर मुझे अपनी अत्यन्त कृतज्ञता के पाश मे बाँध लिया। मैं तब केवल एक उदीयमान कवि और प्रथम वर्ष का कालेज का छात्र मात्र ही तो था, उसके यत्किंचित गुणों एवं प्रयत्नों का इस प्रकार मुक्त हृदय से स्वागत कर पाण्डेयजी ने मुझे तो बल दिया ही, अपने भी महान् औदार्य का परिचय दिया।

अपने बनारस के अध्ययन काल मे मैं काव्य सौन्दर्य की आत्मा का जितना परिचय प्राप्त कर सका था उसका समर्थन मुझे प्रयाग मे आने पर ३-४ महीने बाद होनेवाले इस कवि-सम्मेलन के आयोजन द्वारा प्रभूत रूप में मिल गया और मेरी धारणा और विश्वास अपनी काव्य दृष्टि को अधिक विस्तृत तथा विकसित करने की ओर और भी आस्था के साथ सक्रिय हो उठे। इस कवि-सम्मेलन के बाद प्रयाग के छात्रों के दूसरे वर्ष इसी अवसर पर होनेवाले जैन हॉस्टल के कवि-सम्मेलन के बाद जिसमें मैंने 'छाया' नामक अपनी कविता पढ़ी थी और जिसका संचालन श्री हरिऔधजी ने किया था, प्रयाग के नागरिकों के हृदय में मेरी कविता के लिए अनुराग पैदा हो गया। हरिऔधजी ने मेरा काव्य-पाठ सुनकर अपने कविसुलभ उदार स्वभाव के कारण अपने गले का गजरा उतारकर मेरे गले में डाल दिया था, और सहृदय श्रोतागण उनकी इस निश्छल भावुकता मे अत्यन्त प्रभावित हुए थे। अपनी किशोरावस्था में काव्यप्रेमियों तथा विद्वानों से इस प्रकार सहज स्नेह का प्रोत्साहन तथा आश्वासन पाकर निश्चय ही मेरे भीतर विशेष आत्मशक्ति तथा प्रेरणा का संचार हुआ था जिससे मुझे अपनी अभिरुचि तथा प्रतिभा के विकास में बड़ी सहायता मिली।

आधुनिकयुग में महाकाव्य की उपयोगिता

महाकाव्य युग जीवन, युग मानस एवं युग चेतना का प्रतिनिधि एवं प्रतीक होता है। वह मानव जीवन के विराट् क्रियाकलापों, संघर्षों, उत्थान-पतनों, ह्रास-विघटनों तथा विकास और प्रगति के संचरणों का सागर संगम होता है। आप किसी भी उच्चकोटि के महाकव्य को लोक-जीवन एवं विश्व-चेतना का मेरुदण्ड कह सकते हैं, जिस पर कि मानव सभ्यता तथा

संस्कृति का जीवन-मांसल मानस पंजर अवलम्बित होता है। महाकाव्य की नाड़ियों में जाति चेतना का रक्त प्रवाहित होने के कारण उसके भीतर आप समूचे राष्ट्र तथा मानवता के हृदय तथा प्राणों का स्पन्दन सुन सकते हैं। चाहे व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास को लीजिए—चाहे होमर, दान्ते, वर्जिल अथवा मिल्टन और गेटे को—आप उनकी कृतियों में एक समूचे युग, सम्पूर्ण जाति के जीवन-संघर्ष का चित्रण, उनके आदर्शों, नैतिक दृष्टिकोणों, जीवन-मूल्यों आदि का उत्थान-पतन तथा ज्ञान धरोहर और सर्वांगीण विकास का जीवन्त प्रतिबिम्ब पायेंगे। महाकाव्य का चैतन्य तत्त्व देश-काल-युग की सीमाओं को अतिक्रम कर गगनभेदी ज्योति किरीटित उच्च पर्वत शिखरवत् अपनी शाश्वत परात्पर गरिमा में, किसी भी युग एवं जाति के कथानक की पृष्ठभूमि पर, अपने अक्षय वैभव में खड़ा मिलता है, जिससे अनन्त काल तक अजस्र धाराओं में अनेक भावनाओं, विचारों, प्रेरणाओं तथा ज्ञान उन्मेषों की सरिताएँ प्रवाहित होकर अनेक पीढ़ियों की मनोभूमि को अपने अमृत रस तत्त्व से सिंचित कर मंगल कर्म मुखर तथा जीवन सौन्दर्य उर्वर बनाती रहती हैं। दूर न जाकर, आप तुलसी मानस ही को लीजिए, जिसके अक्षय भक्ति रस को पीकर मध्ययुगों से आज तक समग्र भारतवर्ष का और विशेषतः उत्तरापथ का लोक-जीवन प्रेरणा ग्रहण कर पोषित होता आ रहा है। मानव के भीतर उसके लोक-वन्द्य कवि ने समस्त भारतीय जीवन एवं आर्य संस्कृति का सिन्धु मन्थन कर उसे युग-अनुरूप नवीन आध्यात्मिक मूल्यों, नैतिक मर्यादाओं तथा जीवन यथार्थ के तत्त्वों से मण्डित किया है। उसमें उत्तर से दक्षिण तक तथा पूरब से पश्चिम तक फैले समस्त धर्मों, सम्प्रदायों, मत-मतान्तरों, वादविवादों, जातीय दृष्टिकोणों तथा विशेषताओं का हमें सर्वांगीण समन्वय देखने को मिलता है। तुलसीदासजी ने मध्ययुगीन ह्रास विघटन के बहुमुखी कर्मकाण्डों के कर्दम तथा मतभेदों के अन्धकार में खोये हुए भारतीय चैतन्य को मर्यादा पुरुषोत्तम राम के तेजस्वी कर्तव्य कठोर व्यक्तित्व में निखारकर जैसे पुनः उसे लोकमानस में प्रतिष्ठित कर दिया है। इसी प्रकार आप महाभारत को भी आर्य सभ्यता एवं संस्कृति का एक बृहत् पर्वताकार जीवन-दर्पण पायेंगे जिसके बिना भारतीय जीवन एवं चिन्तनधारा को समझना असम्भव है। अतएव विश्व के महाकाव्य मानवीय जीवन-संघर्ष एवं चैतन्य विकास से उत्ताल हिल्लोलित तथा विभिन्न विरोधी तरंगों के शिखरों में आन्दोलित महाकाल के सागर वक्ष में उच्च अजेय दीप स्तम्भों की तरह खड़े, सुदूर दिशाओं में प्रकाश विकीर्ण कर तथा मानवता के यान की, संकट-क्षण में रक्षा कर, उसे आगे बढ़ाते एवं पार लगाते रहे हैं।

विश्व के इतिहास में देखा गया है कि सभी युग समान रूप से महत्त्वपूर्ण नहीं होते। बहुत से युग विशिष्ट क्रिया-कलाप से शून्य सामान्य रूपेण व्यतीत हो जाते हैं, वे या तो निष्क्रिय होते हैं या उनमें देश विशेष अपनी पूर्व अर्जित उपलब्धि का उपभोग करते हैं। इसी प्रकार कुछ युग ह्रास तथा विघटन के होते हैं और कुछ छोटे-बड़े संयोजनों के—और ऐसे युग महाकाव्य को जन्म देने में असमर्थ होते हैं। इंग्लैण्ड में विक्टोरियन एज अथवा भारतवर्ष में उत्तर मध्यकालीन युग इसी तरह के युग रहे हैं जिनकी

उपयोगिता किसी बृहत् काव्य या कला चैतन्य को वाणी देने में असमर्थ रही है। इतिहास मे महत् सृजन प्रेरणा के युग या तो जागरण के युग रहे हैं—हमारे देश में कालिदास और रवीन्द्र जागरण युग के ही कवि रहे हैं—या फिर ऐसे युग, जैसा कि हमारा आज का युग है, जिसमें विश्व-व्यापी, क्रान्तिकारी, मानसिक तथा भौतिक परिवर्तन हो रहे हैं। विज्ञान ने मानव जीवन की परिस्थितियों में ऐसा युगान्तरकारी परिवर्तन ला दिया है कि जीवन के प्रति मानव का दृष्टिकोण ही बदलता जा रहा है। देश-काल की पिछली धारणा आमूल बदल रही है। विभिन्न संस्कृतियों के लोगों के आपस में निरन्तर घनिष्ठ सम्पर्क में आने के कारण पिछले युगों की धार्मिक नैतिक मान्यताएँ भी परस्पर के आदान-प्रदान से विकसित तथा वर्द्धित होने के क्रम में हैं। राजनीतिक-आर्थिक संघर्ष सम्बन्धी उलटफेरों ने भू-देशों के जीवन का भावचित्र ही बदल दिया है। ऐसे घोर विपर्ययों के संक्रान्तिकाल में मानव-मन में अनेक प्रकार की अवस्थाएँ, संशय, भय तथा विकृतियाँ उत्पन्न होकर उसकी चेतना में उथल-पुथल मचा रही है। एक ओर आज की ह्रास-युगीन कला उन अवचेतन की प्रवृत्तियों को कला-विधाओं में सँजोकर उन्हें निरखने-परखने की चेष्टा कर रही है और दूसरी ओर अधिक गम्भीर चिन्तक, द्रष्टा तथा सर्जक वर्तमान के अन्धकार के भीतर से नवीन प्रकाश की किरणें खोज रहे हैं। और इस विघटन और भूकम्प के उद्देश्य को समझने का प्रयत्न कर, मानव-मूल्यों को विश्वव्यापक युगपट में सँजोकर, मनुष्य जीवन को नवीन वैश्व संयोजन में बाँधने तथा नवीन आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास कर रहे हैं जिससे मनुष्य भू-जीवन के भावी विकास क्रम की बागडोर अपने हाथ में लेकर, प्रकृति की मूलगत उपचेतन प्रवृत्तियों का मानवीय संस्कार कर उन्हें नवीन विश्व संस्कृति का अंग बना सके। ऐसे विराट् युगों का सांगोपांग अध्ययन-मनन करना सरल एवं सुलभ नहीं होता। इसलिए आज की सर्जना वृत्ति एवं कला प्रतिभा इस नवीन करवट बदल रहे महान् युग की हलकी-फुलकी छुटपुट झाँकियों, संवेदनों, उन्मेषों तथा प्रेरणाओं को छोटे-मोटे प्रगीतों, अमूर्त प्रतीकों तथा उथली गहरी वायवी अनुभूतियों के बिम्बों में बाँधकर युग मानस के सूक्ष्म सक्रिय अन्तः क्रियाकलाप को अभिव्यक्ति देने में सतत संलग्न दीखती है और अनेकानेक दृष्टियों से युग-जीवन की महाप्राण प्रतिभा के सौन्दर्य का आकलन कर, उसकी मन्द गतियों, विकृतियों, कुरूपताओं को अवचेतन धरातल से ऊपर लाकर उनकी ओर युग-चेतना का ध्यान आकृष्ट कर रही है। युग-जीवन के इस बहु-मुखी चलपट स्वरूप का चित्रण करने में प्रगीत को अधिक सफलता मिलना स्वाभाविक है। उस विश्वव्यापी संक्रान्ति के युग में प्रगीत का आविर्भाव तथा आधिक्य सहज ही समझ में आ जाता है। वह अपने अदम्य आवेग में जिस तरह छन्दों के पुलिनों को डुबाकर अपनी क्षण उपलब्धि तथा स्वतः सजग भाव-चेतना को लय मुखर करना चाहता है, वह प्रत्यक्ष ही है।

किन्तु यह सब होते हुए भी इस महान् परिवर्तनों के अनेक युगों के युग को एक विश्वव्यापक चित्रपटी में सँवारकर उसके आवेगों, उद्वेगों, उत्थान-पतनों, सृजन-संहारों, उसकी विकृतियों, प्रकृतियों, उसकी सीमाओं, क्षमताओं, उसकी भौतिक, राजनीतिक, आर्थिक, प्राणिक, मानसिक,

बौद्धिक, नैतिक, अध्यात्मिक उपलब्धियों एवं सम्भावनाओं की एक जीवित, जाग्रत, कलाप्राण, सौन्दर्य-दीप्त, भावमुखर, कल्पना-पंखी, आकाशचुम्बी, वैश्व व्यक्तित्वपूर्ण मांसल प्रतिमा युग जीवन के चेतना पट में उतारी जा सकती है, जो क्षणजीवी वर्तमान के कर्दम संकुल दलदल में डूबी हुई पीढ़ियों के लिए विश्वजीवन की भावी विकास-दिशा का पथ संकेत दे सके, जो ह्रास, विघटन तथा अनास्था के अन्धकार से मानव मन को उबारकर उसके सम्मुख नवीन प्रकाश के अन्तरिक्ष खोल सके, और जो मनुष्य में इन्द्रिय जीवन से लेकर आत्मा के जीवन तक एक नवीन सर्वांग-पूर्ण आध्यात्मिक संयोजन भरकर उसको मानव जीवन का नया अर्थ, नया मूल्य—मानव मन की नयी क्षमता सार्थकता देकर पृथ्वी पर उसके अस्तित्व को पूर्णतम चरितार्थता प्रदान कर सके। इसमें सन्देह नहीं कि आज का युग अनिवार्य रूप से महाकाव्य का युग है—जो आधुनिक सृजन-प्रक्रिया के विन्ध्य-शिखरों को लाँघकर मानव चेतना के दिगन्त में आर-पार व्यापी शाश्वत सीमाहीन हिमालय की तरह अपनी ही अवाक्, अलंघ्य शोभागरिमा में उदय होकर आज की शतमुख विकीर्ण मानव मनोवृत्तियों को अपने अजेय भागवत महत्ता के सम्मोहन में बाँधकर उन्हें नवीन विश्व-मानवता में संयोजित कर सके। जो विगत युगों के एक-देशीय, एकजातीय बहुमुख खण्डित मानव चेतना की भावी पूर्णता का विराट् स्फटिक पर्वत दर्पण हो, जो 'कामायनी' की तरह श्रद्धा, बुद्धि के समन्वय का प्रतीक तथा नवीन मनु और मानव के अन्तर्जीवन के सत्य और सौन्दर्य पर प्रतिष्ठित, शिवत्व का स्वर्गचुम्बी, वागर्थ-सम्पृक्त शुभ्र चैतन्य प्रसाद हो। एवमस्तु।

यदि मैं कामायनी लिखता

जिस प्रकार ताजमहल के उपकरणों को विच्छिन्न करके फिर उसी सामग्री से दुबारा ताजमहल बनाने की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार 'कामायनी' जैसी एक महान कलाकृति की स्वर-संगति को भंग कर फिर से उसका निर्माण करने की सम्भावना मन में नहीं उठती। 'कामायनी' हिमालय-सी दुर्लंघ्य न हो, पर श्रद्धा और मनु की ममरम तन्मयता की पावन समाधि ताजमहल-सी आश्चर्यजनक अवश्य है। यह अपने युग की सर्वांगपूर्ण कृति न हो, पर सर्वश्रेष्ठ कृति निश्चयपूर्वक कही जा सकती है।

पिछले पचास वर्षों में हिन्दी-जगत् में, भाषा तथा साहित्य-सृजन की दृष्टि से, एक महान् क्रान्ति उपस्थित हुई है। इन वर्षों में उच्चतम महत् चोटी का निर्माण न हुआ हो, किन्तु महान तथा व्यापक परिवर्तन अवश्य हुए हैं। भारतेन्दु का स्नेह सम्भ्रमपूर्वक स्मरण करते हुए हम सहसा द्विवेदी-युग में प्रवेश करते हैं, जिसकी सुष्ठु-सन्तुलित व्यवस्था को देखकर मन को सन्तोष तथा प्रसन्नता होती है। कुहासा छँट जाता है: खड़ी-बोली निर्भीक रूप से आगे कदम बढाने लगती है। उसकी गति में एक नपा-तुला सौन्दर्य, अंगों में कटा-छँटा सौष्ठव आ जाता है। अनेक गुणी गुंजार

करने लगते हैं, आम्र की सद्य: मंजरित डाली से पुंस कोकिल माधुर्य की श्रीवृष्टि करने लगता है; और कहीं नवीन प्रयत्नों की वाटिकाओं में नवीन जागरण का स्पष्ट गुंजरण सुनायी पड़ता है। रीतिकाल की कलारूढ़ परम्पराओं का अतिक्रमण कर साहित्य-चेतना सुदूर अतीत के गौरव से मण्डित होकर निखर उठती है। पौराणिक सगुण ह्रासयुग के रसविलास से ऊबकर खड़ीबोली के माध्यम से नवीन सुगठित कलेवर धारण करने लगता है। भावना में फिर से उदात्त आरोहण परिलक्षित होने लगता है। यत्र-तत्र प्राकृतिक सुषमा का वर्णन, किन्तु सर्वत्र चिरकालीन सांस्कृतिक प्रवाह की समरसता, वैष्णव भावना का करुण क्रन्दन तथा देश प्रेम की जाग्रत भारती का आह्वान वातावरण को ओतप्रोत कर देता है। सांस्कृतिक पुनर्जागरण के सुमेरु की तरह राष्ट्रकवि गुप्तजी का महान व्यक्तित्व सर्वोपरि शिखर की तरह उठकर ध्यान आकृष्ट कर लेता है।

द्विवेदी-युग के बाद छायावाद के युग का समारम्भ होता है। मन की नीरव वीथियों से निकलकर लाजभरे सौन्दर्य में लिपटी एक नवीन काव्य-चेतना युग के निभृत प्रांगण को सहसा स्वप्न-मुखर कर देती है। पिछली वास्तविकता की इतिवृत्तात्मकता नवीन कला-संकेतों के अरूप सौन्दर्य में तिरोहित होकर, भावना के सूक्ष्म अवगुण्ठनों के कारण, रहस्यमयी प्रतीत होने लगती है। प्रभात की अरुणिमा उषा की कनक छाया बन जाती है, दिन-प्रतिदिन का प्रकाश स्वप्नदेही ज्योत्स्ना की नवीन मौन मधुरिमा के सामने अनाकर्षक लगने लगता है। अपनी अधखिली कलियों के देहपात्र में छायावाद एक नवीन प्रेम तथा सौन्दर्य की ज्वाला लेकर आया, जिसके मर्ममधुर स्पर्श से हृदय की शिराएँ शीतल वेदना की आकुल शान्ति में सुलगने लगीं।

इस नवीन युग के प्रवर्तक रहे हैं हमारे चिरपरिचित श्री जयशंकर प्रसाद। रूप से अरूप की ओर आरोहण, सत्य से स्वप्न की ओर आकर्षण, जो एक नवीन रूप तथा नवीन सत्य के आह्वान का सूचक था, सर्वप्रथम कवीन्द्र रवीन्द्र की भुवन-मोहिनी हृत्तन्त्री में जाग्रत तथा प्रस्फुटित हुआ। वह भारतीय दर्शन तथा उपनिषदों के अध्यात्म के जागरण का युग था, जिसकी चेतना हिन्दी में खड़ीबोली की ऊबड़-खाबड़ खुरदरी धरती से संघर्ष करती हुई प्रसादजी के काव्य में अंकुरित हुई। छायावाद केवल स्वप्न-सम्मोहन ही बनकर रह जाता, यदि प्रसादजी उसमें 'कामायनी' जैसी महान् काव्य-सृष्टि की अवतारणा न कर जाते! 'कामायनी' को छोड़कर, प्रसादजी में भी अन्यत्र वह नवीन प्रकाश केवल अभिव्यक्ति की घनीभूत पीड़ा ही बनकर रह गया। हो सकता है कि प्रसादजी में 'साकेत' से 'जयभारत' एवं 'पृथ्वीपुत्र' तक का वृहत् विस्तार न हो, पर उनमें 'कामायनी' जैसी महान कृति को जन्म देने की मौलिकता, गम्भीरता अथवा उच्चता अवश्य है! इसमें सन्देह नहीं कि 'कामायनी' का कवि अत्यन्त महत्वाकांक्षी था, और 'कामायनी' उसका एक अत्यन्त महत् प्रयास है; वह उसमें कहाँ तक सफल अथवा विफल हुआ, अथवा क्या 'कामायनी' और भी सफल एवं सर्वांगपूर्ण बनायी जा सकती थी—यह दूसरा प्रश्न है। इस प्रकार का प्रश्न कहाँ तक संगत है, यह भी विचारणीय है।

आइए, इसी ऊहापोह में हम 'कामायनी' के सुरम्य प्रासाद में प्रवेश

करें। 'कामायनी' के आमुख में प्रसादजी वेदों से लेकर पुराणों और इतिहास में बिखरा हुआ, आर्य-साहित्य में मानवों के आदिपुरुष 'मनु' तथा कामगोत्रजा श्रद्धा और तर्कबुद्धि इड़ा का संक्षिप्त विवरण देते हुए अन्त में लिखते हैं : 'मनु, श्रद्धा, इड़ा अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।' आगे चलकर वे कहते हैं—'कामायनी की कथा-शृंखला मिलाने के लिए कहीं-कहीं थोड़ी-बहुत कल्पना को भी काम में ले आने का अधिकार मैं नहीं छोड़ सका हूँ।'

कामायनी को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ तक मनु, श्रद्धा आदि का ऐतिहासिक अस्तित्व का प्रश्न है, वह केवल उसकी अतीत की गौरवमयी पृष्ठभूमि, उसके पावित्र्य तथा उसके प्रति भावना-जनित उपासना तक ही सीमित है, शेष केवल आदिमानव के मनोविधान के प्रस्फुटन, प्रवृत्तियों के संघर्ष, उनके निर्माण, विकास तथा समन्वय से सम्बद्ध एक मनोवैज्ञानिक कल्पना-सृष्टिभर है, जो कामनाओं की शिराओं से जकड़ी हुई है, जिसके शिखर पर अध्यात्म का समरस शुभ्र प्रकाश प्रतिफलित हो रहा है।

इसके स्पष्टीकरण के लिए पहले 'कामायनी' के कथानक पर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा। वह संक्षेप में इस प्रकार है : 'कामायनी' में पन्द्रह सर्ग हैं, जिनके नाम हैं क्रमशः चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा, स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य और आनन्द, जो मनुष्य के मन की कुछ प्रमुख प्रवृत्तियों के नाम हैं और जिनका विकास-क्रम अधिकतर कल्पना की सुविधा के अनुसार ही रखा गया प्रतीत होता है।

भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध जलप्लावन के कारण देवताओं की वैभव-सृष्टि जलमग्न होकर विनष्ट हो जाती है। मनु की चिन्ता से प्रतीत होता है कि अपने चरम शिखर पर पहुँचने के बाद वह देव-सृष्टि के ह्रास का युग था, जिसका सांकेतिक अर्थ 'कामायनी' में नहीं मिलता। देवता अत्यन्त विलास-रत रहते थे। मनु के शब्दों में :

प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित हम सब थे भूले मद में
भोले थे हाँ, तिरते केवल सब विलासिता के मद में।
... ...

वह उन्मत्त विलास क्या हुआ ? स्वप्न रहा था छलना थी—इत्यादि। अस्तु, प्रथम सर्ग में जलप्लावन की भीषण पृष्ठभूमि पर उत्तुंग हिम-शिखर का शुभ्र सौन्दर्य नैराश्य से निखरते हुए दृढ़ विश्वास की तरह मन को मोहक लगता है। भीगे नयन मनु का हृदय विगत स्मृतियों से उद्वेलित तथा चिन्ताग्रस्त है। धीरे-धीरे प्रलय-प्रकोप शान्त हो जाता है : मनु में आशा का संचार होता है, वह फिर से यज्ञ करने लगते हैं। एक दिन श्रद्धा से उनका साक्षात्कार होता है, जो केवल मन के निचले स्तरों में काम तथा वासना के रूप में प्रकट होती है। श्रद्धा को इससे लज्जा का अनुभव होता है। कालान्तर में मनु फिर कर्म की ओर प्रवृत्त होते हैं। असुर-पुरोहितों के प्रभाव से वे हिंसक अहेरियों का जीवन व्यतीत करने

लगते हैं। श्रद्धा इससे असन्तुष्ट रहती है। एक दिन मनु वाद-विवाद से ऊबकर श्रद्धा को छोड़कर चले जाते हैं। उन्हें उसके महत्त्व को पहिचानने के लिए और भी निम्न प्रवृत्तियों का अनुभव प्राप्त करना था। सरस्वती के तट पर वह हेमवती छाया-सी इड़ा के सम्पर्क में आते हैं—जो भेद-बुद्धि या तर्क-बुद्धि की प्रतीक है। इड़ा मनु को ऐहिकता की ओर प्रवृत्त करती है। वह उसकी सहायता से वहाँ राज्य बसाते हैं, और भोग में रत रहते हैं। श्रद्धा इस बीच पुत्रवती हो जाती है। वह मनु की प्रतीक्षा में निराश होकर उनकी खोज मे निकलती है। इड़ा पर आसक्त हो जाने के कारण देवतागण मनु से रुष्ट हो जाते हैं। प्रजा भी उनसे असन्तुष्ट होकर विद्रोह करती है। मनु युद्ध में आहत होकर गिर पडते हैं। यह उनका चरम पतन है। इसके बाद मनु का उत्थान प्रारम्भ होता है। श्रद्धा के स्पर्श से वह जग उठते हैं और वहाँ से चुपके से निकल भागते हैं। श्रद्धा अपने पुत्र को इड़ा को सौंपकर मनु की खोज में जाती है। वह भागवत करुणा की तरह सदैव आदिमानव की रक्षा के लिए आतुर रहती है। मनु उसके साथ फिर मन के शृंगों का आरोहण करते हुए इच्छा, ज्ञान, कर्म के त्रिपुर में पहुँचते हैं। श्रद्धा उनका परिचय कराती है। तदनन्तर मनु मानस-तट पर नित्य आनन्द-लोक की प्राप्ति करते हैं, जहाँ विश्व के सुख-दुःख नहीं व्याप्त होते। उस समतल अधिमन की भूमि पर

'समरस थे जड़ या चेतन, सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती, आनन्द अखण्ड घना था।'

'कामायनी' का कथानक उसमें निहित काव्य-दर्शन की अवतारणा के लिए केवल संक्षिप्त रंगमंच का काम करता है। कथानक की दृष्टि से उसमें कुछ भी विशेषता नहीं है। उसमें न विस्तार है, न विवरण और किसी प्रकार की प्रगाढ़ता, हृदयमन्थन अथवा भावों के उत्थान-पतन की सूक्ष्मता भी नहीं है। सब कुछ अस्पष्ट तथा कल्पना की तहों में लिपटा हुआ प्रसादजी के इच्छाइंगित पर चलता प्रतीत होता है। भावभूमि पर आधारित होते हुए भावनाओं के संवेग में केवल शिथिलता तथा अनगढ़पन ही अधिक मिलता है। अत्यन्त साधारणीकरण के कारण वैशिष्ट्य का अभाव मन को खटकने लगता है। विधान का सौष्ठव, स्थूल और सूक्ष्म के बीच के कुहासे से गुम्फित छायापट की तरह, तीव्र अनुभूति के संवेदन में घनीभूत नहीं हो पाया है। पर जैसा कुछ भी घुला-घुला रंगों का छाया-प्रसार है, वह सुथरा, मनमोहक तथा बहुमूल्य है।

कला-चेतना की दृष्टि से 'कामायनी' छायावादी युग का प्रतिनिधि-काव्य कहा जा सकता है। रत्नच्छाया व्यतिकर की तरह उसकी कला, भावों की धूमिल वाष्पभूमि में प्रस्फुटित होकर, नेत्रों को आकर्षित किये बिना नहीं रहती। उसमें प्राणों का मर्म मधुर उन्मन गुंजार, भावनाओं का आरोहण तथा व्यापक सौन्दर्यबोध की नवोज्ज्वलता है। कुछ सर्गों में प्रसादजी की कला हिमशिखरों पर फहराती हुई उषा की स्वर्णिम आभा की तरह हृदय को विस्मयाभिभूत कर देती है। लेकिन ऐसा बहुत कम होता है। अधिकतर वह आधे खुले आधे छिपे मुग्धा के अवगुण्ठित मुख की तरह, मन से आँखमिचौनी खेलती रहती है। वह हृदय को तन्मय नहीं करती, केवल प्राणों में रस-स्रवण करती है। 'लज्जा' सर्ग का प्रारम्भ

प्रसादजी के कला-जगत् के लिए उपयुक्त प्रवेशद्वार का काम करता है :

'कोमल किसलय के अंचल में, नन्हीं कलिका ज्यों छिपती-सी
गोधूली के धूमिल पट में दीपक के स्वर में दिपती-सी,
मंजुल स्वप्नों की विस्मृति में मन का उन्माद निखरता ज्यों
सुरभित लहरों की छाया में बुल्ले का विभव बिखरता ज्यों
नीरव निशीथ में लतिका-सी तुम कौन आ रही हो बढ़ती,
कोमल बाँहें फैलाये - सी आलिंगन का जादू पढ़ती।
किन इन्द्र जाल के फूलों में लेकर सुहागकण राग भरे,
सिर नीचा कर हो गूँथ रही माला, जिससे मधुधार ढरे।' इत्यादि।

इन उपमानों द्वारा प्रसादजी लज्जा का मूर्तिकरण करते हैं। सुरभित लहरों की छाया के बाद बुल्ला शब्द खटकता है, जादू पढ़ती तथा मधुधार ढरे भी अच्छे नहीं लगते। शब्दों के चयन में इस प्रकार की शिथिलता 'कामायनी' में अत्यधिक मिलती है, जिसका कारण यह हो सकता है कि प्रसादजी को उसे दुबारा देखने का समय नहीं मिला। वैसे साधारणत: 'कामायनी' की कला-चेतना में जैसा निखार मिलता है, कला-शिल्प अथवा शब्द-शिल्प में वैसी प्रौढ़ता नहीं मिलती। कहीं-कहीं छन्द-भंग तो असावधानी या छापे की गलती से भी हो सकता है, किन्तु बेमेल शब्द तथा श्लथ पद-विन्यास इस महान् कृति के अनुकूल नहीं लगते। प्राय: प्रत्येक सर्ग एक स्वतन्त्र कविता की तरह आरम्भ होता है, उसमे बहुत-कुछ ऐसा विस्तार तथा बाहुल्य है जो प्राय: काव्यद्रव्य की दृष्टि से बहुमूल्य नहीं और जिस पर संयम रखने की आवश्यकता थी, जिससे सन्तुलन की श्रीवृद्धि हो सकती थी। 'दर्शन' शीर्षक सर्ग का छन्द भी उसके उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। किन्तु इन सब बातों के विस्तारपूर्वक विवेचन के लिए यह उपयुक्त अवसर नहीं है। 'रहस्य' तथा 'आनन्द' नामक सर्गों में कुछ स्थलों को छोड़कर कल्पना के आरोहण के साथ ही कला में भी संयम का सुमधुर निखार आ गया है; यथा —

'सन्ध्या समीप आयी थी उस सर के वल्कल वसना
तारों से अलक गुँथी थीं, पहने कदम्ब की रसना
खगकुल किलकार रहे थे कलहंस कर रहे कलरव
किन्नरियाँ बनीं प्रतिध्वनि लेती थीं तानें अभिनव !
श्रद्धा ने सुमन बखेरा शत शत मधुपों का गुंजन
भर उठा मनोहर नभ में मनु तन्मय बैठे उन्मन।' इत्यादि।

अब हम संक्षेप में 'कामायनी' के दर्शन-पक्ष पर भी विचार कर लें। मानव-मन की प्रवृत्तियों का संघर्ष, उत्थान-पतन तथा उन्नयन ही 'कामायनी' की दर्शन-पीठ है। तर्क-बुद्धि इड़ा तथा श्रद्धा का समन्वय ही उसका नि:श्रेयस्-भरा सन्देश है। यह सब ठीक है। मनु और इड़ा के आख्यान में वर्तमान युग-संघर्ष का भी यत्किंचित् आभास मिलता है। यद्यपि उसमें नैतिक पतन को ही संघर्ष का कारण बतलाया गया है, जो आज के युग की समस्या के लिए पूर्णत: घटित नहीं होता, किन्तु उसके बाद जो कुछ है, वह केवल चिर परिचित तथा पुरातनतम, जिसे शायद आज का अध्यात्म अतिक्रम कर चुका है—अतिक्रम इस अर्थ में कि वह मानव-जीवन के अधिक निकट पहुँच गया है। मनु इड़ा-प्रेरित जीवन-

संघर्ष से विरक्त हो भाग खड़े होते हैं और जीवन की भूमि को छोड़कर मन के सूक्ष्म प्रतिमान-रूप त्रिपुर को भी पार कर त्रिपुरारि के उस चैतन्य लोक में पहुँचकर जीवन-समस्याओं का समाधान पाते हैं, जो सुख-दुःख, भेद-भाव के द्वन्द्वों से अतीत, समरस चैतन्य का क्रीड़ा-स्थल है। इड़ा, श्रद्धा, त्रिपुर और उनके पारस्परिक सम्बन्ध में तथा आनन्द की स्थिति के उद्घाटन के बीच अनेक प्रकार की जो छोटी-मोटी दार्शनिक असंगतियाँ तथा कल्पना का आरोप मिलता है, उस पर विचार न करते हुए भी जिस अभेद चैतन्य के लोक में पहुँचकर विश्व-जीवन के सुख-दु:खमय संघर्ष से मुक्त होने का सन्देश 'कामायनी' में मिलता है, वह मुझे पर्याप्त नहीं लगता। मैं मानव-चेतना का आरोहण करवाकर उसे वहीं मानस-तट पर अथवा अविमानस-भूमि पर कैलाशशिखर के सान्निध्य में छोड़कर सन्तोष नहीं करता। वह आनन्द चैतन्य तो है ही और जीवन-संघर्ष से विरत होकर मनुष्य व्यक्तिगत रूप से उस स्थिति पर पहुँच भी सकता है। पर यह तो विश्व-जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं है! मनुष्य के सामने प्रश्न यह नहीं है कि वह इड़ा, श्रद्धा का समन्वय कर वहाँ तक कैसे पहुँचे—उसके सामने जो चिरन्तन समस्या है वह यह है कि उस चैतन्य का उपभोग मन, जीवन तथा पदार्थ के स्तर पर कैसे किया जा सकता है। परम चैतन्य तथा मनश्चैतन्य के बीच का, इहलोक-परलोक के बीच का, धरती-स्वर्ग, एक-बहु, समरस या बहुरस के बीच के व्यवधान को मिटाकर यह अन्तराल किस प्रकार भरा जाय। उसके लिए निःसंशय ही इड़ा-श्रद्धा का सामंजस्य पर्याप्त नहीं। श्रद्धा की सहायता से समरस स्थिति प्राप्त कर लेने पर भी मनु लोक-जीवन की ओर नहीं लौट आये। आने पर भी शायद वहाँ कुछ नहीं कर सकते। संसार की समस्याओं का यह निदान तो चिर पुरातन, पिष्टपेषित निदान है; किन्तु व्याधि कैसे दूर हो? क्या इस प्रकार समस्थिति में पहुँचकर, और वह भी व्यक्तिगत रूप से?

यहीं पर 'कामायनी' कला-प्रयोगों में आधुनिक होने पर भी और कुछ अंशों में भाव-परिधान मे भी आधुनिक होने पर भी वास्तव में जीवन के नवीन यथार्थ तथा चैतन्य को अभिव्यक्ति नहीं दे सकी। और अभिव्यक्ति देना तो दूर, उसकी ओर दृष्टिपात कर उसकी सम्भावना की ओर भी ध्यान आकर्षित नहीं कर सकी। वह केवल आधुनिक युग के विकासवाद से काल्पनिक एवं मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रेरणा ग्रहण कर तथा अध्यात्म की दृष्टि से वही चिर प्राचीन व्यक्तिवादी विकसित एवं समरस नित्य आनन्द-चैतन्य का आरोहणमूलक आदर्श उपस्थित कर भारतीय पुनर्जागरण के काव्य-युग के अन्तिम स्वर्णिम परिच्छेद की तरह समाप्त हो जाती है।

किन्तु यह सब होने पर भी 'कामायनी' इस युग की एक अपूर्व अद्वितीय महान् काव्य-कृति है, इसमें मुझे सन्देह नहीं। वह हमारे युग-प्रवर्तक प्रसादजी का शुभ्र शान्त सौन्दर्य का पवित्र यशःकाय है, जिसे हिन्दी साहित्य में और, सम्भवतः, विश्व-साहित्य में भी जरामरण का भय नहीं है;—मैं यदि कभी 'कामायनी' लिखने की असम्भव बात सोचता भी तो मैं उसे इतना भी सफल तथा पूर्ण नहीं बना सकता, जितना कि उसे महान्

क्षमता तथा प्रतिभाशाली प्रसादजी बना गये हैं।

'कामायनी' उनके सौन्दर्य, प्रेम तथा भगवान के प्रति श्रद्धा की धरोहर की तरह सदैव अमर रहे और अपने प्रेमी पाठकों को शान्ति, सुख, सान्त्वना देकर आत्म-कल्याण का पथ दिखाती रहे, यही एकमात्र मेरे हृदय की कामना है।

कालिदास से भेंट

मेरे मित्र हैं तो अंग्रेजी के प्रकाण्ड पण्डित, किन्तु कालिदास की प्रशंसा करते नहीं अघाते। 'मेघदूत' को वह रससिद्ध काव्य मानते हैं किन्तु 'कुमार-सम्भव' की उमा के तो भक्त हो गये हैं। कल बहुत समय के बाद उनसे भेंट हुई और शाम-भर उनके साथ महाकवि की चर्चा होती रही। उनका कहना है कि जहाँ संस्कृति के अधिकांश कवि भाषा के इन्द्रजाल में फँसने के मोह को संवरण नहीं कर सके, वहाँ कालिदास ही एक ऐसी प्रतिभा हुए, जिन्होंने भाषा को अपनी अँगुलियों के कलात्मक इशारों पर नचाया है। यह जो भी हो, पर उनकी बातों का मन मे कुछ ऐसा अप्रकट या प्रच्छन्न प्रभाव पड़ा कि रात महाकवि के ही स्वप्न-सहवास में बीती।

अपने कलात्मक राजसी कक्ष में ध्यानमग्न बैठे हुए महाकवि उस समय जैसे भविष्य में लिखे जानेवाले किसी महाकाव्य की भाव सर्जना में रत थे। रत्नच्छाया व्यतिकर के समान उसकी आँखों के सम्मुख अनेक रंगों की कल्पनाएँ उस समय बल्मीकाग्र से प्रकट इन्द्रधनुष के तुल्य खेल रही थीं। 'सुन्दर! सुन्दर!' वह अपने आप ही मुग्ध गुंजरित वाणी में कह रहे थे, कविता का भविष्य सुरक्षित है—सौन्दर्यबोध की असीम सम्भावनाएं है।...

'कविता का भविष्य?' मैंने आश्चर्यचकित होकर कहा, 'आप कविता के भविष्य के बारे में क्या कह रहे थे?'—उनका कक्ष छायावादी कवियों के कमरे से अधिक सजा-धजा था। उसके आयाम मेघों की धुंधली रेखाओं के-से न होकर, हीरक और प्रवाल की शिलाओं की तरह ही स्पष्ट और सघन थे। स्वर में उनके स्वाभ्र गुप्ताग की मादकता थी। मुझे देखकर वह मन्द-मन्द मुसकराये। सहजभाव से आत्मविश्वास के साथ बोले, 'काव्य-लोक एक ही है, जिसे सत्य शिव सुन्दर का लोक कहते हैं, जिसकी अनन्त सम्भावनाएँ हैं।' उनके संक्षिप्त उत्तर मे मुझे सन्देह हुआ कि सम्भवतः उन्हें हिन्दी बोलने मे कठिनाई हो रही हो—पर शीघ्र ही मेरा भ्रम दूर हो गया। वह प्रकृतिस्थ होकर बोले—तुम सोचते होगे मैं कविता की आधुनिकतम प्रवृत्तियों मे परिचित नहीं हूँ, क्योंकि तुम कविता को सीमित अर्थ मे—अनेक युगों, अनेक वादों मे बँटी हुई देखते हो।—तुम शायद स्वयं भी कवि हो और अपने से ऊपर उठकर काव्यजगत् की महती सम्भावनाओं को नहीं समझ पा रहे हो।...मेरी दृष्टि मे वह एक ही संचरण है। आज तुम सम्भवतः नयी कविता से भयभीत होकर मेरे पास 'पाहिमाम् पाहिमाम्' कहने आये हो। वह अपनी बात पर आप ही

ठठाकर हँस पड़े। यहाँ मैं अपने मन की बात स्पष्ट कह दूँ। मुझे महाकवि का यह दरबारियों का-सा रूप पसन्द नहीं आया, पर मैंने अपने मन का विद्रोह उन पर प्रकट नहीं होने दिया। वह मेरे मुँह को देखकर मेरे मन की बात भाँप गये और पान का चाँदी का डिब्बा मेरी ओर बढ़ाते हुए बोले—पान तो खाते ही होंगे? केवड़े की सुगन्ध से बसा हुआ पान खाने का लोभ न रोक सकने के कारण मैंने बनते हुए कहा, 'जी हाँ, यह रोग हमारे देश में अब और भी अधिक बढ़ गया है।' मेरी बात से किंचित् अप्रसन्नता प्रकट करते हुए उन्होंने एक छोटी-सी रत्नमंजूषा मेरी ओर बढ़ायी। मुझे आनाकानी करते देखकर बोले—'तम्बाकू नहीं,— यह मृगमद है।' महाकवि के ऐश्वर्य को सराहते हुए मैंने थोड़ी-सी कस्तूरी उठाकर मुँह में डाल ली।

महाकवि में अब पहिले जैसा आत्मीयता का भाव नहीं रह गया था। उनका व्यवहार-ज्ञान जग गया था। उन्होंने अपने को भीतर खींचते हुए निर्लिप्त स्वर में पूछा—कैसे आये हो?...अब मुझे नम्र होना ही पड़ा, क्योंकि मैं महाकवि के पास गया था, वह मेरे यहाँ नहीं आये थे। पर मैंने अपने युग के अहम् को भुलाना ठीक न समझकर, दिल की कमजोरी को छिपाते हुए, गला खखारते हुए कुछ बराबरी का-सा भाव दिखाते हुए कहा—अरे, यों ही चला आया था मिलने!...अब हम लोग पिछले कवियों को तो अधिकतर पढ़ते नहीं—जब तक कि उनकी कटु आलोचना कर अपनी बड़ाई न करनी हो—और अपने समकालीनों की रचनाओं पर भी सिर्फ इधर-उधर दृष्टि दौड़ाकर दो-चार फब्तियाँ उन पर कस देते हैं...लेकिन यह कोई ऐसी बड़ी समस्या नहीं है। महाकवि को अपनी हँसी रोकने में कठिनाई हो रही थी, कुछ उनकी मुद्रा से मुझे उस समय ऐसा ही आभास हुआ। मैंने बात बदलते हुए कहा—तो आपने नयी कविता तो पढ़ी ही होगी? महाकवि ने मुझे बढ़ावा देते हुए सिर हिलाते, आँख मटकाते हुए कहा—बराबर-बराबर।...उसकी झंकार रोज कानों में गुदगुदी पैदा करती रहती है।

शंका की दृष्टि से उन्हें देखकर उनकी वाहवाही का मन-ही-मन ठीक-ठीक अन्दाजा लगाते हुए मैंने निर्भीक होकर पूछ ही डाला—तो आप अतुकान्त मुक्त काव्य के बारे में क्या सोचते हैं?

'हूँ' महाकवि ने मेरी बातों का अथवा पान का रस लेते हुए कहा—इसमें सोचने की क्या बात है? तुकान्त कविता तो मैंने भी कभी नहीं लिखी। वह तो बड़ी पिटी-पिटाई बेतुकी-सी चीज है। गायकों और गीतिकारों के पाँवों की बेड़ी। बाकी रहा मुक्त काव्य—तो उसमें तुम्हारा यदि यह अभिप्राय है कि काव्य मे जितनी जल्दी मुक्ति मिले उतना अच्छा।—तो यह ठीक नहीं। हम लोग मुक्त भावों के कवि थे और तुम लोग मुक्तछन्द के कवि हो। यही न तुम्हारा मुक्त काव्य से अभिप्राय है?—जिसमें छन्द न हो?

मैंने कवि के व्यंग्य पर लक्ष्य न करते हुए जो कि उनकी कुण्ठा का द्योतक था—सधे तार्किक की तरह उत्तर दिया—जी, छन्दमुक्ति इसलिए कि भावमुक्ति में सहायता मिल सके। दूसरे शब्दों में जिसे अर्थ-लय की कविता कहते हैं—जो शब्द-लय से सूक्ष्म लय है! 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ'

लिखनेवाले महाकवि ने मर्मभेदिनी दृष्टि डालकर, मेरे मुँह पर हवाइयाँ उड़ती देखकर—मेरी पीठ थपथपाते हुए कहा—ठीक है, ठीक है।··· अर्थ की लय यदि अनर्थ कहीं न हो तो वह चल सकती है। और वह नये पैसों की तरह चल ही रही है। धीरे-धीरे ठीक-ठीक हिसाब बिठाना भी आ जायेगा। महाकवि का उपेक्षा भरा ढीठ स्वर मेरे मन में तब हीन भावना जगा रहा था। पर मैंने उसे बडों की प्रौढ़ दुर्बलता मानकर महाकवि को मन-ही-मन क्षमा कर दिया। मेरी इस मानसिक प्रक्रिया का उनके मन मे न जाने कैसा अज्ञात प्रभाव पड़ा कि उन्हें स्वर बदलकर कहना पडा—'देखो भाई, कविता, तर्क या वादविवाद की वस्तु नहीं होनी चाहिए। यदि कविता कविता है—अर्थात् यदि वह काव्यगुणसम्पन्न है तो चाहे वह मुक्तछन्द में हो या अर्थलय में हो—वह कविता ही रहेगी। ···नवीनता के स्वरूप को पहचानना आसान नहीं होता। नवीनता अवश्य श्लाघ्य है : नव नवोन्मेषिणी प्रतिभा का सर्वत्र सम्मान होगा, वह हृदय में आह्लाद पैदा करेगी। काव्य अथवा साहित्य का मुख्य लक्ष्य है हृदय में आनन्द की अवतारणा या सर्जना करना। यदि नयी कविता अपने आनन्द सृजन में सफल है तो वह अपने आनन्द में अमर भी है, उसे कोई नही मार सकता। मैं जानता हूँ इधर अनेक नयी प्रतिभाएँ भारत के साहित्य को रसदान दे रही है : देश उनका अभिवादन कर रहा है। कविता की गतिविधि को आलोचक निर्धारित नही कर सकते, वह स्वयं अपनी अबाधता में संचालित होती है : काव्य की गति अन्त प्रेरित गति है, वह अपने कूल स्वयं बनाने में समर्थ है।···' मैं समझ गया कि महाकवि आशीर्वाद देने के मूड में हैं। थोड़ी देर के लिए मन में सन्देह हुआ कि शायद नयी कविता कवि-कुल-गुरु ने न पढ़ी हो···या उनकी भी समझ में न आयी हो पर उनके आगे के कुछ वाक्यों ने मेरे सन्देह का निराकरण कर दिया. उपमाओं के कवि बोले—देखो, सन्ध्या का वर्णन कवियों को सदैव से प्रिय रहा है। वैदिक कवि ने सन्ध्या की उपमा पिंगल वर्ण गाय से दी है। मैंने अनेक अवसरों पर अनेक रूपों मे उसे चित्रित किया है। अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनकर क्या कहूँ, 'मेघदूत' ही में तुम देख लो, जब मेघ साँझ के समय महाकाल के मन्दिर मे पहुँचता है। महाकवि आत्मश्लाघा में शालीनता को भूलकर 'कुमारसम्भव' तथा अन्य संस्कृत काव्यों से सन्ध्याकालीन शृंगारिक वर्णन सुनाने लगे। किन्तु तुरन्त ही आत्मस्थ होकर वह छायावादी कवियों की सन्ध्या की चर्चा करने लगे और मेघमय आसमान से धीरे-धीरे उतरती सन्ध्या, जो उन्हे कण्ठस्थ थी, विस्तार से भावभंगिमापूर्वक सुनाने में लीन हो गये। नयी कविता में जहाँ कहीं साँझ की रूप-रेखा के चित्र, प्रतीक या बिम्ब उन्हें देखने को मिले, एक-एक कर सब गिना गये।···यहाँ तक कि टहनियों की टोकरी में गोंजकर फेंकी हुई रद्द शाम तक का जिक्र भी वह करना नही भूले जो उन्हें इसी माम किसी पत्र-पत्रिका मे पढ़ने को मिली थी। महाकवि की स्मरणशक्ति का आभास पाकर मैं आश्वस्त हो गया कि उन्होंने नयी कविता पढ़ी ही नहीं वह उन्हें ढेर-ढेर याद भी है। मैंने उत्साहित होकर पूछा, मान्यवर, यह तो सब हुआ, लेकिन आधुनिक काव्य में जो यथार्थ की भावना, जो अनास्था दुःख, निराशा आदि की भावना मिलती है, जिस प्रकार उसमें सुन्दर और

कुरूप को परस्पर गूंथकर मानवीय बना दिया है उसके बारे में आपकी क्या राय है ?

महाकवि ने अत्यन्त सहानुभूतिपूर्वक शान्त गम्भीर स्वर में उत्तर दिया—ऐसा तो होना ही चाहिए। युग की सम्वेदनाएँ कला में अपना विशेष स्थान तथा महत्त्व रखती हैं। सदैव स्वप्न, कल्पना और आदर्श से ही कैसे काम चल सकता है ? आदर्श आदर्श के स्थान पर है तो यथार्थ यथार्थ के स्थान पर। दोनों की ही उपयोगिता है। मैं तो कभी भी कोरा आदर्शवादी नहीं रहा। न मैंने छायावादियों की तरह आनन्दवाद का ही अंचल पकड़ा। तुमने मेरे काव्यग्रन्थ और विशेषत: 'शकुन्तला' पढ़ी है ? उसे तुम यथार्थवादी रचना कहोगे कि आदर्शवादी ? मुझे सकपकाते देखकर कवि गुरु ने अपने को संयत करते हुए कहा—मेरी बात का उत्तर दो न ! मै कर्तव्यमूढ-सा उनके सम्मुख आँखें झुकाये खड़ा रहा। बात यह थी कि मुझसे नयी कविता के अतिरिक्त और कुछ नही पढ़ा जाता था। महाकवि के ग्रन्थों को न पढने का मेरे मन मे इतना दु:ख तथा पश्चात्ताप हुआ कि मेरी आँखें सहसा जिस ग्लानि और निराशा के सूनेपन में खुली उस खोखले, निष्क्रिय तथा विवर्ण अन्धकार की अनुभूति से मेरी आत्मा सिहर उठी। अनेक शैलियाँ, अनेक स्वरूपों में व्याप्त खण्ड-खण्ड काव्य चेतना का वृत्त सहसा मेरी आँखों के सम्मुख एक समूचे वृत्त में नये क्षितिज की तरह खुल गया। मैंने इस आत्म-प्रवंचना के क्षणों मे मन-ही-मन कवि को श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया।

जो न लिख सका

साहित्य-सृजन कृच्छ्रकर्म है यह मुझे तब नही ज्ञात था जब मैने किशोर उत्साह से प्रेरित होकर पहिले-पहल कलम उठायी थी। छन्द की झंकार हृदय में एक अज्ञात गुदगुदी पैदा करती थी और कवि बनने के लिए न जाने कहाँ से एक बिलकुल ही अपरिचित और रहस्यमयी आकांक्षा ने मन में घर कर जीवन को विवश बना दिया था। न जाने क्या लिखने के लिए, सायं-प्रात: कितने छन्द रचकर, कितने पन्ने रँग डाले और अब तो पोथियाँ भी निकल गयी है पर अब भी न जाने भीतर-ही-भीतर कैसी कुलबुलाहट मची रहती है और न जाने क्या लिखने को जी बेचैन रहता है। मन बिना दाम का गुलाब बन गया है।

कहते है भगवान् ने तप के बल पर सृष्टि की रचना की। अब आप तपोबल को चाहे सकल्प-शक्ति कहे, चाहे साधना या तपस्या का फल। पर केवल संकल्प या तपस्या के बल-मात्र से इस आश्चर्यजनक जगत्-प्रपंच की रचना करना असम्भव नहीं तो अत्यन्त दुरूह कर्म तो है ही। और मुझ जैसे साधारण मनुष्य के लिए तो और भी दुरूह, कृच्छ्र तथा क्लिष्ट है। इसीलिए मैं अब सोचता हूँ कि सृजन-कर्म अत्यन्त कठिन है और इस युग में सम्भवत: वह और भी जटिल हो गया है।

मेरे चारों ओर शब्दों के ढेर लगे है। निरर्थक शब्दों के बड़े-बड़े

अम्बार और पहाड़, जिनकी चक्करदार भूलभुलैया में पड़कर मन खो जाता है। आप भूचाल की तरह, किसी अज्ञात प्रेरणा के आवेश में, उनके भीतर घुस जाइए, उन्हें उलटिए, पलटिए, टटोलिए, परखिए, उन्हें सूँघिए, चखिए, शोधिए, सँवारिए, सुधारिए— किन्तु उनमें कुछ ऐसा मिलता रहे जो आपके मनोनुकूल हो, जो इस विराट् युग के योग्य हो, जो नवीन मूल्य तथा नवीन सौन्दर्यबोध की दृष्टि से खरा उतरे, यह सदैव ही सम्भव नहीं। बस चेतना के बाहरी छिलकों की तरह कोरे शब्दों के ढेर हैं, जिनकी सार्थकता खो गयी है—बालू के अनगिनत कण, जिनकी धारा सूख गयी है।

मैं केवल अभिधान या कोश में संगृहीत शब्दों की बात नहीं कह रहा हूँ, मैं उस रहन-सहन, आचार-विचार तथा क्रिया-कलाप की बात कर रहा हूँ जो आज चारों ओर मानव-समाज में बरता जा रहा है। कितने चलन हैं, कितनी प्रथाएँ और रूढ़ि रीतियाँ। कितने अन्धविश्वास हैं, कितने नैतिक दृष्टिकोण, कितने मत-मतान्तर — कितने तथ्य, कितने सत्य, कितने अनुभव, ओह, कितने यथार्थ और कितनी वास्तविकताएँ हैं जो आज चारों ओर कोहराम मचाये हुए हैं। उनका ध्यान कर, उनका अनुमान-भर कर और उनका परिचय ही पाकर मन जैसे अवाक् रह जाता है, विस्मय विमूढ़ हो उठता है। अनेक खँडहर, विगत युगों के महान् प्रासादों के नष्ट-भ्रष्ट खँडहर, जैसे ढेर होकर, मन की आँखों के सामने बिखरे पड़े हैं। मानव-मन के भीतर सुप्त, विकासशील जीवनीशक्ति के नवीन जागरण के भयानक आघात से विगत सभ्यताओं तथा संस्कृतियों की जीवन-प्रणालियाँ आज ध्वंस-भ्रंश, तथा चूर्ण-चूर्ण होकर, ईंटों के ढेरों के रूप में, शब्दों के अम्बारों के रूप में, अर्थशून्य, निराकार, चारों ओर ग्रस्त-ध्वस्त अवस्था में फैली हुई पड़ी हैं। केवल पिछले युगों के जीवन-शून्य अभ्यास आज मानव-चेतना को संचालित कर रहे हैं। वह ऊँची-नीची चोटियों और खाइयों की ओर अपने डगमग पग बढ़ाती हुई उठती-गिरती, लड़ती-भिड़ती, कराहती, आगे बढ़ने के भ्रम में वहीं की वहीं अगति के वृत्त में चक्कर काट रही है।

दर्शन और विज्ञान, राजनीति और अर्थशास्त्र मानव-जीवन की प्रणालियों का वैयक्तिक अथवा सामाजिक दृष्टि से, जैसा भी विश्लेषण करते आये हों, पर साहित्य, और विशेषतः काव्य-साहित्य, तो इनके जीवन्त, अन्तरतम तथा संश्लेषणात्मक रूप के ही दर्शन कराता रहा है। अपनी इसी भीतरी खोज में मैंने भी, रसबोध से प्रेरित हो, अपनी क्षमतानुसार मानव-जीवन की गहन अनुभूतियों के इस विशाल प्रासाद में विचरण कर तथा उसमें रुचि-अनुरूप सामग्री चयन कर युग-साहित्य के चित्रपट को सँवारने का प्रयत्न किया है। और इधर-उधर उसमें परिवर्तन-परिवर्धन करने की भी चेष्टा की है। काव्य के रूप-विधान में एक विशिष्ट सीमा तक सन्तुलन प्राप्त कर लेने के बाद मेरे सम्मुख सदैव से ही मानवीय मूल्यों का प्रश्न प्रमुख होकर आता रहा है। और जैसा कि मैंने 'गुंजन' में कहा है मुझे मानव-जीवन की अपूर्णताओं के प्रति असन्तोष रहा है।

'लगता अपूर्ण मानव जीवन
मैं इच्छा से उन्मन उन्मन'

पर इसके साथ ही, 'क्या मेरी आत्मा का चिरधन ?'—अर्थात् मानव-आत्मा के चिरधन की खोज मुझे सदैव व्याकुल करती रही है। 'गुंजन' में मैं केवल नैतिक समाधान उपस्थित कर सका हूँ। क्योंकि तब मेरे सम्मुख प्रश्न था अपनी यौवनोन्मुख प्रवृत्तियों को संयम के सौन्दर्य में बाँधने का, और उनके सामने एक आदर्श रखने का, जिससे वे जग-जीवन के निर्माण में सहायक होकर जीवन-मधु संचय कर सकें।

'वन वन उपवन,

छाया उन्मन उन्मन गुंजन,

नव वय के अलियों का गुंजन'—में गन्ध अन्ध नव वय के अलि मेरी यौवनोन्मुख मानस-प्रवृत्तियों के ही प्रतीक हैं। 'गुंजन'-काल में मैं मानव-जीवन के अन्तर्विधान का यथेष्ट विश्लेषण नहीं कर सका था, मुझे एक अज्ञात आनन्द-भावना चलाती रही थी, जो फिर-फिर बाहरी प्रभावों से दब-दब जाती थी और अनेक प्रकार की सुख-दुख-मिश्रित अनुभूतियों से मेरे मानस-पटल को घेर लेती थी। 'गुजन' में मैंने जैसे गा-गाकर अपनी भावना की सुख-दुख की परिणतियों में सन्तुलन स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

इसके बाद ही ग्राम-जीवन के दुःख-दारिद्र्य का मेरे भावुक मन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि मेरी सौन्दर्य-चेतना अथवा आनन्द-चेतना दीर्घ काल तक उससे आक्रान्त रही। अपने ग्राम-जीवन की अनुभूतियों का चित्र मैंने 'ग्राम्या' नामक काव्य-संकलन में उपस्थित किया है तथा 'युगवाणी' में उसके अनुरूप दर्शन का रेखा-चित्र खीचने का प्रयत्न किया है। मेरे भीतर यह प्रवृत्ति छुटपन से ही रही है कि केवल भावनाओं या हृदय के संस्कारों ही से मैंने अपने मन को नहीं चलने दिया है। अपनी बुद्धि का उपयोग करना भी मैंने सीखा है। अतः अपने ग्राम-प्रवास के काल में मैंने जहाँ एक ओर गांधीवाद का अध्ययन किया है वहाँ मार्क्स-दर्शन के ज्ञान से वंचित रहना भी ठीक नहीं समझा है। और दोनों की मान्यताओं को मैंने अपनी भावना में घुलने-मिलने दिया है और लोक-जीवन के दैन्य-दुःख को दूर करने के लिए उनका उपयोग करने को कहा है। मैंने सदैव विचारों, दर्शनों, विज्ञानों तथा मान्यताओं के समन्वय करने की पुकार लगायी है। मानव-जीवन इतना व्यापक, गहन, जटिल तथा वैचित्र्यपूर्ण है कि यदि हम उसे किसी कृत्रिम यान्त्रिक ढाँचे में न ढालकर उसके बहुमुखी सौन्दर्य की रक्षा करते हुए उसके विकास में सहायक होना चाहें तो हमें दर्शन-विशेष, विज्ञान-विशेष, या पद्धति-विशेष का आग्रह और मोह छोड देना होगा, और सभी विचार-धाराओं से परिस्थितियों के अनुरूप उपयोगी तत्वों को ग्रहण कर उनका लोक-जीवन में उपयोग करना होगा। यदि देश-विशेष के लिए कोई एक दर्शन या जीवन-प्रणाली अधिक उपयोगी प्रमाणित हो तो उसे स्वीकार कर लेना चाहिए, किन्तु मानव-जीवन का दर्शन फिर भी सदैव उससे अधिक विशाल तथा बहुमुखी ही रहेगा। इस प्रकार के अनेकान्तवाद को मैंने मानव-एकता की मौलिक आत्मा के अधीन रखकर समय-समय पर अनेक रूपों में उसे अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति दी है।

मेरे कतिपय आलोचक युग-विद्वेष की भावना से परास्त होकर मुझे

जिस-तिस दर्शन का पक्षपाती बतलाकर मेरी भर्त्सना करते रहे हैं। पर भविष्य में वे अपनी उग्र विवेचनाओं को मेरी आनेवाली कृतियों के प्रकाश में दुहराकर भ्रान्तिमुक्त हो सकेंगे ! मेरी समस्त रचनाएँ केवल मेरे विकास की पद-चिह्न भर हैं उनमें मेरी कवि-दृष्टि का वैचित्र्य भले ही मिलता हो पर मेरे काव्य-व्यक्तित्व की समग्रता उनमें खोजना, उन रचनाओं के साथ ही, मेरे विकासप्रिय व्यक्तित्व के प्रति भी अन्याय करना है।

मैं जो नहीं लिख सका उसके लिए अभी तैयारी-भर कर रहा हूँ। तैयारी करने के मेरे अधिकार को तो कोई नहीं छीन सकता ? मैं अपनी दुर्बलता तथा त्रुटियों से परिचित हूँ, साथ ही परिचित हूँ अपने युग की कमियों, कुण्ठाओं, क्लान्तियों तथा भ्रान्तियों से। आज के युग की इस दैन्य-दुःख तथा अभावों की क्रान्ति को एक व्यापक आनन्द-मंगल तथा सौन्दर्य की भावात्मक क्रान्ति में पल्लवित-पुष्पित होना है। आज के बोध-शून्य कोलाहल को प्रबुद्ध शान्ति में परिणत होना है। आज के युग की कुरूपता के कर्दम से अवश्य ही विश्व-जीवन के सौन्दर्य का पूर्ण सन्तुलित पद्म प्रस्फुटित होगा, अपने इस सम्बोध के, इस आशा और विश्वास के छुटपुट गीत मैंने अपने नवीन चेतना-काव्य में गाये है और सम्भव हुआ तो अभी जो नहीं लिख सका आगे चलकर अपनी नवीन काव्यकृतियों में उस चिर अपेक्षित लोक-जीवन एवं मानव-जीवन का आख्यान भी गा सकूँगा जो इस महान् युग के भीषण गर्दोगुबार के भीतर निश्चित, निःसंग तथा प्रशान्त भाव से जन्म ले रहा है।

'आज घोर जन कोलाहल के भीतर भी मैं
सुनता हूँ स्वर शब्द हीन संगीत अतन्द्रित,
मन के श्रवणों में जो गूँजा करता अविरत !
इस अणु उद्जन के विनाश के दारुण युग में,
सृजन निरत हैं सूक्ष्म सूक्ष्मतम अमर शक्तियाँ,
मानव के अन्तरतम में······
इसीलिए मैं शान्ति क्रान्ति संहार सृजन को,
आशा कुण्ठा को, युग के सुन्दर कुरूप को,
बाँहों में हूँ आज समेटे,
युग विवर्त्त के क्रन्दन किलकारों में ध्यानावस्थित रहकर।

साहित्य में हम एक हैं

वैसे तो प्राचीन काल से ही ऋषि-मुनि, द्रष्टा तथा विचारक लोग, जिन्हें आप चाहे दार्शनिक कहें या देवदूत—विश्व की एकता तथा मानवजाति एवं प्राणियों की एकता का स्वप्न देखते आये हैं, किन्तु विगत युगों की परि-स्थितियों के कारण मनुष्य उस स्वप्न को अपने सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवन में मूर्त नहीं कर सका। इस युग में वैज्ञानिक आविष्कारों—रेल, तार, हवाई जहाज, रेडियो, टेलिविजन आदि के कारण मनुष्य देश-काल

के व्यवधानों पर विजयी हो सका है और विभिन्न देशों के लोग—उनके धार्मिक विश्वास, सांस्कृतिक दृष्टिकोण तथा रहन-सहन-सम्बन्धी जीवन-प्रणालियाँ—एक-दूसरे के निरन्तर और भी सन्निकट आते जा रहे हैं। इन्हीं सब कारणों से इस युग में एकता—मानव-एकता, राष्ट्रीय एकता आदि का प्रश्न और भी अधिक उभरकर विचारकों तथा कार्यकर्ताओं के सम्मुख उपस्थित हो गया है। सभ्यता के इतिहास में देखा गया है कि जब भी कोई नवीन गुण या सांस्कृतिक विकास के संचरण का उदय होता है, वह अपने साथ उसी अनुपात में विरोधी तत्वों को भी लाता है। ये विरोधी तत्व उस नवीन गुण का मूल्यांकन करने में सहायता देकर स्वयं आपस में कट-छँटकर विलीन हो जाते हैं। वर्तमान युग भी इसका अपवाद नहीं है। आज हम प्रत्येक देश मे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में विभिन्न विरोधी शक्तियों का संघर्ष देख रहे हैं और प्रायः वह संघर्ष, युद्ध, रक्तपात तथा क्रान्ति का भयंकर रूप धारण कर, पुरानी जीवन-प्रणाली तथा विचार-सम्बन्धी विश्वासों मे घोर उथल-पुथल मचाकर, उन्हें युग के अनुरूप नया रूप देने का प्रयत्न कर रहा है। ऐसे ऊहापोह, विघटन तथा परिवर्तन के युगों मे सदैव ही देखा गया है कि साहित्य का क्षेत्र बराबर जीवन तथा मानव-मन की परिस्थितियों में एकता, सन्तुलन, समन्वय तथा संयोजन लाने का गम्भीर प्रयत्न करता रहा है। अपने देश में वैदिक युग से लेकर वर्तमान युग तक इस प्रकार के मानव-एकता तथा कल्याण-सम्बन्धी प्रयासों को सदैव महत्त्व मिलता रहा है। उपनिषदकारों से बाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि संस्कृत के युगप्रवर्तक कवियों तक, मनुष्य-मात्र से लेकर समस्त प्राणियों की चेतनात्मक एवं सत्तात्मक एकता, जीवन-मंगल तथा लोकशान्ति के मूलगत तत्त्वों तथा आदर्शों का जयनाद उद्घोषित होता आया है। हिन्दी के मध्ययुगीन सन्तों, कवियों, तत्वज्ञों सूरदास, तुलसी, कबीर से लेकर वर्तमान युग में श्री मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द तथा जयशंकर प्रसाद तक समस्त साहित्यकार मानव-एकता, धार्मिक एकता, सांस्कृतिक एकता तथा राजनीतिक एकता की दुन्दुभी उच्च दिगन्तव्यापी स्वरों मे बजाते आये हैं।

जहाँ वेदों में ब्रह्म तथा आत्मा के स्तर पर समस्त पदार्थों तथा प्राणियों की एकता के दर्शन 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचजगत्यां जगत्' कहकर, अथवा 'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत' कहकर कराये गये है और धर्मों में एक ईश्वर पर आस्था तथा सदाचरण पर बल देकर प्राणि-मात्र के मंगल की भावना को प्रतिष्ठित किया है वहाँ वाणी के गायकों ने अनेक रूप से अनेक छन्दों तथा गीतों मे मनुष्य की भावनात्मक एकता तथा आदर्श-जनित दृष्टिकोणों के बीच समन्वय तथा संयोजन का राग अलापा है। निर्गुणियों तथा सन्तों ने जीवन की क्षण-भंगुरता, इन्द्रिय-सुख की निःसारता के चित्र उपस्थित कर इस आन्तरिक एकता के परम सत्य की ओर मनुष्य का ध्यान आकर्षित किया है। इसके अतिरिक्त दया, क्षमा, प्रेम, सहानुभूति, सहृदयता त्याग, दान, सेवा आदि जैसे मानवीय गुणों का प्रचार किया गया है जिससे मनुष्य मनुष्य के बीच का भेद मिटे और सब प्राणी एक ही सत्य के अंशों की तरह, एक ही परमात्मा की सन्तान की तरह, एक-दूसरे के निकट आकर

पारस्परिक श्रद्धा, आस्था तथा सद्भाव में बँधते रहें। इस प्रकार आप देखेंगे कि साहित्य में मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियों, उसकी भेदबुद्धि के अहंकार तथा घृणा, द्वेष, क्रोध, लोभ, स्वार्थ, मोह आदि दुर्वृत्तियों की घोर निन्दा तथा भर्त्सना कर उसके उदात्त देवोपम सांस्कृतिक व्यक्तित्व को निखारने की अविराम चेष्टा मिलती है जहाँ सब मनुष्य, सब जीव एक ही महत् विश्व-कल्याण के उद्देश्य से अनुप्राणित होकर, एक ही चैतन्य के बहुमुख रूपों की तरह, जीवन-विकास के दैवी कार्य में संलग्न, अपनी योग्यता तथा क्षमता के अनुसार प्रगति के पथ पर अग्रसर होते हुए दिखाये गये है।

भारतीय वाङ्मय के अन्तर्प्रदेश में 'अनेकता में एकता' का आदर्श उस चुम्बक या अयसकान्तमणि की तरह प्रतिष्ठित है जिसने देश में प्रचलित विविध विश्वासों, आस्थाओं, मूल्यों तथा नैतिक-सामाजिक आदर्शों को संयोजित कर उन्हें एक दिशा तथा एकसंगति प्रदान करने का प्रयत्न किया है। श्रीमद्गीता तथा भागवत आदि से लेकर लोक-कवियों के छोटे-मोटे लोकगीतों तक वही एक मानव-जीवन की एकता, मानव-स्वभाव के वैचित्र्य के भीतर आत्मा की एकता के गीत अनेक स्वरों तथा लयों में प्रवाहित हुए हैं। भारतीय लोक-साहित्य का मानवीय एकता का प्रचार प्रसार करने में जितना बड़ा हाथ रहा है उसके महत्त्व को आँकना आसान नहीं है। वर्ण-व्यवस्था तथा अनेक जाति-पाँतियों में बँटा हिन्दू धर्म भी सन्त-साहित्य की पतित-पावनी, अमृत-प्रवाहिनी गंगा में अवगाहन कर अपने विधि नियमों की कट्टरता भूल जाता है। कबीर, रैदास आदि सभी भक्त, सिद्ध तथा सन्तों के सम्मुख समस्त हिन्दू-सम्प्रदाय के लोग प्रणतमस्तक रहे हैं। रैदास के चमार तथा कबीर के जुलाहा होने पर भी इन भक्तों का पद हिन्दुओं की दृष्टि में सदैव उच्च तथा महान् रहा है।

आधुनिक युग में जिन सशक्त शब्दों में साहित्य मानवतावाद का उद्घोष कर रहा है उसका मुख्य ध्येय विश्व-एकता तथा मानव-एकता का ही प्रचार करना है। इस युग के सिरमौर साहित्यकार, कवि तथा गायक कवीन्द्र रवीन्द्र ने जिस विश्व-बन्धुत्व तथा विश्व-मानवता के स्वप्न को अपनी अमर वाणी द्वारा अपने साहित्य में अंकित किया है उसके प्रति समस्त संसार के मनीषी तथा जन-साधारण अपनी एकमत आस्था तथा श्रद्धा रखते है। रवीन्द्र इस राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक संघर्ष और विश्वयुद्धों के युग में जैसे अपने हाथों में अमरों की वीणा लेकर मानव-एकता के सांस्कृतिक भू-स्वर्ग की प्रतिष्ठा करने को ही इस पृथ्वी पर अवतरित हुए थे। आज रवीन्द्र की वाणी अनेक कवियों तथा साहित्यिकों के कण्ठ में प्रतिध्वनित तथा सम्वर्धित होकर इस दिग्भ्रान्ति तथा विश्वविपर्यय के युग में मानव-जाति की एकता-सम्बन्धी नवीन आस्था तथा विश्वास के अग्निपंख-बीज लोकमन की उर्वर धरती पर बो रही है जिनसे भविष्य में एक अभूतपूर्व विकसित संस्कृत मानवचेतना की मनहर्नी किरणें अंकुरित एवं प्रस्फुटित होकर इस पृथ्वी को, निःसन्देह, मनुष्यों के रहने योग्य जीवन-धात्री के रूप में आलोकित एवं सुसंगठित कर सकेंगी—और आज के नैराश्य, विषाद, अनास्था, सन्देह, प्रतिस्पर्धा तथा प्रतिद्वन्द्विता के युग में मानव-जीवन में बहिरन्तर एकता प्रतिष्ठित करने का यह अमूल्य श्रेय आज

के मानवतावाद की शिखा वहन करनेवाले विश्व साहित्य ही को होगा—जिसकी प्रशान्त गम्भीर मुखर प्रतिध्वनियाँ प्रत्येक देश में अनुगुंजित होकर मानव-चेतना में व्याप्त होकर उसे नवीन आशा, उल्लास तथा सौन्दर्य से अनुप्राणित कर सकी हैं।

मान्यताएँ बदल रही हैं

एक ओर जब साहित्य में रूप-विधान बदलने लगता है—जिसके अन्तर्गत विधा, शैली, शब्दचयन, सौन्दर्य-बोध, अभिव्यंजना के प्रकार आदि आते हैं— तब उसके साथ-साथ भाव-बोध, रस-बोध, अर्थ-संकेत एवं मान्यताओं में भी अनिवार्यतः बदलाव आने लगता है और दूसरी ओर अन्तर्मन अथवा चेतना का नवीन स्फुरण अथवा विकास कला एवं अभिव्यक्ति के रूप को भी अपने-आप बदल देता है। साहित्य के रूप तथा उसकी आत्मा का सदैव से ऐसा ही अभिन्न तथा परस्परपूरक सम्बन्ध रहा है। साहित्य मूलतः न अरूप मान्यताओं के ही बल पर चल सकता है और न कोरे कला-इंगित के बल पर ही। उसकी पूर्णता तथा परिपक्वता के लिए दोनों का तादात्म्य अनिवार्य सत्य है।

दूसरा यह कि साहित्यिक मान्यताएँ अपने-आप ही किसी काल्पनिक कारण से नहीं बदला करती हैं या आसमान से नहीं टपकती हैं। उनका घनिष्ठ सम्बन्ध मानव-जगत् की ऐतिहासिक, सामाजिक तथा मानसिक स्थितियों तथा आन्दोलनों से होता है। अतएव जिस युग में मानव-समाज में सांस्कृतिक वैचारिक तथा जीवन-पद्धतियों से सम्बन्ध रखनेवाले परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगते हैं उस युग के साहित्य में भी उसका प्रतिबिम्ब दिखायी देने लगता है। यदि जन-समाज प्रबुद्ध तथा जाग्रत् हो तो ये परिवर्तन पहली जीवन-प्रणालियों तथा जीवन के प्रति दृष्टिकोणों अथवा जीवन-दर्शन में भी प्रकट हो सकते हैं अन्यथा ये युगद्रष्टा साहित्य-मनीषियों की वाणी के रूप में अभिव्यक्त होकर जन-समाज का ध्यान आकर्षित करते हैं।

यदि ऊपर कहे गये दो सिद्धान्तों की दृष्टि से हम आज के युग-जीवन तथा साहित्य पर विचार करें तो हम उन सिद्धान्तों के सत्य को अधिक स्पष्टता से समझ सकेंगे। हिन्दी साहित्य में नयी चेतना के संवेदन हमें भारतेन्दु-युग से मिलते हैं जिसका मुख्य कारण राष्ट्रीय जागरण की भावना रही है। भारतेन्दु-साहित्य में मध्ययुगीन भावना तथा विधा की पुनरुक्ति के साथ ही भारत की दुर्दशा तथा राष्ट्रीय जागरण की उद्भावना का भी कीर्तन मिलता है। उस युग के पद्य की रूप-योजना में भले ही विशेष परिवर्तन के चिह्न न दिखायी देते हों, किन्तु गद्य के रूप में तब खड़ी बोली अपने पैरों पर खड़े होने का प्रयत्न करने लगी थी। राष्ट्रीय जागरण की भावना के विकास के साथ ही खड़ी बोली का सर्वांगीण अभ्युदय हमें सर्वप्रथम द्विवेदी-युग में देखने को मिलता है। जिसमें एक ओर पद्य के रूप में नवीन छन्दों, शब्द-योजनाओं, शैलियों तथा

विधाओं का विकास हुआ, दूसरी ओर कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि के रूप में हमें सुगठित गद्य का रूप देखने को मिलता है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हमारे देश में स्वतन्त्रता की भावना ने जिस प्रकार बल पकड़ा हमारे सामाजिक जीवन तथा साहित्यिक मान्यताओं एवं विधाओं में भी तदनुरूप परिवर्तन हुआ है। 'भारत दुर्दशा' के करुण स्वर 'भारत भारती' के उद्बोधन तथा आह्वान के स्वरों में बदल गये। कविता के चरण रीतिकालीन शृंखलाओं से मुक्त हो गये। इतिवृत्तात्मक होने पर भी नया काव्य देश के नये जागरण की सशक्त वाणी बन गया। 'सेवासदन,' 'प्रेमाश्रम' जैसे उपन्यासों तथा अनेक कहानियों में सामाजिक चेतना हिलोरें लेने लगी।

द्विवेदीयुगीन भारतीय जागरण के काव्य के रूप-विधान में प्राचीन काव्यशास्त्र की परम्पराओं के अन्तर्गत ही परिवर्तन के चिह्न परिलक्षित होते हैं। हमारी साहित्यिक मान्यताओं तथा रूप-शिल्प का द्वितीय चरण छायावाद के युग से आरम्भ होता है जिसमें पहली बार साहित्य में पाश्चात्य साहित्य का व्यापक प्रभाव तथा नवीन विधाएँ मूर्त रूप में पुष्पित-पल्लवित दिखायी पडती हैं। यह प्रभाव अंशतः बँगला साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप और काव्य-साहित्य मे विशेषतः रवीन्द्रनाथ के प्रभाव के फलस्वरूप दृष्टिगोचर होता है, किन्तु छायावाद के नये प्रभाव मुख्यतः अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन-मनन के परिणामस्वरूप ही हिन्दी में पहली बार आये हैं। जहाँ रूपविधान, कलाशिल्प तथा सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से हमे इस युग में, बँगला तथा अग्रेजी का प्रभाव अधिक मिलता है वहाँ भावना, चेतना तथा मान्यताओं की दृष्टि से छायावाद-युग पौराणिक रूढिवादी विचारधाराओं तथा आदर्शों का उल्लंघन एवं अतिक्रम कर उपनिषदों के दर्शन के पुनर्जागरण की प्रकाश-भूमि मे प्रवेश करता दिखलायी देता है। भारतीय औपनिषदिक चेतना के साथ पश्चिम के जीवन-सौन्दर्य का सर्वप्रथम समन्वय हमें बँगला साहित्य तथा विशेषतः रवीन्द्र के काव्य मे मिलता है। इस युग के हिन्दी गद्य साहित्य में जहाँ राजनीतिक तथा सामाजिक चेतना को अनेक रूपों मे, अनेक शैलियों तथा विधाओं द्वारा वाणी मिली है, वहाँ इस युग के पद्य में नवीन उन्मेषों, नवीन उद्भावनाओं तथा मूल्यों का आविर्भाव हुआ है। छायावादी काव्य ने खडी बोली का परिमार्जन कर उसे माधुर्य, ओज तथा अभिव्यंजना की क्षमता प्रदान की। उसने जीवन के प्रति नवीन उल्लास, नवीन आशा, आस्था तथा नवीन सौन्दर्य का दृष्टिकोण दिया तथा अनेक नवीन छन्दों, शैलियों और विधाओं से हिन्दी साहित्य को उर्वर किया। मध्ययुग से प्रभावित द्विवेदीकाल की संकीर्ण रूढि-जर्जर परम्पराओं के बन्धनों से मुक्त होकर छायावाद ने वस्तुजगत् की सीमाओं को भावनाओं की उड़ान से लाँघकर एक नवीन आत्मिक स्वातन्त्र्य के बोध तथा वैयक्तिक सुख-दुःख, आशा-नैराश्य की भावनाओं के माधुर्य की आढ्यता से जन-समाज के लिए नवीन भावभूमि प्रस्तुत की। देश की स्वतन्त्रता के स्वरों के साथ ही मानव-मन को एक व्यापक सांस्कृतिक सौन्दर्य तथा विश्वभावना से मण्डित करने के प्रयत्न छायावाद में मिलते हैं। हमारे देश एवं समाज में ऐहिक सामाजिक जीवन के प्रति निषेध तथा असहयोग की भावना जो

मध्ययुगों से आकाश-बेलि की तरह व्याप्त हो गयी थी, उसे छायावाद युग ने अपने आशा-उल्लास के स्वरों से और प्राणिक ऐश्वर्य एवं सौन्दर्य के चित्रण तथा विश्वजीवन एवं भू-जीवन के प्रति एक गहरी सशक्त आस्था एवं अनुराग की भावना के प्रवाह से सदैव के लिए निमज्जित तथा उन्मूलित करने का प्रयत्न किया। इसके उपरान्त हिन्दी साहित्य में प्रगतिशील चिन्तन तथा सृजन-उन्मेष के युग का आरम्भ होता है। यह युग मान्यताओं की दृष्टि से छायावादी आदर्श-प्रधान सौन्दर्यमुखी भावनाओं को मूर्तता तथा वास्तविकता प्रदान कर उन्हें धरती के अधिक निकट ले आता है। इस युग के साहित्य में मुख्य प्रभाव ऐतिहासिक दर्शन के सिद्धान्तों का परिलक्षित होता है। प्राणिशास्त्रीय मनोवैज्ञानिक विचारों की भी एक सशक्त जीवन-उर्वर धारा इस युग के साहित्य में प्रवाहित दिखायी देती है। पर मुख्य प्रभाव भौतिक-आर्थिक मूल्यों, सामूहिक जीवन-सम्बन्धी प्रणालियों के संघर्ष का ही इस युग में हमें मिलता है। प्रगतिशील साहित्य ने हमारी व्यक्तिमुखी मध्ययुगीन आत्मरत धारणा को व्यापक ठोस सामाजिक धरातल प्रदान करने का प्रयत्न किया। इस युग ने हमारा ध्यान मध्यवर्ग के जीवन-स्वप्नों की संकीर्ण परिधि से बाहर खींचकर उसे विस्तृत लोक-जीवन की ओर आकर्षित किया, जहाँ अशिक्षा, दैन्य, अन्धकार, शोषण तथा दासता का निकृष्टतम रूप मिलता है और हमारी मानवीय भावना को कठोर आघात पहुँचता है। इस युग की भाषा सशक्त, भावना मुखर तथा शिल्प सामन्तकालीन सुन्दर की सीमाओं को लाँघकर युगीन जीवन की कुरूप वास्तविकता को अंकित करने में व्यस्त रहा है। प्रगतिशील युग मान्यताओं तथा रूपविधान की दृष्टि से विचारसंघर्ष, उथल-पुथल, आलोचन-विवेचन तथा नवीन यथार्थ के उद्घाटन का युग रहा है। यह द्वितीय विश्वयुद्ध तथा भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम का सर्वाधिक संघर्षशील एवं उत्तेजनशील काल रहा है।

रूसी क्रान्ति तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पश्चिमी सभ्यता तथा संस्कृति में जो ह्रास तथा विघटन के लक्षण प्रकट हुए तथा स्वराज्य मिलने के बाद भारत में जो निर्माण की समस्याओं का उदय हुआ और मध्ययुगीन जीवन मान्यताओं के विघटन-स्वरूप अनेक विकृतियों, शंकाओं, अनास्थाओं, विपर्ययों, मतभेदों, कष्टों, कुण्ठाओं की आँधियों के साथ ही व्यक्तिगत सुख-दुखों, आशा-निराशाओं, नवीन क्षीण आस्थाओं के उदयों, वैयक्तिक चेतना के द्वन्द्वों के आविर्भावों ने साहित्य में जिस नवीन प्रयोगों के युग को जन्म दिया वह अभी अपनी विभिन्न प्रवृत्तियों, रुचियों, विचारों, सिद्धान्तों से जूझता हुआ, भीतर-बाहर के जीवन-संघर्ष से अनेकमुखी अनुभूतियों, संवेदनाओं, पूर्वाग्रहों, सौन्दर्य की झलकियों, जिज्ञासाओं एवं समाधानों को समेटता हुआ आधुनिकता तथा नवीनता की ओर स्वच्छन्द वेग से बढ़ता, अपने पथ की बाधाओं को उद्दण्डता के साथ तोड़ता-मरोड़ता हुआ, अभी रूप ही ग्रहण कर रहा है। इसके सम्मुख एक ओर युग-संघर्ष से टूटे हुए लघुमानव का व्यक्तिगत प्रश्न है, एक ओर गम्भीर अन्तरतम में जन्म ले रहे नये मानव का, एक ओर पृथ्वी की ओर-छोर में फैलती हुई नवीन मानवता की भावना का, एक ओर पुरानी आस्थाओं, विचाररूढ़ियों तथा जीवन-प्रणालियों से जूझने तथा उनसे

सारतत्व लेकर नवीन वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन निर्माण करने का प्रश्न है और साथ ही उसके सम्मुख युगजीवन, संघर्ष के धूल-धुन्ध तथा मनोजीवन के संघर्ष के गहरे घने कुहासे तथा धुएँ के अन्तराल से निकलती, निखरती, रूप धारण करती हुई अनचीन्ही प्रेरणाओं, प्रवृत्तियों, भावनाओं, अनुभूतियों आदि को परखने, उन्हें नयी अभिव्यक्ति के माध्यमों से वाणी देने, सँजोने तथा अपने युग के जन-साधारण के लिए उपलब्ध करने का प्रश्न है। निःसन्देह आज बाहर का विश्व, जीवन तथा सामाजिक परिस्थितियाँ बदल रही है, भीतर का व्यक्ति तथा अन्तश्चेतन मानव बदल रहा है और साथ ही बाहर-भीतर के संघर्ष तथा सहयोग की उपलब्धि-स्वरूप साहित्य में रूप तथा भाव-गत मान्यताएँ भी बदल रही हैं।

हिन्दी-काव्य-विधा में परिवर्तन

परिवर्तन जगत् जीवन का एक महत्त्वपूर्ण नियम है, स्वयं जगत् शब्द संस्कृत की गम् धातु से बना है जिसका अर्थ ही चलना या जाना होता है। अतः हिन्दी-काव्य-विधा में भी परिवर्तन के लक्षण दृष्टिगोचर होते है तो यह स्वाभाविक होने के साथ उसके स्वास्थ्य तथा विकास ही का परिचायक माना जाना चाहिए।

हमारा युग महान् संक्रान्ति का युग है। इसमे हमारे देश ही में नही समस्त विश्व में लोगों के सांस्कृतिक-नैतिक मूल्यो में, कला एवं सौन्दर्य-बोध के मूल्यों मे तथा साधारण जीवन-पद्धति मे अनेक स्तरों पर अनेक प्रकार के परिवर्तन अविराम रूप से दृष्टिगत होते जा रहे हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि विज्ञान ने मनुष्य को आज भौतिक जगत् के सम्बन्ध मे असाधारण क्षमता दे दी है। मनुष्य के वैज्ञानिक प्रयत्नों के कारण देश-काल की दूरी अब हस्तामलकवत् हो गयी है। मनुष्य चन्द्रलोक मे भी पहुँच गया है जिस सबके कारण धरती के प्रायः समस्त देशों के लोगों का परस्पर का समागम अत्यन्त सहज तथा सुविधाजनक हो गया है और इस मानव-संगम के कारण विभिन्न देशो के आचार-विचार, नैतिक-बौद्धिक दृष्टिकोण, सौन्दर्य-सम्बन्धी मूल्य तथा जीवन-प्रणाली के रूप एक-दूसरे के घनिष्ठ सम्पर्क मे आ सकने के कारण उनमें एक प्रकार की टकराहट, संश्लेषण-विश्लेषण की प्रक्रियाएँ चल रही है और चूँकि जीवन का साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है इसलिए साहित्य-सम्बन्धी मूल्यों तथा विधाओ मे भी यह क्रम देखने को मिलता है।

हमारे देश के साहित्य में, जिसकी कि काव्य एक प्रमुख विधा है, इस परिवर्तन का आना और भी अनिवार्य इसलिए हो गया है कि हमारा देश सदियों के बाद अब स्वतन्त्र हो सका है। उसके विशाल जीवन के सभी क्षेत्रों में —चाहे वह राजनीतिक हो या आर्थिक, सामाजिक हो या साहित्यिक अथवा सांस्कृतिक —उनमें निरन्तर प्रगति, विकास तथा परिवर्तन के स्पष्ट चिह्न दृष्टि-गोचर हो रहे हैं।

हिन्दी-काव्य साहित्य पर हम दृष्टि डालें तो हमें भारतेन्दु-युग से ही यदि शैली में नहीं तो भाषा में और उससे भी अधिक भाव-जगत् में असन्दिग्ध रूप से परिवर्तन का चक्र चलता हुआ दिखायी देता है। भारतेन्दु जी का हिन्दी, उर्दू, बँगला, गुजराती, मराठी तथा अंग्रेजी साहित्य से परिचय था। नाटक, निबन्ध आदि लिखने के साथ ही काव्य-विधा को भी उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। उनके काव्य में 'हा हा, भारत दुर्दशा न देखी जाई' या 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' जैसे सामाजिक तथा स्वाधीनता-सम्बन्धी भावों का दिग्दर्शन मिलता है।

किन्तु गद्य के निखार तथा खड़ी बोली के काव्य को दृष्टि में रखते हुए भाव तथा भाषा में आधुनिक परिवर्तनों के समारम्भ एवं विकास का युग द्विवेदी-युग से ही मैं मानता हूँ। द्विवेदी-युग में श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय तथा मैथिलीशरण गुप्त आदि जैसे श्रेष्ठ प्रतिभासम्पन्न कवियों ने हिन्दी-काव्य के कलेवर को ही नवीन सौन्दर्य, शैली, कलाशिल्पबोध आदि प्रदान नहीं किया, भाव-बोध तथा विचारों की उदात्तता एवं सामयिकता की दृष्टि से भी इस युग के अन्य कवियों के साथ उन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम-सम्बन्धी भावना तथा विचारों के संघर्ष को अपने काव्य-पट में सशक्त अभिव्यक्ति दी। मैथिली बाबू की 'भारत भारती' उस युग के लिए एक नवीन वस्तु थी जो अत्यन्त लोकप्रिय हुई। वह युग वास्तव में भारतीय पुनर्जागरण का युग था। स्वामी दयानन्द, श्री रामकृष्ण परमहंस देव, विवेकानन्द आदि जैसे महर्षियों तथा द्रष्टाओं के आविर्भाव के कारण उस युग का वातावरण भारतीय आदर्शों, नये विचारों तथा उदात्त जीवन की कल्पना से विद्युतगर्भित-सा हो गया था और उनके प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव में आकर द्विवेदीकालीन अनेक कवियों ने हिन्दी-काव्य विधा को नयी शैली, नये अलंकारों तथा नयी भाव-सम्पदा से उर्वर एवं सम्पन्न बनाया। सनेहीजी, रामनरेश त्रिपाठी, हितैषी आदि अनेक श्रेष्ठ कवियों ने प्रेरणाप्रद राष्ट्रीय काव्य की रचना की। मैथिली बाबू ने 'साकेत,' 'यशोधरा' आदि जैसे महान काव्यों की सृष्टि कर पुनर्जागरण के मूल्यों को तो वाणी दी ही है, उनका राष्ट्रीय स्वर भी हृदयग्राही रहा और 'भारत भारती' के अतिरिक्त उनका स्फुट काव्य-झंकार आदि भी राष्ट्रीय स्वरों से गुंजरित है। मैथिली बाबू का पुष्कल सृजन रहा।

द्विवेदी-युग के बाद हिन्दी साहित्य में छायावाद का सौन्दर्य-प्रधान युग आता है। इस युग के, काव्य-क्षेत्र में प्रवेश करने के पहले, बंगाल में कवीन्द्र रवीन्द्र की विराट् वाणी देश तथा विश्व के कोने-कोने में व्याप्त हो चुकी थी। बँगला साहित्य का अध्ययन द्विवेदी-युग से ही प्रारम्भ हो गया था, स्वयं मैथिली बाबू ने 'मेघनाद-वध' आदि बँगला-काव्यों का अनुवाद प्रस्तुत किया। इस युग में उन्नीसवीं सदी के अंग्रेजी कवियों के काव्य-मूल्यों तथा सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से भी छायावाद-युग को प्रचुर मात्रा में प्रेरणा मिली। कवीन्द्र-रवीन्द्र ने भी अंग्रेजी कवियों से प्रेरणा ग्रहण की थी। इस प्रकार छायावादी काव्य ने पूर्वी-पश्चिमी क्षितिजों में प्रलम्बित एक चमत्कृत सौन्दर्य-भावना के इन्द्रधनुषी सेतु की तरह व्याप्त होकर हिन्दी-काव्य-विधा की जो श्रीवृद्धि की उसका मूल्य अभी नहीं आँका जा सकता। छन्दों, अलंकारों, कलाशिल्प के प्रयोगों, कल्पना की

दिगन्तचुम्बी उड़ानों तथा सूक्ष्म सौन्दर्य-भावना की आलोक-किरणों के कारण इस युग ने हिन्दी-काव्य को विश्व-काव्य-सौष्ठव के धरातल पर उठा दिया। प्रसादजी, जो इस युग के प्रवर्तक भी माने जाते हैं—उनकी 'कामायनी' युग की सर्वश्रेष्ठ तथा वरेण्य कृति है। उस युग में अंग्रेजी साहित्य में भी ऐसी विराट् उदात्त कल्पना तथा हृदयस्पर्शी कला-बोध की सृष्टि देखने को नहीं मिलती। प्रसादजी के अतिरिक्त सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने इस युग के काव्य को अप्रतिम शक्ति प्रदान की। भारतीय दृष्टिबोध के सुज्ञ सशक्त कवियों मे निरालाजी का नाम भी साहित्य के इतिहास मे अमर रहेगा। इन दोनों महान् कवियों के अतिरिक्त श्रीमती महादेवी वर्माजी ने अनुभूति की वेदना से द्रवित सुवर्ण कोमल भावना-मयी गीति-काव्य की अद्वितीय सर्जना की जिसमे इस युग की काव्य-विधा अनेक प्रकार की विविधता, बौद्धिक दृष्टि भाव-मूल्य तथा कला-सौन्दर्य मे सम्पन्न हो सकी। डा० रामकुमार वर्मा के 'एकलव्य' तथा 'उत्तरायण' जैसे प्रबन्ध-काव्यों का महत्त्व भी नहीं भुलाया जा सकता।

छायावाद के बाद प्रगतिवाद का लोक-जीवन-स्पर्शी युग हिन्दी-काव्य-विधा को आक्रान्त करता है। इस युग में एकाधिक प्रसिद्ध कवियों—जिनमे नवीनजी, दिनकरजी, नरेन्द्र, सुमन, केदार, नागार्जुन आदि अनेक छायावादोत्तर कवि आते है, उनके उद्गार राष्ट्रीय भावना के अतिरिक्त जन-भावना से भी ओत-प्रोत रहे हैं। मुक्त छन्दों की विधा तो निरालाजी ही दे चुके थे। प्रगतिशील कवियों ने उस विधा को अधिक वैचित्र्य, चमत्कार, छन्द-वैविध्य आदि प्रदान कर छायावाद के मांसल सौन्दर्यपूर्ण काव्य को यथार्थ की जीवन्त हड्डियों का सशक्त ढाँचा देकर उसे हरी-भरी पृथ्वी पर खड़ा किया तथा उसके हाथ में यन्त्र-युग के जीवन-संघर्ष तथा निर्माण का द्योतक जीवन-अरुणोदय का रक्त-ध्वज देकर उसे दिग्व्यापी लोक-संघर्ष का प्रतीक प्रदान किया।

प्रगतिवाद ने सामाजिक अथवा सामूहिक जीवन की प्रेरणा को प्रधानता दी थी, उसमें व्यक्ति का स्थान नगण्य-भर रह गया था। इसकी प्रतिक्रिया मे हिन्दी में प्रयोगवाद के नये युग का आगमन होता है। प्रयोगवादी कविता मुख्यतः व्यक्तिपरक आत्मस्थ कविता रही। उस युग की पृष्ठभूमि में फ्रायड, युंग, आदि प्राणिशास्त्रीय मनोवैज्ञानिकों के चिन्तन तथा विचारधारा का गहरा प्रभाव रहा। दो विश्वयुद्धों के कारण पश्चिमी संस्कृति में ह्रास तथा विघटन के चिह्न उदय हो गये थे और वैयक्तिक जीवन-सचरण तथा बौद्धिक चिन्तन को प्रधानता दी जाने लगी थी। इलियट आदि जैसे कवियों को मान्यता मिलने लगी थी। भारत के जीवन में भी स्वतन्त्रता के युद्ध के बाद विघटन के चिह्न प्रकट होने लगे थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद और भी ह्रास, संशय, सन्त्रास, मृत्यु-भय आदि के चिह्न पश्चिमी जगत् में उदय होते रहे। हिन्दी का प्रयोगवादी काव्य तथा नयी कविता इसी पृष्ठभूमि में जन्म लेती है। 'तारसप्तक' के कवियों में इस काव्य-विधा का सर्वप्रथम संकलन देखने को मिलता है। इस युग के प्रवर्तक अज्ञेय माने जाते हैं और इसकी विशाल परिधि में हिन्दी के अनेकानेक प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध कविगण आते हैं जिनमें मुख्य हैं—गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, अजितकुमार,

कीर्ति चौधरी तथा बीसियों अन्य कवि जिन्होंने अपने नवीन कृतित्व से हिन्दी-काव्य-विधा को नयी दिशा दी। इनमें गिरिरजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती तथा सर्वेश्वरदयाल आदि की देन अधिक कलापूर्ण, भाव-सौन्दर्य-प्रधान तथा आत्माभिव्यक्तिपूर्ण है। इस पीढ़ी के प्रायः सभी कवि अस्तित्ववाद के मूल्यों से प्रभावित हुए हैं। कला-वैचित्र्य इनका विशिष्ट संस्कार है। जिस प्रकार प्रगतिवादी काव्य वस्तुपरक हो गया था, नवीन कविता व्यक्तिबोधपरक तथा अस्तित्व-मूलक हो गयी। प्रयोगवादी कविता भी आगे चलकर अनेक धाराओं में विकीर्ण हो गयी है। पर इन धाराओं में किसी प्रकार का काव्य-वैशिष्ट्य या चमत्कार नहीं पाया जाता। रूमानियत के विरोध में यह धारा गद्य-प्रधान तथा कहीं-कहीं रुक्ष हो गयी है। प्रगतिवाद में एक सामूहिक विद्रोह की भावना मिलती है। इस नवीनतम विधा में वैयक्तिक विद्रोह तथा सांस्कृतिक मूल्यों के सम्बन्ध मे अस्वीकृति पायी जाती है। संक्षेप में यही हिन्दी-काव्य-विधा में परिवर्तन की मुख्य दिशाएँ हैं।

नयी काव्य-चेतना का संघर्ष

नयी कविता का आरम्भ मेरी समझ मे छन्द, भाव-बोध आदि सभी दृष्टियों से छायावाद-युग से होता है। नयी काव्य-चेतना के संघर्ष के अन्तर्गत मै काव्य की उन बहुमुखी प्रवृत्तियों के बारे में आपसे कहना चाहूँगा जो आज कविता मे पायी जाती है। इस युग मे हमारे बाह्य जीवन के क्षेत्र—राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति—आदि में जिस प्रकार स्थूल संघर्ष देखने को मिलता है उसी प्रकार भावप्रवण कवि, कृतिकार अथवा कलाकार की चेतना में भी सूक्ष्म संघर्ष चल रहा है। यह संघर्ष मुख्यतः नवनिर्माण का संघर्ष है और गौण रूप से विगत जीवन-मन के अभ्यासों तथा वर्तमान परिस्थितियों तथा परम्परागत मानव-मूल्यों को बदलने का भी संघर्ष है।

काव्य मे भी यह संघर्ष बाहर-भीतर दोनों ओर चल रहा है: बाहर छन्द, रूप विधान, शैली आदि के सम्बन्ध में और भीतर भाव-बोध, मूल्य, रस आदि के सम्बन्ध में। पहिले मैं रूपविधान तथा सज्जा के बारे मे कहूँगा। हिन्दी-कविता के बाह्य रूप मे छायावाद-युग से विशेष परिवर्तन आने लगा। छायावाद ने हिन्दी छन्दो की प्रचलित प्रणाली को आमूल बदल दिया। आमूल शब्द का प्रयोग इसलिए कर रहा हूँ कि छायावाद ने छन्द में मात्राओं से अधिक महत्त्व स्वर के प्रसार को दिया—इस बात की ओर लोगों का कम ध्यान गया है। छायावादी कवियों को पिंगल का अच्छा ज्ञान रहा है। उन्होंने कई प्रचलित छन्दों को अपनाते हुए भी उनके पिटेपिटाये यति-गति में बँधे रूप को स्वीकार न कर उनमें प्रस्तार की दृष्टि से अनेक नये प्रयोग कर दिखाये। स्वर-संगति के उनकी कविता में अद्भुत चमत्कार मिलते हैं। इन कारणों से छन्द उनके हाथों से बिलकुल नये होकर निखरे। वैसे एक ही रचना में कम-अधिक मात्राओं

की पंक्तियों का उपयोग कर उन्होंने गति तथा लय-वैचित्र्य की सृष्टि तो की ही—जिसको आज नये सिद्ध कवि भी महत्त्व देते हैं। पर इससे भी अधिक छन्द सृष्टि को उनकी देन रही है प्रस्तार और स्वर संगीत सम्बन्धी वैचित्र्य की। मात्रिक तथा लय छन्दों के अतिरिक्त छायावाद-युग में आलापोचित, अक्षर मात्रिक मुक्त छन्दों का भी बहुतायत से प्रयोग हुआ है। नवीनतम कविता में मुक्तछन्दों में प्रायः अधिक बिखराव आ जाने के कारण वे गद्यवत् तथा विशृंखल लगते हैं। छन्दों के अतिरिक्त छायावाद युग में अलंकरण सम्बन्धी रूढ़िगत दृष्टिकोण में भी बड़ा परिवर्तन उपस्थित हुआ। उपमा, रूपक आदि के रहते हुए भी उनकी रीतिकालीन एकस्वरता तथा द्विवेदी युगीन समरगता में नवीन सौन्दर्य के लक्षण प्रकट हुए। और शब्दालंकार केवल प्रसाधन तथा सामंजस्य द्योतक उपकरण मात्र न रहकर भावों की अभिव्यक्ति में घुल-मिलकर उसका अनिवार्य अंग बन गये तथा अधिक मार्मिक एवं परिपूर्ण होकर नवीन सौन्दर्य के प्रतीक बन गये।

छायावादी युग में भाषा अर्थात् खड़ी बोली पहिली बार काव्योचित रूप ग्रहण कर सकी, और सौन्दर्यबोध—जो कि रूप-विधान और भाव-बोध दोनों का प्रतिनिधित्व करता है—वह तो जैसे छायावादी युग की सर्वोपरि देन है, जिसने हमारे रूढ़ि रीतियों के ढाँचे में बँधे हुए इति-वृत्तात्मक जीवन के विवर्ण मुख से विषाद की निष्प्रभ छाया उठाकर उस पर नवीन मोहिनी डाल दी। यह सब यों ही नहीं हो गया। इसके लिए उस युग के कलाकारों को एक प्रकार से अश्रान्त संघर्ष करना पड़ा। उस युग के कृतिमानस का संघर्ष कितना उग्र रहा, इसका अनुभव उस युग के कृतिकारों के जीवन पर दृष्टि डालने से सरलतापूर्वक लगाया जा सकता है। छायावादी काव्य-चेतना का संघर्ष मुख्यतः मध्ययुगीन निर्मम निर्जीव परिपाटियों से था जो कुत्सित घिनौनी काई की तरह युगमानस के दर्पण पर छायी हुई थी और क्षुद्र जटिल नैतिकताओं एवं साम्प्रदायिकताओं के रूप में आकाशलता की तरह लिपटकर मन में आतंक जमाये हुए थीं। दूसरा संघर्ष छायावादी चेतना का था उपनिषदों के दर्शन के पुनर्जागरण के युग में उनका ठीक-ठीक अभिप्राय समझने का। ब्रह्म, आत्मा, प्राण, विद्या, अविद्या, शाश्वत, अनन्त क्षर, अक्षर, सत्य आदि मूल्यों और प्रतीकों का अर्थ समझकर उन्हें युगजीवन का उपयोगी अंग बनाना और पश्चिम के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उनके ऊपरी विरोधों को यथोचित रूप से सुलझा-कर उनमें सामंजस्य बिठाना—ये सब अत्यन्त गम्भीर तथा आवश्यक समस्याएँ थीं जिनके भूलभुलैये से बाहर निकलकर, कृतिकार को मुक्त रूप से सृजन कर, सदियों से निष्क्रिय, विपण्ण तथा जीवन विमुख लोक मानस को नवीन आशा, सौन्दर्य, जीवन-प्रेम, श्रद्धा, आस्था आदि का भाव-काव्य देकर उसमें नया जीवन फूंकना था। बंगाल में यह कार्य सर्व-प्रथम, निःसन्देह, कवीन्द्र रवीन्द्र की प्रतिभा ने किया, जिसका प्रभाव कम-अधिक मात्रा में भारत के इतर प्रादेशिक साहित्यों पर भी पड़ा। कवीन्द्र के युग से आज का युग बहुत बदल गया है और आगे भी बढ़ गया है। आज केवल व्यापक आदर्शों के ज्ञान से ही काम नहीं चल सकता, आज के कवि मानस को अधिक गहरे विश्लेषणों एवं सूक्ष्म विवरणों की आवश्यकता

हैं जिन्हें वह जीवन की वास्तविकता में परिणत कर सके। कवीन्द्र का मानसजीवी युग अब अधिक यथार्थवादी हो गया है, जिस पर आगे प्रकाश डाल सकूंगा।

छायावाद-युग में ऊपर कहे गये मूल्यगत संघर्ष के साथ ही स्वाधीनता-संग्राम का बाह्य-संघर्ष भी अविराम रूप से चल रहा था। राष्ट्रभावना से प्रेरणा पाकर अनेक कवियों ने उस युग की काव्य-चेतना को देशप्रेम की वास्तविकता प्रदान की,—सौन्दर्य और भावप्रधान काव्य में शक्ति का भी संचार होने लगा। वह जीवन के अधिक निकट प्रतीत होने लगा। छायावाद मुख्यतः प्रेरणा का काव्य रहा और इसीलिए वह कल्पना-प्रधान भी रहा। वह भीतर की वास्तविकता से उलझा रहा। उसने व्यक्तिगत मानव-भावनाओं को वाणी न देकर युग के व्यक्तित्व को, व्यापक मनुष्यत्व को वाणी देने का प्रयत्न किया। किन्तु मानव-भावनाओं तथा विरह, मिलन, प्रेम, घृणा आदि की वास्तविकताओं को भी तब कुछ कवियों ने अपनी कविताओं का विषय बनाया। उनके वैयक्तिक संघर्ष ने युग की काव्य-चेतना को वैचित्र्य प्रदान किया है।

राष्ट्रभावना के काव्य को आगे बढ़ाकर उस युग में प्रगतिवाद के नाम से एक और काव्य-चेतना का हिन्दी में विकास हुआ जो मुख्यतः सर्वहारा वर्ग के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली कविता थी, जिसमें मध्य-वर्ग के भावुक, युग चेतन कवियों ने शोषक-शोषित वर्ग के जीवन को अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया। इस प्रवृत्ति ने छन्द-विधान में कोई विशेष नये प्रयोग नहीं किये। छायावादी मुक्तछन्द को ही प्रायः अपना लिया। परिमाण जनित संचरण की दृष्टि से जहाँ प्रगतिवाद व्यक्ति के हृदय-कमण्डलु से बाहर निकलकर सामाजिक धरातल पर प्रवाहित होने लगा और लोक-जीवन के सुख-दुःख को सम्मुख रखकर दलितवर्ग के प्रति ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न करने लगा वहाँ गुणात्मक दृष्टि से उसमें काव्य-चेतना के ह्रास के चिह्न प्रकट होने लगे। सौन्दर्यबोध, रस, माधुर्य, भाव-गाम्भीर्य, मर्मस्पर्शिता आदि सभी दृष्टियों से प्रगतिवादी काव्य धीरे-धीरे अधिकतर, दलगत राजनीतिक प्रचार की ओर अग्रसर होकर अपनी काव्यगत विशेषताओं की रक्षा नहीं कर सका। फिर भी इसमें यत्किंचित् मात्रा में अच्छी कविता भी मिलती है।

छायावादी काव्य की विशेषता एक प्रकार से अर्थ और शब्द, भाव-बोध और रूप-विधान के सौन्दर्य सामंजस्य में रही। विशिष्ट भावबोध के साथ उसने सुन्दर रूपयोजना भी दी। प्रगतिवादी काव्य ने रूप-सौन्दर्य की उपेक्षा कर मात्र भाव तथा विचार-पक्ष को महत्त्व देना ठीक समझा। उसका भाव-पक्ष रस या काव्य-सौन्दर्य का प्रेरक न रहकर मात्र जीवनोपयोगी विचार-उपकरण बनकर रह गया। प्रगतिवाद के विकास को कुण्ठित करने में मुख्यतः उसके आलोचकों का हाथ रहा। जिन्हें काव्य के सूक्ष्मतत्वों का ज्ञान स्वल्प और राजनीतिक प्रचार की महत्त्वाकांक्षा अधिक रही।

हिन्दी काव्य में आज जो प्रयोगवाद एवं नयी कविता का युग कहलाने लगा है वह कुछ तो प्रगतिवादी काव्य की रूक्षता या शुष्कता की प्रति-क्रिया के फलस्वरूप और कुछ नयी काव्यधारा के रूप में भी 'कला के

लिए कला' वाले सौन्दर्यवादी सिद्धान्त को, ज्ञात-अज्ञात रूप से अपनाने लगा है। इस समय उसका सर्वाधिक आग्रह रूपविधान तथा शैली के लिए प्रतीत होता है। भाव-पक्ष को वह वैयक्तिक निधि मानता है। उसकी सार्वजनिक, उपयोगिता, उदात्तता एवं गाम्भीर्य की ओर वह अधिक आकृष्ट नहीं। भावों एवं मान्यताओं की दृष्टि से नयी कविता अभी अपरिपक्व, अनुभवहीन तथा अपमूर्त है। वह अन्धकार में कुछ टटोल भर रही है। पर इस टटोलने में उसका उद्देश्य किसी प्रकार के सत्य की खोज नहीं। सत्य में उसकी आस्था नहीं—प्रतिदिन के, क्षण के बदलते हुए यथार्थ ही मे है। वह टटोलने के ही भावुक तथा सुख-दुःख भरे प्रयत्न को अधिक महत्त्व देती है। उसी में उसके मानस में रस-संचार होता है, यह उसकी किशोर प्रवृत्ति है। भाव या वस्तु सत्य, जिसका मानव-जीवन-कल्याण के लिए उपयोग हो सके, उसे नहीं रुचता। वह उसकी काव्यगत मान्यताओं के भीतर समा भी नहीं सकता—यह तो साधारणीकरण की ओर बढ़ना होगा। उसे विशेषीकरण से मोह है। वह प्रतीकों, बिम्बों, विधाओं और शैलियों को जन्म दे रही है। वह अतिवैयक्तिक रुचियों की तथ्यमुक्त तथा आत्म-मुग्ध कविता है। आज जो एक सर्वदेशीय संस्कृति तथा विश्व-मानवता एवं नव मानवता का प्रश्न है उसकी ओर उसका रुझान नहीं। उसकी मानवता वैयक्तिक और कुछ अर्थों में अतिवैयक्तिक मानवता है। सामाजिक दृष्टि से वह समाजीकरण के विद्रोह में आत्मरक्षा तथा व्यक्तिगत अधिकारों के प्रति सचेष्ट मानवता है।

छन्दों की दृष्टि से नयी कविता ने कोई महत्त्वपूर्ण मौलिक प्रयोग नहीं किये। अधिकतर छन्दों का अंचल छोड़कर तथा शब्दलय को न सँभाल सकने के कारण अर्थलय अथवा भावलय की खोज में—जो छायावादी कविता में शब्दलय के अतिरिक्त अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखती रही है—वह लयहीन, स्वरसंगतिहीन और प्रायः गद्यबद्ध पंक्तियों को काव्य के लिबास में उपस्थित कर रही है, जो बहुधा भावाभिव्यक्ति करने में असमर्थ प्रतीत होती है। रूप और भाव-पक्ष की अपरिपक्वता के कारण अथवा तत्सम्बन्धी दुर्बलता को छिपाने के कारण वह शैलीगत शिल्प को ही अधिक महत्त्व देती है और व्यक्तिगत होने के कारण शैली एक ऐसी वस्तु है कि उसकी दुहाई देकर कृतिकार कुछ अंशों तक सदैव अपनी रक्षा कर सकता है।

नयी कविता या प्रयोगवादी काव्य का संचरण बहुमुखी, बहुरूपिया संचरण है: शाब्दिक-भाविक संगति के अभाव में काव्य-चेतना विभिन्न धाराओं में विकीर्ण हो गयी है। इसका कारण सम्भवतः एक यह भी हो कि सम्प्रति राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से विश्व-चेतना में 'धीरे चलो' का युग आ गया है, जो प्रचलित शब्दों में शीत युद्ध का युग कहा जाता है। विश्व-शक्तियों के विभाजन की जैसी स्थिति इस समय है उससे सह-अस्तित्व, पंचशील आदि जैसे सात्विक सिद्धान्तों के भीतर से ही प्रगति सम्भव है। ऐसे संयम के युग में मानसिक सन्तुलन बनाये रखने के लिए या तो अनुभूतिजन्य गाम्भीर्य की आवश्यकता होती है या धीरे-धीरे बढ़ने से जिस ऊब, खीझ, कुण्ठा तथा अनास्था का अनुभव होता

है वह भाव-प्रवण हृदयों में अवश्य ही अभिव्यक्ति पायेगी। वैयक्तिक-सामूहिक विचारधाराओं एवं जीवन-परिस्थितियों की विषमताओं के कारण भी आज जो स्थिति उत्पन्न हो गयी है उससे भी क्षणिकवाद, सम्प्रतिवाद, अस्तित्ववाद जैसी अनेक प्रकार की अनास्थापूर्ण भावनाओं तथा विचार-धाराओं का प्रभाव नयी काव्य-चेतना में पड़ा है जो मुख्यत: यूरोप के कुण्ठाग्रस्त मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की देन है।

इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी स्थिति सदैव नहीं रहेगी और नयी काव्य-चेतना यथासमय अधिक परिपक्व तथा विकसित रूप ग्रहण कर सामने आयेगी। आज की नयी कविता, अपनी वर्तमान स्थिति में भी, मध्य-युगीन नैतिक पूर्वग्रहों से मुक्त तथा वर्तमान युग-संघर्ष के प्रति जागरूक है। वह भविष्य में नवमानवतावाद का सशक्त, अन्त:स्पर्शी काव्य-गुण-सम्पन्न माध्यम बन सकेगी इसमें मुझे सन्देह नहीं। आज भी अनेक तरुण प्रतिभाशाली नये कवि हिन्दी काव्य-चेतना के समस्त विकास से अवगत, उसकी भावी गतिविधियों के प्रति जाग्रत्—अत्यन्त सफल कृतिकार है, जिनके स्वस्थ-सबल कन्धों पर भावी कविता की पालकी को आगे बढ़ता देखकर मन में प्रसन्नता होती है।

काव्य में सत्य

यदि हम काव्य अथवा कला की संक्षिप्त परिभाषा बनाना चाहें तो इतना कहना पर्याप्त होगा कि काव्य सत्यं शिवं सुन्दरम् की अभिव्यक्ति है। काव्य का सत्य सौन्दर्य के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। दूसरे शब्दों में कविता की आत्मा सौन्दर्य के पंखों में उड़कर ही सत्य के असीम छोर छूती है। सौन्दर्य-विहीन सत्य शुद्ध दर्शन हो सकता है तथा आनन्द-हीन शिवं नैतिक साधना अथवा आचार-मात्र हो सकता है, पर काव्य नहीं। सत्य के अस्थिपंजर में हृदय का स्पन्दन भरने के लिए, उसमें प्राणों की मधुर ऊष्णता तथा जीवन के रूपरंग संजोने के लिए, आनन्द का स्पर्श तथा सौन्दर्य का परिधान अनिवार्य है।

काव्य में सत्य के दर्शन कराने के लिए हमें बौद्धिक व्यायाम करने की आवश्यकता नहीं। संश्लेषण विश्लेषण के सोपानों पर चढ़-उतरकर अथवा तर्क बुद्धि की भूलभुलैया में भटककर हम काव्य की आत्मा तक नहीं पहुँच सकते। काव्य का सत्य संवेदनशील हृदय का सत्य है, सूक्ष्म-तम भावानुभूति का सत्य है। यह स्पर्शमणि की तरह तत्काल मानव मन को छूकर उसका रूपान्तर करने की क्षमता रखता है। उसके लिए कहा गया है—अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग! दर्शन का सत्य अपने ज्योतिर्मय पंख रिक्त शून्य में फड़फड़ाकर, थककर हार जाता है, किन्तु काव्य का सत्य रस की एक बूंद में समस्त समुद्र को भरकर, आपको मानव के अतल-अवाक् अन्तस्तल में निमग्न कर देता है। वह गागर में सागर है।

कवि अथवा कलाकार अपनी सृजन प्रेरणा के पंखों में उड़कर अमूर्त

को पकड़ लाता है और उसे अपनी जीवन विधायिनी कल्पना के रूप-रंगों में सँजोकर, उसे अपने प्राणों के स्पर्शों से सजीव कर, उसमें अपनी भावानुभूति का स्पन्दन भरकर, उसे सौन्दर्यमूर्त बनाकर दूसरों के लिए सहज सुलभ बना देता है। कविता अथवा कला का सत्य मानवीय सत्य है; कवि अपने कल्पना-पंखों में उड़कर देश-काल के परे ऊँचे-से-ऊँचे रुपहले-सुनहले आकाशों में विचरण करता है, किन्तु धरती का आकर्षण, जिसकी गोद में वह खेला-कूदा है, जहाँ वह अपने समस्त भाई-बहनों के साथ जीवन का उपभोग करना चाहता है—उसे फिर अपनी ओर नीचे खींच लाता है। वह स्वर्ग की आभा में अवगाहन की हुई अपनी आत्मा का वैभव मुक्त हस्त होकर जनसाधारण को वितरण करने में परम सुख का अनुभव करता है। वह धरती के अन्धकार की वेणी में स्वर्गिक स्वप्नों का इन्द्रधनुष बाँधकर मुग्ध दृष्टि से उसके मांसल अंगों के सौन्दर्य का उपभोग करता है। इस प्रकार काव्य का सत्य मानव चेतना का वह प्रकाश है जो अपने ही सतरंग सौन्दर्य में साकार होकर रूप गन्ध स्पर्श रस शब्द की तन्मात्राओं में झंकृत हो उठता है।

काव्य का सत्य सृजनात्मक जीवन दर्शन है। कवि अथवा कलाकार के निकट एक तो उसी का भावजगत रहता है, जो मानव-मन के संवेगों का क्रीड़ास्थल है—दूसरा उसके सामने बाह्य-जगत का सामाजिक वातावरण रहता है, जो उसके जीवन को प्रभावित करता है। अधिक प्रबुद्ध तथा संवेदनशील होने के कारण उसके मन में इन दोनों के बीच निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। वह अपने को भी नहीं भूल सकता, अपने चतुर्दिक् व्याप्त समाज को भी नहीं भुला सकता। यदि वह अपने ही भाव-जगत में डूब जाय तो विश्व के लिए उसकी सार्थकता नहीं रहती। यदि वह सामाजिक समस्याओं ही में उलझा रहे तो वह मानव रस-व्यक्ति के लिए न्याय नहीं कर पाता। अतएव उसके भीतर सदैव हृदय मन्थन तथा विद्रोह चलता रहता है। वह तथाकथित आदर्श तथा यथार्थ से निरन्तर जूझता रहता है। वह धीरे-धीरे अपनी सहज बुद्धि, अपने जीवन संघर्ष तथा व्यापक गम्भीर अनुभूति से अपने युग की सीमाओं को अतिक्रम करता हुआ, लोकोपयोगी एवं जीवनोपयोगी मानव-मूल्यों की विकास-सरणि का अनुगमन करता है, और अतीत तथा वर्तमान से पाथेय संचय करता हुआ सर्वकल्याणकारी मानव-भविष्य के निर्माण में अपना हाथ बँटाता है। इसीलिए काव्य के सत्य में सार्वभौम तत्त्व पाये जाते हैं और वह लोकोत्तरानन्द प्रदान करता है।

काव्य के सत्य के आधार जीवन की वास्तविकता में होते हैं। वह, प्रतिक्षण बदलती हुई बाह्य अस्थायी वास्तविकता का चित्रण नहीं करता, वह उस वास्तविकता की आत्मा तक पहुँचता है। वह मानव-जीवन के समग्र तथा सम्पूर्ण सत्य का दर्शन कराता है जिसमें देशकाल नाम-रूप के बदलते हुए विकासशील खण्ड-सत्य सन्तुलन तथा सामंजस्य प्राप्त करते हैं। काव्य में मानव-जीवन का सत्य उसकी बाहरी रूप-रेखाओं के रूप में ही नहीं उसकी गहनतम आन्तरिक अनुभूतियों के रूप में प्रतिबिम्बित होता है। बाहरी रूपरंग तो केवल उसके परिधान एवं अलंकरण मात्र हैं—उन सब में व्याप्त जो मानव आत्मा का सत्य अथवा उसके मनुष्यत्व का स्वरूप है

वही वास्तव में काव्य का प्रतिपाद्य विषय है, जो अपनी व्यापकता एवं सार्वभौमता के कारण अनन्त है, अपनी गहनता एवं अखण्डता के कारण शाश्वत है।

आज के युग का काव्य यदि लोक-जीवन से व्यापक सहानुभूति नहीं रखता, वह अधिक से अधिक लोक श्रेय के उपादान प्रस्तुत नहीं कर सकता, वह ह्रासोन्मुखी सामन्ती तथा मध्यवर्गीय संस्कृति की सीमाओं को अतिक्रम कर तथा मनुष्य के प्रति अन्याय और उत्पीड़न की, विद्रोह भरे स्वरों में, भर्त्सना कर, भावी मानवता की ओर अग्रसर नहीं होता तो उसके पैरों की लंगड़ाहट अभी दूर नहीं हुई है।

आधुनिक काव्य

सैकड़ों वर्ष पहले सूर, तुलसी, कबीर, मीरा के ज्ञान भक्ति द्रवित पदों ने, हिन्दी कविता के प्रासाद को, अपनी भावमुग्ध चापों से मुखरित किया था, उनकी प्रतिध्वनियाँ आज भी हमारे कानों में गूँजती रहती हैं। हिन्दी काव्य-चेतना इतिहास की ऊँची-नीची सीढ़ियों पर चढ़ती-उतरती हुई द्विवेदी-युग में खड़ीबोली के प्रांगण को जागरण के स्वरों से गुंजरित करती हुई, और अभी-अभी छायावाद की स्वप्नवीथी को मर्म मधुर चरणों से पार करती हुई आज जिस नवीन जीवन की भूमिका में प्रवेश कर रही है उसका आभास आपको तरुण हृदयों के उद्गारों एवं उनके तरुण कण्ठों की पुकारों में मिलेगा। आज ये हिन्दी की प्राचीन काव्य-परम्परा को ही आगे बढ़ाकर उसे नवीन रूप से नहीं सँजो रहे हैं, विश्व-साहित्य से नवीन प्रेरणाएँ ग्रहण कर देश-विदेशों के काव्य-वैभव को भी अपने उन्मुक्त स्वरों की तीव्र मन्द्र झंकारों में प्रवाहित कर रहे हैं। इन नवीन कवियों की वाग्देवी युग मानव के लिए नवीन भाव भूमि तथा नवीन संगमतीर्थ प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रही है।

हमारे तरुण कलाकारों के हृदयों में नये युग का सृजन संघर्ष चल रहा है। वे युग मानव के विचारों में नये क्षितिजों का प्रकाश, उसकी भावना में नये स्वप्नों का सौन्दर्य, उसके हृदय की धड़कन में नयी भू चेतना का संगीत गूँथना चाहते हैं। वे युग के राग-विराग के उद्वेलन को अपनी वाणी के अनेक छोटे-बड़े इंगित आवर्तों में नचाकर उसमें नवीन मानवीय सन्तुलन भरना चाहते हैं। आज के युग के कलाकार ने जीवन की चुनौती को स्वीकार कर लिया है। वह उसका सामना करने को अधिक ग्रहणशील, अधिक आत्मचेतन तथा अधिक समृद्ध प्रतीत होता है। सन्देह की जिज्ञासा से भरी उसकी प्रत्येक पल बदलती हुई मुखाकृति पर उसके भावप्रवण हृदय का संघर्ष घने रुपहले कुहासे की तरह मँडराता रहता है। उसकी संवेदनशील तथा उत्तेजनशील नाड़ियों का जीवन उसके हाव-भावों से फूटकर मन को स्पर्श करता रहता है। उसका उद्वेलित भाव-जगत विद्रोह और आत्मविश्वास के गर्जन से भरे गहरे आर्द्ररंग के बादल की तरह घुमड़-घुमड़ उठता है जिसमें यत्र-तत्र आशा उल्लास के, प्रेम और

सौन्दर्य के इन्द्रधनुषी धब्बे जगमगा उठते हैं। जीवन की वास्तविकता का धूप-छाँह, उसका नैराश्य अवसाद, उसकी करुणा-ममता, सुख-दुःख, मिलन-विछोह तथा उसकी गोपन आकांक्षाओं से आँखमिचौनी खेलते हुए उसकी वीणा के तार मर्म मुखर आवेशों में काँपते रहते हैं। पौ फटने का-सा एक नीरव दीप्त मार्दव उसके अन्तर जगत में देखने को मिलता है, जिसके नयी सम्भावनाओं के क्षितिजों में नयी जीवन चेतना का प्रकाश जन्म ले रहा है।

यह आधुनिक काव्य का तरल अन्तरंग है,—उसके बहिरंग में भी आपको अद्भुत मौलिकता तथा विचित्रता मिलेगी। उसके रूप विधान, अभिव्यक्ति, प्रतीक प्रतिमानों में सर्वत्र आपको नवीनता के दर्शन होंगे। प्राचीन काव्य में सुख, सौन्दर्य, प्रेम तथा पूर्णता का प्रतीक स्वर्ग माना जाता था। नवीन काव्य में वह धरती बन गया है। आज का कलाकार धरती को ही स्वर्ग में बदलना चाहता है। वह जीवन के यथार्थ से विमुख होकर, उसमें जो तुच्छ, घृणित, कुरूप है उससे पलायन कर, दुःख-संघर्ष से आँख चुराकर मनुष्य की आस्था के लिए किसी काल्पनिक स्वर्ग की सृष्टि नहीं करना चाहता। वह मानव के सुख-सौन्दर्य-कामी हृदय को अन्तर्मुख भावना की लँगड़ाहट से मुक्त कर उसे कठोर वास्तविकता की भूमि पर आगे बढ़ने को प्रेरित करता है। वह देवों के बधिर श्रवणों के लिए प्रार्थनाएँ न लिखकर मनुष्य को ही अपने मनुष्यत्व में भरा-पुरा बनने को ललकारता है। उसके लिए अब परिपूर्णता का प्रतीक देवत्व के स्थान पर मनुष्यत्व बन गया है। वह पदार्थ के भीतर से चेतना के गुणों की अभिव्यक्ति करना चाहता है। अदृश्य, सूक्ष्म आत्मा के बदले दृश्यमान आयामों की मिट्टी को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर, एवं आँधी तूफान में काँपकर बुझ जानेवाली दीप-शिखा के बदले स्नेह की हथेली के समान मृण्मय दीपक को ही प्रतिमान मानकर जीवन के बहुमुखी सत्य का उद्घाटन करना चाहता है। वह युग-युग के निषेधों तथा वर्जनाओं से भयभीत न होकर, अपने आत्म-विश्वास से उन्हें अतिक्रम कर एवं ऊर्ध्व रीढ़, उन्नत मस्तक होकर, धरती के ऊबड़-खाबड़ पदार्थ को अपने दृढ़ पैरों के तले रौंदता हुआ, उसे प्रशस्त, सर्वसुलभ, समतल वास्तविकता में बदल देना चाहता है।

इस प्रकार उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति जीवन के अंचल में बँध गयी है। उसकी भाषा बोलचाल के अधिक निकट आकर मर्मस्पर्शी बन गयी है। भाव और अभिव्यक्ति के बीच अलंकरण का व्यवधान मिट गया है, या सरल सुबोध बन गया है। छायावादी भाषा में आदर्शवादिता का संस्कार तथा बौद्धिकता के प्रकाश का निखार था, आधुनिक कविता की भाषा में भावना के आवेश की ऊष्णता, तथा हृदय की जीती-जागती धड़कन मिलती है। पिछले कवियों की शैली में सँवार-शृंगार रहता था, नवीन कवियों की शैली से उनका स्वभाव झलक उठता है। कहीं-कहीं उनकी भाषा में जनपदीय बोलियों की सहज स्वाभाविकता, मिठास, तथा अनगढ़ लालित्य आ गया है। सूक्ष्म कुहासे में झलमलाते हुए इन्द्रधनुष के रंग, फूलों की स्पर्श-कोमल पंखड़ियों में बँधकर अधिक मूर्त हो उठे हैं। उनकी आशा-निराशा, घृणा-प्रेम, हास-अश्रु, सन्देह-विश्वास तथा

क्षोभ-विद्रोह—सबका अपना विशेष मूल्य एवं महत्त्व है, क्योंकि वे युग-जीवन की बदलती हुई निर्मम वास्तविकता को सच्चे रूप में प्रतिफलित तथा उद्घोषित करते हैं।

प्रयोगशील काव्य

अज्ञेयजी ने 'तार सप्तक' का सम्पादन कर हिन्दी पाठकों के लिए प्रयोगशील कविता का सर्वप्रथम संग्रह प्रस्तुत किया, किन्तु हिन्दी में प्रयोगशील कविता छायावाद के युग से ही लिखी जाने लगी थी। प्रसादजी ने 'प्रलय की छाया,' 'वरुणा की कछार' आदि लिखकर वस्तु तथा छन्द सम्बन्धी नवीन प्रयोग प्रारम्भ कर दिये थे। निरालाजी ने मुक्त छन्द के अनेक रूप तथा शैलियाँ प्रस्तुत कर उसे निखारा और परवर्ती प्रयोगशील कवियों ने उसमें युद्धोत्तरकालीन जन भावना, विद्रोह, वैचित्र्य, नवीन वस्तु दृष्टि, व्यापक सौन्दर्य बोध, तीव्र उद्गार तथा अतृप्त रागात्मकता का समावेश कर उसे सब प्रकार से सँवारने तथा आधुनिक बनाने का प्रयत्न किया।

क्लेसिकल अथवा प्राचीन काव्य में हमें शाश्वत तथा उदात्त के प्रति एक गम्भीर आकर्षण, चिरन्तन मान्यताओं के प्रति अटल विश्वास तथा सार्वलौकिकता के प्रति एक असन्दिग्ध आग्रह मिलता है। उसमें एक ओर चरित्र की उदात्तता और दूसरी ओर वस्तु जगत का स्थायित्व दृष्टि-गोचर होता है। छायावाद में शाश्वत तथा उदात्त का स्थान रहस्य ने ले लिया। वस्तु जगत का स्थान भाव जगत और सार्वलौकिकता का स्थान वैयक्तिकता ने ग्रहण कर लिया। उसने बाह्य वास्तविकता की उपेक्षा कर स्वप्न तथा आशा की सृष्टि की और कल्पना का सौन्दर्य-पट बुना। प्राचीन काव्य में भाव और वस्तु जगत में एक सन्तुलन तथा तादात्म्य मिलता है। छायावाद ने वस्तु जगत को अपनी भावना की तूली से रँग दिया।

प्रयोगवादी काव्य जहाँ अपनी शैली तथा रूपविधान में अति वैयक्तिक हो जाता है वहाँ अपनी भावना में वह छायावादी स्वप्नों के कोहरे को हटाकर एक दूसरे प्रकार के कुहासे में मण्डित हो गया है और सूक्ष्म भावजगत से हटकर फिर से स्थूल भावना की भूमि पर उतरना चाहता है। पर उस भूमि में भूकम्प है, उसकी वास्तविकता बदल रही है, जिसका परि-वेश नवीन काव्य को घेरे हुए है। उसके भाव और वस्तु जगत में एक विरोध आ गया है। वह परिस्थितियों के भार से दबा जा रहा है, वह उन्हें सँभाल नहीं पाता, उनकी कारा को तोड़कर वह आगे बढ़ना चाहता है। वह बाहर, सुदूर बाहर की ओर देख रहा है और अपने निकटतम में उलझ रहा है। इन्हीं के सम्बन्ध में अपने को समझना चाहता है। यह नवीन काव्य प्रभाववादी भी है, वह नित्य नवीन प्रभावों की छाया वीथियों में चलता हुआ दिखायी देता है।

प्रयोगशील काव्य से हमारा क्या अभिप्राय है, क्या उसका कोई

लक्ष्य है या वह केवल प्रयोग के लिए प्रयोग कर रहा है ? क्या उसके लिए छन्दहीन सृष्टि करना अनिवार्य है ? क्या अन्तर्मुखी अन्तश्चेतन छायावाद ही बहिर्मुखी अवचेतन प्रयोगवादी काव्य बन गया है ? प्रगतिशील काव्य की प्रेरणा का मुख्य स्रोत जिस प्रकार मार्क्सवाद रहा है क्या उसी प्रकार प्रयोगशील काव्य ने फ्रायड से प्रेरणा ग्रहण की है ? क्या वह युग की रागात्मिका प्रवृत्ति में किसी प्रकार का नवीन सन्तुलन स्थापित कर सका है अथवा उसने हिन्दी कविता को वस्तु, विषय तथा शैली की दृष्टि से कोई नवीन दिशा प्रदान की है ? क्या मुक्तछन्द केवल आलापोचित हैं ?—ऐसे अनेक प्रश्नों पर प्रयोगवादी काव्य के आलोचकों को प्रकाश डालने की आवश्यकता है।

यदि अनुभूति ज्ञान की जननी है तो प्रयोग विज्ञान का जनक। काव्य-क्षेत्र में भी हमारे नवीन कवियों के प्रयोग युग की वास्तविकता को नवीन सन्तुलन की रूपरेखा देने मे एवं आज की आक्रान्त भावना को नवीन मोड़ों तथा पगडण्डियों मे आगे बढ़ाने में सहायक होंगे, इसमें मुझे सन्देह नहीं, भले ही इस सम्बन्ध में हिन्दी आलोचकों मे अभी मतभेद हो। किन्तु इसमें भी मुझे सन्देह नहीं कि प्रयोगशील काव्य अभी अपरिपक्व, अनुभवशून्य है तथा रीतिकाव्य की तरह वह भी मात्र एक अलंकृत परिपाटी बनता जा रहा है।

कविता में राष्ट्र भावना

वैसे तो हमारा विशाल देश राष्ट्र की भावना या कल्पना से वैदिक युग मे ही परिचित रहा है, और वेदों में, इन्द्र आदि तब के देवों के प्रति, ऐसी प्रार्थनाएँ मिलती हैं जिनमे वैदिक ऋषि राष्ट्र-कल्याण और जनमंगल की अपनी भावना को वाणी देते है और साथ ही राष्ट्र के शत्रुओं के विनाश के लिए देवों का आह्वान करते हैं, किन्तु आधुनिक अर्थ मे राष्ट्र भावना हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु युग से आयी है और वह भी अंग्रेजी शासन के सम्पर्क में आने के कारण। पाश्चात्य जीवन पद्धति तथा शासन प्रणाली का भारतीय जीवन चेतना में अविराम प्रभाव पड़ते रहने के कारण धीरे-धीरे परवर्ती साहित्य में यह दृष्टि विकसित होती रही है। आधुनिक युग में 'भारतीय आत्मा' तथा श्री मैथिलीशरण जी की रचनाओं में और विशेषतः उनके 'भारत भारती' काव्य में राष्ट्रीय जागरण की एक विशेष लहर देखने को मिलती है। वैसे, निःसन्देह भारतीय साहित्य मे इस राष्ट्रीय जागृति का कारण समस्त देश में व्याप्त स्वतन्त्रता के संग्राम से सम्बद्ध वह राजनीतिक आवेश रहा है जिसने बाहर असहयोग आन्दोलन का रूप धारण किया और साहित्य एव काव्य मे गांधीवाद का परिधान पहना। गद्य साहित्य में जहाँ उसने प्रेमचन्दजी के उपन्यासों तथा कहानियों में व्यापक रूप से भारतीय जीवन के मर्मस्पर्शी चित्र उपस्थित किये वहाँ कविता में श्री गुप्तजी, श्री माखनलाल चतुर्वेदीजी, नवीनजी आदि अनेक उच्च कोटि के कवियों की रचनाओं में उसने

विराट् उद्बोधन, लोकजागरण का आह्वान तथा दासता से मुक्ति का तीव्र आवाहन कर 'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की महत्ता जन साधारण के हृदय में अंकित की। इनमें से अनेक भारती-पुत्रों ने स्वतन्त्रता के युद्ध मे भाग लेकर उसे अपने हृदय के रस के साथ ही अपने शोणित से भी सिंचित किया है।

पश्चिम के राष्ट्रवाद से प्रारम्भिक प्रेरणा ग्रहण करने पर भी भारतीय राष्ट्रवाद की भावना देश के सांस्कृतिक जागरण की पृष्ठभूमि में एक विशेष आदर्शवादी स्वरूप धारण कर विकसित एवं प्रस्फुटित हुई है। वास्तव में श्री रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रामतीर्थ, राजा राममोहनराय तथा स्वामी दयानन्द आदि अनेक महान् जीवन-द्रष्टाओं के कारण जो एक सांस्कृतिक नवोत्थान की बृहद् प्रेरणा देश के मानस को मिली—जिससे कि अपने अतीत के गौरव के प्रति लोक मन उद्बुद्ध हो सका—उसके प्रकाश मे हमारी राष्ट्रीय भावना ने एक अत्यन्त व्यापक, संस्कृत तथा मानवतावादी रूप ग्रहण कर लिया। महात्मा गांधीजी के नेतृत्व में जिस अहिंसात्मक आन्दोलन ने, देश को दासता के बन्धनों से मुक्त करने के लिए, विश्व के तब के सबसे अस्त्र-शस्त्र सुसज्जित साम्राज्यवाद से लोहा लेने का निश्चय किया। उसके विश्वमंगलमय मौलिक रूप ने देश के रसमानस को एक व्यापक औद्भौम सांस्कृतिक प्रेरणा ही प्रदान नहीं की बल्कि अर्थ-स्वार्थ में जकड़े पश्चिमी राष्ट्रवाद की हिंस्र वृत्ति तथा क्षुद्रता के मुख मे भी सभ्यता का मुखड़ा हटाकर उसका वास्तविक रूप संसार के सामने प्रकट कर दिया। इसमें सन्देह नही कि इसी विराट् राष्ट्रवाद—क्या, मानवतावाद की भावना—ने हमारे प्राचीनतम सांस्कृतिक स्रोतों को युग के अनुरूप नवीन रूप देकर भारतीय साहित्य और विशेषतः कविता में वाणी पायी है।

पश्चिम के राष्ट्रवाद के मुख पर प्रथम महायुद्ध के बाद से धीरे-धीरे ह्रास की छाया पडने लगी और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जब कि महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारतीय स्वतन्त्रता का संग्राम चल रहा था—वह पश्चिमी मानस में मृत्यु भय की छाया के रूप में परिणत हो गयी। इस भयानक मृत्यु की छाया मे, जहाँ एक ओर पश्चिम के दर्शन तथा साहित्य ने अनास्था, अहंकार, कुण्ठा तथा जीवन की क्षण-भंगुर भोगप्रिय कल्पना मे पूर्ण—अस्तित्ववाद को जन्म दिया, वहाँ दूसरी ओर पश्चिमी राष्ट्रवाद को संकीर्ण, आर्थिक-स्पर्धासंकुल तथा और भी अधिक विध्वंसक बना दिया। यहाँ तक कि वहाँ के विश्व मनीषियों की प्रतिभा, वैज्ञानिक अनुसन्धानों की शक्ति तथा बड़े-बड़े राष्ट्रों की सम्पत्ति आज लोकनाशक अणु उद्जन बमों एवं घोर संहारक अस्त्रशस्त्रों के निर्माण में अपव्यय हो रही है। पश्चिमी सभ्यता अपनी गहरी सांस्कृतिक नींव एवं उच्च आध्यात्मिक अभीप्सा के अभाव मे आज जिस बहिर्मुखी अन्धकार में भटक गयी है और उसकी जीवन-उर्वर कोख नवीन मनुष्यतत्व को जन्म देने के बदले आज जिन अणु-दैत्यों को जन्म दे रही है उससे वहाँ की राजनीति तथा अर्थशास्त्र की लड़खड़ाती टाँगों पर चलनेवाले मरणोन्मुख कुरूप राष्ट्रवाद की कल्पना सहज ही की जा सकती है।

इसके विपरीत अपनी महान् औपनिषदिक ज्योति तथा वसुधैव

कुटुम्बकम् की विशाल सांस्कृतिक परम्परा को आधार भूमि बनाकर आधुनिक भारत ने राष्ट्रवाद को अपने साहित्य तथा बहिर्जीवन में एक नवीन मान्यता प्रदान की है जिसकी ओर निकट भविष्य में निःसन्देह विश्व का ध्यान और भी अधिक आकर्षित हुए बिना नहीं रहेगा। गांधीजी स्वयं अपने सार्वभौम व्यक्तित्व से पश्चिम जगत् की कूट, शोषण-प्रिय, शक्ति-उन्मद राजनीति को तथाकथित भू जीवन की वास्तविकता के घृणित कर्दम से ऊपर उठाकर उसे सुथरा सांस्कृतिक स्तर प्रदान कर गये हैं। और आज नवीन जीवननिर्माण में संलग्न हमारा देश अपनी असंख्य त्रुटियों तथा दयनीय दुर्बलताओं के होते हुए भी विश्वशान्ति का एक स्थायी अडिग प्रतिनिधि बनकर संसार की संघर्षनिरत राजनीति में जिन व्यापक क्षितिजों का लोकमंगलकारी आलोक उड़ेल रहा है और अपनी तटस्थता की नीति से जिस प्रकार उद्वेलनशील राजनीतिक धरातल पर सन्तुलन एवं सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा कर रहा है वह उसके उस नवीन राष्ट्रवाद का द्योतक है जो आज अन्तर्राष्ट्रीयता की सीमाओं को भी अतिक्रम कर विश्व में व्यापक मानववाद को जन्म देने में सहायक हो सकेगा। वर्तमान राजनीतिक विचारधारा की समदिक् सीमाओं में खोयी हुई अन्तर्राष्ट्रीयता को निश्चय ही आज नवीन ऊर्ध्व दृष्टि, गहराई और व्यापकता प्रदान करनी है जिसके लिए भारतीय राष्ट्रीयता एवं मानवता की भावना अपनी आज की सीमाओं के भीतर से प्रयत्नशील है।

भारतीय काव्य-साहित्य मे इस राष्ट्रभावना को वह ऊर्ध्व, गहन एवं व्यापक मूल्य प्रदान करने का अविराम सृजनशील प्रयत्न चल रहा है। राष्ट्रीय भावना वास्तव में भारतीय आदर्शप्रिय मानस में विश्वचेतना तथा लोकमंगल की भावना बनकर आधुनिक साहित्य में अभिव्यक्त हुई है। श्री मैथिलीशरणजी तथा दिनकरजी से लेकर आज के प्रगतिशील कवियों तक राष्ट्रीय भावना मे विश्वजीवन एवं जनकल्याण के लिए तत्त्व अविराम रूप से वाणी पाते रहे हैं। और उस समस्त काव्य-साहित्य में जिसके प्रेरणास्रोत पश्चिम के आधुनिक जीवन के साथ ही भारतीय सांस्कृतिक चेतना के पुनर्जागरण तथा इन दोनो दृष्टिकोणों के सामंजस्य में रहे हैं, हमें नवीन मूल्यों, सौन्दर्य-बोधों तथा जीवन-अनुभूतियों के रूप में उन विराट् सर्व मंगलमय तत्त्वों की अभिव्यंजना मिलती है जो पश्चिम के अर्थसंकीर्ण राष्ट्रवाद को भारतीय दृष्टि एवं संस्कारों की व्यापकता प्रदान कर उसे विश्वशान्ति एवं भविष्य-मानव-जीवन के लिए अधिक उपयोगी बना सकेंगे।

आज के हमारे संकटकाल एवं आपातस्थिति मे भी जब कि हमारे शान्तिप्रिय देश पर अकारण पडोसी चीन का बर्बर आक्रमण हुआ है और जब कि हमारा दूसरा पडोसी देश आज हमारे आक्रामक के साथ दुरभिसन्धि में संलग्न है, हमारे देश के साहित्य में और काव्य में जिस उदात्त भावना के साथ शत्रु के मनोरथ को विफल बनाने के लिए जनजागृति के उद्गारों को वाणी दी जा रही है वह हिंस्र पाशविक स्तर का घृणा-विद्वेष से भरा स्वर या आवाज नही, जिसका प्रयोग कि आज दर्पोद्धत आक्रामक देश कर रहा है, बल्कि वह वाणी मनुष्यत्व की अक्षय ऊर्जा तथा ओज शक्ति से भरी मानवीय वाणी है जिसके द्वारा कि इस महान् देश के गौरव

का चित्र उपस्थित कर जनता को आसन्न संकट के प्रति उद्‌बुद्ध किया जा रहा है। यह भारतीय साहित्य एवं रसमानस की चिरन्तन धारणा एवं मान्यता रही है कि अन्तिम विजय मनुष्यत्व की या मानव-सत्य की होती है। अतः यह और भी आवश्यक है कि इस संकटकाल में हम मनुष्य बनना सीखें और मनुष्य की तरह संकट का सामना करें। मनुष्य को हिंस्र पशु बनने की आवश्यकता नहीं, हिंस्र पशु पर वह कभी का विजय पा चुका है—राष्ट्र की रक्षा एवं आत्म-रक्षा करना हिंसा नहीं, शौर्य, वीर्य तथा पुरुषार्थ है—उसी पुरुषार्थ का, लोकऐक्य का जीवनसंगठन का, अन्तः-सतर्कता तथा जागृति का उद्‌बोधन आज हमारे नवीन राष्ट्रीय भावना के द्योतक आज के काव्य-साहित्य में देखने को मिलता है, जिसके अनेका-नेक उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं। वास्तव में हिमालय के उच्च शिखर हमारे राष्ट्र के प्रहरी ही नहीं, हमारी उच्च संस्कृति के प्रतीक हैं—

यह विराट रे देश
विशाल जहाँ जन समुदय,
यहीं आत्म उन्मेष हुआ मानव को निश्चय,
मृत्यु भीत नर बना अमर—भू-जीवन निर्भय !
रुद्ध हृदय के द्वार वीर, खोलो झन झन झन
नव जीवन का रण प्रांगण हो जन-जन का मन—
आक्रामक से पुनः छीन लो खोया भू धन।

राष्ट्रीय जागरण और साहित्यकार

चीन के आकस्मिक आक्रमण के कारण हमारे विशाल देश में जो राष्ट्रीय जागरण की एक नवीन चेतना जन्म ले रही है वह अत्यन्त अभिनन्दनीय है और प्रत्येक देशवासी को जिसे अपने राष्ट्र एवं देश से प्रेम है, चाहे वह श्रमिक हो, सिपाही, शिल्पी हो अथवा साहित्यकार—इस जागृति की चेतना के प्रसार, विकास, संवर्धन एवं संगठन के लिए यथाशक्ति कार्य करना चाहिए क्योंकि यह उसका ऐतिहासिक दायित्व है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के उपरान्त हमारी राष्ट्रीय चेतना की भावना कुछ शिथिल-सी प्रतीत होने लगी थी और हम अपनी देश की एकता तथा सामाजिक संगठन की भावना के प्रति भीतर ही भीतर सशंकित हो उठे थे और भाव-नात्मक एकता, सांस्कृतिक परम्परा आदि की बातें सोचने लगे थे। किन्तु अपने पड़ोसी चीन की छद्मवेशी मित्रता के प्रति सतर्क होकर, उसकी बर्बर शत्रुता से क्षुब्ध एवं क्रुद्ध होकर देश के प्रति हमारी अविजेय भक्ति तथा आत्मत्याग की भावना फिर से उद्‌बुद्ध हो उठी है और हमें यह समझने में विलम्ब नहीं हुआ कि बाहर से अनेक मत-मतान्तरों के वैचित्र्यों में बँटे हुए-से प्रतीत होने पर भी हमारा देश अन्ततः एक अविच्छिन्न एकता की परम्परा में बँधा हुआ है और हमें इस अन्तर्जात एकता को राष्ट्र के बाह्य जीवन में मूर्त करने के लिए जो भी प्रयत्न सम्भव हों उन्हें इस समय काम में लाना चाहिए और देश की भावी सामाजिक एवं सामूहिक

उन्नति के लिए एक सुसंगठित नींव प्रस्तुत कर देनी चाहिए। हमारे देश के लिए जो एक मनोवैज्ञानिक क्षण उपस्थित हुआ है उसमें हमें अपनी राष्ट्रीय दुर्बलताओं तथा शक्तियों पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए और राष्ट्र-जीवन को तदनुरूप ही नवीन दिशा प्रदान करनी चाहिए।

जागरण की प्रेरणा के दो स्वरूप होते हैं—एक बहिर्मुखी प्रेरणा, एक अन्तर्मुखी प्रेरणा। चीन के आक्रमण को हम बहिर्मुखी प्रेरणा कहेंगे जिसने हमें अपने देश पर आनेवाले संकट के प्रति जाग्रत् कर हममें शत्रु का सामना करने के लिए अदम्य शक्ति का संचार किया है। प्राय: देखा गया है कि सामूहिक जीवन में बहिर्प्रेरणा ही धीरे-धीरे अन्तर्मुखी प्रेरणा भी बन जाती है और हमारे देश में भी यही होने जा रहा है। आज इस संकट-स्थिति में प्रबुद्ध होकर हम अपने देश में आन्तरिक एकता, सुरक्षा, उत्पादन, श्रम, अन्न-वस्त्र, सैनिक शिक्षा, योजनाबद्ध शिक्षा आदि के प्रश्नों पर नवीन रूप से विचार-विमर्श करने को विवश हुए हैं और हम अपनी मन्थर गति से चलने की आदत को छोड़कर अपने भीतर नवीन प्रगति का वेग संचय करने का प्रयत्न कर रहे हैं। आज की आपातस्थिति का हम अधिक से अधिक उपयोग कर अपने इस प्राचीन देश को सर्वांगपूर्ण आधुनिक राष्ट्र का रूप देने के लिए कटिबद्ध होना चाहते हैं। इस जागरण की चेतना को नवीन जीवन मूल्यों का रूप देकर उनका देश के कोने-कोने में प्रसार करना आज के साहित्यकार का मानवीय कर्तव्य हो गया है। चरैवेति-चरैवेति – यह जागरण का स्वप्न फिर से सो न जाये, वह अविराम गति से राष्ट्र जीवन में सक्रिय तथा मूर्त हो सके आज के साहित्यकार को इसके लिए अश्रान्त रूप से सजग एवं सृजन-तत्पर रहना है। बाहर के यथार्थ के क्षेत्र पर हमारे सैनिकों को गोला बारूद और तोपें लेकर भले ही जूझना पड़े, देश के भीतरी जीवन के यथार्थ में हमारे बुद्धिजीवी साहित्यकार तथा कलाकार को ही अपनी सशक्त प्रकाश तथा पावक उगलती हुई लेखनी से लोहा लेना है। उसे मध्ययुगीन ह्रासोन्मुख रूढ़ि रीतियों से युद्ध कर तथा उनके स्थान पर युग जीवन के लिए श्रेयस्कर नवीन मूल्यों एवं मर्यादाओं को लोक मन में प्रतिष्ठित कर उन्हें युग जीवन का सक्रिय अंग बनाना है। इस विराट् देश की जनता को मानसिक संकीर्णता, साम्प्रदायिकता, प्रादेशिकता के अस्वास्थ्यकर अन्धकार से बाहर लाकर उसे नवीन व्यापक जीवन-दृष्टि प्रदान करनी है। मध्ययुगीन जीवन निषेध तथा वर्जन की संक्रामक अन्ध प्रवृत्ति से लोगों के मन को उबारकर उसमें राष्ट्रीय जीवन के प्रति अनुराग का आकर्षण पैदा करना है। जिस प्रकार भौतिक स्तर पर अन्न-वस्त्र की आवश्यकता अथवा आर्थिक आवश्यकता का स्थान है उसी प्रकार मानसिक स्तर पर भाषा एवं संस्कृति की आवश्यकता का स्थान है। आज युगप्रबुद्ध कला-प्राण साहित्यजीवी को इस गम्भीर समस्या पर रचनात्मक प्रकाश डालकर भाषा और भाव के प्रति विभिन्न प्रदेशों के बुद्धिजीवियों तथा जनता में व्याप्त घातक दुराग्रहों तथा, पूर्वाग्रहों तथा विद्वेष के कुहासे को छिन्न-भिन्न कर राष्ट्रीय मानस को एक नवीन जातीय गरिमा का स्वप्न तथा मानवीय महिमा के प्रकाश से मण्डित करना है। विदेशी भाषा की दासता ने आकाशलता की तरह देश के मन पर छाकर उसकी चेतना को

निःशक्त, मन को पंगु तथा प्राणों के सौन्दर्य को शुष्क बना दिया है। किसी भी देश एवं राष्ट्र के सर्वांगीण उन्नयन के लिए आज के युग में उसका आत्म निर्भर तथा सर्वांगपूर्ण बन जाना परम अनिवार्य एवं आवश्यक है। उस सर्वांगपूर्णता एवं अनिवार्यता के अन्तर्गत भाषा, साहित्य, संस्कृति तथा कला के विकास का प्रश्न भी निहित है। विदेशी भाषा का और जो भी महत्त्वपूर्ण स्थान हो वह लोक एकता एवं सामाजिक भावना के संवर्धन में अत्यधिक बाधक तथा घातक है। अतः यह साहित्यकार का कर्तव्य है कि वह भाषा के ज्वलन्त प्रश्न को राजनीतिक कर्दम से ऊपर उठाकर उसे सांस्कृतिक व्यक्तित्व प्रदान करे और शान्ति, धैर्य एवं आत्म-त्याग के साथ भारतीय भाषाओं के प्रेम की प्रतिष्ठा लोक मन में करे। अगर इस देश के हृदय के द्वार खोलना चाहते हैं तो हृदय का सुनहली कुंजी लोक-भाषा है।

आज का युग इतिहास का नवीन सिन्धु मन्थन का युग है, आज मनुष्य को अपने भौतिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, मानसिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक सभी स्तरों का फिर से निरीक्षण-परीक्षण कर उनका एक विश्वव्यापी मानवता के उपादानों के रूप में पुनः संयोजन करना है। आज कर्म, जीवन, वाणी, विचार तथा चेतना का ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं जिससे साहित्यकार प्रेरणा ग्रहण नहीं कर सकता। आज के महत् राष्ट्रीय निर्माण के युग में साहित्यकार को मानवता के प्रकाशवाहक के रूप में अवतरित होकर उसे लोक मानस के प्रदीपों को नवीन जीवन चेतना की शिखा में प्रज्वलित करना है।

भारतवर्ष अपने बहिरन्तर जीवन का निर्माण कर आज संसार के सम्मुख एक नवीन मानवता का निदर्शन प्रस्तुत कर सकता है। हमें विज्ञान की समस्त देन को आत्मसात् करना है। विज्ञान की शक्तियाँ मनुष्य चेतना के नवीन हाथ-पाँव है, उन्हें मनुष्य की आत्मा के प्रकाश के अनुरूप ही विश्व जीवन के महत् प्रासाद का निर्माण करना है—आध्यात्मिक प्रकाश की अपेक्षा कर विज्ञान शक्ति सृजन के स्थान पर मात्र संहार या ध्वंस का पर्याय बनकर स्वयं भी विनष्ट हो जायेगी। अतः आज के युगद्रष्टा मनीषी साहित्यकार को मानव जीवन के प्रति सर्वांगपूर्ण लोक कल्याणमयी दृष्टि उपलब्ध कर आज के युग की असंगतियों एवं विसंगतियों में एक व्यापक निर्माणात्मक सन्तुलन स्थापित कर देना है। यदि आज के कलाकार के पास अन्तर्दृष्टि नहीं है तो वह युगान्ध है। चर्म चक्षुओं में यदि एक मुट्ठी बालू झोंक दी जाये तो वह उतना हानिकर नहीं होगा जितना कि यदि आज के बुद्धिजीवी के मनश्चक्षु मात्र भौतिक धुन्ध ही में भटक जायें। क्योंकि आज का युग केवल राष्ट्रीय मूल्य ही नहीं वैश्व मूल्यों को लेकर इतिहास में उदित हुआ है। भारत का दृष्टिकोण सदैव आध्यात्मिक रहा है और उसकी आध्यात्मिकता भौतिकता के व्यापक से व्यापक एवं कट्टर से कट्टर मूल्यों को आत्मसात् किये हुए है। भारतीय सृजन साहित्यकार को आज अपने राष्ट्रीय संकट से ही लोकजीवन का उद्धार नहीं करना है उसे विश्व के ऊपर जो महान् संकट के प्रलय मेघ घिरे हुए हैं उनसे भी मनुष्य जाति के परित्राण के लिए आवश्यक शक्ति तथा प्रकाश वितरण करना है। भौतिक मानसिक सीमाओं को अतिक्रम कर जिस

नवीन आध्यात्मिक मनुष्यता का स्वप्न इस अन्तरिक्ष युग में मनुष्य के मनःक्षितिज पर प्रकट हो रहा है तथा देश राष्ट्र जाति सम्प्रदाय एवं धर्मों की सीमाओं को लाँघकर जो विश्व मानव अग्नि-रथ पर आरूढ़ नवीन मानवता के सूर्य के सम न चैतन्य शृंग पर उदित हो रहा है आज के अन्तर्द्रष्टा कलाकार को उसका अभिवादन कर उसके जीवन भास्वर गीतों से आज के अनास्था, सन्देह, भय, घृणा, द्वेष से जर्जर मानव मन के तारों को नवीन आशा, उल्लास, लोक मंगल तथा अमृतत्व की झंकारों से मुखरित करना है, जिससे आज के अणुध्वंस की निर्ममता तथा दानवीय तृष्णा की चीत्कारों के पार नवीन सृजन शान्ति का सौन्दर्य तथा अन्त-र्जीवन का ऐश्वर्य मानवजाति को उसकी आध्यात्मिक व्यक्तित्व की गरिमा के प्रति उद्‌बुद्ध एवं आकर्षित कर सके। आज के युग संकट एवं विश्व संकट के काल में रचनाधर्मी साहित्यकार एवं कलाकार को मनुष्य के भीतर अन्तःशक्ति तथा लोक जीवन के भीतर अपराजेय साहस, कर्तव्य तत्परता तथा कर्म प्रेरणा का आवाहन करना है। अन्धकार और प्रकाश के बीच उसे प्रकाश को वरना है, घृणा द्वेष के बीच प्रेम को, हिंसा और युद्ध के बीच विजय और शान्ति को तथा जन्म और मृत्यु के बीच उसे शाश्वत जीवन को वरना है।

लेखक और राजाश्रय

लेखक और राजाश्रय सम्बन्धी समस्या पर विचार करने पर अनेक प्रश्न मन में उठते हैं, पर इस संक्षिप्त वक्तव्य में मैं मूलभूत दृष्टिकोण के प्रति ही अपना मत प्रकट करना चाहता हूँ। जैसा है या होता आ रहा है उसे मैं अधिक महत्त्व नहीं देता; जैसा होना चाहिए या हो सकता है उसी को मान्यता देता हूँ। इस दृष्टि से विचार करने पर मुझे लगता है कि वर्तमान काल में लेखकों तथा राज्यसत्ता दोनों के बारे में अनेक प्रकार की अतिरंजित धारणाएँ फैली हुई हैं और उन दोनों में एक मौलिक विरोध मान लिया गया है। लेखकों की वैयक्तिक स्वतन्त्रता की धारणा वस्तुतः एक काल्पनिक धारणा है। जिस निरपेक्ष स्वतन्त्रता की कल्पना सामान्यतः लेखक के लिए की जाती है उसका अस्तित्व सम्भव नहीं, और जिस नियन्त्रण निर्देश आदि की आशंका राज्यसत्ता के साथ जुड़ जाती है उसे अनिवार्य मानना भी ठीक नहीं प्रतीत होता।

वास्तव में हमारे देश में लेखक और राजसत्ता दोनों ही एक लम्बे ह्रास और पराधीनता के बाद अब धीरे-धीरे अपने को पहिचानना सीख रहे हैं तथा लोक-कल्याण अथवा मानव-कल्याण के एक सुनिश्चित ध्येय की ओर अग्रसर हो रहे हैं। यदि राजसत्ता जनता के प्रति अपने कर्तव्य का यथोचित रूप से निर्वाह करने में सफल नहीं हुई है तो हमारा लेखक-वर्ग भी उससे अभी कोसों दूर है। इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं कि जिस प्रकार के साहित्य का आज सृजन हो रहा है उससे हम किसी प्रकार भी जनता का हित नहीं कर सकते। क्योंकि उसमें जनता के जीवन, उनकी

आशा-आकांक्षाएँ, उनके जीवन-संघर्ष का कहीं भी प्रतिफलन देखने को नहीं मिलता। हमारे बुद्धिजीवी साहित्यिक अपनी ही मध्यवर्गीय स्वस्थ-अस्वस्थ प्रवृत्तियों, वैयक्तिक रुचियों एवं रागात्मक संवेदनाओं को अपने अतिवैयक्तिक भाव-सौन्दर्य तथा निःसत्व कला बोध में लपेटकर उसे साहित्यिक अभिव्यक्ति दे रहे हैं। उसमे सामाजिक जीवन के स्वास्थ्य, उसके उत्थान-पतन, ह्रास-विकास तथा वास्तविक समस्याओं का चित्रण नहीं के बराबर मिलता है। हम एक सफल साहित्यिक की तरह साहित्य-निर्माण के साथ लोक-मानव का निर्माण नहीं कर रहे हैं। जिस साहित्यिक धरातल से प्रेरणा ग्रहण कर आज हम साहित्य-सर्जन में संलग्न हैं उसका हमारे जन-जीवन की वास्तविकता से दूर का भी नाता नहीं है।

ऐसी दशा में मुझे तो यही उचित प्रतीत होता है कि हमारे बुद्धिजीवी लेखकों एवं साहित्यिकों को राजसत्ता के सम्पर्क में अधिकाधिक आना चाहिए और परस्पर के सहयोग से अपने राष्ट्रीय जीवन को अधिकाधिक व्यापक, स्वस्थ तथा लोककल्याणकारी दिशा की ओर अग्रसर करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह सच है कि इस प्रकार के सम्बन्ध से प्रारम्भ में हमारे सौन्दर्यजनित सृजन स्वप्नों को धक्का लगेगा, वे स्वच्छन्दतापूर्वक पंख फैलाकर नहीं उड़ सकेंगे, किन्तु यदि हमारे साहित्यकारों में क्षमता तथा सबल सृजन चेतना है तो वे धीरे-धीरे इस गतिरोध से उबरकर मानव तथा जन-जीवन की ठोस अनुभूतियों से सम्पन्न होकर यथार्थ की ओर अग्रसर हो सकेंगे। इससे उनमें शक्ति, स्फूर्ति तथा प्राणों का ही संचार नहीं होगा, वे लोक-जीवन को भी अपने महत्त्वपूर्ण विचारों तथा अनुभवों से प्रभावित कर सकेंगे और जीवन की वास्तविकता के अधिक निकट आ सकेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिकतम साहित्य जीवन की यथार्थ तथा आदर्श दोनों ही प्रकार की वास्तविकताओं से कटकर अत्यन्त भावस्थ, व्यक्तिगत तथा कूप गम्भीर हो गया है। राष्ट्र-जीवन, देश-जीवन तथा मानव-जीवन को प्रभावित तथा प्रेरित करनेवाली व्यापकता तथा क्षमता का उसमें नितान्त अभाव मिलता है। ऐसी आकाश कुसुम कल्पनाएँ तथा भावनाएँ हिन्दी साहित्य में पहिले कहीं नहीं पायी जातीं।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि हमारे साहित्य को अगर अधिक उपयोगी तथा मानव निधि सम्पन्न होना है तो उसे शीघ्र ही व्यापक लोकजीवन तथा देश जीवन से घनिष्ट सम्पर्क स्थापित कर लेना चाहिए, जिसकी गतिविधियों की वर्तमान राजसत्ता ही नियामक है। छायावाद युग ने मानव-कल्याण तथा जीवन-सौन्दर्य की सम्भावनाओं की जो मोटी-मोटी रेखाएँ खींची हैं नये साहित्यकार को उनमें अधिक गहराई, विस्तार तथा विवरण भरना है जिससे उनमें अधिक व्यापकता तथा वास्तविकता आ सके।

मैं साहित्यकार का कल्याण स्वतन्त्र रहने में नहीं, परस्पर निर्भर रहने तथा संयुक्त रहने में देखता हूँ। लोक-जीवन का एक उद्बुद्ध छोर यदि साहित्यकार अथवा कलाकार है तो उसका दूसरा समर्थ छोर राजसत्ता है; दोनों ही परिणतियाँ लोक-जीवन के विकास तथा कल्याण के लिए आवश्यक हैं। छायावाद समष्टि दृष्टि से जिसे विश्व जीवन कहता

था आज के साहित्यकार के लिए वही विस्तार, विवरण तथा व्यष्टि-समष्टिगत पूर्णता का प्रतीक लोक-जीवन है। अतः नये युग-जीवन के ढाँचे में इन दोनों का परस्पर का निकट सम्पर्क तथा सहयोग एक अनिवार्य मान्यता-सी बन गयी है। भौतिक विज्ञान का इस युग में जैसा विकास हुआ है और उसने मानव के बाहरी-भीतरी जीवन को जिस प्रकार प्रभावित कर उसके लिए एक नवीन चैतन्यपूर्ण धरा-जीवन सुलभ करने की सम्भावना का द्वार खोल दिया है उससे जन-समाज और जनतन्त्र दोनों ही का जीवन एक ही सत्य के पर्याय बन गये हैं। फलतः प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह बुद्धिजीवी हो या श्रमजीवी, इस युग में राजसत्ता का ही अंग है—और वह उसके अच्छे-बुरे प्रभावों से पलायन कर बच नहीं सकता। इसलिए इस युग के साहित्यकार के लिए और भी अनिवार्य हो गया है कि वह राजसत्ता के सम्पर्क से बचने का प्रयत्न न कर उससे अपनी प्रबुद्ध बुद्धि तथा विकसित क्षमता के साथ जूझे—उसे भी झकझोरे और स्वयं भी जीवन-मन्थन कर अपने को बदले—यही मुझे उसकी अवश्यम्भावी नियति प्रतीत होती है। मुझे राजसत्ता की मात्र शक्तिमद का प्रतीक मानना भावप्रवण, संवेदनशील साहित्यिक की हीन भावना तथा रिक्त भय का ही द्योतक मालूम देता है। अतः उसे अपनी शक्ति को पहचानकर उसे जाग्रत कर उसका सदुपयोग राजसत्ता की निरंकुशता के नियन्त्रण तथा लोक-सत्ता की सफलता के लिए करना चाहिए। क्योंकि राजसत्ता को ही भरी-पूरी बनाकर लोकसत्ता बनाना है।

हमारी रागात्मकता में अभी मध्ययुगीन प्रभाव इतने गहरे हैं और सामन्त मानव इतने धीरे-धीरे मर रहा है कि आज सहज ही अनेक प्रच्छन्न पूर्वग्रहों के कारण हमारे चेतन मन में अनेक प्रकार के वैषम्य, विरोध तथा आशंकाएँ उठकर हमारे मानस को मरोड़ती-ऐंठती रहती हैं और जीवन के सहज प्रवाह को ठौर-ठौर पर कुण्ठित कर रोकती रहती हैं। पर यह तो कुछ ही दशकों की व्याधि है; वर्तमान जीवन-प्रवाह का अध्ययन यही प्रमाणित करता है कि भविष्य में व्यापक सम्पन्न लोकजीवन और परस्परनिर्भर विश्वजीवन एक विराट् राजसत्ता या प्रजासत्ता के ही रूप में चरितार्थ होगा और इस मानस-मन्थन के परिणामस्वरूप बुद्धिजीवी साहित्यकार तथा कलाकार के लिए उस विराट् जीवन के यथार्थ की अनुभूति को आत्मसात् करना सहज तथा सुखप्रद हो जायेगा। वह उसी महान् अस्तित्व का एक अधिक प्रबुद्ध तथा संवेदनशील अंश या जीव होगा जिसके समस्त भीतरी, अतिवैयक्तिक, एकांगी विरोध तथा विषमताएँ घुल-मिलकर महान विश्व-जीवन के बहिरन्तर-सन्तुलन के सौन्दर्य को वहन करने में समर्थ हो सकेंगी।

ऐसी विश्व-सम्पन्न लोक-जीवन की स्थिति में भी एक अधिक पूर्ण महत्तम चैतन्य के वाहक या गायक कलाकार के लिए अपनी ही गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण सदैव ही सुरक्षित स्थान बना रहेगा, जो उस दिग्-व्यवस्थित विशाल लोक-जीवन की धारा को और भी सुन्दरतर, सत्यतर तथा शिवतर सम्भावना की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करता रहेगा। ऐसे महत् साहित्यकार के स्वातन्त्र्य की रक्षा राजसत्ता भी स्वयं अपने ही कल्याण के लिए करने में अपने को धन्य मानेगी।

यह सच है कि हमारे देश की वर्तमान स्थिति में साहित्यकार और राजसत्ता के पारस्परिक सम्पर्क तथा सहयोग को बनाने तथा बढ़ाने में दोनों को ही अत्यन्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा,-पर इस संकट-स्थिति से तो परित्राण नहीं है, क्योंकि यह हमारे राष्ट्रीय तथा मानवीय जीवन के विकास की एक अवश्यम्भावी निर्मम अवस्था या स्थिति है जिससे होकर ही हम आगे बढ़ सकते हैं। पीछे हटना तो पलायन, आत्म-विनाश तथा लोक-अमंगल का ही द्योतक है।

साहित्यकार की आस्था

आध्यात्मिक दृष्टि से आस्था अपने में एक निरपेक्ष मूल्य है। वही गति और वही गन्तव्य है। अर्थात् वह ऐसी शुद्ध आन्तरिक गति है जो स्वत: गन्तव्य तक ले जाती है या गन्तव्य बन जाती है। इसी अर्थ में कहा गया है 'भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ, याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्।'

पर साहित्यकार की आस्था साधारणतया अपने ही में मूल्य नहीं कही जा सकती। बौद्धिक चेतना से उसका सम्बन्ध होने के कारण उसमें बाह्य जीवन के भी अनेक मानसिक, भौतिक स्तर जुड़े होते हैं। इस दृष्टि से वह निरपेक्ष मूल्य न होकर हृदय की गहराई या भावना की तीव्रता भर होती है, और यदि वह सन्मूल्ययुक्त होती है तो सदास्था अन्यथा असदास्था होती है। इस प्रकार साहित्यकार की आस्था एक सापेक्ष धारणा या प्रत्यय भर होती है। वह सौन्दर्य-प्रधान, आनन्द या रस-प्रधान, आत्मकल्याण या लोककल्याण-प्रधान आदि अनेक प्रकार की हो सकती है और अपनी व्यापकता तथा सत्यानुभूति के अनुरूप ही उसका मूल्य आँका जा सकता है। उदाहरणत: साहित्यकार की आस्था लोककल्याण-प्रधान होने पर भी उसका मूल्य कलाकार के समाज-ज्ञान, लोकहितानुभूति आदि सम्बन्धी उसके गहन-व्यापक एवं उपयोगी दृष्टिकोण पर ही निर्भर करेगा। सौन्दर्यबोध, रसबोध, आत्मज्ञान, समाज-ज्ञान, देशकाल-युग का ज्ञान आदि साहित्यकार की आस्था के तत्त्व कहलायेंगे जिन्हें वह अपनी गहरी-उथली रसानुभूति, छोटी-बड़ी सृजन-प्रतिभा, उच्च-मध्य स्तर की प्रेरणा के अनुरूप साहित्य-सृष्टि में ढालेगा, जिसमें उसकी सूक्ष्म-स्थूल शिल्पदृष्टि का भी अवश्य प्रभाव रहेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि आस्था अन्त:प्रेरणा तक ही सीमित नहीं है; वह अपने सृजन-व्यापार में अनेक जटिल प्रणालियों से होकर मूर्त होती है। अपने आदर्श रूप में आस्था को अत्यन्त सशक्त अन्त:प्रेरणा होना चाहिए जो साहित्यिक सृष्टि के बाह्य उपादानों को कलाकार के आन्तरिक सत्य के अनुरूप संयोजित करने में सफल हो सके।

वर्तमान युग में, साहित्य में आस्था मुख्यत: दो अर्थों में प्रयुक्त हो रही है, जिसके विवेचन में सम्भवत: आप अधिक दिलचस्पी रखते हैं। एक अर्थ में वह अन्तत: वैयक्तिक आस्था के रूप में व्यवहृत हो रही है

और दूसरे अर्थ में सामाजिक आस्था के रूप में। इस दृष्टि से विचार करने पर 'ज्योत्स्ना' के बाद का मेरा समस्त साहित्य ही आस्था के इन रूपों पर प्रकाश डालता आ रहा है। और मैंने वैयक्तिक तथा सामाजिक आस्थाओं को मानवीय आस्था से समन्वित एवं संयोजित करना साहित्यकार की दृष्टि से अपना कर्तव्य समझा है, क्योंकि व्यक्ति और समाज मानव-सत्य के केवल दो छोर हैं जिनके मध्य में वह निरन्तर प्रवाहित एवं विकसित होता है। यह आज के युग की परिस्थितियों की विवशता है कि विचारक वर्ग अपनी-अपनी स्थिति एवं सुविधा के अनुसार आज मानव-सत्य के वैयक्तिक अथवा सामाजिक स्वरूप को अधिक महत्त्व दे रहे हैं।

एक ओर आज समाजवादी आस्था से अनुप्राणित साहित्य है जिसने अपने मूल्यों को मार्क्सवाद से ग्रहण किया है, जिस पर साम्यवादी देशों में केवल मन के ही नहीं, जीवन के स्तर पर भी प्रयोग हो रहे हैं और जो धीरे-धीरे अपनी कट्टरपन्थी सीमाओं से बाहर छटपटाकर अब अधिक व्यापक तथा उदार रूप धारण कर रहा है। भविष्य में उसे और भी अधिक मानवीय तथा मंगलमय बनना है। समाजवादी प्रवृत्ति अभी भी अन्ध प्रवृत्ति है, उसे अपना पथ प्रकाशित करना है,—उसकेसाथ लोक-भावना तथा मानव-भविष्य की आशा है।

दूसरी ओर आज वैयक्तिक आस्था का साहित्य मिलता है। यह वैयक्तिक आस्था प्राचीन आदर्श व्यक्तिवादी आस्था नहीं, जिसे विकसित व्यक्तिवाद की आस्था कहते हैं। यह वैयक्तिक आस्था आज हमारे साहित्य में जनतान्त्रिक (साम्यवादी) देशों से विभीत यूरोप के उन परम्परावादी तथाकथित बुद्धिजीवियों से ज्यों की त्यों उधार ली हुई आस्था है जो आज अपनी नाक के सिवा और कुछ नहीं देख पाते और जिस अनास्था-रूपी आस्था का ये मानवतावाद के नये अधिनायक आज अस्तित्ववाद से लेकर साम्प्रदायिक धार्मिक पुनर्जागरण सम्बन्धी अनेकानेक, भीतर से खोखले पर बाहर से आकर्षक, सिद्धान्तों, दर्शनों एवं साहित्यिक मान्यताओं के रूप में प्रचार कर रहे हैं,—वह सत्यतः प्रतिगामी प्रयोग है।

सत्य की ऐसी बहुमुखी और वहिर्मुखी मान्यताओं एवं आस्थाओं के युग में, मुझे, मानवता के निर्माण एवं कल्याण के लिए, मानव-जीवन के भीतरी-बाहरी (अन्तर्व्यक्ति और बहिः समाजरूपी) दोनों संचरणों की प्रेरणा-शक्तियों तथा मान्यताओं में सामंजस्य स्थापित कर आगे बढ़ना ही विवेक-सम्मत प्रतीत होता है। सामंजस्य का सत्य अपने में प्रेरणाप्रद तथा सक्रिय न होते हुए भी मानव-विकास की एक अनिवार्य स्थिति है जिसे संक्रान्ति-काल में आगे बढ़ने के लिए सेतु या सोपान बनाना आवश्यक हो जाता है।

साहित्यकार की आस्था, निस्सन्देह, मनुष्यत्व के वैयक्तिक और सामाजिक आयामों से कहीं महत् एवं अमेय है, जो अपनी अन्तर्दृष्टि से मानव-व्यक्तित्व, मानव-समाज तथा मानव-जगत् को अतिक्रम कर उन्हें सुन्दर से सुन्दरतर, मंगल से मंगलतर तथा पूर्ण से पूर्णतर की ओर ले जाकर उनका पुनर्मूल्यांकन एवं पुनर्निर्माण कर सकती है।

साहित्य की चेतना

मुझसे आप लोग किसी प्रकार के भाषण की आशा न करें, मैं आप लोगों से केवल मिलने आया हूँ। अध्यापन का कार्य मेरा क्षेत्र नहीं है, किन्तु मैं उसके उत्तरदायित्व को समझता हूँ। अतएव एक साधारण साहित्यसेवी के नाते मैं आपकी उपस्थिति का स्वागत करता हूँ और आप लोगों के साथ साहित्यिक वातावरण में साँस लेने का सुख अनुभव करता हूँ।

आप केवल पाठ्य-पुस्तकों को रटकर ही साहित्य के अन्तस्तल में नहीं पैठ सकते और न उसका महत्त्व ही समझ सकते हैं। साहित्य की ओर आकर्षित होना और उसका रस ले सकना ही पर्याप्त नहीं है। साहित्य के मर्म को समझने का अर्थ है वास्तव में मानव-जीवन के सत्य को समझना। साहित्य अपने व्यापक अर्थ में मानव-जीवन की गम्भीर व्याख्या है। उसमें मानव-चेतना की ऊँची से ऊँची चोटियों का प्रकाश, मन की लम्बी-चौड़ी घाटियों का छायातप तथा जीवन की आकांक्षाओं का गहरा रहस्यपूर्ण अन्धकार संचित है। उसमे मानव-सभ्यता के युग-युगव्यापी संघर्ष का प्रच्छन्न इतिहास तथा मनुष्य के आत्म-विजय का दर्शन अनेक प्रकार के आदर्शों, अनुभूतियों, रीति-नीतियो तथा भावनाओं की सजीव संवेदनाओं के रूप में संगृहीत है। यदि साहित्य को पढ़कर हम मनुष्य-जीवन को संचालित करनेवाली शक्तियों तथा उनके विकास की दिशा को नहीं समझ सके, तो हम वास्तव में साहित्य के विद्यार्थी कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। इसलिए मेरा आपसे अनुरोध है कि आप साहित्य को मनुष्य-जीवन के सनातन सघर्ष से कोई विभिन्न वस्तु न समझें, बल्कि उसे जीवन के दर्शन अथवा जीवन के दर्पण के रूप में देखें। उस दर्पण में जहाँ आप आत्मचिन्तन द्वारा अपने मुख को पहचानना सीखें, वहाँ अपनी सहानुभूति को व्यापक तथा गम्भीर बनाकर उसके द्वारा अपने विश्व-रूप की अथवा मानव के विश्वदर्शन की भी रूप-रेखा का आभास प्राप्त करना सीखें। साहित्य के अध्ययन का अर्थ है रस द्वारा ज्ञान की उपलब्धि और ज्ञान ही शक्ति भी है। अतएव आप जब तक ज्ञान द्वारा शक्ति का संचय नही करेंगे, तब तक आप युग-जीवन का संचालन भी नहीं कर सकेंगे और मानव-जीवन के शिल्पी भी नहीं बन सकेंगे। आपको मनुष्य के भीतरी जीवन का नेतृत्व करना है,—साहित्य का क्षेत्र अन्तर्जीवन का क्षेत्र है। इसलिए आपको अपना उत्तरदायित्व अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

आप लोग जो हिन्दी साहित्य द्वारा ही जीवन की प्रेरणा प्राप्त करना चाहते हैं, आपको यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि आज का साहित्य मानव का नवीन रूप से निर्माण कर रहा है। आज का मनुष्य रेडियो, वाक्‌चित्रों, समाचार-पत्रों आदि द्वारा समस्त विश्व के मन को धारण तथा वहन कर रहा है। वह विश्व-मन के स्थूल-सूक्ष्म प्रभावों से प्रभावित होकर नवीन रूप से संगठित हो रहा है। आज का साहित्य एकदेशीय अथवा एकजातीय होकर उन्नति नहीं कर सकता, उसे सार्वभौम बनना ही होगा। आधुनिकतम हिन्दी साहित्य में आपको जो एक प्रगतिवाद की

धारा मिलती है, उसका वास्तविक सन्देश यही है। मानव-स्वभाव इतना दुरूह तथा जटिल है और जीवन की परिस्थितियों में इतना अधिक वैचित्र्य है कि संसार में कोई भी सिद्धान्त अथवा वाद बहुमुखी हुए बिना नहीं रह सकता। प्रगतिवाद भी इससे मुक्त नहीं है। अतएव प्रगतिवाद के अन्तर्गत आपको जो एक राजनीतिक संघर्ष से बोझिल विचार तथा भावना-धारा मिलती है, उसे प्रगतिवाद का निम्नतम धरातल अथवा अस्थायी स्वरूप समझना चाहिए। अपने स्थायी अथवा परिपूर्ण रूप में वह एक सांस्कृतिक धरातल की सृजनात्मक चेतना है, जिसका उद्देश्य विभिन्न संस्कृतियों, धर्मों तथा नैतिक दृष्टिकोणों के विभेदों से मनुष्य की चेतना को मुक्त कर उसे युग-परिस्थितियों के अनुरूप व्यापक मनुष्यत्व में सँवारना है। वे परिस्थितियाँ केवल बाहरी आर्थिक तथा राजनीतिक आधारों तक ही सीमित नहीं हैं, उनका सम्बन्ध मनुष्य-जीवन की अन्तरतम अनुभूतियो तथा गहनतम विश्वासों से भी है। ये अन्तर्विश्वास, जिन्हें आप चाहें आदर्श कहें अथवा नैतिक दृष्टिकोण, पिछले युगों की आध्यात्मिक तथा भौतिक परिस्थितियों से सम्बद्ध मानव-चेतना के वे अभ्यास हैं, जिनका हमें इस युग में अधिक ऊर्ध्व, गहन तथा व्यापक मनुष्यत्व के रूप में उन्नयन करना है। इसके लिए सभी देशों के महाप्राण तथा युग-प्रबुद्ध साहित्यिक साधना कर रहे हैं। अतएव वह साहित्य जो सम्प्रति मानव-जाति की अन्तरतम एकता के सिद्धान्तों से अनुप्राणित है, मानव-जाति की विभिन्न श्रेणी, वर्गों तथा सम्प्रदायों के बीच के व्यवधानों को हटाने के लिए प्रयत्नशील है, जो मानव के विश्व-सम्मेलन के लिए नवीन नैतिक दृष्टिकोण, नवीन सौन्दर्य-बोध तथा नवीन सांस्कृतिक उपादानों का सृजन कर रहा है, वही प्रगतिशील साहित्य वास्तव में इस युग के साहित्य का प्रतिनिधित्व कर रहा है। ऐसा साहित्य पिछले युगों के समस्त वाङ्मय में जो कुछ भी संग्रहणीय है, उसका सम्पूर्ण उपयोग करने के साथ ही उन नवीन-जीवन-मानों तथा सूक्ष्म अनुभूतियों पर भी प्रयोग कर रहा है, जिनके समावेश से इस युग की भाप, बिजली और अणुशक्ति से अति सक्रिय परिस्थितियाँ एक सार्वभौम मानवीय सौन्दर्य से विभूषित हो सकें तथा उनमें एक व्यापक सामाजिक सामंजस्य स्थापित हो सके।

आज के साहित्य के विद्यार्थी को अपने युग की चेतना के शिखर पर खड़ा होकर पिछले युगों की ऊँची-नीची तलहटियों तथा संकीर्ण अँधेरी घाटियों पर दृष्टिपात करना चाहिए तथा उनके अनेक छायाओं से भरे हुए सौन्दर्य का निरीक्षण कर, उनकी भावनाओं तथा विचारों के ऋजु-कुंचित नद-निर्झरों का कलरव श्रवण कर, उनके तरह-तरह के राग-विराग की संवेदनाओं से उच्छ्वसित वातावरण को साँसों से हृदय में भरकर मानव-सभ्यता के संघर्ष-संकुल विकास का मानचित्र बनाना चाहिए, जिससे भिन्न-भिन्न युगों के आदर्शों और वादों को यथास्थान संयोजित कर वह मानव-चेतना के इतिहास का यथोचित अध्ययन कर सके और उसके भविष्य के गौरव का अनुमान लगा सके। इसी प्रकार की साहित्य-साधना में मैं आपको अश्रान्त रूप से तत्पर देखना चाहता हूँ। साहित्य तथा कला का एक बाहरी स्वरूप भी होता है, उसका भी अपना

एक जीवन होता है और वह भी परस्पर के आदान-प्रदान, अध्ययन-मनन आदि से घटता-बढ़ता तथा बदलता रहता है। वह स्वरूप लेखकों के व्यक्तित्वों, उनकी शैलियों, साहित्यिक प्रथाओं, प्रचलनों तथा छन्दों-अलंकारों का रूप है, जिसका अध्ययन तथा अभ्यास भी साहित्य-साधना के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। इस स्वरूप का ज्ञान जैसे साहित्य के स्वरों का, उसके सा-रे-ग-म का ज्ञान है, जिसकी साधना से आप साहित्य की चेतना को भावना का महाप्राण रूपविधान पहनाते हैं और उसके सौन्दर्य से हृदय को प्रभावित करते हैं। इसे आप साहित्य का गौण अथवा स्थूल स्वरूप कह सकते हैं। भाव और भाषा में भाव को ही प्रधानता देनी चाहिए, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि भाषा के प्रति हमें विरक्त हो जाना चाहिए। चेतना तथा पदार्थ की तरह भाव तथा भाषा ऐसे अविच्छिन्न रूप से मिले हुए हैं कि एक के बिना दूसरे की कल्पना भले ही की जा सके, किन्तु अभिव्यक्ति असम्भव है। भावना की चेतना के साथ ही इस युग में भाषा के सौन्दर्य में भी परिवर्तन आ रहा है। भाषा अधिक सूक्ष्म तथा प्रच्छन्न हो गयी है। ध्वनि, व्यंजना तथा प्रतीकों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है एवं भिन्न-भिन्न साहित्यों के अनुशीलन के प्रभाव से बाह्य विन्यास तथा अलंकार आदि भी नवीन रूप ग्रहण कर रहे हैं। पर इन पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालना अध्यापकों का काम है और मुझे विश्वास है कि आप साहित्य के उस अंग को भी उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखेंगे।

अन्त में एक हिन्दी साहित्यसेवी के नाते मैं आपके प्रति अपनी शुभ-कामनाएँ तथा सद्भावनाएँ प्रकट करता हूँ और आशा करता हूँ कि हिन्दी साहित्य शीघ्र ही मानव की नवीन चेतना को वाणी देकर अपने प्रेमियों को अधिक से अधिक मानसिक वैभव प्रदान कर सकेगा, उनके हृदयों में व्यापक मनुष्यत्व का स्पन्दन, उनके पलकों में नवीन सौन्दर्य के स्वप्न भर सकेगा तथा आज के साहित्य के विद्यार्थी कल के सत्य-द्रष्टा तथा सौन्दर्य-स्रष्टा बन सकेंगे।

[एक अभिभाषण का अंश]

वर्तमान संकट-स्थिति और साहित्यकार

चीन के भारत पर आकस्मिक आक्रमण की बात सोचकर मन क्षण-भर के लिए स्तब्ध हो उठता है। भारत-जैसे शान्तिकामी जीवन की पीठ पर चीनियों के हिंस्र प्रहार का औचित्य किसी भी दृष्टि से समझ में नहीं आता। भारत ने चीन से ही नहीं संसार के सभी देशों से मैत्रीभाव का आदर्श स्थापित करने का इन वर्षों में प्रयत्न किया है और भारत और चीन तो जिस ऐतिहासिक और सांस्कृतिक लम्बी सुनहली शृंखला में बँधे हुए रहे हैं उस पर दृष्टि रखते हुए यह किसी को भी विश्वास नहीं होता था कि हमारा ऐतिहासिक पड़ोसी हमारे साथ ऐसा अन्यायपूर्ण बर्बर व्यवहार करेगा। वास्तव में भारत को प्रारम्भ में युद्धक्षेत्र में जो धक्का

सहना पड़ा उसका मुख्य कारण उसका यही सहज विश्वास था। परन्तु पुरुषार्थी देश-राष्ट्र संकट को उन्नति का सोपान बनाकर आगे बढ़ता रहता है। समस्त नैतिक सांस्कृतिक मान्यताओं के ऊपर भारतवर्ष पुरुषार्थ या पौरुष के मूल्य को सर्वोच्च स्थान देता आया है। वह देश-काल तथा नियति से भी ऊपर पुरुषार्थ को मान्यता देता गया है। इस दृष्टि से देखने पर चीन के इस अमानुषी आक्रमण से भारत को लाभ ही हुआ है। स्वाधीनता मिलने के बाद उसे आत्म-मन्थन का अवसर नहीं मिला था और उसकी सोयी हुई शक्तियों का संगठन नहीं हो पाया था। इस उग्र चेतावनी ने उसके प्राणों में नवीन प्रेरणा, नवीन चेतना, नवीन एकता तथा नवीन शक्ति-स्फूर्ति की उज्ज्वल अग्नि को प्रदीप्त कर दिया है। उसका विविधता में एकता का सिद्धान्त आँखों के सम्मुख प्रत्यक्ष मूर्तिमान हो उठा है। आज समस्त देश एक विराट् लोकयज्ञ के लिए आत्माहुति देने को तैयार है।

देश के इस संकट से शिक्षा लेकर हम साहित्यकारों एवं कलाकारों को भी अपनी शक्तियों का लोक-कल्याण के लिए नये रूप से उपयोग करना है और हमने इस चेतावनी को स्वीकार कर अपनी नवोन्मेषिणी प्रतिभाशक्ति को उस ओर मोड़ भी दिया है। हमें आज व्यापक विश्व-स्थिति के सन्दर्भ में अपने वर्तमान संकट को रखकर उसका उचित मूल्य आँकना है। स्थायी और अस्थायी परिस्थितिजन्य मूल्यों के भेद को समझकर दोनों में एक ऐसा सामंजस्य स्थापित करना है कि साँप भी मर जाये—इस सन्दर्भ में ड्रेगन का दर्प भी चूर हो जाये—और लाठी भी न टूटे। अर्थात् भारत के जो समस्त विश्वमानवता के लिए कल्याणकारी पंचशील सहअस्तित्व तथा तटस्थता के आदर्श हैं, उनको भी हम न भूलें। इस युद्ध में विजय प्राप्त कर शत्रु को देश से बाहर खदेड़ना तो हमारा प्रथम संकट कर्त्तव्य है ही, किन्तु साथ ही विश्व में शान्ति की स्थापना के लिए जिस विराट् प्रतिनिधित्व एवं दायित्व का भार शतियों से हमारे कन्धों पर सभ्यता के इतिहास ने डाल दिया है उस स्थायी कर्त्तव्य और सांस्कृतिक निधि को भी हमें मन की आँखों से ओझल नहीं होने देना चाहिए। किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण आज हमारे लिए इस अवसर से लाभ उठाकर अपने देश में नये जीवन का संचार करना है और जो मध्ययुगीन दृष्टिकोण एवं ह्रास तथा विघटन की शक्तियाँ इधर कुछ वर्षों से हमारे देश में नैराश्य, कुण्ठा, साम्प्रदायिक विद्वेष आदि फैला रही हैं उनसे देश के मानस को मुक्त कर उसमें नवीन राष्ट्रीय एकता की गरिमा के सौन्दर्य को प्रतिष्ठित करना है। हमें आज लोकचेतना को उद्बुद्ध कर उसमें सामूहिक जीवननिर्माण के लिए तथा आपत्तिकाल में अपने देश की रक्षा के लिए आत्मसमर्पण का भाव जाग्रत् करना है। हमारा देश भाव-जीवी रहा है। हमने वस्तुजीवन के सौन्दर्य, ऐश्वर्य तथा उसके महत्त्व को ठीक-ठीक नहीं पहचाना है। इसीलिए सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन-निर्माण की दृष्टि से हमारे भीतर समुचित उत्साह, लगन एवं संयुक्त कर्म की कमी देखने को मिलती है जिसके कारण हम अपने ही भीतर से क्षीण तथा निःशक्त होते जा रहे हैं और आज की वैज्ञानिक दृष्टि का ठीक-ठीक उपयोग अपने राष्ट्रनिर्माण के लिए नहीं कर पा रहे हैं। हमें अपने भीतर

के इस खोखले सूनेपन को नवीन वास्तविकता की महिमा से भरना है, अहिंसा तथा शान्ति को इस वास्तविकता की सामूहिक लौह पीठिका पर स्थापित कर उन्हें जीवन-उपयोगी नवीन सक्रिय अर्थगौरव प्रदान करना है। आशावादी होने के कारण मुझे विश्वास है कि हम अपने दुर्धर्ष शत्रु की अमानुषी आत्मविस्तार की महत्वाकांक्षा पर अवश्यम्भावी विजय प्राप्त कर अपने पड़ोसी को फिर से मित्रता की सुनहली रज्जु में बाँध सकेंगे। साहित्यकार शान्ति, विश्वप्रेम और मानवमूल्यों का योद्धा तथा संरक्षक है। उसे जंगल की बर्बरता को मनुष्यता में, विश्वध्वंसक हिंसा को लोक-रचना के प्रेम में तथा पाशविक दानवता को मानवता में परिणत कर धरा-प्रकृति के मुख को संस्कृत बनाना है। यही भारतवर्ष की विजय है जिसके लिए उसकी चेतना समय-समय पर अविजेय रणचण्डी का रूप धारण कर विश्वचेतना के विकास में सहायक बनती आयी है।

इस युग में राजनीतिक विचारधाराओं में इतना गहरा संघर्ष है कि इस प्रकार के युद्ध का क्या रूप तथा परिणाम हो सकता है, यह कहना कठिन है। इसलिए भारत के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह अपने को सभी प्रकार से शत्रु का सामना करने के लिए सन्नद्ध करे। उच्च आदर्शवाद को धरती के जीवन का अंग बनाने के लिए उतनी ही अधिक शक्ति और सामर्थ्य भी चाहिए। बलहीन देश न आत्मा की प्राप्ति कर सकता है, न पृथ्वी पर अपने अस्तित्व की ही रक्षा कर सकता है। इसलिए आज के लेखक का यह भी दायित्व है कि वह देश को मध्ययुगीन खोखले आदर्शवाद से मुक्त कर उसकी चेतना के लिए युग की वास्तविकता का लौह-पंजर तैयार करे जिससे वह धरती पर अपने पैरों के बल खड़ा हो सके। अन्धकार की शक्तियों पर विजय पाना ही पर्याप्त नहीं, प्रकाश की शक्तियों को मानव-जीवन में अवतरित कराने के लिए आज हमें दुहरी शक्ति की आवश्यकता है। लेखक दोनों प्रकार की शक्तियों का आह्वान कर देश के मानस को जाग्रत् तथा उद्बुद्ध बना सकता है, योद्धा से कम आज लेखक का दायित्व नहीं है।

साहित्य : समसामयिक सन्दर्भ में

इस युग में समसामयिक का अर्थ अत्यन्त व्यापक हो गया है, वह एक-देशीय अर्थ में समसामयिक न रहकर अन्तर्देशीय दृष्टि से सम-भौगोलिक भी हो गया है। क्योंकि इस युग में प्रायः सभी भू-भाग तथा देश एक-दूसरे के अत्यन्त निकट आ गये हैं और एक देश दूसरे देशों के जीवन को भी गम्भीर रूप से प्रभावित करने में समर्थ हो सका है। विज्ञान के कारण देश-काल की परिभाषा बदल गयी है, वे एक प्रकार से मनुष्य के हस्तामलक-वत् हो गये हैं। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक है कि संसार के विभिन्न देशों की संस्कृतियाँ, विचारधाराएँ, रहन-सहन की पद्धतियाँ, धार्मिक-नैतिक दृष्टिकोण तथा चिन्तन-सृजन की प्रक्रियाएँ एक-दूसरे के घनिष्ठ सम्पर्क में आयें और उनके पारस्परिक आदान-प्रदान तथा टकराहट से आज मनुष्यों

का मानसिक जीवन आन्दोलित तथा मन्थित होकर नयी दिशाओं तथा व्यापक अन्तरिक्षों की ओर प्रवाहित होने की चेष्टा में संलग्न हो।

विज्ञान, दीर्घकाल से जड़ीभूत, मानव-जीवन की परिस्थितियों को सक्रिय बनाकर तथा मनुष्य को जीवन के प्रति नयी दृष्टि देकर उसके भीतर नयी क्षमताओं का उद्घाटन करने में सफल हुआ है जिसके कारण उसके मन में अनेक युगों से स्थापित जीवन-सम्बन्धी प्राचीन मान्यताओं के सम्बन्ध में संघर्ष पैदा हुआ है। आज प्रायः संसार के सभी देशों में जीवन तथा नैतिक मान्यताओं सम्बन्धी प्राचीन दृष्टिकोण करवट बदल रहा है और एक ओर यदि प्राचीन मान्यताओं के ह्रास-विघटन तथा भविष्य में उनकी सन्दिग्धता के कारण मनुष्य के मन मे अनास्था, सन्देह तथा भय आदि का धुन्ध छाया हुआ है तो दूसरी ओर एक नये जीवन-अरुणोदय की अस्पष्ट आशा-किरणें भी उसे नयी जीवन-दिशा का बोध कराने का प्रयत्न कर रही हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सन्धि-बेला के युग में समसामयिकता के अन्तर्गत अनेक प्रकार के दृष्टिकोण तथा स्तरों का संघर्ष वर्तमान है। इस संघर्ष का जो मुख्य स्वरूप देखने को मिलता है वह है वैयक्तिक और सामाजिक मूल्यों का संघर्ष जिसके अन्तर्गत हम साहित्य के स्तर पर देखते हैं कि कुछ लेखक व्यक्तिनिष्ठ मूल्यों पर अधिक बल देते हैं और कुछ समाजनिष्ठ मूल्यों पर। यह संघर्ष वहाँ पर अत्यन्त एकांगी रूप ग्रहण कर लेता है जहाँ व्यक्तिनिष्ठ धारणा सामाजिक मूल्यों की उपेक्षा कर व्यक्ति-मुक्ति या व्यक्ति-स्वतन्त्रता की निरपेक्ष सत्ता को जीवनमूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहती है। अस्तित्ववादी विचारधारा का एक पक्ष इसी एकांगी दृष्टि का पोषक है। इसी प्रकार दूसरी ओर समाजनिष्ठ मूल्यों को प्रश्रय देनेवाले कुछ चिन्तक तथा सर्जक, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की उपेक्षा कर, सामाजिक या सामूहिक जीवन-पद्धति को इतना अधिक महत्त्व देते हैं कि वे सामाजिकता को मानवीय नमनीयता से रिक्त एक यान्त्रिक सिद्धान्त बना देते हैं। इन्हें आप उग्र समाजवादी कह सकते हैं। अस्तित्ववाद का जन्म इसी प्रकार की यान्त्रिक सामूहिकता के विरोध में हुआ है। मानव-कल्याण तथा लोक-मंगल इसी में निहित है कि लेखक वर्ग दोनों मूल्यों के आपस के सम्बन्ध को समझने का प्रयत्न करे। वैयक्तिक मूल्य, मानव-जीवन-विकास में गुणात्मक उन्नयन के लिए आवश्यक है तो सामाजिक मूल्य राशिवाचक अभ्युदय के लिए। व्यक्ति और समाज मानव-जीवन के सत्य के दो अनिवार्य अंग हैं जो एक-दूसरे पर अविच्छिन्न रूप से निर्भर हैं। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की रक्षा करनेवाला समाज अधिक मानवीय वैभव-पूर्ण तथा सांस्कृतिक सम्पत्ति-सम्पन्न होगा। सृजनचेतना की प्रक्रिया के लिए व्यक्ति-स्वातन्त्र्य अनिवार्य है। किन्तु प्रबुद्ध व्यक्ति उस स्वातन्त्र्य का उपयोग सामाजिक मंगल के लिए ही करेगा। सामाजिकता पर निष्ठा रखनेवाला वैयक्तिक मूल्य अपने सर्जन-स्वातन्त्र्य को सार्थकता प्रदान कर सकेगा। वैसे भी एक सुसंगठित समाज में वैयक्तिक विकास के लिए अधिक सुविधा तथा व्यापक क्षेत्र मिल सकेगा। साधारणतः व्यक्ति तथा समाज की चेतना का सार-तत्त्व एक ही होता है, क्योंकि व्यक्ति और समाज दोनों इतिहास या सभ्यता की देन हैं, न कि प्रकृति की, जिसने केवल

जीव की सृष्टि की है।

इसी वैयक्तिक तथा सामाजिक चेतना के अन्तःसंघर्ष ने राजनीतिक-आर्थिक स्तर पर पूंजीवाद-साम्यवाद के बाह्य संघर्ष के रूप में अभिव्यक्ति पायी है, जिसने मार्क्सवाद-जैसी ऐतिहासिक विचारधारा को जन्म दिया है, जिसका कि सीधा सम्बन्ध साहित्य से न होने के कारण उसके सम्बन्ध में अधिक कहना असंगत होगा। वैसे मानव-जीवन का सत्य अखण्डनीय है, वह विभाजित नहीं हो सकता, इस दृष्टि से प्रत्येक सांस्कृतिक, साहित्यिक तथा सौन्दर्य-मूल्य के भी प्रच्छन्न मूल राजनीतिक आर्थिक स्तरों में होते हैं, भले ही लेखक अथवा चिन्तक उनसे अनभिज्ञ हो।

इस वैयक्तिक सामाजिक मूल्य-सम्बन्धी संघर्ष के एक मनोवैज्ञानिक आयाम ने इस युग के सेक्स-साहित्य मे भी वाणी पायी है। वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का मूल्य ही उच्छृंखल होकर आज जीवन-यथार्थ के नाम पर मुख्यतः कहानी-साहित्य में यौन-सम्बन्धी विस्तृत एवं नग्न चित्रणों में अंकित किया जा रहा है। यह केवल वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के प्रेमियों का कैशोर्य है। विज्ञान ने मनुष्य को केवल बहिर्दृष्टि की क्षमता दी है जिससे भौतिक वैभव तथा कायिक सौन्दर्य के उपभोग की ही अधिक अभिवृद्धि हुई है। समय पर इस दृष्टि में सन्तुलन आयेगा और वह सामाजिक संयम के सौन्दर्य मे मण्डित हो सकेगी। वैसे भी कामशक्ति सामाजिक सम्पद् है और यौन-प्रेरणा भी सृजन-प्रेरणा का ही स्थूल रूप है, उसे आत्म-संयम से सामाजिक रचना-मंगल के लिए उपयोग में न लाकर व्यक्ति केवल आत्मभोग में ही निःशेष कर दे यह केवल उसका एकांगी, असन्तुलित तथा असामाजिक रूप होगा। यौन-प्रेरणा को नैतिक तथा सामाजिक स्तर पर उठाकर ही मनुष्य देह-भीति से मुक्त हो सकता है। आज के नग्न अनैतिक साहित्य की प्रेरणा के मूल इस पीढ़ी की गहरी कुण्ठा, अनास्था तथा निराशा में हैं जो अपना ऋण चुकाने को यदि बाध्य करती हो तो अस्वाभाविक नहीं। हमारी मध्ययुगीन अनुर्वर नैतिकता के लिए यह एक चुनौती है, जिसे उसे स्वीकार करना चाहिए और स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों में अधिक स्वाभाविकता को स्थान मिलना चाहिए, इसमें सन्देह नहीं।

आज विश्व-शक्तियों का जिस प्रकार दो विरोधी शिविरों में विभाजन हुआ है और जीवन की विगत ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के खिसक जाने के कारण जिस प्रकार ह्रास, विघटन, अनास्था, भय आदि के धुन्ध से आक्रान्त होकर मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ हो गया है उससे स्पष्ट प्रकट होता है कि आज मानवसभ्यता एक अत्यन्त निर्मम तथा संकटग्रस्त स्थिति से गुजर रही है। ऐसे संक्रान्ति काल में साहित्य में भी युग-जीवन के यथार्थ पक्ष का ही चित्रण अधिक मिलना स्वाभाविक है जिससे कि आज के युग-जीवी की चेतना आक्रान्त है। अतः आज के यथार्थ की दिशा को समझना और उसकी चौंका देनेवाली प्रतिक्रिया का मूल्य आँकना कठिन नहीं है। उसका व्यापक असन्तोष, मुखर वेदना, मानव-जीवन-सत्य के निरीक्षण-परीक्षण की चेष्टा और युग-परिस्थितियों के सन्दर्भ में किसी निश्चित मूल्य या निर्णय पर पहुंचने की अस्वीकृति निःसन्देह अपना अर्थ रखती है और समय पर वह नये व्यापक मूल्य, नये सन्तुलन तथा नये यथार्थोन्मुखी आदर्श अथवा आदर्शोन्मुखी यथार्थ की गम्भीर अनुभूति को भी

उन्मुक्त वाणी दे सकेगी। क्योंकि जैसा कि प्रसिद्ध है, विश्व-प्रकृति रिक्त स्थान को नहीं रहने देती। आज के ह्रास, सन्देह तथा भय के धुन्ध को चीरकर नयी विश्व-निर्माण की शक्तियाँ भी उन्हीं के भीतर से जन्म ले रही हैं और युग के प्रबुद्ध चिन्तकों, विचारकों तथा स्रष्टाओं का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने लगी हैं।

निश्चय ही आज चाहे कैसी ही निराशाजनक स्थिति क्यों न हो, वर्तमान ह्रास और विघटन की शक्तियों पर प्रगति की शक्तियाँ विजयी होंगी, युग के बिखराव तथा व्यक्तिगत मत-मतान्तरों पर मानव-एकता तथा लोक-समता का सत्य परस्पर सामंजस्य ग्रहण कर सकेगा, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य तथा सामाजिक संगठन के सत्य एक-दूसरे के पूरक तथा सहायक बन सकेंगे, सांस्कृतिक मूल्य, सौन्दर्य, आनन्द, प्रेम के मूल्य व्यापक ऊर्ध्व आदर्शों पर आधारित होने पर भी भौतिक तथा लौकिक जीवन-परिवेश से असम्पृक्त न हो सकेंगे। भौतिक-कायिक सुख-भोगकी प्रधानता विश्व-जीवन के कलात्मक सौन्दर्य तथा मानसिक सम्पद् के प्रभाव से संयमित हो सकेगी। आज के व्यापक विस्तृत सामयिकपरिवेश की भूमि में जो अन्तर्द्वन्द्व-सम्बन्धी आशा-निराशा, निर्माण-विध्वंस, जय-पराजय, वेदना-सृजन-प्रेरणा, सन्देह नयी आस्था, बौद्धिक खोज तथा लक्ष्य-सम्बन्धी अस्वीकृति आदि के गोरे-काले, सुनहले विषैले अंकुर उग रहे हैं उनके भीतर से जीवन की प्रगति तथा सार्थकता को समझने की चेष्टा कर इस युग का साहित्य अवश्य ही एक समग्रतापूर्ण नवीन जीवन-बोध को जन्म दे सकेगा। मुझे इसमें पूर्ण विश्वास है। आज की समस्त सृजनात्मक, भावात्मक, बौद्धिक तथा राज-नीतिक शक्तियों का सार-सत्य विश्वशान्ति की शुभ्र माँग के रूप में प्रकट हो रहा है, यह विश्व के सुनहले भविष्य के लिए अत्यन्त आशाप्रद है। शुभमस्तु।

साहित्य की एकसूत्रता

भारतीय साहित्य की एकसूत्रता की पृष्ठभूमि हमें भारत की सांस्कृतिक एकता में मिलती है जिसके लिए विभिन्न युगों में अनेक महापुरुष, द्रष्टा विचारक तथा सन्त निरन्तर प्रयत्न करते आये हैं। इस सांस्कृतिक एकता की नींव का निर्माण करने में हमारे देश के पौराणिक साहित्य तथासंस्कृत के महाकाव्यों के युग का बहुत बड़ा हाथ रहा है। पुराणों में श्रीमद्भागवत, रामायण तथा भगवद्गीता उत्तर से दक्षिण एवं पूर्व से पश्चिम तक भारत-वर्ष में प्रायः घर-घर श्रद्धा-सम्मान की दृष्टि से देखे जाते रहे हैं और ये महान् ग्रन्थ भारतीय संस्कृति के विशाल स्फटिकस्तम्भ रहे हैं। प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति में जो एक समन्वय का व्यापक दृष्टिकोण मिलता है वह भारतीय वाङ्मय में अनेक रूपों में पुष्पित-पल्लवित होकर अवतरित हुआ है। विभिन्न प्रकार के धार्मिक एवं नैतिक दृष्टिकोण को एक महत् समन्वय के सूत्र में बाँधकर उनकी विभिन्नता में एकता स्थापित करना ही भारतीय ऋषियों, द्रष्टाओं एवं विचारकों का विशिष्ट कार्य रहा

है। इस प्रकार सांस्कृतिक दृष्टिकोण की वैचित्र्यमयी एकता के कारण भारतीय साहित्य में छोटी-मोटी विभिन्नताओं के रहते हुए भी एक व्यापक एकसूत्रता दृष्टिगोचर होती है जिसने भारतवर्ष के प्रदेशों में रहनेवाली विभिन्न जातियों तथा सम्प्रदायों में पारस्परिक सहिष्णुता, सहृदयता, दूसरे के दृष्टि-बिन्दु के प्रति उदारता और चेतनात्मक एकता के विकास में सदैव सहायता दी है। राम और कृष्ण समस्त देश में महापुरुषों के रूप में पूजे जाते हैं और हिमालय से कन्याकुमारी तक ऐसा कोई प्रदेश नहीं होगा जिसमें इन महापुरुषों के जीवन के आख्यान छोटे-बड़े गद्य-पद्य ग्रन्थों में विभिन्न भाषाओं में नहीं अवतरित हुए हों। बाल्मीकि रामायण तथा महाभारत से प्रेरणा ग्रहण कर भारत की समस्त भाषाओं में अनेक रूप में अद्भुत एवं महत्त्वपूर्ण साहित्य की सर्जना हुई है। तमिल का कम्बन रामायण, कृत्तिवास का बंगला रामायण तथा अवधी भाषा में तुलसी का रामचरितमानस एक ही उदात्त प्रेरणा, लोकमंगल की भावना तथा महान् कल्पना से प्रेरित होकर लिखे गये हैं। पौराणिक साहित्य के बाद संस्कृत के महाकाव्यों ने भी साहित्यिक एकता का विकास एवं प्रचार करने में अमूल्य कार्य किया है। कालिदास, माघ, भवभूति आदि ऐसे महाकवि तथा साहित्य-स्रष्टा हुए हैं जिन्होंने भारतीय सांस्कृतिक चेतना को अनेक शैलियों में सौन्दर्य का परिधान पहनाकर उसे लोकसुलभ बनाया है। संस्कृत कई शतियों तक समस्त भारतवर्ष की समादरित एवं उर्वर भाषा रही है और उसके द्वारा समग्र देश सांस्कृतिक तथा साहित्यिक एकता की सुनहली रज्जु मे बँधा रहा है। भारतवर्ष में समय-समय पर बाहर से आनेवाली अनेक जातियों के आक्रमण होते रहे हैं जिन्होंने भारतीय एकता के दुर्ग में प्रवेश कर उसे खण्डित करने की चेष्टा की है। किन्तु ऐसे अवसरों पर सदैव ही भारत में अनेक दार्शनिकों एवं चिन्तकों ने जन्म लेकर देश के समस्त चैतन्य तथा विचारधाराओं को एक नवीन सामंजस्य तथा समन्वय में बाँधकर उसे पुनर्जीवन प्रदान किया है और इस प्रकार का सांस्कृतिक आदान-प्रदान उत्तर-दक्षिण तथा पूर्व-पश्चिम में अजस्र रूप से चलता रहा है। मध्व, शंकर, निम्बार्क एवं वल्लभाचार्य तथा रामानुज ने समय-समय पर दक्षिण से आकर उत्तर भारत को अपने विचार-वैभव से ओतप्रोत किया है। वल्लभ और रामानुज ने ही हमारे सूर, तुलसी आदि जैसे अनेक प्रसिद्ध कवियों तथा सन्तों के मानसों का पोषण कर उन्हें भारती के उच्च आसन को ग्रहण करने योग्य बनाया है। भक्तिवाद की जो रसप्रोत भावना-धारा दक्षिण से उत्तर भारत में आयी उसने तत्कालीन बोलियों में लिखे गये उत्तर भारतीय साहित्य को अनेक रूपों में प्रभावित किया। बंगाल में चैतन्य तथा जीव गोस्वामी आदि ने भगवत् भक्ति की अविराम वृष्टि द्वारा साहित्य की अवतारणा करने के लिए अविस्मरणीय रस-साधना करवायी। आधुनिक काल में भी देश के सभी भागों में यह साहित्यिक एवं सांस्कृतिक आदान-प्रदान अखण्ड रूप से चल रहा है। हमारे युग में श्रीरामकृष्ण, विवेकानन्द, श्री अरविन्द तथा महर्षि रमण जैसे महान् द्रष्टाओं ने देश में एक नवीन जागरण एवं जीवन का शंख फूंका है। इनके प्रभाव से भारतीय दर्शन को एक नवीन दृष्टि मिली है जिसके प्रकाश एवं प्रभाव से प्रतिभासम्पन्न होकर

श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे विश्वकवि तथा साहित्य-सर्जक उत्पन्न हुए और उन्होंने अपने काव्य-सौन्दर्य, जीवन-चैतन्य तथा रस-सम्पत्ति से समस्त देश के विभिन्न भाषाओं के साहित्य को नवीन दृष्टि प्रदान की। साहित्य और संगीत को भारतीय दृष्टिकोण एक-दूसरे का पूरक मानता आया है। रवीन्द्र-संगीत ने अपने मधुर श्लक्ष्ण स्वरों के सम्मोहन से समस्त साहित्य संगीतप्रिय भारतवासियों में जो एक सौन्दर्य-चेतना तथा रसमाधुर्य का उद्रेक किया है उसका सुनहला प्रभाव अविस्मरणीय रहेगा। दक्षिण के रवीन्द्रनाथ तमिल के श्रेष्ठ कवि भारती ने भी इस युग में राष्ट्रीय जागरण तथा देश-प्रेम के जो सशक्त गीत गाये हैं उनका सम्मान समस्त देश के बुद्धिजीवी साहित्यकारों के हृदयों में है। त्यागराज का वीणा-विनिन्दक स्वर्णभृङ्ग-गुंजरित संगीता भी अब उत्तर भारत के उन्मुक्त श्रवणों में प्रवेश कर वहाँ के निवासियों के हृदयों को मोहने लगा है। यद्यपि कवीन्द्र रवीन्द्र की वाणी में कबीर के-से रहस्यवाद के अतीन्द्रिय स्वरों का भी सौन्दर्य-वैचित्र्य मिलता है पर उनकी मुख्य देन वर्तमान युग में यह रही है कि वे एक ऐसे ऐतिहासिक युग में पैदा हुए जब कि समस्त विश्व के देश सिमटकर एक-दूसरे के समीप आ रहे हैं और उनके मध्य भी सांस्कृतिक-साहित्यिक आदान-प्रदान की एक अजस्र धारा प्रवाहित होने लगी है। रवीन्द्र-साहित्य की तरह हमें समग्र भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों के आधुनिक साहित्य में विश्व-साहित्य की अनेक प्रवृत्तियाँ समान रूप से मिलती हैं और आज भी हिमालय से कन्याकुमारी तक का भारत का वर्तमान साहित्य अपने महान् बहुमुखी वैचित्र्य से पूर्ण होने पर भी अन्तत: भारतीय आलोक-चैतन्य की पृष्ठभूमि में राष्ट्रीय एकता का निर्माण करने के लिए जो एक महत् समन्वय की भावना से अनुप्राणित है वह उसमें एक नवीन प्रकार की सर्वांगीण एकसूत्रता अथवा एकता को जन्म दे रहा है। आज मराठी, गुजराती, पंजाबी, राजस्थानी, हिन्दी, बँगला, असमी, उड़िया तथा दक्षिण की तमिल, तेलुगु, कन्नड़ आदि भाषाओं के साहित्यों का ही नहीं, लेखकों का भी पारस्परिक सम्मिलन तथा एक दूसरे के प्रति सद्भाव भारतीय साहित्य के अन्तर्गत इस एकता तथा सामंजस्य की प्रवृत्ति को अक्षुण्ण बनाये रखेगा, इसके लिए स्वाधीनता के बाद प्रतिदिन हमारी सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों की समानता एवं सम्पन्नता हमें विश्वास दिलाती है। और विशेषकर आज जब हमारा देश चीनियों के अवांछनीय आकस्मिक आक्रमण के कारण एक महान् संकट की स्थिति से गुजर रहा है, हमारे स्वाधीनताप्रिय युगप्रबुद्ध साहित्यकार अपने देश की इस बहुमुखी एकता की रक्षा करने के लिए कटिबद्ध होकर और भी एक-दूसरे के सन्निकट आ रहे हैं। आज की परिस्थितियों में, वे अन्य छोटी-मोटी बाधाओं को लाँघकर, इस विराट् सशक्त भू-भाग की भावनात्मक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक एकता की रक्षा करने के लिए महत्-से-महत् बलिदान करने को भी तत्पर हैं और अपनी लोह लेखनी से अपने वज्र संकल्प को वाणी देनेवाले अग्नि-बीज, ज्वालपंखी नवीन प्रेरणा के स्वरों में प्रत्येक देशवासी के हृदय में यह अंकित करने का प्रण करते हैं कि इस शान्ति के शुभ्र श्वेत पद्म पर आसीन भारतमाता के विश्वमंगलकारी, प्रकाशपूर्ण चैतन्य की रक्षा करने के लिए हम समस्त

देशवासी भारत शक्ति के असंख्य हाथ-पावों की तरह उठकर, अपने आक्रमणकारी के निर्मम लोहे के पैरों को इस विश्वभूमि की पवित्र धूलि पर नहीं टिकने देंगे और उन्हें अपने ठण्डे अविचल संकल्प के अलंघ्य हिमालय के उस पार खदेड़कर ही विश्राम ग्रहण करेंगे। आज के हिंस्र युद्धलिप्सु विश्व में भारत की धरती उन शान्ति, लोकमंगल, विश्वप्रेम तथा उच्च जीवन के आदर्शों का प्रतिनिधित्व करती है जो कि चिरन्तन हैं और जिनके बिना मानवता का अस्तित्व तथा उसका विकास इस पृथ्वी पर सम्भव नहीं है। शुभमस्तु।

साहित्य में गंगा-यमुना

भारतीय मनीषा या चेतना का निसर्ग के प्रति अगाध प्रेम तथा आकर्षण रहा है। वह निसर्ग ही के उन्मुक्त अंचल में पलकर विकसित हुई है और नैसर्गिक शक्तियों के वरदान-स्वरूप ही वह जड़ प्रकृति की सीमाओं को अतिक्रम कर उसके अपरा रूप से परा स्वरूप की अनन्त आनन्दमयी सत्ता का अनुसन्धान कर सकने में सफल हुई है। वैदिककाल से ही हम देखते हैं कि आर्य लोग अग्नि, वरुण, ऊषा, पूषण आदि प्राकृतिक तत्त्वों तथा शक्तियों के उपासक रहे हैं और धीरे-धीरे प्राकृतिक शक्तियों के यही प्रतीक आगे चलकर उच्च से उच्चतम चेतनाओं तथा तत्त्वों के प्रतीकों एवं प्रत्ययों में परिणत होकर इस सृष्टिचक्र के बाहरी तथा भीतरी विधान को समझाने में सफल हुए हैं और इन्हीं नैसर्गिक प्रतीकों के सोपानों से आरोहण कर भारतीय ऋषियों, तत्वज्ञों एवं सत्य-द्रष्टाओं की मनीषा सृष्टितत्व के आदिकारणस्वरूप ब्रह्मतत्त्व की उपलब्धि कर सकने में समर्थ हो सकी है।

भारतीय तीर्थस्थल तथा देवालय आदि भी मुख्यत: प्रकृति की रम्य पावन क्रोड़ में ही प्रतिष्ठित मिलते हैं। उच्च शान्त मनोहर पर्वत-शिखरों पर, विस्तृत निर्मल सागर-तीर पर, अथवा जीवन की अनन्त प्रेरणास्रोत-स्वरूप कलकल गाती हुई निर्मल नदियों के तटों पर ही हमें अपने विविध धर्मों के केन्द्र स्थापित मिलते हैं। प्राचीन भारतीय मनीषा प्रकृति के विराट् स्वरूप तथा निःसीम उन्मुक्त सौन्दर्य की पुजारी रही है। यही कारण है कि भारतीय वाङ्मय में प्रकृति के मनोरम स्थलों का वर्णन विशेषकर हिमालय, विन्ध्य आदि जैसे विशाल पर्वतों की महिमा, अकूल समुद्र तथा गंगा-यमुना, सिन्धु आदि जैसी महान् नदियों का वर्णन तथा यत्र-तत्र प्रकृति के वन-उपवन, निर्झर-सरोवर तथा षड्ऋतुओं का चित्रण अत्यन्त व्यापक तथा प्रचुर मात्रा में मिलता है। हमारे महाकाव्यों के लिए तो प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण—वन, पर्वत, घाटी, समुद्र, वसन्त, शरद, वर्षा, हेमन्त आदि का विस्तृत रूपोद्घाटन एक अनिवार्य स्थापना मानी जाती थी। संस्कृत के महाकवियों ने, विशेषत: कालिदास, माघ, भवभूति आदि ने, अपने महाकाव्यों में इस दिशा में जो अतुलनीय प्रतिभा तथा कला-कौशल दिखलाया है उससे हृदय मुग्ध हो उठता है—वैसे वाल्मीकि

से लेकर जयदेव तक प्रायः सभी कवि प्रकृति को अपनी कला की तूली से रँगते रहे हैं। वन-सम्पत्ति का जो वर्णन वाल्मीकि-रामायण में मिलता है वैसा अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। कालिदास की तो छोटी-छोटी रचनाएँ—मेघदूत तथा ऋतुसंहार—भी जैसे प्राकृतिक ऐश्वर्य की बहुमूल्य पिटारियाँ हैं और 'कुमारसम्भव' में वसन्त वर्णन तथा हिमालय का चित्रण करके तो जैसे महाकवि ने विराट् प्राकृतिक सौन्दर्य का मानदण्ड ही स्थापित कर दिया है। इस प्रकार हम देखेंगे कि गंगा-यमुना जैसी महानदियों का वर्णन भी भारतीय साहित्य में धार्मिक भावनाओं की अभिव्यंजना से युक्त होते हुए भी मुख्यतः नैसर्गिक सौन्दर्य-चित्रण के ही अन्तर्गत आता है। वैसे कविराज जगन्नाथ की 'गंगालहरी' हिन्दी में पद्माकर तथा श्री रत्नाकर आदि कवियों का गंगा-वर्णन एवं गंगावतरण मुख्यतः धार्मिक भावोल्लास ही कहा जायेगा; पर प्राकृतिक वैभव की छटा से तो निःसन्देह इन कवियों के चित्रण भी ओतप्रोत हैं।

महाकवि कालिदास का संगमवर्णन का दृश्य, जब कि वह लंकाविजय के बाद पुष्पक-विमान में अयोध्या को लौटते हैं, अपने सौन्दर्य में अतुलनीय है। वैसे तो रघुवंश का समस्त द्वादश सर्ग ही, जिसमें पुष्पक-विमान पर से धरती के विविध रूपों की शोभा का वर्णन मिलता है और विशेषकर समुद्र का वर्णन, कालिदास की कला का एक अविस्मरणीय आयाम है; पर हमारी इस वार्ता से सम्बद्ध गंगा-यमुना की शोभा को कवि के ही शब्दों में सुन लेना अधिक प्रयोजनीय होगा। श्री रामचन्द्रजी सीता का ध्यान नीचे संगम की ओर आकृष्ट करते हैं :

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा,
अन्यत्र माला सित पंकजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव।
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादंब संसर्गवतीव पक्तिः,
अन्यत्र कालागुरुदत्त पत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दन कल्पितेव।
क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छाया विलीनैः शबलीकृतेव,
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्य नभः प्रदेशा।
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्मांगरागा तनुरीश्वरस्य,
पश्यानवद्यांगि विभाति गंगा भिन्नप्रवाहा यमुना तरंगैः।
समुद्र पत्न्योजलसन्निपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात्,
तत्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः॥

अर्थात्,

ये उजली और साँवली लहरोंवाली गंगा-यमुना दूर से ऐसी जान पड़ती हैं जैसे मोतियों और इन्द्रनीलमणियों की माला पड़ी हो—या नीलश्वेत कमलों की ही माला हो। ऐसा लगता है कि श्वेत और कृष्ण हंसों की पाँति बैठी हो या पृथ्वी पर चन्दन और अगरु की अल्पना शोभित हो। वृक्ष के नीचे जैसे चाँदनी और छाया परस्पर गुम्फित लगती हैं, या शरद के मेघों के बीच-बीच में नीलाकाश जैसे दीखता है, या शिव के भस्मावृत गौर शरीर में काले भुजंग लिपटे हों—ऐसी ही ये गंगा-यमुना अपने श्वेत-श्याम वर्णों के जल के कारण आकाश मार्ग से प्रतीत होती हैं। तत्वज्ञानी न होने पर भी मनुष्य इनके संगम में स्नान करने से जीवन-मुक्त हो जाता है।

गंगाजी के पतित-पावनी होने का प्रमाण देते हुए पद्माकर शिवजी के बारे में कहते हैं :

बाँधे जटाजूट, बैठे परबतकूट माँहि, महाकालकूट कहो कैसे के ठहरतो।
पीवैं नित भंगे, रहे प्रेतन के संगे, ऐसे पूछत को नंगे, जो न गंगे सीस धरतो।

और भी गंगाजी के चरित्र की महिमा गाते हुए वह कहते हैं—

गंग के चरित्र लखि भाषे जमराजे इमि एरे चित्रगुप्त मेरे हुकुम में कान दे,
कहे पदमाकर ये नरकनि मूंदकर मूंदि दरवाजन को तजि यह ध्यान दे।
देखु यह देवनदी कीन्हें सब देव यातें दूतन बुलाय के बिदा के बेगि पान दे,
फार डारु फरद, न राखु रोजनामा, कहुँ खाता खत जान दे, बही को बहि जान दे॥

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी भी गंगाजी को जन-तारिणी के ही रूप में चित्रित करते हैं :

गंगा पतितन को आधार।
यह कलिकाल कठिन सागर सों तुमहि लगावत पार।
दरस परस जलपान किये तें तारे लोक हजार।
हरि चरनारबिन्द मकरन्दी सोहत सुन्दर धार।
अवगाहत नर देव सिद्ध मुनि कर अस्तुति बहु बार।
हरीचन्द जन तारिनि देवी गावत निगम पुकार॥

यमुनाजी का प्रातःस्मरण भारतेन्दुजी इस प्रकार करते हैं :

मंगल जमुना नीर, कमल मंगलमय फूले।
मंगल सुन्दर घाट बँधे, भँवरे जहँ झूले।
मंगलमय नन्दगाँव महाजन मंगल भारी।
मंगल गोकुल सब ओर उपवन सुखकारी।
मंगल वरसानी नित बदल, मंगल राबलि सोहई।
हरिचन्द कुण्ड तीरथ सबै, मंगलमय मन मोहई॥

श्री रत्नाकरजी का गंगा-गौरव प्राकृतिक सुन्दरता के फिर से निकट आ जाना है :

गंग-कछार के मंजुल बंजुल, काक कोऊ महामोद उफानैं,
देखत प्राकृत सुन्दरता पद, प्राकृत ही के हियें ठिक ठानैं।
पाइ सुधा सम वारि अघाइ न, आपनी जोट कोऊ जग जानैं,
हंस कों काक, मजूर मयूर कों, कोहिला कोकिला कों मन मानैं॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि गंगा-यमुना अपने प्राकृतिक सौन्दर्य को अतिक्रम कर भारतीय साहित्य के ज्ञान, सभ्यता तथा संस्कृति के ऐश्वर्य से मण्डित मानव-चेतना की धारा के समान उन्मुक्त, नित्य नवीन तथा जीवन-श्रम-तापहारिणी बन गयी हैं।

यथार्थवाद

यह विज्ञान तया यथार्थवाद का युग है। साहित्य में आज शिल्प और कला की सहायता से यथार्थ के जिन अनेक पक्षों का उद्घाटन हो रहा है

उससे मानव-जीवन की समस्याओं तथा संवेदनाओं पर अधिकाधिक प्रकाश पड़ने की सम्भावना है। मेरी दृष्टि में सब वादों की कसौटी लोकमंगल में निहित है। यदि हमारे यथार्थवादी निरीक्षण-परीक्षण मानव-मंगल के लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं तो वे अभिनन्दनीय हैं, अन्यथा उन्हें पारस्परिक विद्वेष, पूर्वग्रह तथा कटुता का ही विज्ञापन समझना चाहिए।

अस्सी प्रतिशत हमारी जनमंगल की यथार्थवादी धारणा आज केवल हमारी मध्यवर्गीय कुण्ठाओं तथा संक्रान्तिकालीन मानसिक ह्रास की परिचायिका है, जिससे जनमंगल कोसों दूर है। साहित्यकार की इस कुण्ठाजनित कटुता तथा रुग्ण अहंता के अन्धकार के अतिरिक्त आज की साहित्यिक चेतना में जो प्राणघातक विष व्याप्त हो गया है उसका मुख्य कारण सम्प्रति हमारा यथार्थवाद-सम्बन्धी एकांगी दृष्टिकोण है।

कहते हैं, वाणी के तीन अंश हमारे अन्तर्मन में स्थित हैं और एक अंश केवल बाहर प्रस्फुटित है। जीवन-यथार्थ के सम्बन्ध में भी यही बात लागू है। इस युग में यथार्थ के सर्वांगीण अध्ययन की एकान्त आवश्यकता है। हमारा युग लाठी लेकर जिस यथार्थ के पीछे पड़ा है वह, यथार्थ के दर्पण में, हमारे ही मानसिक ह्रास के भद्दे मुख की छाया है, जिसे देखकर हम खिलखिला उठते हैं। अपना रूप कैसा ही क्यों न हो, उसके प्रति ममत्व का होना स्वाभाविक है। इसी कारण आज हम युग-जीवन की कई असंगतियों से, मानव-स्वभाव की दुहाई देकर समझौता किये बैठे हैं।

आज का टेम्पेस्ट (युग-क्रान्ति) एरियल और केलिबॉन को दो अपरिवर्तनीय, असम्पृक्त, इकाइयों के रूप में देखकर सन्तोष नहीं कर सकता। केलिबॉन की कुरूपता और गाली-गलौज करने की आदत का संस्कार करना ही होगा और एरियल की वायवी मुक्ति को अधिक वास्तविक पार्थिवी मुक्ति में परिणत होना होगा—भले ही आज के शक्तिशाली राष्ट्र, अपने-अपने स्थापित स्वार्थों के कारण, प्रोस्पेरो की तरह, अपने प्रभाव का जादू या डण्डा घुमाकर, उन्हें विभक्त बनाये रखने का यथाशक्ति प्रयत्न कर रहे हों।...इन शक्तिशाली देशों को आत्मदुर्बल या आत्मभीत क्यों न कहा जाये? माता दीर्घ काल तक बच्चे को स्तन्य देकर उसका पोषण करती है और विष की बूंद एक ही क्षण में उसके प्राण ले सकती है। लेकिन मांगल्य की कसौटी में कौन खरा उतरता है? किसका मूल्य अधिक है? निःसन्देह, स्तन्य का! मानव-चैतन्य का यथार्थ, जो अन्तःक्षमता का द्योतक है, जनकल्याण की स्थायी शक्ति रखता है। आज स्वर्ग, धरती, आदर्श और यथार्थ पृथक् रहकर जीवित नहीं रह सकते। उनका विकास रुक जायेगा।

महान् विनिमयों का है यह हमारा युग : हमें यथार्थ के प्रति अपने दृष्टिकोण को अधिक गम्भीर तथा व्यापक बनाना होगा। हमने अपनी राजनीतिक पराधीनता के युग में पश्चिम की मानसिक दासता को भी आँख मूंदकर स्वीकार कर लिया है। यथार्थ के भीतरी आयामों के प्रति या तो हम मध्ययुगीन अभावों एवं निषेधों के कुहासों के पार नहीं देख पाने के कारण उदासीन हैं या हम मात्र बाह्य अन्धकार में भटक गये हैं; वास्तव में आज के शिखर राष्ट्रों को—जो आज भू-जीवन का विकास अवरुद्ध किये हुए हैं—वैज्ञानिक चेतना तथा मानवीय यथार्थ का प्रतिनिधि

समझना भूल है। वे अभी धरती की प्राचीन वन्य बर्बरता का ही प्रतिनिधित्व कर रहे हैं और विज्ञान को भू-निर्माण एवं जीवन-रचना का माध्यम बनाने के बदले, उसके पंखों के ताप में आणविक अस्त्रों एवं जनविनाश के डिम्बों को सेकर, और उसे विश्व-विस्फोट का साधन बनाकर, अपनी ऋण सामर्थ्य का नग्न प्रदर्शन कर रहे हैं।···भस्मासुर !

दोनों शिखर देश आज भू-जीवियों के प्रति मनुष्यत्व की लम्बी, स्नेह-सहानुभूतिपूर्ण बाँहें बढ़ाने के बदले पशुत्व के दो निर्मम सींगों की तरह बढ़कर, धरती की छाती पर लड़ाकू साँड़ों की तरह आधिपत्य जमाये, लोक-जीवन को त्रस्त किये हुए हैं। आज का विश्व-जीवन दो बढ़ते हुए जहरीले ज्वारों की विषण्ण छाया से आक्रान्त है।

ऐसे युग में, मानव-जीवन के सम्पूर्ण सत्य की अखण्डनीयता को भौतिक-आध्यात्मिक, या आदर्श-यथार्थ के रूप में विभक्त कर, खण्ड-खण्ड कर देखना कहाँ तक लोकहित की वृद्धि एवं मनुष्यत्व के उन्नयन में उपयोगी सिद्ध हो सकता है यह अत्यन्त विचारणीय है। जिस यथार्थ की एकपक्षीय तुला में अपने स्थापित स्वार्थों को रखकर हमारे चोटी के देश अपनी-अपनी बर्बरता की ओर आँख मूँदकर, एक-दूसरे की कुरूपता तथा नृशंमता की ओर उँगली उठाकर, द्वेष और आक्रोश से गरज रहे हैं—उस यथार्थ-वादी दृष्टि का क्या मूल्य हो सकता है? निश्चय ही, लोकहित और मनुष्यत्व दो भिन्न पदार्थ या सत्य नहीं हैं। आज की भौतिक सभ्यता और वैज्ञानिक दृष्टि को अपनी जीवन-मान्यताओं को दुहराना होगा। मानवपशु के लिए—या दैत्य के लिए?—विश्वयुद्ध का मंच प्रस्तुत करने के बदले उन्हें मानवता के योग्य नये जीवन-मंच की रचना करनी होगी। विज्ञान एवं यथार्थ की देन, निःसंशय, लोकजीवन के लिए परम आवश्यक है, किन्तु उसे पशु के साथ नहीं, मनुष्य के साथ सन्धि करनी होगी। विज्ञान की शक्ति को ज्ञान से दृष्टि प्राप्त कर मानवीय बनना ही होगा।

अतः मेरी विनम्र सम्मति में, आज के युग के केलिबॉन की कुरूपता को ही यथार्थ मानकर, उसके संहार के बहाने, अपनी-अपनी तलवारों पर पानी चढ़ाने के बदले इस केलिबॉन के भीतर सोये हुए मनुष्य को जगाना और उसका परिष्कार किस प्रकार हो, इस यथार्थ का अध्ययन करना, और परिस्थितियों से कुण्ठित युग की कुरूपता के भीतर कीचड़-दुर्गन्ध में सने मानव-दुःख को पहचानने की क्षमता रखनेवाले धनात्मक यथार्थवादी दृष्टिकोण का विकास करना ही अधिक प्रगतिकारक एवं लोकोपयोगी सिद्ध होगा। इसी यथार्थ की चौड़ी छाती को विश्वशान्ति की सुदृढ़ एवं स्थायी आधारशिला बनाया जा सकता है। अतएव—

अतः क्षमता सतत अपेक्षित
जन भू जीवन के विकास हित,
बाह्य शक्तिमत्ता का प्रवचन
अणु अस्त्रों में आज पराजित !
भू संघर्षण प्रभु पद पूजन
यदि वह जन मंगल हित प्रेरित,

स्थायी शुभ के लिए चाहिए
शील शुद्ध साधन मनुजोचित !

—'वाणी'

शृंगार और अध्यात्म

भारतीय साहित्य-परम्परा में शृंगार और अध्यात्म एक-दूसरे के विरोधी न समझे जाकर परस्पर पूरक ही माने गये हैं और उनका पोषण, भाई-बहनों की तरह, एक ही साथ, एक ही रसतत्त्व द्वारा होता आया है। लोक-दृष्टि से ये दोनों मूल्य भले ही विभक्त कर दिये गये हों—पर रहस्य, और कुछ अंशों में, भक्ति साहित्य में भी जहाँ कहीं रसचेतना या भावना को अलौकिक का स्पर्श मिला है, वहाँ शृंगार और अध्यात्म के उपादानों एवं प्रतीकों ने एक-दूसरे के प्रस्फुटन तथा विकास में सहायता ही दी है। कालिदास ने 'कुमारसम्भव' में शिव-पार्वती जैसे उच्चतम चेतनामूल्यों को शृंगारभूमि पर अवतरित कराकर तथा उनकी अन्तःरस-क्रीड़ा को मानवीय परिधान पहनाकर अपनी काव्य-कल्पना का चरमोत्कर्ष दिखलाया है। 'शाकुन्तल' में भी अध्यात्म की भूमि पर शृंगार ही का परिपाक हुआ है। शृंगार और अध्यात्म भारतीय चैतन्य में श्रीराधाकृष्ण के प्रतीकों के रूप में एक-दूसरे के अत्यन्त निकट आकर परस्पर तन्मय हो गये हैं—उनका एकत्व वहाँ स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। शृंगार और अध्यात्म की ऐसी सर्वांगीण अभिव्यक्ति तथा परिपूर्ण एकता श्रीराधाकृष्ण के औद्भौम विराट् व्यक्तित्वों के चतुर्दिक् निर्मित साहित्य के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलती। उनके उच्च रस परिप्रोत चरित्र जैसे शृंगार और अध्यात्म के रहस्य-मिलन के शाश्वत अभिसारस्थल है।

वास्तव में शृंगार का सन्तुलन तथा उन्नयन ही अध्यात्म है। शृंगार-हीन अध्यात्म गीत-स्वर-लयविहीन रिक्त-हृदय बाँसुरी-सा है। जहाँ अध्यात्म शृंगार को व्यापक धरातलों पर न उठाकर उसके मांसल भार एवं रंगीन परिधान से दब या छिप जाता है वहाँ श्री जयदेव के 'गीत गोविन्द' की तरह वह निःसन्देह विकासोन्मुखी न रहकर ह्रासोन्मुखी बन जाता है। हिन्दी रीति काव्य के अन्तर्गत राधाकृष्ण की लीला का अधिकांश निदर्शन साहित्य में, तथा वाममार्ग की अनेक क्रियाओं एवं पूजन-विधियों का निरूपण धर्म में, उपर्युक्त ह्रासयुगीन मनोवृत्ति का अत्यन्त स्पष्ट उदाहरण है। कृष्ण-साहित्य में तत्वतः जहाँ श्रीराधा परम चेतना-स्वरूपा एवं ह्लादिनी शक्ति की प्रतीक हैं वहाँ वह शृंगार-सिन्धु-लहरी भी हैं—शृंगार की सर्वोच्च शिखरलहरी पर खडी परम चेतना की यह वैष्णवकल्पना शृंगार और अध्यात्म के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध तथा अन्तरैक्य के सत्य को जैसे अपनी समग्रता में मूर्तिमान कर, उसे सहृदय जनसाधारण के लिए सहज सुलभ कर देती है।

कबीर की 'कर ले शृंगार चतुर अलबेली साजन के घर जाना होगा'

अथवा 'घूंघट के पट खोल री' जैसी उक्तियों में हम देखते हैं कि शृंगार अध्यात्म के गले में बाँहें डालकर स्वयं तो ऊपर उठ ही जाता है वह अध्यात्म को भी भावबोध अथवा रस-बोध के निकट ले आता है। सुन्दरता के छविगृह में ऊर्ध्व दीपशिखा की तरह स्थित अध्यात्म की ज्योति, रस से स्नेह-सिक्त होकर, जीवन-सौन्दर्य को परिपूर्णता प्रदान करती है। इस प्रकार के अनेकानेक उदाहरण भारतीय साहित्य में उपस्थित किये जा सकते हैं जहाँ शृंगार अध्यात्म की अवतारणा करने के लिए सबसे सबल, स्वच्छ तथा स्पष्ट माध्यम सिद्ध होता है। वाल्मीकि, व्यास तथा कालिदास जैसे क्रान्तद्रष्टा एवं कलाप्रवण कवि-ऋषियों तथा सौन्दर्य-स्रष्टाओं की यह गम्भीर साहित्य-परम्परा ही रही है कि उन्होंने देह तथा आत्मा को, अथवा प्राण तथा मन को, मानव-सत्य के अविभाज्य अंग मानकर, उनके बहिरन्तर के वैभव को एक साथ काव्यसूत्र में गुम्फित कर, आलोक को सौन्दर्य के करतल पर स्थापित किया है।

मध्ययुगों में भारतीय मानस में जीवनचेतना तथा सांसारिकता के प्रति जो एक निषेध तथा वर्जना की धारणा प्रवेश कर गयी है उससे शृंगार तथा अध्यात्म दो विभिन्न विरोधी इकाइयों में सीमित होकर स्वर्ग और नरक के अतिमूल्यों की तरह विभक्त हो गये हैं। हमारी सामन्ती संस्कृति आध्यात्मिक-बौद्धिक-प्राणिक तथा भौतिक दृष्टि से श्रीकृष्ण चैतन्य के रूप में परिपूर्ण अभिव्यक्ति पाकर कालान्तर में विघटित होने लगती है। इस विघटन के फलस्वरूप हमारी शृंगारभावना भी अधोमुखी रूप ग्रहण कर लेती है। और अनेक संकीर्ण नैतिक दृष्टिकोण तथा ह्रास-युगीन सामाजिक विकृतियाँ हमारी जीवनदृष्टि को कुण्ठित कर देती हैं। रस के मूल आध्यात्मिक स्रोत से विच्छिन्न हो जाने के कारण जातीय मन में अनेक प्रकार के खोखले जीवन-विमुख आदर्श घर कर लेते हैं। सामाजिक यथार्थ की धारणा वैयक्तिक सुखवाद की भावना से ग्रस्त हो जाती है और रागभावना को सामूहिक सन्तुलन देने के बदले हम उसे नैतिक विरक्ति तथा क्षणभंगुर इन्द्रिय तम का रूप देकर उपेक्षणीय तथा हेय मानने लगते हैं।

जिस प्रकार चेतना ही पदार्थ बनकर अपनी अभिव्यक्ति के लिए भौतिक आधार या माध्यम प्रस्तुत करती है उसी प्रकार अध्यात्म ही शृंगार बनकर नित्य-नवीन सौन्दर्यबोध के क्षितिजों को उद्घाटित करता है। मानव-सभ्यता के इतिहास की सामन्ती सीमाओं के कारण—दूसरे शब्दों में भौतिक शक्तियों पर मानव का अधिकार न होने के कारण—पुरानी दुनिया की मानवता का संस्कृतीकरण एक सीमित क्षेत्र के भीतर सीमित रूप ही में सम्भव हो सका है। संस्कृतीकरण और अध्यात्मीकरण के बीच एक बहुत गहरी और व्यापक खाई रह गयी है जिसे जगत के प्रति वैराग्य, जीवन के प्रति निषेध तथा अनेक प्रकार की नैतिक वर्जनाओं आदि से पाटकर व्यक्तिचेतना या मात्र भावना के स्तर पर ही अध्यात्मी-करण अथवा रागोन्नयन सम्भव हो सका है। इस प्रकार शृंगार और अध्यात्म दो परस्पर घातक, एक-दूसरे से मेल न खानेवाली, सीमित ऋण इकाइयों में बँट गये और उनका आपस का सम्बन्ध दृष्टि से ओझल हो जाने के कारण शृंगार इन्द्रियों के पंक में रेंगनेवाली अधोमुखी वृत्ति

बन गया और अध्यात्म श्मशानवासी या शुष्क वैराग्य के मरुस्थल में विचरनेवाला, आकाशकुसुमवत्; जिसके मूल प्राणों के उर्वर धरातल से कट जाने के कारण वह लौकिक सामाजिक जीवन के लिए धीरे-धीरे अनुपयोगी तथा दुर्लभ हो गया। भारतीय दर्शन की खोज या शोध तो ठीक रही पर उसका उपयोग अलीक तथा भ्रामक रहा। दर्शन की दृष्टि से अद्वैतवादी होने पर भी भौतिक परिस्थितियों की सीमाओं के कारण, हम संस्कृति की दृष्टि से, सदैव द्वैतवादी ही रहे और सहज व्यापक अध्यात्मीकरण का संचरण कुछ क्लिष्ट नैतिक सिद्धान्तों का रूप धारण कर कठोर रूढ़िरीति-गत परम्पराओं में जड़ीभूत हो गया, जिसके कारण जातीय जीवन का सतत प्रवहमान तत्त्व, शृंगार तथा अध्यात्म की मूल्यांकन-सम्बन्धी विषमताओं के कारण, सत्य, शिव तथा सुन्दर की अभिव्यक्ति से वंचित रह गया और अपने प्राणिक दारिद्र्य के कारण हम मानसिक, कायिक तथा भौतिक दारिद्र्य से भी ग्रस्त हो गये।

तत्वत: शृंगार और अध्यात्म दोनों ही रागभावना या रागचेतना के दो अविभाज्य छोर हैं और एक के सम्बन्ध में ही दूसरे का मूल्य निर्धारित किया जा सकता है। शृंगार की सक्रिय प्राणवत्ता से विरहित अध्यात्म मात्र वैयक्तिक आत्मरति अथवा शुष्क सामाजिक वैराग्य बनकर रह जाता है। और अध्यात्म से वंचित शृंगार बहिर्जीवन के क्षणिक भोग-विलास में सनकर मलीन हो उठता है। जिस प्रकार देह के आधार के बिना मन तथा चेतना का विकास सम्भव नहीं — वे एक निष्क्रिय अतीन्द्रिय स्थिति भर रह जाते हैं, उसी प्रकार शृंगार तत्त्वों से विमुक्त अध्यात्म भी निर्जीव, नीरस, शून्य-ब्रह्म की उपलब्धि-मात्र रह जाता है। शृंगार चेतना या भावना के सामाजिक समन्वय के अभाव में मात्र अध्यात्म का दम्भ भरनेवाला समाज, हमारे मध्ययुगीन ढाँचे की तरह, निष्क्रिय, निष्प्राण, सौन्दर्य तथा लोकमंगल की दृष्टि से, निःशक्त एवं अनुर्वर हो जाता है। शृंगार-सन्तुलित सामाजिक जीवन का सौन्दर्य ही आध्यात्मिक चेतना का शरीर है, जिसके बिना उसका अस्तित्व पूर्ण सक्रिय नहीं हो सकता।

आज नारीतन के स्तर पर शृंगारभावना का मूल्य आँकना अनुचित होगा, उसे धराजीवन के स्तर पर देखना स्वाभाविक होगा। गृहस्थ-जीवन के मूल्यों के रूप में शृंगारभावना का आंशिक ही विकास सम्भव हो सका है। आज विश्वजीवन को हमें एक अधिक उच्च तथा व्यापक चेतना के प्रकाश में देखना है और रागचेतना के चिरन्तन सौन्दर्यपूर्ण गम्भीरतम स्तर, जो अभी प्रच्छन्न एवं अविकसित ही रह गये हैं, उन्हें मानव-जीवन का सक्रिय अंग बनाकर नवीन रागानुभूति में प्रस्फुटित तथा परिणत करना है। इन्द्रियद्वारों में कुसुमित इस सार्वभौम रागचेतना को नये आध्यात्मिक प्रकाश में नवीन मूल्यों के रूप में ग्रहण कर आज स्त्री-पुरुष के युग्म जीवन को नवीन अनुराग, सौन्दर्य तथा आनन्द से मण्डित करना है। और उसे प्राचीन मध्ययुगीन अनेक प्रकार के नैतिक निषेधों, वर्जनाओं तथा कुण्ठाओं से उबारकर उसमें नवीन सामाजिक सामंजस्य, वैयक्तिक संगति तथा मानवीय निखार भरना है। अपनी अनेक रचनाओं में मैंने रागभावना के उन्नयन के साथ ही नवीन प्राणिक

जीवन की स्वीकृति पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है और शृंगार और अध्यात्म के बीच पड़ी प्राचीन खाई को तथा मध्ययुगीन नैतिक अवरोधों को अतिक्रम कर नवीन विश्व-जीवन की सौन्दर्यचेतना के अस्फुट स्वप्न संचरण के शील-सौम्य, सौन्दर्य-मुखर, गतिमय संगीत को अपने छन्दों में बाँधने की चेष्टा की है। 'आत्मिका' में मैंने एक स्थान पर कहा है :

भू पर संस्कृत इन्द्रिय जीवन, मानव आत्मा को रे अभिमत
ईश्वर को प्रिय नहीं विरागी, संन्यासी, जीवन से उपरत।
आत्मा को प्राणों से बिलगा अधिदर्शन ने की जग की क्षति—इत्यादि

अन्यत्र इसी कविता में मैंने कहा है :

स्वर्ग नरक इह परलोकों में व्यर्थ भटकते धर्ममूढ़ जन
ईश्वर से इन्द्रिय जीवन तक एक संचरण रे भू पावन।

शृंगार तथा अध्यात्म को संयोजित करते हुए, मैंने प्राणों एव इन्द्रियो के जीवन की महत्ता दिखाते हुए वाणी में कहा है :

प्राण, धन्य तुम, रजत हरित ज्वारों से उठकर
आशा आकांक्षा के मोहित फेनिल सागर,
चन्द्रकला को बिठा स्वप्न की ज्वालतरी में
तुम बखेरते रत्न-छटा आनन्द-तीर पर !
मैं उपकृत इन्द्रियों,—रूप रस गन्ध स्पर्श स्वर
लीला-द्वार खुले अनन्त के बाहर भीतर,
अप्सरियों से दीपित सुर-धनुओं के अम्बर
निज असीम शोभाओं में तुम पर न्योछावर।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि रूप की ज्वालतरी मे बैठी चन्द्रकला आध्यात्मिक चेतना ही है। मेरे विचार में शृंगार और अध्यात्म का परिणय, निःसन्देह, नवीन जीवनसौन्दर्य को जन्म देगा, जिसका अवतरण एवं प्रस्फुटन मानवता के लिए नवीन आशा उल्लास तथा लोकमंगल का सूचक होगा।

मानववादी विचारभूमि

मनुष्य ही इस सृष्टि में सबसे बड़ा सत्य है, उसके परे कुछ नहीं है—इस प्रकार की बोध-दृष्टि का अनुभव व्यास से लेकर रवीन्द्रनाथ तक प्रायः सभी जीवन-द्रष्टा मनीषियों को हुआ है। किन्तु मनुष्य का वह सत्य क्या है इस सम्बन्ध मे अनादि-काल से अनेक प्रकार के ऊहापोह विचारकों के मन मे रहे है और उनमें आंशिक सत्य भी निहित मिलता है। प्राचीन काल में सम्भवतः बाह्य जगत् इतना दुर्बोध मनुष्य को प्रतीत होता था कि वह कभी भी उसे अधिकृत करने की बात नही सोच सका था। जड़ प्रकृति और भौतिक जगत् उसके सामने एक दुर्भेद्य पहेली-से थे जिसने उसके विश्व-सम्बन्धी ज्ञान के पथ में अनेक प्रकार की दुर्निवार बाधाएँ उपस्थित कीं। आवागमन के साधन अधिक विकसित न होने के कारण उसे पृथ्वी के देशों, उनके निवासियों का ज्ञान भी पूरी तरह से नहीं हो

सका। विभिन्न देशों, जातियों तथा गिरोहों के धार्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक विश्वासों के बारे में भी उसका परिचय नहीं ही के बराबर रहा है। ऐसी स्थिति में सृष्टि तथा विश्व के सम्बन्ध में उसके विचार अधिकतर रहस्यात्मक ही रहे है और उसने ईश्वर, स्वर्ग तथा नरक आदि के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की धारणाओं को जन्म दिया तथा वास्तविक जगत् की दुरूहता से आक्रान्त होकर पारलौकिक तथा आध्यात्मिक विचारधारा तथा तत्त्व-चिन्तन को अधिक महत्त्व दिया। जन्म-मृत्यु के चक्र से विभीत तथा विजय-पराजय, आधि-व्याधि, रोग-शोक, आशा-निराशा के दुर्निवार द्वन्द्वों से त्रस्त होकर वह धीरे-धीरे ऐहिक जीवन तथा तत्सम्बन्धी मूल्यों को क्षण-भंगुर, मिथ्या माया मानकर एक ऐसे चिरन्तन एवं शाश्वत सत्य की खोज की ओर अग्रसर हुआ जिसे उसने मनुष्य-जीवन की चरम उपलब्धि माना। अपनी इस प्रकार की अनुभूति को उसने अहं ब्रह्मास्मि, सोऽहं, आदित्य-वर्णः तमसः परस्तात् आदि सूक्तियों द्वारा वाणी दी और इस स्थिति के साक्षात्कार के लिए उसने कृच्छ्र साधनापद्धतियाँ बनायी। इस प्रकार प्राचीन काल से आधुनिक काल तक मनुष्य अपनी पूर्णता की प्राप्ति के लिए जीवन-मन के धरातल का त्याग कर केवल मनसातीत आध्यात्मिक सत्य को ही महत्त्व देता रहा। जीवन, मन तथा संसार के प्रति उसका एक प्रकार से मूलतः ऋणात्मक ही दृष्टिकोण रहा।

इस युग मे, जो विज्ञान का युग कहलाता है, मनुष्य की जीवन-सम्बन्धी पिछली धारणाओं में छोटे-छोटे अनेक प्रकार के परिवर्तन होने जा रहे हैं। सर्वप्रथम तो यह बाह्य जगत् या जड प्रकृति इतनी अविजेय बाधा एवं दुर्बोध सत्य मनुज के लिए नहीं रह गयी है। प्राचीन काल में जिस प्रकार मनीषियों का ध्यान मनुष्य के अन्तर्जगत की खोज तथा छानबीन पर केन्द्रित हुआ था उसी प्रकार इस युग मे वैज्ञानिकों का ध्यान जड़ जगत् तथा बाह्य प्रकृति की खोज तथा विश्लेषण की ओर अग्रसर हुआ है जिसके फलस्वरूप उसने प्रकृति के विभिन्न पदार्थो में निहित ऐसी महान् शक्तियों पर अधिकार प्राप्त कर लिया है जिनके द्वारा वह विश्व-जीवन की परिस्थितियों का नये रूप से निर्माण करने में सफल हुआ है। उदाहरणार्थ, वाष्प, विद्युत्, किरण तथा परमाणुशक्ति आदि को अधिकृत कर आधुनिक युग ने मानव-जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों एव सभी प्रकार की परिस्थितियों मे एक क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया है। उसने इन शक्तियों से संचालित होनेवाले यन्त्रों का निर्माण कर मानव को सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए प्रचुर उपयोगी साधनों द्वारा अनेक प्रकार की सुविधाओं तथा सम्भावनाओं से सम्पन्न कर दिया है। वानस्पतिक जैवशास्त्रीय तथा रासायनिक खोजों के कारण उसने अधिकाधिक अन्न-उत्पादन के लिए अधिक शक्तिशाली उर्वरकों, पौधों, औषधियों आदि का निर्माण किया है। आज उसके पास एक ओर लहलहाते हुए शस्य-प्रभूत खेत हैं, तो दूसरी ओर रेल, तार, रेडियो, फोन, वायुयान आदि जैसे आवागमन के क्षिप्र साधन है जिनके कारण उसकी मानसिक-भौतिक सम्पदा ही की अतुल अभिवृद्धि नहीं हुई है, देशकाल की दुर्लंघ्य दूरी भी सिमटकर करामलकवत् हो गयी है। प्राचीन काल में मनीषियों ने जिस प्रकार हृदय की ग्रन्थि खोलकर मानव-मन के अन्तरतम में स्थित

आदित्यवर्ण शाश्वत पुरुष का स्पर्श पाया था उसी प्रकार आधुनिक युग में विज्ञान ने जड़ की ग्रन्थि खोलकर उसके अन्तर में निहित परमाणु शक्ति को प्राप्त कर नवीन जीवन-परिस्थितियों के निर्माण की सम्भावनाओं का विराट् स्वर्ग-द्वार उद्घाटित कर दिया है। आज मनुष्य दर्शन तथा अध्यात्म के उच्च शिखरों का आरोहण करने के स्वप्नों से ही सन्तुष्ट नहीं है, वह इतिहास के, देशकाल के सूत्रों से गुम्फित, विशाल व्यापक धरातल पर व्याप्त असीम की अनुभूति नये प्रकार से प्राप्त करने का गौरव वहन करने में समर्थ हुआ है। वह अतीत की अनुभूतियों तथा मान्यताओं की मनोगुहा से बाहर निकलकर फिर से विश्व-जीवन के प्राणहरित व्यापक क्षेत्र में विचरण कर नयी अनुभूतियों को आत्मसात् करने के आनन्द से प्रेरित हो रहा है। विश्व-जीवन के प्रति उसके मन में एक भावात्मक धन-दृष्टिकोण जन्म लेने लगा है और वह आध्यात्मिक उपलब्धियों का, इसी धरती पर नये जीवन-स्वर्ग की रचना कर, अनुभव एवं उपभोग करना चाहता है।

आज इस ससागरा विशाल धरती के विभिन्न छोटे-बड़े देशों के लोगों का परस्पर का समागम उनके भीतर नयी प्रेरणाओं के स्रोतों को जन्म दे रहा है। देश-विदेशों के इतिहास की अंजलि में युग-युग से संचित धार्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक विश्वास, जीवन-पद्धतियाँ तथा कला-शिल्प सम्बन्धी सौन्दर्य-बोध के मूल्य आज आपस में उलझकर, परस्पर के सम्पर्क में आकर, एक-दूसरे को आत्मसात् या अस्वीकृत कर एवं परिवर्तित होकर नया रूप ग्रहण कर रहे हैं। पुरानी रूढ़ियाँ, रीतियाँ तथा अन्धविश्वास अपने पथराये हुए सिंहासनों से नीचे गिरकर धूलिसात् हो रहे हैं। वास्तव में वर्तमान युग घोर संक्रान्ति तथा परिवर्तन का युग है। आज परिवर्तन की दुर्निवार आँधी सभी विकसित तथा अविकसित देशों को आक्रान्त किये हुए है। मानव-जीवन में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से घोर ह्रास तथा विघटन छाया हुआ है। पुरानी मान्यताओं के जीर्ण-शीर्ण पत्ते इस विघटन के धुन्ध में भरकर नये मूल्यों की कोंपलों के लिए स्थान बना रहे हैं। साधारण बुद्धि के जन, जो युग-विवर्तन के सन्देश को नहीं ग्रहण कर सके हैं उनके मन में अनास्था, भय तथा सन्त्रास का अन्धकार छाया हुआ है, वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये हैं। किन्तु युग-प्रबुद्ध मनीषीगण मनुष्य के युग-युग के सर्वभूतेषुचात्मानम् तथा वसुधैवकुटुम्बकम् के स्वप्न को साकार एवं मूर्त बनाने में सहायक होकर उसे इतिहास के स्वर्णसिंहासन पर प्रतिष्ठित करने में संलग्न हैं। वर्तमान युग अतीत तथा भविष्य के बीच जीवन-संग्राम का रणस्थल बना हुआ है। आज युग-युग के संभव-असंभव ऐन्द्रिय-अतीन्द्रिय सत्य, साधन तप के कृच्छ्र नैतिक बौद्धिक दृष्टिकोण विकसित-वर्धित होकर नवीन मानववादी विश्व-दृष्टि में समाहित होते जा रहे हैं। समस्त धरती का पिछला जीवन करवट बदलकर नयी दिशा की ओर अग्रसर हो रहा है। जिस मानव-सत्य की बात हम प्रारम्भ में कह आये हैं वह अब इतिहास के व्यापक धरातल को पार कर नयी सम्भावनाओं के रूप में प्रस्फुटित हो रहा है। मानव-एकता का सिद्धान्त मानव-समानता की भूमि पर उतरकर अधिक सघन, मूर्त तथा वास्तविक आयाम ग्रहण कर रहा है। आज अन्तर्राष्ट्रीयता जहाँ एक विश्व-जीवन का रूप ग्रहण करने का प्रयास कर रही है वहाँ विभिन्न जाति-पाँति,

वर्णों, धर्मों में बँटा पुरानी काठी और ढाँचे का मनुष्य नये विश्व-मानव तथा महामानव में ढलने का प्रयत्न कर रहा है। मानव-मूल्य अन्य सब प्रकार के मूल्यों को अतिक्रम कर आज विश्व-मानव की सर्वाधिक प्रिय तथा अमूल्य धरोहर बनने जा रहे हैं। ऐसे अन्धकार-प्रकाश में परस्पर गुम्फित युग में, जिसमें भविष्य वर्तमान से आँखमिचौली खेल रहा है और मानव-मन में निरन्तर धरती को स्वर्ग बनाने का देवासुर संग्राम चल रहा है, सभी युग-प्रबुद्ध, दायित्वपूर्ण व्यक्तियों को नयी सृजन-चेतना, नयी रचना-शक्तियों तथा नयी देव-मान्यताओं का साथ देना चाहिए। तथास्तु!

छन्द-नाट्य

इन दिनों हम रेडियो नाटकों एवं रूपकों के सम्बन्ध में परामर्श करते रहे हैं। रेडियो नाटक के विकास, उसके प्रकार, उसकी आवश्यकताओं आदि अनेक उपयोगी विषयों पर हम चर्चा कर चुके हैं। मैं आपसे, संक्षेप में, छन्द-नाट्य या पद्य नाट्य के बारे में कुछ कहना चाहूँगा, जिससे हम आगे उस विषय पर विचार-विनिमय कर सकें।

इसमें सन्देह नहीं कि रेडियो द्वारा छन्द-नाट्य को विशेष प्रेरणा मिली है, अंग्रेजी में भी वह दिन पर दिन लोकप्रिय होता जा रहा है। साधारणतः, सामान्य रेडियो नाटकों तथा रूपकों की जो विशेषता होती है और उनके लिए जिन उपकरणों की आवश्यकता है, वही सब विशेषताएँ तथा उपकरण छन्द नाट्य की रचना तथा उसके प्रस्तुतीकरण के लिए भी चाहिए। किन्तु छन्द तथा गीति नाट्य में, मेरी दृष्टि में, रेडियो नाटक और भी परिपूर्ण होकर निखर उठता है, या उसे निखर उठना चाहिए, जिसका कि कारण है। रेडियो नाटक दृश्य नहीं श्रव्य है, और शब्द के श्रव्य रूप को छन्दनाट्य में लय अथवा गीति-गति के पंख मिल जाते हैं। उसमें शब्दध्वनि अधिक मार्मिक तथा प्रभावोत्पादक बन जाती है और यदि श्रोतावर्ग शिक्षित हो तो छन्द नाट्य को वासन्ती समीर की तरह उसे भावोच्छ्वसित करने में समर्थ होना चाहिए। और यदि नाटक का विषय लोकप्रिय और भाषा सरल हो तो साधारण श्रोता वर्ग पर भी उसका जादू उतनी ही खूबी से चलना चाहिए। वर्तमान स्थिति में उसकी अनेक सीमाएँ होते हुए भी भविष्य में उसके लिए अनेक नवीन सम्भावनाओं के द्वार खुले हुए हैं।

छन्द नाट्य की सफलता के लिए मुख्य उपकरण विषय और उसका चुनाव है। विषय ऐसा होना चाहिए जिसमें अधिक मार्मिकता, गहराई, ऊँचाई या व्यापकता हो, जिसमें भावना की शक्ति और उड़ान के लिए स्थान हो, जो काव्य की भूमि पर अवतरित किये जाने योग्य हो। वैसे पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, बौद्धिक, काल्पनिक, घटनात्मक आदि सभी विषयों पर छन्द-नाट्य सफलतापूर्वक लिखे जा सकते हैं और लिखे गये हैं पर उन सभी नाटकों में ऊपर कहे हुए गुणों का रहना उनकी

शक्ति, प्रेषणीयता तथा सफलता की वृद्धि करता है। और लयात्मक ध्वनि के साथ गीत्यात्मक विषय का होना तो सोने में सुगन्ध का काम करता है। छन्द-नाट्य में मार्मिक संघर्ष—चाहे वह भावमूलक हो या समस्यामूलक—होना नितान्त आवश्यक है, जिससे मानव-भावना और विचारों का मन्थन, उनका आरोह-अवरोह श्रोता के हृदय को स्पर्श कर सके। बौद्धिक, सामाजिक तथा वैयक्तिक समस्याएँ भी छन्द-नाट्यों के लिए उपयुक्त विषय बन सकती है और श्रोताओं के मन में स्वस्थ मानव-मान्यताओं के बीज बो सकती हैं। किन्तु समस्यामूलक अथवा मान्यता-प्रधान नाट्कों को लिखने में अनेक प्रकार से सावधान रहने की आवश्यकता है। सर्वप्रथम यह कि नाटक में उठायी हुई समस्या कोई वास्तविक अथवा यथार्थ समस्या हो जिसका सम्बन्ध व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व या समाज के जीवन से हो। वह अति काल्पनिक, अति बौद्धिक या अति वैयक्तिक न हो। दूसरा जिन विरोधी चरित्रों तथा विचारधाराओं द्वारा उस समस्या को प्रस्तुत किया या सुलझाया गया हो, वे व्यक्तित्व सजीव तथा मानवीय हों और वे विचारधाराएँ स्पष्ट और सन्तुलित हों, गूढ़ तथा तर्कग्रथित न हों। छन्द-नाट्य के संलाप छोटे और चुभते हुए हों, भावों और विचारों की प्रेषणीयता के साथ ही यदि उनमें उक्तिवैचित्र्य, स्वाभाविकता तथा सरलता हो तो वे मर्म को स्पर्श करते हैं। भाषा की सरलता तो उनका अनिवार्य गुण है। जितना ही कठिन विषय या गूढ़ समस्या हो उतनी ही सरल सीधी भाषा द्वारा उसे प्रस्तुत करना आवश्यक है,—जो अत्यन्त कठिन कार्य है। इसीलिए बहुत-से छन्द-नाट्य छन्दों के चुनाव और भाषा की दुरूहता के कारण प्रसारण के लिए असफल होते हैं। छन्द-नाट्य के लिए छन्दों का सम्यक् चुनाव अत्यन्त आवश्यक है। ऐसे छन्द होने चाहिए जिनकी गति में प्रवाह और वेग हो, जो बहुत मन्थर न हों, जो छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त किये जा सकें और जिनके अन्त में गुरु-लघु मात्राएँ यथासम्भव न हों,—जिससे कथोपकथन का क्रम भंग न हो। इस प्रकार आप देखेंगे कि छन्द-नाट्य की सफलता के लिए विषयनिर्वाचन के साथ ही सरल भाषा, उपयुक्त छन्द, तथा नपे-तुले संवादों का प्रयोग अपनी विशेष महत्ता रखता है, जो छन्द-नाट्य को अर्थग्राह्य तथा लोकप्रिय बनाने के लिए अति आवश्यक है। लम्बे-लम्बे संलाप जिनमें जटिल तर्क या भाषण हों, श्रोताओं के मन को विरक्त कर देते है। संलापों में छोटे-छोटे वाक्य तथा सरल सुबोध शब्द होने चाहिए जिससे उन्हें कहने में वक्ता की साँस न टूटे और शब्द सुविधापूर्वक मुँह से निकल आयें। धारा-वाहिकता के लिए अतुकान्त छन्द अधिक उपयुक्त हैं और मुक्तछन्द का प्रयोग भी विशेष सफलता के साथ किया जा सकता है।

भाषा, छन्द और संलापों के अतिरिक्त हमें अन्य आवश्यक बातों पर भी ध्यान रखना पड़ता है। छन्द-नाट्य का कथानक छोटा किन्तु प्रभावोत्पादक होना चाहिए। कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना, व्यक्तित्व, सामाजिक-सांस्कृतिक समस्या, रागात्मक अथवा मान्यताओं सम्बन्धी भावभूमि, जिसका व्यापक गम्भीर धरातल हो और जिसमें कथातत्व का निर्वाह किया जा सके, छन्द-नाट्य के लिए उचित वस्तुतत्त्व प्रदान करते हैं। कथा में उद्वेलन, प्रगति और विकास अवश्य हो, नहीं तो कोरी भावुकता

अथवा उपदेशों की निष्क्रिय नीरसता से नाटक की रोचकता नष्ट हो जाती है। यदि कथानक में चित्रात्मकता हो तब तो वह श्रोता के मन में अनायास ही अपना रंगमंच बना लेता है। कथा में देशकाल-सम्बन्धी एकता, स्वाभाविकता और संगति का होना भी नाटकीय गुणों को उभारता है; अधिक आलंकारिक, काल्पनिक तथा प्रतीकात्मक कथानक उतना प्रभावपूर्ण नहीं होता। छन्द-नाट्य की अवधि अधिक लम्बी नहीं होनी चाहिए। अधिक से अधिक एक घण्टे तक का नाटक अपने श्रोताओं को आकर्षित करने में सफल रहता है। और चूंकि छन्द-नाट्य में अधिक माधुर्य, भावोद्वेग तथा रस-संचार होता है और उसे श्रोताओं को अधिक सजग होकर मनोयोग-पूर्वक सुनने की आवश्यकता पड़ती है, ऐसी दशा में अधिक लम्बी अवधि का नाटक मन मे ऊब तथा क्लान्ति पैदा कर सकता है। पात्रों की संख्या भी छन्द-नाट्य मे कम ही रहनी चाहिए। मुख्य पात्र का व्यक्तित्व आकर्षक होना चाहिए और विभिन्न पात्रों में वैचित्र्य या विरोध भी काफी उभरा, निखरा तथा स्पष्ट होना चाहिए। उनके संलापों तथा स्वरों में भी व्यक्तित्व के अनुरूप विशेषता तथा विभिन्नता रहने से श्रोताओं को समझने में सुविधा होती है।

इसके अतिरिक्त छन्द-नाट्य के भी अन्य रेडियो नाटकों की तरह कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण आलंकारिक उपकरण होते हैं जिनके अभाव मे उसकी रोचकता में कमी आ जाती है। उन उपकरणों में प्रथम हम संगीत की चर्चा करेंगे। संगीत में छन्द-नाट्य के प्राण हैं। संगीत का प्रयोग छन्द-नाट्य के प्रभाववर्द्धन, उसकी रोचकता तथा अर्थप्रस्फुटन के लिए अत्यावश्यक है। इसका प्रयोग कई रूपों में किया जाता है। प्रारम्भ में नाटक के समग्र भाव तथा उसके आन्तरिक तत्त्व को तदनुरूप संगीत द्वारा व्यक्त करना आवश्यक होता है, जिससे श्रोताओं का मन उनके बिना जाने ही नाटक के भाव या 'मूड' को ग्रहण करने के लिए तैयार हो सके। अन्त का संगीत सदैव नाटक के प्रभाव को परिपूर्णता प्रदान करने मे सहायक होता है। इसके अतिरिक्त नाटक के मध्य में भी दृश्यान्तर उपस्थित करने के लिए, समय-गति की सूचना देने के लिए, तथा प्रतीकात्मक भावों एवं अर्थ गाम्भीर्य का प्रस्फुटन करने के लिए संगीत की सहायता ली जाती है। कभी-कभी विराम से भी दृश्यान्तर आदि का भाव, जोकि रंगमंच में पट-परिवर्तन से होता है, श्रोताओं के मन में पैदा किया जाता है। छन्द नाट्य में कभी पृष्ठभूमि का संगीत भी भावबोधवर्धन के लिए बड़ा सहायक होता है। करुण, व्यथा, भय, हर्ष, आश्चर्य, भावावेश आदि को अभिव्यक्त करने के लिए अनेक रूपों में अनेक प्रयोजनों से उसका प्रयोग तथा उपयोग किया जाता है।

संगीत के बाद अलंकृत उपकरणों में ध्वनिप्रभाव का स्थान है, जिसके बिना रेडियो नाट्य और छन्द-नाट्य कभी-कभी निष्प्राण एवं प्रभावशून्य हो जाते हैं। ध्वनिप्रभाव अपने अदृश्य संकेतों द्वारा वास्तव में रंगमंच की कमी की पूर्ति करता है और कभी रंगमंच के दृश्य श्रोता की आँखों के सामने ज्यों के त्यों उपस्थित कर देता है। जैसे गौतमबुद्ध जब रथ पर जाता हुआ नदी तटपर पहुँचता है तो रथचक्रों के साथ घोड़ों के टापों की ध्वनि तथा नदी के प्रवाह की ध्वनि का प्रभाव देकर उस

दृश्य को श्रोताओं के सम्मुख मूर्त कर देते हैं। इसी प्रकार आँधी, तूफान, मेघ-गर्जन आदि से लेकर पाँवों की चाप तथा किवाड़ों पर खटखटाहट आदि, और इससे भी सूक्ष्म सिसकने, साँस लेने, साड़ी के खिसकने आदि का ध्वनिप्रभाव देकर ध्वनिनाटकों में अनेक घटनाएँ, क्रियाएँ तथा भावों का उतार-चढ़ाव, मंच की दृश्यसज्जा तथा अभिनय का अभाव मिटाने के लिए, सजीव एवं मूर्तिमान कर दिये जाते है। इसमे सन्देह नहीं कि संगीत और ध्वनिप्रभाव रेडियो नाटक और विशेषतः छन्द-नाट्य के एक अनिवार्य अंग हैं जिनकी सहायता के बिना कभी-कभी ध्वनिनाटक का प्रस्तुतीकरण असम्भव भी हो जाता है, किन्तु यह होते हुए भी, संगीत और ध्वनिप्रभावों का प्रयोग जितना कम हो उतना ही रेडियो नाट्य की अन्तःशक्ति, शुद्धि और सिद्धि के लिए अच्छा है। संगीत और ध्वनि-प्रभावों का आधिक्य अनाकर्षक, अरोचक तथा प्रभावहीन हो जाता है। एक सफल ध्वनि और छन्द-नाट्य के भीतरी उपादान स्वयं इतने सशक्त तथा प्रभावोत्पादक होने चाहिए कि उसके प्रस्तुतीकरण मे दृश्यान्तर, कालसूचक आदि कुछ आवश्यक स्थलों के अतिरिक्त संगीत और ध्वनि-प्रभावों की कम से कम आवश्यकता अनुभव होनी चाहिए। ध्वनिप्रभाव की ही तरह वाचक या 'नरेटर' का उपयोग भी रेडियो नाटक मे नितान्त आवश्यक स्थलों के अतिरिक्त नही के बराबर होना चाहिए, वैसे रेडियो रूपकों या गीतिनाट्यों के लिए वाचक-वाचिका का बहिष्कार सम्भव न हो सके।

रेडियो छन्द-नाट्य की रचना-कला तथा प्रस्तुतीकरण के सम्बन्ध मे संक्षेप मे थोड़ी-सी आवश्यक चर्चा कर लेने के बाद अब मैं आपसे कुछ बाते छन्द-नाट्य के श्रोताओं के बारे मे तथा प्रसार-कक्ष और यन्त्रों के सम्बन्ध में भी कह दूँ।

छन्द-नाट्य के श्रोता वैसे साधारणतः कम ही होते है। क्योंकि छन्द की अभिजात प्रकृति में गाम्भीर्य, संस्कार, सौन्दर्य, भाव तथा विचार सम्बन्धी सूक्ष्मता स्वभावतः ही अधिक होती है जिसे ग्रहण करने के लिए मन की किसी प्रकार की साहित्यिक या बौद्धिक पृष्ठभूमि और एक प्रकार की कला-दीक्षा किसी न किसी मात्रा में आवश्यक हो जाती है। फिर उसे सुनने के लिए मनोयोग, रुचि, अभ्यास आदि भी आवश्यक होते हैं। छन्द-नाट्य के गहन विषयों के प्रति अधिकतर लोगों का रुझान, या पहुँच नही के बराबर होती है। जनसाधारण की धारणा नाटकों के प्रति प्रायः मनो-रंजन तक ही सीमित रहती है। इसके अतिरिक्त बड़ी राजधानियों और औद्योगिक केन्द्रों के श्रोतागण छन्द की झंकार से परिचित होने पर भी बाह्य जगत-जीवन के प्रभावों से मनसा इतने आक्रान्त रहते है कि उन्हे छन्द के लिए अन्तःकेन्द्रित होने में प्रयास करना पड़ता है। वैसे प्रयाग, काशी जैसे सांस्कृतिक नगरों की परम्परा मे सुन्दर छन्द-नाट्य का लोग विशेष रूप से स्वागत करते है। उनकी सांस्कृतिक सौन्दर्यग्राही नाड़ियाँ छन्द के शक्तिपात की अभ्यस्त होती हैं। फिर भी मेरा विचार है कि ऐसे सरस सुबोध छन्द-नाट्य प्रस्तुत किये जा सकते है जो अधिक लोक-प्रिय बन सकें।

ध्वनिनाटक के लेखक के लिए प्रसार-कक्ष के वातावरण, प्रस्तुती-

करण की पद्धति तथा उसके उपादान-यन्त्रों का परिचय प्राप्त करना भी कुछ अंशों तक आवश्यक है जिससे वह ध्वनि-नाटक की रचना-कला के लिए अपनी कल्पना के अनुसार आवश्यक रूप-विधान प्रस्तुत कर सके। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि नाटककार किसी प्रकार के यान्त्रिक भार से आक्रान्त होकर नाटकों की रचना करे। छन्द-नाटककार के लिए तो यह और भी कठिन हो जाता है। फिर भी रेडियो नाटक एक प्रकार से साहित्य को विज्ञान अथवा यन्त्र की देन है। संस्कृति के प्रसार के लिए हम रेडियो में साहित्य और विज्ञान दोनों साधनों का उपयोग करते है। रेडियो द्वारा लिखित शब्द फिर से श्रव्य शब्द बनकर लोगों के कानों में पहुँचने लगा है, यह नाटक की सफलता के लिए रंगमंच प्रस्तुत करने से कम उपयोगी नहीं है। श्रव्य शब्द द्वारा एक प्रकार से शब्दशक्ति रंगमंच की अनेक सीमाओं को पार कर श्रोताओं के मानस में अमूर्त रंगमंच रचती हुई हमारे हृदयों को अत्यधिक सशक्त तथा अद्भुत रूप से प्रभावित करने लगती है, और यही रेडियो नाटक की सफलता है जिसके अन्तर्गत मैं आपसे अभी छन्द-नाट्य के बारे में अपने विचार प्रकट कर रहा हूँ।

यह सही है कि रेडियो नाटक अभी हमारे लिए एक नया कला-साधन है, उसकी सिद्धि के लिए अधिक रचना-अनुभव तथा उपकरणों का ज्ञान अपेक्षित है। फिर भी अन्य भारतीय भाषाओं की तरह हिन्दी में भी इधर जो रेडियो नाटक, रूपक तथा छन्दगीति-नाट्य लिखे गये है उन्हें पढ़कर, सुनकर यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि भविष्य में ध्वनिनाटक साहित्य और संस्कृति के विकास तथा प्रसार के लिए रंगमंच के नाटक से कई दृष्टियों से अधिक सफल तथा सबल साधन बन सकेगा, क्योंकि वह रंगमंच और रंगभूमि की सीमाओं को पार करता हुआ अपनी नयी सीमाओं के भीतर से भी सीधा देश के कोने-कोने में हमारे कानों के भीतर पैठकर हमारे हृदयों को अभिभूत कर सकता है। हम अपनी ही कल्पना से अपनी रुचि के अनुकूल अमूर्त रंगमंच बनाकर और अनेक पात्र-पात्रियों में अपनी चेतना को विभाजित कर इस श्रव्य नाट्य के सजीव सूत्रधार, पात्र और अंग बन जाते है। इससे अधिक विजय की कल्पना कला के लिए और क्या की जा सकती है? ध्वनिनाटक के लिए निश्चय ही अधिक परिष्कृत रुचि की आवश्यकता है।

कला का प्रयोजन :

स्वान्त सुखाय या बहुजनहिताय

हमारे युग का संघर्ष आज केवल राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों ही में प्रतिफलित नहीं हो रहा है, वह साहित्य, कला तथा संस्कृति के क्षेत्र में भी प्रवेश कर चुका है। यह एक प्रकार से स्वास्थ्यप्रद ही लक्षण है कि हम अपने युग की समस्याओं का केवल बाहरी समाधान ही नहीं खोज रहे है, प्रत्युत उनकी भीतरी ग्रन्थियों को भी खोलने अथवा सुलझाने का यत्न कर रहे है। राजनीति के क्षेत्र में आज बहुजनहिताय का सिद्धान्त प्रायः

सभी देशों में निर्विवाद रूप से स्वीकृत हो चुका है और अपना देश भी नवीन संविधान के स्वीकृत होने के साथ ही बहुजन-संगठित गणतन्त्र के विशाल तोरण में प्रवेश कर चुका है। राजनीतिक क्षेत्र की यह कोटि कर-पद नवीन चेतना आज हमारे साहित्य, कला तथा संस्कृति में भी युग के अनुरूप परिणति प्राप्त करने की चेष्टा कर रही है। फलतः आज साहित्य में इस प्रकार के अनेक प्रश्न हमारे मन में उठने लगे हैं कि 'कला कला के लिए अथवा जीवन के लिए', अथवा 'कला प्रचार के लिए या आत्माभिव्यक्ति के लिए' अथवा 'कला स्वान्तःसुखाय या बहुजनहिताय'। इस प्रकार के सभी प्रश्नों के मूल में एक ही भावना या प्रेरणा काम कर रही है और वह है व्यक्ति और समाज के बीच बढते हुए विरोध को मिटाना अथवा वैयक्तिक तथा सामाजिक संचरणों के बीच सामंजस्य स्थापित करना। मानव-सभ्यता का इतिहास इस बात का साक्षी है कि मनुष्य की बुद्धि को कभी वैयक्तिक समस्याओं से उलझना पड़ता है, कभी सामाजिक समस्याओं से। मध्य युग में हमारा ध्यान वैयक्तिक मुक्ति की ओर था तो इस युग में सामाजिक, सामूहिक अथवा लोकमुक्ति की ओर। पिछले युगों में सामन्ती परिस्थितियों के कारण मानव-अहंता का विधान तथा उसके पारस्परिक सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण एक विशेष रूप से संगठित हुआ था। वर्तमान युग में भूत-विज्ञान की शक्तियों के प्रादुर्भाव के कारण मानव-सभ्यता का मान-चित्र धीरे-धीरे बदलकर दूसरा ही रूप धारण करने लगा है; और मानव-अहंता का विधान भी पिछले युग के विशेष एवं साधारण अधिकारों के सामंजस्य अथवा बन्धन को तोड़कर अपने विचारों तथा आचार-व्यवहारों में आज नवीन रूप से समान अधिकारों का सामंजस्य प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है, जिसके परिणाम-स्वरूप इस संक्रान्ति एवं परिवर्तन-काल में, हमारे जीवन के रहन-सहन की बाहरी प्रणालियों के साथ ही, हमारे मनोजीवन के अन्तर्नियमों, विचारों तथा आस्थाओं में भी, विरोधी शक्तियों के संघर्ष के रूप में, प्रकारान्तर उपस्थित हो रहा है। कार्ल मार्क्स को जिस प्रकार पूंजीवादी पद्धति में एक मूलगत अन्तर्विरोध दिखलायी दिया था, उसी प्रकार इस युग के समीक्षकों को भी आज मानव-चेतना के सभी स्तरों में अन्तर्विरोध के चिह्न दिखायी दे रहे हैं और चाहे वस्तुवादी दृष्टिकोण से देखा जाये अथवा आदर्शवादी विचारों के कोण से, आज मनुष्य के मन तथा जीवन के स्तरों में परस्पर विरोधी शक्तियाँ आधिपत्य जमाये हुए हैं। और हमारी साहित्यिक पुकारें 'कला कला के लिए या जीवन के लिए', अथवा 'कला स्वान्तःसुखाय या बहुजनहिताय' आदि भी हमारे युग के इसी विरोधाभास को हमारे सामने उपस्थित कर उसका समाधान माँग रही हैं। हमारे युग का बहुमुखी जीवन पग-पग पर विरोध खड़े कर जैसे युगमानव की प्रतिभा को चेतावनी दे रहा है और उसे प्रकट रूप से ललकार रहा है कि उठो, जीवन का नाम विरोध है, वह अन्धकार और प्रकाश का क्षेत्र है, इन विरोधों को पैरों के नीचे कुचलकर आगे बढ़ो, विरोध के विष को पीकर निर्विकार चित्त से युग-सामंजस्य का अनुसन्धान करो और अपनी चेतना को गम्भीर तथा विस्तृत बनाकर इन अनमेल विरोधी तत्त्वों में सन्तुलन स्थापित करो। 'विश्वजयी वह आत्मजयी जो!'

अस्तु, तुलसीदासजी लिखते हैं, 'स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथा'। हमारा युग रघुनाथ-गाथा तो एकदम भूल ही गया है, वह स्वान्तः-सुखाय से भी बुरी तरह उलझ रहा है। प्रश्न यह है कि यदि तुलसीदास जी रघुनाथ-गाथा को स्वान्तःसुखाय लिख गये हैं, तो क्या उसने बहुजन-हिताय के अपने कर्तव्य को पूरा नहीं किया ? क्या उनकी कला स्वान्तः-सुखाय होने पर भी बहुजनहिताय नहीं रही ? यदि रही है, तो हमें स्वान्तःसुखाय और बहुजनहिताय मे इतना बडा विरोध क्यो दिखायी देता है ? असल बात यह है कि हम गम्भीरतापूर्वक न इस युग के स्वान्तः के भीतर पैठ सके हैं, न बहुजन के भीतर; नहीं तो हमें इन दोनों में विरोध के बदले एक व्यापक गम्भीर साम्य तथा एकता ही दिखायी देती, और हमें यह समझने में देर न लगती कि स्वान्तः कहने से हम बहुजन के ही अन्तस् या मन की ओर संकेत करते हैं और बहुजन कहने से भी हम व्यक्ति के ही बाह्य अथवा सामाजिक अन्तस् की ओर निर्देश कर रहे है। एक विकसित कलाकार के व्यक्तित्व में स्वान्तः और बहुजन में आपस में वही सम्बन्ध रहता है जो गुण और राशि में, और एक के बिना दूसरा अधूरा है। इस प्रकार हम देखेंगे कि इस युग की विरोधी विचार-धाराओं द्वारा हम, एक प्रकार से, मानव की भीतरी-बाहरी परिस्थितियो में सन्तुलन अथवा सामंजस्य प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि स्वान्तः और बहुजन मे व्यक्ति और समाज में किस प्रकार सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। इसका उत्तर देने से पहले हमें स्वान्तः और बहुजन का अभिप्राय समुचित रूप से समझ लेना चाहिए। स्वान्तः का अर्थ है मन। 'स्वान्तः मानसं मनः' जैसा कि अमरकोष कहता है। अतएव स्वान्तः से हमारा अभिप्राय है उन विचारों, भावों, धारणाओं तथा आस्थाओं से जिनसे हमारा अन्तर्जगत् अथवा हमारी भीतरी परिस्थितियो का संसार अथवा हमारा अन्तर्व्यक्तित्व बना हुआ है। बहुजन से हमारा अभिप्राय है उन बाहरी परिस्थितियो से जो आज अधिक से अधिक लोगों के जीवन का प्रतिनिधित्व कर रही हैं और जिनके पुनर्निर्माण पर असंख्य लोगों के भाग्य का निर्माण निर्भर है। दूसरी दृष्टि से आज की वास्तविकता ही हमारे बहुजन का स्वरूप है। उसका कल का रूप या भविष्य का रूप अभी केवल युग के स्वान्तः में अथवा अन्तस् में अन्तर्हित है। जब हम अन्तर्जगत् के स्वरूप पर विवेचन करते हैं, तब हमें ज्ञात होता है कि हमारे बाह्य जीवन के क्रिया-कलाप का, हमारे ऐन्द्रिय जीवन की इच्छाओं-सम्बन्धी अनुभूतियों आदि का निचोड़ अथवा सार ही हमारे विचारों, धारणाओं, आदर्शों तथा आस्थाओं के रूप में परिणत हो जाता है, अर्थात् बाह्य जीवन का सूक्ष्म रूप ही हमारा अन्तर्जीवन है। हमारे बाह्य और अन्तर्जगत् दो विरोधी तत्त्व नहीं हैं, बल्कि मानवजीवन के एक ही सत्य के सूक्ष्म तथा स्थूल स्वरूप हैं और व्यक्ति तथा विश्व के अन्तर्विधान को सामने रखते हुए ये दो समान्तर सिद्धान्तों की तरह कहे जा सकते हैं। इस प्रकार हमारा विचारों का दर्शन हमारे जीवन-दर्शन से भिन्न सत्य नहीं है, बल्कि हमारे जीवन की प्रणालियों, उसके क्रिया-कलापों तथा अनुभूतियों का ही क्रमबद्ध तथा संगठित स्वरूप है। इस दृष्टि से हमारे स्वान्तःसुखाय और बहुजनहिताय

के सिद्धान्तों में कोई मौलिक या अन्तर्जात विरोध नहीं है, केवल बाह्य वैषम्य-मात्र है।

अब हमें इस बाह्य विषमता के भी कारण समझ लेने चाहिए। जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, हमारा युग संक्रान्ति का युग है। भूत-विज्ञान के आविष्कारों के कारण मानव-जीवन की बाह्य परिस्थितियाँ इस युग में अत्यधिक सक्रिय हो गयी हैं। हमारा राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण, वर्गहीन तन्त्र के रूप में, उनमें नवीन रूप से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा है और हमारा जीवन-सम्बन्धी मान्यताओं तथा सामाजिक सम्बन्धों का दृष्टिकोण भी युगपत् परिवर्तित हो रहा है। दूसरे शब्दों में आज मनुष्य का बहिरन्तर प्रवहमान अवस्था में है। किन्तु बाहरी परिस्थितियों के अनुपात में जन-साधारण की भीतरी परिस्थितियाँ अभी प्रबुद्ध अथवा विकसित नहीं हो सकी हैं। फलतः हमारी वैयक्तिक तथा सामाजिक मान्यताओं के बीच इस युग में एक अस्थायी विरोधाभास पैदा हो गया है और हम युग-जीवन के सत्य को व्यक्ति तथा समाज, स्वान्त तथा बहुजन के रूप में विभक्त कर उनको एक-दूसरे के विरोधी मानने लगे हैं। किन्तु धीरे-धीरे युग-जीवन के प्रवाह में एक ऐसी स्थिति प्राप्त हो सकेगी कि मनुष्य की बाहरी और भीतरी परिस्थितियों में, अथवा मनुष्य के बाह्य और अन्तर्जगत् में एक-दूसरे के सम्बन्ध में सन्तुलन पैदा हो जायेगा, हमारी स्वान्त सुखाय और बहुजन-हिताय की धारणाएँ एक-दूसरे के सन्निकट आकर अविच्छिन्न रूप से परस्पर संयुक्त हो जायेंगी और आज के व्यक्ति और समाज का संघर्ष हमारे नवीन युग की पूर्णकाम राम-गाथा में अति मंजुल भाषा-निबन्धरचना के रूप में गुम्फित होकर नवीन युग का निर्वैयक्तिक व्यक्तित्व बन जायेगा। उस गरिमामय विराट् व्यक्तित्व के शिखर पर खड़े तब हम देख सकेंगे कि व्यक्ति और समाज, श्रेय और प्रेय, अन्तर और बाह्य, स्वान्त और बहुजन, कला और जीवन एक-दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं।

हमारा मन जिस प्रकार विचारों के सहारे आगे बढ़ता है, उसी प्रकार मानव-चेतना प्रतीकों के सहारे विकसित होती है। हमारे राम और कृष्ण भी इसी प्रकार के प्रतीक हैं, जिनके व्यक्तित्व में एक युग की संस्कृति मूर्तिमान हो उठी है, जिनके व्यक्तित्व में पिछला युग बहिरन्तर सामंजस्य ग्रहण कर सका है, जिनके व्यक्तित्व में युग का वैयक्तिक तथा सामूहिक आदर्श चरितार्थ हो सका है। इस दृष्टि से हमारा युग एक विराट् प्रतीक्षा का युग है। एक दिन इस युग का व्यक्तित्व हमारे भीतर उतर आयेगा और हमारे बाहर-भीतर के सभी विरोध उस व्यक्तित्व की महानता में निमज्जित होकर कृतकार्य हो जायेंगे। और कोई प्रतिभाशाली तुलसी, महात्मा गांधी जैसे लोकपुरुष के जीवन में उस व्यक्तित्व को अंकित कर, फिर से स्वान्त:सुख के लिए नवीन युग की बहुजनहिताय गाथा गाकर उसे जन-मन में वितरित कर सकेगा।

इसी प्रकार अपने युग की समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने तथा मानव-जीवन के अतल अन्तस्तल में अधिकाधिक पैठने से हमें ज्ञात हो जायेगा कि हमारे वर्तमान, व्यक्ति तथा समाज सम्बन्धी अथवा अन्तर-बाह्य-सम्बन्धी, ऊपरी विरोधों के नीचे हमारी चेतना के गहन

प्रच्छन्न स्तरों में एक नवीन सन्तुलन तथा समन्वय की भावना विकसित हो रही है, जो आज के विभिन्न दृष्टकोणों को एक नवीन मनुष्यत्व के व्यापक सामंजस्य में बाँध देगी। जीवन-रहस्य के द्वार खुल जाने पर हमें अनुभव होगा कि जीवन स्वयं एक विराट् कला तथा कलाकार है और एक महान् कलाकार के कुशल करों में कला कला के लिए होने पर भी जीवनोपयोगी ही बनी रहेगी और कला जीवन के लिए होते हुए भी कलात्मक अथवा कला के लिए रहेगी। इसी प्रकार कुछ और गम्भीरतापूर्वक विचार करने से हमारे भीतर यह बात भी स्पष्ट हो जायेगी कि कला द्वारा आत्माभिव्यक्ति भी सार्वजनिक तथा लोकोपयोगी हो सकती है। और लोक-कला की परिणति भी आत्म-प्रकटीकरण अथवा आत्माभिव्यक्ति में हो सकती है। मुझे विश्वास है कि हमारे साहित्य-स्रष्टा तथा कला-प्रेमी विद्वान् वस्तुवाद तथा आदर्शवाद को एक ही मानव-जीवन के सत्य की दो बाँहों की तरह मानकर वर्तमान युग के विचारों की इस विशृंखलता को सामंजस्य के व्यापक प्रीति-पाश में बाँध सकेंगे। एवमस्तु।

कला और संस्कृति

मैं स्वतन्त्र भारत के नवयुवक कलाकारों का स्वागत करता हूँ। मैं उनकी आँखों में सौन्दर्य के स्वप्न, उनके हृदय की धड़कन में संस्कृत भावनाओं का संगीत और उनके सुन्दर मुखों पर मनुष्यत्व के गौरव की झलक देखना चाहता हूँ।

आप बुद्धिजीवी तथा कलाकार हैं। आपका क्षेत्र भीतर का क्षेत्र है, आपको सूक्ष्म का परिचालन करना है। आपको विकसित मस्तिष्क के साथ संस्कृत हृदय की भी आवश्यकता है। विकसित मस्तिष्क से मेरा अभिप्राय युग के प्रति प्रबुद्ध, विश्व-जीवन की समस्याओं के प्रति जागरूक मन से है; और संस्कृत हृदय से मेरा प्रयोजन उस हृदय से है जिसमें राग-द्वेष आदि जैसी विरोधी वृत्तियों में मनन तथा साधना द्वारा सन्तुलन आ गया हो तथा जो नवीन सांस्कृतिक चेतना के प्रति उद्‌बुद्ध हो। ऐसा सन्तुलन साधारण लोकजीवन से ऊँचे ही स्तर पर स्थापित किया जा सकता है और परिस्थितियों की चेतना से ऊपर उठने के लिए एक कलाजीवी सौन्दर्य-स्रष्टा को प्रारम्भ में स्वस्थ अभ्यासों, उन्नत संस्कारों एवं विकसित रुचियों के प्रभावों की आवश्यकता होती है।

मनुष्य के विन्यास मे जहाँ मन का स्तर है वहाँ एक प्राणों का भी स्तर है। यह हमारी लालसाओं, आवेगों, प्रवृत्तियों, भावना, आशा, स्वप्न आदि का स्तर है और यही शक्ति का भी स्तर है। महान् कलाकारों में स्वभावत: ही प्राणशक्ति का अधिक प्रवाह तथा प्रसार देखने को मिलता है। यह प्राण-शक्ति शीघ्र ही हमारे अभ्यासों तथा रुचियों का स्वरूप धारण कर लेती है। अत: एक कलाकार के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह किसी मत या वाद के प्रभाव से अथवा तीव्र राग-विराग के कारण विशेष अभ्यासों की सीमाओं के भीतर न बँध जाये।

उसे सदैव मुक्त-हृदय, संवेदनशील तथा ग्रहणशील बने रहना चाहिए और अपने प्राणों के आवेष्टन को परिष्कृत कर उसे सौन्दर्यग्राही, ऊर्ध्वगामी बनाकर द्वेष-क्रोध आदि की निम्न वृत्तियों से ऊपर उठना चाहिए, जिससे उसके प्राणों के प्रवाह में एक सगीत, सामंजस्य, तन्मयता, व्यापकता तथा भिन्न स्वभावधर्मा मानव-समूह के प्रति सौन्दर्य तथा सहानुभूति का संचार हो सके।

किसी कलाकृति मे मुख्यत: तीन गुणों का समावेश रहना चाहिए—(१) सौन्दर्यबोध, (२) व्यापक गम्भीर अनुभूति, (३) उपयोगी सत्य। इनका रहस्य-मिश्रण ही कला-वस्तु मे लोकोत्तरानन्ददायी रस की परिपुष्टि करता है। हमे देखना चाहिए कि कलाकार के सौन्दर्य-दर्शन में कितना मार्जन, ऊर्ध्वप्राणता तथा रहस्य-संकेत है। वह किसी विशेष रुचि या अभ्यास से तो कुण्ठित नहीं, और यदि है तो उसका कारण बाह्य उपादानों में है अथवा अन्तर के भाव-सत्य में। दूसरा, हमें देखना चाहिए कि उसकी अनुभूति में कितनी गहराई, व्यापकता तथा ऊँचाई है। उसने जीवन के साथ कितना और किस प्रकार का सामंजस्य स्थापित किया है—भीतर के जिस दर्पण में उसने मानव-जीवन के सत्य को ग्रहण तथा प्रतिफलित किया है, वह चेतना कितनी सूक्ष्म, प्रभावशाली तथा अतलस्पर्शी है। तीसरा, हमें विचार करना चाहिए उस कृति की उपयोगिता पर—अर्थात् वह केन्द्रीय सत्य को लोक-जीवन की भीतरी-बाहरी परिधियों तक प्रसारित करती है कि नही। इसका सबसे उत्तम उदाहरण हमारे पास तुलसीकृत रामायण है, जो व्यक्ति के अन्तरतम-विकास में भी, अपने युग की सीमाओं के भीतर, सहायता पहुँचाता है तथा लोक-समुदाय को भी बल प्रदान करता है।

किन्तु इन सबसे महत्त्वपूर्ण, मेरी दृष्टि में, एक और भी वस्तु है, जिसके पूरक उपर्युक्त तीनों मान हैं। वह है किसी कलाकृति में पाये जानेवाले सांस्कृतिक तत्व। अर्थात् जो चेतना, जो प्रकाश, जो संस्कार किसी कलाकृति को पढ़ने पर अज्ञात रूप मे आपको प्रभावित कर आपका निर्माण करने में सफल होते हैं—जिन सूक्ष्म उपादानों का एक कलाकृति सक्रिय वितरण करती है। आज जब कि हम एक संक्रान्तियुग के शिखर पर बैठे हैं, जिसके अन्तस्तल में धरती को आन्दोलित करनेवाली ज्वालामुखी सुलग रही है, हमें सांस्कृतिक मान्यताओं के प्रति सबसे अधिक चैतन्य रहना चाहिए। संस्कृति मानव-चेतना का सारपदार्थ है, जिसमें मानव-जीवन के विकास का समस्त संघर्ष, नाम, रूप, गुणों के रूप में संचित है, जिसमें हमारी ऊर्ध्वगामी चेतना या भावनाओं का प्रकाश तथा समतल जीवन और मानसिक उपत्यकाओं की छायाएं गुम्फित हैं; जिसमें हमें सूक्ष्म और स्थूल, दोनों धरातलों के सत्यों का समन्वय मिलता है। संस्कृति में हमारी धार्मिक, नैतिक तथा रहस्यात्मक अनुभूतियों का ही सार-भाग नहीं रहता, उसमें हमारे सामाजिक जीवन में बरते जानेवाले आचार-विचार एवं व्यवहारों के भी सौन्दर्य का समावेश रहता है। यदि हम सोचते हैं कि हम इसी क्षण से एक आमूल नवीन संस्कृति को जन्म दे सकते हैं, तो हम ठीक नहीं सोचते। क्योंकि जो सांस्कृतिक चेतना अथवा सौन्दर्य-भावना आज हमारे भीतर काम कर रही है, उसके ताने-बाने में

मानव-जीवन की सहस्रों वर्षों की अनुभूतियाँ, सुख-दुख, सद्-असद्, सत्य-मिथ्या की धारणाएँ, उसका सूक्ष्म ज्ञानजगत् तथा बहिरन्तर का समस्त छाया-प्रकाश ग्रथित है। जिस प्रकार भाषा एक संगठित सत्य है, उसी प्रकार संस्कृति भी। वह स्वभावजन्य गुण नहीं, विकासक्रम से उपलब्ध वस्तु या सत्य है। मैं कुछ शब्द-ध्वनियों द्वारा, जो हमारी चेतना में सार्थक रूप से संगठित हैं, आपके मन में कुछ विचारों, भावनाओं एवं संवेदनों को जगा रहा हूँ। यदि मैं कुछ ऐसी ध्वनियों का प्रयोग करूँ, जिनका हमारे भीतर सार्थक संगठन नहीं है, तो आप उनसे कुछ भी अभिप्राय नहीं ग्रहण कर सकेंगे। इसी प्रकार हमारा सांस्कृतिक ज्ञान भी हमारी अन्तश्चेतना में संगठित गुण है, जो हमें सत्य-मिथ्या का मान देता है और हमारी शिव-अशिव, सुन्दर-असुन्दर, पाप-पुण्य आदि की भावनाओं से जुड़ा हुआ है। हमारी सांस्कृतिक मान्यताएँ प्रायः हमारी प्राकृतिक स्वभावजन्य लालसाओं तथा ऐन्द्रिय संवेदनों की विरोधी भी होती है, हम इन्हें संस्कार कहते हैं।

आप जिस जाति और जिस देश की भी संस्कृति के इतिहास का अध्ययन करें, आपको उसमें अन्तःसंगठन के नियम मिलेंगे और उनमें बाह्य दृष्टि से विभिन्नता होने पर भी एक आन्तरिक साम्य तथा सूक्ष्म एकता मिलेगी। विभेदों का कारण देश-काल की परिस्थितियाँ होती हैं और एकता का आधार समान मानवीय अनुभूति का सत्य। समस्त सत्य केवल मात्र मानवीय सत्य है, उसके बाहर या ऊपर किसी भी सत्य की कल्पना सम्भव नहीं है। वनस्पति-जीवन, पशु-जीवन से लेकर—जो मनुष्य-चेतना से नीचे के धरातल है—स्वर्गलोक के देवताओं और उनसे भी परे का ज्ञान-विस्तार केवल मानवीय सत्य है। मनुष्य चाहे बाहर जितनी जातियों, धर्मों और वर्गों में विभक्त हो, वह भीतर से एक ही है; इसलिए समस्त मानव-जीवन के सत्य को एक तथा अखण्डनीय समझना चाहिए।

यद्यपि हम अन्तःसंगठन के सत्य में आमूल परिवर्तन नहीं कर सकते, हम उसके विकास के नियमों का अध्ययन कर उसे विशेष युग में विशेष रूप से प्रभावित एवं परिवर्तित कर सकते हैं तथा उसका यथेष्ट रूपान्तर भी कर सकते हैं। हमारा युग एक ऐसा ही संक्रान्ति का युग है। जबकि हमें भिन्न-भिन्न जातियों, वर्गों और धर्मों की संस्कृतियों का समन्वय एवं संश्लेषण कर उन्हें मानव-संस्कृति के एक महान् विश्व-संचरण के रूप में प्रतिष्ठित करना है। आज हमें मानव-चेतना के क्षीर-सागर को फिर से मथकर उसके अन्तस्तल में छिपे हुए रत्नों को पहचानना है और मौलिक अनुभूतियों के नवीन रत्नों को भी बाहर निकालकर अपने युग-पुरुष के स्वर्ण शुभ्र किरीट में उन्हें समय के अनुरूप नवीन सौन्दर्य-बोध से जड़ना है, जिससे वह भावी मनुष्यत्व की गरिमा को वहन कर सके। इसलिए हमारे युग के साहित्यिकों तथा कलाकारों के ऊपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आ गया है, जिसे हम साहस, संयम, सद्भाव तथा सहिष्णुता से ही पूरा कर सकते हैं।

सत्ता के सम्पूर्ण सत्य को समझने के लिए हमें व्यक्ति तथा विश्व के साथ ईश्वर को भी मानना चाहिए। ईश्वर को मानने से मेरा यह अभिप्राय

नहीं कि आप विधिवत् पूजा-पाठ अथवा जप-तप करें। वह तो धर्म का क्षेत्र है और आपके स्वभाव, रुचि तथा नाडियों के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली बातें हैं। ईश्वर को मानने का व्यावहारिक रूप मैं एक कलाकार के लिए इतना ही पर्याप्त समझता हूँ कि वह अव्यक्त के, सूक्ष्म के, अन्तश्चेतना के संचरणों से भी अपने को संयुक्त रखे, और उनके प्रकाश, उनके सौन्दर्य तथा शक्तियों का उपयोग कर समाज के अन्तर्जीवन का निर्माण करे। उसके कन्धों पर वास्तविकता तथा विवेक का ही भार न हो, वे स्वप्नों के बोझ से भी झुके रहें।

संक्षेप में, मैं चाहता हूँ कि स्वाधीन भारत की कलाकृतियाँ लोकोपयोगी सांस्कृतिक तत्वों से ओतप्रोत रहें और नवयुवक कलाकार अपनी कलाओं के माध्यम द्वारा समाज में नवीन मानव-चेतना के आलोक का वितरण करें एवं लोक-जीवन को बाहर-भीतर से संस्कृत, सुरुचिपूर्ण तथा सम्पन्न बनाने में सहायक हों। हमारे युग के सांस्कृतिक सूत्र है—मानव-प्रेम, लोक-जीवन की एकता, जीवन-सौन्दर्य का उपभोग तथा विश्व-मानवता का निर्माण। यदि आप अपनी लेखनी और तूली द्वारा युग के इन स्वप्नों में रक्त-मांस का सौन्दर्य तथा अपनी व्यापक अनुभूति से जीवन फूंक सकें, तो आप अपने तथा समाज के प्रति अपने कर्तव्य को उसी तरह निबाहेंगे, जिस प्रकार एक राजनीति के क्षेत्र का नायक लोक-संघर्ष के उत्थान-पतनों का संचालन कर जीवन की परिस्थितियों को विश्व-तन्त्र का सन्तुलन प्रदान कर जन-समुदाय को नवीन मानवता की ओर अग्रसर कर रहा है।

कलाकार के पास हृदय का यौवन होना चाहिए, जिसे धरती पर उड़ेलकर उसे जीवन की कुरूपता को सुन्दर बनाना है। वह सर्वप्रथम सौन्दर्य-स्रष्टा है। कलाकार की सबसे बड़ी कृति वह स्वयं है। जब तक वह अपना बाहर-भीतर से परिमार्जन नहीं करेगा, वह संस्कृति के दिव्य पावक तथा सौन्दर्य के स्वर्गीय आलोक का आदान-प्रदान नहीं कर सकेगा। बेसुरी हृदय-वीणा से, जिसके तार चेतना के सूक्ष्म स्पर्शों के लिए सधे न हों, अन्तर के संगीत की वृष्टि कैसे हो सकती है? अतएव आप जो स्वतन्त्र भारत की चेतना के स्रष्टा हैं, आपको अपने को इस महाप्राण देश के गौरव का वाहक बनाना चाहिए जिससे आप अंजलि भर-भरकर संस्कृति के स्वर्णिम पावक-कण जन-समाज में वितरण कर सकें। तथास्तु।

[एक अभिभाषण का अंश]

आज की कला और संस्कृति के क्षेत्र में अशान्ति के मूल कारण

कला और संस्कृति के क्षेत्र में आज जो अशान्ति व्याप्त होती जा रही है उसका मुख्य कारण यह है कि कला और संस्कृति अन्ततः मानव-जीवन अथवा विश्व-जीवन के ही दर्पण हैं और आज जीवन के क्षेत्र में विश्वव्यापी ऐसी अशान्ति छायी हुई है कि कला और संस्कृति के क्षेत्र में भी उसका

प्रतिबिम्बित हो उठना स्वाभाविक ही है।

हमारा युग एक महान् परिवर्तन, क्रान्ति तथा विकास का युग है। आज मानव-जीवन तथा मन के सभी क्षेत्रों में आमूलचूल ह्रास, विघटन, संशय, अनास्था, सन्त्रास के चिह्न प्रकट हो रहे हैं और मनुष्य के अनेक युगों एवं शतियों से संचित विश्वास, मूल्य, दृष्टिकोण, जीवन-पद्धति सम्बन्धी नैतिक धारणाएँ, आचार-विचारों से पोषित अभ्यास आदि सभी मनुष्य को आज के युग में अपर्याप्त तथा युग-जीवन की समस्याओं का समाधान खोजने के लिए असफल-से प्रतीत हो रहे हैं। युग-चिन्तकों तथा विचारकों के मन में एक घना कुहासा-सा छाया हुआ है और भिन्न-भिन्न मनीषी भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से आज के युग-जीवन की गम्भीर जटिल समस्याओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करते हुए भी कोई सांगोपांग एवं सर्वांगपूर्ण निदान दे सकने में असमर्थ प्रतीत हो रहे हैं—ऐसा सम्पूर्ण निदान जो आज की अत्यन्त विषम स्थितियों से उत्पन्न मनुष्य-मन की जिज्ञासाओं तथा जीवन-यथार्थ-सम्बन्धी उलझनों का सन्तोषप्रद सम्भावित उत्तर हो सके।

राजनीतिक-आर्थिक क्षेत्र में आज जो प्रणालियाँ विश्व के विभिन्न देशों में कार्य कर रही हैं उनमें भी अविराम रूप से परस्पर संघर्ष चल रहा है। अविकसित तथा अर्धविकसित देशों में तो वैषम्य तथा विरोध वर्तमान है ही, जो सम्पन्न तथा सशक्त देश हैं उनके भीतर भी अनेक प्रकार की विषम स्थितियों तथा साम्राज्यवादी प्रसारकामी महत्त्वाकांक्षाओं के कारण जनसाधारण में असन्तोष तथा मतभेद के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं। विज्ञान ने मनुष्य को आज जो अनेक प्रकार के उत्पादन के साधन दिये हैं उनसे मनुष्य की क्षमता पिछले युगों से कहीं अधिक बढ़ गयी है। और बहुत हद तक मनुष्य उस क्षमता का आज विश्व-जीवन तथा जनमंगल के उन्नयन के लिए विवेकपूर्ण एवं समुचित उपयोग नहीं कर पा रहा है। वह दूसरे छोटे-मोटे राज्यों पर अपनी महत्ता तथा आर्थिक सैनिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिए वहाँ की शान्तिप्रिय जनता पर दुर्धर्ष अस्त्र-शस्त्रों के बल पर आक्रमण कर रहा है। वैसे भी विश्व के बड़े राष्ट्रों में आपस में आज दुर्निवार व्यावसायिक होड़ चल रही है जिससे भी उनका आपस का वैमनस्य बढ़ता जा रहा है। इसके अतिरिक्त भी आज इतिहास ने मनुष्य के कन्धों पर युग-युग से पीड़ित, शोषित, निरक्षर तथा दरिद्र जन-नारायण के जीवन को मानवीय सुख-सुविधाओं के धरातल पर उठाने का महत्त्वपूर्ण दायित्व सौंप दिया है और सभी प्रकार के सम्पन्न-विपन्न देशों की राजनीतिक-आर्थिक जीवन-प्रणाली में अबाध गति से परिवर्तन तथा विकास सम्बन्धी आन्दोलन जन्म ले रहे हैं।

भौतिक क्षमताओं की अभिवृद्धि के साधनों के साथ ही इस वैज्ञानिक युग में मनुष्य मानसिक दृष्टि से भी अधिक शक्ति-सम्पन्न तथा प्रबुद्ध हो गया है। रेल, तार, रेडियो, वायुयान जैसे क्षिप्रगामी साधनों के कारण देश-काल के अवरोधों पर भी वह विजय पा चुका है और परिणामस्वरूप आज विभिन्न देशों के आचार-विचार, धार्मिक-नैतिक आदर्श, बौद्धिक-सामाजिक मान्यताएँ तथा कला एवं सौन्दर्यबोध-सम्बन्धी दृष्टिकोण भी एक-दूसरे के निकट आकर एक-दूसरे को प्रभावित करते जा रहे हैं और साथ ही इनकी परस्पर की टकराहट से जीवन-सम्बन्धी नये मूल्यों की भी

स्थापनाएँ जन्म ले रही हैं। इस प्रकार केवल बाह्य-जगत् ही में नहीं मनुष्य जाति के अन्तर्जगत् में भी आज अनेक प्रकार की प्रक्रियाएँ चल रही हैं और सनातन समझे जानेवाले अनेक आदर्श तथा मान्यताओं में परिवर्तन, विघटन एवं विकास के चिह्न प्रकट हो रहे है।

वैज्ञानिक आदर्शवादिता तथा यथार्थ की प्रेरणा जहाँ एक ओर इलेक्ट्रोनिक्स तथा केम्प्यूटर्स की सहायता से बाह्य-जगत् की परिस्थितियों में क्रान्तिकारी अभ्युदय लाने के लिए प्रयत्नशील हैं और प्राणिशास्त्र-सम्बन्धी डी० एन० ए० तथा जीन आदि की खोजें जहाँ वनस्पति जगत् से लेकर पशु तथा मानव-जगत् तक एक नवीन आदर्श सृष्टि की कल्पना को रूपायित करने मे अविच्छिन्न रूप से सलग्न है वहाँ इस नवीन स्वर्ग की स्पर्धा में निर्मित बाह्य-जगत् के सौन्दर्य-वैभव के अनुरूप मनुष्य का अन्तर्जगत् भी आज नये व्यापक मल्यों, कलात्मक सौन्दर्य-क्षितिजों तथा नवीन चैतन्य-शिखरों की ओर आरोहण करने की चेष्टा कर रहा है और पिछले युगों की परिस्थितियों की संकीर्ण सीमाओं की मान्यताओं में बन्दी मानव-चेतना अब अधिक विकसित, व्यापक, ऊर्ध्व मानवीय बाध के अन्तरिक्षों से प्रेरणा ग्रहण कर साहित्य, संस्कृति तथा कला के क्षेत्र में भी नवीन मानव-सौन्दर्य के प्रतिमान, नवीन जीवन-बोध के ऐश्वर्य प्रतीक तथा नवीन मनुष्यत्व की विराट् प्रतिमा स्थापित करने का अथक प्रयास कर रही है। ऐसा मनुष्यत्व, जो देशों, जातियों, वर्णो के विभेदों के वैचित्र्य का अनुशीलन कर समस्त विश्व को एक मानवीय एकता के पाश मे संयोजित कर सके—ऐसी नमनीय मानवीय एकता जो समस्त संस्कृतियों, भाषाओं, प्राकृतिक विशेषताओं आदि के वैचित्र्य की रक्षा करते हुए उन्हें अपने भीतर समा सके।

आज निश्चय ही साहित्य, संस्कृति तथा कला के कन्धों पर राजनीति तथा अर्थशास्त्र से भी महान् दायित्व आ पड़ा है। उसे एक ऐसी अमूर्त मानवता की रूपरेखाओं को अपने सूक्ष्म स्पर्शों से मूर्त रूप में अंकित करना है जो अपने जीवन-सौन्दर्य, जीव-प्रेम, सहज आनन्द तथा सृजन-निष्ठा से नये मनुष्य को जन्म देकर सृष्टि के गूढ़ विकास-प्रिय प्रयोजन को सार्थकता प्रदान कर सके। आज के ह्रास और विघटन के युग के पतझर के विकास-कामी सौन्दर्य को वाणी देने के साथ ही उसके स्थूल-पट में प्रच्छन्न नवीन जीवन-वसन्त के उदय की सूचना भी लोक-जीवन-मन को दे सके और उसके विराट् अजेय सौन्दर्य-मंगल की महत् मानवीय प्रतिमा भी दिङ्मूर्त कर सके। अशान्ति तथा असन्तोष प्रगति के ही सूचक हैं। यह अत्यन्त सौभाग्य की बात है कि मनुष्य आज आत्मतोष की निष्क्रिय परिधि से मुक्त होकर व्यापक कर्मशील विकास की उन्मुक्त दिशा की ओर अग्रसर हो रहा है। इस यात्रा की कठिनाइयों से उत्पन्न उसकी समस्त अशान्ति, असन्तोष, सन्देह, भय, अश्रद्धा, अनास्था—सभी कुछ स्पृहणीय तथा वरेण्य हैं। क्योंकि सुख-दुख, ह्रास-विकास, उत्थान-पतन, आन्दोलन-उद्वेलन आदि उस अनन्त के पथिक के पाथेय हैं और उसकी सृजन-प्रेरणा के चरण-चिह्न उसकी नयी उपलब्धि के प्रतीक हैं।

स्रष्टा और द्रष्टा की गूढ़ दृष्टि कलाकार तथा साहित्यकार ही को उपलब्ध होती है जो यह अनुभव करता है कि सूक्ष्म और स्थूल, जड़ और चेतन दो भिन्न वस्तुएँ या तत्त्व नहीं हैं बल्कि ये परस्पर अविच्छिन्न एक

ही सत्य के बाहरी-भीतरी रूप हैं। इसलिए जब बाह्य-जगत् में परिवर्तन के चिह्न प्रकट होते हैं तो अदृश्य रूप से उसके साथ मनुष्य का अन्तर्जगत् भी बदलने लगता है। जिस असन्तोष तथा अपर्याप्ति के बोध के कारण विज्ञान इस मानव-जग के बाह्य मुख को बदलने में संलग्न है उसी प्रेरणा से आज कला तथा संस्कृति मनुष्य के भीतर सूक्ष्म अनगढ़ रूप को भी बदलने के लिए निरन्तर यत्नशील है। मनुष्य-मन के पिछले युगों के विरोध अवश्य एक व्यापक सामंजस्य ग्रहण करेंगे और आज की अशान्ति, असन्तोष, अनास्था, अस्वीकृति, सन्त्रास के घने अन्धकार से कल अवश्य ही नयी विश्व-शान्ति, अन्तःसन्तोष, नयी आस्था, स्वीकृति तथा निर्भय मनुष्यत्व जन्म लेगा, इसमें सन्देह नहीं। एवमस्तु!

सांस्कृतिक आन्दोलन

आज का विषय है: सांस्कृतिक आन्दोलन—क्यों, कैसा!—इससे हमारा अभिप्राय है, क्या हमें सांस्कृतिक आन्दोलन की आवश्यकता है? इस युग में जिस प्रकार राजनीतिक-आर्थिक आन्दोलन लोक-जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति कर रहे हैं क्या हमें उसी तरह एक सांस्कृतिक आन्दोलन भी चाहिए, जो हमारे युग की समस्याओं का समाधान करने में सहायक हो? और अगर चाहिए तो उसके आधार क्या हों, उसे किन मान्यताओं को अपनाकर चलना चाहिए?

शायद 'आन्दोलन' शब्द हमारे अभिप्राय को प्रकट करने के लिए अधिक उपयुक्त नहीं। वह आज के संघर्षपूर्ण वातावरण में अधिक आन्दोलित लगता है। हमें कहना चाहिए शायद 'संचरण'—सांस्कृतिक संचरण, जिससे सृजन और निर्माण की ध्वनि अधिक स्पष्ट होकर निकलती है। बाहरी दृष्टि से देखने में उपर्युक्त विषय—सांस्कृतिक आन्दोलन; क्यों, कैसा?—ऐसा जान पड़ता है कि हम लोग यहाँ किसी प्रकार का बौद्धिक व्यायाम करने के लिए अथवा तार्किक दाँव-पेंच दिखाने के लिए एकत्र हुए हैं। पर ऐसा नहीं है। मेरा विनम्र विचार है कि हमें संस्कृति-जैसी महत्त्वपूर्ण वस्तु को—जिसका सम्बन्ध मनुष्य के अन्तरतम विश्वासों, श्रद्धाओं, आदर्शों तथा सत्य, शिव और सुन्दर के सिद्धान्तों से है—केवल मन या बुद्धि के धरातल पर ही नहीं परखना चाहिए। उसका सम्बन्ध मनुष्य की अन्तश्चेतना, उसकी गम्भीरतम अनुभूतियों, उसके अन्तर्मन के सहजबोध तथा रहस्य-प्रेरणाओं से भी है। हम मनुष्य के मन और बुद्धि की सीमाओं से अच्छी तरह परिचित हैं। संस्कृति क्या है, इस पर एक महान् ग्रन्थ ही लिखा जा सकता है और फिर भी उसके साथ यथेष्ट न्याय नहीं हो सकता। अभी मैं अन्तश्चेतना, अन्तर्विश्वास और सहजबोध के बारे में जो कह चुका हूँ, उनके अस्तित्व के बारे में भी कोई बौद्धिक प्रमाण नहीं दिया जा सकता। ये सदैव अनुभूति ही के विषय रहेंगे।

संस्कृति के आधारों तथा मान्यताओं की बात भी मुझे कुछ ऐसी ही

लगती है। बुद्धि का प्रकाश तो किसी हद तक सभी सूक्ष्म विषयों पर डाला जा सकता है, पर हमें बुद्धि के निर्णय को आखिरी हद या अन्तिम सीमा नहीं मान लेना चाहिए। उससे भी प्रबल और पूर्ण साधन के भीतर ज्ञान-प्राप्ति अथवा सत्य-बोध के लिए बतलाये जाते हैं।

मेरे विचार में किसी भी सांस्कृतिक आन्दोलन या सांस्कृतिक संस्था का यह उद्देश्य होना चाहिए कि वह मनुष्य की सृजनशील प्रवृत्ति को उसकी बुद्धि के ऊपर स्थान दे और उसे मानव-हृदय में जाग्रत कर उसके विकास के लिए उपयुक्त साधन और वातावरण प्रस्तुत करे। जहाँ मनुष्य स्वयं स्रष्टा बन जाता है वहाँ उसका अन्तरतम चेतन व्यक्तित्व सक्रिय हो जाता है—उसे सौन्दर्य, आनन्द और शान्ति का अनुभव होने लगता है; जीवन का अन्धकार और मन का कुहासा छिन्न-भिन्न होने लगता है। वह जीवन और उसका उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर उसका अपने अनुकूल तथा समाज और युग के अनुरूप निर्माण एवं सृजन करने लगता है, वह प्रकृति और स्वभाव का अंग ही न रहकर उनका द्रष्टा और स्रष्टा भी बन जाता है।

मनुष्य के श्रद्धा, विश्वास तथा भीतरी आस्थाओं के समर्थन में मैं इन थोड़े-से शब्दों में संकेत-भर कर रहा हूँ। वैसे हमारा युग विज्ञान का युग कहलाता है—जिसका अर्थ है भूत-विज्ञान का युग। विज्ञान शब्द मनोविज्ञान, अन्तर्विज्ञान, आत्मविज्ञान आदि जैसे सूक्ष्म दर्शन-विषयों के लिए भी प्रयुक्त होता है, लेकिन इस युग में हमने विज्ञान द्वारा चेतना के निम्नतम धरातल पर ही—जिसे पदार्थ या भूत कहते हैं—अधिक प्रकाश डाला है और भाप, बिजली जैसी अनेक भौतिक-रासायनिक शक्तियों पर अपना आधिपत्य जमा लिया है, जिसका परिणाम यह हुआ कि मानव-जीवन की, भौतिक एवं आधुनिक अर्थ में, सामाजिक परिस्थितियाँ अधिक सक्रिय और सशक्त हो गयी हैं। जीवन की इन सबल बाह्य गतियों का नये ढंग से संगठन करने के लिए आज संसार में नवीन रूप से राजनीतिक-आर्थिक आन्दोलनों का प्रादुर्भाव, लोकशक्तियों का संघर्ष, तथा महायुद्धों का हाहाकार बढ़ रहा है। ये राजनीतिक-आर्थिक आन्दोलन हमारी पार्थिव सत्ता के विप्लव और विस्फोट हैं। वस्तु-सत्ता का स्वभाव ही ऐसा है, इसलिए इनकी अपने स्थान पर उपयोगिता भी सिद्ध ही है। फलतः आज हमारा पदार्थ-जीवन, भौगोलिक दृष्टि से, मुख्यतः तीन विभागों में विभक्त हो गया है। एक ओर पूंजीवादी राष्ट्र हैं, दूसरी ओर साम्यवादी रूस और चीन, तथा तीसरी ओर हिन्दुस्तान-जैसे अन्य छोटे-बड़े देश, जिनका निर्माणकाल अभी प्रारम्भ ही हुआ है या नहीं हुआ है और जो उपर्युक्त दोनों सशक्त संगठनों के भले-बुरे परिणामों से प्रभावित तथा सन्त्रस्त हैं। हमें तीसरे विश्वयुद्ध की अस्पष्ट गर्जना अभी से सुनायी देने लगी है, जो सम्भवतः अणु-युद्ध होगा।

ऐसी अवस्था में हम अनुभव करते हैं कि मानव-जाति को इस महाविनाश से बचाने के लिए हमें आज मनुष्य-चेतना के ऊर्ध्व स्तरों को भी जाग्रत तथा सक्रिय बनाना है, जिससे आज की विश्व-परिस्थितियों में सन्तुलन पैदा किया जा सके; और लोक-जीवन के इस बहिर्गत प्रवाह के लिए एक अन्तर्मुख स्रोत भी खोलना है, जिससे जीवन की मान्यताओं के

प्रति उसका दृष्टिकोण और व्यापक बन सके। आधुनिक भौतिकवाद मुझे, मध्ययुगीन भारतीय दार्शनिकों के आत्मवाद की तरह, अपने युग के लिए एकांगी तथा अधूरा लगता है। मानव-जीवन के सत्य को अखण्डनीय ही मानना पड़ेगा, उसके टुकड़े नहीं किये जा सकते। मैं सोचता हूँ मनुष्य की चेतना, सत्ता, मन और पदार्थ के स्तरों में नवीन विश्व-परिस्थितियों के अनुरूप समन्वय एवं सन्तुलन स्थापित करने के उद्देश्य से जो भी प्रयत्न सम्भव हों, उन्हें हमें नवीन सांस्कृतिक संचरण के रूप में ही अग्रसर करना होगा। क्योंकि संस्कृति का संचरण न राजनीति की तरह समतल संचरण है, न धर्म और अध्यात्म की तरह ऊर्ध्व संचरण। वह इन दोनों का मध्यवर्ती पन्थ है और मानव-जीवन की बाहरी और भीतरी दोनों गतियों, प्रवृत्तियों एवं क्रियाओं का उसमें समावेश रहता है। मनुष्य की सृजनात्मिका वृत्ति को उसमें अधिक सम्पूर्ण प्रसार मिलता है।

ऐसे आन्दोलन द्वारा हम पिछले धर्मो, आदर्शों और संस्कृतियों में अस्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित मानव-चेतना के अन्तर-सौन्दर्य को अधिक परिपूर्ण रूप से प्रस्फुटित कर सकेंगे, और उसे जाति, श्रेणी, सम्प्रदायों से मुक्त एक नवीन मानवता में ढाल सकेंगे। जहाँ तक मान्यताओं का प्रश्न है मेरी समझ में मानवीय एकता ही हमारे जीवन-मानों का आधार बननी चाहिए। जो आदर्श अथवा विचारधाराएँ मनुष्य की एकता के विरोधी हों या उसके पक्ष में बाधक हों उनका हमें परित्याग करना चाहिए, और जो उसकी सिद्धि में सहायक हों उनका पोषण करना चाहिए। मानव-एकता के सत्य को हम मनुष्य के भीतर से ही प्रतिष्ठित कर सकते हैं, क्योंकि एकता का सिद्धान्त अन्तर्जीवन या अन्तश्चेतना का सत्य है। मनुष्य के स्वभाव, मन और बहिर्जीवन में सदैव ही विभिन्नता का वैचित्र्य रहेगा। इस प्रकार हम भिन्न जातियों और देशों की विशेषताओं की रक्षा करते हुए भी मनुष्य को एक आन्तरिक एकता के स्वर्णपाश में बाँध सकेंगे एवं आज के विरोधों से रहित एक अन्त:संगठित मनुष्यता का निर्माण कर सकेंगे जिसके चेतना, मन और प्राणों के स्तरों में अधिक सम्पूर्ण सन्तुलन होगा, जो अन्तर्जीवन की अभीप्साओं और बहिर्जीवन के उपभोग में एकान्त-समन्वय स्थापित कर सकेगी और जिसका दृष्टिकोण जीवन की मान्यताओं के प्रति अधिक ऊर्ध्व, व्यापक तथा गम्भीर हो जायेगा।

सांस्कृतिक चेतना

आज जब साहित्य, संस्कृति तथा कला की अन्त:शुभ्र सूक्ष्म पुकारें बाह्य जीवन के आडम्बर तथा राजनीतिक जीवन के कोलाहल में प्राय: डूब-सी रही हैं, आप लोगों का इस सांस्कृतिक समारोह में सम्मिलित होना विशेष महत्त्व रखता है। इससे हमें जो आशा, उत्साह, जो स्फूर्ति और प्रेरणा मिल रही है, वह शब्दों में व्यक्त नहीं की जा सकती। आपका अमूल्य सहयोग मनुष्य की उस अन्तर्जीवन की आकांक्षा का द्योतक है, जिसके अभाव में आज के युग की बाहरी सफलता अपने ही खोखलेपन से अधूरी तथा

असम्पूर्ण रह गयी है।

किसी भी देश का साहित्य उसकी अन्तश्चेतना के सूक्ष्म संगठन का द्योतक है : वह अन्त:संगठन जीवन-मान्यताओं, नैतिक शील, सौन्दर्य-बोध, रुचि, संस्कार आदि के आदर्शों पर आधारित होता है। आज के संक्रान्तिकाल में, जब कि एक विश्वव्यापी परिवर्तन तथा केन्द्रीय विकास की भावना मानव-चेतना को चारों ओर से आक्रान्त कर उसमें गम्भीर उथल-पुथल मचा रही है, किसी भी साहित्यिक अथवा सांस्कृतिक संस्था का जीवन कितना अधिक कंटकाकीर्ण तथा कष्टसाध्य हो सकता है, इसका अनुमान आप-जैसे सहृदय मनीषी एवं विद्वान सहज ही लगा सकते हैं। इन आधिभौतिक, आधिदैविक कठिनाइयों को सामने रखते हुए मेरा यह कहना अनुचित न होगा कि यह सांस्कृतिक आयोजन आज के युग की उन विराट् स्वप्न-सम्भावनाओं के स्वल्प समारम्भों में से एक है, जो आज पिछली सन्ध्याओं के पलनों में झूलती हुई अनेक दिशाओं में, अनेक प्रभातों की नवीन सुनहली परछाइयों में जन्म ग्रहण करने का कृच्छ्र प्रयास कर रही है। ऐसे समय हम अपने गुरुजनों का आशीर्वाद तथा पथ-प्रदर्शन चाहते हैं, अपने समवयस्कों तथा सहयोगियों से स्नेह और सद्भाव चाहते हैं, जिससे हम अपने महान् युग के साथ पेंग भरते हुए आनेवाले क्षितिजों के प्रकाश को छू सकें। आप जैसे विद्वज्जनों के साथ हमें विचार-विनिमय तथा साहित्यिक आदान-प्रदान करने का अपूर्व संयोग मिल सके, यही हमारे इस अनुष्ठान का उद्देश्य, इस साहित्यिक पर्व का अभिप्राय है, जिसमें हम अपने समवेत हृदय-स्पन्दन में पिछले युगों की चेतना को थपकी देते हुए और अपनी सांस्कृतिक शिराओं में नवीन युग की गत्यात्मकता को प्रवाहित करते हुए, अपने सम्मिलित व्यक्तित्व में पिछले आदर्शों का वैभव तथा नवीन जागरण के आलोक को मूर्तिमान करने का प्रयत्न करना चाहते हैं।

आज के साहित्यिक अथवा कलाकार की बाधाएँ व्यक्तिगत से भी अधिक उसके युग-पथ की बाधाएँ हैं। आज मानव-जीवन बहिरन्तर की अव्यवस्था तथा विशृंखलता से पीड़ित है। हमारा युग केवल राजनीतिक-आर्थिक क्रान्ति का ही युग नहीं, वह मानसिक तथा आध्यात्मिक विप्लव का भी युग है। जीवन-मूल्यों तथा सांस्कृतिक मान्यताओं के प्रति ऐसा घोर अविश्वास तथा उपेक्षा का भाव पहले शायद ही किसी युग में देखा गया हो। वैसे सभ्यता के इतिहास में समय-समय पर अनेक प्रकार के राजनीतिक तथा आध्यात्मिक परिवर्तन आये हैं, किन्तु वे एक दूसरे से इस प्रकार सम्बद्ध होकर शायद ही कभी आये हों। आज के युग की राज-नीतिक तथा सांस्कृतिक चेतनाएँ धूप-छाँह की तरह जैसे एक दूसरे से उलझ गयी हैं। मानव-चेतना की केन्द्रीय धारणाओं तथा मौलिक विश्वासों में शायद ही कभी ऐसी उथल-पुथल मची हो। आज विश्व-सत्ता की समस्त भीतरी शक्तियाँ तथा बाहरी उपादान परस्पर विरोधी शिविरों में विभक्त होकर लोक-जीवन के क्षेत्र में घोर अशान्ति तथा मानवीय मान्यताओं के क्षेत्र में विकट अराजकता फैला रहे हैं। आज अध्यात्म के विरुद्ध भौतिकवाद, ऊर्ध्वचेतन-अतिचेतन के विरुद्ध उपचेतन-अवचेतन दर्शन के विरुद्ध विज्ञान, व्यक्तिवाद के विरुद्ध समूहवाद एवं जनतन्त्र के विरुद्ध

पूंजीवाद खड़े होकर मानव-जीवन में एक अधिविश्व-क्रान्ति तथा अन्तर्गत असंगति का आभास दे रहे हैं। मनुष्य का ध्यान स्वतः ही एक व्यापक अन्तर्मुख-विकास तथा बहिर्मुख-समन्वय की ओर आकृष्ट हो रहा है। आज मनुष्य की चेतना नये स्वर्गों, नये पातालों तथा नयी ऊँचाइयों, नयी गहराइयों को जन्म दे रही है। पिछले स्वर्ग-नरक, पिछली पाप-पुण्य तथा सद्-असद् की धाराणाएँ एक दूसरे से टकराकर विकीर्ण हो रही हैं। आज मनुष्य की अहंता का विधान अपने ज्योति-तमस् के ताने-बाने सुलझाकर विकसित रूप धारण कर रहा है। मानव-कल्पना नवीन चेतना के सौन्दर्य-बोध को ग्रहण करने की चेष्टा कर रही है। ऐसे महान् युग में जब एक नवीन सांस्कृतिक संचरण-वृत्त का उदय हो रहा है, जब आध्यात्मिकता तथा भौतिकता मानव-चेतना में नया सामंजस्य खोज रही है, जब आदि ज्योति एवं आदिम अन्धकार, जो अभी जीवन-मान्यताओं में नहीं बँध सके हैं, मनुष्य के अन्तर्जगत् में आँख मिचौनी खेलकर नवीन मूल्यों को अंकित कर रहे हैं, जब चेतना की नवीन चोटियों की ऊँचाइयाँ जीवन की नवीनतम अतल खाइयों में सन्तुलन भरने की चेष्टा कर रही हैं— ऐसे युग में सामान्य बुद्धिजीवी तथा सृजनप्राण साहित्यिक के लिए बहिरन्तर की इन जटिल गुत्थियों को सुलझाकर नवीन भावभूमि में पदार्पण करना अत्यन्त दुर्बोध तथा दुःसाध्य प्रतीत हो रहा है। इसीलिए आज यदि कोई स्वप्न-स्रष्टा चेतना के ऊर्ध्वमुख सुनहले आकाशों के नील प्रसारों में खो गया है, तो कोई जीवन के बाह्यतम प्रभावों के सौन्दर्य में उलझकर कला की सतरंगी उड़ानों में फँस गया है।

किन्तु, हम इस प्रकार के वाद-विवादों, अतिवादों तथा कट्टरपन्थी संकीर्णताओं के दुष्परिणामों से मुक्त रहकर सहजबोध तथा सहज-भावना का पथ पकड़ना चाहते हैं, जो व्यापक समन्वय का पथ है। ऐसा समन्वय जो कोरा बौद्धिक ही न हो, किन्तु जिसमें जीवन, मन, चेतना के सभी स्तरों की प्रेरणाएँ सजीव सामंजस्य ग्रहण कर सकें, जिससे बहिरन्तर के विरोध एक सक्रिय मानवीय सन्तुलन में बँध सकें। हम साहित्यकारों की सृजन-चेतना के लिए उपयुक्त परिवेश का निर्माण करना चाहते हैं, जिसमें उनके हृदय का स्वप्न-संचरण वास्तविकता की भूमि पर चलना सीखकर स्वयं भी बल प्राप्त कर सके और वास्तविकता के निर्मम कुरूप वक्ष पर अपने पद-चिह्नों का सौन्दर्य भी अंकित कर सके। हम परिस्थितियों की चेतना को अधिकाधिक आत्मसात् कर उसके मुख पर मानवीय संवेदना की छाप लगाने तथा उसे मानवीय चरित्र में ढालने में विश्वास करते हैं।

आज के संक्रान्ति-युग में हम मानवता के विगत गम्भीर अनुभवों, वर्तमान संघर्ष के तथ्यों तथा भविष्य की आशाप्रद सम्भावनाओं को साथ लेकर, युवकोचित अदम्य उत्साह तथा शक्ति के साथ सतत जागरूक रह-कर, नव निर्माण के पथ पर, सब प्रकार की प्रतिक्रियाओं से जूझते हुए असन्दिग्ध गति से बराबर आगे बढ़ना चाहते हैं, जिसके लिए हमारे गुरुजनों के आशीर्वाद की छत्रच्छाया, तथा सहयोगियों की सद्भावना का सम्बल अत्यन्त आवश्यक है, जिससे हम सबके साथ सत्य-शिव-सुन्दरमय साहित्य की साधना-भूमि पर, ज्योति-प्रीति-आनन्द की मंगलवृद्धि करते, सुन्दर से सुन्दरतर एवं शिव से शिवतर की ओर अग्रसर होते हुए,

निरन्तर अधिक से अधिक प्रकाश, व्यापक से व्यापक कल्याण तथा गहन से गहन सत्य का संग्रह करते रहें।

हिन्दी हमारे लिए नवीन सम्भावनाओं की चेतना है, जिसे वाणी देने के लिए हमें सहस्रों स्वर, लाखों लेखनी तथा करोड़ों कण्ठ चाहिए। उसके अभ्युदय के रूप में हम अपने साथ समस्त मनुष्य-जाति का अभ्युदय पहचान सकेंगे। उसके निर्माण में संलग्न होकर हम समस्त लोक-चेतना का निर्माण कर सकेंगे। उसको संवार-शृंगार कर हम नवीन मानवता के सौन्दर्य को निखार सकेंगे। जिस विराट् युग में हिन्दी की चेतना जन्म ले रही है, उसका किंचित् आभास पाकर यह कहना मुझे अतिशयोक्ति नहीं लगता कि हिन्दी को सम्पूर्ण अभिव्यक्ति देना एक नवीन मनुष्यत्व को अभिव्यक्ति देना है। एक महान् अन्तर्मूक संगीत के असंख्य स्वरों की तरह आज हम समस्त साहित्यकारों, कलाकारों तथा साहित्यिक संस्थाओं का हृदय से अभिनन्दन करते है और आशा करते हैं कि हमारे प्राणों, भावनाओं तथा विचारों का यह मुक्त समवेत आदान-प्रदान युग-मानवता के समागम को तथा मानव-हृदयों के संगम को अधिकाधिक सार्थकता तथा चरितार्थता प्रदान कर सकेगा।

धरती की चेतना आज नवीन प्रकाश चाहती है, वह प्रकाश मानव-आत्मा की एकता का प्रकाश है। धरती की चेतना आज नवीन सौन्दर्य चाहती है, वह सौन्दर्य मानव चेतना के सर्वांगीण जागरण का सौन्दर्य है। धरती की चेतना आज नवीन पवित्रता चाहती है, वह पवित्रता मनुष्य के अन्तर्मुख-तप तथा बहिर्मुख-साधना की पवित्रता है। धरती की चेतना आज नवीन वाणी चाहती है और वह वाणी मानव-उर में विकसित हो रही विश्वप्रेम की वाणी है। आज की साहित्यिक संस्था मानवता के अन्तरतम सम्मिलन का सृजन-तीर्थ है। इस सृजन-तीर्थ पर एक बार मैं फिर आप मानव-देवों का हृदय से स्वागत करता हूँ।

[एक अभिभाषण का अंश]

भारतीय संस्कृति क्या है ?

आज हम एक ऐसे युग में प्रवेश कर रहे हैं, जब भिन्न-भिन्न देशों के लोग एक नवीन धरती के जीवन की कल्पना में बँधने जा रहे है। जब मनुष्य-जाति अपने पिछले इतिहास की सीमाओं को अतिक्रम कर नवीन मनुष्यता के लिए एक विशाल प्रांगण का निर्माण करने के प्रारम्भिक प्रयत्न कर रही है और जब विभिन्न संस्कृतियों के पुजारी परस्पर निकट सम्पर्क में आकर एक-दूसरे को नये ढंग से पहचानने तथा आपस में घुलमिल जाने के लिए व्याकुल है। ऐसे युग मे, जब कि मनुष्य के भीतर विराट् विश्व-संस्कृति की भावना हिलोरें ले रही है, "वसुधैव कुटुम्बकम्" की घोषणा करनेवाली भारतीय संस्कृति के प्रश्न पर विचार-विवेचन करना असामयिक तथा अप्रासंगिक नहीं होगा, क्योंकि भारतीय संस्कृति के भीतर वास्तव में विश्व-संस्कृति के गहन मूल तथा व्यापक उपादान यथोचित रूप से

वर्तमान हैं।

भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में आज हमारे नव शिक्षितों के मन में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ फैली हुई है और विचारशील लोग भी अनेक कारणों से भारतीय संस्कृति का उचित मूल्यांकन करने की ओर विशेष अभिरुचि तथा आग्रह प्रकट करते नहीं दिखायी देते हैं। इसके मुख्य कारण यही हो सकते है कि राजनीतिक पराधीनता के कारण हमारी संस्कृति के ढाँचे में अनेक प्रकार की दुर्बलताएँ, असुन्दरताएँ तथा विचार-सम्बन्धी क्षीणताएँ आ गयी हैं और मध्य युगों से हम प्रायः लौकिक जीवन के प्रति विरक्त, परलोक के प्रति अनुरक्त, अन्धविश्वासों के उपासक तथा रूढ़ि-रीतियों के दास बन गये है। मध्य-युग भारतीय संस्कृति के ह्रास का युग रहा है, जिसके प्रमुख लक्षण हमारी आत्म-पराजय, सामाजिक असंगठन तथा हमारे मानसिक विकास का अवरोध रहे है। इसके अतिरिक्त हमारे विचारकों तथा विवेचकों का मस्तिष्क पाश्चात्य विचारधारा से इतना अधिक प्रभावित तथा आक्रान्त रहा है कि उन्होंने भारतीय संस्कृति के प्रति पश्चिमके समीक्षकों के छिछले तथा भ्रान्तिपूर्ण दृष्टिकोण को अक्षरशः सत्य मान लिया है, जिससे अपनी संस्कृति के प्रति उनकी भावना आहत तथा विवेक कुण्ठित हो गया है। फलतः आज हमारा नवशिक्षित समुदाय भारतीय संस्कृति को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगा है और पश्चिमी विचारों तथा रहन-सहन का थोथा अनुकरण कर अति आधुनिकता के हँसमुख अन्धकार से भरे हुए गहरे गर्त की ओर अग्रसर हो रहा है।

ऐसा क्यों हो गया है, पश्चिमी विचारधारा की क्या विशेषताएँ है और उसके आकर्षण के क्या कारण है, पहले हम इस पर विचार करेंगे।

पश्चिमी विचारधारा की मुख्य दो विशेषताएँ है, जिनके कारण वह युग-युग से पराधीन तथा जीवन-विमुख भारतीय शिक्षित समुदाय को अपनी ओर आकर्षित कर सकी है। उसकी पहली विशेषता है उसका जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण। पश्चिमी विचारधारा जीवन के प्रति अपने मोह को कभी नहीं भुला सकी है। उसने जीवन की कल्पना को मानव-हृदय के समस्त रस से सींचकर तथा रंगीन भावनाओं में लपेटकर उसे मन की आँखों के लिए सदैव मोहक बनाकर रखा है। जीवन के क्षेत्र का त्याग कर या उससे ऊपर उठकर मन की अन्तरतम गुहा में प्रवेश करना अथवा आत्मा के सूक्ष्म रुपहले आकाश में उड़ना उसने कभी अंगीकार नहीं किया है। और भारतीय विचारधारा के प्रति उसके विरोध का एक यह भी मुख्य कारण रहा है कि उसने मात्र जीवन के सतरंगी कुहासे को उतना अधिक महत्त्व नहीं दिया है, बल्कि उसे माया कहकर एक प्रकार से उसकी ओर निरुत्साह ही प्रकट किया है।

दूसरी विशेषता पश्चिमी विचारधारा की यह रही है कि उसने तर्क-बुद्धि के मूल्यांकन को आँखों से कभी ओझल नहीं होने दिया है। उसने तर्क-बुद्धि की सफलता को उसकी सामाजिक तथा लौकिक उपयोगिता में माना है और उसका प्रयोग ऐहिक, व्यक्तिगत तथा सामूहिक सुख की अभिवृद्धि के लिए किया है। पश्चिमी संस्कृति तर्क-बुद्धि से इतनी अधिक प्रभावित रही है कि उसने धीरे-धीरे धर्म को भी उसके सूक्ष्म रहस्यमय तत्त्वों से विमुक्त कर उसे अधिकाधिक लौकिक तथा उपयोगी बनाने की

चेष्टा की है और धार्मिक प्रतीकों अथवा प्रतीकात्मक रूढ़ि-रीतियों को केवल अन्धविश्वास कहकर धर्म को कुछ लौकिक तथा जीवनोपयोगी नैतिक नियमों के संयोजन में सीमित कर दिया है। कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को छोड़कर जन-साधारण के लिए पश्चिम में धर्मानुराग का अर्थ केवल व्यक्ति तथा समाज के लिए कल्याणकारी नैतिकता ही से रहा है। और भारतीय संस्कृति के प्रति पश्चिम के विचारकों का एक यह भी आक्षेप रहा है कि उसमें नैतिकता, सदाचार अथवा पाप-पुण्य की भावना पर उतना जोर नही दिया जाता है। इसका कारण यह है कि पश्चिमी विचारकों ने भारतीय संस्कृति पर केवल ऊपर-ही-ऊपर सोच-विचार किया है। और इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय संस्कृति सदैव से उच्च से उच्चतम नैतिकता, सदाचार, आदर्शों तथा उदात्त व्यक्तित्वों की पोषक रही है। किन्तु वह नैतिकता तक ही कभी भी सीमित नहीं रही है, उसमें मन के आध्यात्मिक आरोहण के लिए नैतिकता एक आवश्यक उच्च सोपान-मात्र रही है। पश्चिमी संस्कृति आध्यात्मिकता को आध्यात्मिकता के लिए कभी पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर सकी। जीवन के क्षेत्र में दृढ़ चरण रखे हुए वह आध्यात्मिक स्फुरणों के सौन्दर्य, माधुर्य तथा आनन्द की केवल प्रशंसक-मात्र रही है और आध्यात्मिक ऐश्वर्य का उपयोग उसने जीवन का भार वहन करने-भर को किया है।

भारतीय संस्कृति का मूल मन्त्र आध्यात्मिकता रहा है और आध्यात्मिकता भी केवल आध्यात्मिकता के लिए, 'न धनं न जनं न च कामिनी' के लिए, जोकि ऐहिक जीवन के अत्यन्त आवश्यक उपादान है। किन्तु इस प्रकार की आध्यात्मिकता का हम क्या अभिप्राय समझें ? इससे हमें यही समझना चाहिए कि भारतीय संस्कृति ने मनुष्य के अस्तित्व का पूर्ण रूप से अध्ययन किया है। उसने उसके मर्त्य तथा जीव-रूप को ही सम्मुख रखकर उसके लिए जीवन-धर्म की व्यवस्था नहीं बनायी है, बल्कि उसने उसके शाश्वत अमर्त्य रूप की अभिव्यक्ति तथा विकास के लिए भी पथ-निर्देश किया है। जो लोग भारतीय दृष्टिकोण के सम्बन्ध में केवल बाहरी ज्ञान रखते है, उन्हें उसमें केवल अनेक सम्प्रदाय, मत, रूढ़ि-रीति, तप और साधना के नियम, योग, दर्शन आदि ऐसी अन्धविश्वासपूर्ण पुराणपन्थी वस्तुएँ मिलती हैं कि वे उनकी ऐहिक तथा लौकिक जीवन-सम्बन्धी उपयोगिता को एकाएक समझ नहीं पाते हैं। हम प्राय: एक जन्म में एक पीढ़ी के, अथवा अधिक से अधिक तीन पीढ़ियों के जीवन को देख पाते हैं और वह जीवन-वृत्त जिन मान्यताओं, दृष्टिकोणों, अभिरुचियों तथा परिस्थितियों को लेकर चलता है उन्हीं को सत्य मान लेते हैं। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार जीवन-तत्त्व सदैव विकासशील रहा है और व्यक्ति के जीवन की स्थिति केवल बाह्य जीवन ही में नहीं, उससे भी ऊपर अथवा परे, शाश्वत परात्पर सत्य में मानी गयी है। इस शाश्वत जीवन के लिए भारतीय संस्कृति ने अन्तर्मुखी पथ निर्धारित किया है। मनुष्य का पूर्ण विकास एक सुख-सम्पन्न पूर्ण सामाजिकता ही में नहीं, बल्कि मुक्त शान्त आनन्दमय अमरत्व की स्थिति प्राप्त करने में माना गया है और ऐसे व्यक्तियों ने, जो इस स्थिति को प्राप्त कर सके हैं, मानव-समाज के समतल सत्य में भी बराबर नवीन मौलिक तथा उच्च गुणों का समावेश किया

है। भारतीय संस्कृति जहाँ व्यक्तिवादी है वहाँ उसके लोकोत्तर व्यक्तित्व की रूप-रेखाएँ ईश्वरत्व में मिल जाती हैं। किन्तु यह कहना मिथ्या आरोप होगा कि भारतीय संस्कृति केवल व्यक्तिवादी ही रही है। उसने सामाजिक तथा लौकिक जीवन के महत्त्व को भी उसी प्रकार समझने की चेष्टा की है। और भिन्न-भिन्न युगों की परिस्थितियों के आधार पर उसने अत्यन्त उर्वर तथा उन्नत सामाजिक जीवन के आदर्श सामने रखे हैं और उन्हीं के अनुरूप लोक-जीवन का निर्माण करने में भी वह अत्यन्त सफल रही है। धर्म-अर्थ-काम सभी दिशाओं में उसका विकास तथा विस्तार अन्य संस्कृतियों की तुलना में अतुलनीय रहा है। उसके वर्णाश्रम की मौलिक व्यवस्था भी जीवन की सभी स्थितियों को सामने रखकर बनायी गयी थी, अब भले ही अपने ह्रास-युग में उसका स्वरूप विकृत हो गया हो।

किन्तु फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि बाह्य जीवन की खोज तथा विजय में पश्चिमी प्रतिभा की विश्व-सभ्यता को सबसे बड़ी देन रही है। भारतीय संस्कृति का लक्ष्य मुख्यतः अन्तर्जगत् की खोज तथा उपलब्धि रही है और निःसन्देह भारतवर्ष अन्तर्जगत का सर्वश्रेष्ठ तथा सिद्ध वैज्ञानिक रहा है।

आज हम एक ऐसे युग में प्रवेश कर रहे हैं, जब कि पूर्व और पश्चिम एक-दूसरे की ओर बाँहें बढ़ाकर एक नवीन मानवता के वृत्त में बँधने जा रहे हैं। आज की जीवनचेतना को पूर्व और पश्चिम में, ज्ञान और विज्ञान में, या आध्यात्मिकता और भौतिकता में बाँटकर कुण्ठित करना भविष्य की ओर आँखें बन्द कर चलने के समान है। और इसी प्रकार भारतीय संस्कृति या पश्चिमी संस्कृति की दृष्टि से आज की मानवता के मुख को पहचानना, उसके लिए अन्याय करना है।

मनुष्य का भूत और वर्तमान ही उसे समझने के लिए पर्याप्त नहीं है। भावी आदर्श पर बिम्बित उसका चेहरा इन सबसे अधिक यथार्थ और इसीलिए अधिक सुन्दर तथा उत्साहजनक है।

यदि पिछले युगों में, और आज भी, पश्चिम की सभ्यता तथा संस्कृति अधिक जीवन-सक्रिय, क्षुब्ध तथा संघर्षप्रिय रही है और भारतवर्ष की संस्कृति अधिक अन्तश्चेतन, प्रशान्त, अहिंसात्मक तथा बाहर से अल्प क्रियाशील अथवा जीवन-अक्षम; अगर पश्चिम की संस्कृति बहिर्जड़ प्रकृति पर और पूर्व की अन्तःप्रकृति पर विजयी हुई है; अगर पश्चिम की संस्कृति ने बाह्य का, वस्तु का, विविध का या वैचित्र्य का और भारतीय संस्कृति ने अन्तस् का, एक का, कैवल्य का या परम का अधिक अध्ययन, मनन तथा चिन्तन किया है; तो आनेवाली विश्व-सभ्यता और मानव-संस्कृति अपने निर्माण में इन दोनों का उपयोग कर अधिक सुन्दर स्वस्थ सम्पन्न बनकर तथा भावी मानवता की एकता में नवीन विविधता और उसके पिछले संस्कारों की विविधता में नवीन एकता के दर्शन कर, एक ऐसी व्यापक संस्कृति के वृत्त में प्रवेश कर सकेगी जो भारतीय भी होगा और पश्चिमी भी, और इन दोनों को आत्मसात् और अतिक्रम कर इनसे कहीं अधिक महत्, मोहक, मानवीय तथा अपनी पूर्णकाम लौकिकता में अलौकिक भी।

भाषा और संस्कृति

आजकल जो अनेक समस्याएँ हमारे देश के सामने उपस्थित हैं, उनमें भाषा का प्रश्न भी अपना विशेष महत्त्व रखता है। इधर पत्र-पत्रिकाओं में किसी न किसी रूप में इसकी चर्चा होती रहती है और इस सम्बन्ध में अनेक सुझाव भी देखने को मिलते हैं। इस प्रश्न के सभी विवादपूर्ण पहलू लोगों के सामने आ गये हैं और उन पर यथेष्ट प्रकाश भी डाला जा चुका है।

इस समय हमें अत्यन्त धीरज, साहस तथा सद्‌भाव से काम करने की आवश्यकता है। भाषा मनुष्य के हृदय की कुंजी है, और किसी भी देश या राष्ट्र के संगठन के लिए एक अत्यन्त सबल साधनों में से है। विश्व-मानवता का मानसिक संगठन भी भाषा ही के आधार पर किया जा सकता है। भाषा हमारे मन का परिधान या लिबास है। उसके माध्यम से हम अपने विचारों, आदर्शों, सत्य-मिथ्या के मानो तथा अपनी भावनाओं एवं अनुभूतियों को सरलतापूर्वक व्यक्त कर एक-दूसरे के मन में वाहित करते हैं। भाषा भी, संस्कृति ही की तरह, कोई स्वभावज सत्य नही, एक संगठित वस्तु है, जो विकास-क्रम द्वारा प्राप्त तथा परिष्कृत होती है। अगर हमारे भीतर भाषा का स्वरूप संगठित नही होता, तो हम जो कुछ शब्द-ध्वनियों या लिपि-संकेतों द्वारा कहते है, और अपनी चेतना के जिन सूक्ष्म भावों का अथवा मन के जिन गुणों का परस्पर आदान-प्रदान करना चाहते है, वह सब सम्भव तथा सार्थक नहीं होता।

इस दृष्टिकोण से जब हम अपने युग तथा देश की परिस्थितियों पर विचार करते हैं, तो हमें यह समझने में देर नही लगती कि अपने देश की जनता में, उसके विभिन्न वर्गों और सम्प्रदायों मे, एकता स्थापित करने के लिए तथा अपने राष्ट्रीय जीवन को सशक्त, संयुक्त एवं संगठित बनाने के लिए हमे एक भाषा के माध्यम की नितान्त आवश्यकता है, जिसका महत्त्व किसी भी दूसरे तर्क या विवाद से घटाया नहीं जा सकता। यह ठीक है कि हमारी सभी प्रान्तीय भाषाएँ यथेष्ट उन्नत हैं, उनका साहित्य पर्याप्त विकसित है और वे अपने प्रान्तों के राज-काज को सँभाल सकती हैं। किन्तु राष्ट्रभाषा के प्रचार तथा अभ्युदय से प्रान्तीय भाषाओं के विकास में किसी प्रकार की क्षति या बाधा पहुँच सकती है, इस प्रकार का तर्क समझ में नही आता। वास्तव में राष्ट्रभाषा या एक भाषा का प्रश्न अगली पीढियों का प्रश्न है। आज की पीढ़ी के हृदय में मध्ययुगों की इतनी विकृतियाँ और संकीर्णताएँ अभी अवशेष हैं कि हम छोटे-मोटे गिरोहों, सम्प्रदायों, वादों और मतों में बँटने की अपनी ह्रास-युग की प्रवृत्तियों को छोड ही नहीं सकते। विदेशी शासन के कारण हमारी चेतना इतनी विकीर्ण तथा पराजित हो गयी है कि हम अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को ठीक-ठीक समझ ही नहीं सकते और अपने स्वार्थों से बाहर, एक सबल सन्तुलित राष्ट्रीय संगठन के महत्त्व की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। अगली पीढ़ियाँ अपनी नवीन परिस्थितियों के कारण राष्ट्रीय आदर्शों के गौरव के प्रति अधिक जाग्रत और प्रबुद्ध हो सकेंगी, इसमें सन्देह नहीं।

उनके हृदयों में अधिक स्फूर्ति होगी, रक्त में नवीन जीवन, तथा प्राणों में अदम्य उत्साह एवं शक्ति। वे अपनी प्रान्तीय भाषा के साथ राष्ट्रभाषा के वातावरण में भी बढ़ेंगी और उसे भी आसानी से सीख लेंगी।

आज तक हम सात समुद्र पार की विदेशी भाषा को तोते की तरह रटकर साक्षर तथा शिक्षित होने का अभिमान ढोते आये हैं। तब प्रान्तीय भाषाओं के जीवन का प्रश्न हमारे मन में नहीं उठता था। आज जब राजकाज में अंग्रेजी का स्थान हिन्दी ग्रहण करने जा रही है तब प्रान्तीय भाषा-भाषियों का विरोध हठधर्मी की सतह पर पहुँच गया है। धार्मिक साम्प्रदायिकता के जाल से मुक्त होकर अब हम भाषा-सम्बन्धी साम्प्रदायिकता के दलदल में डूबने जा रहे है!

सौभाग्यवश हमारी सभी प्रान्तीय भाषाओं की जननी संस्कृत भाषा रही है। दक्षिणी भाषाओं में भी संस्कृत के शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में बढ़ने लगा है। उत्तर भारत की भाषाएँ तो विशेष रूप से संस्कृत के सौष्ठव, ध्वनि-सौन्दर्य तथा उसकी चेतना के प्रकाश से अनुप्राणित तथा जीवित हैं। अगर हम अपनी हठधर्मी से लड़ सकें, तो मुझे कोई कारण नहीं दीखता कि क्यों हम आज हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में एकमत होकर स्वीकार कर उसे वास्तविकता में परिणत नहीं कर सकते। अन्य प्रान्तीय भाषाओं की तुलना मे राशि (जनसंख्या) तथा गुण (सरलता, सुबोधता, उच्चारण-सुविधा आदि) की दृष्टि से भी हिन्दी का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण तथा प्रमुख है।

हिन्दी-उर्दू का प्रश्न प्रादेशिक भाषाओं के प्रश्न से कुछ अधिक जटिल तथा विवादपूर्ण है। एक तो दोनों की जनक-भाषाएँ आमूल भिन्न हैं। हिन्दी संस्कृत की सन्तान है, उर्दू फ़ारसी और अरबी की। फिर अभी हम दुर्भाग्यवश जिस प्रकार हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदायों में विभक्त हैं, हमारे सांस्कृतिक दृष्टिकोणों में भी सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाया है। फलत: हिन्दी और उर्दू को भी हम दो विभिन्न संस्कृतियों की चेतनाओं तथा उपादानों की वाहक मानने लगे हैं। पर यह पुरानी दुनिया का इतिहास है। संसार में आज सभी जातियों, वर्गों, समूहों या सम्प्रदायों में धार्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि अनेक प्रकार की विरोधी शक्तियों का संघर्ष देखने को मिलता है जो आगे चलकर आनेवाली दुनिया में अधिक व्यापक सामंजस्य ग्रहण कर सकेगा और मनुष्य को मनुष्य के अधिक निकट ले आयेगा, तब भिन्न-भिन्न समूहों की अन्तश्चेतना के संगठनों में साम्य, सद्भाव तथा एकता स्थापित हो जायेगी। इसे अनिवार्य तथा अवश्यम्भावी समझना चाहिए।

हमें हिन्दी-उर्दू को एक ही भाषा के—उसे आप उत्तर प्रदेश की भाषा कह लें—दो रूप मानना चाहिए। दोनों एक ही जगह फूली-फली हैं। दोनों के व्याकरण में, वाक्यों के संगठन, सन्तुलन तथा प्रवाह आदि में पर्याप्त साम्य है—यद्यपि उनके ध्वनि-सौन्दर्य में विभिन्नता भी है। साहित्यिक हिन्दी तथा साहित्यिक उर्दू एक ही भाषा की दो चोटियाँ हैं, जिनमें से एक अपने निखार में संस्कृत-प्रधान हो गयी है, दूसरी फारसी-अरबी-प्रधान। और उनका बीच का बोलचाल का स्तर ऐसा है जिसमें दोनों भाषाओं का प्रवाह मिलकर एक हो जाता है। हिन्दी-उर्दू के एक होने में

बाधक वे भीतरी शक्तियाँ हैं जो आज हमारी धार्मिक, साम्प्रदायिक, नैतिक आदि संकीर्णताओं के रूप में हमें विच्छिन्न किये हुए हैं। भविष्य में हमारे राष्ट्रीय निर्माण में जो सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक शक्तियाँ काम करेंगी वह बहुत हद तक इन विरोधों को मिटाकर दोनों सम्प्रदायों को अधिक उन्नत और व्यापक मनुष्यत्व में बाँध देंगी। विरोध के भीतरी कारण नहीं रहेंगे अथवा पंगु हो जायेंगे।

इस समय हमारा चेतन मानव-प्रयास इस दिशा में केवल इतना ही हो सकता है कि दोनों भाषाओं को मिलाने के लिए वास्तविक आधार प्रस्तुत कर सकें। वह आधार इस समय स्थूल आधार ही हो सकता है—और वह है नागरी लिपि। सरकार को हिन्दी-उर्दू-भाषियों के लिए, राज-काज में, एक ही लिपि को स्वीकार कर उसका प्रचार करना चाहिए। यही नीति हमारे शिक्षा-केन्द्रों की भी होनी चाहिए। हमें इस समय भाषा के प्रश्न को बलपूर्वक सुलझाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। केवल एक लिपि के आधार पर ज़ोर देना चाहिए। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि नागरी लिपि उर्दू से ही नहीं, संसार की सभी लिपियों से शायद अधिक सरल, सुबोध तथा वैज्ञानिक है और उसमें समयानुकूल छोटे-मोटे परिवर्तन आसानी से हो सकते हैं।

भाषा का सूक्ष्म जीवन लिपि का आधार पाकर अपनी रक्षा अपने-आप कर सकेगा। उसमें आनेवाली पीढ़ियाँ अपने जीवन के रक्त से, अपनी प्रीति के आनन्द से तथा स्वप्नों के सौन्दर्य से सामंजस्य प्रदान कर सकेंगी। वह मेल अधिक स्वाभाविक नियमों से संचालित होगा। आज हम बलपूर्वक हिन्दुस्तानी के रूप में दोनों को मिलाने का कृत्रिम और कुरूप प्रयत्न कर रहे हैं। यह हमें कहीं नहीं ले जायेगा। क्योंकि ऐसे सचेष्ट प्रयत्न किन्हीं आन्तरिक नियमों के आधार पर ही सफल हो सकते हैं। ऐसे बाहरी प्रयत्नों से हम भाषा का व्यक्तित्व, उसका सौष्ठव तथा सौन्दर्य बनाने के बदले बिगाड़ ही देंगे। भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों की भाषाओं के जीवन को सामने रखते हुए, मैं सोचता हूँ, हिन्दी-उर्दू का मेल संस्कृत के ध्वनि-सौन्दर्य, रुचि-सौष्ठव तथा व्यक्तित्व के आधार पर ही सफल हो सकेगा, जिसमें अधिकाधिक मात्रा में बोलचाल के लोक-प्रचलित तद्भव शब्दों का समावेश किया जा सकता है। किन्तु सचेष्ट प्रयत्नों के अलावा भाषा का अपना भी जीवन होता है और आनेवाली पीढ़ियाँ नवीन विकसित परिस्थितियों के आलोक में भाषा को किस प्रकार सँवारेंगी, यह अभी किसी गणित के नियम से नहीं बतलाया जा सकता।

हिन्दी का भावी रूप

हिन्दी के भावी रूप पर विचार करते समय इतिहास कल्पना की आँखों के सामने आगे बढ़ने लगता है। वर्तमान के गर्द-गुबार से भरे अपने संघर्षशील कदम मिलाती हुई देश की चेतना सामूहिक विकास के पथ पर अग्रसर होती हुई-सी प्रतीत होती है। पीछे की ओर देखने पर, सदियों

की पराधीनता एवं मध्ययुगीन ह्रास के विषाद से मुक्त होकर, नवीन राष्ट्र का जीवन, कुहासों से निखरते हुए प्रभात की तरह, चुपचाप दृष्टि को आकर्षित कर लेता है, और, आज की जटिल परिस्थितियों एवं भयानक वास्तविकताओं का जगत भविष्य की अनेक सुनहली सम्भावनाओं में खुलकर सहसा मन के सम्मुख उद्भासित हो उठता है।

राष्ट्रभाषा के निर्माण के लिए आज हमारे चारों ओर जहाँ प्रचुर प्रशस्त सामग्री बिखरी पड़ी है वहाँ उसके पथ में अनेक विघ्न-बाधाएँ भी खड़ी हैं। पहिले मैं उन अभावों अथवा बाधाओं की चर्चा करूँगा जिनसे आज हिन्दी को संघर्ष कर शक्ति संचय करना है। वे बाधा एक प्रकार से बाधाएँ नहीं, किन्तु अपने देश की विगत ऐतिहासिक तथा वर्तमान सामाजिक एवं मानसिक स्थिति के कारण वे हमें, आज हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की उतावली में, संकट की स्थितियों-सी प्रतीत होती हैं। किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर वे समस्त संकट एवं अभाव राष्ट्रभाषा को दैन्य मुक्त करने के लिए खाद अथवा पोषक तत्वों की तरह काम में लाये जा सकते हैं।

सबसे मुख्य, अतः जानने योग्य, बात जिसे बाधा भी कहा जा सकता है—हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं के सम्बन्ध में यह है कि उनमें संसार के पिछले दो-ढाई सौ वर्षों के जीवन के विराट् क्रिया-कलापों एवं विचार-धाराओं को नहीं के बराबर वाणी मिली है। और ये दो-ढाई सौ वर्ष विश्व-सभ्यता के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हुए हैं, जिनमें मानव-सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास बहुत आगे ही नहीं बढ़ गया है, उसमें मौलिक परिवर्तन तथा, जीवन-मान्यताओं की दृष्टि से, छोटी-बड़ी क्रान्तियाँ भी घटित हो चुकी है। यह लम्बा युग वैज्ञानिक तथा औद्योगिक युग के नाम से पुकारा जाता है, जिसका रंगमंच विशेषतः पश्चिम अथवा यूरोप में रहा है। समस्त एशिया तो तब हारे-थके साँड़ की तरह रोमन्थ अथवा पिष्ठपेषण कर ही रहा था, हमारा देश भी तब दासता के बन्धनों में जकडा हुआ अपने महान् सांस्कृतिक ह्रास के अन्धकार में भटक रहा था। और यहाँ जो जागरण की प्रेरणा आयी वह एक विदेशी सभ्यता के सम्पर्क तथा विदेशी भाषा के माध्यम द्वारा आयी है। इस प्रकार दो-ढाई सदियों का विश्व-जीवन एवं मानस-संचय हमारी भाषाओं में यदि थोडी बहुत मात्राओं में अभिव्यक्त हुआ भी है तो वह बासी-तिबासी छाया के रूप में छनकर; जिसके कारण हम अपनी भाषाओं को अत्यन्त निर्धन, परिक्षीण तथा श्रीहीन पाते हैं। अपने इन सब सालों की सजधज को लेकर भी वे आज पश्चिमी भाषाओं की तुलना में, कटाक्ष-कौशल-शून्य, भोली-भाली, और सम्भवतः भौंडी, गाँववालियों-सी प्रतीत होती है। यह ऐतिहासिक संयोग भाषा ही की दृष्टि से नहीं, भौतिक सांस्कृतिक दृष्टि से भी एक बड़े भारी हीन भाव तथा कुण्ठा के रूप में हमारे मन में जम गया है और इन पराधीनता की सदियों में उसके मूल हमारे भीतर इतने गहरे पैठ गये हैं कि आज स्वाधीनता मिलने पर भी हम उन्हें उखाड़कर बाहर फेंकना तो दूर रहा, उन्हें हिलाने में भी समर्थ नहीं हो सके हैं। अन्यथा अपने राष्ट्र-गौरव, स्वाभिमान एवं जनैक्य की कल्पना के विरुद्ध हम एक विदेशी भाषा को अपनी राष्ट्रीय एकता का मिलन-तीर्थ बनाये रहते, यह

किसी दृष्टि से भी सम्भव नहीं होना चाहिए था।

अतएव राष्ट्रभाषा के पथ में सबसे बड़ी बाधा, मेरी समझ में, हमारी हीन भावना है, जिसके कारण हम अपनी भाषाओं को नहीं अपना पा रहे हैं। अंग्रेजी को तुरन्त हटाने में जितनी भी बड़ी व्यावहारिक कठिनाई हमारे सामने हो, हिन्दी के लिए मनसा स्थान बनाने में आज उससे भी बड़ी कठिनाई हमें प्रतीत हो रही है, और हमारी यह आत्म-पराजय तथा कुण्ठित अनिच्छा अनेक वितण्डावादों का प्रतारक रूप धारण कर रही है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि भाषा का सम्बन्ध केवल सम्पन्न अभिधान शब्द-संग्रह अथवा अभिव्यक्ति की क्षमता से ही नहीं होता, उसका उससे भी कहीं गहरा सम्बन्ध हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं, हमारे जीवन-दर्शन तथा जातीय विकास के इतिहास से होता है। और समुद्र-पार से उधार ली हुई एक विदेशी भाषा को आकाश-लता की तरह ऊपर से ओढ लेने से हम अपनी जनसंकुल एवं मानस-उर्वर भूमि की मौलिक, प्राणप्रद तथा प्रेरणाप्रद समस्त शक्तियों का विकास रोके हुए हैं।

इस दैन्य तथा कुण्ठा से शीघ्र ही मुक्त होकर हमें अपने विश्व-विद्यालयों में अंग्रेजी को और भी महत्त्वपूर्ण स्थान देना चाहिए और उच्च कक्षाओं में अंग्रेजी पढ़ाने के लिए अंग्रेज शिक्षकों को नियुक्त करना चाहिए, जिससे हमारे देश में अंग्रेजी का स्तर नीचे न गिरने पाये, और एक ऐसे बहुविधिसम्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय माध्यम के समुचित उपयोग से हमें वंचित न रहना पड़े। वैज्ञानिक शब्दों को अंग्रेजी से ज्यों का त्यों हिन्दी में लेने के बदले उनका बहुत हद तक हिन्दीकरण करना अधिक संगत होगा और यह हिन्दीकरण विशेषत: ध्वनिसंगीत की दृष्टि से करना उचित होगा, क्योंकि हर पाँच-दस साल के बाद हजारों नये वैज्ञानिक शब्द पैदा होते रहेंगे और पुराने शब्द बागी पड़ जायेंगे। इस प्रकार इतने विदेशी शब्दों को आत्मसात् करने का साहस करना किसी भी भाषा के लिए असम्भव एवं गाल फुलाना-मात्र होगा। इस समय पारिभाषिक शब्दों के हिन्दीकरण के सम्बन्ध में कुछ मौलिक लचीले नियमों को निर्धारित कर लेने के बाद हमारी समस्त साहित्यिक संस्थाओं, विश्वविद्यालयों, राज्यों तथा केन्द्रीय शासन को नवीन शब्दों को गढ़ने के प्रारम्भिक प्रयोग उत्साह तथा लगन के साथ करने चाहिए। पीछे उन शब्दों को भाषा-निर्माण की सृजनात्मक कमौटी में कसकर उनका समुचित रूप निश्चित किया जा सकेगा, एवं उनकी कृत्रिमता तथा अपरिपक्वता दूर हो सकेगी। शासन तथा शिक्षा-क्षेत्र में हिन्दी को अधिक से अधिक अवसर देकर उसका निर्माण करना हिन्दी प्रान्तों का विशेष उत्तर-दायित्व तथा कर्तव्य है, जिसे व्यावहारिक क्रिया-कलापों के क्षेत्र में भी हिन्दी की पैठ तथा प्रयोग हो सके। इन प्रयोगों का तात्कालिक अथवा प्रारम्भिक रूप जो भी हो, उसमें भले ही ५० प्रतिशत अंग्रेजी या इतर भाषाओं के शब्द क्यों न हों, इससे हमें विचलित नहीं होना चाहिए। क्योंकि जब तक सभी क्षेत्रों में हिन्दी के लिए प्रयोग के द्वार नहीं खुल जायेंगे, वह शिल्प-विधान की दृष्टि से नहीं पनप पायेगी और न विचारों की दृष्टि से ही लोकमानस में प्रवेश कर घर कर सकेगी।

वैज्ञानिक युग का अभी समारम्भ भर हुआ है। सच्ची वैज्ञानिक चेतना आज के अधकचरे बाहरी वैज्ञानिक प्रयोगों से अभी बहुत दूर है। हिन्दी को विदेशी भाषाओं के समकक्ष लाने के लिए समस्त वैज्ञानिक शब्दावली को आत्मसात् करना उसके लिए उतना आवश्यक नहीं जितना कि उसके लिए वैज्ञानिक चेतना के भावी विकास में सहायक होना है। आज तक की ऐतिहासिक शक्तियों के वितरण को देखते हुए यह विकास केवल पूर्व और पश्चिम के सामंजस्य से ही सम्भव हो सकता है। जिस महती भूमि पर आगे मानवता पदार्पण करने जा रही है, यदि उस जीवन को हिन्दी वाणी दे सकी तो पिछली दो-तीन सदियों की तर्कबुद्धि की चमक तथा अर्धवैज्ञानिकता की तड़क-भड़क से वंचित होकर भी वह भविष्य में विश्व-भाषाओं के वृत्त में अपने को संकीर्णपरिधि अथवा केन्द्रशून्य नहीं पायेगी। जिन भाषाओं की वीणा में भविष्य की मानवता के विकास के योग्य प्रेरणा-शक्ति तथा चैतन्य होगा वही भाषाएँ भविष्य की भाषाएँ होंगी। और हमारी एक विश्व की कल्पना भी भाषाओं तथा संस्कृतियों के वैचित्र्य से विहीन नहीं रहेगी।

इस हीन भावना के दुर्लंघ्य विन्ध्य को लाँघ जाने के बाद हिन्दी के सामने जो छोटी-मोटी उलझनें रह जाती हैं, उन्हें बाधाएँ नहीं कहा जा सकता। इनमें पहिली उलझन है हमारी प्रादेशिक भाषाओं सम्बन्धी, जिसे हम भाषा-साम्प्रदायिकता या प्रान्तीयता-सम्बन्धी अस्थायी पूर्वग्रह भी कह सकते हैं। यह उलझन, अपनी राष्ट्रीय एकता की अनिवार्य आवश्यकताओं को सामने रखते हुए, केवल हमारी मध्ययुगीन पार्थक्य-वादिता अथवा पृथक् रहने की प्रवृत्ति ही कहलायी जा सकती है, जिसे मिटाने के लिए हमें समय, धैर्य, सद्भाव तथा पारस्परिक विश्वास की आवश्यकता है। जैसे-जैसे हमारे ह्रासयुग के संस्कार छूटते जायेंगे और उनके स्थान पर राष्ट्रीय उत्तरदायित्व एवं सामूहिक संगठित शक्ति की भावना हमारे भीतर बढ़ती जायेगी, उपर्युक्त भेदजनित पूर्वग्रह भी अपने-आप कोमल पड़कर विलीन होते जायेंगे। आज की परिस्थिति में हम बाहर से प्रचार कर तथा ऊपर से हिन्दी को लादकर अपने देश के मध्यकालीन मानस-स्तर पर दबाव नहीं डाल सकते। बाह्य बल पर आश्रित हमारे सब प्रयत्न निष्फल होने के साथ ही हमारे प्रान्तीय पूर्व-ग्रहों को और भी कटु एवं कठोर बना देंगे। अतः भाषा-सम्बन्धी आन्तर-प्रादेशिक समस्या का हल केवल परस्पर के सद्भाव, विश्वास, सांस्कृतिक आदान-प्रदान तथा राष्ट्रीय चेतना के उत्तरोत्तर विकास पर ही निर्भर है, जिसके लिए हमें सृजनात्मक तथा निर्माणात्मक प्रयत्नों की आवश्यकता है जो हमारे पुरातन साम्प्रदायिक मानस के नवीन राष्ट्रीय एकता में ढलने का इतिहास होगा, जो पुनः काल-अपेक्षित, धैर्य-अपेक्षित और सर्वोपरि सत्प्रयत्न-अपेक्षित है।

दूसरी छोटी-सी उलझन हिन्दी-उर्दू की है जिसका क्षेत्र सीमित है, और जो मुख्यतः उत्तर प्रदेश की समस्या है, जो हिन्दी-उर्दूवालों के पूर्व-ग्रहों के कारण और भी उलझ गयी है। इसमें सन्देह नहीं कि अपने व्यक्तित्व की रक्षा करती हुई हिन्दी अधिक से अधिक उर्दू के शब्दों को ग्रहण कर सकेगी। उन दोनों के बोलचाल के स्तर में तो समानता है

ही, गद्य तथा पद्य साहित्य के स्तर पर भी दोनों का सम्मिश्रण, न्यूनाधिक मात्रा में बराबर होता जा रहा है। सांस्कृतिक दृष्टि से, पिछली समस्त संस्कृतियों को नवीन मानवता के धरातल पर आरोहण करना है, जो मध्य-युगीन हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के लिए भी लागू है। लिपि की दृष्टि से उत्तर प्रदेश में राज-कार्य के लिए प्रारम्भ में नागरी के साथ आवश्यकता अनुसार उर्दू या अरबी लिपि का भी प्रयोग किया जा सकता है और इसी प्रकार केन्द्र में रोमन लिपि को भी स्थान दिया जा सकता है। छापे की सुविधा के अनुरूप तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं की ध्वनियों की दृष्टि से भी नागरी लिपि में थोड़े-बहुत परिवर्तन किये जा सकते हैं। व्याकरण की दृष्टि से भी प्रादेशिक भाषाओं के लिंग, मुहावरों एवं वाक्य-विन्यास सम्बन्धी विचित्रताओं का समावेश हिन्दी में किया जा सकता है। काल के प्रवाह में घुलमिलकर आगे इनमें भाषा के नियमों के अनुसार स्वर संगति बैठायी जा सकेगी। और 'लड़की जाता है' के स्थान पर लोग 'लड़की जाती है' कहना ही पसन्द करेंगे, तब क्रियापदों में स्त्रीत्व की कोमलता एवं लालित्य का प्रभाव उनके कानों का नया अभ्यास बन जायेगा, और वह उनके लिए नवीन नन्दतिक उपलब्धि होगी।

अब मैं संक्षेप में उन उपकरणों तथा शक्तियों का भी दिग्दर्शन कराऊँगा जो हिन्दी के भावी प्रवाह में अनेक प्राणप्रद धाराओं की तरह सम्मिलित होकर उसमें गति, गाम्भीर्य, व्यापकता आदि भरेंगे। बड़े सौभाग्य की बात है कि उत्तरापथ की प्रायः सभी उन्नत भाषाएँ संस्कृत से शक्ति संचय करती हैं और दक्षिण की भाषाओं में संस्कृत का प्रयोग यथेष्ट मात्रा में होता है। संस्कृत की पृष्ठ-भूमि हमारी सभी भाषाओं को मिलाने के लिए एक सबल संयोग तथा स्थायी साधन और सम्पत्ति है। उत्तरप्रदेशीय दृष्टि से हिन्दी में छाया-वैचित्र्य भरने के लिए हिन्दी की जनपदीय बोलियों से सहायता लेना भले ही ठीक हो किन्तु आन्तर प्रादेशिक दृष्टि से उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग ही साम्य तथा व्यापकता लाने में इस समय सहायक होगा। और पचास, सौ, या दो सौ साल बाद जब चयन तथा संस्कार का युग आयेगा तब भाषा-विज्ञान, सारल्य, ध्वनिसंगीत आदि सभी दृष्टियों से भाषा को नवीन अभ्यासों एवं अभिरुचियों के अनुरूप सुधारा-सँवारा जा सकेगा। तब तक अन्य प्रान्तों की प्रतिभाएँ भी हिन्दी के माध्यम से सृजन कर उसे प्रादेशिक संस्कारों के रुधिर से उर्वर तथा सम्पन्न बनाने में सफल हो सकेंगी। आज की हिन्दी-अहिन्दी प्रान्तों की रुचियाँ युगपत् बदल-कर एवं अधिकाधिक सार्वदेशिक होकर तब एक-दूसरे के सन्निकट आ जायेंगी। वह चयन का युग नवीन प्रेरणाओं एवं नन्दतिक बोधों से चालित होने के कारण राष्ट्रभाषा के वास्तविक रूप-निर्माण का युग होगा।

दूसरा शक्तिशाली प्रभाव जो हमारी भाषाओं में सामंजस्य स्थापित कर उनको राष्ट्रभाषा के रूप में समन्वित कर सकेगा, वह है हमारे विभिन्न साहित्यों की सांस्कृतिक चेतना की एकता। हम अनेक भाषाओं के माध्यम से एक ही संस्कृति को वाणी दे रहे हैं, जिसका अर्थ है कि हमारे बीच किसी प्रकार का आन्तरिक व्यवधान नहीं है।

शिल्प, रूप-विधान तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से भी हमारे प्रेरणाओं के स्रोत एक ही हैं। अतः अपने राष्ट्रीय अस्तित्व की चरितार्थता एवं सांस्कृतिक व्यक्तित्व की पूर्णता के हेतु हमारे लिए अपनी अनेक सम्पन्न भाषाओं के साथ हिन्दी को एक सार्वजनिक भाषा के रूप में ग्रहण करना कठिन नहीं होगा। हिन्दी के भावी रूप को गढ़ना वास्तव में देश के बच्चों की भावी पीढ़ी को गढ़ना है, जिनकी कोई भाषा नहीं होती।

वर्तमान परिस्थितियों में राष्ट्रभाषा का बलपूर्वक प्रचार करने के बदले हमें सत्संकल्पपूर्वक हिन्दी का निर्माण तथा संस्कार करना चाहिए। हमें सार्वभौम भाषा का संगठन करने के बदले सार्वभौम मानस का संगठन करना चाहिए। हमें अपने सांस्कृतिक संचय को साहित्यिक आदान-प्रदान द्वारा नये युग के अनुरूप ढालना चाहिए। अपने देश के विभिन्न वैयक्तिक, प्रादेशिक, नैतिक, धार्मिक तथा राजनीतिक मतों तथा वादों में व्यापक सामंजस्य स्थापित कर उन्हें एक-दूसरे का विरोधी न बनाकर पूरक बनाने की चेष्टा करनी चाहिए। राष्ट्रीय एकता की धारणा, अत्यन्त जटिल, सूक्ष्म तथा विविधता के वैचित्र्य से भरी-पुरी धारणा है। उसे यान्त्रिक न बनाकर हमें अधिक से अधिक व्यापक, नमनीय तथा स्वरसंगतिपूर्ण बनाने की आवश्यकता है। क्योंकि राष्ट्रभाषा राष्ट्रमानस भी है, जिसके लिए राष्ट्रजीवन का अन्तःसंगठन ही दूसरा पर्याय है।

हमें एक राष्ट्रभाषा अवश्य चाहिए। वह हमारे सांस्कृतिक, सामाजिक तथा भौतिक जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। एक भाषा—जिसमें करोड़ों कण्ठ धरती और आसमान कह सकें, असंख्य आँखें जिसके दर्पण में फूल का मुख, चाँदनी की स्वच्छता, तथा ऊषाओं-सन्ध्याओं का सौन्दर्य पहचान सकें, सहस्रों हृदय जिसकी झंकारों से गीतों-छन्दों में मुखरित हो उठें, और अनेक मानस जिसका गम्भीर आह्वान तथा जाग्रत् जीवनसन्देश सुनकर आलोकित हो उठें।

हिन्दी का भावी रूप, वह केवल शब्दशिल्प का ढेर, सुन्दर वाक्य-योजना, तथा व्याकरण का सुगठित विधान ही नहीं है। वह हमारे राष्ट्रीय जीवन की सर्वांगीण अभिव्यक्ति, हमारी मानसिकता का विकसित व्यापक सन्तुलन, वर्तमान प्रान्तीय-वर्गीय अभ्यासों तथा अभिरुचियों से ऊपर हमारी सामाजिक सामूहिक चेतना का मानवीय एकीकरण एवं संयोजन है। क्योंकि भाषा के साथ फूल, पत्तों, चाँद-सितारों के साथ ही, हमारी परम्परागत मूल्यमर्यादाएँ, विकासशील चेतना की सम्भावनाएँ तथा पीढ़ी दर पीढ़ी बदलता हुआ जीवन का ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी जुड़ा हुआ है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकृत कर चुकने के बाद उसे अपनाने एवं उसका निर्माण करने के लिए हमें किसी प्रकार के आमूल परिवर्तन की आवश्यकता नहीं, केवल वर्तमान परिवेश में एक व्यापक सामंजस्य, एक वृहत्तर संयोजन भर स्थापित करने की आवश्यकता है।

आज की जटिल परिस्थितियों से निखरती हुई हमारी राष्ट्रीय जीवन-चेतना के साथ आज के मानसिक ऊहापोहों में उलझा हुआ हमारी राष्ट्र-भाषा का भावी रूप भी अपने सम्पूर्ण अन्तश्चैतन्य तथा सर्वांगीण बाह्य वैभव के साथ प्रस्फुटित तथा विकसित हो सके, हमारे मानवीय विकास

के लिए यह सामाजिक कामना आज की आवश्यकता की एक अनिवार्य कड़ी है।

राष्ट्रीय एकता और हिन्दी

इस वर्ष २६ जनवरी १९६५ का गणतन्त्र-दिवस हमारे देश के लिए ऐतिहासिक महत्व का दिन होगा, क्योंकि आज से भारतीय गणतन्त्र के संविधान के अनुसार भारत की ही एक भाषा हिन्दी राजभाषा, राष्ट्र-भाषा अथवा बृहत् लोकभाषा का गौरवपूर्ण स्थान ग्रहण करेगी और उस गौरव की वाहक इस विशाल देश की जनगणतन्त्र-विधायिनी समस्त जनता होगी, क्योंकि आज से उसके विदेशी दासता के मानस के पाश भी खण्डित होने लगेंगे, जिस प्रकार सत्रह वर्ष पूर्व (१५ अगस्त १९४७) में स्वतन्त्रता मिलने पर, उसकी राजनीतिक दासता की शृंखलाएँ खण्डित हुई थीं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति जिसमें स्वाभिमान तथा अपने महान् राष्ट्र के प्रति सम्मान है उसका मन इस गणतन्त्र-दिवस का विशेष रूप से स्वागत करेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि एक भाषा की आवश्यकता हमारे विशाल देश के लिए इस युग की एक ऐतिहासिक आवश्यकता है। वह राष्ट्रीय एकता के अतिरिक्त हमारे सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक पुनर्जागरण के लिए भी अनिवार्य रूप से आवश्यक है। यह ठीक है कि हमारा देश संसार के एक प्राचीन देशों में है, जिसका एक अपूर्व गौरवपूर्ण उज्ज्वल अतीत रहा है और जो उत्तर से दक्षिण तक तथा पूर्व से पश्चिम तक एक सुनहली सांस्कृतिक परम्परा तथा आध्यात्मिक संयोजन में गुँथा है। किन्तु विगत युगों में इस देश की अत्यन्त दयनीय राजनीतिक सीमाएँ भी रही हैं, वह अनेक खण्डों तथा भू-भागों में विभक्त रहा है और अपनी इस राजनीतिक परिस्थितियों के कारण उस पर कदम-कदम पर सदैव बाहरी शत्रुओं तथा जातियों के आक्रमण होते रहे हैं और हमें सदियों तक पराधीनता का दारुण दुःख, ग्लानि तथा अपमान का बोझ झेलना पड़ा है।

आज हमारे देश में अनेक समृद्ध भाषाओं के साहित्य के होते हुए भी जो हम अपने देश को एक राष्ट्रभाषा के विशाल प्रांगण में संगठित करना चाहते हैं उसका एक मुख्य कारण हमारी यह राजनीतिक तथा ऐतिहासिक आवश्यकता भी है। भाषा ही मनुष्य के हृदय की कुंजी है और भाषा ही वह सुनहली चेतना-रज्जु है जो हमारे इस विशाल महा-द्वीप के समान देश को एकता के अटूट जीवनपाश में बाँध सकेगी। बिना भाषा एका के मन तथा हृदयों का एका—अथवा विचारों तथा भावनाओं का एका सम्भव नहीं है। शब्दों में अजेय आकर्षणशक्ति होती है। शब्दों के परिवार में बँधने का अर्थ होता है एक बृहद् मानव-परिवार में संगठित होना। इसलिए आज के वैज्ञानिक युग में एक सशक्त राष्ट्रभाषा के अभाव में हमारे देश का मानचित्र अनेक उन्नत भाषाओं

के होते हुए भी केवल एक मध्ययुगीन नक्शा ही रह जाता है, क्योंकि वह अपनी विविधताओं में एकता स्थापित करने में असमर्थ हो जाता है। एकता में विविधता और विविधता में एकता का सिद्धान्त हमें जीवनी शक्ति के विविध क्षेत्रों में, पशु-पक्षी, वनस्पति जगत् में, भी देखने को मिलता है। मनुष्य ने इस सिद्धान्त का अध्ययन कर अपने जीवन के विभिन्न बहुमुखी क्रिया-कलापों तथा विविध वैचित्र्यमय आयामों में एकता स्थापित कर सभ्यता तथा संस्कृति का निर्माण किया है। अन्य जीवों में यह क्षमता न होने के कारण वे केवल प्राकृतिक धर्म से ही संचालित होते रहे और जहाँ वे अपनी आदिम अवस्था में थे वहीं के वहीं रह गये। अतः अपने सामाजिक, राष्ट्रीय तथा वैयक्तिक विकास के लिए भी हमारे लिए अपने देश की सर्वाङ्गीण एकता का निर्माण करना आवश्यक हो जाता है। इस युग में समता और एकता के सिद्धान्त हमारे सामने विशेष रूप से उभरकर आते हैं। बिना लोकसाम्य अथवा समानता के मानव-एकता का सिद्धान्त खोखला है और बिना एकता के समता का सिद्धान्त अनुर्वर, उच्छृंखल तथा विकासगति से हीन हो जाता है।

मध्ययुगों में हमारा काम सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक एकता से चलता रहा। तब हमारे पास ऐसे साधन नहीं थे कि हम जीवन के स्तर पर राजनीतिक आर्थिक ढाँचे में भी विराट् राष्ट्रीय एकता की धारणा को मूर्त कर सकते। इस युग में विज्ञान ने जड़ के हृदय की ग्रन्थि खोल दी है और मनुष्य असीम भौतिक शक्ति का स्वामी बन गया है, ठीक जिस प्रकार प्राचीन काल के द्रष्टाओं ने मनुष्य के हृदय की ग्रन्थि खोलकर उसे उसकी अपरिमेय अन्तःक्षमता का बोध प्रदान किया था।

अतः इस देशकाल पर विज्ञान की विजय के युग में मध्ययुगीन प्रादेशिकताओं में बँधे या बँटे रहना किसी भी व्यक्ति या देश के व्यक्तित्व के विकास को स्तम्भित तथा अवरुद्ध कर देना है। इसलिए भारत-जैसे देश के लिए अपने बाहरी और भीतरी जीवनक्षेत्रों में इस नयी ऐतिहासिक एकता को स्थापित करना अनिवार्य हो गया है। हम अपने बाहरी जीवननिर्माण के लिए आज अनेक पंचवर्षीय आर्थिक योजनाओं को सम्पन्न करने का प्रयत्न कर रहे है। इस देश के भीतरी जीवन का निर्माण करने के लिए हमें सर्वाधिक एक समर्थ राष्ट्रभाषा को भावमूर्त करने की सर्वप्रथम आवश्यकता है जिसकी शब्दशक्ति से हम एक विशाल अजेय अखण्ड राष्ट्रीय मानस का निर्माण कर सकें -- जो राष्ट्रमानस नवयुग के आदर्शों की सूक्ष्म प्रकाशवाहिनी शिराओं से स्पन्दित होने के कारण मध्ययुगीन तुलसीमानस से अधिक विराट, त्रिदैश्वर्यशाली, सशक्त, ऐक्यप्राण, लोकसाम्य-समन्वित तथा जनप्रिय हो सकेगा, इसमें किसी भी युगप्रबुद्ध व्यक्ति को सन्देह नहीं होना चाहिए।

वर्तमान भारतीय परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में इस एक भाषा के सिद्धान्त को, व्यावहारिक कठिनाइयों को समेटते हुए, प्रतिदिन के कार्य-कलाप तथा राज-काज में अवतरित करने में मुझे विशेष बाधाएँ नहीं दिखायी देती। हम हिन्दी प्रदेशों में इसे आरम्भ कर धीरे-धीरे अहिन्दी क्षेत्रों में भी इसका प्रसार कर सकते हैं। चूँकि यह अनिवार्य भावी आवश्यकता है, इसलिए हमारे देश के मनीषियों तथा हमारे देश की

जनता का सत्संकल्प अवश्य अपने लिए प्रशस्त पथ बना सकेगा। व्यावहारिक पक्ष पर इतना विचार-विमर्श हो चुका है कि मैं इस विषय में केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि तीन भाषाओं के बदले केवल दो भाषाएँ ही साधारणतः शिक्षा संस्थानों में सिखायी जानी चाहिए। हिन्दी प्रदेशों के लिए एक हिन्दी, दूसरी कोई एक दक्षिण की भाषा और हिन्दीतर प्रदेशों के लिए एक हिन्दी दूसरी उनकी मातृभाषा, मुख्यतः तमिल या तेलगु। अंग्रेजी की शिक्षा केवल इने-गिने कुशाग्र बुद्धि विद्याप्रेमी विज्ञान के छात्रों तथा विदेशों में भारत शासन की सेवा करने योग्य युवकों को सिखायी जानी चाहिए। इससे अधिक जनसाधारण के लिए अंग्रेजी शिक्षा की आवश्यकता मुझे नहीं दिखायी देती। विदेशों के जीवन का अधिक से अधिक बौद्धिक चैतन्य तथा कार्य-कलाप हिन्दी के माध्यम से पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं द्वारा भारतीय जनता को सुलभ कराने की व्यवस्था होनी चाहिए। रेडियो द्वारा भी विदेशों के जीवन की हलचल की झाँकी हमारे देशवासियों को मिल सकती है और वे युगप्रबुद्ध हो सकते हैं। अंग्रेजी का अधिक मूल्य राष्ट्रीय दृष्टि से नहीं है। शिक्षा के स्तर के बारे में हमारी भ्रान्त धारणाएँ हैं। अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम हटाने से शिक्षा का स्तर ऊँचा हो जायेगा। क्योंकि स्तर का अर्थ वास्तव में है शिक्षा का मूल्य, वह मूल्य दो प्रकार का है। एक तो यह कि छात्र अपने जीवननिर्वाह के लिए शिक्षा का उपयोग कर सकें। दूसरा यह कि वह उससे समाज या देश की सेवा कर सकें। दोनों ही पक्ष मातृभाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने से अधिक सफल तथा सिद्ध हो सकते है। आजकल अंग्रेजी माध्यम से जो शिक्षा छात्रों को मिलती है, उससे न उनका ही स्वार्थ सिद्ध होता है, न वे गाँवों, कस्बों या नगरों में रहकर लोकसेवा करने के योग्य ही रह जाते हैं। व्यवसाय तथा व्यावसायिक शिक्षा के अभाव में सहस्रों छात्र, जो प्रति वर्ष हमारे विश्वविद्यालयों से उत्तीर्ण होते हैं, नौकरी न मिलने के कारण कुण्ठाग्रस्त तथा निष्क्रिय जीवन व्यतीत करने को बाध्य होते है। हिन्दीभाषी प्रान्तों के लिए एक दक्षिणी भाषा सीखना मैं उनका राष्ट्रीय कर्तव्य मानता हूँ, जिनसे उत्तर-दक्षिण में सांस्कृतिक आदान-प्रदान तथा भावात्मक एकता का नया सेतु-बन्ध इस विशाल देश में स्थापित हो सके।

आज २६ जनवरी १९६५ के गणतन्त्र-दिवस के अवसर पर मैं इन थोड़े से शब्दों द्वारा इस महत्त्वपूर्ण विषय की ओर अपने देश की जनता का ध्यान आकृष्ट करता हूँ। निःसन्देह, राष्ट्रीय एकता का संगठन केवल एक राष्ट्रभाषा के माध्यम से ही किया जा सकता है। भौतिक जीवन-निर्माण योजना सिद्ध होगा यदि उसके साथ ही राष्ट्रीय मन तथा लोकचेतना का निर्माण भी नहीं सम्पन्न किया जायेगा—भाषा मानव-मन की झंकार तथा मानव-आत्मा का सोपान है। उसके महत्त्व को न पहचानना आँखे रहते भी अन्धा बना रहना है, क्योंकि अपनी भाषा ही अपने राष्ट्र के मानस में अन्तर्दृष्टि दे सकती है।

ऊर्ध्व चेतना

मानव-मन निश्चय ही एक रहस्यमय लोक है, इस बाह्य जगत से कहीं अधिक गूढ़, सूक्ष्म, जटिल तथा अनिर्वचनीय । वैसे तो यह विज्ञान का युग है और विशेषत: भौतिक विज्ञान का, जिसके नित्य नवीन आविष्कारों ने मनुष्य को आश्चर्यचकित कर दिया है । किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य का मानस विज्ञान की बाह्य प्रकृति सम्बन्धी खोजों तथा रेडियो, टेलिविज़न जैसे विस्मयकारक आविष्कारों से कहीं अधिक चमत्कारमय तथा रहस्यपूर्ण है । वैसे भी जो मानवबुद्धि रात-दिन एक से एक विचित्र वैज्ञानिक अनुसन्धान कर उन्हें उनसे भी अधिक विचित्र यन्त्रों के निर्माण में मूर्तिमान कर रही है, वह मन की ही एक शक्ति है ।

पश्चिमी मनोवैज्ञानिक मन को मुख्यत: तीन आयामों में विभाजित करते हैं : बुद्धि, भावना तथा संकल्प या क्रिया-शक्ति । किन्तु, भारतीय मनोविज्ञान अन्त:करण को इससे कहीं व्यापक अर्थ में लेता है। वह उसमें बुद्धि, हृदय तथा संकल्प-शक्ति के अतिरिक्त अहंकार, चित् तथा मन आदि का भी समावेश करता है—मन, अर्थात् जिससे हम मनन करते हैं। दार्शनिक लोग मन को एक महत् सोपान के रूप में देखते हैं जिसमें चेतना या बोध के अनेक स्तर होते है । यदि इन स्तरों को रंगों में अंकित किया जाये तो आप अन्धकार, छाया, द्वाभा, हलका प्रकाश, गहरा प्रकाश आदि अनेक रूपों में उन्हें देख सकते हैं । मानस के इस अध: ऊर्ध्व विस्तृत सोपान को आप मुख्यत: दो भागों में विभाजित कर सकते है—निम्न भाग, ऊर्ध्वभाग अथवा निम्न त्रिदल, उच्च त्रिदल । और जैसा कि 'त्रिदल' शब्द से व्यंजित होता है प्रत्येक भाग में मुख्यत: तीन-तीन दल या श्रेणियों का अस्तित्व मिलता है । आधुनिक गहन मनोविज्ञान ने मन की निम्न श्रेणियों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है और फॉयड-युग आदि मनोविश्लेषकों के ग्रन्थों में आपको मन की निम्न श्रेणियों के सम्बन्ध में अनेक मनोरंजक एवं चमत्कारपूर्ण अनुसन्धान मिलेंगे । यदि संक्षेप में कहे तो उन्होंने मानव-मन को निश्चेतन अथवा अचेतन तथा उपचेतन और चेतन इन तीन भागों में विभक्त किया है, जिनमें निश्चेतन तथा उपचेतनमन को उन्होंने विशिष्ट शक्ति तथा महत्त्व प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने रागवृत्तियों के सम्पुंजन को 'लिबिडो' का नाम दिया है, और उसके क्रियाकलापों को भी निश्चेतन उपचेतन की वृत्तियों की तरह ही अवर्णनीय अथवा अनिर्वचनीय चित्रित किया है । 'फ्रायड' आदि पश्चिमी मनोविश्लेषकों मे साइकोइड अथवा अन्तश्चेतना सूक्ष्म प्राण-तत्व का प्रतिनिधित्व करती है । उसके मूल उपचेतन तथा निश्चेतन तक व्यापक होने के कारण वह सार्वभौम मानव-चेतना एवं व्यक्तिगत मानस-चेतना के विकास के जैसे वस्तुगत संस्कारों का संचयन है । किन्तु, ये मनोविश्लेषक मन के उच्च त्रिदल के सम्बन्ध में प्राय: अनभिज्ञ ही रहे है । फलत: इन्होंने अचेतन-अवचेतन मन की असंयत स्थूल प्रवृत्तियों को इतना अधिक महत्त्व अकारण दे दिया है कि पिछली अर्द्धशती का साहित्य, मनोविज्ञान, जीवविज्ञान व व्यवहारवाद—इन चिन्तकों के अर्द्धसत्यों से पीड़ित होकर

पश्चिमी सभ्यता की ह्रास तथा विघटन की शक्तियों को और भी अधिक अतिरंजित प्रेरणा प्रदान करता आया है। निश्चय ही मन के इस निम्न त्रिदल के ऊपर जो मानव-मन का उच्च त्रिदल है उसी को मानव-जीवन के व्यापारों को अनुशासित करना चाहिए जिससे निम्न-मन की अन्ध-वृत्तियों को अतिक्रम कर मानव-संस्कृति अपने ऊर्ध्व मन के वैभव से सम्पन्न होकर इस पृथ्वी पर मानव-जीवन द्रष्टाओं की मनुष्यत्व की धारणा को चरितार्थ कर सकें।

मानव-मन के भीतर अथवा ऊपर जो प्रच्छन्न मन अथवा 'सबलिमिनल माइंड' के स्तर होते हैं उसी को उच्च त्रिदल कहा गया है। भारतीय-तत्ववेत्ताओं ने चेतना को सप्तस्तरों अथवा सप्तभुवनों के रूप में देखा है, जिन्हें 'सप्त-सिन्धु' भी कहते हैं। ये सप्तभुवन 'भू भुव स्वः महः जन तप सत्यं' के नाम से प्रसिद्ध हैं जो समग्र चेतना-सोपान का निर्माण करते हैं। भू अथवा अन्न का स्तर निश्चेतन का स्तर है जिसमें चेतना पूर्णतः निर्वतित अथवा सुप्त रहती है। इस अन्न के स्तर के ऊपर भुवलोक अर्थात् प्राणों एवं जीवन का स्तर है। यह प्राणों का लोक अन्न अथवा पदार्थ के ही स्तर में निर्वतित था और विकास-क्रम में उसी से विकसित हुआ। इस प्राण ब्रह्म अथवा जीवन की चेतना से, जिसमें शक्ति, आकांक्षाओं तथा सुख-दुख सम्बन्धी संवेदनों के आयाम ही प्रस्फुटित रहते हैं, क्रमशः मन का भुवन विकसित होता है, जिसके बारे में हम ऊपर कह आये हैं। इस मन के भीतर जो प्रच्छन्न मन का आश्चर्यजनक जगत् रहता है, वही मनोविज्ञान की दृष्टि से ऊर्ध्व-चेतना का लोक कहलाता है, जिसमें ऊर्ध्व-मन के अनेक स्तर अनेक प्रकाशमान लोकों की रत्नच्छायाओं की तरह एक-दूसरे में गुम्फित, दिव्य चैतन्य के आलोक की ओर आरोहण करते है। इस ज्योतिर्मय मनोजगत को आप प्रज्ञा लोक (इंट्युइशनल माइंड) भी कह सकते हैं। इंट्युइशंस अथवा सहजबोध के मन के बारे में पश्चिमी दार्शनिकों का विश्लेषण अधूरा तथा अस्पष्ट ही है। बर्गसाँ में भी इंट्युइशंस की श्रेणियों के बारे में हमें वह स्पष्ट ज्ञान नहीं मिलता जो कि भारतीय दार्शनिकों मे पाया जाता है। इस प्रकार मन के अनेक प्रकाशवान स्तर है, जिन्हें आप उच्चमन, ज्योतिर्मय मन या सूर्य मन, अन्तश्चेतन मन या 'साइकिक माइंड', अधिमन (ओवर माइंड) ऋतमन तथा दिव्य-मन, अतिमन या इन्द्रमानस के नाम से पुकार सकते है। इन मानसिक स्तरों के अनुरूप ही इनके शुभ व्यापारों की भी मोटी रूपरेखा खींची जा सकती है। उदाहरणार्थ उच्च मन में आदर्शों तथा नैतिक प्रवृत्तियों का कार्यकलाप मुख्यतः सचेष्ट रहता है। बाह्य जीवन की वास्तविकता तथा इन्द्रिय संवेदनों द्वारा सामग्री एकत्रित कर मानव-मन का यन्त्र अपने उच्च-मन के स्तर पर उसमे आदर्शों तथा नैतिक दृष्टिकोणों की रचना करता है। केवल वास्तविक जीवन के मूल्यों के आधार पर ही यह अपने आदर्शों को जन्म नहीं देता, वह अपने से उच्च स्तरों से भी उन आदर्शों एवं मूल्यों के लिए स्वरसंगति तथा श्रेयस्तत्त्व ग्रहण कर उनमें समयोचित सामंजस्य बिठाता है। हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि समस्त जगत तथा देश-काल की धारणाएँ भी अविरत विकास-क्रम की स्थिति में हैं, और जागतिक विकासक्रम को सहायता

देने के लिए ही मानव के अन्तर्जगत में उच्च मनोमय प्रकाश के स्तर सक्रिय रहते हैं। इस विकास-क्रम का एक लक्ष्य भी है जो सामान्यतः बाह्य मन के बोध के स्तरों की पकड़ में नहीं आता। विकास-क्रम के लक्ष्य को हमारे अन्तश्चेतन का उच्चतम सत्य ही दिशा प्रदान कर सकता है और उसी सत्य की ओर संकेत हमारा ज्योतिर्मय मन अथवा सूर्य-मन करता रहता है। इस मन के उज्ज्वल दर्पण में सत्य अपने-आप ही स्फुरित अथवा प्रतिफलित होता रहता है। यह मन की सृजनशील चेतना का स्तर है। कवि, कलाकार, साधक और उच्च कोटि के द्रष्टा इसी सूर्य-मन या ज्योतिर्मय मन से अपनी प्रेरणा ग्रहण कर भविष्य के स्वप्न गूँथते रहते हैं और जीवन-विकास की दिशा की ओर नित्य नव प्रतीकों एवं कलासृष्टियों द्वारा इंगित करते रहते हैं। यही मन शुभ्रहंस भी है जो वाणी का वाहन माना जाता है। इस ज्योतिर्मय मन के भीतर चैत्य मन, अन्तश्चेतन मानस अवस्थित है। अन्तश्चेतना भारतीय दर्शन की दृष्टि से दिव्य एकता अथवा ईश्वरीय ऐक्य की प्रतिनिधि है, यह अदिति है — एकता की चेतना जो मन के अन्य स्तरों, भेदबुद्धि से ऊपर है; यह आत्मा से अपनी एकता के सत्य को कभी नहीं भूलती है। जीवन तथा मन के व्यापारों में भेदबुद्धि के आवर्तों के कारण जो भ्रम तथा मिथ्या या त्रुटि का अंश रह जाता है, यह विश्वात्मा की ईश्वरी अभेदता को स्थापित कर उस भ्रान्ति का मार्जन करती है और वैचारिक तथा बौद्धिक एवं विवेचनात्मक अन्तः संकट के क्षणों से मनश्चेतना को उबारकर उसका सत्य से साक्षात्कार कराती है। भेद-बुद्धिजनित मनश्चेतना तथा ईश्वरीय ऐक्य की चेतना के मध्य अन्तश्चेतना एक प्रकाशगृह या दीपस्तम्भ की भाँति अविचल अनिमेष अन्तःस्थित है। अन्तश्चेतना को उपलब्ध कर लेने पर अथवा मन.क्षितिज में अन्तश्चेतना के प्रकाशमय वातायन के खुल जाने पर मनुष्य भागवत-देवालय के द्वार पर पहुँच जाता है और तदुपरान्त दिव्य प्रकाश उसका पथ-प्रदर्शन करता रहता है। उसे फिर मन के बौद्धिक स्तरों के मन्थन, चिन्तन की आवश्यकता नहीं रहती है। उसकी दृष्टि असन्दिग्ध तथा वाणी आप्तवाणी हो जाती है।

इससे व्यापक अधिमन की श्रेणी होती है जिसे विश्वमन भी कह सकते है। इस मन के स्तर पर एक स्वतःसिद्ध व्यापक संगति होती है। यह मन व्यक्ति तथा समूह के सीमित दृष्टिकोण को विश्व-मंगल की दिशा तथा सत्य से अनुप्राणित करता है और समस्त विश्व के कार्यकलाप इसमें एक स्वर-संगति प्राप्त करते है। अनेकता के बहुमुखी, अपने मे सीमित प्रयत्नों को अधिमन विकास-क्रम से सम्पन्न वैश्व विधान की मैत्री मे बाँधकर उन्हें नवीन अर्थ-प्रयोजन तथा वैश्व गति का समर्थन प्रदान करता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश जहाँ तक जाता है वहाँ तक अन्धकार नहीं रह सकता उसी प्रकार विश्व-मन अथवा अधिमन की चेतना भी समग्र विश्व-रचना के सत्य से आलोकित अपनी निःसीम गरिमा से अनुप्राणित तथा अजेय रहती है।

इस विश्व-मन के हृदय-शतदल के ऊपर दिव्य-मन का प्रभावान् स्वर्णिम सिंहासन है जिसे आप भागवत-मन भी कह सकते है। अधिमन की समस्त व्यापकता इसमें होते हुए भी यह अपने ऊर्ध्व चैतन्य के आलोक

में अवस्थित जैसे विश्वपुरुष या विश्वमन के ऊपर स्वर्णिम किरणों के आलोक-छत्र की तरह खुला हुआ है। इसी को महर्लोक भी कहते हैं, जो निम्न त्रिदल तथा सत्-चित्-आनन्द के उच्च त्रिदल के मध्य अनिर्वचनीय प्रकाशसिन्धु की तरह प्रसरित दोनों के छोरों पर अपने ही अन्तर-आलोक का सेतु निर्माणकर विश्वचेतना को भगवत्-चेतना से सम्पृक्त रखता है। देश-काल तथा कार्य-कारण भाव से अतीत इसमें ईश्वरीय-चेतना स्वयं अपनी ही अनन्त सम्भावनाओं से पूर्ण सहज आकांक्षाओं में स्वप्नमूर्त होकर विश्वचेतना के धरातल पर अवतरित होती है। इस प्रकार हम संक्षेप में देखेंगे जिस मन के रहस्यलोक की निचली श्रेणियों से हम सामान्यत: दैनन्दिन के क्रियाकलापों द्वारा परिचित हैं उस मन की हिमाद्रि शृंगवत् अनेकानेक उच्च-उच्चतर तथा उच्चतम श्रेणियाँ भी हैं, जिनके वैभव के प्रति अपने हृदय के द्वार खोलकर व्यक्ति, समाज तथा विश्व में हम मनुष्य की चिरन्तन भूस्वर्ग निर्माण करने की अन्तरतम आकांक्षा तथा कल्पना को अनिवार्य रूप से चरितार्थ कर सकते हैं।

दिव्य दृष्टि

भविष्यवाणी के कई अर्थ तथा स्तर हो सकते हैं। साधारणत: भविष्यवाणी का अर्थ किसी भावी घटना के उद्घाटन के सम्बन्ध में ही लिया जाता है। जैसे, किसी ज्योतिषी या भविष्यवक्ता ने किसी व्यक्तिविशेष के बारे में बता दिया कि ग्रहों के अनुसार किसी निर्दिष्ट काल में आपके जीवन में कोई विशेष घटना घटेगी, जैसे पदोन्नति, विदेश-यात्रा इत्यादि, या उसने फलादेश के अनुसार यह बतला दिया कि अगले वर्ष अकाल पड़ेगा या महामारी का प्रकोप होगा। इसके अतिरिक्त कोई भविष्यद्रष्टा यह भी बतला सकता है कि विश्वयुद्ध या महाध्वंस होगा या नहीं, और होगा तो कब होगा और कहाँ और कैसे होगा। पहिले प्रकार की किसी व्यक्ति के जीवन में घटनेवाली भविष्यवाणी मुझे विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं प्रतीत होती। वह तो फलित ज्योतिष के अन्तर्गत भूतकाल के लिए भी ग्रहों की स्थिति के अनुसार प्रयुक्त हो सकती है। और यदि ज्योतिषी का अध्ययन गम्भीर है, उसका अनुभव भी व्यापक है, और साथ ही उसे इष्ट-सिद्धि भी है जैसा कि कहते हैं—'इष्ट बिना सब भ्रष्ट है ज्योतिष वैद्य कवित्त' तो उसके कथन ५० से ७५ प्रतिशत ठीक ही उतर सकते है। किन्तु यदि जातक की कुण्डली में जन्म-काल, लग्न आदि के सम्बन्ध में त्रुटि रह गयी हो तब ज्योतिषी की गणना भी व्यर्थ तथा असत्य ही सिद्ध होती है। इससे व्यापक दृष्टि उन भविष्यद्रष्टाओं के पास होती है जो सामाजिक जीवन अथवा विश्वजीवन की घटनाओं के सम्बन्ध में भविष्यवाणी कर सकते हैं और वे कभी-कभी ठीक ही उतरती हैं। ऐसे भविष्यद्रष्टा कहाँ तक वास्तव में त्रिकालज्ञ होते हैं और कहाँ तक वे अपने विवेक के आधार पर तथा विश्व-घटनाओं के अपने ज्ञान के बल पर विश्व के भविष्य के बारे में पूर्व निरूपण करते हैं यह कहना कठिन है। आजकल

के दैवज्ञ अथवा गणक मुख्यतः विश्वघटनाओं के अध्ययन तथा व्यापक ज्ञान के आधार पर ही संसार की राजनीतिक स्थिति आदि के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करने का साहस करते हैं। इस प्रकार के कथनों का और जो भी उपयोग अथवा महत्त्व हो, उन्हे दिव्य दृष्टि का परिणाम नहीं कहा जा सकता। दिव्यद्रष्टा विशेषतः वे व्यक्ति या महापुरुष होते है जिनमें अन्तः-स्फुरण प्रेरणा अथवा सहजज्ञान की स्वाभाविक शक्ति होती है और उनकी दिव्य-दृष्टि का क्षेत्र व्यक्तिविशेष अथवा विश्वजीवन की छोटी-मोटी दुर्घटना, युद्ध, महामारी आदि घटनाओं तक ही सीमित नहीं रहता बल्कि उनकी अन्तर्दृष्टि विश्वजीवन के विधान में प्रवेश कर सकती है और वहाँ विश्वमंगल के लिए नवीन रचनात्मक शक्ति-तत्त्वों का उद्घाटन कर मानवचेतना को उस सूक्ष्म बोध अथवा सत्य के लिए जाग्रत् कर सकती है। वास्तव में यही दिव्य-दृष्टि का सार्थक तथा संगत अर्थ है—सम्बोधि अथवा प्रेरणात्मक प्रज्ञा दृष्टि जो आइंस्टाइन तथा फोर्ड जैसे महानुभावों को भी अपने क्षेत्र में सुलभ रही है।

मनुष्य के अन्तःकरण का क्षेत्र केवल बुद्धि अथवा मन तक ही सीमित नहीं है जो वस्तुओं का विश्लेषण अथवा मनन कर केवल आंशिक सत्य प्राप्त करने में समर्थ है और समग्र सत्य का बोध जिसके लिए सम्भव नहीं है। सत्य का बोध समग्रता में प्राप्त करने के लिए अन्तःकरण के अन्य उच्च एवं सूक्ष्म बोध के स्तर है, जिन्हें प्रच्छन्न मन कहते है। इन स्तरों पर चेतना अधिक सूक्ष्म, संवेदनशील एवं ग्रहणशील होती है, वह बिना तर्क किये, बिना विचार एवं मनन किये ही सत्य को स्वतः सहज-रूप में ग्रहण कर सकती है और उसका ज्ञान या बोध बौद्धिक बोध से अधिक पूर्ण तथा सच्चा होता है। अन्तर्मन तथा उच्च मन के ये सूक्ष्म स्तर अधिक प्रकाशपूर्ण होते है, और उनमें उच्चतम दिशाओं से अनेक कोटि की श्रेष्ठ प्रेरणाएँ, अपने अन्तःप्रकाश से मनुष्य की बोधदृष्टि को आलोकित करती हुई, निरन्तर अवतरित होती रहती हैं। कवि, साधक, दिव्यद्रष्टा तथा महापुरुष सभी इस अन्तर्मन के प्रकाश से किसी-न-किसी अंश में संयुक्त होते है और अपने भाव, विचार, प्रेरणा तथा शक्ति को चेतना के इस आलोक-सिन्धु से ग्रहण करते रहते है।

इस अन्तर्मन को अनेक स्तरों पर बाँटा जा सकता है। उच्चमन, प्रकाशमन, प्रेरणात्मक मन, चैत्य मन, अधिमन तथा अतिमानस अथवा दिव्यमन। अन्तर्मन के इन विभिन्न स्तरों की विभिन्न चेतनाएँ तथा ग्रहण शक्तियाँ एवं बोध शक्तियाँ होती है। उच्चमन स्वभावतः आदर्श ज्ञान का मन होता है जिसकी उर्वर भूमि में नैतिकता तथा सत्कल्पना के रुपहले अंकुर फूटते रहते है। प्रकाशमन को सूर्यमन भी कहते हैं जिससे कविगण अपनी प्रेरणाएँ तथा अपना भावबोध और सौन्दर्यबोध ग्रहण करते हैं। प्रेरणात्मक मन भी इसी मानस का उच्च तथा सूक्ष्म स्तर है जहाँ प्रेरणाएँ अपनी शुद्ध ज्योति में—मन के भावों तथा विचारों से अमिश्रित रूप में—विचरण करती है और मन के निम्न स्तरों को अपने आलोक से प्रभावित करती हैं। चैत्य मन अथवा अन्तश्चेतन मन में ईश्वर की प्रतिनिधि अखण्ड चेतना निवास करती है और हमारे मानस-बोध को सामंजस्य, संगति, एकता एवं समग्रता प्रदान करती है। अधिमन

को आप विश्व-मन भी कह सकते है जो विश्वजीवन का संचालन करता है,—सर्वोपरि अवस्थित अतिमन अथवा दिव्य मन को हम भागवत मन कह सकते हैं जिसमें भावी जागृति का विकास-क्रम अपने स्वतः स्फुट सृजन-आनन्द में अभिव्यक्ति पाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्तर्मन का हमारा विराट् सोपान ही विश्व-मंगलकामी सत्य का वह आलोक है जिसका बाह्यतम रूप हमारा इन्द्रिय-मन, उसका एक अंशमात्र अथवा छाया मात्र-ग्रहण कर हमारी यथार्थ-सम्बन्धी एवं सत्य-सम्बन्धी धारणा को सीमित तथा खण्डित बनाये हुए है, सत्य को अपनी समग्रता में प्राप्त करने के लिए हमें अपने अन्तःकरण के प्रकाश से तदाकार होना पड़ता है जो सत्य का वास्तविक दर्पण है। इसी अन्तर्मन के भीतर एक गुह्यमन भी है जिसे अंग्रेजी में आकल्ट माइंड कहते हैं जिसमें अनेक गुप्त शक्तियाँ छिपी हुई हैं। यह गुह्यमन एक प्रकार से सूक्ष्म प्राणिक शक्तियों का मन है, जिससे अपना सम्बन्ध स्थापित कर योगी एवं साधक अनेक विचित्र सिद्धियों पर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं : दूसरे के मन की बात जान लेना, अघटित घटना को बतला देना, रोग-व्याधि पर विजय प्राप्त कर लेना, किसी का कष्ट निवारण करना, विचित्र कर्म सम्पादित करना, दूसरे को प्रेरित-सम्मोहित करना आदि सब गुह्यमन की शक्तियों के खेल हैं।

जिसे दिव्य-दृष्टि अथवा दिव्य बोध कहते हैं उसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है और आज के हमारे साधु-सन्त तथा त्रिकालज्ञ इन शक्तियों का आभास मात्र पाकर अपने उदरपोषण के निमित्त इनका झूठा-सच्चा उपयोग करते रहते है और हमारी दिव्य दृष्टि उसी अनुपात में क्षीण होती जा रही है। जिस प्रकार प्राकृतिक जगत् मे, जिसे फिनोमिनल वर्ल्ड कहते हैं—वाष्प विद्युत् रश्मि अणु तथा रसायन शक्तियों की खोजकर मनुष्य ने उन्हे मानव-समाज के पुनर्निर्माण के लिए प्रयुक्त किया है उसी प्रकार अन्तर्जगत् की इन सूक्ष्म मानसिक शक्तियों का अध्ययन-मनन कर तथा प्राणिक जगत् की विचित्र शक्तियों की खोज कर मनुष्य अपने सांस्कृतिक जीवन को अधिक परिपूर्ण तथा भरापूरा बना सकता है और वर्तमान विश्व-सभ्यता में जिन तत्त्वों की कमी है वे विश्व-मंगल के आलोक, सौन्दर्य, शान्ति, मानवप्रेम, नैतिक आध्यात्मिक जागरण आदि के तत्त्व मानव-मन तथा आत्मा के अन्तर्विधान के अध्ययन से अर्जित कर मनुष्य उन्हें अपने वैयक्तिक तथा सामूहिक सर्वांगीण उत्थान तथा अभ्युदय के लिए उपयोग में ला सकता है। मानव की स्थूल चक्षुदृष्टि से ऊपर उसकी दिव्य मनोदृष्टि की सार्थकता तथा चरितार्थता मुझे इसी में दिखायी देती है। मानव का भविष्य, मानव-संस्कृति तथा सभ्यता का भविष्य चिर मंगलमय होगा, वह सत्य से बृहत्तर सत्य की ओर, रचना-सौन्दर्य तथा आनन्द से महत्तर जीवन रचना-सौन्दर्य तथा आनन्द की ओर अग्रसर हो सकेगा, उसके दिव्य मन का ज्ञान उसे निरन्तर यही सन्देश देता आया है।

इस युग में धर्म की चर्चा करने से या उसके संश्लेषण-विश्लेषण से कोई लाभ हो सकता है यह मेरा मन नही मानता, धर्म का स्थान धीरे-धीरे एक व्यापक मानवी संस्कृति को ग्रहण करना है। पिछले युगों में धर्म सत्य का वाहन रहा है, वह साधन रहा है, साध्य नही। चूंकि सत्य इस सापेक्ष जगत् में एक विकासशील तत्त्व एवं प्रणाली है, इसलिए पिछले युगों के सत्य की धारणा भी आज की दृष्टि से एक खण्ड-सत्य ही कही जा सकती है। सत्य से सम्बद्ध जो भी मूल्य रहे हैं चाहे वह ज्ञान हो, मोक्ष, आनन्द हो, प्रकाश, दया, क्षमा या प्रेम हो, अथवा अहिंसा, त्याग आदि नैतिक भावनाएँ हों, पिछले युगो मे उनका एक विशिष्ट स्वरूप रहा है। सत्य के सूचक होने के कारण ये सब मूल्य भी विकासशील हैं। अत: आज के युग में इन्हें एक नये रूप में मानव-जीवन एवं विश्व-मन में संयोजित होना है।

धर्म के अन्तर्गत केवल उच्च नैतिक मूल्य, विचार, धारणा आदि ही नहीं रहे हैं उनकी उपलब्धि की सहायता के लिए विभिन्न प्रकार के कर्मकाण्ड, आचार-पद्धतियाँ तथा विधि-निषेध आदि भी रहे है। और ये समस्त साधन तथा साध्य-सम्बन्धी पद्धतियाँ एवं मूल्य एक अरूप आन्तर आस्था के अदृश्य सूत्र में गुँथे हुए रहे हैं। संसार में प्रचलित विभिन्न धर्मों में आस्था का सूत्र तथा सत्य के उच्चतम मूल्यों में प्रचुर समानता होने पर भी इन धर्मो के आचार-विचारों, कर्मकाण्डों तथा विधि-विधानों-सम्बन्धी बाह्य रूपों में घोर विभिन्नता रहने के कारण सभी धर्म अपनी बाहरी सीमाओं में बँध गये है और मूलगत सत्य से अधिक 'आचारो प्रथमो धर्मः' के अनुरूप विधि-विधानों के प्राणहीन अस्थिपंजर ही उनमें प्राधान्य पा गये हैं। मूल सत्य तक पहुँचना जन-साधारण के लिए सरल भी नही होता, अत: कालान्तर में धर्म अनेक सम्प्रदायो, मत-मतान्तरों तथा आचारों में विकीर्ण हो जाने के कारण विविध धर्मावलम्बियों के बीच दुर्गम विभेद की दीवारें अथवा खाई बन गये और भारत-जैसे देश में भी वैदिक युग से लेकर मध्य-युगों तक पहुँचते-पहुँचते वे परलोकवादी, स्वर्गवादी ही नही हो गये, इस जगत् जीवन को माया. मिथ्या तथा पाप-सन्ताप का क्षेत्र भी मानने लग गये। इस प्रकार धर्म के साम्राज्य के अन्तर्गत ही सत्य तथा ईश्वर जगत्-जीवन से विच्छिन्न हो गये और समस्त मानवीय सिद्धि ऐहिक तथा पारलौकिक के निर्मम पाटों में दबकर चूर्ण-चूर्ण हो गयी। दो पाटन के बीच में सिगरा बचा न कोय ! मुझे नही लगता कि जन-साधारण के स्तर पर आज धर्म जिन अन्धविश्वासों तथा विधि-निषेधों की यान्त्रिक प्रणालियों के किमाकार व्यूह में फँस गया है उससे उसका उद्धार हो सकना है, और उद्धार सम्भव होने पर भी भविष्य के लिए उसकी कोई उपयोगिता मुझे नही दिखायी देती। धर्म अथवा रिलीजन या मजहब सत्यत: या सिद्धान्तत: भले ही भिन्न तत्त्व हों पर लोक-व्यवहार में उन्हे अलग मानना उतना ही असम्भव है, जितना पानी से उसकी तरलता को। लोकमानस

के स्तर पर, चाहे भारतीय धर्म की आस्था हो, अथवा अभारतीय धर्मों की, उनमें अधिक भेद के लिए स्थान नहीं—सभी अपने-अपने आचार-विचारों, अन्धविश्वासों तथा कर्मकाण्डों की ठठरियों के उपासक होने के कारण उन्हीं तक सीमित हो गये है। धर्म की चाहे कितनी ही व्यापक परिभाषा क्यों न की जाये वह जन-साधारण को कर्मकाण्ड, विधि-विधान के कर्दम से मुक्त नहीं कर सकती, इसीलिए मैं मानव-जीवन के शाश्वत विकासशील सत्य को व्यापक विश्व-लोक-संस्कृति के धरातल पर संयोजित करना सार्वभौम कल्याण के लिए अधिक उपादेय मानता हूँ।

धर्म को भारतीय या अभारतीय कहकर नहीं विभक्त किया जा सकता। ये धारणाएँ केवल काल-सापेक्ष हैं। वास्तविक धर्म मानवीय धर्म है और व्यापक दृष्टि से सभी धर्मों में मानव-मूल्यों को कम-अधिक अंशों में वाणी मिली है। ईश्वर पर आस्था, आत्मोन्नयन के लिए प्रार्थना एवं अन्य साधन तथा सदाचार का पथ सभी धर्मों ने अपनाया। हिन्दू धर्म के अन्तर्गत सर्वोन्नत मानव-मूल्यों का विकास सम्भवतः वैष्णव धर्म में मिलता है। किन्तु वैष्णव धर्म में भी मानवीय व ईश्वर-प्रेम के तत्त्व को केवल आंशिक अभिव्यक्ति मिल सकी है। वैष्णव धर्म की सात्विक शारद चन्द्रिका मन को अन्तःशान्ति प्रदान करती है सही, पर प्रेम को भविष्य में अधिक व्यापक, गहरी तथा पूर्णतर वासन्ती सुनहली अभिव्यक्ति मिल सकेगी ऐसा मेरा विश्वास है। पर यह सांस्कृतिक धरातल पर ही सम्भव हो सकता है जिसमें ईश्वरीय एवं मानवीय प्रेम एक-दूसरे से संयुक्त होकर अविच्छिन्न बहिरन्तर विकास का सोपान बन सकेंगे।

धर्म की धारणा एक व्यापक धारणा रही है जिसके अन्तर्गत आर्थिक, सामाजिक, नैतिक अर्थकाम के मूल्य भी अन्तर्मुक्त रहे हैं, भावी संस्कृति में भी स्वभावतः ये बाह्य मूल्य अन्तर्लीन रहेंगे और इन मूल्यों का विकास भावी मानव-संस्कृति के विकास तथा सयोजन में भी सहायक होगा। मनुष्य का बहिरन्तर विकास अथवा अभ्युदय ही भविष्य का सांस्कृतिक लक्ष्य रहेगा और उस लोकव्यापी संस्कृति में बाह्य आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक मूल्यों के साथ मानव-जीवन के अन्तर्मूल्य अर्थात् नैतिक रागात्मक तथा आध्यात्मिक मूल्य भी पूर्णतः संयोजित रहेंगे। जिससे काम और मोक्ष, ऐहिकता और पारलौकिकता के बीच की खाई पट जायेगी और ईश्वर तथा मानव के बीच एक स्वर्णिम सांस्कृतिक सोपान की स्थापना हो सकेगी।

विज्ञान के आविर्भाव से पहले देश-कालगत जड़ तत्त्व मानवता के विकास-पथ में पर्वताकार दुर्लंघ्य बाधाएँ उपस्थित करता रहा और धर्म मुख्यतः ऊर्ध्व आध्यात्मिक धरातल पर ही वसुधैव कुटुम्बकम् अथवा विश्व-बन्धुत्व, चराचर की एकता तथा लोकमंगल के स्वप्न देखता रहा है। इन उच्च अभीप्साओं एवं मूल्यों को सामाजिक जीवन के धरातल पर मूर्त एवं प्रतिष्ठित करना तब सम्भव नहीं था क्योंकि धर्म एवं अध्यात्म केवल मानव-हृदय की ही ग्रन्थि खोलने में सफल रहे, वे जड़ तत्त्व के निर्मम अवरोध की गाँठ को नहीं सुलझा सके। अतः अन्तर्मुखी अध्यात्म अन्तर्जगत् सम्बन्धी सिद्धियाँ ही प्राप्त कर सका। बहिर्जगत्, जड़-जगत् का निरीक्षण-परीक्षण तथा उस पर आधिपत्य प्राप्त करना विज्ञान के

हिस्से में आया। उसने अणु की मूलगत शक्ति को हस्तगत कर एवं देश-काल को करामलकवत् कर, जड़ के किमाकार अवरोध को मिटाकर उससे मैत्री स्थापित कर ली। और जड़-शक्ति मानव-जीवन की रचना में बाधा उपस्थित करने के बदले अब उसकी सर्वाधिक निर्मायिका तथा विधात्री बन गयी। इस प्रकार जड़ और चेतन जो पिछले युगों की धर्म-साधना के अन्तर्गत दो विच्छिन्न तत्त्व, एक-दूसरे के विरोधी मूल्य बन गये थे, भविष्य में जब ज्ञान-विज्ञान, आध्यात्मिकता-भौतिकता नवीन मानव-संस्कृति में क्रमशः परस्पर पूर्णरूपेण संयोजित हो जायेंगे, तब वे एक-दूसरे के पूरक तथा वागर्थ की तरह अभिन्नरूपेण संपृक्त सत्य के रूप में व्यक्त होकर नवीन मनुष्यत्व के मूल्यों में विकसित हो सकेंगे और धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष भावी सांस्कृतिक पट में गुम्फित और अनिवार्य सुनहले सूत्र बनकर एक-दूसरे को पूर्णता प्रदान कर इस धरती के जीवन में चरितार्थता का अनुभव करेंगे। पिछले युगों के आध्यात्मिक-धार्मिक मूल्यों में चैतन्य शिखर पर किंचित् अभिव्यक्त ईश्वर पहली बार जीवन के स्तर पर इस पृथ्वी पर पूर्णतर विकास-क्रम में प्रकट होकर अधिकाधिक मूर्त तथा साकार हो सकेगा और अधिदर्शनों के निराकार, साकार, निर्गुण-सगुण, परम-सापेक्ष, एक-अनेक, विद्या-अविद्या आदि सम्बन्धी सीमित दृष्टिकोण एक सर्वांगपूर्ण सार्थकता में अपने को समन्वित तथा संयोजित कर पायेंगे।

आज का युग महान् संक्रान्ति का युग है। आज मानव-मूल्यों के प्रति पिछला दृष्टिकोण आमूल परिवर्तित हो रहा है। संस्कृति, सदाचार, नीति, सभ्यता आदि सम्बन्धी प्राचीन धारणाएँ विघटित हो रही हैं। लोक-मन तथा विश्व-जीवन के धरातल पर ह्रास का अन्धकार बढ़ता जा रहा है। नवीन मानव-मंगल की प्रभात-किरणें इस सर्वत्र छाये हुए घने कुहासे से अविराम संघर्ष कर रही हैं। सम्भवतः मानव-मन के शिखरों पर कोई भटकती हुई किरण अपने अजेय साहस के कारण उतर सकी हो और एक नवीन आशा का आर-पार-व्यापी सेतु मानव-मन की अन्तरतम गहराइयों में निर्मित हो रहा हो। ऐसे महान् युगान्तर के समय केवल कुछ युग-प्रबुद्ध क्रान्त-द्रष्टा व्यक्ति ही मानव-जीवन के विकास-क्रम की डोर को पकड़े इतिहास के विक्षुब्ध समुद्र का सन्तरण कर प्रकाश के तीर की ओर बढ़ते प्रतीत होते हैं—अधिकांश मानव-चेतना पथरायी हुई निष्क्रिय पड़ी है—ह्रास का गहराता हुआ अन्धा अन्धकार उसे निगल रहा है और विगत इतिहास का बौना व्यक्ति—नयी सामाजिकता और नयी व्यक्ति-चेतना से अपरिचित—क्षणजीवी, क्षण-भोगी बनकर विघटन और ह्रास का प्रतिनिधित्व कर रहा है। एक ओर यदि पुराणपन्थी धार्मिक कट्टरता नवीन मानवता की प्रतिरोधक बनी है तो दूसरी ओर तथा-कथित आधुनिकतम अस्तित्वचिन्ता, जिसने इतिहास-सिन्धु के उत्थान-पतनों से केवल कुछ सतही हँसमुख फेनराशि का ही संचय किया है—और जिसके पैर वर्तमान के घृणित स्वार्थों के कीचड़ में गहरे डूबे हुए हैं। काल के मंच पर विशेष युगों में सदैव ही ऐसे नाटक होते रहते हैं और विकास की शक्तियाँ ह्रास की आँधियों पर विजयी होती रहती हैं। ज्ञान और विज्ञान धरती के जीवन में बहिरन्तर संयोजन भर नवीन मानवता की

रचना में सफल होंगे और अधिदर्शन का सत्य भविष्य में इतिहास की पीठिका पर अवतरित हो सकेगा—यही उसके लिए निर्धारित धर्म और कर्म है। एवमस्तु !

धर्म और विज्ञान-१

आज के युग में हमारे मन की ऊपरी सतहों पर अज्ञात रूप से यह भावना घर कर गयी है कि धर्म और विज्ञान में कोई मौलिक अन्तर्विरोध है, जैसे दोनों के दृष्टिकोण एक-दूसरे से मेल न खाते हों। पर यह केवल एक सतही भावना या अन्धविश्वास-भर है। गम्भीर दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि धर्म का तत्व भी वैज्ञानिक सत्यों पर ही आधारित है और आज के युग में जब धर्म एक पिछड़ा हुआ, अतीत का जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण माना जाने लगा है और विज्ञान धीरे-धीरे जन-मन में उसका स्थान ग्रहण करने की चेष्टा कर रहा है तब भी विचारकों तथा चिन्तकों के मन में यह धारणा स्पष्ट होती जा रही है कि दोनों दृष्टिकोण वास्तव में एक ही जीवनसत्य को वाणी देने का प्रयत्न कर रहे हैं और दोनों विकासक्रम में एक-दूसरे के निकट आते जा रहे हैं।

यह सत्य है कि प्रारम्भ में विज्ञान ने कुछ ऐसी भ्रान्तियाँ लोगों के मन में उत्पन्न कीं कि उसके अनुसन्धान तथा तथ्य सम्बन्धी निर्णय धार्मिक आदर्शों से एकदम विपरीत दिशा की ओर इंगित करते हैं। उदाहरण के लिए उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में डार्विन के एकांगी विकासवाद के सिद्धान्त ने जगत् की बाहरी परिस्थितियों को इतना अधिक महत्व दिया कि जीवन की चेतना परिस्थितियों के हाथ की खिलौना-सी प्रतीत होने लगी। उनकी 'द ओरिजिन आफ़ स्पिसीज' तथा 'द डिसेन्ट आफ मैन' पुस्तकों ने कुछ दशकों तक पश्चिम की चिन्तनधारा का वातावरण ही बदल दिया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि यह जीवनी शक्ति एक निष्क्रिय, आत्मसंकल्पविहीन तत्व है और विश्वजीवन की परिस्थितियों में बाहरी परिवर्तन लाने तथा उनका यान्त्रिक ढंग से पुनर्निर्माण-भर कर देने से जीवनी शक्ति के क्रियाकलापों तथा सृष्टि के विधान पर विजय पायी जा सकती है तथा अपने इस बहिर्जगत् सम्बन्धी यान्त्रिक नियमों के बोध के आधार पर मनुष्य स्वयं सृष्टिकर्ता ईश्वर का स्थान ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार की उद्भावनाओं के कारण निश्चय ही धार्मिक जगत् के ईश्वर-सम्बन्धी विश्वासों पर गहरा आघात पहुँचा और प्राणिशास्त्रीय विज्ञान की खोजों के आधार पर सृष्टि के विकास-सम्बन्धी नियम ही सृष्टि के नियन्ता भगवान माने जाने लगे। धार्मिक विधि-विधानों तथा ईश्वर-सम्बन्धी धारणा के सम्बन्ध में जनसाधारण की आस्था मिटने लगी एवं अनास्था के युग ने धीरे-धीरे अपने चरण बढ़ाने शुरू किये।

किन्तु डार्विन के विकासवादकी एकांगिता का विरोध स्वयं वैज्ञानिकों के ही मुँह से सुनायी पड़ने लगा और प्रसिद्ध वैज्ञानिक मण्डल ने मेंढक के

हृदय पर प्रयोग कर तथा बिना शरीर के ही उसमें दीर्घकाल तक जीवन स्पन्दन का संचार दिखलाकर यह सिद्ध कर दिया कि जीवनचेतना परिस्थितियों के ही अधीन नहीं है उसके पास अपनी भी स्वतन्त्र संकल्प, शक्ति है. वह परिस्थितियों के प्रभाव के कारण ही आकार-प्रकार नहीं बदला करती बल्कि परिस्थितियों को भी प्रभावित करने तथा बदलने की शक्ति रखती है, जिसका सीधा-सा परिणाम यह निकला कि सृष्टि केवल यान्त्रिक नियमों ही से नहीं चलती, उसके पीछे नियन्ता का एक लक्ष्य तथा गोपन विधान भी है तथा जीवों का जाति-उपजातियों का विकास-क्रम केवल बाह्य परिस्थितियों के दबाव से ही निर्धारित नहीं होता, प्रत्युत उसके भीतर नियन्ता की इच्छा तथा जीवाणु की संकल्प-शक्ति का भी हाथ रहता है। वैसे भी जीवों के आकार-प्रकार, रूप-रंग आदि के सम्बन्ध में भले ही परिस्थितियों का प्रभाव सक्रिय रूप से कार्य करता रहा हो पर जीवों की चेतना का विकास किन सूक्ष्म नियमों से परिचालित हुआ इसके सम्बन्ध में डार्विन तथा उसके बाद के वैज्ञानिक एकदम मूक ही रहे हैं। गीता में कहा है 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:' इस दृष्टि से यदि बन्दर सम्पूर्ण रूप से केवल बन्दर ही था तो वह मनुष्य के रूप में विकसित नहीं हो सकता था। यदि उससे मनुष्य का विकास हुआ है तो वह अन्त:सामर्थ्य की दृष्टि से पूर्णत: बन्दर ही नहीं था, उसके भीतर मनुष्य में विकसित होने की क्षमता पहिले से ही निहित एवं विद्यमान थी। इस क्षमता या चैतन्य तत्व से विज्ञान सदैव से अपरिचित ही रहा है।

किन्तु अब बड़े-बड़े जीवशास्त्रीय वैज्ञानिक तथा विचारक यह मानने लगे हैं कि विभिन्न जीवों की जातियों की जीवनचेष्टाएँ केवल बाहरी यान्त्रिक नियमों के आधार पर ही नहीं समझी जा सकती हैं। जीव-जीवन के निरीक्षण-परीक्षण करते समय उन्हें जिन रहस्यमयी स्थितियों तथा अनबूझ चेष्टाओं एवं क्रियाकलापों का सामना करना पड़ा है उससे वे इस परिणाम पर पहुँचते जा रहे हैं कि जीवन को सम्पूर्ण रूप से समझने के लिए एवं उसका समग्र दृष्टि से अध्ययन करने के लिए अन्तश्चेतना सम्बन्धी धार्मिक निष्कर्षों का भी पुन: निरीक्षण-परीक्षण एवं गम्भीर अध्ययन होना चाहिए तभी जीवन के रहस्यमय सत्य के बारे में व्यापक गम्भीर रूप एवं सम्पूर्ण रूप से सन्तोषप्रद परिणामों पर पहुँचा जा सकता है। अत: केवल बहिर्जगत् के नियमों एवं तथ्यों का विश्लेषण ही जीवनसत्य के समग्र बोध के लिए पर्याप्त नहीं है उसके लिए विज्ञान को अन्तर्जगत् के सत्यों का भी विश्लेषण-संश्लेषण करने की अनिवार्य आवश्यकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्यान्वेषी विज्ञान धीरे-धीरे धर्म के क्षेत्र में भी प्रवेश करने की उत्सुकता प्रकट कर रहा है। और बहुत सम्भव है कि भविष्य में वैज्ञानिक दृष्टि के प्रकाश में मनुष्य की अन्तश्चेतना के सूक्ष्म जगत् का अध्ययन हमें व्यापक मानवीय आदर्शों की स्थापना तथा ईश्वर सम्बन्धी हमारे बोध की नवीन प्रतिष्ठा में अत्यन्त सहायक हो सके, जब कि मानव-सभ्यता तथा संस्कृति का एक अभूतपूर्व सौन्दर्यसम्पन्न, आनन्दवर्धक ज्ञानगरिमा पूर्ण एवं सृजन-ऐश्वर्य प्रभूत नवीन युग का विश्वजीवन में आविर्भाव हो सकेगा।

सम्प्रति, धर्म और विज्ञान के सत्यों तथा दृष्टिकोणों का संयोजन न हो सकने के कारण हम देखते हैं कि संसार में, और विशेषकर मनुष्य के विचारों तथा चिन्तन के जगत् में, एक विचित्र स्थिति पैदा हो गयी है। विज्ञान के आविष्कारों के कारण एक ओर मानवजीवन की परिस्थितियाँ अत्यन्त विकसित तथा समृद्ध हो गयी हैं और उसे जीवन में सब प्रकार की रहन-सहन सम्बन्धी सुख-सुविधाएँ मिलने लगी हैं, किन्तु दूसरी ओर वह इतना आत्मकेन्द्रित तथा भोगलालसा से पीड़ित हो उठा है कि उसके पास जीवन सम्बन्धी कोई उच्च व्यापक दृष्टिकोण तथा विश्वमंगल सम्बन्धी कोई सक्रिय गम्भीर योजना का एकान्त अभाव दिखायी देता है। आज का मनुष्य केवल देह और मन की इकाई रह गया है, उसके हृदय के द्वार बन्द हो गये हैं और उसका आध्यात्मिक एवं चेतनात्मक विकास एकदम अवरुद्ध हो गया है। यही कारण है कि इतिहास के पिछले सभी युगों से आज उसके पास अधिक ज्ञान का भण्डार, आवागमन के साधन, शिक्षा सम्बन्धी प्रचुर उपकरण तथा प्रभूत सम्पत्ति होने पर भी वह आज भीतर से सुखी, स्वस्थ तथा प्रबुद्ध नहीं है न उसके हृदय में शान्ति ही विद्यमान है। इसके विपरीत वह आज अधिकाधिक आत्मविनाश की ओर अग्रसर हो रहा है और ऐसे महाघातक ध्वंसास्त्रों को जन्म दे रहा है जिससे पृथ्वी पर उसका अस्तित्व ही शेष न रह जाये। इसका कारण यह है कि मनुष्य की हृदय-चेतना के अवरुद्ध हो जाने के कारण तथा उसका आध्यात्मिक विकास रुक जाने के कारण वह आज भौतिकता की अन्धी शक्तियों का शिकार बनकर अधिकाधिक बहिर्भ्रान्त होता जा रहा है और अपने संकटग्रस्त वर्तमान की सीमाओं को न लाँघ सकने के कारण मानव-भविष्य की सांगोपांग उन्नति तथा लोकमंगल के बारे में गम्भीर रूप से सोचने की सामर्थ्य खो बैठा है। विज्ञान ने उसके बाहरी परिस्थितियों के जीवन में क्रान्ति पैदा कर दी है पर अन्तःस्थित मनुष्य-चैतन्य का उस अनुपात में विकास न हो सकने के कारण विज्ञान का वरदान आज उसके लिए अभिशाप बनने जा रहा है। व्यापक ऊर्ध्व मनोदृष्टि के अभाव में आज विश्वजीवन घोर विरोधी विचारधाराओं तथा शक्ति-शिविरों में बँटा हुआ है। आज की संकट की स्थिति में सन्तुलन स्थापित करने के लिए आज के तथाकथित बौद्धिक को फिर से मानवी मूल्यों तथा हृदय सम्बन्धी मूल्यों का जीर्णोद्धार कर अपने अन्तःप्रकाश में जीवन को केन्द्रित करना है। उसे फिर से श्रद्धा, आस्था, निष्ठा की सूक्ष्म शक्तियों की सहायता से उच्च से उच्च तथा व्यापक से व्यापक आध्यात्मिक सांस्कृतिक आदर्शों की मानव-जीवन में प्रतिष्ठा करनी है, जो आज तक धर्म का क्षेत्र रहा है। अपने इसी अन्तःप्रकाश के स्पर्श से वह आज के ध्वंसात्मक विज्ञान को रचनात्मक जीवनमंगल की ओर अग्रसर कर सकता है। विज्ञान के स्पर्श से धर्म लोकव्यापक और अन्ध रूढ़ि रीति तथा जीर्ण विधान से मुक्त बन सकेगा और विज्ञान धर्म का अमृत पान कर इसी क्षणभंगुर जगत् में मानव-आत्मा के अमरत्व की स्थापना कर सकेगा, अन्यथा भस्मासुर की तरह वह अपनी वरदायिनी अजेय शक्ति से स्वयं ही भस्म हो जायेगा।

धर्म और विज्ञान-२

धर्म और विज्ञान में मुझे कोई अन्तर्विरोध नहीं प्रतीत होता। मेरे विचार में, जिस थोड़ी-बहुत विरोध की भावना का, इन दोनों के बीच, इस युग में बाहरी दृष्टि से आभास मिलता है वह केवल वर्तमान युग की संघर्षशील अविकसित परिस्थितियों के कारण है। धर्म की मूल भावना अथवा मूल सत्य व्यक्ति तथा सामूहिक कल्याण ही रहा है और विज्ञान का सदुपयोग भी हम इसी उद्देश्य के लिए सम्पूर्णतः कर सकते हैं। धर्म-तत्त्व की उपलब्धि के लिए जिस नियम-विधान की परिकल्पना की गयी है वह उसकी सिद्धि में सहायक होने के बदले कालान्तर में धर्म-प्राप्ति में बाधा ही उपस्थित करता है। इसी सिद्धान्तवादिता तथा विधि-नियम-वादिता के कारण धर्म अपने मूलगत अभिप्राय से च्युत होकर मानव-एकता तथा लोक-कल्याण की स्थापना करने के बदले पारस्परिक मतभेद, संघर्ष तथा साम्प्रदायिक युद्धों को जन्म देने लगता है। वैसे जिसे हम वैज्ञानिक दृष्टि कहते हैं वह धर्म के पास भी है और धार्मिक मतवादों के छिलकों के भीतर यदि धर्म-तत्त्व को देखने का प्रयास किया जाये तो उसमें भी वैज्ञानिक सत्य मिलेगा। किन्तु दुर्भाग्यवश धर्म की पीठ पर कर्मकाण्ड, विधि-विधान, साम्प्रदायिक मतों तथा सिद्धान्तों का ऐसा आकाशचुम्बी अम्बार खड़ा कर दिया गया है कि उनके भीतर पैठकर धर्म के तत्त्व को समझ पाना जनसाधारण के लिए ही नहीं, पण्डितों के लिए भी असम्भव नहीं तो अत्यन्त दुष्कर हो गया है। इसलिए मैं अब धर्मों का जीर्णोद्धार करना सम्भव नहीं समझता और धर्म का स्थान संस्कृति को देने में विश्वास करता हूँ। धर्म आस्था तथा श्रद्धा-प्राण है तो विज्ञान बुद्धि तथा तर्क-प्राण। अन्ध आस्था अथवा श्रद्धा से विवेक बुद्धि से आलोकित आस्था श्रद्धा अधिक उपयोगी तथा मूल्यवान है। अतः धर्म तथा विज्ञान को परस्पर एक-दूसरे के निकट लाने के लिए हमें दोनों के क्षेत्रों पर विचार कर उन्हें एक-दूसरे का पूरक बनाने का विवेकसम्मत प्रयत्न करना पड़ेगा।

धर्म का क्षेत्र मनुष्य के अन्तर्जीवन का सत्य है और विज्ञान का क्षेत्र हमारे बाह्य-जीवन का तथ्य। धर्म आदर्शोन्मुखी होने के कारण गुणात्मक उन्नयन पर बल देता है और विज्ञान मुख्यतः यथार्थोन्मुखी होने के कारण राशिवाचक विकास एवं उन्नति को अधिक महत्त्व देता है। दूसरे शब्दों में यदि धर्म की पीठिका आत्मा की भूख है तो विज्ञान की पीठिका देह-मन की भूख। एक ऊर्ध्व संचरण की सिद्धि है तो दूसरा समतल जीवन संचरण का विकास या प्रसार। विचार की दृष्टि से देखा जाय तो आदर्श और यथार्थ में कोई तात्त्विक विरोध नहीं है, बल्कि वे एक-दूसरे के पूरक ही सिद्ध होते हैं। मानव-जीवन का सत्य इतना निगूढ तथा बहुमुखी है कि उसका सर्वांगीण मूल्यांकन करने के लिए हमारे लिए केवल उसके बहुरूप व्यापक प्रसार का ही निरीक्षण-परीक्षण करना पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत उसकी गहराइयों में उतरकर उसके गम्भीर प्रयोजन को समझना भी आवश्यक है। जिसे दर्शन में एक-बहु कहते हैं, या उप-

निषदों में विद्या-अविद्या कहते हैं या आज के युग में जिसे आध्यात्मिकता तथा भौतिकता कहते हैं इन विभाजनों को परस्पर-विरोधी या ध्वंसक न मानकर यदि हम उन पर व्यापक दृष्टि से विचार करें तो हम उन्हें एक-दूसरे के सहायक, समर्थक तथा पूरक ही पायेंगे। इस दृष्टि से यदि हम विज्ञान तथा धर्म के सत्य की विवेचना करेंगे तो हम उनमें एक मौलिक अन्तर्जात सामंजस्य पायेंगे। इस सर्वांगीण दृष्टि के लिए हमें ईशोपनिषद् में भी संकेत मिलता है जहाँ हमें 'अन्धंतमः प्रविशंति ये विद्यामुपासते' तथा विद्यांचाविद्यांच यस्तद्वेदोभयं सह' आदि जैसे ऋषि-वचन मिलते हैं। यह विद्या तथा अविद्या एक बहुवाची, आदर्श-यथार्थमुखी, आध्यात्मिक भौतिक तत्त्वों के ही संचरण हैं जिनको अभेद-भाव से देखने का ऋषि आदेश देता है, जिससे मानव-समाज अविद्या के विश्लेषणबोध से बहुरूप भंगुरता में व्याप्त मृत्यु के सागर को तर सके और विद्या के संश्लेषणबोध से अमृतत्व का पान कर सके। उपनिषदों की सहज बोध की भूमि से उतरकर जब हम दार्शनिक विश्लेषण द्वारा सत्य के अस्थि-पंजर का निरीक्षण-परीक्षण करने में खो जाते हैं तब हमें इह-पर, जड़-चेतन सापेक्ष-निरपेक्ष, शाश्वत-क्षणभंगुर आदि अनेक जैसे परस्पर-विरोधी द्वन्द्वों का सामना करना पडता है और इस युग के अध्यात्म तथा भौतिकता की भावना के समान उनमें भी अनेक प्रकार के कभी न मिल सकनेवाले परस्पर अन्तर्विरोधी किमाकार अर्धसत्यों के हौवे देखने को मिलते हैं, जिनकी कुरूप विषमताओं के पाश में फँसकर हम अन्तर्दृष्टि के अभाव के कारण कभी न छँटनेवाले नैराश्य तथा विषाद के धूम से घिर जाते है।

धर्म की ऊर्ध्वरीढ़ अध्यात्म है। जिस प्रकार मनुष्य अपनी रीढ़ के बल पर खडा है उसी प्रकार धर्म भी अपनी आध्यात्मिक अनुभूतिजन्य तात्त्विक सत्य के आलोक के बल पर ही जीवित रहता है। उस आध्यात्मिक दृष्टि की प्राप्ति में सहायता के लिए बाहर से थोपा हुआ विविध कर्मकाण्ड तथा विधि-विधान केवल धर्म की काया को आकार-प्रकार देनेवाले जड़ अस्थिपंजर के समान है जिसकी उपादेयता देश-काल सापेक्ष होती है। इससे पहले कि धर्म और विज्ञान में सामंजस्य स्थापित करना सम्भव हो सके, हमें धर्म को उसके बाहरी विधि-विधान के घने अँधेरे जंगल से बाहर निकालकर, उसके सत्य को आत्मा के प्रकाश में युग के अनुरूप सँवारकर, विश्व-मानवता के लिए नवीन आध्यात्मिक संजीवन में निखारना होगा, जिसके अमृत तत्त्व का पान कर मानव हृदय तथा मन अन्तश्चैतन्य के आलोक से प्रकाशित हो उठें। पिछले धार्मिक मतों के चेहरे लगाकर जो मनुष्य आज सामने आता है वह केवल अतीतोन्मुखी मानव प्रेत है, जो पूर्व कर्म-संचय के अन्धकार में भटक रहा है और जो भविष्य की दृष्टि से वंचित है। ऐसा धर्मान्ध एवं युगान्ध मनुष्य विज्ञान की प्रगति का विरोधी बनकर मानव-जीवन के बहिरन्तर के सामंजस्य को खण्डित करनेवाला एक प्रतिक्रियावादी मनोयन्त्र-भर बन गया है। वैज्ञानिक युग के वैभव से चकाचौंध, भौतिक उन्नति के शक्तिपात को सहन कर सकने में असमर्थ, विगत नैतिक वैयक्तिक, सामाजिक आदर्शों के अन्ध तन्तुओं के जाल मे मकड़ी की तरह उलझा हुआ—क्षुद्र, घिनौना,

अतीत की अहमिका का प्रतिनिधि, युग जीवन विकास के प्रति अप्रबुद्ध, कुरूप, बौना, सशंकित, कुण्ठित, भयग्रस्त, अहंतावादी, भोगी आज का व्यक्ति मानव-भावी के निर्माण में हाथ बँटाने के लिए अपने को अयोग्य पाकर, अस्तित्ववादी स्नायविक उत्तेजना से जीवन-मृत होकर, विश्व-विध्वंसक अणुयुद्ध के आवाहन के लिए मदान्ध यज्ञ कर रहा है—क्योंकि उसकी विकृत बौनी, व्यक्तिनिष्ठ मनुष्य-जीवन की सार्थकता उसे अब और आगे नहीं दिखायी देती है। यदि उसका आसुरी यज्ञ सफल भी हुआ तो वह मनुष्य के भीतर के इसी स्वार्थान्ध, अतीत सीमित, रुद्ध-क्रुद्ध व्यक्ति को समाप्त करने में समर्थ होगा और मनुष्यता के विकास का, विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय का पथ उससे और प्रशस्त तथा विकसित हो सकेगा।

वास्तव में आज के इस वैज्ञानिक युग में—यदि इसे वैज्ञानिक युग कहा जाय तो—और अच्छा हो यदि हम इसे केवल भौतिक युग ही कहें तो—इस भौतिक युग में मानव-जीवन की बाह्य-परिस्थितियों का एकांगी विकास ही सम्पन्न हो सकता है। मानवचेतना के भौतिक, कायिक, मानसिक स्तर इस युग में जिस अनुपात में विकसित तथा समुन्नत हो सके हैं उसी अनुपात में मनुष्य की अन्तश्चेतना का विकास अथवा उन्नयन नहीं हो सका है। मनुष्य का अन्तःस्थित चैतन्य, उसका अन्तर्जीवी मानव—जिस हृदय में मानव ईश्वर निवास करते हैं, वह हृदय तत्त्व इस युग में उपेक्षित ही पड़ा हुआ है। वह अन्तःसक्रिय होकर, युग के अनुरूप उद्बुद्ध, जाग्रत् तथा चेतन होकर, विश्व के सामने प्रकट होकर अपना अक्षय भीतरी प्रकाश नहीं बखेर पा रहा है। वह अभी अतीत के आदर्शों, विश्वासों, धार्मिक आदेशों तथा अनुशासनों के ही निर्जीव घने कुहासों में घिरा हुआ नवीन आलोक में आरूढ़ नहीं हो पा रहा है। अपनी प्राचीन सीमाओं तथा मध्ययुगीन विकृतियों से संशयग्रस्त वह नवीन चैतन्य के मुख को तथा बाह्य-जीवन की व्यापक पृष्ठभूमि को पहचानने में असमर्थ होकर उदीयमान विश्व-मानव को उसके व्यापक विकास के सन्दर्भ में ठीक-ठीक आँक नहीं पा रहा है। जिस युग में विज्ञान ने देश-काल को हस्तामलकवत् कर धरा-जीवनविधायक मनुष्य के चरणों पर अर्पित कर दिया है, जिस युग में एकदेशीयता, एकजातीयता के कालबद्ध पाशों से मुक्त होकर मानव-जीवन, संस्कृति, तथा मानव-चेतना नवीन विश्वव्यापी निर्माण के पथ पर अग्रसर हो रही है, जिस युग में मनुष्य अपने को, अपने मनुष्यत्व तथा चैतन्य को एक नवीन मूल्य देने के लिए बाहरी वस्तु-सत्य के सिन्धु का ही मन्थन नहीं कर रहा है प्रत्युत अपनी अन्तश्चेतना के सूक्ष्म रुपहले सोपानों तथा स्वर्णरश्मिमण्डित शिखरों पर भी नवीन साहस, नवीन आस्था तथा विश्वास के साथ अश्रान्त आरोहण करने का प्रयास कर रहा है उस विज्ञान की विश्वव्यापी विजय के युग में निःसन्देह मनुष्य-चेतना को अपने पिछले युगों के बौनेपन को अतिक्रम कर एक नवीन विश्व-मानव के रूप में, लोक-मानव के रूप में अपनी आन्तरिक एकता तथा बाह्य-जीवन समत्व की स्थापना के लिए निरन्तर विज्ञान और अध्यात्म में, धर्म और लोक-कर्म में, स्वर्ग और पृथ्वी में अविच्छेद्य, अविभाज्य सामंजस्य की स्थापना करनी ही होगी, जिससे मनुष्य की सृजन-

शील आत्मा का धर्म नवीन सौन्दर्य, आनन्द, शान्ति की रचना करने में चरितार्थ हो सके । एवमस्तु !

जीवन की सार्थकता

जीवन मेरी दृष्टि में एक अविजेय एवं अपरिमेय सत्य तथा शक्ति है—देह, मन और प्राण जिसके अंग एवं उपादान हैं, आत्मा जिसकी आधारशिला अथवा आधारभूत तत्व है और ज्ञान-विज्ञान जिसकी अन्तर्मुखी-बहिर्मुखी नियामक गतियाँ हैं । प्रस्तुत वार्ता या निबन्ध में हम जीवन तथा विज्ञान के पारस्परिक सम्बन्ध पर बातें कर रहे हैं । विज्ञान जीवन ही की एक ज्योति अथवा शक्ति है अतएव जीवन ही का एक अंग एवं अंश होने से, वह जीवन का आमूल अथवा तत्वत: परिवर्तन नहीं कर सकता, हाँ, उसके विकास में अवश्य सहायक हो सकता है । आज के युग में हम विज्ञान को जिस प्रकार सर्वज्ञ अथवा सर्वशक्तिसम्पन्न मानने लगे हैं, यह धारणा निश्चय ही भ्रान्त तथा भ्रामक है । विज्ञान पर इस अति आस्था के दुष्परिणाम हमें प्रतिदिन देखने को मिल रहे हैं । वास्तव में हम यहाँ जब जीवन पर विचार कर रहे हैं तो हम मानव-जीवन पर विचार कर रहे हैं । और उसी के सम्बन्ध में विज्ञान की चर्चा करना संगत होगा । वैसे मानव-जीवन से नीचे तथा ऊपर भी जीवन के अनेक स्थूल सूक्ष्म धरातल तथा स्तर हैं जहाँ भी ज्ञान-विज्ञान की अनेक प्रच्छन्न सूक्ष्म रक्तवाहिनी सुनहली शिराएँ फैली हुई हैं ।

वास्तव में मानव-जीवन की सार्थकता इसमें है कि वह ज्ञान और विज्ञान में सन्तुलन स्थापित कर उन्हें जीवन के विकास में यथोचित रूप से संयोजित कर सके । यदि हम मानव-जीवन के इतिहास पर दृष्टि डालें तो हम देखेंगे कि विज्ञान के—जिसका तात्पर्य यहाँ मुख्यत: भौतिक विज्ञान से है—उदय होने से पहिले मानव-सभ्यता सामन्तयुगीन सीमाओं के अन्तर्गत एक सन्तुलन स्थापित कर चुकी थी और वह सन्तुलन, व्यापक दृष्टि से अपर्याप्त एवं अपूर्ण होने पर भी, अपने सीमित अर्थ में अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा वैभवसम्पन्न रहा है । उस सन्तुलन ने अपने मस्तक पर मुकुट धारण कर बड़े-बड़े राज्यों की स्थापना की थी—उसने एक मूल्यवान जीवन-दर्शन को जन्म दिया था तथा अनेक नैतिक, चारित्रिक, व्यावहारिक सिद्धान्तों की रचना करके एक सामाजिकता तथा संस्कृति को जन्म दिया था, जिसे हम, उसके अनेक रूपों के वैचित्र्य को स्वीकार करते हुए, अब पुरानी दुनिया की व्यवस्था, पुरानी दुनिया की सभ्यता अथवा संस्कृति कह सकते हैं—जिस दुनिया का चरम विकास उसकी विशद धर्मप्राण मनुष्यता एवं ईश्वर पर आस्था में हुआ था । इस पुरानी दुनिया में ऐसे ऋषि, महर्षि अथवा विचारक तथा तत्वद्रष्टा हुए जिन्होंने मानव-जीवन तथा मन के सागरों का मन्थन कर अनेक अमूल्य, शाश्वत प्रकाश तथा उपयोग के मूल्यों तथा रत्नों का अनुसन्धान किया और मानव-देह तथा मन की जड़ता एवं सीमा को अतिक्रम कर जीवन को

स्वर्गचुम्बी व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित किया और मनुष्यत्व को अन्तश्चैतन्य के अमर आलोक से मण्डित कर उसे सार्वभौम व्यक्तित्व प्रदान किया। किन्तु यह सब होते हुए भी पुरानी दुनिया की अपनी अनेक दुर्निवार सीमाएँ रही है। और मानवता के रथ को सार्वलौकिक प्रगति एवं कल्याणपथ की ओर अग्रसर कराने के लिए प्रबुद्ध मनुष्यों के मन में निरन्तर ऊहापोह तथा संघर्ष चलता रहा है।

प्राचीन काल में मानव अपने आदर्शों के स्वर्ग को केवल प्रबुद्धमन तथा विकसित भावना के ही धरातल पर प्रतिष्ठित करने में समर्थ हो सका। यदि मनुष्य अपनी व्यक्तिगत अहंता से मुक्त होकर अपनी भावना को 'सर्वभूतेषु चात्मानम्' के व्यापक मनोमय क्षितिज तक व्याप्त अथवा प्रसारित कर सका तो वह उस युग के लिए मानव-जीवन की अन्तिम चरितार्थता अथवा सार्थकता या पराकाष्ठा समझी जाती थी। पर केवल मन या भाव के स्तर पर मानव-एकता या जीव-समता का अनुभव करना अन्तश्चेतना से अनुप्राणित प्राणी या मनुष्य के लिए पर्याप्त नहीं था। वह उस मानवीय तादात्म्य को सामाजिकता के ठोस धरातल पर भी मूर्तिमान करना चाहता था। और उसके भीतर के इसी अविराम द्वन्द्व तथा संघर्ष ने उसके द्वारा भौतिक विज्ञान को जन्म दिया। मनुष्य ने अपनी भौतिक सीमाओं की जड़ता पर विजय पाने के लिए जड़जगत के विन्यास का निरीक्षण-परीक्षण तथा विश्लेषण करना प्रारम्भ किया और जड़ अणुओं के विधान तथा संघटन में वाष्प, विद्युत्, रश्मि तथा मूलभूत आणविक शक्ति का अन्वेषण कर उसे अपने नवीन जीवन-निर्माण के लिए उपयोग में लाने के प्रयोग किये। प्रकृति की शक्तियों पर आधिपत्य प्राप्त करने के उसके प्रयत्न तब से अविराम रूप से चल रहे है। आज जो मानव-जीवन की परिस्थितियां पुनः सक्रिय हो उठी है और दिन पर दिन विकसित होती जा रही है, यह विज्ञान ही के कारण सम्भव हो सका है। मानव सभ्यता की एक सबसे महत्त्वपूर्ण घटना इस युग मे औद्योगिक क्रान्ति रही, जिससे मनुष्य अपने जीवनोपाय एवं उत्पादन यन्त्रों की आशातीत उन्नति तथा अभिवृद्धि कर अपने रहन-सहन की जीवन-प्रणाली में मनोनुकूल रूपान्तर घटित कर सका है। देश और काल की दुर्लंघ्य सीमाओं पर अपने क्षिप्र गतिशील यानों द्वारा विजय पा लेने के कारण इस युग में पृथ्वी के अनेक देशान्तरों के लोग दिन-रात एक दूसरे के घनिष्ट सम्पर्क में आने लगे है। विभिन्न संस्कृतियों, जीवन-दर्शनों तथा जीवन-प्रणालियों के तुलनात्मक अध्ययन तथा परस्पर के आदान-प्रदान के कारण मानवता के पिछले युगों के धार्मिक-नैतिक परम्पराओं के व्यवधान अब टूटने लगे है और ऐसा सम्भव दीखता है कि समस्त मानव-जाति देश-राष्ट्रगत विभाजनों से मुक्त होकर निकट भविष्य में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की पर्यायवाची एक विराट् मानव-संस्कृति तथा विश्व-सभ्यता पृथ्वी पर स्थापित कर सकेगी और जिस मानव एकता तथा समानता का स्वप्न मनुष्य प्राचीनकाल से देखता आया है उसे अब सामाजिक जीवनतन्त्र के रूप मे धरती पर मूर्त करना सम्भव हो सकेगा। यह निश्चय ही संसार के प्रबुद्ध मानसों का मानव भविष्य सम्बन्धी स्वर्णिम स्वप्न है, किन्तु संसार की वर्तमान स्थिति इस सम्भावना के पथ में सबसे बड़ी बाधक बनी हुई है।

इसका कारण यह है कि वैज्ञानिक युग के नवोत्थान के समय विज्ञान की शक्ति सर्वप्रथम जिन राष्ट्रों के हाथ आयी है वे उससे शक्तिमत्त हो गये हैं और विज्ञान को रचनात्मक बनाने के बदले उसे लोकसंहारक बनाने में तुले हुए हैं। वास्तव में बाहरी परिस्थितियों के विकास के साथ ही भीतरी मानव अथवा मानस के उसी अनुपात में प्रबुद्ध एवं विकसित न हो सकने के कारण आज विज्ञान द्वारा अर्जित सम्पत्ति को धरती के ओरछोर तक वितरित करने के बदले मनुष्य अपने व्यक्तिगत उपभोग तथा स्वार्थसिद्धि के लिए संचित करने लगा है और उसके भीतर का सामन्तयुगीन बौना मनुष्य उस शक्ति के बल पर मानव-जाति की प्रगति के पथ पर दुर्लंघ्य पर्वताकार दानव की तरह खड़ा होकर उसे रोकने की चेष्टा कर रहा है। इस प्रकार आज विज्ञान का अमृत मानव-जाति के लिए मद तथा विष बन गया है। और बड़े-बड़े शक्तिशाली राष्ट्र आज आपस की स्पर्धा के कारण लोकनियति का निर्माण करने के बदले भयानक विश्वसंहारक अणुअस्त्रों का निर्माण करने में संलग्न हैं। यह संकट आज संसार में विज्ञान की एकांगी उपासना के कारण ही उपस्थित हुआ है। किन्तु जैसा मैं प्रारम्भ में कह चुका हूँ जीवनशक्ति अमेय तथा अजेय है—वह अघटित-घटना-पटीयसी तथा अलौकिक चैतन्यमयी है। मनुष्य को ज्ञान और विज्ञान को संयोजित कर अपने मन:क्षितिज को व्यापक बनाना ही होगा और इस प्रकार लोकोदय तथा सर्वोदय के लिए विज्ञान की जिस संजीवनी अमृतधारा का उपयोग करना चाहिए उसे वह अपने अन्धस्वार्थ के लिए अपनी मुट्ठी में बन्द नहीं रख सकेगा, क्योंकि तब वह आत्मघातक हलाहल में परिणत हो जायेगी। इसमें सन्देह नहीं कि जीवनी-शक्ति के पास अलौकिक चैतन्य के आलोक से परिपूर्ण महत् हृदय भी है जो उसका पथनिर्देश करता है और उसे भौतिक विज्ञान अथवा अन्त-र्विज्ञान की सिद्धियों के पाश से मुक्त कर निरन्तर महत्तर क्षितिजों की ओर विकसित करता रहेगा, इसी में मानव-जीवन की सार्थकता है।

जीवन के अनुभव और उपलब्धियाँ

हम एक ऐसे महान् युग में पैदा हुए हैं, और इसमें ऐसी महत्वपूर्ण क्रान्तियाँ और परिवर्तन, मानव-जीवन के बाहरी-भीतरी क्षेत्रों में आज उपस्थित हो रहे हैं कि साधारण से साधारण मनुष्य का जीवन भी उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता है। एक युगजीवी की तरह मेरे मन को भी अनेक विचारों तथा अनुभवों ने स्पर्श किया है जो एक प्रकार से स्वाभाविक ही है। वैसे मनुष्य को अपने जीवन में छोटे-मोटे अनेक प्रकार के अनुभव होते रहते हैं और उन अनुभवों की प्रतिक्रियाओं के मूल सदैव मनुष्य के भीतर नहीं होते, अधिकतर बाहर ही होते हैं। अपने युग में हम स्वामी दयानन्द या रामकृष्ण परमहंस और महात्मा गांधी जैसे महापुरुषों के लिए कह सकते हैं कि उनकी अनुभूतियों एवं उपलब्धियों के मूल मुख्यत: उनके भीतर रहे हैं, क्योंकि वे एक विशेष मन:स्थिति लेकर पैदा हुए थे, और

मानव-जीवन तथा लोकजीवन या विश्व-जीवन सम्बन्धी प्रतिक्रियाएँ उनके मन में, उनकी विशेष प्रकार की अन्त:स्थिति के कारण, जनसाधारण से बिल्कुल ही भिन्न, एक विशेष प्रकार की हुई हैं, उनके जीवन का एक विशेष लक्ष्य रहा है, और उसी की प्रेरणा से उन्होंने मानव-जीवन को एक व्यापक धरातल पर समझने तथा उसे अपने विचारों-अनुभवों तथा क्रियाकलापों से प्रभावित करने का प्रयत्न किया है। किन्तु अधिकांश मनुष्यों के लिए यह कहा जा सकता है कि वे मुख्यत: बाहर के ही जगत् की छोटी-बड़ी घटनाओं से किसी न किसी रूप में प्रभावित होते है और उन्हीं की प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप अपने अनुभवों के कोष की वृद्धि करते हैं। इन दोनों कोटियों के बीच में कुछ ऐसे भी भावप्रवण तथा संवेदनशील व्यक्ति होते है जिनका अपना विशिष्ट अनुभवों का संचय होता है और जिन्हें अपने युग की जीवन-चेतना अधिक गम्भीर अर्थों में स्पर्श करती है।

इस दृष्टि से जब मैं, अपने जीवन के बारे में सोचता हूँ तो मुझे लगता है कि मैंने अपने को अनुभवों की सीमाओं में नहीं बँधने दिया है और अपने स्वभाव तथा परिस्थितियों का समान रूप से अध्ययन कर अपने हृदय को उनकी प्रतिक्रियाओं से मुक्त रखने का प्रयत्न किया है और उसे सदैव नवीन के प्रति जागरूक तथा सचेष्ट रखा है। आज का युग परिस्थितियों की चेतना को जितना अधिक महत्त्व देता है मेरे मन ने उसे कभी स्वीकार नहीं किया और सीमित तथा विरोधी परिस्थितियों में भी मै आगे बढ़ने के लिए निरन्तर प्रेरणा ग्रहण करता रहा हूँ। परिस्थितियों को ही सबकुछ मान लेने पर मन निष्क्रिय हो जाता है और उसकी स्वतन्त्र संकल्प करने की शक्ति को धक्का लगता है। आज गुणात्मक तथा व्यक्तिपरक मान्यताओं की उपेक्षा कर जो एक यान्त्रिक सामूहिक जीवन संचरण को इतनी प्रधानता दी जा रही है, उसका मुख्य कारण परिस्थितियों के सत्य को अधिक महत्त्व देना ही है। आज मनुष्य के भीतर ह्रास और विकास—दोनों प्रकार की शक्तियाँ कार्य कर रही है। ह्रासोन्मुखी मानव-चेतना की विकीर्ण शक्तियों को संयमित करने के लिए समूहीकरण की योजना की आवश्यकता अनिवार्य होनेपर भी उसे सर्वाधिक महत्त्व देकर, यान्त्रिकता के स्तर पर परिचालित करना मानव-विकास के लिए उतना ही घातक भी है; क्योंकि उससे मनुष्यत्व के विशेषीकरण के गुणात्मक संचरण को क्षति पहुँचती है और जिस व्यापक भूमिका में मानवचेतना पदार्पण करने जा रही है उसके लिए उसका गुणात्मक विकास अत्यन्त आवश्यक है। आज के विश्व-जीवन में मुख्य विरोध तथा असन्तोष का कारण यही विशेषीकरण तथा समाजीकरण के संचरणों का असन्तुलन है। आज ह्रास और अभ्युदय की शक्तियों को हमें इसी नवीन परिप्रेक्ष्य में समझकर उनका पुनर्मूल्यांकन करना है। इसी अन्तर्दृष्टि से आज हम आर्थिक-राजनीतिक आन्दोलनों के उत्पीड़न तथा आधुनिक सुधारवादी धार्मिक-नैतिक आन्दोलनों की संकीर्णताओं से मानवता की रक्षा कर सकते है।

यह विश्वास मेरे मन में दिन पर दिन दृढ़ होता जा रहा है कि विज्ञान केवल मनुष्य के बाह्य जीवन के ढाँचे का ही निर्माण कर सकता

है। नवीन मानवता क्या है, उसके क्या उपादान हों, इसका निर्णय विज्ञान नहीं कर सकता, उसके लिए हमें अन्यत्र अनुसन्धान करना होगा। विज्ञान अधिक से अधिक हमारी बौद्धिक प्रक्रियाओं को तीव्र बना सकता है। हृदय के क्षेत्र से वह अनभिज्ञ है, वह मानव-हृदय की रचना या संस्कार नहीं कर सकता। वह देश पर विजय प्राप्त कर सकता है, पर काल को हस्तगत नहीं कर सकता। काल की सम्पदा को दुहने के लिए, काल के विकासशील अन्तर में प्रवेश करने के लिए हमे दूसरे साधनों का अवलम्ब ग्रहण करना होगा। इस प्रकार हम देखते है कि मनुष्यत्व के संस्कार का प्रश्न इस युग में अछूता ही रह गया है। विज्ञान ने हमारे भौतिक परिवेश तथा रहन-सहन की परिस्थितियों में रूपान्तर उपस्थित कर उनका परिष्कार किया है पर वह मनुष्य के अन्तस्तल में प्रवेश कर तथा उसके भीतर के हिंस्र बर्बर पशु का उन्नयन कर उसे अधिक संस्कृत, उदात्त या सुन्दर नहीं बना सका है। बल्कि इस वैज्ञानिक युग में मनुष्यत्व के ह्रास ही के चिह्न दृष्टिगोचर हो रहे हैं। मनुष्य के अन्त:सत्य का बोध प्राप्त करने के लिए तथा उसे वैयक्तिक-सामूहिक रूप मे विश्वजीवन में मूर्त एवं प्रतिष्ठित करने के लिए हमें समदिक्-दृष्टि विज्ञान के साथ ही अन्य ऊर्ध्वचेतन, सांस्कृतिक अनुष्ठानों तथा उपायों की भी आवश्यकता पड़ेगी। आज विगत ऐतिहासिक युगों की खण्ड मानव-चेतनाओं तथा संस्कृतियों को व्यापक मानवता के रूप में संयोजित करने के लिए हमें मानव मन की गहराइयों में नवीन आध्यात्मिक प्रकाश डालकर मानव-प्रवृत्तियों का पुनर्मूल्यांकन करना होगा और विगत युगों की खर्व, बौनी मनुष्यता को अधिक व्यापक, उन्नत भूमिका में पदार्पण करवाना होगा—अन्यथा हम वैज्ञानिक सुविधाओं एवं साधनों का उपयोग विकसित मनुष्यत्व का निर्माण तथा लोक-कल्याण के लिए करने के बदले लोकसंहार तथा सभ्यता के विध्वंस के लिए ही करेंगे, जिसकी इस युग में, तथाकथित वैज्ञानिक चेतना के प्रतिनिधि, बड़े-बड़े राष्ट्र आज शीतयुद्ध तथा आणविक विस्फोटों के परीक्षणों द्वारा तैयारी कर रहे हैं।

आज का मनुष्य चक्की के दो निर्मम पाटों के बीच पिस रहा है। उसके बाह्य जीवन की परिस्थितियाँ भौतिक विज्ञान की उपलब्धियों के कारण इतनी अधिक सक्रिय हो गयी हैं कि वह उन्हें सँभाल नहीं पा रहा है और अपनी नयी भौतिक शक्ति के मद मे उन्मत्त होकर भीषण आत्मविनाश की ओर अग्रसर हो रहा है। आज का युग जैसे एक भयानक असन्तोष तथा विद्रोह के भूकम्प के ऊपर खड़ा है और किसी भी दिन वह अपना सन्तुलन खोकर अन्धकार के गहरे गर्त में गिर सकता है। यह अन्धकार का गर्त बाहर से भी अधिक उसके भीतर की ओर बढ़ रहा है। अपने उच्च स्तर पर आज मानव-चेतना पिछले युगों की मान्यताओं तथा रूढ़ि-रीतियों के पाश में बँधी हुई, निष्क्रिय तथा पंगु होकर अपने सूनेपन के औदास्य में खो गयी है। मनुष्य के भीतर युगों से प्रेतों की तरह खड़ी जाति-पाँतियों, धर्मों, सम्प्रदायों, आचारों तथा नैतिक दृष्टिकोण की अन्ध दीवारें आज जैसे संक्रान्ति-काल के अन्धकार में सशंकित एवं पुनर्जीवित हो एक-दूसरे से टकराकर विश्व-मानवता की प्रगति मे बाधक सिद्ध हो रही हैं। विज्ञान ने बाहर की परिस्थितियों पर प्रकाश डालकर

तथा उनका पुनर्निर्माण कर उन्हें सँवार अवश्य दिया है किन्तु मानव-मन की भीतरी परिस्थितियाँ अभी अपने को तदनुरूप नवीन आध्यात्मिक प्रकाश में नहीं सँजो सकी है। उन्हें अपनी सीमाओं को पहचान कर अपने को अधिक व्यापक बनाना है जिससे वे मानवता की नवीन चेतना का गौरव वहन करने के योग्य बन सकें।

अपने अनेक अनुभवों से मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि इस युग में मानव-प्रवृत्तियों तथा जीवन-मान्यताओं का पुनर्मूल्यांकन करना आवश्यक है। मनुष्य की पिछली मान्यताएँ आज उसके विकास के पथ को प्रशस्त बनाने के बदले दुर्लंघ्य अवरोध बनकर, उसकी प्रगति को रोके हुए हैं। विभिन्न धार्मिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोणों को अतिक्रम कर आज मानव-चेतना को एक नवीन जीवन-भूमि मे पदार्पण करना है जिसके बिना विगत दृष्टिकोणों मे सामंजस्य स्थापित करना सम्भव नहीं है। अपने वर्तमान व्यक्तिगत, वर्ग तथा राष्ट्रगत स्वार्थों में विभक्त मानव-चेतना विज्ञान की उपलब्धियों का भी यथोचित उपयोग नहीं कर सकती और ज्ञान, विज्ञान, अर्थ, यन्त्र आदि सम्बन्धी सभी प्रकार की उन्नति के होते हुए भी, मनुष्य अपनी वर्तमान मानसिक सीमाओं के रहते हुए, इस पृथ्वी पर शान्ति, जीवन-सौन्दर्य तथा लोकमंगल के स्वर्ग को प्रतिष्ठित नहीं कर सकता, जिसके लिए आज युद्ध के बदले एक व्यापक सशक्त विश्वव्यापी सांस्कृतिक आन्दोलन की आवश्यकता है, जो मनुष्य के भीतर-बाहर के जीवन में नवीन संयोजन स्थापित कर सकेगा।

सन्तुलन का प्रश्न

विचारकों की दृष्टि में हमारा युग एक महान् परिवर्तन तथा संक्रमण का युग है, जिसमें, न्यूनाधिक मात्रा में, संघर्षों तथा संकटों का आना अनिवार्य है। ऐसे सन्धिकाल में यदि हमारे चिन्तकों का ध्यान मौलिक मानव-मूल्यों की ओर आकर्षित हो रहा है तो यह स्वाभाविक ही है। प्रस्तुत प्रश्न के अन्तर्गत, पिछले अनेक वर्षों के साहित्य के सम्बन्ध मे, इस समस्या का दिग्दर्शन पूर्ववर्ती विद्वान् लेखक विस्तारपूर्वक करा चुके है; मुझे संक्षेप में केवल उपसंहार-भर लिख देना है।

मानव-मूल्यों की दृष्टि से जिन दो प्रमुख विचारधाराओं ने इस युग के साहित्य को आन्दोलित किया है, वे है मार्क्सवाद तथा फ्रायडवाद। व्यापक दृष्टि से विचार करने पर ये दोनों विचारधाराएँ मानव-अस्तित्व के केवल निम्नतम अथवा बाह्यतम स्तरों का अध्ययन करती हैं और इनके परिणामों को उन्हीं के क्षेत्रों तक सीमित रखना श्रेयस्कर होगा। मार्क्सवाद मानव-जीवन की वर्तमान आर्थिक-राजनीतिक स्थितियों का सांगोपाग विश्लेषण कर उसकी सामाजिक समस्याओं के लिए समाधान बतलाता है, जिसका परोक्षत: एक वैयक्तिक पक्ष भी है। फ्रायडवाद मानव-अन्तर की रागात्मिका वृत्ति के उपचेतन-अचेतन मूलों का गहन अध्ययन कर मुख्यत: उसकी वैयक्तिक उलझनों का निदान खोजता है, जिसका एक

सामाजिक पक्ष भी है। जहाँ पर ये दोनों सिद्धान्त अपने क्षेत्रों को अतिक्रम कर मानव-जीवन एवं चेतना के ऊर्ध्वस्तरों के विषय में अपना यांत्रिक अथवा नियतिवादी निर्णय देने लगते हैं, अथवा उन शक्तियों के स्तरों का अस्तित्व अस्वीकार करते हैं, वहाँ पर ये दृष्टि-दोष से पीड़ित होकर, मानव-मूल्य-सम्बन्धी गम्भीर समस्याएँ उपस्थित करते हैं। किन्तु, मानव-अस्तित्व एवं चेतना के सभी स्तरों के परस्पर अन्योन्याश्रित होने के कारण, सर्वांगीण सामाजिक विकास की दृष्टि से मानव-व्यक्तित्व के पूर्ण उन्नयन के हेतु उसके निम्न भौतिक प्राणिक स्तरों का विकास होना भी समान रूप से आवश्यक है। इस दृष्टि से, मार्क्सवाद तथा फ्रायड के मनोविज्ञान की सीमाओं को मानते हुए भी 'लोकजीवन हिताय' उनकी एकान्त उपयोगिता एवं महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तव में, नवीन विश्व-जीवन-वृत्त के निर्माण में उनका वर्तमान जीवन के गर्दगुबार से भरा हाथ उतना ही उपादेय प्रमाणित होगा जितना मानव अस्तित्व के उच्चतम शिखरों से अवतरित भावी सौन्दर्य तथा आशा के सम्मोहन से दीप्त अभिनव चैतन्य की किरणों का।

वैसे, मानव-प्रज्ञा के अविकसित होने के कारण उच्च-से-उच्च सिद्धान्त या आदर्श भी—चाहे वह आध्यात्मिक हो या भौतिक, धार्मिक हो या राजनीतिक—संकीर्णता के सम्प्रदाय या रूढ़िगत दल-दल में फँसकर नीचे गिर जाते हैं। किन्तु यदि व्यापक विवेक तथा सहानुभूति के साथ, वर्तमान विश्व-मानव-संचय के साथ सामंजस्य बिठाते हुए, उपर्युक्त विचार-धाराओं का समुचित अध्ययन एवं वर्तमान विश्व-परिस्थितियों में उनका सम्यक् प्रयोग किया जाये तो उनमें लोक-जीवन के लिए हितकर उपकरणों के अतिरिक्त मानवता के सर्वांगीण सांस्कृतिक अभ्युदय के लिए भी प्राणप्रद पोषक तत्व मिलेंगे। कम्युनिस्ट देशों की सामूहिक जीवन-रचना की वर्तमान स्थिति में, साहित्यिक मूल्यों की दृष्टि से, स्वतन्त्र वैयक्तिक प्रेरणा के अवरुद्ध हो जाने के कारण पश्चिम के प्रबुद्ध लेखकों तथा चिन्तकों के मन में जो प्रतिक्रियाएँ चल रही हैं उनको हमें अक्षरशः स्वीकृत नहीं कर लेना चाहिए। कम्युनिस्ट देशों की उन असंगतियों को मार्क्सवाद के प्रारम्भिक प्रयोगों की कूड़े की टोकरी में भी डाला जा सकता है। मार्क्सवाद का प्रयोग और भी अधिक व्यापक आधारों पर वर्तमान जीवन की आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियों पर किया जा सकता है। उसे एक यान्त्रिक सिद्धान्त के रूप में न ग्रहण कर, उसके अन्धप्रवेग को संयमित कर, सृजनात्मक संचरण के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है और सम्भवतः भारतवर्ष जैसा महान् देश, जिसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि इतनी प्रौढ़ है, अपने साध्य-साधन की एकता की कसौटी पर कसकर इस महत् प्रयोग को एक दिन सफल भी बना सके। जिन देशों में मार्क्सवाद के प्राथमिक प्रयोग हुए हैं उनमें भी २०-२५ वर्षों के अन्तर्गत, मानव-मूल्यों की दृष्टि से, व्यापक परिवर्तन नहीं उपस्थित हो सकेंगे, और उनकी जीवन-रचना की भूमि से भी उच्च-से-उच्चतर सांस्कृतिक शिखर नहीं निखर उठेंगे, यह अभी नहीं कहा जा सकता। सिद्धान्त के जीवन और व्यक्ति के जीवन के लिए एक ही अवधि निर्धारित करना न्याय-संगत नहीं है।

हमें आवश्यकता है, बाह्यत: परस्परविरोधी लगनेवाली···विभिन्न स्तरों तथा क्षेत्रों की विचारधाराओं का विराट् समन्वय तथा संश्लेषण कर उन्हें साहित्य में, सृजनात्मक स्तर पर उठाने की···जिससे भिन्न-भिन्न परिस्थितियों, संस्कारों तथा स्वार्थों से पीड़ित एवं कुण्ठित मानव-चेतना को अपने सर्वांगीण वैयक्तिक तथा सामाजिक विकास के लिए एक व्यापक सन्तुलित धरातल मिल सके, उसके सम्मुख एक ऐसा उन्नत मानवीय क्षितिज खुल सके जो उसे समस्त अभावों तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तत्पर कर आगे बढ़ने की प्रेरणा दे सके। व्यक्तिवाद, समाजवाद, भाववाद, वस्तुवाद, भूत अथवा अध्यात्मवाद एक-दूसरे के विरोधी नहीं, अन्ततः एक-दूसरे के पूरक हैं। आज के साहित्य में यदि विराट् या अन्तरात्मा के दर्शन नहीं मिलते—जो मूल्य का धरातल है—तो इसका कारण इस संक्रमणशील युग के तथाकथित विरोधी सिद्धान्त एवं विचार-सरणियाँ उतना नहीं है, जितना इस युग के साहित्य-स्रष्टाओं अथवा द्रष्टाओं की सीमाएँ···और सम्भवत: उनकी ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, यशलिप्सा, दलबन्दी आदि की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ, जिनका क्रीड़ास्थल इस परिवर्तन-युग का उनका समदिग्-दुख-कातर अन्तस्तल बना हुआ है। साहित्य, संस्कृतियों के पुजारियों तथा मूल्यों के जिज्ञासुओं को बाहर के साथ ही अपने भीतर भी खोज करनी चाहिए, सामाजिक धरातल को सँवारने से पहले मानसिक धरातल का संस्कार कर लेना चाहिए—विशेषकर ऐसे संक्रमण-काल में जब ह्रास और विकास, पतझर तथा वसन्त की तरह, साथ-ही-साथ नवीन वृत्त संचरण के रथचक्रों में घूम रहे हैं। उन्हें मरणशील ह्रासोन्मुखी संकीर्ण प्रवृत्तियों के कूड़े-कचरे में से विकास की प्रसारकामी ऊर्ध्व प्रवृत्तियों को चुनकर अपनी चेतना में ढाल लेना चाहिए, क्योंकि उनके लिए मूल्य या मान्यताओं का प्रश्न केवल बौद्धिक संवेदन का ही प्रश्न नहीं है, वह उनके आत्मनिर्माण, मनोविन्यास तथा उनकी सृजन-तन्त्री की साधना का आधारभूत अंग भी है।

मानव-मूल्यों का अन्वेषक—चाहे वह स्रष्टा हो या द्रष्टा—उसे महत्तर आनन्द, प्रेम, सौन्दर्य तथा श्रेय के सूक्ष्म संवेदनों की जाह्नवी के अवतरण के लिए भगीरथ प्रयत्न करना है। उसे वैभिन्न्य की बहिर्गत विषमता तथा कटुता को अन्तरतम ऐक्य की एकनिष्ठ साधना के बल पर जीवन-वैचित्र्य की समता तथा संगति में परिणत करना है, जिसके लिए आत्म-संस्कार सर्वोपरि आवश्यक है। साहित्यकार, साधक, दार्शनिक—इन सबको अन्ततः विश्वनियन्ता की महत् इच्छा का यन्त्र बनना पड़ता है।

मूल्य-मर्यादा की प्रगति के स्रोत को केवल सामाजिक परिस्थितियों के अधीन मानना उतना ही एकांगी दृष्टिकोण है जितना उसे केवल मनुष्य के आन्तरिक संस्कारों में मानना है। मानव-मूल्य के मूल बाहर-भीतर दोनों ओर फैले हुए हैं, "तन्दतरस्य सर्वस्य तत्सर्वस्यास्यबाह्यत:।" व्यक्ति और समाज उसके दो पक्ष हैं जिनमें सामंजस्य स्थापित करके ही स्थिति और प्रगति सम्भव हो सकती है। हम बाहर के सम्बन्ध में ही भीतर को और भीतर के सम्बन्ध में ही बाहर को समझ सकते है। मानवता के सर्वांगीण विकास एवं निर्माण के लिए हमें भीतर और बाहर दोनों का रूपान्तर करना पड़ेगा। तत्त्वत: मानव-जीवन के सत्य

के मूल बाहर-भीतर दोनों से ऊपर या परे हैं, जैसा कि हम आगे चलकर विष्णु के रूपक में देखेंगे, किन्तु अपनी अभिव्यक्ति के लिए उसे बहिरन्तर के दोनों सापेक्ष पक्षों का ध्यान रखकर उनमें सन्तुलन भरना होता है।

पश्चिम के कुछ चिन्तक बाह्य परिस्थितियों के संगठन के बोझ से आक्रान्त होकर मानव-मूल्यों का स्रोत यदि व्यक्ति या मनुष्य के भीतर मानने लगे हैं तो यह केवल पश्चिम के वर्तमान बहिर्भूत यान्त्रिक जीवन के प्रति उनके मन की प्रतिक्रिया-मात्र है। पश्चिम में अन्तर्जीवन का एकान्त अभाव होने के कारण वहाँ के प्रबुद्ध विचारकों का मनुष्य के भीतर की ओर झुकना स्वाभाविक है। वास्तव में व्यक्ति और समाज जीवन-मान्यताओं की दृष्टि से, एक-दूसरे के सम्बन्ध में ही सार्थक हैं और उसी रूप में समझे भी जा सकते हैं। निरपेक्ष व्यक्ति को अज्ञेय या अनिर्वचनीय कहा जा सकता है। इसलिए यदि मार्क्सवाद सामाजिकता को अधिक महत्त्व देता है या उसके प्रारम्भिक प्रयोगों में सामूहिक संचरण अधिक प्रबल हो उठा है तो उसका उपचार व्यक्ति को अधिक महत्त्व देने से नहीं होगा, प्रत्युत, बहिरन्तर की मान्यताओं को स्वीकार करते हुए व्यक्ति और समाज के बीच सन्तुलित सम्बन्ध स्थापित करने से होगा। इस युग में, इसीलिए, राजनीतिक संचरण की पूर्ति के लिए एक व्यापक सांस्कृतिक संचरण की भी आवश्यकता है।

मानव-मूल्यों के स्रोत को मनुष्य के भीतर ही मान लेना इसलिए भी हनिकार सिद्ध होगा कि वर्तमान युग-संक्रमण की स्थिति में मनुष्य का मनुष्य बन सकना सरल या सम्भव नहीं। उसके व्यक्तित्व में अभी उस उदात्त सन्तुलन की कमी है जो उसे युगीन प्रवृत्तियों की बाहरी अराजकता तथा अन्तःसंस्कारों की सीमाओं से ऊपर उठाकर प्रतिनिधि मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठित कर सके। उसका ऐसा विवेकशील व्यक्तित्व होना, जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म मूल्यों-सम्बन्धी दुरूह सामाजिक दायित्व को समझकर, उसे स्वतः ग्रहण करने योग्य आत्म-त्याग एकत्रित कर सके, यह भी अपवाद ही सिद्ध हो सकता है और अल्पसंख्यक सृजनशील व्यक्ति इतने स्थितप्रज्ञ, तटस्थ, निष्पक्ष हो सकेंगे, इस पर भी सहज विश्वास नहीं होता।

इस संक्रमण-काल ने मनुष्य की अहमिका प्रवृत्ति तथा उसकी कामवृत्ति को बुरी तरह झकझोरा है। ये एक प्रकार से सभी संक्रमण युगों के लिए सत्य तथा सार्थक हैं, क्योंकि उच्चतर विकास के ये दोनों ही महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं। मानव अहंता को व्यापक बनकर, मानव-आत्मा के गुणों को पहचानकर उनसे सम्पन्न बनना होता है। निम्न प्राण-चेतना (काम) को ऊर्ध्वमुखी होकर व्यापक प्रेम, सौन्दर्य तथा आनन्द की अनुभूति प्राप्त कर नवीन नैतिक-सामाजिक सन्तुलन ग्रहण करना होता है, इसीलिए विश्व-प्रकृति संक्रमण-काल में उन्हें प्रारम्भ में ही सशक्त बना देती है। फ्रॉयड ने स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी वर्तमान रागात्मक स्तर की क्षुद्रता तथा संकीर्णता की पोल खोलकर आज के प्रबुद्ध चिन्तक को मोहमुक्त कर दिया है। वास्तव में प्राणचेतना के विकास के लिए उपयुक्त मानवीय परिस्थितियों के अभाव के कारण, मानव की रागात्मिका वृत्ति,

पशु-स्तर पर उतरकर, अभी अचेतन के अन्ध आवेगों से परिचालित हो रही है। उसके मनुजोचित ऊर्ध्व विकास के लिए हमें स्त्री-पुरुषों के सामाजिक सम्बन्ध को एक व्यापक सांस्कृतिक धरातल पर उठाना होगा।

जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, इस युग के बहुमुखी विचार-वैभव को साहित्य तथा संस्कृति की प्रेरणाभूमि पर उठाने के लिए तथा अपने को मानव-मूल्यों का ज्योतिवाहक बनाने के लिए आज के साहित्यस्रष्टा तथा सांस्कृतिक द्रष्टा को सर्वप्रथम एवं सर्वोपरि अपना यथेष्ट आत्म-संस्कार करना होगा। यही उसके ऊपर स्वस्वीकृत सबसे महान् दायित्व है। मानव-मूल्यों की चेतना से अपनी चेतना का तादात्म्य करके उसे अपने मन तथा प्राणों के जीवन में मूर्तिमान करना—यही उसका सर्वप्रथम कर्तव्य है। इस दायित्व के गुरुत्व को उसका साधक ही अनुभव कर सकता है। यही वह तप, त्याग या लोककर्म है जिसे उसे तत्काल ग्रहण करके, धीरे-धीरे उसे अपने को पूर्णरूपेण अर्पित करके, अपने जीवन में चरितार्थ करना है।

मानव-मूल्यों के सर्वव्यापक सत्य के रूप को हमारे यहाँ महाविष्णु के रूप में अंकित किया है, जो प्रभविष्णु भी हैं। वह शेषशय्या पर (अनन्त काल के ऊपर) स्थित हैं। प्रत्येक युग में उनके गुणों के अंश विश्वचेतना में अवतरित होकर देश-काल में अभिव्यक्ति पाते हैं। वह जल-शायी—देश से भी ऊपर—स्थित है। वह योग-निद्रा में (विश्व-विरोधों में सम), शान्त आनन्द की स्थिति में हैं, जिस स्थिति में एक सहज स्फुरण (संकल्प) उनकी नाभि (रजोगुण) से ब्रह्मा अथवा सृजन संचरण के रूप में सृष्टि करता है। उनके हाथ में चक्रवत् विश्वमन घूमता रहता है, इत्यादि। यह मानवमूल्यों के सत्य के सम्बन्ध में एक पूर्ण दृष्टिकोण है। मानवमूल्यों का स्रोत देश-काल से ऊपर है। भूत, भविष्य, वर्तमान में अभिव्यक्ति पानेवाले मूल्य सब उसी सत्य के विकासशील अंश हैं। तीनों काल एक-दूसरे पर अवलम्बित होने के साथ ही मुख्यत: उस सत्य पर अवलम्बित हैं। उसी के गुण एवं शक्ति संचय करके भूत वर्तमान में और वर्तमान भविष्य में विकसित होता है। उस सत्य को आप चाहे दिव्य कहें या मानवोपरि, वह मानव से पृथक् नहीं है। उसे दिव्य न कहकर मानवीय ही कहें तो वह वर्तमान मानव-विकास की स्थिति से कहीं महत् है जिसमें अनेक भविष्यों का मानव अन्तर्हित है। यदि हम इस दृष्टिकोण से उस सत्य पर विचार करें तो हमें वर्तमान पाश्चात्य विचारकों की "जो समस्त अतीत है वही यह क्षण है और जो यह क्षण है वह समस्त भविष्य बन जायगा—इसी क्षण में हमें शाश्वत को बाँधना है" आदि जैसी तर्क-प्रणाली की यान्त्रिकता स्पष्ट हो जायगी।

हमने अपने साहित्य में पश्चिम के जिस विकासवाद के सिद्धान्त को अपनाया है वह अधूरा है। उसमें नीचे से ऊपर की ओर आरोहण तो है पर ऊपर से नीचे की ओर अवतरण तथा अन्त:संयोजन के पक्षों का अभाव है। इस अपूर्ण सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने के कारण ही हम केवल भूत और वर्तमान के संचय के बल पर अग्रसर होने की असफल चेष्टा कर नित्य नवीन विरोधी मतों को जन्म देते जा रहे हैं। विकास में

सातत्य या अविच्छिन्नता खोजना भ्रम है। विकास के प्रत्येक युग में विश्वचेतना में महत् से नवीन गुणों का भी आविर्भाव होता रहता है। इस महत् में बीज रूप में समस्त सृष्टि के उपादान अन्तर्हित हैं।

साहित्य-स्रष्टा के लिए विकास से अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त सृजन का है। वह मन के उच्चोच्चतर स्तरों से प्रेरणा ग्रहण करके अपनी सृजन-चेतना के वैभव से विकास को नित्य नवगुणसम्पन्न कर उसे प्रगति दे सकता है। स्रष्टा के लिए विवेक के पथ से अधिक उपयोगी एवं पूर्ण श्रद्धा का पथ है। वह सहज तथा प्रशस्त होने के कारण लोक-सुलभ भी है। अल्पसंख्यक विवेकशील साहित्यिकों के कन्धों पर जन-समाज के जीवन का दायित्व सौंप देने में यह भी भय है कि वर्तमान विषम सामाजिक परिस्थितियों में उन अल्पसंख्यकों की मानवता की धारणा स्वभावत: अपने ही वर्ग के मानव तक सीमित रह सकती है। जन-मानवता का विराट् वैचित्र्य उनकी प्रबुद्ध सहानुभूति से कहीं व्यापक तथा अकल्पित हो सकता है। फिर स्रष्टा को हम केवल साहित्य-स्रष्टा तक ही सीमित नहीं रख सकते हैं। सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र तथा स्तर पर—चाहे वह राजनीतिक भी क्यों न हो—जीवननिर्माता जीवन-स्रष्टा तथा द्रष्टा भी हो सकता है और सृजन में ही निर्माण की पूर्ण परिणति भी होती है।

संक्षेप में मैं सांस्कृतिक मान्यताओं एवं मानव-मूल्यों का स्वस्वीकृत दायित्व अल्पसंख्यक, स्वतन्त्र, विवेकपूर्ण, संकल्पयुक्त व्यक्तियों को सौंपने के बदले समस्त जन-समाज को सौंपना अधिक श्रेयस्कर समझता हूँ जो श्रद्धा के पथ से मानव-मूल्यों के सत्य से संयुक्त होकर, अपने-अपने क्षेत्र में मानवता के विशाल रथ को आगे बढ़ाने में अपना हाथ बँटा सकते हैं। उन्हें—जैसाकि आज के समस्त पश्चिम के विचारक सोचते हैं—किसी तर्क-बुद्धिसम्मत विवेक के जटिल सत्य के जटिलतर दायित्व की भूलभुलैयाँ में खोकर अपने चिन्तन, अनुभूति, सौन्दर्यबोध की समस्त शक्ति से स्थायी मानव-मूल्य की इसी क्षण की विशेष मानवीय स्थिति की सही व्याख्या पहचानने जैसे और भी दुरूह बौद्धिक व्यायाम नहीं करने पड़ेंगे—जो शायद कुछ अति अल्पसंख्यक प्रतिभाशाली व्यक्तियों को ही सुलभ है; उन्हें विराट् विश्वजीवन के अन्तरतम केन्द्रीय सत्य पर श्रद्धापूर्वक विश्वास रखकर, अपनी बहिरन्तर की परिस्थितियों को अतिक्रम करते हुए, उनका युगजीवन की विभिन्न आवश्यकताओं के अनुरूप पुनर्निर्माण कर एवं उन्हें व्यापक मानव-जीवन की एकता में बाँधते हुए अन्तत: सम्पूर्ण तथा बाह्यत: समस्त के साथ आगे बढ़ना होगा। इसी में वह अपनी-अपनी स्थिति से स्वधर्म का पालन कर सकते हैं। हमारे सर्वोदय के उन्नायकों ने भी श्रद्धा के पथ से उन्हीं सत्यों के सत्य से प्रेरणा ली है जिसके बिना उनका व्यक्तित्व शीर्षहीन हो जाता। आज के युग में जबकि भौतिक विज्ञान के विकास के कारण लोक-जीवन की परिस्थितियाँ जड़ न रहकर अत्यधिक सक्रिय हो गयी हैं, जन-साधारण को सृजन-प्रेरणा से वंचित कर सकना सम्भव भी नहीं है—यही इस युग की सबसे बड़ी क्रान्तिकारी देन है।

मेरी मनोकामना का भारत

मेरी मनोकामना का भारत ! मन में प्रश्न उठता है, क्या हम आज सचमुच भारत के रूप में, भारत ही के लिए सोचते हैं ? क्या आज मानव-मन देश-देशान्तर के अन्तराल को अतिक्रम नहीं कर चुका है ? क्या आज एक विश्व-जीवन, एक भू-जीवन अथवा एक मानवता की सुनहली कल्पना हमारे मन में अस्पष्ट आकार ग्रहण नहीं कर रही है ? आज का विज्ञान ज्ञात-अज्ञात रूप से जिसकी सुदृढ़ नींव डाल रहा है, आज की राजनीतिक-आर्थिक संस्थाएँ जिसके विराट् भवन की रूपरेखाओं का ढाँचा निर्माण करने में अप्रत्यक्ष रूप से संलग्न हैं, आज का दार्शनिक जिसके शुभ्र शिखर पर मंगलकलश स्थापित करने के स्वप्न देख रहा है और आज का कवि एवं कलाकार जिसमें मांसल रंगों का वैचित्र्य तथा अकृत्रिम सौन्दर्य भरने की साधना में लगा हुआ है,—वह एक मानवता की कल्पना तथा एक भू-जीवन का स्वर्ग ही तो है।

हाँ, निश्चय ही, आज जब हमारी मनोकामना का द्वार खुलकर भारत के भविष्य को अथवा उसके भावी रूप को आँखों के सामने उद्घाटित करना चाहता है तो वह वास्तव में भावी विश्वजीवन और भावी मानवता के ही चित्र का अनावरण कर रहा है। भूत विज्ञान की सहायता से आज मनुष्य देश अथवा दिक् प्रसार को अतिक्रम तथा हस्तगत कर एक दूसरे के सन्निकट आता जा रहा है और विभिन्न देशों तथा राष्ट्रों की जीवन-रचनाएँ अथवा शासन-विधान परस्पर आर्थिक-राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर अनिवार्यतः एक विश्वसत्ता अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता का अंग बनती जा रही है। निकट भविष्य में मनुष्य को बृहत्तर ज्ञान की सहायता से काल के व्यवधान को भी अतिक्रमण करना है, और अतीत के गहरे गर्तों से ऊपर उठकर, इतिहास की कुहासे की भित्तियों को छिन्न-भिन्न कर, जातियों, धर्मों, रीतियों, रूढ़ियों के छोटे-बड़े अन्धकार भरे कक्षों तथा खँडहरों से बाहर निकलकर, एक महत्तर शिवतर मानव-संस्कृति के प्रांगण में समवेत होना है।

भारत का, अथवा किसी अन्य देश का, भविष्य की विराट् मानवता के निर्माण में आत्म-दान अथवा आत्म-प्रसार ही उसका वह वरेण्य रूप होगा जिसकी कि आज मन कामना करता है। मानव-सभ्यता का संघर्षों, युद्धों, विद्रोहों एवं विप्लवों से भरा हुआ इतिहास, व्यापक दृष्टि से मानव-विकास की एक अवश्यम्भावी अनिवार्य अवस्था अथवा स्थिति भर थी। मनुष्य का मन पृथ्वी के जीवन के अन्धकार को टटोलता हुआ, धीरे-धीरे परिवारों, संघों, सम्प्रदायों, देशों तथा राज्यों के अनुरूप विभिन्न आचार-विचारों तथा जीवन-प्रणालियों में संगठित एवं विकसित होकर अब एक ऐसी स्थिति पर पहुँच गया है जहाँ उसकी चेतना इतिहास के इन छोटे-मोटे घेरों में बँधकर नहीं रह सकती है। वह अपने अतीत की सीमाओं के बन्धनों को तोड़कर विश्वऐक्य तथा लोक-साम्य पर प्रतिष्ठित बृहत्तर मानवता के आदर्श को अपने जीवन में चरितार्थ करना चाहता है।

प्रश्न यह है कि भारत मानवजाति के इस स्वप्न को साकार करने में

किस प्रकार सहायता कर सकता है ? क्या वह अपने को स्वयं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का मूर्तिमान उदाहरण बना सकता है ? यदि हाँ, तो वह किस प्रकार ? साधारणतः यह सुना जाता है कि भारतवर्ष आध्यात्मिक देश है। वह ऐहिक तथा लौकिक जीवन के विरुद्ध—अथवा उसका निर्माण करने में अक्षम, पारलौकिक अतीन्द्रिय ध्येय से अनुप्राणित, असीम के भार-हीन बोझ से दबा हुआ, अपनी सीमाओं से अनभिज्ञ, यथार्थ से शून्य, शाश्वत आनन्द का अभिलाषी तथा मनुष्य के प्रति विरक्त और देवताओं के प्रति आसक्त है। किन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो यह केवल हमारे मध्ययुगीन ह्रास की विचारधारा है, और जब भी सभ्यताएँ अथवा संस्कृतियाँ ह्रास की ओर उन्मुख होती हैं तब मनुष्य के मन में जीवन के प्रति विरक्ति, नैराश्य, अवसाद की भावना तथा अदृष्ट पर विश्वास घर कर लेता है। यदि सचमुच ही भारत की आध्यात्मिकता की आधारशिला यही थोथी दार्शनिकता होती तो वह पूर्वकाल में इतनी विशाल संस्कृतियो तथा जीवन-सौन्दर्य से पूर्ण कलाओं को जन्म नहीं दे पाता। भारतवर्ष आध्यात्मिक देश अवश्य रहा है और अब भी है; और सम्भवतः यह उसका अन्तर्जात स्वभाव या गुण होने के कारण, आगे भी, वह आध्यात्मिक ही रहेगा। पर उसकी यह आध्यात्मिकता क्या है, उसका वास्तविक अर्थ जान लेना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि वही उसके भावी व्यक्तित्व की भी कुंजी है। और उसकी आध्यात्मिकता, मध्ययुगों के अन्धकार से मुक्त होकर, यदि अपने मौलिक रूप में प्रकाशमान हो सकी तो वह समस्त विश्व-कल्याण के लिए भी एक अमूल्य अक्षय देन होगी।

इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि प्रत्येक देश, जाति या मनुष्य अपने ही भीतरी स्वभाव तथा अन्तश्चेतना की दिशा में विकास पाकर प्रगति कर सकता है। और भारत भी अपने भावी राष्ट्र-निर्माण के लिए दूसरा मार्ग नहीं ग्रहण कर सकता। वर्तमान काल में विश्व-शक्तियों का जिस प्रकार विभाजन हुआ है उसे देखकर, ज्ञात-अज्ञात रूप से, भारत उसी व्यापक ध्येय से अनुप्राणित भी हो रहा है। भारतीय चिन्तकों तथा मनीषियों का सदैव से यह अनुभव रहा है—और अपने ह्रास तथा अन्धकार के युगों में भी वे इसे पूर्णतः नहीं भुला सके हैं—कि बहिर्मुखी यथार्थ के सत्य पर ही मानव-जीवन आधारित नहीं है। वही मानव का पूर्ण सत्य नहीं है और बाहरी शक्तियों के ही इंगित पर मानव-जीवन का संचालन नहीं किया जा सकता, और न वह मात्र बाह्य आदर्शों से प्रेरित होकर कल्याण के पथ की ओर ही अग्रसर हो सकता है। भारत भौतिक शक्तियों की महत्ता तथा उपयोगिता को स्वीकार करता है पर उन्हीं को सम्पूर्ण सत्य नहीं मानता। उसे बाह्य जगत के अतिरिक्त मानव के अन्तर्जगत की शक्तियों का भी अनुभव तथा ज्ञान है। उसका मानस जीवन-प्रसार से ऊपर और भी सूक्ष्म प्रसारों पर विचरण करना जानता है। उसे बुद्धि तथा मन के शिखरों के पीछे और भी उच्च ज्योतिर्मय सत्य के शिखरों का अस्तित्व बोध है। अतएव वह मनुष्य के समतल जीवन की पूर्णता तथा सार्थकता के लिए मानव-चेतना की ऊर्ध्वमुखी शक्तियों का उपयोग भी आवश्यक समझता है, जिनके समन्वय तथा सामंजस्य से ही उसकी दृष्टि में लोक-कल्याण की साधना सम्भव हो सकती है। किन्तु इस ऊर्ध्व

आध्यात्मिक उड़ान को भी भारत के मानस ने सम्पूर्ण सत्य कभी नहीं माना है, क्योंकि कोरी आध्यात्मिकता इस धरती पर केवल शून्य के बल पर नहीं पनप सकती। इस असीम से परिणीत आध्यात्मिकता के साथ ही भारतवर्ष के पास अत्यन्त प्रबल तथा प्रखर बौद्धिकता तथा जीवनानन्दमयी उर्वर प्राणशक्ति भी रही है। अपनी बहुमुखी बौद्धिकता से उसने मानव-जीवन के सत्य का सूक्ष्म विश्लेषण कर उसे युग-युग के अनुरूप अनेक नियमों, दर्शनों तथा सामाजिक विज्ञानों में सँवारा है। और अपनी प्रचुर अक्षय जीवनी शक्ति तथा नव-नवोन्मुखी प्रतिभा के कारण उसने सदैव सृजनशील रहकर अनेकों कला-कौशलों को जन्म दिया है। आज गांधीजी के लोकोत्तर व्यक्तित्व के रूप में भारत के उस सुप्त मानस संचय का पुनर्जागरण हुआ है। वह फिर से जाग्रत् तथा सक्रिय होकर नयी दिशाओं की ओर प्रवहमान हुआ है और उसने वर्तमान विश्व-समस्याओं का अध्ययन कर उनके भीतर से अपना गन्तव्य खोजना आरम्भ कर दिया है। आज के जनजीवन संहारकारी युद्धों की सम्भावनाओं में समस्त संसार के मध्य भारतवर्ष विश्वशान्ति की धरोहर रूपी हिमालय की तरह अपने ध्येय पर अटल रहेगा, इसमें मुझे सन्देह नहीं है। भारत को सदैव मेरे मन ने विश्व के मानस संचय के रूप में अथवा ज्ञान के प्रतिनिधि के रूप में देखा है। उसके शारद व्यक्तित्व की कल्पना मेरे भीतर शान्ति, ज्योति, मानवप्रेम तथा जीवनसौन्दर्य की सुनहली रेखाओं से मण्डित होकर उतरी है। आज भारतवर्ष के भविष्य के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की धारणाएँ विचारवान् लोगों के मन में उठ रही हैं। बहुतों का विश्वास है कि भारत के पूर्ण विकास तथा उन्नति के लिए लोकसाम्य तथा न्याय पर आधारित एक व्यापक सामाजिक विधान की आवश्यकता है जो सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक शोषण एवं असंगतियों से पूर्णतया मुक्त होगा। इस मत से मैं पूर्णतः सहमत हूँ। मैं भारतवर्ष को सर्वप्रथम अन्न-वस्त्र से भरा-पुरा प्रसन्न तथा जीवन-मांसल देखना चाहता हूँ, जिससे वह और भी मनोयोगपूर्वक सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति की ओर अग्रसर हो सके। पश्चिम से जो समाजवादी आर्थिक तथा राजनीतिक मान्यताएँ हमें मिली हैं उनका उपयोग तथा प्रयोग हमें अपनी परिस्थितियों की आवश्यकताओं के अनुरूप अवश्य करना चाहिए। इस दृष्टि से हमारी मध्ययुगीन अनेक आर्थिक-साम्प्रदायिक प्रवृत्तियाँ हमारी उन्नति के पथ में बाधक बन सकती हैं, जिनको हमें पूर्ण शक्ति से रोकना चाहिए। बहुत-से लोग अभी हमारे देश में अतीत के ग्राम जीवन और संस्कृति का पुनर्जागरण चाहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे भावुक व्यक्ति आज देश का हित करने के बदले उसकी प्रगति के पथ में काँटे ही बो रहे हैं। इनमें से जो पुराने ढंग के धार्मिक विचार के लोग हैं वे कुछ जीर्ण-शीर्ण नैतिक आदर्शों तथा रूढ़ि-रीतियों में पथराये हुए आचारों को ही मानव-जीवन की निधि तथा सर्वस्व समझ बैठे हैं। ऐसे लोगों से भी सतर्क रहने की हमें आवश्यकता है। जो विचारक यह मानते हैं कि हमें अपने अतीत की परम्पराओं में जो सर्वश्रेष्ठ है उसे ग्रहण तो करना चाहिए किन्तु साथ ही मानवसभ्यता के विकास में प्राप्त नवीन मानसिक तथा भौतिक शक्तियों का भी नवीन भारत के जीवन-निर्माण में

उपयोग करना चाहिए, वे मुझे सत्य के अधिक निकट लगते हैं।

वास्तव में, हमारे देश पर समय-समय पर इतनी विदेशी संस्कृतियों तथा सभ्यताओं के प्रभाव पड़े है कि हम उन सबके स्वस्थ तत्वों को आत्मसात् कर एक नवीन सभ्यता तथा संस्कृति को जन्म दे सकते हैं। किन्तु इसके लिए हमें अपने मध्ययुगीन संकीर्ण दृष्टिकोणों तथा अनुर्वर पूर्वग्रहों से ऊपर उठना पड़ेगा और साथ ही आज के बहिर्मुखी विश्व-जीवन में जिस अन्तःसन्तुलन की कमी है उसकी पूर्ति भी हमें अपनी आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि से करनी पड़ेगी। जो लोग आज के नवीन भौतिकवाद की शक्तियों का आंख मूंदकर अनुकरण करना चाहते हैं वे भी भावी मनुष्यत्व के सत्य से वंचित हैं क्योंकि यह नवीन भौतिकवादी दृष्टिकोण आज पश्चिमी देशों की जीवन-समस्याओं का भी समाधान प्रस्तुत करने में असफल सिद्ध हो रहा है जहां कि इसने जन्म लिया है। यह दृष्टिकोण विश्वयुद्धों को तो जन्म दे ही रहा है, यह पश्चिमी सभ्यता तथा संस्कृति के ह्रास का भी परिचायक है। इसका कारण यह है कि पश्चिम में इस युग में बहिर्जीवन या भौतिक जीवन के विकास के अनुपात में अन्तर्जीवन अथवा आध्यात्मिक जीवन का विकास नहीं के बराबर हो सका है। विज्ञान ने बाह्य प्रकृति की विराट् प्रच्छन्न शक्तिओं का उद्घाटन कर जो नवीन जीवनोपयोगी साधन मनुष्य को सौपे हैं उनके अनुरूप मानसिक तथा आत्मिक विकास न हो सकने के कारण मनुष्य उनका समुचित उपयोग नहीं कर सका है और वे उसके हाथों की निर्माण-शक्ति को बढ़ाने के बदले संहार की शक्ति को ही बढा रहे हैं। वास्तव में विज्ञान ने अभी तक मनुष्य के लिए जितनी निर्माणसामग्री प्रस्तुत की है उसकी तुलना में विश्वविध्वंसकारी अस्त्र-शस्त्रों की वृद्धि कहीं अधिक परिमाण में हुई है, जिनकी संहारशक्ति से आज धरती पर से मानव सभ्यता एकदम ही विलुप्त हो सकती है। इसमें सन्देह नहीं कि भौतिक विज्ञान के अभ्युदय के कारण युग-युग से निष्क्रिय मानव-जीवन की परिस्थितियाँ नवीन शक्तियों का संजीवन पाकर अत्यधिक सक्रिय हो गयी हैं और उनके आधार पर आज संसार में अनेक प्रकार के आर्थिक, राजनीतिक आन्दोलन मानव-सभ्यता के लिए एक नवीन सामाजिक ढाँचा निर्माण करने का प्रयत्न कर रहे हैं। किन्तु मानव-समाज की जीवन-शैली परिवर्तित करनेवाले इस प्रकार के बाहरी प्रयत्न मनुष्यचेतना का संस्कार कर उसे कोई नवीन दिशा नहीं दे पा रहे हैं। एक ओर मनुष्य की चेतना इन विश्वपरिवर्तनों से सशंकित होकर एवं अपने पूर्व संकीर्ण जीवन अभ्यासों में संगठित होकर और भी व्यक्तिपरक तथा निर्मम होती जा रही है और दूसरी ओर वह सामूहिक अहंता के विद्रूप बोझ से दबती जा रही है। ऐसी अवस्था में इन आर्थिक-राजनीतिक संघर्षों में स्वस्थ मानवीय सामंजस्य एवं सन्तुलन लाने के लिए आज एक व्यापक सांस्कृतिक संचरण की परम आवश्यकता है जो मानव-चेतना के अन्तर्मुखी विकास का मार्ग भी प्रशस्त कर सके और मनुष्य के अन्तर्जीवन को सँवारकर उसे सत्य के पूर्णतर रूप में प्रतिष्ठित कर सके।

ऐसे सांस्कृतिक आन्दोलन के नेतृत्व के लिए मैं भारत को सब तरह से उपयुक्त मानता हूँ। क्योंकि मानव के अन्तर्जगत का ज्ञान प्राप्त करने

तथा अन्तःसाधना करने की ओर उसका स्वाभाविक झुकाव रहा है। उसने यथार्थ के गरल के साथ सत्य के अमृत का भी पान किया है और उसका ऐतिहासिक व्यक्तित्व एक प्रकार से मनुष्य के अमृतत्व का प्रतिनिधित्व करता आया है। जीवन की नवीनतम वास्तविकता का ज्ञान अन्य देशों से संचय कर वह उसे सार्वभौम कल्याण के लिए अधिक व्यापक तथा उन्नत दिशाओं की ओर प्रवाहित कर सकता है और एक ऐसी सर्वांगपूर्ण संस्कृति को जन्म दे सकता है जो मनुष्य के विवेक, उसके सौन्दर्य-ज्ञान तथा उसके नैतिक सम्बोध के साथ ही उसकी प्राणशक्ति तथा दैहिक जीवन की आवश्यकताओं को भी पूर्णतया सामंजस्य की दिशा में प्रस्फुटित कर सके। ऐसे प्रयत्न इस युग में अवश्य ही एकदेशीय प्रयत्न बनकर नहीं रह सकते। उनकी सफलता के लिए अन्य देशों का सहयोग भी उतना ही आवश्यक है। किन्तु इस युग में एक ऐसे सांस्कृतिक विश्व संचरण की अनिवार्य आवश्यकता है जो मानव-जीवन के बाहरी ढाँचे को बदलने के साथ ही उसके मनोविन्यास का भी रूपान्तर कर सके, इसमें मुझे रत्ती-भर सन्देह नहीं है।

वास्तव में विज्ञान ने मानवजीवन को सुख-सम्पन्न बनाने के लिए जिन सम्भावनाओं का द्वार हमारी आँखों के सामने खोल दिया है उन्हें हम इसीलिए चरितार्थ नहीं कर सकते हैं कि विज्ञान ने प्रकृति का जिस प्रकार उद्घाटन किया है उसी प्रकार वह मानवचैतन्य के सत्य का उद्घाटन नहीं कर सका है। यह मनुष्य के सम्बन्ध में केवल उसके जैविक अस्तित्व बोध की वृद्धि कर पाया है जो उसके पूर्ण अस्तित्व का केवल छिलका भर है। मानवसत्य का कोई ऐसा रूप वह हमारी आँखों के सामने खड़ा नहीं कर पाया है जो मानव में प्रेम, ज्ञान, सौन्दर्य तथा आनन्द की परिपूर्णता के ध्येय को, अथवा उसकी आत्मा की चिर अतृप्त पिपासा को शान्त कर, चरितार्थता प्रदान कर सके। भौतिक विज्ञान हमें अन्न, वस्त्र, आवास तथा आवागमन की सुविधा देता है किन्तु किसके लिए? वह कौन-सा, कैसा, संस्कृत, अन्तःस्थित, प्रबुद्ध मानव है अथवा होगा जो इन सुविधाओं का उपभोग तथा संरक्षण करने में समर्थ होगा? उस मनुष्य के मनुष्यत्व के बारे में विज्ञान एकदम चुप है। जब तक इन बृहत्तर सुविधाओं एवं ऐश्वर्यों के उपकरणों के साथ उस मनुष्य की भी रचना या सृष्टि नहीं होगा जो उन्हें कृतार्थता प्रदान कर सकेगा तब तक हमारे सामाजिक निर्माण के प्रयत्न विफल तथा असम्भव ही-से रहेंगे। अतएव जब मैं भारत की आध्यात्मिकता की बात कहता हूँ तो मेरा अभिप्राय उस आध्यात्मिकता से है जो मानव-जीवन के सत्य का अथवा उसकी आत्मा का पूर्णतम उद्घाटन कर उसे सर्वांग विकसित इकाई के रूप में प्रतिष्ठित कर सके। एक ऐसी आध्यात्मिकता जो मनुष्य के बौद्धिक, मानसिक, प्राणिक, कायिक तथा उसके भौतिक अस्तित्वों के जीवन को सर्वांगपूर्ण सक्रिय सामंजस्य में सँवारकर उसे सुन्दर से सुन्दरतर, शिव से शिवतर तथा सत्य से बृहत्तर सत्य की ओर ले जा सके। यह एक अन्धविश्वास मात्र है जो हम ऐसा समझते हैं कि आध्यात्मिकता केवल अभाव, दारिद्र्य तथा जीवन के प्रति विरक्ति तथा वितृष्णा के जंगल ही में फूलती-फलती है और यह भी एक अपवाद-मात्र है जो कहते हैं कि आध्यात्मिकता जीवनसंघर्ष से दूर कहीं हिमालय की चोटी पर या शून्य आकाश में निवास करती है। वास्तव में अध्यात्म मानव-जीवन का ही पूर्ण

दर्शन है, उसमें मनुष्य की समस्त समस्याओं का समाधान मिलता है और वह इसी पृथ्वी पर मानव-जीवन को पूर्ण रूप से चरितार्थ करने की शक्ति रखता है।

मैं तरुण भारत की आँखों में इस नवीन मानव-संस्कृति के स्वप्नों का सौन्दर्य देखना चाहता हूँ। उसके मुक्त हृदय की धड़कन में व्यापक और उच्चतर भावनाओं के संगीत की झंकार सुनना चाहता हूँ। मैं उसके सौम्य आनन में नवीन मनुष्यत्व की गरिमा की झलक देखना चाहता हूँ। भारत के नवोदित कवि विश्वजीवन के इस नवीन अरुणोदय के गीत गा सकें और मानव-आत्मा के गहनतम सत्यों को वाणी दे सकें। भारत के नवीन कलाकार मानवजीवन के अक्षय सौन्दर्य तथा आनन्द को अपने रंगों की तूली से अंकित कर सकें। उसके वैज्ञानिक केवल बाहरी प्रकृति का ही उद्घाटन करके सन्तुष्ट न हो जायें बल्कि मनुष्य के अन्तर्जगत के रहस्यों की भी खोज कर सकें और उन दोनों को मनुष्य के कल्याण के लिए उपयोग में ला सकें। भारत का समाजशास्त्र सामाजिक विकास के नियमों के साथ ही मानव के आत्मिक विकास के नियमों का भी अध्ययन करे और एक सर्वांगपूर्ण सामाजिकता में मनुष्य को सृजनात्मक श्रम का आनन्द प्रदान कर सके। इस नवीन मानव-संस्कृति में विश्व-ऐक्य की महिमा के साथ ही प्रत्येक देश की विशिष्टता तथा व्यक्ति के स्वभाव-वैचित्र्य की सुन्दरता भी पूर्ण रूप से प्रस्फुटित होकर अपने को चरितार्थ कर सके। ऐसी ही मनोकामना मेरी अपने भारत के भविष्य के प्रति है।

उस पार न जाने क्या होगा ?

यह विधाता का एक बड़ा भारी व्यंग्य ही है कि जीवन से भी अधिक गम्भीर तथा महत्त्वपूर्ण होकर मनुष्य की चिन्तना के सम्मुख मरण का अनिर्वचनीय प्रश्न, प्राचीन काल से ही, रहस्यमय रूप में उपस्थित होता रहा है। इस मृत्युभय से प्रेरित उस पार की कल्पना ने मनुष्य का हित करने के बदले उसका घोर अहित ही किया है। हमारे देश में तो उस पार अथवा परलोक की भावना ने मध्य-युगों से इतना विराट् रूप धारण कर लिया कि विद्वानों एवं विचारकों की समस्त मनीषा तथा जनसाधारण की समस्त जिज्ञासा एवं चिन्ताधारा ने परलोक का अपरूप आकार ग्रहण कर जाति की समस्त शक्ति तथा चेतना को इहलोक के प्रति विमुख तथा ऐहिक एवं सामाजिक जीवन के प्रति विरक्त बनाकर पूर्वजन्म तथा परलोक के अनुर्वर, आकाशकुसुमवत् सिद्धान्त के दुर्गम जंगल में भटका दिया। मेरे मन में पूर्व-जन्म तथा परलोक की कल्पना के प्रति कभी भी आकर्षण नहीं रहा है। वह धरती के जीवन से बाहर का प्रश्न तो है ही, बुद्धि अग्राह्य भी है। इस दुर्ज्ञेय कल्पना के विषफल-स्वरूप कर्मफलवाद के निर्मम सिद्धान्त ने तो जैसे सामाजिक दृष्टि से हमें पक्षाघात-पीड़ित ही बना दिया है और पूर्व-जन्मों के कर्मफल के तर्कों के भँवर में फँसकर हमारी स्वतन्त्र संकल्प-शक्ति तथा जीवन-निर्माण की प्रेरणा, तागों

के जाल में लिपटी हुई बिल्ली की तरह, अपने को सुलझाकर मुक्त करने की चेष्टा में, और भी अधिक उलझकर असमर्थ तथा असहाय होती गयी है।

वास्तव में, जन्म की तरह मृत्यु भी इसी पार की वस्तु है। और जन्म-मरण भी, प्रभात और सन्ध्या की ही तरह दो सुनहले द्वार हैं जिनसे आवागमन कर जीवन की चेतना इस पृथ्वी पर विचरण करती और देश-काल के विकासशील रंगमंच पर, नित्य नवीन अभिनय करती रहती है। गीता के 'अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत, अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिवेदना' के अनुरूप ही जीव अथवा व्यक्ति का जन्म-मरण उतनी महत्त्वपूर्ण घटना नहीं—वह ममत्वपूर्ण भले ही हो—जितना कि जीवन-शिल्पी अथवा सेवक के रूप में व्यक्ति का समाज को आत्मदान अथवा कर्मदान है जिसे गीता में कर्तव्यबोध अथवा स्वधर्म कहा गया है। पूर्व-जन्मों की कर्म-परम्परा का सिद्धान्त अधिकतर केवल पुरुषार्थहीन कपोलकल्पना बनकर रह गया है, जिसने हमारे यहाँ भाग्यवाद जैसे भयकर सिद्धान्त को जन्म देकर तथा मनुष्य को जीवन-संघर्ष से विमुख बनाकर एवं सामाजिक दृष्टि से असंगठित, निःशक्त तथा आत्म-मुक्ति, आत्म-कल्याण के स्वार्थ-साधन में रत रखकर उसे सब प्रकार से दुर्बल तथा जीवन-अक्षम बना दिया है। व्यक्तिगत कर्म से अधिक मूल्य, मेरी दृष्टि में, सदैव से सामूहिक कर्म का रहा है।

वह किसी देश या जाति के लोगों का सामूहिक अथवा सामाजिक कर्म ही होता है जो व्यक्तियों के भाग्यों का निर्णायक बनकर उनके जीवन को सुख-दुखमय अथवा वैभव-दारिद्र्य सम्पन्न बना सकता है। और वह पिछली पीढ़ियों का निर्माण-कार्य अथवा दान ही है जिससे आगे की पीढ़ियाँ धरती की परिस्थितियों को क्रमशः अधिकाधिक सुविधाजनक बनाकर व्यक्ति के लिए अपने सत्कर्मों का पुण्यफल छोड़ जाती है। वास्तव में जीवन एक अखण्ड अक्षय चेतनासिन्धु के समान है और जिस प्रकार नितल अवाक् समुद्र में असंख्य तरंगें उठ-गिरकर, जन्म-मरण की लीला कर, फिर समुद्र ही बन जाती है उसी प्रकार अनन्त जीवों की पीढ़ियाँ भी एक ही जीवन-सिन्धु की सन्तानें है और वही उनकी वास्तविक सत्ता होने के कारण, वे अपना पृथक् तरंगाकुल व्यक्तित्व धारण करने पर भी अन्ततः उसी में विलीन हो जाती या समा जाती हैं। अतः पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के पूर्व-जन्मकृत कर्मफल के अनुरूप उनके भविष्य-जीवन की क्षमता एवं सम्भावना को सीमित कर देना व्यक्ति के साथ ही इस आनन्द-सृजन-शील जीवनी-शक्ति पर भी अन्याय करना है। मानो यह विराट् जीवन-शक्ति कोई निष्ठुर-संकीर्णहृदय स्कूलमास्टर हो, जो देश-काल के विद्यालय में अध्ययन करनेवाले अपने जीवन-छात्रों को बात-बात पर, उनकी छोटी-बड़ी भूलों पर कठोर दण्ड देती रहती हो। वास्तव में जीवन-चेतना या जीवनी-शक्ति का सबसे बड़ा भाग देश-काल सम्बन्धी नियमों में अभिव्यक्त हो रही उसकी सीमाओं से परे है और वह प्रत्येक पग पर अपने को अतिक्रम करने की उदार शक्ति से सम्पन्न है। आज के युग में—और एक दृष्टि से सभी युगों में—जब कि महान् क्रान्तियाँ तथा ऐतिहासिक उत्थान-पतन असंख्य मनुष्यों के भाग्यों को एक ही रात में

परिवर्तित कर उनके सम्मुख अधिक आशापूर्ण तथा सुखप्रद सम्भावनाओं के जीवन का नवीन पृष्ठ खोल रहे हैं—पूर्वजन्म के कर्मफल अथवा निष्क्रिय भाग्यवाद के निर्मम लोहे के पहियों में बाँधकर मानव-जीवन की सफलता को सीमित तथा पंगु बना देना किसी प्रकार भी तर्कसंगत या बुद्धि-सम्मत नहीं जान पड़ता। निश्चय ही सामूहिक रचना-कर्म अथवा सामाजिक निर्माण की चेतना पूर्वजन्मों के तर्कों से कहीं अधिक समर्थ, पुरुषार्थ की पोषक तथा मानवभाग्य-विधायक प्रतीत होती है। अतएव लोक-कल्याणरत स्वतन्त्र सामूहिक संकल्प-शक्ति का सबल सिद्धान्त रीढ़-हीन भाग्यवाद अथवा पुंस्त्वहीन पूर्व कर्मफल के लँगड़े निर्जीव सिद्धान्त के सम्मुख सिर झुकाकर नहीं चल सकता। मानव-नियति अवश्य ही कर्मफल के निष्फल सिद्धान्तों के चक्रों से बंधी न रहकर सामाजिक-ऐतिहासिक कर्मफल की दिशा की ओर विकसित होती रहती है। हमारी सामन्तयुगीन परिस्थितियाँ अपनी विशेष सीमा तक विकसित होने के बाद कालान्तर में गतिहीन, स्थिर तथा निष्क्रिय हो गयी थीं, और मैं सोचता हूँ, भाग्यवाद, पूर्व-कर्मवाद, परलोकवाद आदि जैसी अनेक भ्रान्त खोखली धारणाएँ, मुख्यतः, मनुष्य की इसी सामाजिक निष्क्रियता की द्योतक हैं जब कि सामूहिक प्रगति का चरण ऐतिहासिक घटनाओं के मरुस्थल में स्तम्भित तथा रुद्ध हो गया था और जाति-पाँति, श्रेणी-वर्ग, रूढ़िरीति, नियम-उपनियमों में जकड़ा हुआ समाज का अस्थिपंजर-रूप स्मार्त ढाँचा अपने आगे न बढ़ सकने के अवसाद को पूर्वजन्म तथा उस पार के थोथे स्वप्नों में वाणी देकर एवं जगत् जीवन को मिथ्या, माया घोषित कर अपने ह्रासयुगीन जडत्व के अन्धकार को सार्थकता प्रदान करने की चेष्टा करता रहा। आज के महान् विश्व-निर्माण तथा राष्ट्रीय जीवनरचना के वैज्ञानिक युग में जीवन का सत्य सक्रिय होकर फिर से इतना आकर्षक होकर हमारे सामने उदय हो रहा है और सामूहिक जीवन की चेतना विशाल सागर की तरह उद्वेलित तथा आन्दोलित होकर मध्ययुगीन सीमित विचार-सरणियों के जीर्ण तटों को नवीन भू-जीवन की सम्भावना की असीम क्षमता तथा सौन्दर्य में प्लावित कर मानव के सामूहिक जीवन के अमरत्व की जिस आनन्द-तृप्त मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा आज मनुष्य के अन्तःक्षितिज में कर रही है उसके प्रोज्वल प्रकाश में 'उस पार न जाने क्या होगा' की कंकाल-शेष, पीतकाय, रिक्त क्लिष्ट चिन्तना एवं कल्पना, जैसे, अस्तित्व-शून्य प्रेतात्मा की तरह, अपने-आप ही मानव-मन के निश्चेतन के गर्भ में सदैव के लिए विलीन होने जा रही है।

पिछली अनेक खण्डपद्धतियों के कारण मनुष्य जिन विशेष कुल, गोत्र, वंश अथवा परिवारों में विभक्त हो गया है, उसकी चेतना, अपनी शाखाओं के विशिष्ट संस्कारों के गुणों का वैचित्र्य, अपने में स्वभावतः ही वहन करेगी और वे गुण विभिन्न व्यक्तियों के स्वभाव के अंग बनकर प्रकट होंगे। किन्तु एक सक्रिय सन्तुलित सामाजिक जीवन की शिक्षा-प्रणाली के प्रवाह में घुल-मिलकर उन संस्कारों की सीमाएँ भी अवश्य विकसित हो सकेंगी और इस प्रकार पूर्व कर्मों अर्थात् हमारे पूर्वजों के कर्मों के दाय की सार्थकता भी नवीन मानवता के विकास में बाधा-

व्यवधान न बनकर उसे मानव-जीवन की अनन्त पीढ़ियों के सौन्दर्य-वैचित्र्यक्रम से पूर्णता एवं आढ्यता ही प्रदान करेगी।

संक्षेप में, हमारे इस भू-गोलक के रूप में मूर्त जीवन-तत्त्व, अपने विकासशील पंखों पर निरन्तर गतिमान, आज अपने विकास की एक ऐसी स्थिति पर पहुँचने को है कि वह पूर्व जीवन तथा परलोक जैसी अनेक भ्रान्त धारणाओं की स्वर्णिम शृंखलाओं को तोड़कर, जहाँ बाहर की ओर अनन्त नील में उड़ान भरकर अपने अनेक सहकर्मी ग्रह-नक्षत्रों तथा पितृलोक रूपी चन्द्र से नवीन जीवन सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा है वहाँ उसे भीतर की दिशा में भी क्षुद्र वैयक्तिक अहंता के अन्धकार तथा जन्म-मृत्यु के खोखले भय के पाशों एवं जगत् जीवन सम्बन्धी अन्धविश्वासों से मुक्त होकर, तथा मानव-जीवन के सामूहिक अमरत्व में अन्तःस्थित होकर अपने अक्षत आनन्द में, नवीन सृजन उन्मेषों से प्रेरित हो, नित्य नवीन जीवन-मंगल के स्वप्नों को काल के हृदय-कमल में प्रतिष्ठित करना होगा। उस पार—अर्थात् इसी पार, आनेवाली पीढ़ियों का जीवन—इस पृथ्वी पर रचनामंगल के अक्षय सौन्दर्य से पूर्ण, विश्व-शान्ति, मानव-प्रेम तथा जीवन-आनन्द का चिर आकांक्षित स्वर्ग बसा सकेगा जो मानव सन्तान के अश्रान्त अजस्र श्रम से विकसित होता रहेगा और इस पृथ्वी को विद्वेष, कलह और अन्धकार के नरक से ऊपर उठाकर उसे अमृत-पुत्र मानव के रहने योग्य बना सकेगा। इस पार का वह आनेवाला छोर ही हमारा सुनहला उस पार है जहाँ मानव-जीवन की चरितार्थता उसकी समस्त आकांक्षाओं की पूर्ति तथा उद्देश्यों की सिद्धि जीवन-नियन्ता के अमर वरदान के स्वरूप चिरकाल से जीवन-संघर्ष में निरत मनुष्य को प्राप्त हो सकेगी।

ग़ालिब

कोई भी महान् साहित्यकार या कवि किसी विशेष भाषा या किसी विशेष देश-काल की परिधि में सीमित नहीं रह सकता। उसका कृतित्व सार्वभौम होता है और उसकी सृजन-चेतना भाषा के तटों को लाँघकर, रसातिरेक की बाढ़ में, समस्त मानवता के हृदय को आप्लावित करने की शक्ति रखती है। शेक्सपियर और कालिदास की तरह ग़ालिब का स्थान भी संसार के इसी प्रकार के उच्च कोटि के कवियों में सुरक्षित है, जिनकी रचनाओं की प्रत्येक पंक्ति विभिन्न अवसरों तथा परिस्थितियों में नित्य नये अर्थों को प्रकट करने की क्षमता रखती है। प्रत्येक पीढ़ी का काव्य-प्रेमी पाठक उनकी रचनाओं में अपनी बौद्धिक योग्यता तथा भाव-प्रवणता के अनुरूप नये गुण, नया आस्वाद तथा नये चमत्कार खोज निकालता है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब सर्जक या रचनाकार थोथे तथा खोखले शब्दाडम्बर से ऊपर उठकर, शब्द तथा अर्थ के मर्म में पैठने की क्षमता रखता हो और वह अपने युगप्रबुद्ध मन की अंगुलियों के स्पर्शों से काव्य-तन्त्री में मानव-आत्मा के स्वर को उसी प्रकार जगाने की सामर्थ्य रखता हो जिस प्रकार वीणाकार अपनी साधना

में तन्मय वीणा के तारों से अश्रुत सम्मोहक संगीत की सृष्टि कर सकता है।

ग़ालिब उर्दू भाषा के अत्यन्त लोकप्रिय कवियों में एक हैं। इन्हें इक़बाल ने जर्मन कवि गेटे का समकक्ष माना है। इधर सौ वर्षों में ग़ालिब की ओर काव्य-प्रेमियों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ है, दीवान-ए-ग़ालिब के अनेक छोटे-बड़े संस्करण निकल चुके हैं। और हिन्दी-काव्य-प्रेमियों ने भी उनकी रचनाओं का बड़े चाव से रसास्वादन कर उनके महान् कृतित्व के प्रति अपनी श्रद्धा के पुष्प समर्पित किये हैं एवं उनका गम्भीर अध्ययन-मनन तथा विश्लेषण किया है।

ग़ालिब का जन्म आगरा में सन् १७९७ में हुआ था और उनकी मृत्यु दिल्ली में सन् १८६९ मे हुई। उनका नाम मिर्ज़ा असदुल्लाह् खाँ था, और कवि नाम 'असद' और 'ग़ालिब'। वे ऐबक तुर्क वंश के थे और इस खानदान ने उन्हें चौड़ी हड्डियाँ, लम्बा क़द, सुडौल इकहरा शरीर, भरे-भरे हाथ-पाँव, घनी लम्बी पलकें, बड़ी-बड़ी बादामी आँखें और सुर्ख़-ओ-सफ़ेद रंग दिया था जो सुरापान के कारण पीछे चम्पई हो गया था। ग़ालिब का स्वभाव ईरानी, शिक्षा-दीक्षा और संस्कार हिन्दुस्तानी थे और भाषा उर्दू। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक था, उनमें जन्मजात काव्य-प्रतिभा थी, वे कुशाग्र बुद्धि तथा स्वतन्त्र विचार के शिष्ट व्यक्ति थे। शेर कहना उन्होंने छुटपन से ही शुरू कर दिया था और प्रायः तीस वर्ष की आयु में ही वे दिल्ली से कलकत्ता तक कीर्ति तथा प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। उनकी शिक्षा जैसी भी रही हो पर मानव-जीवन का अध्ययन उनका निःसन्देह अत्यन्त गहन तथा व्यापक रहा है। वे सहस्रों व्यक्तियों के सम्पर्क में आ चुके थे और मनुष्य-स्वभाव के हर पहलू की जानकारी रखते थे। उन्होंने स्वयं कहा है, 'मैं मानव नहीं, मानव-पारखी हूँ।' क्या बादशाह, क्या धनी, क्या मधु-विक्रेता, क्या पण्डित, क्या अंग्रेज़ अधिकारी—उनके असंख्य निजी दोस्त थे, जिनमें घुल-मिलकर उन्होंने मनुष्य-स्वभाव का गहरा ज्ञान प्राप्त किया था।

युवावस्था में वे संगीत, नृत्य तथ मधु के प्रेमी एवं सौन्दर्योपासक थे। उन्होंने न कभी नमाज़ पढ़ी, न रोज़ा रखा और न शराब ही छोड़ी। धर्म के बाहरी विधि-विधान के प्रति विरक्त होने पर भी वे पूर्ण रूप से आस्तिक थे और ख़ुदा, रसूल तथा इस्लाम पर उन्हें अनन्य विश्वास था। यौवन के भावावेगों तथा आमोद-प्रमोद के प्रति विरक्त होने के बाद उन्होंने सूफ़ियों का-सा स्वतन्त्र जीवन-दर्शन तथा आचार-विचार अपनाया और सभी धर्मों के प्रति समभाव तथा हिन्दू, मुसलमान एवं ईसाई सबके साथ समान व्यवहार रखा।

कुछ घटनाओं तथा परिस्थितियों ने ग़ालिब के जीवन को गम्भीर रूप से प्रभावित किया है जिनमें मुख्य हैं—उनका बचपन में अनाथ हो जाना, उनका दिल्ली का निवास तथा कलकत्ता की यात्रा। इनका प्रभाव उनके व्यक्तित्व ही नहीं उनके कृतित्व में भी पाया जाता है। वे पाँच वर्ष की आयु में ही पिता के वात्सल्य से वंचित हो चुके थे जिससे उनकी शिक्षा-दीक्षा का उपयुक्त प्रबन्ध नहीं हो सका था। वे मात्र अपनी जन्मजात प्रतिभा तथा स्वभावगत संस्कारों के बल पर ही अपने लिए रास्ता बनाकर आगे बढ़ सके। संघर्ष उनके जीवन का मुख्य अंग रहा। जिस धीरज, साहस और

दार्शनिक तटस्थता के साथ वे जीवन-भर निर्धनता से संघर्ष करते रहे, उससे व्याकुल तथा उद्विग्न होते रहे, उसने भी उनके कृतित्व पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। जीवन की कड़वाहट को पीकर वे उर्दू काव्य में हृदय की जो भाव-मधुरिमा उँडेल सके, परिस्थितियों के मरुस्थल से जिस करुणा-द्रवित सौन्दर्य-रस की धारा ग्रहण कर उर्दू-साहित्य-वारिधि को लबालब भर सके, वह केवल एक महान् तथा उच्चकोटि की प्रतिभा से ही सम्भव हो सकता है, जिसने अपनी मर्मस्पर्शी अन्तर्भेदिनी दृष्टि से जीवन के ऊँच-नीच तथा सुख-दुख के द्वन्द्वों को अतिक्रम कर उसका रहस्य समझ लिया हो। यही रहस्य-बोध, अवसाद-मिश्रित हर्ष उनके काव्य का सर्वोपरि गुण है जो मनुष्य को एक अतीन्द्रिय कल्पना-लोक में उठा देता है। उन्होंने एक जगह अपने पत्रों में लिखा भी है कि निर्धन तथा अभावग्रस्त मन का आधार केवल कल्पना है, जो उसके भीतर एक नये संसार का निर्माण कर उसे जीवित रहने के लिए शक्ति प्रदान करती है।

ग़ालिब के कृतित्व में किसी व्यवस्थित दर्शन-विशेष को खोजना व्यर्थ है—पर उसमें उनके गहरे चिन्तन तथा जीवन के सुख-दुख के द्वन्द्वों तथा प्रेम के प्रति अन्तःस्पर्शी दार्शनिक दृष्टि की छाप मिलती है। सामान्यतः वे एक प्रकार के सर्वात्मवाद में विश्वास करते प्रतीत होते हैं। वे विश्व को आईनः-ए-आगही अर्थात् चेतना का दर्पण मानते थे। न केवल मानव जिस दिशा को मुँह करता है 'वह ही वह' नजर नहीं आता, बल्कि उसका मुँह भी खुद उसी का मुँह है। इस प्रकार वे एक प्रकार के अद्वैतवाद में विश्वास करते प्रतीत होते हैं। इस दृष्टिकोण ने उनके काव्य में एक आशावाद को भी जन्म दिया है। 'बिना दुख के रे सुख निःसार' वाली भावना उनमें जगह-जगह मिलती है। दुख और सन्ताप को वे आनन्द की नवीन रूप में अनुभूति के लिए आवश्यक समझते थे। स्वयं मृत्यु जीवन को अभिनव आनन्द प्रदान करती है, उसे नवीन जन्म देकर। संसार की कठिनाइयाँ मनुष्य के पौरुष को जगाने के लिए, उसकी भावना की तलवार को सान पर चढ़ाने के लिए अनिवार्य रूप से सहायक होती हैं।

यही कारण है कि ग़ालिब का ग़म इतना मोहक है, उसमें हर्ष का उत्फुल्ल स्पर्श मिला हुआ है। उनकी शायरी में दुःख और हर्ष को पृथक् करना असम्भव है। वे निःसन्देह ग़म की खुशी के शायर हैं। वे अत्यन्त विपन्न परिस्थितियों में भी जी खोलकर हँस सकते थे। उनके अनगिनत चुटकुले और पत्र इसके साक्षी हैं। भूख, मौत, अपमान—इन सभी का सामना उन्होंने साहस तथा पौरुष के साथ, व्यंग्यपूर्ण कटु हास्य के साथ किया है। उनका दर्द अपनी सीमा पार कर स्वयं दवा बन जाता है। वे हृदय की इतनी गहराई से गजलों को लिखते थे कि उनकी प्रत्येक उक्ति मन के परदों में बिजली की तरह कौंध उठती है। उनमें कहीं मदिरा से भी मादक एक ऐसा नशा रहता है जो सुननेवाले को मस्त तथा मदहोश बना देता है। निःसन्देह ग़ालिब की ग़ज़लें गीतात्मकता की पराकाष्ठा हैं। उनकी गतिशील कल्पना या इमेजरी चित्रात्मकता की अद्भुत निदर्शन है। उनकी अछूती उपमाओं तथा अनुपम रूपकों के जादू से प्रत्येक अक्षर नृत्य करने लगता है। शब्द अपनी कूपवृत्ति लाँघकर भव-सागर के अतल विस्तार में डूब जाते हैं। उन्होंने ठीक ही कहा है :

हैं और भी दुनिया में सखुनवर बहुत अच्छे
कहते हैं कि ग़ालिब का है अन्दाज़े-बयाँ और।

निःसन्देह ग़ालिब की तुलना और किसी से नहीं की जा सकती। वे अपनी उपमा आप हैं। ऐसे महान् स्रष्टा तथा जीवन-द्रष्टा मनुष्य के हृदय को वशीभूत करने की शक्ति रखते हैं। अपने इन्हीं अतुलनीय गुणों के कारण ग़ालिब मुझे प्रिय हैं।

कवीन्द्र रवीन्द्र

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ और महात्मा गांधी इस युग में हमारे देश की मानसिकता के दो महान् गौरवशिखरों अथवा स्तम्भों के समान हुए जिन्होंने भारतवर्ष के चैतन्य के प्रकाश को देश-देशान्तरों में फलाकर संसार का ध्यान विश्वएकता तथा मानवबन्धुत्व के उन आदर्शों की ओर आकृष्ट किया जिनका कि हमारा देश अत्यन्त प्राचीन काल से समर्थक रहा है। इनमें महात्मा गांधी भारतवर्ष की निष्काम कर्मचेतना के प्रतिनिधि बनकर आये, जिन्होंने आज के युद्धजर्जर देशों को सत्य तथा अहिंसा का सन्देश दिया और उन्हीं की संगठितशक्ति से देश की चिरकालीन पराधीनता की शृंखलाएँ छिन्न-भिन्न कर उसे स्वतन्त्र बनाया; और विश्वकवि रवीन्द्रनाथ भारतीय चेतना के पुनर्जागरण के विख्यात चारण बन कर उदित हुए जिन्होंने अपनी प्रतिभा से संसार के सभी देशों को विमुग्ध कर उनमें मानवएकता तथा विश्वबन्धुत्व की वैष्णव भावना का प्रचार किया। रवीन्द्रनाथ की बहुमुखी प्रतिभा ने, निःसन्देह, भारतवर्ष की कीर्तिपताका समस्त संसार में फैलाकर तथा उसकी ओर विश्व के मनीषियों का ध्यान आकर्षित कर उसका सम्मान बढ़ाया। वैसे तो रवीन्द्रनाथ ने साहित्य के सभी क्षेत्रों को अपनी अद्भुत प्रतिभा तथा कला कुशलता से छूकर उनमें नवीन जीवन का संचार किया किन्तु वह मुख्यतः कवि और गीतिकार के रूप में ही हमको अपनी अजस्र रसमाधुरी से चमत्कृत करते हैं। और मैं तो कहूँगा कि कवि से भी अधिक वह अद्वितीय गीतिकार के रूप में हमारे हृदय की तन्त्री को अपनी विचित्र भावलहरी तथा स्वरयोजना से आनन्द विभोर कर देते हैं। रवीन्द्रनाथ के जोड़ का गीतिकार संसार के किसी भी भाषा-साहित्य में मिलना सम्भव नहीं। उनकी शब्दयोजना, पदभंगी तथा स्वरगरिमा अपनी परिपूर्णता में अतुलनीय हैं। उन्होंने गीतों को लिखा नहीं है, उन्हें जैसे अपने हृदय के माधुर्य में अनायास ही ढाल दिया है और गीतिकार के रूप में उनके यशःकाय को जरा-मरण का भय नहीं है, वह सदैव अक्षय एवं अक्षुण्ण रहेगा।

रवीन्द्रनाथ की महान् कीर्ति के अनेक कारण हैं। एक तो वह भारतीय पुनर्जागरण के कवि रहे हैं जिन्होंने भारतवर्ष की आध्यात्मिक भावनाधारा को युग के अनुरूप नवीन सौन्दर्य तथा कलाबोध में रूपायित कर उसे संसार के सामने रखा। दूसरा, उन्होंने पश्चिम की संस्कृति तथा साहित्य का भी गम्भीर अध्ययन कर उसे अपनी अन्तर्दृष्टि से भारतीय

मानस के अनुकूल बनाकर पूर्व और पश्चिम के छोरों को अपनी प्रतिभा के सुनहले सेतु से मिला दिया। स्वामी रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानन्द के आविर्भाव के कारण भारतीय दर्शन अपनी मध्ययुगीन सीमाओं को अतिक्रम कर एक बार फिर अपनी औपनिषदिक गरिमा में जाग उठा था और कवीन्द्र रवीन्द्र से पूर्ववर्ती साहित्यिक बंगला भाषा का यथेष्ट परिष्कार तथा परिमार्जन कर चुके थे। साथ ही ब्रह्म समाज के रूप में भारतीय जीवनप्रणाली में पश्चिम के जीवनसौन्दर्य का प्रभाव एक नवीन सांस्कृतिक दृष्टिकोण बनकर बंगाल के प्रबुद्ध संस्कृत व्यक्तियों का ध्यान आकर्षित करने लगा था। रवीन्द्रनाथ ने अपने महान् व्यक्तित्व में इन सब प्रभावों को आत्मसात् कर तथा उन्हें अपने साहित्य में वाणी देकर उनमें एक व्यापक समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। उच्च तथा सम्पन्न कुल में पैदा होने के कारण उन्हें अपने विकास के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ तथा सुविधाएँ भी मिल गयी थीं। रवीन्द्रनाथ का पारिवारिक वातावरण भी अत्यन्त संस्कृत, कलात्मक तथा साहित्यमय रहा। इन सब बाह्य ऐश्वर्यों तथा संयोगों के परिवेश में पलकर उनकी प्रतिभा का संस्कार तथा विकास हो सका। वह कल्पना के सम्राट तो थे ही, उनकी गहन रसमर्मज्ञता, अद्भुत कलादृष्टि तथा सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति उनके काव्य के अतुल उपादान बनकर साहित्य-पारखियों तथा कला-प्रेमियों को विमुग्ध तथा विस्मयाभिभूत करते रहे।

कवि रवीन्द्र का बाह्य स्वरूप भी अत्यन्त मोहक तथा दर्शनीय था। गौरवर्ण, लम्बा डीलडौल, सुफेद दूधफेन-सी दाढ़ी, बड़ी-बड़ी रहस्यभरी आँखें और अपनी सुकुमार आकृति तथा विशिष्ट पहनावे के कारण वह देवपुत्र के समान प्रतीत होते थे। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव वैसा ही पड़ता था जैसे हिमालय के प्रशान्त शुभ्र शिखर का। उनका साहित्यिक व्यक्तित्व भी हिमालय ही के समान बृहदाकार था जिसमें अनेक ऊँचाइयों, गहराइयों तथा अनेक श्रेणियों का प्रसार था। शुभ्र आकाशचुम्बी ज्ञान के आलोकशिखर से लेकर रंग-विरंगे फल-फूलों से सजी, हरी-भरी, भौंरों की गुंजारों तथा पक्षियों की अनेक स्वरों की बौछारों से मुखरित घाटियों तथा उपत्यकाओं की तरह फैला उनका महान् कृतित्व एक विराट् क्षितिज के समान मन को मोहित करता रहता है—ऐसा विशाल क्षितिज जिसमें धरती का सौन्दर्य तथा स्वर्ग का ऐश्वर्य एक ही कलात्मक रेखा में सिमट गये हों। निःसन्देह, उनका साहित्य रत्नाकर-समुद्र ही की तरह है जिसमें आप आजीवन अवगाहन करते रहिए पर उसकी थाह आप नहीं पा सकते।

रवीन्द्रनाथ विचारों तथा वाणी के ही धनी नहीं थे वह जीवन के भी धनी थे। उन्होंने पूर्ण अर्थ में कवि का जीवन व्यतीत किया और अपनी आयु के प्रत्येक क्षण का उपभोग तथा उपयोग कर अपने कल्पना-सम्पन्न जीवन की अनुभूतियों का अपार मधु संचय किया। वह जीवन-यापन की कला जानते थे, उन्होंने जीवन की प्रत्येक घटना से रस ग्रहण किया है और उसे अपनी कल्पना तथा सृजनशक्ति से सँवार कर अमर एवं अक्षय बना दिया है। वह जीते-जागते सौन्दर्य के देवता थे। जो लोग कवीन्द्र रवीन्द्र के व्यक्तिगत सम्पर्क में आये हैं वही उनके व्यक्तित्व

के आकर्षण को समझ सकते हैं। उनके शिक्षासंस्थान शान्तिनिकेतन मे अब भी उनके अनेक अमूल्य अविस्मरणीय स्मृतिचिह्न रखे हुए है जिनसे आप उस महान् कवि, कलाकार, सौन्दर्यस्रष्टा तथा जीवनद्रष्टा के निरुपम व्यक्तित्व की झाँकी पा सकते है। निःसन्देह उनके सौन्दर्य तथा रस की साधना इतनी महान् थी कि वह अपने प्रत्येक कर्म, प्रत्येक कृति मे उसकी अमिट छाप छोड़ गये हैं और समस्त संसार को अपनी प्रभापुंज प्रसूत प्रतिभा से प्रभावित तथा चमत्कृत कर गये हैं। ऐसे महान् कलाकार सहस्रों वर्षो में इस पृथ्वी पर जन्म लेते है और उसकी कुरूपता को सौन्दर्य में, उसके रोदन को संगीत में, उसके अन्धकार को आलोक में तथा उसकी असंगतियों को रससंगति मे बदलकर उसे युग-युग तक मनुष्यों के रहने योग्य—सौन्दर्य, आनन्द, प्रेम तथा शान्ति के स्वर्ग मे परिणत तथा प्रतिष्ठित कर जाते है।

रवीन्द्रनाथ का कवित्व

यदि मैं कहूँ कि रवीन्द्रनाथ ने साहित्य के शिखर पर उदित होकर भारतीय कविता की परिभाषा ही बदल दी तो यह अत्युक्ति नही होगी। वास्तव में रवीन्द्र समस्त भारत के भारतेन्दु कहे जा सकते है जिन्होंने भारतीय साहित्य मे अनेक नवीन दिशाओं का उद्घाटन कर तथा सृजन कर्म को उच्च कोटि की कलारुचि, भावसंस्कार तथा नव-नवोन्मेषिणी कल्पना के ऐश्वर्य से सँवारकर भारतीय चेतना मे महान् जागरण का एक अकल्पनीय एवं नवीन अरुणोदय उपस्थित कर दिया। उनकी अतुलनीय मनस्विता, वहुमुखी प्रतिभा, गम्भीर जीवन दृष्टि तथा आनन्दद्रवित रसबोध से जो महत् प्रेरणा भारतीय साहित्य को मिली उसका अनुमान लगाना सरल नही है। उनकी काव्य चेतना सहस्रों इन्द्रधनुषों से लिपटे हुए विद्युत्-प्रभ, रस-नील मेघ की तरह भारतीय मानस क्षितिज मे उमड़कर सर्वत्र छा गयी। साहित्य की जिस विधा, जिस क्षेत्र को भी उन्होंने अपनी अद्भुत प्रतिभा की अँगुली से छुआ उससे जैसे किसी जादू के बल से एक नवीन सौन्दर्य तथा सम्मोहन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। निःसन्देह रवीन्द्रनाथ जैसे महान् कलाकारों तथा जीवन द्रष्टाओं की आत्मा को गढ़ने के लिए इतिहास को सहस्रों वर्षों तक शुभ्र रस पीठिका पर अजस्र साधना करनी पड़ती है जिससे रवीन्द्रनाथ की कोटि के 'रसो वै सः' पुरुष का अवतार अथवा आविर्भाव होता है। रवीन्द्रनाथ की प्रेरणा का सहस्रमुख स्रोत उनके गम्भीर रस-समुद्र के समान अन्तर मे था, अपनी अनेक कविताओं में वह अपने अन्तरतम में स्थित देवता को श्रद्धांजलि अर्पित कर उसकेसौन्दर्य माधुर्य के गीत गाकर अपने अक्षय संगीत में बखेरते रहे है। उसी अन्तर के गवाक्ष से वह मानवजीवन के सत्य का मुख निर्निमेष भावबोध में देखते रहे और उसके आलोक से धरती के जीवन के सौन्दर्य को सँवारते एवं उसका संस्कार करते रहे। अपने युग की व्यापक पीठिका पर एकाग्र चित्त से रस-समाधि लगाकर

उन्होंने सत्य शिव सुन्दर के मूल्यों को परखने-पहचानने तथा खोजने के लिए अत्यन्त कठोर साधना की और एक ओर पश्चिम की बढ़ती हुई भौतिक सभ्यता के मूल्यों तथा जीवनप्रणाली का विश्लेषण तथा परीक्षण कर, उसके कल्याणप्रद भावात्मक तत्वों को आत्मसात् कर, उसे अपनी विचारसरणि, भावनाधारा तथा सौन्दर्यबोध का अंग बनाया और दूसरी ओर अपने देश में सदियों से छायी हुई मध्ययुगीन जीवन-विमुख, संसार के प्रति विरक्त, निषेधात्मक, अन्धरूढ़ि-रीतियों से पथरायी मानसिकता के कुहासे को अपनी कुशाग्र बुद्धि तथा सम्यक् दृष्टि से चीरकर उन्होंने भारतीय चैतन्य के अक्षय, आनन्द-सक्रिय आलोक-सिन्धु में अवगाहन कर उसके शान्त शुभ्र मंगलमय प्रकाश को अपनी अमर वाणी की झंकारों के द्वारा लोकमानस में फैलाकर अपने देश में व्याप्त युग-युग के निष्क्रिय अवसाद के अन्धकार को मिटाया। इस प्रकार अपने गम्भीर अध्ययन, मनन तथा चिन्तन के बल पर रवीन्द्रनाथ ने एक ओर जहाँ पूर्व और पश्चिम दोनों भूभागों के लिए मंगलप्रद मानववाद तथा विश्वबन्धुत्व का सन्देश अपने युग को दिया, वहाँ दूसरी ओर अपनी विलक्षण प्रतिभा, अपराजेय कल्पना तथा विश्वमोहिनी सृजनशक्ति के द्वारा एक नवीन जीवन-प्रिय तथा सौन्दर्य-मुखर प्राणवाद तथा आनन्दवाद के मर्मस्पर्शी गीत गाकर, जैसे वेदों के इन्द्र को फिर से मरुतों के रथ पर बिठाकर, उन्होंने जीवनविजय की वैजयन्ती फहरायी। रवीन्द्रनाथ की भाषा एवं अभिव्यंजना की शैली जितनी भी अलंकृत तथा शब्द-बहुल रही हो और उनकी विचारधारा तथा जीवनदर्शन जितना भी अस्पष्ट तथा रहस्य की अनिर्वचनीय ऊँचाइयों तथा प्रसारों में खोया हुआ-सा रहा हो, उनके कृतित्व का महत्व उनके युग की परिस्थितियों के परिवेश को सामने रखते हुए किसी प्रकार भी न्यून अथवा नगण्य नहीं कहा जा सकता बल्कि इसके बिलकुल ही विपरीत उसका मूल्य आँकना इस संक्रान्ति युग की मानसिकता के लिए सम्भव एवं शक्य नहीं है। और समय आने पर जब इस परिवर्तनकाल के सन्देह का कुहरा फटकर विलीन हो जायगा और मनीषियों तथा जनसाधारण के मन का अन्तरिक्ष नवीन आस्था की उज्ज्वलता में निखर उठेगा तब रवीन्द्र की वाणी अपनी रहस्य तथा भेद की गाँठ जन-मन में खोलेगी, और उनकी जीवनदृष्टि का स्वच्छ सौन्दर्य लोगों के मन में एक नवीन मानवस्वर्ग का निर्माण करने में सफल होगा। उनके आशा-उल्लास भरे, छन्द झंकृत, पदमधुर, भाव-मुखर तथा रस-द्रवित स्वरों से विश्व जीवन तथा भूजीवन के प्रति एक नयी आस्था का उदय होगा जिससे मानव आत्मा का आलोक, उसकी बुद्धि का ऐश्वर्य, उसके प्राणों का आनन्द-रस तथा इन्द्रियों का सौन्दर्य अपने वैचित्र्य की एकता में घुल-मिलकर मनुष्य के भीतर अपने प्रति, समाज तथा विश्व के प्रति एक ऐसे महत् सामंजस्य भरे व्यापक दृष्टिकोण को जन्म देंगे जिसकी इस सफल तथा समग्र जीवन व्यतीत करने के लिए आज एकान्त एवं अनिवार्य आवश्यकता है।

रवीन्द्र के पूर्व समस्त भारतीय भाषाओं का साहित्य मध्ययुगीन रीति प्रभावों से पीड़ित, इतिवृत्तात्मक तथा पौराणिक पुरुषों के चतुर्दिक् औप-चारिक परिक्रमा कर उनकी गुणगाथा गाता हुआ प्राचीन पिटेपिटाये आदर्शों

का चर्वित चर्वण करता रहा। राम, कृष्ण, युधिष्ठिर आदि महत् नैतिक, सामाजिक एवं सार्वभौम व्यक्तित्वों के पीछे जो अविचल अलघ्य चैतन्य का पर्वतशृंग अपनी अनिमेष ध्यानमौन गरिमा में तिरोहित रहा उससे युग अनुरूप नवीन व्यापक मनुष्यत्व की प्रेरणा, जीवनी शक्ति तथा सौन्दर्य-दृष्टि ग्रहण कर तथा आनन्द शुभ्र नवीन साहित्य का प्रासाद निर्मित कर रवीन्द्रनाथ-जैसे प्रतिभाशाली कवि एवं कलाशिल्पी समस्त विश्व को अपने महत् जीवन के स्वप्न से चमत्कृत कर गये। उनसे पहिले भारतीय भाषाओं मे उस औद्भौम आलोक के रहस्यमय साक्षात्कार का महाप्राण सौन्दर्य तथा आनन्द नहीं प्रवाहित हो सका था। इस प्रकार वे एक प्रकार से समस्त आधुनिक भारतीय तथा विश्वसाहित्य बोध के जनक हैं, जिन्हें नवीन युग का आदिकवि भी कहा जा सकता है। यह सच है कि रवीन्द्रनाथ का परवर्ती साहित्य अनेक रूप से अनेक दिशाओं में बदल गया है और विचारों, मूल्यों, कला-शिल्प तथा रूप-विधान की दृष्टि से उसमे प्रतिदिन अनेक प्रकार के नये परिवर्तन के चिह्न प्रकट हो रहे है, पर उपलब्धि की दृष्टि से आज के युग का कृतित्व रवीन्द्रनाथ के स्वर्गचुम्बी व्यक्तित्व के टखनों तक भी नही पहुँच सका है। जिस जीवनदर्शन की गम्भीर नीव कवि रवीन्द्रनाथ साहित्य में डाल गये है उसके अनुरूप महत् अनुभूति के मंगल विधान की रचना परवर्ती साहित्यकार नही कर सके है और अपने अहंता के कूबड के बोझ से दबी जो बौनी कलाकारों की जाति उनके बाद विश्वसाहित्य मे एक महा-ह्रास की प्रतिनिधि बनकर आयी है और बौद्धिक बालुका पर क्षणिक भावोद्वेगों तथा अस्तित्वों के चित्र-विचित्र घरौंदे बना रही है, उनके तृणों के कीर्ति-स्तम्भों को काल उतने ही वेग से धराशायी भी कर रहा है। रवीन्द्रनाथ के महत् प्रकाशवान व्यक्तित्व के सूर्यास्त के बाद युगसन्ध्या के अन्धकार में भटकती हुई नयी पीढ़ियों को रवीन्द्रनाथ के महान् उद्बोधन के संगीत को समझने के लिए फिर से एक नवीन जीवन-सौन्दर्य के अरुणोदय में जन्म लेना होगा, जहाँ नये माधुर्य, आनन्द, प्रेम तथा शान्ति का अन्तर्जगत उनकी प्रतीक्षा कर रहा है और मानवजीवन एवं धरा-धाम को नयी स्वरसंगति में बाँधकर मानव-मन को नवीन चैतन्य के प्रकाश-लोक में प्रवेश कराने के लिए आतुर है—वहाँ कवीन्द्र अपनी भुवनमोहिनी वीणा लेकर मन्दस्मिति से उनके अभिवादन के लिए स्वयं तत्पर मिलेंगे। रवीन्द्रनाथ की काव्यचेतना मानवजीवन में तथा इस धरती के आँगन में सौन्दर्य मूर्त होकर प्रतिष्ठित हो सके, काल इसकी अपेक्षा कर रहा है। इन शब्दो में मैं कवीन्द्र रवीन्द्र की शत-वार्षिकी के शुभ अवसर पर उन्हे अपने हृदय की अनन्य श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

रवीन्द्रनाथ और छायावाद

रवीन्द्रनाथ अपने ही में एक सम्पूर्ण विश्व हैं—एक ऐसे अन्तर-विश्व, जो इस बाह्य विश्व से कही पूर्णतर, सुन्दरतर तथा मंगलमय है। ऐसी महान्

प्रतिभाएँ इतिहास की कोख में संसार की सहस्रों वर्षों की कृच्छ्र साधना के बाद जन्म लेती हैं और अपने चतुर्दिक् के जीवन, अपने युग या देश ही को नहीं, समस्त संसार की विकाससरणि को, समस्त मानवता के जीवन-अभियान को एक सीढ़ी ऊपर उठाकर उसे आगे बढ़ा जाती हैं। रवीन्द्रनाथ भारतीय चेतना के जागरण काल के कवियों में व्यास तथा कालिदास की परम्परा को अग्रसर करनेवाले, विश्व मानस के प्रतिनिधि स्वरूप, महाकवियों की महिमश्रेणी के ज्योतिष्पुंज ग्रह रहे हैं। उन्होंने भारतीय मानससमुद्र का मन्थन कर उसके रत्नों को नवीन युग की शोभा में संयोजित करके साहित्यपारखियों के सामने तो रक्खा ही, अपने युग की पलकों पर जन्म ले रहे विश्वजीवन, विश्वमानवता एवं विश्व-बन्धुत्व के स्वप्न को भी अपनी नव-नवोन्मेषिणी प्रतिभा के रूप-रंगों में निखारकर उसे मानवहृदय के लिए आकर्षक बनाकर संसार के सामने रखा। वह अपने युग के मंच पर विश्वमैत्री के सूत्रधार बनकर प्रकट हुए थे। इसीलिए उन्होंने अपने जीवन-काल में ही अपनी कीर्ति-पताका विश्व के सभी देशों में फैलाकर उन्हें जैसे एक नवीन मानव-परिवार के रूप में अपने को देखने की दृष्टि प्रदान की। रवीन्द्रनाथ जिस प्रकार पश्चिम के लिए पूर्व के सन्देशवाहक रहे उसी प्रकार पूर्व के लिए भी पश्चिम के जीवनसौन्दर्य तथा बौद्धिक ऐश्वर्य के व्याख्याता रहे। उन्होंने भारत की आत्मा को पश्चिम के यन्त्रयुग के सौन्दर्यबोध तथा जीवनदृष्टि में लपेट-कर उसे दोनों भूखण्डों के लिए एक नवीन सांस्कृतिक समन्वय, नवीन जीवनसंयोजन के रूप में प्रस्तुत किया। भारतीय चेतना के ऊर्ध्वचुम्बी आलोक, उसकी व्यापक संवेदना तथा अतलस्पर्शी माधुर्य को अपनी विश्वमोहिनी काव्यतन्त्री में पश्चिम के नवोत्कर्ष तथा जीवन-सौन्दर्य के स्वरों में साधकर उन्होंने सार्वभौम भावना के रस से प्लावित एक ऐसी काव्य-परम्परा को जन्म दिया जिसकी अनुगूँज प्रकट अथवा प्रच्छन्न रूप में सभी देशों के प्रबुद्ध हृदयों में नवीन रूप धरकर अंकुरित होने का प्रयास करने लगी। पश्चिम के अनेक समकालीन कवि उनसे प्रेरणा ग्रहण करने का प्रयत्न करने लगे और भारतीय भाषाओं के तो प्रत्येक प्रदेश के साहित्य को उन्होंने प्रभूत रूप से प्रभावित तथा अनुप्राणित किया। वास्तव में रवीन्द्रनाथ का साहित्य भारतीय चेतना की शक्तिमत्ता में पश्चिम के यथार्थप्रधान एवं वस्तुसौन्दर्यपरक जीवनबोध तथा बौद्धिक दर्शन का परिपाक था जिसकी शिराओं में विश्वजीवन के प्रति नयी आस्था, नये विश्वास तथा नये सौन्दर्य एवं आनन्द के रस का हृदय-स्पन्दन नवीन जीवन आकांक्षा के शोणित संगीत में प्रवाहित हो उठा था। भारतीय संस्कृति तथा साहित्य की सामन्तकालीन एवं मध्ययुगीन जड़ता, निष्क्रियता, औदास्य तथा नैराश्य उसकी प्राणवत्ता के पावक स्पर्श से नवीन भावना तथा कल्पना के आशा-उल्लासपंख सौन्दर्य-स्वप्नों में सुलग उठा। वह एक ओर स्वामी रामकृष्ण देव एवं विवेकानन्द के आविर्भाव से भारतीय चैतन्य का औपनिषदिक जागरणकाल रहा, दूसरी ओर पाश्चात्य संस्कृति के यन्त्र-सक्रिय भौतिक-बौद्धिक ऐश्वर्य के संघात का युग। रवीन्द्रनाथ की वाणी से, भारतीय मनोभूमि पर ज्ञान-विज्ञान के उस प्रथम समागम की झंकारें निःसृत होकर नवीन आशा तथा जीवन-

प्रेम का सम्मोहन लोक-मानस में भरने लगी, उनके प्रभाव के युग में हिन्दी में जिस काव्यधारा का विकास हुआ उसे छायावाद कहते हैं। छायावाद के प्रमुख निर्माताओं ने एक ओर जहाँ संस्कृत साहित्य तथा रवीन्द्र भारती से प्रारम्भिक प्रभाव ग्रहण किये वहाँ अंग्रेजी के रूमानी काव्य साहित्य से भी प्रभूत आत्म-व्यंजना, भाव-बोध तथा सौन्दर्य-दृष्टि प्राप्त की। छायावाद में रवीन्द्रनाथ की रहस्यवादी, वैयक्तिक भावानुभूति में आक्रान्त दृष्टि जीवन-सौन्दर्य की भूमि पर उतरकर अधिक वस्तुपरक बन सकी। वह अति वैयक्तिक संवेदनों के आग्रह को छोड़कर धीरे-धीरे सामाजिक जीवन-सौन्दर्य के संयोजन तथा उसकी परिपूर्णता पर बल देने लगी। विश्ववाद एवं विश्वबन्धुत्व के अस्पष्ट आदर्शों के कुहासों से मुक्त होकर छायावादी काव्य की सौन्दर्यभावना आगे चलकर अपने मानवतावाद के आदर्श को भू-जीवन-यथार्थ के अधिक निकट ला सकी। संस्कृति उसमें विकसित व्यक्तित्व की सम्पदा न रहकर लोकजीवन की सम्पदा बन गयी। वह भावपरक से बुद्धिपरक, आदर्शपरक से मूल्य-परक, संगीतपरक से अभिव्यंजनापरक बनती गयी। रवीन्द्र काव्य में वैज्ञानिक युग का जो सशक्त प्रभाव केवल भावना, कल्पना तथा प्राणिक उल्लास के स्तरों पर आत्मसात् एवं अभिव्यक्त हो सका था छायावाद में वह, धीरे-धीरे, सामाजिक जीवन के रचना-मंगल के स्तर पर संस्कृत-इन्द्रिय-जीवन के सौन्दर्य, विकसित सामाजिक जीवन के ऐश्वर्य तथा लोकमानव सम्बन्धी बोध के रूप में अधिक वास्तविक, ठोस तथा जीवन-मूर्त हो सका। इस प्रकार रवीन्द्र साहित्य की प्रेरणा की आलोकधारा छायावाद की भूमि पर भावी जीवनबोध के अग्निबीजों की फसल उपजाकर, नवीन यथार्थ का विद्युत् आघात पाकर अन्तर्धान हो गयी।

श्री रवीन्द्रनाथ के संस्मरण

मुझे सबसे पहिले कवीन्द्र रवीन्द्र के दर्शन सन् १९१८ में सुलभ हुए थे—और वह मात्र दर्शन ही थे। तब मैं बनारस जयनारायण हाईस्कूल में दसवीं कक्षा में पढ़ता था। सहसा एक दिन कवीन्द्र के आगमन की चहल-पहल बनारस में सुनायी दी। वह सम्भवतः नवम्बर का महीना था। एक दिन प्रातःकाल ११ बजे के करीब सब स्कूलों-कालेजों के छात्र थियासाफिकल सोसाइटी के भवन के अहाते में एकत्र हुए, कवीन्द्र ने अपने किसी नाटक का अंग्रेजी रूपान्तर छात्रों को सुनाना स्वीकार किया था। कौन-सा नाटक था अब मुझे स्मरण नहीं। हाँ, यह स्मरण पड़ता है कि हम छात्रों को कुछ देर तक उत्सुकता-पूर्वक कवीन्द्र की प्रतीक्षा करनी पड़ी थी और तब एक लम्बे ढीले काले लबादे में लिपटे कवीन्द्र रवीन्द्र सिर पर ऊँची काली मखमली टोपी लगाये यकायक एक ओर से मंच पर प्रकट हुए थे। आत्मगौरव के प्रतीक कवीन्द्र तब अपनी प्रसन्न गम्भीर मुद्रा में ऐसे लगते थे जैसे स्वयं कोई प्रकाशमान देवता ही मूर्तिमान होकर अपने तेज से आँखों को चकाचौंध कर देने के कारण काले लबादे से घिरा-

सा प्रतीत होता हो। कवीन्द्र ने हठात् अपना गला खखारकर तीव्र मधुर स्वर में, अभिनयपूर्वक, अपना प्राय: घण्टे-भर का नाटक सुनाया था। उसके पूर्व स्व० डा० भगवानदास ने संक्षेप में कवीन्द्र का अभिनन्दन किया था और अन्त में उन्होंने उन्हें धन्यवाद भी दिया था।

कवीन्द्र के दर्शन के बाद छात्रों में अनेक दिनों तक उन्हीं की चर्चा चलती रही। नि:सन्देह, रवीन्द्रनाथ का दीप्त व्यक्तित्व मेरे मन में भी अपना प्रभूत प्रभाव छोड़ गया था। मैंने बँगला के अध्ययन करने का विचार कर लिया और अपने भाई के एक मित्र की सहायता से बनारस ही में उसका श्रीगणेश भी कर दिया। इसके उपरान्त १४ वर्षों तक, कवीन्द्र के मनोमय दर्शन ही उनकी बँगला-अंग्रेजी पुस्तकों के माध्यम से सम्भव हो सके। रवीन्द्र साहित्य की भावना की उदात्तता तथा उनके काव्य के कालिदासोपम सौन्दर्य-बोध का मुझ पर गम्भीर प्रभाव पड़ा, किन्तु उनमें कालिदास के-से शब्दचयन का अभाव मिला और उसमें कीट्स की-सी कलाशिल्पिता तथा सूक्ष्म अभिव्यंजना की कमी मुझे सदैव खटकती रही। उनकी काव्यशैली प्राय: ही शब्दमुखर तथा ढीलीढाली है—अंग्रेजी अनुवादों में अधिक संयम, गठन तथा चुनाव मिलता है। एक-आध 'उर्वशी' जैसी रचनाओं को छोड़कर उनका शब्द-प्राचुर्य अधिक परिचय के उपरान्त अनाकर्षक ही हो जाता है। उनके गीत अलबत्ता अपनी मधुरता तथा सम्मोहन में बेजोड़ हैं। इसीलिए कवि रवीन्द्र से गीतिकार रवीन्द्र ही मुझे अधिक प्रिय रहे है।

सन् १९३३ के आस-पास ग्रीष्मऋतु में रवीन्द्रनाथ स्वास्थ्यलाभ करने को दो-ढाई महीनों के लिए अल्मोड़े गये थे। मैं तब वहीं था। सन १९१८ के कविदर्शन के बाद उनसे व्यक्तिगत परिचय प्राप्त करने का अवसर मुझे अल्मोड़े ही में मिला था। कवीन्द्र कैण्टोन्मेंट के एक भव्य बँगले में ठहरे थे। उन दिनों डा० चन्द्रा उनके प्राइवेट सेक्रेटरी थे। रामजे कालेज के बड़े हॉल में नागरिकों की ओर से कवीन्द्र के अनुरूप ही उनका अभिनन्दन हुआ था। बाद को रानीखेत के नागरिकों ने भी उनके स्वागत का विराट आयोजन किया था। मैं उसमे उपस्थित था और मैंने ही सभा को कवि का परिचय देने की प्रथा निभायी थी।—उसके बाद ही एक दिन मैंने शाम को डा० चन्द्रा से कवि से मिलने की इच्छा प्रकट की। डा० चन्द्रा मुझे बैठक में बिठाकर कवि की अनुमति लेने गये थे। दस मिनट की प्रतीक्षा के बाद कवीन्द्र बगल के दरवाजे से बैठक में उपस्थित हुए थे। मैंने सम्भ्रमपूर्वक उनको प्रणाम किया था। कवीन्द्र सामने के सोफे पर विराजमान हुए और क्षण-भर मुझे देखने के बाद डा० चन्द्रा से बँगला में बोले—'छुटपन में मैं भी इसी तरह के बाल सँवारता था पर बड़े होने पर मैंने यह ढंग छोड़ दिया—बडा बचकाना लगता है।' डा० चन्द्रा हँस दिये और मै भी उनकी ओर देखकर मुस्करा दिया। मैंने कवीन्द्र से उनके स्वास्थ्य के बारे में प्रश्न किया। उन्होंने उसके उत्तर में सिर हिला दिया और मुझसे बैठक की सजावट के बारे में बातें करने लगे कि किस तरह उन्होंने वहाँ की चीजों का उपयोग अपने ड्राइंग-रूम को सजाने में किया है। उन्होंने पहाडी सुराहियों को फूलदान बनाया था और पहाड़ी चिलमों को उलटकर उन्हे मोमबत्तीदान में बदल दिया

था। पहाड़ी सुराही और चिलम काली मिट्टी की होती हैं जिनसे मिलता-जुलता काम उन्होंने सुफेद मेजपोशों पर काले रंग के तागे से करवाया था। मैंने स्वभावतः उनकी सुरुचि तथा सूझ की भूरि-भूरि प्रशंसा की और कहा कि आप यहाँ के निवासियों के लिए सादगी और सौन्दर्य का उदाहरण प्रस्तुत किये दे रहे हैं।

मैंने फिर उनसे उनके स्वास्थ्य के बारे में पूछा—क्योंकि वे वहाँ स्वास्थ्यलाभ ही के लिए आये हुए थे। उन्होंने उसे अनसुना करके पहाड़ी स्त्रियों के पहनावे तथा रंगों के चुनाव के बारे में तारीफ करना शुरू कर दिया। उन्होंने कहा, पीली ओढ़नी में लाल फूल और काले लहँगे मे पीली गोट और चटकीले रंग के दुपट्टे यहाँ की गौरवर्ण स्त्रियों को खूब फबते हैं और यहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य के वातावरण से खूब मेल खाते हैं। सम्भवतः उन्होंने अल्मोड़े की शाह घराने की स्त्रियों को देखा होगा और उन्हीं को लक्ष्य करके ये बातें कही होंगी। उन्होने मुझे यह भी बतलाया कि वे यहाँ के पहाड़ी रंगों की खोज करवा रहे हैं और उन्हें अपने चित्रों में इस्तेमाल कर देखना चाहते हैं।

जब थोड़ी देर के बाद मैंने उनसे पूछा कि आपको अल्मोड़े का प्राकृतिक दृश्य कैसा लगता है तो उसका भी उत्तर न देकर वे बोले—'क्या तुम यहीं के रहनेवाले हो ?' मैंने कहा, तभी तो यहाँ की प्राकृतिक छटा के बारे में आपके विचार जानना चाहता हूँ। वह कुछ और कहने ही जा रहे थे कि डा० चन्द्रा ने धीरे से मेरे पीछे खड़े होकर कहा, ऊँचे स्वर में बोलो, तब अपनी बातों का उत्तर पाओगे। मैं नि सन्देह संकोचवश बहुत धीमे स्वर में बोल रहा था। मैं अपनी बातों का उत्तर न पाने का रहस्य समझ गया और मैंने अपना स्वर उठाया। कवीन्द्र ने उत्तर दिया, पहाडी सौन्दर्य मेरे लिए नया नही है—दार्जिलिंग से हिमशिखरों की शोभा और भी भव्य लगती है। उन्होने कहा, इस समय तो मैं यहाँ की जलवायु से लाभ उठाने आया हूँ। मैंने उनसे कहा, हम लोग भगवान से प्रार्थना करेंगे कि हमारे नगर में आपको पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ हो। मेरी इस बात से कवीन्द्र बड़े प्रसन्न हुए। उन्होने डा० चन्द्रा से बँगला मे कहा—इसे कभी खाने को बुला लेना और उन लडकियों मे भी कह देना कि दो-एक पहाड़ी चीजें तैयार करें। अल्मोडे की दो लडकियाँ तब शान्तिनिकेतन में पढ़ती थीं, कवीन्द्र का इशारा उन्हीं की ओर था।

बातों में देर हो गयी थी। मैंने डा० चन्द्रा से पूछा, गुरुदेव से मिलने फिर आ सकता हूँ ? डा० चन्द्रा के पूछने पर उन्होंने कहा—तुम जब चाहो आ सकते हो। मैंने कवीन्द्र से बिदा ली। वह अन्दर जाने को उठे। उनकी कमर झुक गयी थी, पर फिर भी वह बहुत सुन्दर लगते थे। अस्वस्थ होने पर भी उनके मुख पर तेज था और बड़ी-बड़ी आँखों में प्रकाश का सागर हिलोरें लेता था। मुझे जाने को तैयार देखकर उन्होने पूछा—शान्तिनिकेतन कभी गये हो ? मेरे 'नहीं' कहने पर उन्होने आदेश के स्वर में कहा—वहाँ जरूर आओ, तुम्हारी उम्र की वहाँ अनेक लड़कियाँ मिलेंगी। मैंने उनके चरण स्पर्श कर उनसे बिदा ली।

इसके बाद अल्मोड़े में कवीन्द्र रवीन्द्र से अनेक बार मिलने का अवसर मिला। वह पीछे के बरामदे में बैठ प्रायः दिन को चित्र बनाया

करते थे और मुझे वहीं बुला लेते थे। उनके सिर पर तब उनकी ऊँची टोपी नहीं रहती थी। मुझे उन्हें चित्र बनाते हुए में देखने का शुभ अवसर मिला। उन्होंने अलमोड़े में जो चित्र बनाये थे उनमें एक घने जंगल की आकृति थी, और एक में एक बड़ी चट्टान अंकित थी—ऐसा मुझे स्मरण आता है। एक बार मैंने कहा कि आपके चित्र मेरी समझ में नहीं आते तो उन्होंने अर्ध परिहास के स्वर में उत्तर दिया—उन्हें समझकर क्या करोगे? कविता तो समझ लेते हो न? रवीन्द्रनाथ ने मेरे अनुरोध करने पर अपनी 'उर्वशी' नामक रचना सुनायी थी। जब मैंने उनसे गीत सुनाने की प्रार्थना की तो उन्होंने कहा, गाने के लिए अब मेरा कण्ठ नहीं रह गया है। तुम चाहो तो गुनगुना सकता हूँ। उन्होंने मधुर गम्भीर स्वर में अपने गीत के पद गुनगुनाये।

एक दिन तीसरे पहर जब मैं कवीन्द्र के पास पहुँचा, उन्होंने मेरे पहुँचते ही कहा कि आज तुम्हारे एक कवि ने मुझे अपनी पहाड़ी रचनाएँ सुनायीं—यहाँ की बोली बँगला से बहुत मिलती-जुलती है। अब मैं यहाँ के लोगों से बँगला में ही बोलूँगा। और उन्होंने रानीखेत में अपने अभिनन्दन के अवसर पर मेरे भाषण का बँगला ही में उत्तर दिया।

इसके बाद मुझे कवीन्द्र से शान्तिनिकेतन में तीन-चार बार भेंट करने का अवसर मिला। मुझे शान्तिनिकेतन में देखकर वह बड़े प्रसन्न हुए। वहाँ के वातावरण में उनका गुरुदेव का व्यक्तित्व अधिक विशद लगता था। किन्तु जैसी घनिष्ठता से अल्मोड़े में उनके निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला था, वह फिर शान्तिनिकेतन में सुलभ नहीं हो सका। वहाँ उनका परिहासप्रिय रूप ही अधिक देखने को मिला। डा० हजारीप्रसादजी की ओर संकेत कर उन्होंने कहा कि मैंने तुम्हारे बारे में इनसे सब पूछ लिया है, तुम्हारे सम्बन्ध में जानकर मुझे प्रसन्नता हुई। मैंने वहाँ कवीन्द्र को 'चण्डालिका' का रिहर्सल कराते हुए भी देखा। उनके 'बुद्धं शरणं गच्छामि' के घन गम्भीर स्वर अब भी मेरे कानों में गूँज उठते हैं। उन दिनों मेरा रुझान मार्क्सवाद की ओर अधिक था। मैं रवीन्द्रनाथ के उन्नत आदर्शवाद के अतिरिक्त ऐतिहासिक वास्तविकता का बोध प्राप्त कर अपने लिए एक अधिक व्यापक मानसिक धरातल की खोज में था। रवीन्द्रदर्शन विचारों की दृष्टि से अस्पष्ट तथा वायवी ही है। वे पश्चिम के लिए पूर्व के आख्याता तथा पूर्व के लिए पश्चिम के सन्देशवाहक भले ही रहे हों पर उनका आदर्शवाद उनके युग की मध्यवर्गीय सीमाओं से बुरी तरह ग्रस्त है। उनकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति तथा अनुभूति अधिक प्रौढ़ होने पर भी उनकी कविता में छायावाद के सभी दोष न्यूनाधिक मात्रा में वर्तमान हैं। पश्चिम के ऐतिहासिक भौतिकवाद तथा जैवशास्त्र सम्बन्धी विचारधाराओं के कारण तब के बदलते हुए जीवन-मूल्यों के दृष्टिकोण के बारे में जब मैंने कवीन्द्र से पूछा तो उन्होंने हँसी में टालते हुए कहा कि, ना बाबा, उसके बारे में तुम्हीं सोचो। मैं अब बुढ़ापे में पुराने आदर्शों तथा जीवन-प्रणाली के विरुद्ध आवाज उठाऊँगा तो लोग मेरे मरने के बाद शोकसभाएँ नहीं करेंगे—तुम्हीं अपनी पीढ़ी की समस्याओं से जूझो और उनके बारे में लिखो।

रवीन्द्र के प्रति भावांजलि

रवीन्द्रनाथ इस युग के भारतीय जागरण के कवि रहे हैं। जागरण का संचरण अपने साथ जो कुछ भी भाव और विचारों का ऐश्वर्य, शिल्प-सौन्दर्य और रूप-कला आदि लाता है रवीन्द्र साहित्य उसका प्रतिनिधित्व करता है। कवि रवीन्द्र भाग्य के लाड़ले रहे हैं, उन्हें जहाँ एक ओर उच्च संस्कृत कुल और घर मिला, वहाँ दूसरी ओर नवीन जागरण की उद्बुद्ध चेतना और बंगाल के वैष्णव कवियों की महान् रस-सम्पन्न, सौन्दर्य, माधुर्य एवं आनन्द की धरोहर भी मिली है। बंगाल का वैष्णव साहित्य अपनी एक विशेषता रखता है। उसमें तत्कालीन भारतीय भाषाओं के साहित्य मे, सर्वाधिक रस का परिपाक हुआ है। साहित्य से लेकर धर्म और दर्शन तक मे उस युग में 'रसो वै सः' का पूर्णतम अवतरण श्रीराधाकृष्ण के अनिर्वचनीय प्रेम का आलम्बन लेकर सिद्ध हुआ है। गौरांग के प्रादुर्भाव से भारतीय जीवन तथा दर्शन की अपरिमेय सांस्कृतिक सम्पत्ति अपनी पराकाष्ठा मे पहुँचकर, श्रीराधा में मूर्त, महाभाव के रूप में चरितार्थ हुई है। चैतन्य चरितामृत में कृष्णदास कविराज कहते हैं :

'राधिकार भाव मूर्ति प्रभुर अन्तर
सेइ भावे सुखदुःख उठे निरन्तर'

मानव सुख-दुःख की भावना को अतिक्रम कर, उसे प्रेम सूत्र में गूँथकर, परमात्मा को अर्पण कर देना और उसी में तन्मय हो जाना—बंगाली वैष्णव कवियों को स्वभाव से ही यह हृदय की रससिद्धि मिली है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि श्रीराधाजी धर्म और दर्शन के क्षेत्र में अवतरित होने से पहिले साहित्य में प्रकट हुई हैं। चण्डीदास की शुद्ध भावना मे हम बंगाल की ग्रामबाला के सरल प्राकृत प्रेम के ही दर्शन पाते हैं—जो भाव भाषा छन्द उपमा की दृष्टि से अपनी ही अकृत्रिमता के कारण अलौकिकता के स्तर पर पहुँच गया है। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की काव्यशिराओं में यही अविच्छिन्न प्रीति की रसधारा प्रवाहित रही है। जिस प्रकार वैष्णव प्रेम-कविता का विकास विरह में, दुःख में तपकर हुआ—विरह की विकलता के ही कारण उसमें गहराई आयी और वह शुद्ध, व्यापक, अपतत्वमयी प्रणयभावना को अभिव्यक्त कर सकी—उसी प्रकार हमें रवीन्द्रनाथ के हृदय में भी एक रहस्यमयी विरहिणी नारी के दर्शन होते हैं जो अपने मार्मिक अन्तःस्पर्श से कवि की वीणा के तारों मे रसप्लावित स्वरों की सृष्टि करती रहती है।

प्रेम, आनन्द और माधुर्य ये जुड़वाँ भाई हैं—एक ही रस की सन्तानें। इसमें सन्देह नहीं कि रवीन्द्रनाथ की कविता मे प्रेम और आनन्द का रस मुख्यतः माधुर्य और सौन्दर्य के रूप में प्रकट हुआ है। जब रवीन्द्रनाथ 'अपने प्रभात' संगीत में 'मधुर मधु आलो, मधुर मधु वाय, मधुर मधु वेगे तटिनी बहे जाय' कहते हैं तो मन में अज्ञात रूप से वैष्णव कविता के रस-रूप कृष्ण की माधुरी का स्मरण हो उठता है—'मधुरं मधुरं वपुरस्य विभो मधुरं मधुरं वदनं मधुरम्—मधुगन्धि मृदुस्मितमेतदहो

मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम् ।' इत्यादि—और 'जेदिके आँखि चाय सेदिके चेये थाके—जाहरि काछे पाय ताहारे काछे डाके ।' आदि पंक्तियाँ उन प्राकृत प्रेम मे भरी बंगाली कविताओं की याद दिलाती हैं जहाँ कंक अथवा मइपाल बन्धु नाम के किसी चरवाहे की बाँसुरी सुनकर अबला कन्या सुध-बुध भूलकर जिस दिशा मे वंशी-ध्वनि आती है उसी ओर देखती रह जाती है। रवीन्द्रनाथ ने प्राचीन वैष्णव कविता से प्रभूत रस तत्व ग्रहण कर उसे युग के अनुरूप नवीन सौन्दर्य गरिमा का परिधान पहनाया है। भारतीय चेतना को उन्होंने पश्चिम के आधुनिक सौन्दर्य-बोध मे मण्डित किया है। उनकी प्रसिद्ध 'उर्वशी' नामक कविता में बंगाली काव्य की विचित्र प्रेमिका की ही नवीन रूप मे अवतारणा हुई है।

"नह माता, नह कन्या, नह वधू, सुन्दरी रूपसी,
हे नन्दनवासिनी उर्वशी !
गोष्ठे जबे सन्ध्या नामे श्रान्त देहे स्वर्णाचल टानि,
तूमि कोनो गृह प्रान्ते नाहि ज्वालो सन्ध्या दीप खानि।
द्विधाय जडित पदे, कंपवक्षे नम्र नेत्र पाते
स्मितहास्ये नाहि चलो सलज्जित बासरसज्जाते
स्तब्ध अर्ध राते।
उषार उदय सम अनवगुण्ठिता, तूमि अकुण्ठिता।"

उर्वशी नवीन भाव तथा सौन्दर्यराशि में मण्डित कवि की प्रणयचेतना की मूर्ति है। न वह मा है, न कन्या है, न बधू है—वह केवल सुन्दरी है—रूपसी है—स्वप्नों के नन्दनवन की निवासिनी, आद्यन्त, नखशिख केवल प्रेमिका है। उसे न साँझ को किसी गृहिणी की तरह गृहकक्ष में दीप जलाना है, न स्तब्ध अर्धरात्रि के समय लज्जाजडित पदो से, काँपते हुए वक्ष और झुके नेत्रपातों के साथ मन्दहास्य मण्डित मुख से पति के शयन कक्ष ही मे जाना पड़ता है। वह तो सामाजिक आचार-विचार की समस्त कुण्ठाओं से मुक्त, ऊषा के समान अगुण्ठित, स्वयं प्रस्फुटित हुई है। कैसे प्रस्फुटित हुई है ?—

'वृन्तहीन पुष्प सम आपनाते आपनि विकशि,
कबे तूमि फूटिले उर्वशी—
आदिम वसन्त प्राते उठेछिले मन्थित सागरे,
डानहाते सुधापात्र, विष भाण्ड लये वाम करे,
तरंगित महासिन्धु मन्त्रशान्त भुजंगेर मतो
पड़ेछिल पदप्रान्ते, उच्छ्वसित फणा लक्ष शत
करि अवनत।
कुन्द शुभ्र नग्न कान्ति शुरेन्द्र वन्दिता
तूमि अनिन्दिता।"

यह सुरेन्द्रवन्दिता, अनिन्दिता, विश्वप्रेयसी वृन्तहीन नालहीन पुष्प के समान अपने से अपने-आप ही तो प्रकट अथवा विकसित हुई। वह प्रथम वसन्त का प्रभात था जब सागर के मन्थित वक्ष से दायें हाथ मे सुधापात्र और बायें हाथ में विष-भरा कटोरा लेकर वह उठी थी—जिसके कुन्द-शुभ्र नग्न सौन्दर्य को देखकर तरंगित महासमुद्र मन्त्रकीलित भुजंग की तरह, अपने शत-शत उच्छ्वसित फणों को अवनत कर उसके चरणो

के तले लोट गया था। कैसा अद्भुत आकर्षण और सम्मोहन है, इस अनिन्द्य सौन्दर्यमयी प्रेमिका का, इस अनन्त यौवना रूपसी का। क्या यह कभी मुकुलिका बालिका भी रही होगी ? यह यौवनगठिता, यह पूर्ण प्रस्फुटिता रूपकला। न जाने यह अकेले किस मरकत गुहा में माणिक मोतियों के साथ शैशव की लीला करती रही होगी। मणि दीप से दीप्त कक्ष के प्रवाल के पालने में, सिन्धु के संगीत में यह न जाने किसके अंक में सोयी होगी—

जुग जुगान्तर हते, तुमि शुधू विश्वेर प्रेयसी
हे अपूर्व शोभना उर्वशी,
मुनिगन ध्यान भाँड़ि देय पदे तपस्यार फल
तोमारि कटाक्षपाते त्रिभुवन जीवन चंचल;
तोमार मदिर गन्ध, अन्धवायु बहे चारिभिते
मधुमत्त भृंग सम मुग्ध कवि फिरे लुब्ध चित्त
उद्दाम संगीते !
नूपुर गुजरि जाओ आकूल अचला
विद्युत् चंचला !

यह अपूर्व शोभना ही निश्चय युगयुगान्तर से भुवनमोहिनी, विश्वसृष्टि की प्रियतमा रही है—मुनियों का ध्यान भंग कर इसने उन्हें साक्षात् तपस्या का फल प्रदान किया है—इसके कटाक्ष मात्र से तीनों लोकों का यौवन उच्छ्वसित उद्वेलित होता रहा है—इसी की मदिर गन्ध को ढोती हुई वायु उन्मत्त हो चारों ओर दौड़ा करती है। कवि का चित्त इसकी रूप-राशि से लुब्ध होकर मधुमत्त भृंग की तरह उद्दाम संगीत में झंकृत हो विचरा करता है—

यह अक्षय सौन्दर्य माधुर्य की भुवनमोहिनी सृष्टि उर्वशी—हाय, इसकी तनिमा जगत के अविरत अश्रुधार से धौत है 'जगतेर अश्रुधारे धौत तव तनुर तनिमा'—इसकी चरण शोणिमा त्रिलोक के हृदयरक्त से रँगी है—नहीं तो सुरसभातल में नृत्य करनेवाली इस विलोल हिल्लोल उर्वशी की शोभा अपूर्ण ही रह जाती—इसके सौन्दर्य को पहचानने के लिए वैष्णव युग की विरह निकष साधना चाहिए।—इस निष्ठुरा वधिरा प्रेमिका के लिए युग-युग से दिशाएँ रो रही हैं।

'फिरिबे ना, फिरिबे ना, अस्त गेछे से गौरव शशी,
अस्ताचलवासिनी उर्वशी !

इसीलिए आज प्रत्येक वसन्तोत्सव के आनन्दोच्छ्वास में पृथ्वीतल पर 'कार चिर विरहेर दीर्घ श्वास मिशे र'हे आसे !' पूर्णिमा की रजनी में जब चारों ओर परिपूर्ण हास्य का सिन्धु उमड़ता होता है, न जाने कहाँ से दूरस्मृति व्याकुल कर देनेवाली बाँसुरी बजाती रहती है—आँखों से अपने-आप अश्रुराशि झर-झर पड़ती है। यही हृदय मन्थित कर देनेवाली विरह की व्याकुल पुकार हमें 'शाजाहान' शीर्षक सौन्दर्यमुग्ध रचना में सुनायी पड़ती है—'भूलि नाइ भूलि नाइ भूलि नाइ प्रिया !'—

राज्यशक्ति वज्र सुकठिन
सन्ध्यारक्त रागसम तन्द्रातले हय होक् लीन,
केवल एकटि दीर्घ श्वास

नित्य उच्छ्वसित हये शकरून करूक आकाश
एइ तब मने छिल आश।'

'सोनार तरी' की 'हृदय जमूना' शीर्षक रचना जो 'संचयिता' नामक रवीन्द्रनाथ के काव्यसंग्रह में संगृहीत है, वह भी मन की आँखों के सामने वैष्णव काव्य युग का वातावरण अज्ञात रूप से चित्रित कर देती है। कविता प्रतीकात्मक तथा रहस्यात्मक होने पर भी 'जदि भरिया लइबे कुम्भ' इस प्रथम पंक्ति से ही पनघट तथा यमुनातट पर एकत्रित गोपियों की स्मृति मन में जगा देती है। कविता इतनी सरल है कि वह पढ़ते ही मन में अंकित हो जाती है। उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं—

'जदि भरिया लइबे कुम्भ, एशो ओगो एशो, मोर हृदय नीरे।
तल तल छल छल कादिबे गभीर जल
उइ दुटि सुकोमल चरण घिरे।'
'आजि वर्षा गाढ़ तम निबिड़ कुन्तलसम
मेघ नामिया छे मम दुइटि तीरे।
एइजे शबद चिनि, नूपुर रिनिकिझिनि,
के गो तुमि एकाकिनी आसिछ धीरे।'

जदि भरिया लइबे कुम्भ, ऐशो ओगो एशो, मोर हृदय नीरे, इन पदों से वही वैष्णव युग की विरह क्लिष्ट प्रेम साधना की गूढ़ गम्भीर ध्वनि मन में गूँज उठती है—विशेषकर 'उइ दुटि सुकोमल चरण घिरे' अथवा 'के गो तुमि एकाकिनी आशिछ धीरे।' मानो गोपियों के नूपुरों से झंकृत 'रिनिकिझिनि' बज रही हो कविता के चरणों में। अन्तिम छन्द मे प्रमाराध्य को सर्वस्व समर्पण कर उसमें लीन एवं तन्मय हो जाने के सन्देश में भी वही श्रीकृष्णार्पणम् की निःशब्द गूँज मिलती है, जो इस प्रकार है :

'जदि मरन लभिते चाओ, ऐसो तबे झाँप दाओ सलिल माझे
स्निग्ध, शान्त, सुगभीर, नाहि तल, नाहि तीर,
मृत्यु सम नील नीर स्थिर विराजे।
नाहि रात्रि दिन मान, आदि अन्त परिमाण
से अतले गीत गान किछू ना बाजे।
जाओ सब जाओ भूले, निखिल बन्धन खुले
फेले दिये एशो कूले सकल काजे।
जदि मरन लभिते चाओ, एशो तबे झाँप दाओ
सलिल माझे!

रवीन्द्रनाथ की काव्यसृष्टि अपरिमेय है। उनका हृदय असीम का पुजारी रहा है। फलतः उन्होंने मानवजीवन के सौन्दर्य, आनन्द तथा मंगल को अपनी बहिरन्तर व्यापी दृष्टि से अनन्त रूपों में, असीम वर्ण गन्धों से परिपूर्ण देखा और चित्रित किया है। ऊपर उनके रसमर्मज्ञ कविहृदय की एक झाँकी भर प्रस्तुत की जा सकी है। रवीन्द्रनाथ रसमाधुर्य के अतिरिक्त शक्ति चैतन्य तथा उद्बोधन के भी कवि रहे हैं। उनकी 'निर्झरेर स्वप्न भंग' आदि अनेक रचनाएँ उनके पौरुष कण्ठ के आह्वान हैं। 'निर्झरेर स्वप्न भंग' पढ़ते समय मुझे सदैव लगा है कि जैसे यह शताब्दियों से सुप्त भारतीय चेतना के जागरण का उन्मुक्त प्रवाह हो।

इस रचना में जो शक्ति, स्फूर्ति, आवेग और उन्मत्तता है वह हृदय को छुए बिना नहीं रहती—उसका एक अंश यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ :

आजि ए प्रभाते रविर कर-केमने पशिल प्रानेर पर,
केमने पशिल गुहार आँधारे प्रभात पाखीर गान—
ना जानि केनरे एत दिन परे जागिया उठिल प्रान !—

पर्वत की गुहा या कारा में बद्ध निर्झर अपने प्रवाह को अधिक न रोक सकने के कारण कह रहा है—'जागिया उठे छे प्राण—ओरे उथलि उठे छे वारि, ओरे प्रानेर वासना प्रानेर आवेग रुधिया राखिते नारि।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

अभी कुछ ही महीने पहले, सम्भवतः मई मास में, जब मैं आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी की संगमर्मर की आवक्ष प्रतिमा का अनावरण करने रायबरेली गया था तो मुझे उस समय सहसा प्रतीत हुआ था कि इस सौम्य, तेजस्वी, सरस्वती के वरदपुत्र की हंसशुभ्र मूर्ति का अनावरण करने में जैसे राष्ट्रभाषा हिन्दी का एक महान् महत्त्वपूर्ण युग ही मन की आँखों के सामने साकार एवं अनावृत हो रहा हो। उस त्यागमूर्ति हिन्दी के अप्रतिम अनन्य निर्मायक की प्रतिमा एक नवीन ही अर्थवत्ता, आलोक तथा गरिमा से मण्डित होकर मेरी दृष्टि के सम्मुख उद्भासित हो उठी। गांधीजी ने खादी के ताने-बाने बुनकर जिस प्रकार उस अर्धनग्न विशालकाय देश की लाज को ढँकने का प्रयत्न किया उसी प्रकार जैसे क्रान्तदृष्टि भविष्यद्रष्टा ने चालीस करोड़ निर्धन, अवदमित भारतीय जनता को भावात्मक एकता में भूषित करने के लिए एक आर-पार व्यापी सशक्त भाषा का मानसिक परिधान निर्मित किया, जिसमें असंख्य कण्ठ एक साथ ही भारतमाता का जय-जयकार कर उठें।

इस सदी के जन्म के साथ ही जैसे खड़ी बोली हिन्दी का भी नया जन्म हुआ और उसने निश्चित रूप से हमारी मनोभूमि पर प्रतिष्ठित होकर नवीन युगभावना से प्रेरित अपने लोकव्यापी प्रगति के चरण बढ़ाने प्रारम्भ किये। आचार्य द्विवेदी ने सन् १९०३ में 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादन का भार ग्रहण कर जैसे 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल'—भारतेन्दु के दिये हुए इस शक्ति-बीज मन्त्र से अगणित देशवासियों को दीक्षित करने का महान् व्रत धारण किया और उनके जीवनकाल में ही भारत की भारती हिन्दी समस्त प्राचीन-अर्वाचीन युग-चेतना के प्रभावों को आत्मसात् कर एक अनन्त क्षमताशालिनी तथा ओजस्विनी भाषा के रूप में पुष्पित-पल्लवित होकर अनेकानेक उच्चकोटि के कवि-कोविदों, लेखकों, समीक्षकों, साहित्यकारों तथा संख्याहीन साहित्यानुरागी हिन्दी प्रेमियों को जन्म देकर विश्व की अन्य समुन्नत भाषाओं के साथ अपना स्थान बनाने की महत्त्वाकांक्षा से अनुप्राणित हो उठी।

द्विवेदीजी को एक व्यक्ति के रूप में देखना असम्भव हो जाता है, उनका व्यक्तित्व एक समूची पीढ़ी, एक समूचे युग का व्यक्तित्व बनकर

आँखों के सामने उद्घाटित होता है। द्विवदी-युग के बीस-पच्चीस वर्ष, भारतीय उत्थान के प्रारम्भिक संघर्ष के वर्ष थे, जिनमें भारतीय चेतना के जागरण की नीव पड़ी और जिसकी परिणति गांधीजी के असहयोग-आन्दोलन तथा स्वराज्य में हुई। संक्रान्तिकालीन अनेक बाधाओं तथा विषमताओं के होते हुए भी आचार्य द्विवेदीजी ने एक मुज्ञ सारथी की तरह हिन्दी का रथ विविध विरोधी मतान्तरों मे भरे युग के ऊबड़-खाबड़ पथ पर जिस दक्षता, साहस, धैर्य तथा कर्तव्यनिष्ठता के साथ हाँककर आगे बढ़ाया उसका स्मरण कर इस वृद्ध महारथी के प्रति मस्तक अपने आप ही श्रद्धानत हो उठता है। हिन्दी भाषा का रूप उससे पहले बिलकुल ही अव्यवस्थित जंगली बेल की तरह अपने ही बिखराव मे फैला कुछेक व्यक्ति-पादपो से लिपटा हुआ था। उसे एक सुलझी हुई सुव्यवस्थित, सुसंगठित लोकभाषा का, देशभाषा का रूप देना सरल न था। उसके लिए अश्रात अविरल परिश्रम, लगन तथा तत्परता के अतिरिक्त गम्भीर अध्ययन-मनन तथा अन्तर्दृष्टि की भी आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति द्विवेदीजी ने अपनी विलक्षण सूझ-बूझ, एकान्त तपस्या, निष्ठा तथा अपने युग के मनीषियों के सहयोग और उदीयमान प्रतिभाओं के समुचित पथप्रदर्शन द्वारा की। इन बीस-पच्चीस वर्षों के बित्ते मे हिन्दी ने जो सांगोपाग एवं सर्वांगीण उन्नति की उसे देखकर आज मन आश्चर्यचकित हो उठता है। निःसन्देह, इसका सर्वाधिक श्रेय आचार्य द्विवेदीजी को ही है। उनके सुज्ञ सफल निर्देशन से इस निर्माण-काल मे हिन्दी गद्य प्रायः कुछ ही वर्षों मे एक संस्कृत समुन्नत गद्य में विकसित हो सका। खड़ी बोली को कविता की भाषा बनाने का श्रेय भी उन्हीं को है। वे बहुभाषाविद् थे। भारतीय संस्कृति तथा पाश्चात्य संस्कृति से युग अनुरूप उच्च आदर्शों तथा संस्कृत अंग्रेजी साहित्य से जीवनोपयोगी सामग्री तथा मूल्यों को अपनाकर उन्होंने हिन्दी गद्य को सब प्रकार से परिष्कृत तथा समृद्ध बनाने की चेष्टा की। भाषा के अतिरिक्त उस युग के साहित्य ने जिस अकल्पनीय गति से प्रगति की उसका नेतृत्व भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप मे आचार्य द्विवेदीजी ही करते रहे। उन्होंने अपने कुशल निर्देशन, नियन्त्रण, व्यापक सहृदयता तथा सदाशयता के प्रभाव से अनेक कवियो, समीक्षकों, निबन्धकारों तथा कथाकारों को प्रोत्साहन देकर अपने युग के साहित्य को यथाशक्ति सभी प्रकार से परिपूर्ण तथा समुन्नत बनाने का प्रयत्न किया। उनका गद्य सरल, सशक्त तथा अभिव्यंजनापूर्ण होता था। मौलिक सर्जक उतने बडे न होते हुए भी वे अत्यन्त समर्थ सम्पादक, संयोजक तथा पथ-प्रदर्शक रहे हैं। भारतेन्दु के पद्य-युग को युग-प्रबुद्ध गद्य-युग में विकसित करने का श्रेय उन्हीं को है। वे हिन्दी-साहित्य के इतिहास के एक अक्षय कीर्तिस्तम्भ हैं। कीर्तिस्तम्भ ही नही, वे ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली, पद्य तथा गद्य युग के दो छोरों पर व्याप्त उस प्रशस्त स्वर्ण-सेतु के समान है जो मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, श्रीधर पाठक, नाथूराम शंकर शर्मा आदि जैसे अनेक गण्यमान कीर्ति-स्तम्भों की अखण्ड परम्परा के कन्धों पर अक्षुण्ण रूप से हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठित रहेंगे।

अपने युग के साहित्य में इस व्यापक तथा उन्मुक्त प्रभाव का कारण द्विवेदीजी का तपःपूत, निश्छल व्यक्तित्व भी था। वह बड़े ही कर्तव्यनिष्ठ,

कीर्तिपरायण, त्यागशील, दृढ़, निर्भीक, तेजस्वी तथा दूरदर्शी, मानवीय गुणों से ओतप्रोत व्यक्ति थे। अध्ययन-मनन तथा साहित्य-साधना की उन्हें एकान्त अदम्य लगन थी। अत्यन्त कठिन तथा संघर्षशील परिस्थितियों में उनका जीवन बीता। मनस्वी तथा कुशाग्रबुद्धि होने के कारण उन्होंने हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेज़ी साहित्य के अतिरिक्त, गुजराती, मराठी, बंगला आदि साहित्यों का भी यथेष्ट ज्ञान अर्जित कर लिया था। वे अत्यन्त सफल सम्पादक होने के साथ ही, सशक्त गम्भीर दृष्टि आलोचक, समर्थ निबन्धकार एवं गद्य लेखक तथा विनोदप्रिय एवं निर्भय व्यंग्यकार भी थे। उनके जोड़ का पत्रकार, जो अपने युग का प्रतिनिधित्व कर उसे अनुशासित करे, उनके बाद हिन्दी में देखने को नहीं मिलता। हिन्दी के मार्जन के साथ उसे अपनी ही लेखनी से जितने विविध विषयों से वे सम्पन्न बना गये, उतना और कोई पत्रकार आज तक नहीं कर सका। उनकी कर्मनिष्ठता तथा अश्रान्त सृजन एवं लेखन का कारण उनका सात्विक तापस का-सा जीवन भी था। उनका युग नैतिकता का तथा सुधारवाद का युग था। आर्यसमाज का नैतिक जीवन-उन्नयन सम्बन्धी प्रभाव उस युग के साहित्य में यथेष्ट मात्रा में वर्तमान है। संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ होने के कारण वे नैतिक होने के साथ ही रस-संस्कृत भी थे। उनका 'कुमारसम्भव' के सर्गों का अनुवाद तथा 'कविता कलाप' जैसे ग्रन्थों का सम्पादन इसी रसज्ञता के उदाहरण हैं।

अपने छात्र-जीवन के दिनों में 'सरस्वती' पत्रिका हम नौसिखिये साहित्यिकों के लिए अजस्र प्रेरणा की स्रोत रही है। हम द्विवेदीजी द्वारा लिखित 'कालिदास की निरंकुशता' जैसी आलोचनात्मक कृतियों तथा बाबू बालमुकुन्द गुप्त द्वारा उसके उत्तर में लिखित 'द्विवेदीजी की अनस्थिरता' जैसी व्यंग्यपूर्ण आलोचनाओं को पढ़कर भरपूर रस लेते थे। पीछे छायावादी कवियों के प्रति उनकी व्यंग्योक्तियों से तिलमिलाकर मैंने भी अपनी किशोर चपलता उनके प्रति प्रदर्शित की। 'गुंजन' में 'तेरा कैसा गान, विहंगम, तेरा कैसा गान' शीर्षक रचना व्यंग्यकार द्विवेदीजी को ही लक्ष्य करके लिखी गयी है—इससे पूर्व 'वीणा' की भूमिका में भी मैंने कुछ अपने मन की छटपटाहट व्यक्त की थी। सन् १९३३ में प्रयाग में द्विवेदी-मेले के अवसर पर उनके चिरअभिलषित दर्शन तथा उदार स्नेह का उपहार पाकर मुझे कृतार्थता का अनुभव हुआ था। उससे पहले सन् '२९ में मुझे द्विवेदीजी स्वर्णपदक भी प्रदान कर आशीर्वाद दे चुके थे। उसी वर्ष द्विवेदीजी के अभिनन्दन के अवसर पर मैंने उनके प्रति श्रद्धांजलि स्वरूप जो कुछ चरण लिखे थे उनके साथ ही उस महापुरुष की स्नेह पवित्र स्मृति को पुनः-पुनः श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ :

भारतेन्दु कर गये भारती की वीणा निर्माण
किया अमर स्पर्शों ने बहुविधि जिसका स्वर सन्धान।
निश्चय, उसमें जगा आपने मधुर स्वर्ण झंकार
अखिल देश की वाणी को दे दिया पूर्ण आकार।
पंखहीन थी क्षुब्ध कल्पना, मूक कण्ठगत-गान,
शब्द शून्य थे भाव, रुद्ध प्राणों से वंचित प्राण।
सुख दुख की प्रिय कथा स्वप्न, बन्दी थे हृदयोद्गार,

एक देश था, किन्तु, एक था क्या वाणी व्यापार ?
वाग्मि, आपने मूक देश को कर फिर से वाचाल
रूप रंग से पूर्ण कर दिया जीर्ण राष्ट्र कंकाल।
शत कण्ठों से फूट आपके शत मुख गौरव गान,
शत शत युग स्तम्भों पर ताने स्वर्णिम कीर्ति वितान।
चिर स्मारक-सा उठ युग युग में भारत का साहित्य
आर्य, आपके यश: काय को धरे सुरक्षित नित्य।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी के संस्मरण

'सरस्वती' पत्रिका का और मेरा जन्म प्राय: साथ-ही-साथ हुआ है। मैं सन् १६०० में पैदा हुआ और सम्भवत: १६०३ सन् मे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' के सम्पादन का भार ग्रहण किया है। जब से मुझे याद है, 'सरस्वती' पत्रिका के साथ-साथ आचार्य द्विवेदीजी की महत्ता का प्रभाव मेरे मन मे पडता रहा है। इस प्रकार एक अर्थ में मेरी युवावस्था तक 'सरस्वती' के साथ खडी बोली के गद्य-पद्य का विकास और मेरे जीवन का विकास समान्तर रूप से साथ ही होता आया है। वैसे तो मै तुकबन्दी अपने बडे भाई के प्रभाव मे आकर टूटी-फूटी भाषा मे सन् १६११ से करने लगा था। पर सन् '१५-१६ मे जब अल्मोडे के युवको मे हिन्दी के प्रति अनुराग की बाढ आयी और हमारे ही घर से श्री श्यामाचरण दत्त पन्त तथा इलाचन्द्र जोशीजी के सम्पादन तथा देख-रेख मे 'सुधाकर' नामक हस्तलिखित पत्रिका निकलने लगी तब मेरे साहित्य-प्रेम और विशेषत: काव्य-प्रेम मे एक नवीन गति तथा प्रवाह आया। इन्ही दिनों की एक घटना है कि हमारे घर के ऊपर अल्मोडे मे एक गिरजाघर था जहाँ से रविवार को अत्यन्त शान्त मधुर स्वरो मे प्रात:काल के समय घण्टे की ध्वनि पहाड की घाटी मे गूँज उठती थी। उसी के मोहक स्वर से आकर्षित होकर मैने तब 'गिरजे का घण्टा' शीर्षक एक छोटी-सी कविता लिखी थी, मैं सम्भवत तब आठवी कक्षा मे था। वह कविता मुझे इतनी अच्छी लगी कि मैने उसे नीले रग के रूलदार लेटर पेपर मे उतारकर चिरगाँव श्री गुप्तजी के पास भेज दिया। गुप्तजी की ख्याति तब 'सरस्वती' के माध्यम से एव उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'भारत भारती' तथा 'जयद्रथवध' आदि से देश-भर मे फैल चुकी थी। 'मेरी रचना के हाशिये' मे श्री गुप्तजी ने अपने सहज सौजन्य के कारण दो प्रशसा के शब्द लिखकर उसे मेरे पास लौटा दिया। गुप्तजी के आशीर्वाद से प्रोत्साहित होकर मैने अपनी वह रचना 'सरस्वती' मे प्रकाशनार्थ आचार्य द्विवेदीजी के पास भेज दी। एक ही सप्ताह के भीतर द्विवेदीजी ने गुप्तजी के हस्ताक्षरो के नीचे बारीक अक्षरो मे 'अस्वीकृत'—म० प्र० द्वि० लिखकर वह कविता लौटा दी। आचार्य द्विवेदीजी के लौह व्यक्तित्व की यह पहली अमूर्त छाप थी जो मेरे किशोर मानस पर पडी थी। अब सोचता हूँ वह मेरा [illegible] बाल-चापल्य या अबोध दु:साहस था जो मैने अपने अज्ञान की निर्म[illegible]

सीमाओं से अपरिचित होने के कारण बड़ों की श्रेणी में अपना नाम लिखाना चाहा था। 'सरस्वती' निःसन्देह, तब हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ और उच्च कोटि की मासिक पत्रिका थी और गुप्तजी का सहज सुलभ प्रशंसापत्र प्राप्त कर लेने पर भी मेरी रचना तब अत्यन्त अपरिपक्व रही होगी। उसका तब का रूप तो मुझे याद नहीं, पर पीछे उसी भावना के आधार पर उससे मिलती-जुलती जो 'घण्टा' शीर्षक कविता मैंने लिखी थी उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

नभ की उस नीली चुप्पी पर घण्टा है एक टँगा सुन्दर
कानों के भीतर लुक-छिपकर घोंसला बनाते जिसके स्वर···इत्यादि

'सरस्वती' में मेरी सर्वप्रथम रचना सन् '१६ के बदले सन् '१९ में प्रकाशित हुई थी। तब मैं म्योर कालेज में पढ़ता था, कविता का शीर्षक 'स्वप्न' था जो अब 'पल्लव' के अन्तर्गत संगृहीत है। आचार्य द्विवेदीजी तब 'सरस्वती' के सम्पादन से अवकाश ग्रहण कर चुके थे और श्री देवी-प्रसाद शुक्लजी, जो हिन्दू हास्टल के वार्डन भी थे, उन दिनों 'सरस्वती' का भार सँभाले हुए थे।

दूसरी बार द्विवेदीजी के गम्भीर व्यक्तित्व का धक्का—उसे धक्का ही कहना चाहिए—मुझे सन् १९२६ के आस-पास लगा, जब 'सुकवि किंकर' के नाम से छायावाद के विरोध में उनका एक व्यंग्यपूर्ण लेख 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था जिसमें उन्होंने छायावादी छन्दों की ही छीछालेदर नहीं उड़ायी थी, छायावादी कवियों तथा छायावादी कविता पर भी खासा उपहासपूर्ण कटाक्ष किया था। उन दिनों अन्य पत्र-पत्रिकाओं द्वारा भी वयोवृद्ध पीढ़ी की ओर से छायावादी कविता के प्रति इस प्रकार का असन्तोष यत्र-तत्र प्रकट होता रहता था। अपनी युवकोचित असहिष्णुता के कारण मैंने द्विवेदीजी के उस लेख का उत्तर १९२७ में प्रकाशित अपनी 'वीणा' की भूमिका में दिया था। 'वीणा' की कुछ ही प्रतियाँ बाहर गयी होंगी कि एक दिन इण्डियन प्रेस के व्यवस्थापक श्री पटल बाबू ने जो मेरे प्रकाशक भी थे—मुझे आफ़िस में बुलाकर द्विवेदीजी का एक लम्बा-चौड़ा पत्र मेरे हाथ में रख दिया। पत्र में द्विवेदीजी ने 'वीणा' की भूमिका के प्रति आक्रोश उगल रखा था और अन्त में बड़े ही करुण शब्दों में लिखा था कि यदि उनकी अपकीर्ति का प्रचार करने से भी इण्डियन प्रेस का उपकार और श्रीवृद्धि होती हो तो उन्हें वह भी स्वीकार है। पटल बाबू सौजन्य की मूर्ति थे, उन्होंने मुझे समझाया कि इण्डियन प्रेस पर द्विवेदीजी का बड़ा अहसान है, वह उनके पिता के मित्र हैं। इसलिए उनकी मर्यादा के विरुद्ध कोई भी काम वह नहीं करना चाहेंगे। मैं तब युवा हो चुका था, मैंने उसके विरोध में पटल बाबू से कहा कि द्विवेदीजी क्यों नहीं अपने लेखों द्वारा 'मेरी भूमिका का पत्र-पत्रिकाओं मे विरोध करते हैं? इस तरह आपको याचनापूर्ण पत्र लिखकर मेरी पुस्तक के प्रकाशन को रोककर क्या वह मुझ पर अन्याय नहीं कर रहे है?' पटल बाबू ने मेरी बात का समर्थन करते हुए अन्त में मुझसे यह स्वीकार करा लिया कि अपने वयोवृद्धों के प्रति हमारे मन में सम्मान की भावना होनी चाहिए। और 'वीणा' की भूमिका का आपत्तिजनक आक्षेप-पूर्ण अंश पुस्तक से निकाल दिया गया। सच्ची बात यह थी कि युवको-

चित आवेश मन में होने पर भी द्विवेदीजी की विद्वत्ता एवं महत्ता के प्रति मेरे भीतर प्रगाढ़ श्रद्धा थी और उनका पत्र पढ़कर मेरे मन के एक कोने में बड़ी ग्लानि का अनुभव हुआ कि मैंने एक पूजार्ह, सम्माननीय वयोवृद्ध व्यक्ति के हृदय को आघात पहुँचाया। द्विवेदीजी का पत्र दो फुलस्केप पृष्ठों का था, उसमें छायावाद की भर्त्सना के अतिरिक्त नवयुवक व्यवस्थापक के लिए उपदेश भी थे और कुछ याचना तथा आक्रोश के मिश्रित स्वर तथा मनोभाव थे। 'वीणा' की भूमिका न छप सकने तथा आचार्य द्विवेदी के चित्त को क्षोभ पहुँचाने का दुःख मेरे भीतर बहुत दिनों तक बना रहा। उस उम्र में किसी बात को जल्दी ही भुला देना या उससे ऊपर उठ जाना सरल नहीं होता। इसी के पूर्व 'पल्लव' के सम्बन्ध में निरालाजी की कटु आलोचनात्मक लेखमाला भी निकल चुकी थी, और भी पारिवारिक कुछ ऐसे कारण थे कि मैं बीमार पड़ गया और प्रायः एक साल तक अस्वस्थ रहा। पर इस अस्वस्थता के काल में मेरे मन की बहुत-सी गाँठें खुल गयी। मेरे विचारों तथा भावनाओं में अपने-आप ही एक बड़ा आशाप्रद परिवर्तन आने लगा। और मेरे मन में जैसे सौन्दर्य आलोक और आत्मविश्वास का एक नया क्षितिज खुल गया। आचार्य द्विवेदीजी भी इस बीच मेरे प्रति अनुकूल हो गये और उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा के उत्सव में मेरे प्रति आशीर्वाद तथा प्रशंसासूचक कुछ शब्द कहकर मुझे प्रथम द्विवेदी स्वर्णपदक प्रदान किया, जो मेरी बीमारी की अवस्था में मेरे पास भेज दिया गया था। इससे मेरे मन को बड़ी सान्त्वना मिली और सन् '३१-३२ के करीब मैंने द्विवेदीजी के प्रति दो रचनाएँ लिखकर उनके व्यक्तित्व को अपनी श्रद्धा का अर्घ्य अर्पित किया। उनमें से एक रचना कुँवर सुरेशसिंहजी द्वारा सम्पादित 'कुमार' पत्र में निकली और दूसरी द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ में। उन दिनों मैं कालाकाँकर में था। आचार्य द्विवेदीजी ने कई बार कुँवर साहब को लिखकर मुझसे मिलने की इच्छा प्रकट की थी, पर अनेक कारणों से मैं तब दौलतपुर नहीं जा सका। और वह शुभमुहूर्त प्रयाग में आयोजित द्विवेदी मेले के अवसर पर आ सका जब मैं प्रथम बार आचार्य द्विवेदीजी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त कर सका। वयोवृद्ध आचार्यजी की स्नेहस्मित दृष्टि ने मेरे हृदय को स्पर्श किया और मैं उनके मूक वात्सल्य का उपभोग कर सका। कुँवर सुरेशसिंह भी उस अवसर पर मेरे साथ कालाकाँकर से प्रयाग आये थे। इन दिनों मैंने बाल कटवा दिये थे और मैं खाकी कमीज और जाँघिया पहना करता था। द्विवेदीजी ने मेरे बहुरूपियापन पर मधुर कटाक्ष किया और इसी सिलसिले में मेरी 'बरसो ज्योतिर्मय जीवन' शीर्षक रचना को लक्ष्य कर कहा—'हाँ, यह तो बतलाओ, यह ज्योतिर्मय जीवन क्या है?' मैंने संकोचवश तब उन्हें इसका कोई उत्तर नहीं दिया। मैं तब किसी को कैसे समझाता कि जिस अज्ञात ज्योति ने मेरे हृदय को स्पर्श किया है यह उसी के आगमन का संकेत है! मेरे मौन रहने पर उन्होंने पूछा—'रामायण पढ़ते हो कि नहीं?'—मेरे यह बताने पर कि मैं अयोध्या काण्ड से आगे कभी नहीं पढ़ सका हूँ, उन्होंने एक अभिभावक की तरह आदेश के स्वरों में कहा—'कम से कम पाँच बार पढ़ डालो।' मैंने उनकी आज्ञापालन करने का उन्हें आश्वासन दिया

और सम्भवतः तब से कुल मिलाकर ४-५ बार सम्पूर्ण रामायण पढ़ चुका हूँ। उसके बाद बहुत इच्छा रहने पर भी मैं फिर द्विवेदीजी के दर्शन नहीं कर सका। हिन्दी के कर्णधारों के रूप में उनके व्यक्तित्व, विद्वत्ता, निष्ठा तथा सौजन्य के प्रति मेरे हृदय में सदैव ही अखण्ड सम्मान रहा है। श्रद्धांजलिस्वरूप अपनी रचना की कुछ पंक्तियों को दुहराकर मैं पुनः-पुनः उनकी महानता के प्रति प्रणति निवेदन करता हूँ—

आर्य, आपके मनःस्वप्न को ले पलकों पर
भावी चिर साकार कर सके रूप रंग भर,
दिशि-दिशि की अनुभूति, ज्ञान, विज्ञान निरन्तर
उसे उठावें युग-युग के सुख-दुःख अनश्वर,—
आप यही आशीर्वाद दें, दैव यही वर।

प्रसादजी के संस्मरण

वैसे मैंने हाईस्कूल की परीक्षा बनारस ही से दी थी, किन्तु तब न जाने क्यों प्रसादजी से भेंट करने का कोई अवसर नहीं मिला। सम्भवतः मेरी संकोचशील प्रकृति अथवा अविकसित मन के कारण हो अथवा तब प्रसादजी इतने प्रसिद्ध न रहे हों, उनसे मिलने की बात कभी मन में उठी ही नहीं। उनकी कविताओं का एक छोटा-सा संग्रह 'झरना' के नाम से सम्भवतः उसी साल प्रकाशित हुआ था, यह सन् १९१९ की बात है, अथवा वह पहिले से प्रकाशित रहा हो, किन्तु मुझे देखने को तभी मिला। उन दिनों श्री गोविन्दवल्लभ पन्त नाटककार, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़ते थे और विश्वविद्यालय ही के छात्रावास में रहते थे। उनसे जब-तब भेंट होने का अवसर मिल जाता था, क्योंकि मेरे बहनोई साहब जिनके साथ मैं अपने भाई के साथ बनारस भेलूपुरा में रहता था, वह भी तब हिन्दू विश्वविद्यालय ही में गणित के प्राध्यापक थे। श्री गोविन्दवल्लभ पन्तजी से ही तब प्रसादजी का 'झरना' नामक काव्य-संग्रह मुझे देखने को मिला था। 'कण्टक कुसुम' के नाम से तब पन्तजी का भी अपने मित्र के साथ एक छोटा-सा कविता संकलन उसी वर्ष प्रकाशित हुआ था। मैं तब काव्य-क्षेत्र में नया रंगरूट था और बनारस की साहित्यिक ख्याति तथा वहाँ की छोटी-मोटी साहित्यिक गोष्ठियों की चहलपहल से चकित एवं भावमुग्ध रहता था। श्री उग्रजी भी उन दिनों छात्र थे और हिन्दू विश्वविद्यालय की एक काव्य प्रतियोगिता में मुझे प्रथम तथा उग्रजी को द्वितीय पुरस्कार मिला था, जिसकी चर्चा मैं जीवनसंस्मरणों में अन्यत्र कर चुका हूँ। हाँ, तो बनारस में अपनी पीढ़ी के अन्य कई साहित्यिकों से तो भेंट होती रही पर प्रसादजी से मिलने का सौभाग्य नहीं मिल सका था।

बनारस से मैं म्योर कालेज में पढ़ने प्रयाग चला आया था और उसके बाद सन् १९३१ में कालाकाँकर चला गया था। वहाँ के कुँवर, जो हिन्दू विश्वविद्यालय ही के छात्र हैं, प्रसादजी के बड़े भक्त रहे हैं और

उनसे प्राय: प्रसादजी की जो चर्चा होती रहती थी उसी को ध्यान से सुनकर मैं प्रसादजी के व्यक्तित्व का रेखाचित्र अपने मन में बनाता रहता था। कुंवर साहब घूमने-फिरने प्राय: बनारस जाते रहते थे और प्रसादजी उनसे कई बार आग्रह कर चुके थे कि वे मुझे भी अपने साथ बनारस लायें। कालाकांकर में हिन्दी के अनेक साहित्यिक आते-जाते रहते थे और मेरे वहाँ रहने के बाद तो इसमें और भी वृद्धि हो गयी थी। एक बार निर्मलजी इसी तरह कुछ दिनों के लिए कालाकांकर आये हुए थे और प्रसादजी की चर्चा छिड़ने पर उन्होंने मेरे साथ काशी चले चलने को बड़ा उत्साह प्रकट किया। कुँवर साहब उन दिनों अस्वस्थ थे। अन्त में यही निर्णय हुआ कि मैं निर्मलजी के साथ प्रसादजी के दर्शन करने बनारस जाऊँ।

मेरा 'पल्लव' सन् '२६ ही में प्रकाशित हो चुका था। सन् '२७ में 'वीणा' भी प्रकाशित हो गयी थी। कालाकाँकर पहुँचने पर मैं 'गुंजन' नाम के काव्य-संग्रह की रचनाएँ भी लिख चुका था और साथ ही 'ज्योत्स्ना' नामक मेरा नाट्य-रूपक भी तैयार था। यह सम्भवत: १६३३ की बात है, निर्मलजी प्रयाग लौट चुके थे। उनसे जाने की तिथि निश्चित कर एक दिन मैं कालाकाँकर से प्रयाग होते हुए निर्मलजी के साथ प्रसादजी से मिलने बनारस की गाड़ी पर बैठ गया। रास्ते-भर मन मे अनेक प्रकार की सुखद कल्पनाएँ आती रही और प्रसादजी से मिलने के सुख की कल्पना कर मेरा मन उत्फुल्ल होता जाता था। बीच-बीच में मुझे और भी प्रोत्साहित करने को निर्मलजी इस तीर्थ-यात्रा के संयोग की प्रशंसा करते रहते और प्रसादजी मुझसे मिलकर कितने प्रसन्न होंगे इसका अनिरंजित मनोरम चित्र प्रस्तुत करते रहते। यह एक प्रकार से मेरी पहली ही साहित्यिक-यात्रा थी, जो निर्मलजी द्वारा कहे गये अनेक मनोरंजक सस्मरणों के साथ बात की बात में समाप्त हो गयी। कुँवर साहब को प्रसादजी का 'आँसू' बहुत प्रिय था, पर मुझ पर उनकी कहानियों और नाटकों का अधिक प्रभाव था और जब हम बनारस के स्टेशन पर पहुँचे तो अचानक मैं गम्भीर संकोच में पड गया कि बिना प्रसादजी को पत्र-व्यवहार के द्वारा अपने आने की सूचना दिये ही मैं उनका अतिथि बनने जा रहा हूँ। पर मालूम होता है निर्मलजी ने उन्हें मेरे आने की पूर्वसूचना दे दी थी, क्योंकि प्रसादजी की कोठी पर पहुँचते ही उन्होंने अत्यन्त दुलार से जो पहिला वाक्य कहा, वह था—"आओ, आओ, तुम्हारी बड़ी प्रतीक्षा थी।" अत्यन्त स्नेह से उन्होंने गले लगाकर मुझे बैठने को कहा। उनके उन्मुक्त व्यवहार, मन्द स्मित तथा सहज वार्तालाप से मन सम्पूर्ण रूप से आश्वस्त हो गया और थोड़ी ही देर में मैं यह भूल गया कि मैं किसी का अतिथि हूँ। स्नानादि के उपरान्त जब हम लोग खाने को बैठे तो प्रसादजी ने अपने सहज संस्कृत परिहासप्रिय स्वभाव का परिचय अपनी बातों से दिया। वे भी मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न प्रतीत होते थे कि मैं उनसे मिलने आया हूँ। खाने-पीने के वे बड़े शौकीन थे और तरह-तरह के सुस्वादु पदार्थों से उन्होंने हमारी अभ्यर्थना की थी। भोजन के बाद कुछ देर विश्राम करने पर वह फिर नीचे बैठक में उतर आगे, जहाँ हम लोगों के ठहरने का प्रबन्ध था। उनके स्वभाव में ऐसा मधुर सन्तुलन था कि

उनका बोधिसत्व का-सा सहज सौम्य व्यक्तित्व आँखों को आकर्षक तथा चित्त को शान्तिप्रद लगता था। मेरे पारिवारिक संकट की बात उन्होंने सम्भवतः किसी से सुन ली थी। उन्होंने मुझे एक हितैषी मित्र या अग्रज की तरह अनेक प्रबोधन दिये और मेरे संकट की अस्पष्ट चर्चा करते हुए अपने पारिवारिक उत्थान-पतन की लम्बी कहानी अत्यन्त मार्जित सन्तुलित ढंग से सुनायी और धैर्य, साहस, आत्मविश्वास आदि मानवीय गुणों को महत्त्व देते हुए जीवन के प्रति अपने गम्भीर दृष्टिकोण का परिचय दिया। उनका व्यवहार मेरे प्रति एक वयस्क का-सा रहा और उन्होंने मुझे कई प्रकार से सावधान किया। मेरे कालाकाँकर रहने पर उन्होंने प्रसन्नता प्रकट की। कुँवर साहब के सौम्य स्वभाव के वे प्रशंसक थे। उनकी प्रत्येक बात तथा बर्ताव से मेरे मन में यह अपने आप ही अंकित हो गया कि वह मेरे शुभचिन्तक तथा अभिभावक हैं।

शाम को अनेक मित्र उनके घर आ गये थे। उन्होंने सबसे मेरा परिचय कराया। और, अनेक प्रकार की साहित्यिक चर्चाओं, समाचारों तथा मनोविनोद के आदान-प्रदान के उपरान्त हम लोग उनकी दूकान की ओर चल दिये। दूकान उनकी छोटी-सी ही थी जहाँ वह कुछ देर बैठकर मित्रों से हास-परिहास करते रहे। चाहे घर मे हों, रास्ते में या दूकान में मैंने सदैव उनको एक ही प्रकृतिस्थ रूप में पाया। वे स्वाभिमानी होने पर भी अत्यन्त संस्कृत तथा शीलवान थे और उनकी विनोदी प्रकृति उनके गम्भीर मुख पर खेलती रहती थी, जिससे उस पर एक आकर्षण छाया रहता था।

जहाँ तक मुझे स्मरण है, मैं प्रसादजी के यहाँ ३-४ ही रोज ठहरा था। उस आत्मीयता के बीच में भी मुझे मेरा संकोच नहीं छोड़ रहा था। दूसरे दिन सबेरे के समय प्रसादजी ने 'कामायनी' के दो-एक सर्ग सुनाये थे। मुझे शायद ठीक ही स्मरण है कि एक सर्ग उनमें से मुक्तछन्द में था, जिस छन्द में उनकी 'प्रलय की छाया' लिखी गयी है। एक क्रमबद्ध प्रबन्ध काव्य में मुक्तछन्द की उपयोगिता मुझे उचित नहीं प्रतीत हुई और इस बारे में मैंने विनम्रतापूर्वक अपने विचार प्रसादजी से प्रकट भी किये थे। पीछे 'कामायनी' के प्रकाशित होने पर मैंने देखा कि प्रसादजी ने छन्द-विधान के भीतर ही अपने प्रबन्ध काव्य के प्रासाद को उपस्थित करना ठीक समझा। उन दिनों मैं उपनिषदों के दर्शन से विशेष रूप से प्रभावित था। प्रसादजी ने एक अभिभावक की तरह मुझे बताया कि साधना की जीवन में क्या आवश्यकता है और सगुण उपासना के बिना कोरा दर्शन किस प्रकार की कठिनाइयाँ जीवन में उपस्थित करता है। सायंकाल को हमें बाबू श्यामसुन्दरदासजी के यहाँ भोजन का निमन्त्रण था। मैं अपने साथ 'गुंजन' की पाण्डुलिपि भी ले गया था। बाबू श्याम-सुन्दरदासजी के यहाँ भोजन के पहिले मेरा कविता-पाठ भी हुआ, जिसमें मैंने प्रायः 'गुंजन' की एक तिहाई-रचनाएँ सुनायी थी। श्रोताओं में श्रीरामचन्द्रजी शुक्ल, श्री भगवानदीनजी आदि भी थे। काव्य-पाठ से प्रायः सभी ने सन्तोष प्रकट किया और प्रसादजी तो विशेष उत्फुल्ल दृष्टि से सबकी ओर बीच-बीच में देखते जाते थे। काव्य-पाठ समाप्त होने पर बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने मुझसे पूछा, 'आप किस स्कूल के' हैं, मैंने तुरन्त

उत्तर दिया, 'क्यों, प्रसादजी के स्कूल का' जिसे सुनकर बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने श्री रामचन्द्र शुक्ल की ओर देखा और प्रसादजी ने मौन सन्तोष प्रकट किया।

दूसरे दिन नागरी प्रचारिणी सभा में भी 'गुंजन' की कविताओं का पाठ हुआ। श्रोतागण पर्याप्त संख्या में सभा में उपस्थित थे और बहुत देर तक कविता-पाठ होता रहा। प्रसादजी विशेष प्रसन्न होकर बीच-बीच में सिर हिलाकर मुझे प्रोत्साहित करते जाते थे। तीसरे दिन हम लोग बनारस तथा सारनाथ भ्रमण के लिए निकले। अनेक साहित्यिक मित्र प्रसादजी के कारण साथ में थे और हास-परिहास तथा साहित्यिक चर्चा से वातावरण मनोनुकूल बना रहा। उस शाम को गंगाजी में नौकारोहण का आयोजन भी प्रसादजी ने रखा था। जलपान भी जहाँ तक मुझे स्मरण है नौका ही में हुआ। श्री वाचस्पति पाठकजी भी बराबर हमारे साथ थे। बनारस के घाटों के रमणीय दृश्य तथा बीच-बीच में प्रसादजी से सहज मधुर वार्तालाप के आनन्द से वह सन्ध्या मुझे सदैव स्मरणीय रहेगी। उसके दूसरे दिन प्रसादजी के कुछ दिन और ठहरने के अनुरोध को टालते हुए, उनसे फिर आने का वादा कर मैंने निर्मलजी के साथ पुनः प्रयाग को प्रस्थान किया। उसके बाद प्रसादजी से मुझे केवल एक बार और कुँवर सुरेशसिंहजी के साथ मिलने का सौभाग्य प्राप्त हो सका और वह भी कुछ ही घण्टों के लिए। प्रसादजी की 'कामायनी' तब समाप्तप्राय होने को थी। प्रसादजी के साथ स्वल्प-कालीन साहचर्य की ये सुनहली स्मृतियाँ मेरे मन को उनके निःसीम निश्छल स्नेह में बाँधे हुए हैं।

काव्यपुरुष गुप्तजी

खड़ी बोली के काव्यपुरुष गुप्तजी अब हम लोगों के बीच नहीं रहे, ऐसा नहीं प्रतीत होता। वह दूर चले जाने पर अब और भी निकट आ गये हैं। उनकी यशःकाय के लिए मृत्यु की कल्पना करना सम्भव नहीं। वे भारत के नवीन वर्धमान चैतन्य के पर्वत थे, जिनमे भारतीय सांस्कृतिक जागरण का विस्तार तथा उसके चिरन्तन आदर्शों की ऊँचाई के एक से एक अलंघ्य शिखर थे। खड़ी बोली काव्य के वह गांधी थे,—नम्र, सहृदय, सौजन्यपूर्ण, तपःनिष्ठ, जो अपनी खादी-सी पवित्र तथा शुभ्र कला से इस जागरण काल की लोकचेतना का व्यापक पट अनेक रंग-बिरंगे ताने-बानों से बुनकर लोकमन को नवीन दृष्टि तथा नवीन युगबोध से उद्बुद्ध कर परम्परा-पावन मान्यताओं के परिधान मे मण्डित कर गये। इसमें सन्देह नही कि गुप्तजी खड़ी बोली के काव्य के लोकप्रिय तुलसीदास के समान सदैव लोकमन में जीवित रहेंगे। तुलसी की काव्यचेतना को मध्ययुगीन सीमाओं से मुक्त कर वह अपने 'साकेत' में गांधीयुग के राम की पुनः स्थापना कर गये हैं। वैष्णव होने पर भी साम्प्रदायिक सकीर्णताओं से परे उनका चिर पुरातन चिर नवीन कवि अपने युग की आधुनिक से आधुनिक प्रवृत्ति का अपनी कलाकुशल स्थितप्रभ लेखनी से युगअनुरूप मूल्यांकन कर

उसे भारतीय सांस्कृतिक चित्रपट में यथायोग्य स्थान दे गया है। उनकी पृथ्वीपुत्र, हिडिम्बा तथा जयिनी नामक मार्क्स की पत्नी के प्रति रचनाएँ अपने युग के अन्तराल में पैठी उनकी मार्मिक विशद् दृष्टि की निदर्शन हैं। समस्त पौराणिक चेतना को, महाभारत तथा रामायण को, वह अपने विशाल कृतित्व द्वारा आधुनिक रूप देकर उसे खड़ी बोली के माध्यम से जनता-जनार्दन के लिए सहज सुलभ बना गये हैं। उनके राम, लक्ष्मण, कैकेयी तथा उर्मिला वर्तमान युग के पात्र होने पर भी अपने चिर परिचित प्राचीन गौरव की जीवन्त प्रतिमाएँ हैं। खडी बोली के आदिश्रेष्ठ कवि तथा पुनर्जागरण के प्रथम हिन्दी कवि होने के कारण उनमें वाल्मीकि की व्यापकता तथा गहराई और कालिदास का कलादाक्षिण्य तथा निखार दोनों एक साथ देखने को मिलते है। गांधीयुग के कालिदास होने के कारण उनकी कला सौन्दर्यप्रधान न होकर धरती की सरल सबल कला है जिसका सौन्दर्य के अतिरिक्त उपयोगिताजनित भी मूल्य है। प्राचीन और नवीन युग के मध्य उनकी प्रतिभा सुनहले सेतु की तरह आर-पार फैली है। गुप्तजी की-सी प्रांजल, निर्दोष, तथा सुथरी भाषा खडी बोली के काव्य में अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। वह सच्चे अर्थों में राष्ट्रकवि इसलिए भी थे कि उनका मानस भारतीय संस्कृति के गुणवैभव से ओत-प्रोत था। यदि हम आधुनिकतम काव्य के मुख पर से उसके कलात्मक सौन्दर्य का अवगुण्ठन हटा दें तो उसके भीतर केवल रिक्त सूनापन ही दृष्टिगोचर होगा किन्तु गुप्तजी के सौन्दर्य संयमित कला के भीतर आपको चिरन्तन मूल्यों की गुणगरिमा से मण्डित, जीवनमांसल. यथार्थ की मूर्ति के दर्शन होंगे, जो आपकी आत्मा को अपने सवेदनशील स्पर्श से छुए बिना नहीं रहेगी।

कितनी महान् देन इस संस्कृति के चारण, जागरण के वैतालिक तथा काव्यसौन्दर्य के शिल्पी की हमारे इस संक्रान्ति काल की वास्तविकता के लिए रही है इसका अनुमान लगाना अभी सम्भव नही। उसके लिए हमें अनेक पीढ़ियों की शोध, परीक्षण, पुनर्मूल्यांकन तथा अजस्र श्रद्धापूर्ण परिश्रम की आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रसन्नचित्त, परिहासप्रिय, सौहार्द सम्पन्न, सशक्तमना सर्वप्रिय, लोकमानव का व्यक्तित्व भी उसके कृतित्व के समान ही आकर्षक तथा श्रद्धा का पात्र था। वैसी सहज स्वाभाविकता तथा अकृत्रिमता, वैसा संस्कार और निखार किसी महान चरित्रसम्पन्न व्यक्ति में ही होना सम्भव है। गुप्तजी अत्यन्त उदारचेता, स्नेहशील, संशयहीन, साधारण-से लगनेवाले असाधारण मनुष्य थे और सबसे बडी बात यह है कि वह एक महान् कृतिकार एवं कवि होने पर भी सबसे पहले मनुष्य थे।

सीढ़ी-सीढ़ी गुप्तजी के व्यक्तित्व का जिस प्रकार विकास हुआ वह उनकी अन्त:क्षमता का ही परिचायक है—एक छोटे पौधे से वह बृहदाकार अक्षय वटवृक्ष का स्वरूप धारण कर हमारे साहित्य की धरती को अपने अनन्त सतत वर्धमान मूलों के स्नेहपाश में बाँध गये हैं और युगों तक उनकी उदार स्नेहशीतल छाया में जीवन के श्रान्त पथिक बैठकर सहज शान्ति सुख का अनुभव करेंगे और हमारे देश की चेतना में आर-पार व्यापी उनकी शाखाओं पर असंख्य खग-पिक नित्य नये काव्य-उन्मेष से

प्रेरित होकर मा भारती के विशाल प्रांगण को भावगुंजरित तथा जीवन मुखरित रखेंगे—यही तो जरा मरण भय से हीन, हमारे अमर कीर्ति-काय दद्दा—खड़ी बोली काव्य के पितामह हैं।

नवीनजी

नवीनजी के व्यक्तित्व में एक ऐसा प्रच्छन्न आकर्षण था कि एक बार जो उन्हें देखता था वह फिर उन्हे सहज ही नहीं भूल सकता था। यह प्रच्छन्न आकर्षण सम्भवत: उनके निश्छल उदार हृदय का था जो अज्ञात रूप से मिलनेवाले के हृदय को स्पर्श करता था। दूसरे शब्दो में पण्डित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' सहज मानव थे, अर्थात् एक स्नेही या प्रेमी हृदय की समस्त दुर्बलताएँ, जिन्हे कि मानवीय दुर्बलताएँ कहा जा सकता है, और समस्त उदात्त भावनात्मक शक्तियां उनके मन में संघर्ष कर उनके व्यक्तित्व को एक विशेष प्रकार का ओज तथा मार्दव प्रदान करती रहती थी। उनके फक्कड़ स्वभाव की तुलना बहुत कुछ अंशों तक कबीर से की जा सकती है और यह फक्कडपन प्राय: सभी सूफियाना स्वभाव के व्यक्तियों में किसी-न-किसी मात्रा में पाया जाता है। यह फक्कडपन निरालाजी के व्यक्तित्व में भी पाया जाता था, पर नवीनजी अधिक प्रेम प्रवण होने के कारण दर्प या अहंकार से एकदम शून्य थे, जिससे वे अपने मित्रों, स्नेहियों या परिचितों के हृदय मे एकदम घर कर लेते थे।

उनके व्यक्तित्व का सबसे प्रमुख रूप मेरी दृष्टि में एक जीवन-प्रेमी का रूप था जिसका यदि एक पक्ष सौन्दर्य-प्रेम का था तो दूसरा पक्ष उससे भी व्यापक देश-प्रेम, समाज-प्रेम तथा लोक-प्रेम का था। उनके सौन्दर्य-प्रेम ने उन्हें अधिक सवेदनशील तथा भावुक बनाया, जिसके कारण उनकी प्रवृत्ति साहित्य और मुख्यत: कविता करने की ओर हुई। और उनकी सृजनशीलता ने भी दो स्तरों पर प्रधानत: वाणी पायी—एक तो प्रेम-गीत लिखने अथवा प्रणय-निवेदन की ओर और दूसरा देश-प्रेम अथवा राष्ट्रीय कविताएँ लिखने की दिशा मे। उनकी सौन्दर्य-प्रेम तथा लोक-जीवन-प्रेम की प्रवृत्तियाँ उनके स्वभाव में परस्पर ऐसी घुल-मिल गयी थीं कि उनमे पार्थक्य की कल्पना करना नवीनजी के निश्छल समग्र व्यक्तित्व को खण्डित करने के समान है। उनके उदात्त व्यक्तित्व तथा मानवीय दुर्बलताओं के द्योतक प्रवृत्तियों के बीच एक अविराम संघर्ष भी चलता रहता था, जो उनको बौद्धिक तथा नैतिक चिन्तन की ओर प्रवृत्त करता रहता था। इसी कारण नवीनजी की अनेक रचनाओं में हमे चिन्तन का स्वर अधिक सशक्त मिलता है। उनके उन्मुक्त स्वभाव मे उदात्त आकांक्षाओं तथा मानव-प्रकृति जनित दुर्बलताओं के दो परस्पर विरोधी तत्त्व इस प्रकार सामंजस्य पा गये थे कि उनके व्यक्तित्व की तुलना उस आषाढ के मेघ से की जा सकती है जिसमें जलार्द्रता के साथ ही आवेग तथा तर्जन-गर्जन भी धूप-छाँह की तरह गुम्फित रहता है।

सर्वप्रथम नवीनजी के दर्शन मुझे प्रयाग में मिले थे। यह सम्भवत:

सन् १९३९ की बात है। तब नरेन्द्र, बच्चन और मैं दिलकुशा में एक ही मकान में रहते थे। एक रोज प्रायः साँझ के समय नवीनजी हम लोगों के मकान का पता लगाकर अचानक वहाँ पहुँच गये। उन्हें देखकर हम लोगों को बड़ी प्रसन्नता हुई। हम लोग तब ऊपर की मंजिल में रहते थे, नवीनजी ने सीढ़ियों से कमरे मे घुसते ही घर में इधर-उधर झाँका और तुरन्त बड़े करुण और ऊँचे स्वर मे कहा—'अरे यारो, इस मुतहे घर मे तीन-तीन रँडुवे रहते हैं और एक भी राँड नही!' और इसके बाद उन्होंने जो उन वक्त हँसी का ठहाका मारा उससे जैसे घर में एक नयी जान आ गयी और साथ ही नवीनजी का मुक्त स्वभाव भी पलक मारते जैसे मन में दर्पण की तरह स्पष्ट हो गया। देखने में उनका व्यक्तित्व जितना सशक्त लगता था भीतर से वे उतने ही विनम्र तथा परिहास-प्रिय थे।

उसके बाद उनसे दिल्ली जाने पर मैथिली बाबू के यहाँ प्रायः अवश्य ही भेंट हो जाती थी, जैसे किसी चुम्बकीय शक्ति से हम दोनों एक ही समय वहाँ पहुँच जाते हों। तब नवीनजी लोकसभा के सदस्य थे और श्री गुप्तजी भी राज्यसभा को सुशोभित करते थे। गुप्तजी का घर नार्थ एवेन्यू मे प्रायः दिल्ली के और बाहर के आनेवाले सभी साहित्यिकों का तीर्थ-सा बन गया था। और नवीनजी भी सन्ध्या समय प्रायः नित्य ही वहाँ पधारते थे। दिल्ली मे मुझे नवीनजी के और भी घनिष्ठ सम्पर्क में आने का अवसर मिल सका और अनेक बार उनके घर जाकर उनसे अन्तरंग एवं गम्भीर बातें करने का भी सौभाग्य प्राप्त हो सका। वे प्रायः मुझे एक प्रौढ़ शिशु-से लगते थे, जो विचारों की दृष्टि से सब-कुछ समझते हुए भी जैसे बच्चों की तरह अपनी भावना के अंचल से ही बँधे रहना चाहते थे, उसे छोड़ नही सकते थे। यह उनकी मानवीय दुर्बलता का निश्छल स्तर था, जिनको वे एक जीवनप्रिय कलाकार की तरह दुलराते रहते थे। कभी-कभी बातों-बातो में उनकी आँखो मे आँसू भी उमड़ आते थे। किन्तु उनकी भावना का एक दूसरा सशक्त विद्रोही स्तर भी था और वे राजनीति के क्षेत्र के एक सशक्त सेनानी भी रह चुके थे। वह विद्रोही भावना का स्तर उनकी रचनाओं में भी व्यक्त हुआ है। और 'कवि कुछ ऐसी तान सुना दे जिससे उथल-पुथल मच जावे' आदि कविताएँ उसी आत्म-विद्रोह की देन हैं। उनको जीवन की इतनी ऊँच-नीच परिस्थितियो से अपने व्यक्तिगत जीवन में जूझना पड़ा कि वे अपने को अनागरिक मानने लगे थे और एक अत्यन्त निरीह निःसंग दृष्टिकोण उन्होने जीवन के सुख-दुःख तथा हानि-लाभ के सम्बन्ध में बना लिया था। अनेक बार मैंने उन्हें गीता की जीवन-दृष्टि की चर्चा करते सुना है। एक प्रकार से जितना सशक्त व्यक्तित्व उन्होने पाया था, उसको यथेष्ट प्रतिष्ठा उनके जीवन की बाहरी-भीतरी परिस्थितियों ने नही मिलने दी। इसका कभी-कभी उन्हें खेद भी रहता था, किन्तु तुरन्त ही वे एक उच्च दार्शनिकता के अन्तरिक्ष में अपने मन को उठा लेते थे, जहाँ हानि-लाभ, जय-पराजय का कोई विशेष मूल्य नही रहता था। एक ही घण्टे के भीतर उनके भीतर कितने प्रकार की छोटी-बड़ी लौकिक-पारलौकिक प्रवृत्तियाँ खेलकर फिर मिट जाती थीं, उसे देखकर आश्चर्य होता था। वास्तविक

'नवीन' न दार्शनिक थे, न जीवन-सम्वेदनों के लिए व्याकुल भावुक शिशु —वे इन दोनों का ही विचित्र और अद्भुत सम्मिश्रण थे।

दार्शनिक चिन्तन से भी अधिक आत्म-विस्मृति उन्हें काव्य-चर्चा, कविता-पाठ और संगीत देता था, इसमें सन्देह नहीं। वह जितने मुक्त कण्ठ से संगीत की लय मे लीन होकर अपनी कविताएँ सुनाते थे उतनी ही तन्मयता तथा तत्परता से दूसरों की रचना सुनकर भी भावमग्न हो जाते थे, और काव्य की वास्तविक भगिमा का स्पर्श पाते ही वे रस-विभोर होकर प्रशंसा मे वाह-वाह कर उठते थे।

नवीनजी इतने दयालु तथा सहृदय व्यक्ति थे कि जो कोई भी उनके पास किसी प्रकार की सहायता के लिए जाता उसकी इच्छा यथाशक्ति पूरी करने में अपनी ओर से कोई कसर नहीं रखते थे। प्रायः सभी उच्च पदस्थ अधिकारियों के पास, जिनसे उनका परिचय होता, वे किसी-न-किसी प्रार्थी व्यक्ति को अपने अनुरोध-पत्र या सिफारिश के साथ भेजते रहते थे। एक बार मैंने उनसे कहा, 'नवीनजी, आप जितने लोगों की सिफारिश करते हैं उतने लोगों को लेना कैसे सम्भव हो सकता है ?' तो वे तुरन्त बोले, 'महाराज, मेरा काम उनकी फरियाद आप तक पहुँचा देना है, फिर आप जानें, आपका काम जाने।' इस प्रकार चाहे वे 'विप्लव गान' लिखते चाहे कोई असीम व्यथा से भरा प्रणय-गीत, उनकी निःसंगता उनका साथ कभी न छोडती। संसार-चक्र में लिप्त-पे प्रतीत होने पर भी वे कहीं अपने भीतर किसी स्थल पर उससे ऊपर भी रहते थे।

राष्ट्रीय आन्दोलन के अवसर पर नवीनजी ने कई बार कारावास झेला था, उनका अधिकांश साहित्य तथा काव्य-सृजन प्रायः कारावास ही मे हुआ, 'उर्मिला' महाकाव्य भी कारागार ही में लिखा गया। इस प्रकार एक तरह से कारावास उनके जैसे राजनीति में व्यस्त व्यक्ति के लिए एक वरदान ही सिद्ध हुआ। अपनी कृतियों को उनका मन विशेष महत्त्व नहीं देता था और उनके प्रकाशन के सम्बन्ध में वे एक प्रकार से विरक्त ही रहे, इसी से समय पर उनकी अधिकांश कृतियाँ प्रकाश में नहीं आ सकीं। वे एक तरह से आलसी और लापरवाह भी थे। और सदैव देश-सेवा के कार्यों में व्यस्त रहने के कारण उन्हें अपनी कृतियों को सँजोने तथा उनके प्रकाशन के बारे में सोचने के लिए अवकाश भी नहीं मिलता था। फिर भी उनके 'अपलक' तथा 'क्वासि' नामक काव्य-संग्रहों तथा 'उर्मिला' के कुछ अंशों ने मेरे मन को गम्भीर रूप से प्रभावित किया। और उनके अनगढ़ व्यक्तित्व के भीतर जो एक भाव-बोध के प्रति जागरूक कवि तथा सौन्दर्य-शिल्पी छिपा था, उसके दर्शन मुझे मिल सके।

वैसे वे बड़े ही साहसी और बलिदानी महापुरुष थे और राष्ट्रीय संग्राम के अवसर पर उनके इस साहस तथा आत्म-त्याग का परिचय अनेक बार उनके साथियों को मिला। अपनी व्यापक महानुभूति तथा अनन्य देश-प्रेम की भावना के कारण उनका सम्बन्ध एवं सम्पर्क क्रान्तिकारियों से भी उस समय रहा है और उन्होंने अपने ही ढंग से उनके कार्यों में सहयोग भी दिया है। किन्तु उनके भीतर गांधीजी तथा गांधीवाद के लिए गहरी आस्था थी और उनके जैसे 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' हृदयवान व्यक्ति के लिए विश्व-मंगल तथा विश्व-जीवन के

प्रेम से परिपूर्ण एवं अजेय क्रियाशील गांधीवाद के अतिरिक्त और किसी भी बाहरी क्रान्ति का अधिक महत्त्व नहीं हो सकता था। इन सब महानताओं के होते हुए भी प्रिय नवीनजी का स्मरण मुझे उनकी सहृदयता, भावप्रवणता तथा निष्काम प्रेमी सुहृद व्यक्ति के रूप में ही आता है।

बच्चन : व्यक्तित्व और कृतित्व

वैसे तो 'बच्चन' के व्यक्तित्व तथा काव्य-चेतना के मर्म का उद्घाटन करने के लिए अत्यन्त व्यापक चित्रपट की आवश्यकता है, पर मैं सम्प्रति, कुछ नये-पुराने झरोखे खोलकर उनके काव्य-जगत की एक संक्षिप्त झाँकी-भर प्रस्तुत कर सन्तोष करूँगा। बच्चनजी की कविता का परिशीलन करना भावनाओं के सहज मधुर, अन्तस्पर्शी इन्द्रलोक के सूक्ष्म-सौन्दर्य-वैभव में विचरण करना है, जहाँ एक ओर कल्पना के कुन्तल-जाल छाया-पथों में सद्य: जीवन-शोभा की मधुवर्षिणी मधुबाला मधु बरसाती एवं मानव-हृदय की धडकनों मे चिर-परिचित पगध्वनि भरती, तथा 'है आज भरा जीवन मुझ मे है आज भरी मेरी गागर' वाला आनन्दमय नृत्य करती हुई, जीवन-यौवन की हाला को अपनी रश्मि-इंगित बाँहों में दिव्य प्रेम के सुनहले अमर लोक में उठाती हुई आपके हृदय को तादात्म्य के आनन्द-ऐश्वर्य से मुग्ध कर देती है, तो दूसरी ओर, मानव-चेतना के धूमिल क्षितिजों में साहसिक चपलाओं के आलोक-आलिंगनों में बँधे हुए विषाद, निराशा तथा अन्धकार के दुर्द्धर्ष पर्वतों से मेघ, जीवन-संघर्ष के उद्दाम सागर-मन्थन में अविराम टकराकर निदारुण वज्र घोष तथा अट्टहास करते सुनायी पड़ते हैं।

बच्चन, मुख्यत: मानव-भावना, अनुभूति, प्राणो की ज्वाला तथा जीवन-संघर्ष के आत्मनिष्ठ कवि हैं। मैंने कभी उनके लिए ठीक ही लिखा था—

अमृत हृदय में, गरल कण्ठ में, मधु अधरों में,
आये तुम वीणा धर कर में जन-मन-मादन।

ये अमृत, मधु और गरल भावना, अनुभूति तथा जीवन-संघर्ष की आशा-निराशा के प्रतीक नहीं है तो और क्या हैं? बच्चन के अधिकांश काव्य-पट में उनकी आत्म-कथा के ही बिखरे पन्ने मिलेंगे, जिनमे, सम्भवत: घटनाएँ तो अपने स्थूल यथार्थ के कारण प्रच्छन्न हो गयी है, किन्तु तज्जनित संघर्ष, ऊहापोह, घात-प्रतिघात तथा सुख-दुख के संवेदनों के मधुर-तिक्त रस का स्वाद पाठकों के हृदय को स्पर्श कर उनकी साँसों में बहने लगता है और कुछ समय के लिए उनकी अनुभूति का अंग बन जाता है। कवि कभी हाथ में वंशी और कभी तूँबी लेकर चेतन-अवचेतन मन में गहरी गुहार लगाता है और अनेक प्रणयरुद्ध भावनाओं के स्वप्न-पंख खेचर तथा कामनाओं के सरीसृप जगकर मन को कवि की कल्पना के सशक्त डैनों में उड़ाते अथवा उसके शब्द-दंश से मोहमूर्च्छित करते हैं।

कवि के दो रूप स्पष्ट आँखों के सामने आते हैं—एक सहज, रूप-मुग्ध तरुण किशोर प्रेमी का, जो प्रेम की स्वप्न कोमल पलकों से गुद-गुदाये जाने के लिए अपने हृदय को हथेली में लिये फिरता है, और दूसरा साहसी और कभी-कभी दुःसाहसी वज्र दृढ़, संकल्प-निष्ठ, अपराजित व्यक्ति का, जो जीवन के अन्धकार से प्रकाश और मृत्यु से अमृत-संचय करने की क्षमता रखता है। ये दोनों, प्रेमी तथा कर्मनिष्ठ योद्धा के रूप, अनजाने ही मिलकर उनके अब तीसरे रूप में निखर रहे हैं, जिसके लिए वह अपने को 'तीसरा हाथ' को सौंपकर दिन-प्रतिदिन नवीन शक्ति, आशा तथा आनन्द का संग्रह कर रहे हैं। कवि के इसी त्रिभंगिमापूर्ण त्रिमूर्ति रूप को आप उनकी रचनाओं के सोपान पर धीरे-धीरे आगे बढ़ता, ऊपर बढ़ता हुआ देखेंगे।

बच्चन का मधुकाव्य

अपने किशोर तारुण्य के उन्मेष में कवि ने अपने मधुकाव्य में अपने सौन्दर्योपासक हृदय के मादक आनन्द को वाणी की रसमुग्ध प्याली में उड़ेलने का प्रयत्न किया है। मधु की अर्द्धजाग्रत, अर्द्धतन्द्रिल, गन्धमदिर कुंज-गलियों में कवि ने सर्वप्रथम उमर खैयाम के प्रदीप-प्रतिभा-प्रकाश में प्रवेश किया है। नये-पुराने झरोखे में कवि उमर के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए लिखता है, 'मेरे काव्यजीवन में रूबाइयात उमर खैयाम का अनुवाद एक विशेष स्थान रखता है। उमर खैयाम ने रूप, रंग, रस की एक नयी दुनिया ही मेरे आगे नहीं उपस्थित की, उसने भावना, विचार और कल्पना के सर्वथा नये आयाम मेरे लिए खोल दिये। उसने जगत, नियति और प्रकृति के सामने लाकर मुझे अकेला खड़ा कर दिया। मेरी बात मेरी तान में बदल गयी। अभी तक मैं लिख रहा था, अब गाने लगा। खैयाम से जो प्रतीक मुझे मिले थे उनसे अपने को व्यक्त करने में मुझे बड़ी सहायता मिली। 'मधुशाला' और 'मधुबाला' लिखते हुए वाणी के जिस उल्लास का अनुभव मैंने किया, वह अभूतपूर्व था। शायद उतने उल्लास का अनुभव मैंने बाद में कभी नहीं किया।' इसका जो भी अर्थ हो, मैं इससे इतना ही समझता हूँ कि बच्चन का प्रेरणा-स्रोत उमर खैयाम को पढ़कर ही पहले-पहल उन्मुक्त हुआ। उनके मधु-काव्य को पढ़ते समय मुझे लगा कि खैयाम से बच्चन ने हाला, प्याला और मधु-बाला (साकी) के प्रतीक भले ही लिये हों, पर भावना, कल्पना और विचारों में मुझे उमर का प्रभाव अधिक दृष्टिगोचर नहीं हुआ। उमर की एक सौ पचास रूबाइयों का अनुवाद मैंने सन् १९२९ में किया था (फारसी से) जिनके बारे में मैं 'मधुज्वाल' की भूमिका में संकेत कर चुका हूँ। उमर की मदिरा और बच्चन की मदिरा में बड़ा अन्तर है। उमर जीवन की क्षणभंगुरता से निराश एवं मृत्यु से पराजित मन को अपने क्षणवादी सुखवादी दर्शन की मादक उत्तेजना में भुलाये रखना चाहते हैं। उनकी कल्पना क्षण के शाश्वत के पार कालातीत शाश्वत में विहार नहीं करती। मृत्यु-भय से पीली उनके जीवन-सौन्दर्य की भावना देश-काल की सीमा को अतिक्रम नहीं करती। बच्चन की मदिरा चैतन्य की ज्वाला है, जिसे पीकर मृत्यु भी जीवित हो उठती है।

उनका सौन्दर्य-बोध देश-काल की क्षणभंगुरता को अतिक्रम कर शाश्वत के स्पर्श से अम्लान एवं अनन्त यौवन है। यह निःसन्देह बच्चन के अन्तरतम का भारतीय संस्कार है जो उनके मधुकाव्य में अज्ञात रूप से अभिव्यक्त हुआ है। बच्चन की मदिरा ग़म ग़लत करने या दुःख को भुलाने के लिए नहीं है, वह शाश्वत जीवन-सौन्दर्य एवं शाश्वत प्राण चेतना-शक्ति का सजीव प्रतीक है। मिट्टी के प्याले की मृत्यु को पार कर स्वतः तात्त्विक सत्य का प्रकाश ही अपने अजेय आत्म-विश्वास में मादक हो उठा है। उमर की मदिरा जीवन-स्मृतियों की मदिरा है और बच्चन की जीवन-स्वप्नों की—एक मे अतीत का मधुतिक्त मोह है, दूसरे में भविष्य की सुनहली आशा-सम्भावना। बच्चन ही की 'उमर खैयाम की मधुशाला' तथा इतर मधुकाव्य के कुछ उदाहरण मेरी बात की पुष्टि करेंगे—

'नहीं है, क्या तुमको मालूम, खड़ी जीवन तरणी क्षण चार,
बहुत सम्भव है जा उस पार न फिर यह आ पाये इस पार।'
'जीर्ण जगती है एक सराय।'
'हाय, वन की हर सुम्बुल बेलि किसी सुमुखी की कुन्तल-राशि।'
'किन्हीं मधु अधरों को ही चूम, उगे हों ये पौधे अनजान।'
'अरे कल दूर, एक क्षण बाद काल का मैं हो सकता ग्रास।'
'कहाँ स्वरकार, सुरा, संगीत, कहाँ इस सूनेपन का अन्त।'
'होंठ से होंठ लगा यह बोल उठी जब तक जी कर मधुपान
कौन आया फिर जग में लौट किया जिसने जग से प्रस्थान।'
(खैयाम की मधुशाला)

अधिक उद्धरण देना व्यर्थ है, समस्त वातावरण ह्रास, संशय, विषाद, मृत्युभय तथा अनस्तित्व के सूनेपन से बोझिल है। क्षणभंगुर जगत में कुछ सत्य है तो क्षण-भर का आनन्द, मधुपान। कल क्या होगा, किसे ज्ञान? यह है उमर खैयाम का अस्तित्ववाद।

अब बच्चन के मधुकाव्य से कुछ उद्धरण लीजिए। आस्तिक बच्चन अपने प्रियतम आराध्य से कहते हैं—

'पहले भोग लगा लूँ तेरा, फिर प्रसाद जग पायेगा,
सबसे पहले तेरा स्वागत करती मेरी मधुबाला।'
प्रियतम, तू मेरी हाला है, मैं तेरा प्यासा प्याला;
अपने को मुझमें भरकर तू बनता है पीनेवाला।'
कभी न कण-भर खाली होगा लाख पिएँ, दो लाख पिएँ,
राह पकड़ तू एक चलाचल, पा जायेगा मधुशाला।'
'बने ध्यान ही करते-करते जब साकी साकार, सखे,
रहे न हाला, प्याला, साकी, तुझे मिलेगी मधुशाला।'

ऐसे और भी बीसियों उदाहरण बच्चन की 'मधुशाला' तथा 'मधुकलश' से दिये जा सकते हैं, जिनमें इन्द्रधनुष से होड़ लगानेवाली उसकी मधुशाला प्यासे पाठकों को अक्षय जीवन-चैतन्य की अमिट आशा-उल्लास भरी मदिरा पिलाकर उनके प्राणों में नवीन जीवन का संचार करने में सफल होती है। बच्चन की मदिरा में निःसन्देह मानव-हृदय की अभीप्सा की भावात्मक, घन-मादकता है, उसमें शुष्क बुद्धिवादी दर्शन का निष्क्रिय, रुग्ण-औदास्य और सूनापन तथा जगत् के प्रति विरक्ति एवं पलायन

की भावना नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि यत्र-तत्र उसका भावुक तरुण कवि खैयाम के प्रभाव से जीवन की बाह्य क्षणभंगुरता के विषाद तथा नैराश्य में बहने लगता है—वैसे उमर के काव्य में नैराश्य एक स्वाभाविक मानसिकता है और बच्चन के काव्य में प्रायः काव्यात्मक अतिरंजना मात्र—पर उसके भीतर के अदम्य प्रेरणा का स्रोत उसे फिर इस रूप-रस-गन्ध भरे विश्व के सौन्दर्य के बीच खड़ा कर उस पार एवं कल के सोद्देश्य स्वप्न देखने को बाध्य करता है। यौवनागम पर कवि के हृदय में जीवन की जिस उद्दाम आकांक्षा का सिन्धु उद्वेलित होकर उसके प्राणों में सौन्दर्य-कान्ति की हलचल मचा देता है, उसे वाणी देने के लिए तारुण्य की आरक्त पलाश-ज्वाला से भरा हाला का प्रतीक ही सम्भव तथा सक्षम प्रतीक हो सकता है। बच्चन के हाथों में पड़कर उमर खैयाम की मिट्टी का प्याला, हाला तथा मधुबाला सबका रूपान्तर हो जाता है। और वे नवीन आनन्द, जीवन-चेतना तथा नवयुग के सौन्दर्य-बोध के प्रतीकों में परिणत हो जाते हैं। बच्चन के मधुकाव्य का अध्ययन करना शोभा-पावक की स्वर-गंगा में अवगाहन करना है, जो देह, मन-प्राणों में नवीन स्फूर्ति, प्रेरणा तथा आनन्द-चैतन्य भर देता है। सहस्रों वसन्तों का सौन्दर्य, जीवन मधुप्रिय भृंगों की सुनहली गूंज, प्रेम-दग्ध आनन्द-पिक की तीव्र मर्मभेदी कूक कवि के मधुकाव्य में सुख-दुःख, आशा-निराशा, संघर्ष-क्रान्ति तथा आस्था-विश्वास एवं शान्तिपूर्ण कल्पना का सम्मोहन गूंथकर पाठकों को आश्चर्यचकित, शोभा-मुग्ध तथा प्रेम निमग्न कर देती है। पाटल-पावक के वन के भीतर सौरभ के उन्मद वीथियों में विचरण करता हुआ उनका मन, साथ ही, जैसे कवि की भावना-वीथियों से मन्दमुखर उद्वेलित, जीवन-बोध के सरोवर में ऊब डूब करने लगता है। 'मधुशाला' 'मधुबाला' और 'मधुकलश' में बच्चन की मधुवर्षिणी प्रतिभा अविराम, अश्रान्त मधु बरसाती चलती है, उसके कर कंकणों तथा कंचन पायलों का अक्षय क्वण मन में जैसे अपने आप ही बज-बज उठता है। बच्चन की रचनाओं का सबसे बड़ा गुण यह भी है कि उसकी पंक्तियाँ बिजली की तरह कौंधकर मन में प्रवेश कर जाती हैं और फिर अपने ही प्राणोन्मत्त प्रकाश के चांचल्य से स्मृति-पट पर बीच-बीच में चमक-दमक उठती हैं। उनका मधुकाव्य रंगों और ध्वनियों का काव्य है। प्राणों के आनन्दविभोर जीवन का काव्य है, यौवन की उन्मद आकांक्षाओं तथा सद्यःस्फुट किशोर सौन्दर्य का काव्य है, जिसकी वासन्ती ज्वाला न दग्ध करती है, न शीतल ही, वह गन्धमदिर लेप की तरह प्राणों में लिपट जाती है। उस काल की कुछ रचनाएँ—जैसे मिट्टी का तन, मस्ती का मन, इस पार उस पार, पगध्वनि, है आज भरा जीवन मुझ में तथा लहरों का निमन्त्रण आदि कवि की अविस्मरणीय कृतियों में रहेंगी, इनमें कवि के हृदय का शाश्वत यौवन मुखरित हो उठा है। इनमें कवि के चैतन्य का विराट् उद्वेलन तो मिलता ही है, जीवन के प्रति एक स्वस्थ निर्भीक दृष्टिकोण तथा व्यापक अस्पष्ट विश्व-दर्शन भी मिलता है। भावना की ऐसी मुग्ध तन्मयता तथा आनन्दोद्रेक का सबल संवेग बच्चन की आगे की कृतियों में कम ही देखने को मिलता है। निर्झर का स्वप्न-भंग हो जाने के बाद वह जैसे फिर समतल भूमि में मन्द-मन्थर कलकल करता

हुआ अपनी उर्वर शक्ति के प्रवाह में बहने लगता है। यदि मिट्टी का प्याला काल-रात्रि के अन्धकार से निकलकर अचेतन से चेतन बनने तथा कुम्भकार के निर्णय पर मिट्टी से मधुपात्र बनने के अनिर्वचनीय आनन्द से छलक-छलक उठता है तो 'इस पार उस पार' में मानव चेतना जैसे मृत्यु के बाद नवीन जीवन का आधार खोजने के लिए आतुर एवं सन्दिग्ध प्रतीत होती है। मिट्टी के प्याले की जिजीविषा पाँच पुकार में मृत्यु के आँगन को पार कर पगध्वनि में जैसे आँखों के सामने नवीन सौन्दर्य-बोध का द्वार खोल देती है। कवि की अनुराग भावना में मस्ती के साथ भक्ति परम्परा की विनम्र कृतज्ञता भी है, जो सौन्दर्य के पावक को तलुओं की जावक लाली के रूप में पहचानना पसन्द करती है। उन पद-पद्मों की रज के अंजन से कवि के अन्धे नयन खुलते हैं। पगध्वनि के भाव संगीत में एक मर्म-मधुर सम्मोहन मिलता है, जो कल्पना को जहाँ 'रव गूंजा भू पर, अम्बर में, सर में, सरिता में, सागर में' कहकर समस्त विश्व की परिक्रमा करा देता है, वहाँ 'ये कर नभ, जल थल में भटके, वे पग-द्वय थे अन्दर घट के' कहकर उसे आत्मा की गहराई में भी प्रवेश कराता है और अन्त में आत्म-साक्षात्कार के बाद कवि का यह बोध कि 'मैं ही इन चरणों में नूपुर, नूपुर ध्वनि मेरी ही वाणी'—जैसे आत्म तन्मयता की अद्वैत समाधि में निमग्न कर देता है। निस्सन्देह, पग-ध्वनि में देह मन प्राण तथा आत्मा के सभी भुवन प्रतिध्वनित हो उठे हैं।

'मधुकलश' की पहली रचना है 'आज भरा जीवन मुझमें, है आज भरी मेरी गागर' में जीवनचेतना का जो उदार चित्र कवि ने उपस्थित किया है, वह अत्यन्त मोहक तथा आशाप्रद है—

पल ड्योढ़ी पर, पल आँगन में, पल छज्जों और झरोखों पर
मैं क्यों न रहूँ, जब आने को मेरे मधु के प्रेमी सुन्दर।

वह जैसे ईश्वर की करुणा ही है जो जीवनचेतना बनकर इस धरती पर आँख मिचौनी खेलती हुई प्रतीक्षा कर रही है कि मनुष्य उसका स्पर्श पाकर जीवनमुक्त हो। इसी रचना में—

भावों से ऐसा पूर्ण हृदय, बातें भी मेरी साधारण
उर से उठकर मुख तक आते-जाते बन जाती है गायन।

कहकर जैसे कवि ने अपने इस काल की अपनी सहज सृजन-प्रेरणा के मुख पर भी प्रकाश डाल दिया है। 'तीर पर कैसे रुकूँ मैं' के साहसिक संगीत में कुछ ऐसी उत्तेजना है कि पाठकों का मन भी कवि के साथ लहरों का निमन्त्रण पाकर जीवन-सिन्धु के तीव्र हाहाकार मे कूदकर 'रसपरिपूर्ण गायन' की खोज में निकल पड़ता है, क्या जाने वह अमृत-घट कहीं जीवन संघर्ष ही की गहराइयों मे छिपा हो।

मधुकाव्य का कवि शिल्पी नहीं

मधुकाव्य का कवि शिल्पी अथवा शैलीकार नहीं है—यह तो वह आगे जाकर बनता है, जब प्रेरणा भावों तथा विचारों की भूलभुलैया मे चक्कर खाती हुई छन्द के नूपुर सँवारकर कविता बनने का प्रयत्न करती है। इस युग की रचनाओं में कवि के प्राणों में इतना आनन्दाधिक्य तथा भावना का मादक उद्वेलन मिलता है कि वह अकारण एवं अनायास निर्झर की तरह फूटकर गायन बन जाता है। छायावाद के युग में बच्चन जैसे कवि का

उदय अपना विशेष स्थान तथा महत्व रखता है। छायावाद जो कि युधिष्ठिर के रथ की तरह सदैव धरती से ऊपर उठकर चलता रहा, ठोस भूमि पर पाँव गड़ाकर खड़े होनेवाले इस कवि के आगमन के लिए जैसे अप्रत्यक्ष रूप से तैयारी ही कर रहा था। यह यथार्थकामी कवि, नक्षत्र की तरह किसी नवीन कल्पना-क्षितिज पर उदित न होकर, धरती के ही जीवन सरोवर के वृहत् रक्तपावक-कमल की तरह अपलक अम्लान भावसौन्दर्य में प्रस्फुटित हुआ। छायावाद अपनी उदग्र बाँहों में चाँद को खिला ही रहा था, पर वह धरती पर उतरकर उसकी मूर्तिमत्ता एवं वास्तविकता का स्पर्श भी संग्रह करना चाहता था। आदर्शवादिता तथा वास्तविकता के ऐसे सन्धि-युग में बच्चन कल्पना की आकाशीय मृणाल तारों की हृत्तन्त्री का मोह छोड़कर जीवनसाँसों की वीणा में झंकार भरकर जिस मोहक स्वर में गाने लगे, उससे जीवन की धरती तो रोमहर्ष से भर उठी, छायावादी कवियों के श्रवणों को भी उसकी ध्वनि आकर्षित किये बिना नहीं रही और सम्भवत: धरती के जीवन मे मैत्री स्थापित करने में उन्हे उनकी भाव-वाणी से अप्रत्यक्ष रूप से सहायता भी मिली हो। किन्तु छायावादी आदर्शवादिता को मात्र आकाशीय या वायवीय कहना शायद उनके प्रति अन्याय करना है क्योंकि बच्चन जैसे जीवन की वास्तविकता के कवि को भी पृथ्वी के पंक से पाँव ऊपर खींचकर, दूसरे रूप में ही सही, आदर्श की खोज में निकलना पड़ा और वह सीढ़ी-सीढ़ी ऊपर चढ़कर कहाँ पहुँच गये है, इसके बारे में सम्भव है हम आगे कुछ कह सकेंगे। बच्चन का विकास छायावाद और प्रगतिवाद के सन्धिकाल में हुआ, पर उसका कवि आदर्श और यथार्थ के पुलिनों पर रुककर 'तीर पर कैसे रुकूं मैं आज लहरों में निमन्त्रण' को चरितार्थ करता हुआ अपनी आत्मनिष्ठ भावना के उद्दाम ज्वार पर चढ़कर, जीवन की ऊँच-नीच तरंगों से संघर्ष करता हुआ, अपने अन्त:सौन्दर्य के आनन्द इंगित पर अलक्ष्य की ओर बढता ही गया। छायावाद के प्रेरणा-पंखों तथा प्रगतिवाद के भारी ठोस चरणों पर हिन्दी कविता तब ऊर्ध्व वायविक झंझा तथा समतल पार्थिव गर्दगुब्बार से होकर ऊपर-नीचे अथवा भीतर-बाहर के क्षितिजों एवं क्षेत्रों से गुजर रही थी, उसमें जैसे बच्चन अपने लिए मानवभावनाओं का अग्नि-पथ चुनकर मिलन-विछोह की मधुर-तीव्र आग तपते, एकाकी पक्षी की तरह प्राणों के पंख झुलसाते हुए, सुख-दुख की धूप-छाँह से भरे हृदय के उन्मुक्त आकाश में उड़ते और गाते रहे। उन्होंने अपने सम्बन्ध में ठीक ही कहा है "मेरा हृदय सदैव भावनाद्रवित रहा है। अपने और दूसरों के भी सुख-दुख, हर्ष-विषाद को मैने अपने हृदय के अन्दर देखा और लिखा है। दूसरे के हृदय को देखने का मेरे पास एक ही साधन है और वह है मेरा अपना हृदय। मुझे यह जानकर सन्तोष होता है कि मैं भावनाओं का कवि हूँ। जैसा मैं अनुभव करता हूँ ऐसा दूसरे भी करते होंगे, यही बल सदा मुझे रहा है—मैं अपनी बहुत-सी रचनाओं के पीछे देखने का प्रयत्न करता हूँ तो मुझे लगता है कि उनका जन्म मेरे अनुभव में हुआ है—मैंने अनुभवों की परिधि व्यापक रक्खी है, मैने उनके अन्दर कल्पना को भी जगह दी है। अनुभवों की प्रतिक्रिया के समान कल्पना की प्रतिक्रिया भी असह्य होती है और अभिव्यक्ति में सुख का अनुभव होता है। एक तरह की राहत मिलती है। अनुभवों में डूब और अभिव्यक्ति के माध्यम

पर यथासम्भव अधिकार प्राप्त करके मैंने अपने-आपको प्रेरणा पर छोड़ दिया है।" और अपने मधुकाव्य के प्रतीकवादी युग में कवि ने अपने को मुख्यत: प्रेरणा पर ही छोड़ा है। छायावादी कवियों को आप कल्पनाप्रधान और बच्चन को अनुभूतिप्रधान कह सकते हैं। पर छायावादी कवियों में भी अनुभूति और बच्चन के काव्य में भी कल्पना के मूल्य के लिए स्थान है, जैसा कि वह स्वयं कहते हैं। काल्पनिक अनुभूति का काव्य मे ऐन्द्रिय एवं भावनात्मक अनुभूति से कहीं ऊँचा स्थान होता है, वह अधिक प्रखर, गहन तथा व्यापक होती है, इसका उदाहरण विश्व का समस्त उच्चकोटि का साहित्य है। शेक्सपियर ने अपने दुखान्त नाटकों में मानव-चरित्र के जो जटिल-गूढ़ पक्ष तथा भूत-प्रेत, हत्या-सन्देह का वातावरण चित्रित किया है, वह उनकी व्यक्तिगत कर्म या भावनाजनित अनुभूति न होकर काल्पनिक अनुभूति ही थी। वह कल्पना के बल पर अपने भाव-मन को उन अपरूप अनुभूतियों में प्रक्षिप्त करके उन परिस्थितियों से तादात्म्य स्थापित कर सके। इसी प्रकार रामायण में अपहृत पत्नी-विछोह का दुख 'रघुवंश' का अज-विलाप अथवा 'मेघदूत' की घन-मन्द्र व्यथा आदि भी काल्पनिक अनुभूति के ही उत्कृष्ट अथवा वरिष्ठ निदर्शन हैं। अनुभूति के क्षेत्र को नारी अधरों के मिलन-विछोह एवं अपने व्यक्तिगत सवेदनों की परिधि तक ही सीमित रखना उसे लुंज-पुंज बना देना है। बच्चन ने छायावादियों की तरह विश्वचेतना अथवा अधिमन से प्रेरणा ग्रहण न कर अपनी ही रागात्मक भावना एवं अस्मिता को अपनी रचनाओं में प्रधानता देकर, अनुभूति के क्षेत्र को जनसामान्य की मानसिकता के स्तर पर मूर्त कर उसमे भावनात्मक गहनता तथा व्यक्तिपरक ममत्व के तत्वों का समावेश कर दिया, जिसके कारण उनका काव्य जनसाधारण के अधिक निकट आकर सबके लिए मर्म-स्पर्शी बन सका। बच्चन के अत्यन्त लोकप्रिय होने का कारण यह भी है कि उन्होंने आदर्श और वास्तविकता को अपने जादू के प्रतीकों के द्वारा एक-दूसरे के अत्यन्त सन्निकट ला दिया और कहीं-कहीं उनमें अद्वैत भी स्थापित कर दिया। इस प्रकार, हम देखते हैं कि बच्चन छायावादी सूक्ष्म-ऊर्ध्व आदर्श और प्रगतिवादी सामूहिक बाह्य-यथार्थ से पृथक् एक भावात्मक या रागात्मक आदर्श-वास्तविकता के जीवन-प्रिय गायक बनकर अपने विशिष्ट व्यक्तित्व से रस-पिपासु जनता का ध्यान आकर्षित करते हैं। वह अन्तश्चेतना और भौतिकता के छोरों का परित्याग कर राग-भावना के मध्य-पथ से लोक-हृदय में प्रवेश कर चाँद को एकटक निहारने एवं धरती पर ही अंगारे चुगनेवाले पक्षी की तरह अपने भाव-प्रमत्त स्वरों तथा साहसिक जीवन डैनों की मार से जनमानस में रसानुभूति को जाग्रत एवं मन्थित करते रहे। किन्तु राग-भावना, जो कि गीति-तत्व की आधारशिला अथवा स्वर का तार है, उसकी एक सीमा भी होती है और वह है उसमें ह्रास-युगीन तत्वों का सम्मिश्रण। बच्चन ही नहीं, कवीन्द्र के गीतों की रागात्मकता में भी ह्रासजन्य संवेदना का प्रचुर मात्रा में समावेश मिलता है। इसका कारण यह है कि राग या गीति-तत्व तभी पूर्णरूपेण प्रस्फुटित होता है, जब किसी सांस्कृतिक वृत्त का संचरण अपने विकास के शिखर पर पहुँच जाता है, तभी संकल्पबुद्धि और मन से छनकर नये युग की चेतना नवीन सांस्कृतिक हृदय में स्पन्दित होती है और नये गीत एवं राग-भावना का

जन्म होता है। निर्माण युग के आरम्भ में हम निश्चय ही पिछली राग-भावना या गीतितत्व का उपयोग नये परिधान में करते हैं, रवीन्द्र के राग-तत्व में भी मध्ययुगीन वैष्णव हृदय के विरहक्लान्त स्पन्दन का पर्याप्त मात्रा में विद्यमान होना स्वाभाविक ही है।

अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में बच्चन छायावाद के शब्दसंगति तथा द्विवेदीयुगीन काव्यात्मकता के मुथरेपन से प्रभावित अवश्य प्रतीत होते हैं और 'बंगाल का काल' तथा कुछ अन्य मुक्तछन्द की रचनाओं में उनके भीतर प्रगतिवाद की बहिर्मुखी झिल्ली की झनकार भी यत्र-तत्र मिलती है, पर उनका कवि मुख्यत: गायक ही की मादकता लेकर प्रकट हुआ है और उसने आँगन के पेड़ पर अधिवास बनाकर अपने सबल कर्कश स्वरों से इस संक्रान्ति-युग में लोगों को जगाने के बदले, उनके हृदय में कोमल नीड़ रचकर उनके सुख-दुखों को सहलाना ही अधिक श्रेयस्कर समझा है। वह देवदूत या जननायक न बनकर मानवप्राणों के रंगसखा के रूप में अवतरित हुआ है और भारी-भरकम मानववीणा की जटिल सूक्ष्म झंकारों के बदले राग की हरी-भरी बाँसुरी से प्रणयमत्त स्वरों के फनों की गरल मधुर फूत्कार छोड़कर लोगों के कामनादग्ध मर्म को आनन्ददंशन से रस-तृप्त कर आत्मविस्तृत करता रहा है। उसका कवि मात्र तूंबी फूंकने-वाला वासनाओं का सँपेरा कभी नहीं रहा, पर मध्ययुगीन नैतिकता के अनेक प्रहार उस पर इस युग में हुए हैं जिनका आभास 'मधुकलश' में 'कवि की वासना', 'कवि की निराशा' तथा 'पथभ्रष्ट' आदि रचनाओं से मिलता है। बच्चन के अनुसार उन्होंने 'मधुकलश' की रचनाओं मे अपने विरोधियों को उत्तर दिया है, जिससे लोगों को पता लगा कि कवि कोई कुम्हड़बतिया नहीं है। यह है युवक कवि का किशोर आत्माभिमान। किन्तु भावुक हृदय के लिए इन आघातों का परिणाम अच्छा ही हुआ। इनमे कवि के हृदय का छिपा पौरुष, उसकी तर्कबुद्धि, संकल्पशक्ति तथा आत्म-जिज्ञासा का भाव जगा, जो बिजली की रेखाओं की तरह कवि की निराशा तथा संशय के अन्धकार को चीरता हुआ उसकी रचनाओं में बीच-बीच में कौंध उठता है।

इस प्रकार हम कवि के संग झुकते-झूमते उसके काव्य-सोपान की राग-भावना के पावक-जावक से रची प्रथम माणिक श्रेणी को पार कर मानव-जीवन के नैराश्य तथा मृत्यु-विछोह-दुख से कण्टकित दूसरी श्रेणी की ओर थोड़ा सँभलकर चरण बढाते हैं—जिसके अन्तर्गत 'निशा-निमन्त्रण', 'एकान्त संगीत' तथा 'आकुल-अन्तर' आते हैं। मधुकाव्य की श्रेणी के अन्तर्गत भी इसी प्रकार तीन उपश्रेणियाँ हैं—'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'मधुकलश'। मधु-काव्य-प्रेरणा की तुलना बच्चन बरसात की मदमाती नदी से करते हैं, वैसे वह वसन्त के गन्ध-उन्मद परागों का निर्झर है। अपनी सृजन-चेतना की दूसरी सीढी पर चढने तक बच्चन के जीवन ने मोड़ ले लिया। उन्हीं के शब्दों में—"भाग्य के आघात से मैं नही बच सका, प्रेम की दुनिया धोखा दे गयी, पत्नी का देहावसान हो गया, जीवन विशृंखल हो गया। साल-भर के लिए लिखना बिल्कुल बन्द रहा, फिर मेरी वेदना, मेरी निराशा, मेरा एकाकीपन 'निशा-निमन्त्रण,' 'एकान्त संगीत' और 'आकुल अन्तर' के लघु-लघु गीतों में मुखरित हुआ है।"—

'देखन के छोटे लगें घाव करें गम्भीर' वाले लघु-लघु गीतों मे प्रणय के विछोह के आघात ने कवि के भीतर कलाकार को भी जन्म दे दिया, या पत्नी-वियोग के अपने मानवीय दुख को पीकर बच्चन ने अपने गीतों में कवि के दुख ही को वाणी दी है ? 'अज विलाप' को पढ़ते समय मुझे इस काव्यात्मक वेदना का आभास मिला था। कवि की अतिरंजना नहीं, पर साँसों के तारों द्वारा अपने हृदय की व्यथा को दूसरे के हृदयों में पहुँचाकर उनकी संवेदना को झंकृत करने की आकांक्षा, और सर्वोपरि, दुख के मूक-सौन्दर्य को पहचानने, उसकी अतल ऊष्ण गहराइयों में डूबने, उसकी सर्वव्यापकता की परीक्षा करने की साध—ये तीनों गीत-संग्रह बच्चन की कवि-व्यथा के बहुमुखी रूपों का प्रतिनिधित्व करते है। निराशा, वेदना, पूर्वस्मृति (मधुकाव्य के स्वप्नों के स्थान पर स्मृति !), अन्तर-दाह, हीन-भाग्य की भावना, विश्व से सम्बन्धविच्छेद की भ्रान्ति, तिक्तता, गहरा अवसाद और उससे भी गहरा अकेलापन। पर अवसाद के इन तमाम गीतों में एक स्वर ऐसा भी है जो पराजित होने को तैयार नही है। वह क्या जीवन की अपराजेय आशा का स्वर है, जो घने धूमिल बादलों को चीरकर पीछे 'सतरंगिनी' के रूप में प्रकट होता है ?

दुख ने कवि को गायक बना दिया—लघु-लघु गीत ? 'कवि की कैशोर मुखरता को, साँसों की प्राणवत्ता को संयमित कर दिया। हृदय टूक-टूक हो गया—लघु-लघु गीतों में ! व्यथा का अत्यन्त धनी निकला कवि का हृदय। मधुकाव्य मे साधारण गद्य मधुर पद्य बन गया था—

बाल रवि के भाग्य वाले दीप्त भाल विशाल चूमे

या

मरु की नीरवता का अभिनय मैं कर ही कैसे सकता हूँ

या

भूलकर जग ने किया किस-किस तरह अपमान मेरा

या

अह, कितने इस पथ पर आते, पहुँच मगर कितने कम पाते।'

ऐसी अनेक पंक्तियाँ मधुकाव्य में हैं जिनमें खद्दर का खुरदरापन ही है, स्वच्छता नहीं पर वेदना-काव्य में साधारण भाव और उससे भी साधारण पद गीत बन गये है। कैसी सरल पंक्तियाँ और सहज उक्तियाँ है, जो स्वतः ही जैसे व्यथा मे गल-ढलकर संगीतमुखर बन गयी है— 'कहते हैं तारे गाते है, साथी सो न कर कुछ बात,' 'रात आधी हो गयी है,' 'कोई गाता मैं सो जाता,' 'कोई नहीं, कोई नहीं', 'तब रोक न पाया मैं आँसू' आदि ऐसे अनेक चरण या वाक्यखण्ड है जो काव्य की पंखुड़ियों से पराग की तरह छनकर भावों के गन्ध-पंख फड़का, व्यथामजल गीत बनकर हृदय में समा जाते है। या फिर 'अब मत मेरा निर्माण करो,' 'तुम्हारा लौहचक्र आया'····'अग्निपथ ! अग्निपथ !'····'अग्नि देश से आता हूँ मैं'····'प्रार्थना मत कर, मत कर मतकर'···जैसे अग्नि-शलाका से लिखे गये हृदय की तिक्त मर्म-व्यथा में डूबे पद तीर की तरह छूटकर, जनसाधारण को विस्मय-आहत कर पूछते हैं—

तुम तूफान समझ पाओगे ?
गन्ध भरा यह मन्द पवन था,

लहराता इससे मधुवन था,
सहसा इसका टूट गया जो
स्वप्न महान् समझ पाओगे ?

अपने अनुभव के इस सोपान पर खड़े होकर कवि ने जैसे अपनी व्यथा के बहाने मानव-हृदय की अतलस्पर्शी व्यथा तथा युग के शंका-विषाद और निराशा के सिन्धु को मथकर उसके गरल को अमृत में बदल डाला है। बच्चन का संगीत एक अमूर्त झंकार बनकर हृदय में बैठ जाता है और विभिन्न अनुभूतियों के झरोखों से झाँककर विभिन्न संवेदनों में पुनरुज्जीवित हो उठता है। उसमें छायावादी गीतों की उदात्तता तथा सौन्दर्य-बोध का दीप्त-स्पर्श नहीं है, न उसमें 'लाज भरे सौन्दर्य कहो तुम लुक-छिपकर चलते हो क्यों ?' की ही कला-भंगिमा है, पर वे मानव-हृदय तथा इन्द्रियबोध के अत्यन्त निकट होने के कारण अधिक मूर्त एवं सवेदनागर्भित होकर प्राणों की गहराइयों में उतरते हैं। फारसी संगीत की वेदना मे डूबा हुआ कवि का स्वर उन्हे जैसे नीद की-सी भारी मधुर सम्मोहकता के साथ और भी मर्मातुर बनाकर अन्तरतम के भावाकुल स्तरों में पहुँचा देता है। खड़ी बोली में वैसे अभी गीतों मे ढलने योग्य मार्दवता तथा भाव-सिक्त निखार नही आया है। गीतों में बँधने के लिए उसे अभी अधिक रसद्रवित होना है, पर बच्चन की गीतात्मकता जैसे भाषा की सीमाओं को लाँघकर अपनी व्यथा की तीव्रता तथा अनुभूति की गहनता से सप्राण, सजीव एवं स्वर-मधुर बन गयी है। बच्चन की भाषा में परम्परा का सौष्ठव है, वह साहित्यिक होते हुए भी बोलचाल के निकट है। वह छायावादी कविता की भाषा की तरह अलंकृत, सौन्दर्य-दृप्त, कल्पनापंखी एवं ध्वनिश्लक्ष्ण नहीं है; वह सहज, रसभीनी, गति-द्रवित, प्रेरणा-स्पर्शी, अर्थ-गर्भित, व्यथा - मथित आनन्द-गन्धी भाषा है। बच्चन की गीति-भावना के उर्दू काव्य-चेतना के निकट होने के कारण उनकी शैली में हिन्दी-उर्दू शब्दो का मिश्रण ध्वनि-बोध की दृष्टि से खटकता नहीं है, उसमें एक राग-लय-साम्य परिलक्षित होता है। शब्दों की परख तथा स्वर-संगीत की सूक्ष्मता उनके 'मिलनयामिनी' एवं 'प्रणय-पत्रिका' के गीतों मे अधिक मिलती है। ये गीत वेदना-काव्य के गीतों की तरह लघु एवं अल्पश्वास नहीं हैं। इनमें कवि की भावना कल्पना की उन्मुक्त बाँहें खोलकर आपको रसानुभूति के आलिंगनपाश में बाँध लेती है। वेदना-काव्य मे कहीं-कहीं 'कहती है, समाप्त होता है सतरंगे बादल का मेला' जैसी पंक्तियाँ भी आ गयी है जिसमें 'समाप्त होता' अगीतात्मक कर्कश पाषाण की तरह लय की रसधारा के पथ में रुकावट डालता है। किन्तु भाव-चित्रों की दृष्टि से बच्चन के ये गीत उनके आगे के गीतों से अधिक संवेद्य तथा रसभीगे हैं। उनमें 'बात करती सर लहरियाँ कूल से जल-स्नात' जैसी अनेक जादुई पंक्तियाँ है, जिनके भीतर भाव-बोध का एक समुद्र ही लहरा उठता है—

सुन रहा हूँ, शान्ति इतनी
है टपकती बूँद जितनी
ओस की जिनसे द्रुमों का गात रात भिगो गयी है।—

चरणों में 'है टपकती' संगीतात्मकता की दृष्टि से सफल प्रयोग न होने पर

भी—विशेषकर शान्ति को चित्रित करने के लिए—तीनों पंक्तियों का कल्पनाचित्र रस से गीला तथा भावद्रवित बन पड़ा है। कवि अपनी तन्मयता में चूती हुई ओस की अश्रुत चाप सुनकर रात की भीगी शान्ति का अनुमान लगा रहा है, पर 'टपकती' के पैरों में तो काठ की घण्टियाँ ठक-ठक बज रही है। या सम्भव है कवि कहना चाहता हो कि इतनी निर्वाक् तन्मय शान्ति छायी है कि बूँद का हौले से चूना भी टपकने-सा प्रतीत हो रहा है। भाव-व्यजना एवं चित्रसज्जा के अनेक मनोरम उदाहरण बच्चन की इस दूसरे सोपान की रचनाओं में मिलेंगे, जिनका इस सक्षिप्त वक्तव्य मे दिग्दर्शन कराना सम्भव नहीं है। कवि के अपराजेय व्यक्तित्व की झाँकियाँ भी इन सग्रहों के अनेक गीतों मे मिलेंगी, जिनमे 'अग्निपथ,' 'प्रार्थना मत कर,' 'अब मत मेरा निर्माण करो,' 'तुम तूफान समझ पाओगे' आदि रचनाएँ भग्न-हृदय कवि की दृढ ऊर्ध्व रीढ़ का परिचय देकर मन को चमत्कृत कर देती है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, बच्चन की रचनाओं मे उसकी आत्मव्यथा के भीतर उसकी आत्म-कथा भी छिपी हुई है। उनकी आत्मनिष्ठ भावना प्रणय-विछोह तथा जीवन-संघर्ष के आघात खाकर ही क्रमशः व्यापक और विस्तृत हो सकी है। मधुकाव्य के कवि की यौवन-आनन्द से उन्मुक्त भावना को ठोकर लगना स्वाभाविक ही था—समय समतल पर चलने को बाध्य करता है—उस आनन्द की परिणति बच्चन में वेदनाकाव्य के साथ गम्भीर जीवन-अनुभूति में होनी प्रारम्भ हो जाती है। मधुकाव्य मे कैशोर स्वप्नों की मादक हाला है तो उनके वेदनाकाव्य में स्वप्न और वास्तविकता की टकराहट से पैदा हुई व्यथा की तीव्र ज्वाला है। दोनों ही के मधुर-विपाक्त आघातों को पचाकर कवि उन्हे काव्यामृत में परिणत कर सका, यह उसकी सफलता है। फिर भी इस युग में कवि के मन में निराशा-विषाद और संशय का अन्धकार घनीभूत होकर उसे एकाकी क्रौंच की तरह गीत-क्रन्दन करने को विवश करता है। 'आकुल अन्तर' में वह कहता है—

कर लेता जब तक नहीं प्राप्त
जग - जीवन का कुछ नया अर्थ
जग जीवन का कुछ नया ज्ञान,
मैं - जीवन की शंका महान्।
मैं खोज रहा हूँ अपना पथ,
अपनी शंका का समाधान।

उच्छ्वास, आँसू, आग, धुएँ, कीचड़ और कण्टकों की इस विषण्ण भूमि को पार कर कवि अपना नया चरण 'सतरंगिनी', 'मिलनयामिनी' और 'प्रणयपत्रिका' की रत्नच्छाया-शोभा से विनिर्मित तीसरे सोपान पर धरता है। 'आकुल अन्तर' में कवि के दोनों चित्र सामने आते हैं। उसमें संघर्ष के शान्त होने के लक्षण भी अप्रत्यक्ष रूप मे दृष्टिगोचर होते हैं। 'क्या तुम लायी हो चितवन में—तुममें आग नहीं है तब क्या संग तुम्हारे खेलूँ?' कहकर कवि आशा के प्रति झूठ-मूठ अपनी उपेक्षा दिखाना चाहता है। सत्य यह है कि वह अपनी अन्तर्ज्वाला में प्रणय का अर्घ्य लेने को भीतर-ही-भीतर आकुल है। दुख के कदर्य बोझ से अब उसका अन्तर मुक्त हो

चुका है, वह उसे पीस नहीं सका है। किन्तु कवि उसे अपने मन के ममत्व के कारण अभी मन की बाहरी सतहों से चिपकाये हुए है। 'सतरंगिनी' में वह स्पष्ट ही उससे समझौता करके आश्वासन पा लेता है। अपने अचेतन में छिपी अजेय नागिन को वह फिर से अपने जीवन के आँगन में नृत्य करने की छूट देता है—

"कौंधती तडित् को जिह्वा-सी विष-मधुमय दाँतों में दावे
तू प्रकट हुई सहसा कैसी मेरी जगती में, जीवन में।"

उस कौंधती तडित् की जिह्वा के विष-मधुमय दंशन के उपभोग के लिए उसकी प्राणों के सतरंगे स्वप्नों में लिपटी आत्मा आतुर है। मन की इ'स हाँ-ना' की स्थिति में अन्ततोगत्वा 'हाँ' की विजय का होना कविजीवन के लिए स्वाभाविक तथा श्रेयस्कर है। और वह अपने मन को समझाता है—

'है अँधेरी रात, पर दीवा जलाना कब मना है ?' और 'जो बीत गयी सो बीत गयी' में समझौता पूर्णतः स्थापित हो जाता है। कवि अपने को 'कच्चा पीनेवाला' नहीं साबित करता और निःसन्देह इस नैराश्य और अवसाद की आँधी में वह अपना मेरुदण्ड ताने अजेय ही बना रहता है।

अतीत याद है तुझे, कठिन विषाद है तुझे,
मगर भविष्य से रुका न आँखमुदौल खेलना।
अजेय तू अभी बना।'

निराशा के अँधेरे से रोशनी की ओर

धीरे-धीरे 'नीड का निर्माण फिर-फिर, नेह का आह्वान फिर-फिर' मे तो प्रतिमा के मन्दिर का पुजारी पुराने अजिर मे बाहर ह्॰ निकल आता है—निराकार प्रेम और सौन्दर्य की विजय का एवं नये जीवन के आगमन का डंका सुनायी पडता है। कवि ने अपनी मनःस्थिति का बड़े सबल उत्फुल्ल शब्दों में चित्रण किया है—

क्रुद्ध नभ के वज्र दन्तों में उषा है मुस्कराती।
घोर गर्जनमय गगन के कण्ठ में खगपंक्ति गाती।

वह जैसे निर्बाध जीवनी शक्ति मे पलता है—

बोल आशा के विहगम, किस जगह पर तू छिपा था,
जो गगन पर चढ उठाता गर्व से निज तान फिर-फिर।

और सुनिए कवि के हृदय में आशा की नयी झंकार—

छू गया है कौन मन के तार, बीना बोलती है।
मौन तम के पार से यह कौन तेरे पास आया,
मौन में सोये हुए संसार को किसने जगाया,
कर गया है कौन फिर भिनसार, बीना बोलती है।

नये प्रेमी की समस्त भाव-भंगिमाएँ एकत्रित कर कवि जैसे हृदय-प्राणों के अनन्त तारुण्य से फिर गाने लगता है—

इसीलिए खडा रहा कि तुम मुझे पुकार लो।

हर्ष और विषाद, संयोग और विछोह, दोनों ही में कवि को अतिरंजना का मोह रहा है। वह कहता है—

उजाड़ से लगा चुका उमीद मैं बहार की,
निदाघ से उमीद की बसन्त के बयार की,

मरुस्थली मरीचिका सुधामयी मुझे लगी,
अँगार से लगा चुका उमीद मैं तुषार की।

काव्योचित झूठें स्वाभाविक होती हैं, पर वे काव्य की शक्ति नहीं होतीं। अपनी मिथ्या गाल बजाने की दुर्बलता झाड़-पोंछकर—

कहाँ मनुष्य है जिसे न भूल शूल-सी गड़ी।

में कवि फिर जैसे अपने शुद्ध भावदीप्त रूप में निखरा सामने खड़ा दीखता है और फिर—

तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाये।

कहकर वह प्रेम को पूर्ण आत्मसमर्पण कर चिन्तामुक्त चित्त से भविष्य की ओर देखने लगता है। निःसन्देह—

सुख की एक साँस पर होता है अमरत्व निछावर।

'सतरंगिनी' में कवि अपने जीवन की संकट-स्थिति से बाहर होकर 'मिलन यामिनी' के स्वप्न सँजोने लगता है। भीतर से आशा-क्षमता सम्पन्न होकर वह बाहर के प्रभावों के लिए भी हृदय के उन्मुक्त द्वार खोल देता है और युग-जीवन के संघर्षों के प्रभावों से आन्दोलित होकर 'बंगाल का काल', 'सूत की माला' तथा 'खादी के फूल' में युगात्मा के सम्मुख प्रणत होकर देश के संकट के स्वरों से प्रज्ज्वलित राष्ट्रप्रेम के सुनहले दीपों में लोकपुरुष की आरती उतारने में चरितार्थता का अनुभव करता है। 'बंगाल का काल' में बच्चन ने सर्वप्रथम जिस ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक मुक्त-छन्द का प्रयोग किया उसमें उन्होंने आगे चलकर अनेक अनुपम एवं महत्त्वपूर्ण रचनाओं की सृष्टि की है। 'हलाहल' में बाह्य दृष्टि से कवि के मधुकाव्य की ही भावनाओं एवं प्रतीकों का पिष्ट-पेषण-सा प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि पिटे-पिटाये व्यापक सिद्धान्तों को कवि अपनी छन्द-रस कल्पना की सामर्थ्य से यत्किंचित कवित्व प्रदान करने में सफल हुआ है, किन्तु गम्भीर दृष्टि से विचार करने पर ऐसा लगता है कि कवि अपनी मर्मस्पर्शी व्यथा की नींव पर एक व्यापक जीवन-दर्शन के प्रासाद का निर्माण कर मृत्यु के ऊपर जीवन की विजय-ध्वजा स्थापित कर रहा है। इस दृष्टि से 'हलाहल' को कवि के वेदना-काव्य का माखन-मूल्य कहा जा सकता है। विकासोन्मुख जगतजीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण स्वस्थ है। मिट्टी के लिए कवि कहता है—

अभी तो मेरी रुचि के योग्य नहीं इसका कोई आकार,
अभी तो जाने कितनी बार मिटेगा बन-बनकर संसार।

विश्व-संकट की बाढ़ के कारण कुछ समय के लिए किनारे पर रुककर कवि मन ही मन 'मिलन यामिनी' के लिए फूलों की शय्या सँवारता रहता है। जब तक उसकी प्रणय-भावना चरितार्थ होकर उसे स्वयं किसी नये सोपान पर नहीं उठा देती वह अपनी पूजा के फूल किसे अर्पित करे?

दो प्रौढ़ कृतियाँ

'मिलन यामिनी' और 'प्रणयपत्रिका' कवि की प्रौढ़ कृतियों में हैं। उनके छन्दों में अधिक सधा संगीत, शब्दों में मधुर-मुखर चयन, सौन्दर्य-बोध में सुरुचिपूर्ण निखार तथा कला-शिल्प में संयम एवं सूक्ष्मता मिलती है।

तुम समर्पण बन भुजाओं में पड़ी हो,
उम्र इन उद्भ्रान्त घड़ियों की बड़ी हो।—

से ही कवि को पूर्ण सन्तोष नहीं होता, निश्चय ही 'मिलन यामिनी' की स्वप्न-ग्रलस वेला में भी उसके मन में कोई जिज्ञासा, कोई खोज चल रही है और कवि के ही शब्दों में—

पा गया तन आज मैं मन खोजता हूँ,
मैं प्रतिध्वनि सुन चुका, ध्वनि खोजता हूँ।

यह देहमिलन का सुख उसके विवेक-सजग हृदय के लिए केवल सुख की प्रतिध्वनि-भर है। उसके सुख की धारा अन्तःसलिला नदी की तरह भीतर ही भीतर बह रही है, जो 'प्रणयपत्रिका' तथा बाद की रचनाओं में अधिक स्पष्ट रूप ग्रहण करती है। 'मिलन यामिनी' और 'प्रणयपत्रिका' की रचनाओं में बच्चन की अनेक भाव-निधियों तथा अनुभूतियों के गम्भीर-कान्ति रत्न यत्र-तत्र पिरोये मिलते हैं। वह भावनालोक का अपने ढंग का एकाकी पथिक है। हिन्दी में और भी इस पथ के पान्थ हैं, बच्चन की ही पीढ़ी में अंचल और नरेन्द्र, किन्तु उनके व्यक्तित्वों का सौन्दर्य भिन्न प्रकार का है। बच्चन में जो एकाग्रता, व्यथा-गाम्भीर्य और तल्लीनता है, उसने उनके काव्य को तप्त-काचन के-से एक द्रवित-सौन्दर्य मे ढाल दिया है। बड़ी भावप्रवणता उनके स्वरों में है। यह ठीक है कि उनके कण्ठ के लोच और उनकी तर्जों की फारसी संगीत की-सी मदिर उदासी की भी उनके गीतों की लोकप्रियता को थोड़ी-बहुत अपनी देन रही है, पर भावना की व्यथा में ढली विगलित मोतियों-सी उनकी [illegible] पंक्तियाँ जो अपना मर्मभेदी प्रभाव रखती हैं, वह अकृत्रिम एवं अनिर्वचनीय है। उनके गीत भावोष्ण अँगुलियों से लोकमन को गुदगुदाने, उसे मधुर-विषाद में मुग्ध करने तथा उनके अश्रुसजल प्राणों को मान-विद्रवित करने में सफल हुए हैं। बच्चन सम्भवतः इस पीढ़ी के सबसे अधिक लोकप्रिय कवि हैं। खड़ी बोली को लोक-बोध के स्तर पर जन-साधारण के हृदय में बिठाने में इतनी बड़ी सफलता काव्यजगत में शायद उन्हीं को मिली है। यह अपने में थोड़ी उपलब्धि नहीं है। हिन्दी की चेतना को लोकजीवन के अंचल में बाँधना यह अपने देश की इस युग की एक बड़ी समस्याओं में से है।

प्राण, सन्ध्या झुक गयी गिरि, ग्राम, तरु पर
उठ रहा है क्षितिज के ऊपर सिंदूरी चाँद

अथवा

शिथिल पड़ी है नभ की बाँहों में रजनी की काया।

इस प्रकार की सौन्दर्य-भावना को चित्रित करनेवाली पंक्तियाँ इस [illegible] सोपान की रचनाओं में अनेक आयी हैं, जो आँखों के सम्मुख [illegible] मूर्तिमान हो उठती हैं। 'गयी गिरि, ग्राम' में 'ग' के [illegible] गुरु मौन [illegible] ग्राम ने सन्ध्या को जैसे गगनगम्भीर बना दिया है। और 'झुक गयी गिरि, ग्राम, तरु पर' में लघु मात्राओं के कारण जैसे साँझ के सिमटते [illegible] भाव, और 'र' की फिर-फिर पुनरावृत्ति में सन्ध्या के पेड़ों में [illegible] अन्तिम किरणों की दमक साकार हो उठती है। इसी प्रकार दूसरी पंक्ति मे दीर्घमात्राओं की बाँहों पर जैसे चाँद क्षितिज के ऊपर उठने लगता है। 'विहंग प्रात-गीत गा उठा अभय' में विहंग अकेले ही सारे आकाश को गुँजा देता है। 'गी' और 'गा' तो जैसे उड़ने पक्षी की तरह [illegible]

लगते हैं। इस तरह की अनेक पंक्तियाँ तथा पदांश कवि के शब्द-स्वर-शिल्प-बोध के साक्षी बनकर इन दो संग्रहों में बिखरे पड़े हैं। प्रणय-भावना के अनेक प्रकार के चढ़ाव-उतारों तथा कठोर-मार्दव रूपों के बीच 'मैं गाता हूँ इसलिए जवानी मेरी है,' अथवा 'जीवन की आपाधापी में कब वक्त मिला' अथवा मैं 'कलम और बन्दूक चलाता हूँ दोनों,' जैसे आत्माभिमान एवं जीवनसंघर्षव्यंजक रचनाओं के द्वारा कवि का आत्म-प्रदर्शन पाठकों का मनोरंजन करता रहता है। 'प्रणयपत्रिका' के गीत 'मिलन यामिनी' के भावना के धरातल से ऊपर उठ गये हैं, उनमें कवि के आत्म निवेदन के स्वर हैं। 'आरती और अंगारे' शीर्षक काव्यसंग्रह की रचनाएँ भी 'प्रणयपत्रिका' ही के वातावरण को समृद्ध बनाती हैं। कवि के मन में अपने इन गीतों के सम्बन्ध में एक विशेष योजना है। उसी के शब्दों में—'मिलन यामिनी' प्रकाशित कर देने के पश्चात् मेरे मन में कुछ ऐसे भावों-विचारों का मन्थन आरम्भ हुआ—मुझे लगा कि जैसे किसी महान् काव्य (महाकाव्य नहीं) के प्राणों की धड़कन सुन रहा हूँ। इससे मैं डर-कर भागा। इसे भूल जाने के लिए मैंने कई उपाय किये। धड़कनें बन्द नहीं हुईं। अन्त में कवि ने निर्णय किया कि वह गीतों से ही उसे व्यक्त करेगा, पर इसके लिए ढाई-तीन सौ गीत लिखने होंगे। वास्तव में कवि के मन में 'विनयपत्रिका' के ढंग की कोई चीज उतरी है। कवि का बीज-मन्त्र इन गीतों में विनयपत्रिका का विराग न होकर राग-विराग का सामंजस्य ही है—एक ऐसी चेतना को वाणी देना, जिसमें राग-विराग साकार होकर एक ऐसे जीवन की सम्वर्द्धना करते हैं जो दोनों से परे है। अपने उद्देश्य की सम्पूर्ण अवतारणा के लिए कवि को सौ-सवा सौ गीत और लिखने है। जो अभी लिखे जा चुके है वे 'प्रणयपत्रिका' तथा 'आरती और अंगारे' के नामों से संग्रहों में प्रकाशित हो चुके हैं। सम्पूर्ण गीत लिखे जाने पर कवि उन्हें एक विशेष क्रम में सँवारकर अपने मूल ध्येय को समग्रता में उपस्थित कर सकेगा। 'आरती और अंगारे' में कवि इस विषय में 'अपने पाठकों से' विस्तारपूर्वक निवेदन कर चुका है। इस प्रकार 'निशा-निमन्त्रण,' 'एकान्त-संगीत' तथा 'आकुल अन्तर' की रचनाओं के समान ही 'प्रणयपत्रिका,' 'आरती और अंगारे' तथा तत्सम्बन्धी अलि-खित रचनाओं में भी एकसूत्रता स्थापित हो सकेगी। 'प्रणयपत्रिका' में जहाँ अनेक सरस गीत हैं वहाँ हंस-मिथुन से सम्बद्ध कवि के सात गीत अपने भाव-वैभव, रचना-सौष्ठव एवं कल्पना-सौन्दर्य के कारण तारा-पुंज में सप्तऋषियों की तरह विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करते हैं। इन गीतों मे कवि के विदेश की प्रवासी भावना की (और सम्भवत: जीवन की भी) एक प्रच्छन्न कथा गुम्फित है, जो कवि-मन के स्वप्नसंवेदनों को शिल्प की सूक्ष्मता में अंकित करती है। कुछ भव्य कल्पनाचित्र देखिए——

मानसर फैला हुआ है, पर प्रतीक्षा के मुकुर-सा
मौन औ' गम्भीर बनकर,
और ऊपर एक सीमाहीन अम्बर
और नीचे एक सीमाहीन अम्बर।

बच्चन की भाव-व्यंजना उत्तरोत्तर सूक्ष्म, संश्लिष्ट तथा गहन होती जा रही है और उसके इधर के मुक्त काव्य में इसके उदाहरण प्रचुर

मात्रा में मिलते हैं।

यद्यपि 'सोपान' का प्रथम संस्करण 'मिलन यामिनी' के आनन्दभवन के भीतर पहुँचाकर ही समाप्त हो जाता था किन्तु इस द्वितीय संस्करण में कविप्रतिभा के विकास की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई, और भी अनेक रुपहली-सुनहली श्रेणियो का सौन्दर्य-वैभव संचित मिलता है और उसके काव्य-सोपान का प्रस्तुत स्वरूप प्रायः गगनचुम्बी बनकर अब जिन शुभ्र-नील क्षितिजों के उच्च प्रसारों की अवाक् शोभा को स्पर्श करता है वह कवि की नवीन दिग्विजयों का द्योतक है।

'मिलनयामिनी' के बाद कवि का मानस-क्षितिज अत्यन्त व्यापक हो गया है, उसके जीवनपरिवेश, वास्तविक परिस्थितियों, व्यावसायिक कर्म-क्षेत्र तथा अध्ययन-मनन एवं चिन्तन का धरातल भी अधिक विस्तृत तथा विचार-संकुल हो गया है। 'प्रणयपत्रिका' एवं 'आरती और अंगारे' के गीतों के झरोखे से उसे जिस जीवनचेतना के प्रकाश की झाँकी मिली है, उसे कवि काव्य के चित्रपट में अपनी कल्पनातूली से अभी पूर्णत. नहीं उतार पाया है। वह सोपान की सर्वोच्च श्रेणी ही न होकर सम्भवतः एक महान् काव्य-प्रासाद के ऊपर का प्रज्ञादीप्त स्वर्ण-कलश भी हो सकता है। कवि की चेतना 'मिलनयामिनी' के उपरान्त धीरे-धीरे अन्तर्मुखी होकर जहाँ एक ओर इस स्वर्ण-घट हर्म्य का भीतर ही भीतर निर्माण करने में संलग्न है, वहाँ दूसरी ओर उसमें एक विविध-मुखता के चिह्न भी दृष्टिगोचर होने लगे हैं। एक ओर उसने गीता का अनुवाद अवधी में 'जनगीता' के रूप में किसी अज्ञात अगोचर प्रेरणा के संकेत से प्रस्तुत किया है, तो दूसरी ओर शेक्सपियर की चमत्कारपूर्ण महती प्रतिभा को उपयुक्त कवित्व-कला, छन्द-भाषा-शिल्प तथा नाटकीय रंगकौशल के साथ हिन्दी में उतारकर वह जैसे अपनी सृजनशक्ति की भुजाओं पर संजीवनी पर्वत ही को उठाकर ले आया है। बच्चन को इसमें जो सफलता मिली है उसे मैं अभूतपूर्व ही कहूँगा। जिस साहसिक प्रयत्न से उसने वज्र कठोर शिला-फलक पर छेनी चलायी, उससे उसकी छेनी टूटी नहीं, बल्कि वह रंग-सम्राट की विराट प्रतिभा की अखण्ड मूर्ति ज्यों की त्यों उतार लायी जो कवि की प्राणवत्ता की असामान्य विजय है। मैं अपने पत्रों में बच्चन से बराबर अनुरोध करता रहा हूँ कि वह 'किंग लियर', 'हेमलेट', 'टेम्पेस्ट' तथा 'मिडसमर नाइट्स' ड्रीम को भी अवश्य हिन्दी मे लाये। विभिन्न उद्देश्यो से किये गये गीता के आध्यात्मिक तथा शेक्सपियर के 'मैकबेथ' तथा 'ओथेलो' के नाट्यमंचीय अनुवादो के अतिरिक्त इधर कवि ने लोकधुनों पर आधारित अनेक वाद्य-मुखर भावप्रखर लोक-गीत भी लिखे है, जिनमें कहीं-कहीं किसी मार्मिक कथा-प्रसंग की भी धड़कनें सुनायी पड़ती हैं। अपने लोकगीतों द्वारा बच्चन ने एक नया ही वातावरण साहित्य में प्रस्तुत किया है, वह जैसे आधुनिक नगर और ग्राम की दुर्लंघ्य दूरी को गीतों का झंकृत पुल बाँधकर निकट ले आया है। या वह नगरों के संशय-शुष्क आँगन मे फिर से गाँवों के सहज विश्वास का रसप्लावित बिरवा रोपने का प्रयत्न कर रहा है और हिन्दी को तो जैसे उसने जनपद के द्वार पर ही पहुँचा दिया है। लोकजीवन के सरस उपकरणों, मार्मिक संवेदनों, गुह्य विश्वासों तथा रससिद्ध स्वरों से भावसिक्त इनमें से अनेक लोकगीत

अत्यधिक सजीव बन पड़े हैं और हिन्दी पाठकों में अत्यन्त लोकप्रिय हो चुके हैं। स्वयं मेरे प्रिय गीतों में 'पागल मल्लाह,' 'सोनमछरी,' 'धीमर की घरनी,' 'लाठी और बाँसुरी,' 'खोयी गुजरिया,' 'नीलपरी,' 'महुआ के नीचे,' 'आँगन का बिरवा' आदि अनेक हैं, जिनमे एक विचित्र जादू भरा सम्मोहन मन में न जाने कैसा रहस्यपूर्ण रसार्द्र वातावरण पैदा कर देता है। गाँवों की सहज आस्थाओं से प्रतिध्वनित पृष्ठभूमि में जैसे जीवन, नियति तथा सुख-दुख के प्रति एक अनिर्वचनीय रहस्यभरी भावना का उद्रेक, जो इन गीतों से मन में जगता है, अत्यन्त स्वाभाविक तथा मर्मस्पर्शी प्रतीत होता है। न जाने वे चेतना के कैसे अर्द्ध-चेतन धूप-छाँह भरे सान्द्र-भावुक लोक हैं, जिनकी गूँजें धरती के अँधेरे को कँपाकर प्राणों के वन में झींगुरों की तरह अर्द्धसुप्त स्वरों में बज-बज उठती हैं। 'डोंगा-डोले नित गंग जमुन के तीर', डोंगा डोले' में जैसे अनन्तकाल से जीवन-लहरियों की थपकियों में मानवमन के माँझी की पीर का डोंगा डोलता रहता है। ऐसी सान्द्र-व्यंजना जैसे घट में ही सागर हो, खड़ी बोली के गीतों में अन्यत्र पाना दुर्लभ नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है।

मुक्त-छन्दों में आशातीत सफलता

बच्चन की काव्य-चेतना के विकास की जो व्यापक, गम्भीर-मुखर धारा हम ऊपर देखते आये हैं, उसके अतिरिक्त भी उसके कवि ने अपने मुक्त-चपल प्रेरणा-क्षणों में इधर-उधर हाथ मारे हैं। 'धार के इधर-उधर' तथा 'बुद्ध और नाचघर' में ऐसी अनेक रचनाएँ हैं जो कवि की बहुमुखी प्रतिभा के स्फुलिंगों-सी अपने क्षणप्रकाश में जुगनुओं-सी जगमगाती हुई पाठकों को प्रिय लगती एवं रसग्राही मानसों को सन्तोष देती हैं। ये रचनाएँ सन् '४० से '५७ तक की लम्बी अवधि में कवि के अनेक प्रकार के मानसिक चर्वण की द्योतक हैं और कवि-मन की इतर प्रवृत्तियों तथा आयामों का भी सफल दिग्दर्शन कराती हैं। 'बंगाल का काल' में बच्चन ने जिस मुक्तछन्द को अपनाया था, उसमें आगे चलकर कवि की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सशक्त रोचक उपलब्धियाँ देखने को मिलती हैं। वे सब अभी पुस्तक रूप में सुलभ नहीं हैं, फिर भी 'बुद्ध और नाचघर,' 'त्रिभंगिमा' की तीसरी भंगिमा तथा कवि का नवीनतम काव्यसंग्रह 'चार खेमे : चौंसठ खूँटे' अपने उन्मुक्त ऐश्वर्य से दीप्तमान हैं। मुक्तछन्दों में बच्चन को प्रायः आशातीत सफलता मिली है। इनमें वह नयी कविता के अनेक अनगढ़ स्तरों को स्पष्ट कर उन्हें भाववैभव, विचारगौरव, शिल्प-संयम, तथा अभिव्यंजना का सुघरापन प्रदान कर सका है। इनका वातावरण कवि के गीतों के व्यथा-क्लान्त भावना-द्रवित वातावरण से बिल्कुल ही भिन्न, मुक्त, सजीव, स्फूर्तिप्रद, जीवन-मूर्त तथा अभिनव कवित्वपूर्ण है। इनमें सामाजिक महाप्राणता, व्यंग्य-दंश, वैचारिक क्रान्ति तथा व्यापक मानवीय संवेदन को कवि ने आधुनिक कला के संस्पर्श से सबल अभिव्यक्ति दी है। 'दानवों का शाप' में वह कहते हैं—

सुना है देवताओ !
दानवों का शाप
आगे आज उतरा !

यह विगत संघर्ष भी तो
सिन्धु-मन्थन की तरह था।
देवता जो एक
दो बूंदें अमृत की
पान करने को, पिलाने को चला था,
बलि हुआ।
लेकिन जिन्होंने
शोर आगे से मचाया
पूंछ पीछे से हिलायी,
वही खीस-निपोर
काम-छिछोर दानव
सिन्धु के सब रत्न धन को
आज खुलकर भोगते हैं,
बात है यह और,
उनके कण्ठ में जा
अमृत मद में बदलता है।

देश की वर्तमान दशा पर कितना जीता-जागता, चुभता व्यंग्य है! अपने मुक्त-छन्द के बारे में, जिसमें बच्चन ने सर्वप्रथम कविता करनी शुरू की थी, उसने 'बुद्ध और नाचघर' की भूमिका में पर्याप्त प्रकाश डाला है। वैसे भी बच्चन की इधर की भूमिकाएँ उसके काव्यलोक मे विचरण करने के लिए एक सुज्ञ पथ-प्रदर्शक का काम करती हैं। उनकी पुस्तकाकार छपी मुक्तछन्द की रचनाओं मे 'शैल विहंगिनी' 'पपीहा और चील कौए', 'युग का जुआ', 'नीम के दो पेड़', 'खजूर', 'महागर्दभ', 'दानवों का शाप' आदि अनेक कविताओं मे कवि की अभिव्यक्ति अत्यन्त ओजपूर्ण. सबल, सप्राण तथा निखरी हुई है। इनसे भी अधिक व्यंजनापूर्ण उसकी इधर की वे मुक्तछन्द की रचनाएँ हैं, जो पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः देखने को मिलती है, और जिनमे से 'तीसरा हाथ' की चर्चा मैं प्रारम्भ में कर चुका हूँ। मेरा विश्वास है, मुक्तछन्द बच्चन के संयम-सुघर कलात्मक हाथों से सँवरकर भविष्य में हिन्दी कविता में आधुनिक युग-जीवन अभिव्यक्ति का अधिक उपयुक्त माध्यम बन सकेगा और कवि की उपलब्धि इस दिशा मे उनके गीतो से कम महत्त्वपूर्ण नहीं होगी, प्रत्युत उसकी कल्पना का गरुड़ युग-क्षितिज पर छाये दुविधासंशय के मेघो को चीरकर अभिव्यक्ति की अधिक अरुणोज्ज्वल एवं ज्योतिप्रभ चोटियों को छूकर उनकी सम्पद् को धरती पर लुटा सकेगा।

अपनी व्यथा में युग की कथा

'चार खेमे चौसठ खूंटे' में बच्चन की १९६० से '६२ तक की रचनाएँ संगृहीत है, और, जैसा कि संग्रह के नाम से ही स्पष्ट हो जाता है, इन रचनाओं में कवि की चार प्रकार की मनोवृत्ति को अभिव्यक्ति मिली है। 'त्रिभंगिमा' में मंचगान नहीं थे, प्रस्तुत संकलन में आज के सामाजिक सामूहिक वातावरण की उपज कुछ सशक्त सहगान भी कवि ने दे दिये है, जो नाटकीय प्रभाव एवं सम्प्रेषण के साथ मंच पर गाये जा सकते हैं। इसकी भूमिका एक विशेष मनःस्थिति में लिखी गयी प्रतीत होती है,

जिसमें कवि ने प्रकट-प्रच्छन्न एवं व्यंगात्मक ढंग से अपने युग एवं पाठकों के प्रति अपने मन की प्रतिक्रिया रख दी है। संग्रह की मुक्तछन्द की रचनाओं में विदग्ध निखार तथा प्रचुर प्रौढता मिलती है। उनमें युग-जीवन के संघर्ष एवं सामाजिक अन्तर्द्वन्द्वों को अधिक उन्मुक्त तथा मार्मिक अभिव्यक्ति मिल सकी है। युगीन ह्रास तथा विघटन का वातावरण इन कविताओं में अधिक घनीभूत होकर मन को स्पर्श करता है और कवि ने युग की विषमताओं एवं असंगतियों पर अपनी सधी लेखनी की सम्पूर्ण शक्ति से व्यंग्यप्रखर आघात किया है। शब्दों के चयन और उनके नवीन प्रयोगों में वह सिद्धहस्त होता जा रहा है। इस प्रकार की प्रायः सभी रचनाएँ एक मर्मभेदी अनुभूति तथा बौद्धिक सन्देश लिये हुए हैं। अपनी इस नवीन दिशा की ओर कवि जिस तीव्रता से प्रगति कर रहा है उसे देखकर विस्मय होता है। वह लोक-कवि है और उसने जन-मन को अपने युग के प्रति सचेत करने का जैसे मन-ही-मन संकल्प ले लिया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि अपने मधुकाव्य की तरह अपने बौद्धिक काव्य में भी कवि उसी प्रकार सफल होकर अपनी उद्बुद्ध चेतना को जन-साधारण तक पहुँचा सकेगा।

अपनी जिस अन्तःप्रेरणा को पहले वह जिस सहज भावना से ग्रहण कर उसे गीति-लय के अंचल में बाँध देता था उसे अब वह अपनी जाग्रत मेधा से पकड़कर मुक्तछन्दों के पंख देकर, लोकजीवनग्राही बनाने का समर्थ प्रयत्न कर रहा है। बच्चन के भावुक कवि की ऐसी युगप्रबुद्ध परिणति देखकर आश्चर्य भी होता है, अपार हर्ष भी। 'चार खेमे चौसठ खूंटे में', 'आजादी के चौदह वर्ष', 'राष्ट्रपिता के समक्ष,' 'स्वाध्याय-कक्ष में वसन्त,' 'कलश और नींव का पत्थर,' 'दैत्य की देन,' 'पानी मरा मोती आग मरा आदमी,' आदि अत्यन्त सबल, मर्मस्पर्शी तथा सन्देशवाहक रचनाएँ हैं जिनमें कवि ने अपनी व्यथा में युग की कथा गूँथी है और जो मन पर अपना गम्भीर चिन्तनसजग प्रभाव छोड़ती हैं।

इस संग्रह के लोकगीतों में भी अधिक स्वाभाविकता तथा वैचित्र्य देखने को मिलता है। अंग्रेजी के स्प्रिंग वर्स की तरह इन गीतों के पद ह्रस्व-दीर्घ मात्राओं की जड़ दीवारों को फाँदकर जिस सहज स्वरसंगीत में प्रवाहित होते हैं उससे लोकगीतों की भावलय की नमनीयता सिद्ध होती है। 'मालिन बीकानेर की,' 'हरियाने की लली,' 'छिनबन की ओट', 'आगाही,' 'जामुन चूती है' आदि लोकगीत सहज रसपूर्ण तथा वातावरण के रंग में भीगे होने के कारण अत्यन्त सजीव बन पड़े हैं। अपने लोकगीतों और मुक्तछन्दों में समानान्तर रूप से कवि की नवीनतम समृद्ध उपलब्धि उसके धरती के जीवन के प्रेम तथा उसकी जागरूक संघर्ष-क्षमता एवं उसकी अजेय प्रतिभा-शक्ति की मांगलिक परिणति के उज्ज्वल प्रमाण हैं।

एक विशिष्ट व्यक्तित्व

बच्चन का व्यक्तित्व हिन्दी काव्य में अपनी अद्भुत विशेषता एवं महत्ता रखता है। वह मानव-हृदय-मर्मज्ञ, रससिद्ध गायक, भावधनी कवि एवं युग-प्रबुद्ध सन्देशवाहक है। उसके कलाशिल्प में सादगी, स्वच्छता, संयम तथा अतुल शक्ति है। उसकी अनुभवद्रवित भावनाओं का प्रभाव

विद्युतस्पर्शी, मन्द्र-सजल शब्द-संगीतसम्मोहक तथा कल्पना की उड़ान प्राणों की सजीवनी से भरी होती है। वास्तविकता की धरती पर जीवन के घात-प्रतिघातों के कर्दम में पाँव गड़ाये, आँधी-तूफान में अडिग रहनेवाली अपनी गतिशील टाँगों पर खड़े, कटि-प्रदेश में वज्रदंश कामना की मदिर ज्वाला लिपटाये, गम्भीर साधना से तपःपूत हृदय में आस्था का अमृत-घट छिपाये, अपने विनयानत मस्तक को मनुष्यत्व के अभिमान से ऊपर उठाये, अविरत-अश्रान्त संघर्ष-निरत अपराजित, दृढ़-संकल्प लौहपुरुष-सा वह जगत तथा जगतस्वामी से भावना के कृश, सुनहले सूत्र में बँधा अपने जीवन के अज्ञात लक्ष्य की ओर, तीर पर रुकना अस्वीकार कर, प्रेरणा-लहरों का निमन्त्रण पाकर, निरन्तर बढ़ता ही जाता, अपने अगले कदम के लिए लड़ता जाता है! अदम्य है उसका धैर्य, अटूट है तैलधारवत् उसका अन्तर्विश्वास। अपने ही हृदयकमल के चतुर्दिक गन्ध-मुग्ध मधुकर की तरह मँडराता उसका मधुलुब्ध कवि अपने प्राणों के तारुण्य, भावना के व्यथामिक्त सौन्दर्य तथा जगज्जीवन के आयामों के आनन्द-विषाद को अपनी ही अतृप्त कामना के पंखों की गूँज में गुनगुनाता हुआ, संसार की रसप्रिय मानवता के उपभोग के लिए बिखेरता रहता, संचय करता और बिखेरता रहता है।

मुझ-जैसे विवश व्यक्ति को अपना उन्मुक्त सौहार्द्र तथा प्रच्छन्न स्नेह देकर वह अपनी उदारता का ही परिचय देता है। बच्चन के घनिष्ठ सम्पर्क में मैं सन् १९४० के बाद 'वसुधा' के सहवासकाल में आया हूँ, जिसकी चर्चा बच्चन अपनी हलाहल की भूमिका में कर चुका है। तब वह प्रयाग विश्वविद्यालय में शोध-कार्य करता था। मैत्री का वह बीज बच्चन के भाव-प्रवण हृदय की उर्वर धरती में पड़कर उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। तेजीजी से बच्चन के विवाह के उपरान्त, जिसके लिए मैं कुछ ही महीने पहले भविष्यवाणी कर चुका था, हस्तविद्या के ज्ञान से कम, बच्चन की मानसिक दशा के अध्ययन से अधिक, मैत्री का वह विटप वटवृक्ष की तरह दुहरे-तिहरे-चौहरे स्नेह के मूल एवं सद्भाव सौहार्द्र की बाँहें फैलाकर अधिक सघन, प्रशान्त तथा प्रच्छाय बन सका। बच्चन की आनन्द-सौन्दर्य-भावना तथा सुरुचि को सँवारने में श्रीमती बच्चन का बहुत बड़ा हाथ रहा है। जब १९४० में बच्चन मेरे साथ 'वसुधा' में रहता था, तब मैं उसे अधिक निकट से जान सका था। उसे तब बीच-बीच में नैराश्य तथा अवसाद के घन घेर लेते थे, जिनसे मुक्त होने के लिए वह मरघट के-से अत्यन्त उदास, ऊँचे स्वर में 'विनयपत्रिका' या 'रामायण' पढ़ा करता था और अन्धकार की गुफा से आती हुई झिल्ली की आवाज के समान उसके सिदारे कण्ठ से कुढ़कर मैं उससे कहा करता था—'हाय बच्चन, तुलसीदासजी पर रहम करो, कहीं तुम्हारे मुहर्रमी स्वर उनके कानों में पड़ गये तो अपनी कविता के साथ यह बलात्कार देखकर उनकी आत्मा इस देश को छोड़कर कहीं अन्यत्र प्रयाण कर बैठेगी, जहाँ वे तुम्हारे अत्याचार से अपना पिण्ड छुड़ा सकें।' और मैं प्रायः सोचता कि बच्चन के गले की मिठास या लोच क्या उसने केवल अपनी कविता के लिए रख छोड़ी है?

यह तो था परिहास, पर उसके विषण्ण, रूक्ष, आत्मनिष्ठ व्यक्तित्व में तेजीजी ने जो मार्दव, उदारता तथा आशाप्रद प्रफुल्लता भरने में

सहायता की उसकी कथा मैं अत्यन्त निकट से और बहुत अच्छी तरह जानता हूँ। बच्चन को मैं हानि-लाभ का विचार रखनेवाला तो नहीं कहूँगा, क्योंकि उसकी उन्मुक्त उदारता के कई उदाहरण मुझे ज्ञात हैं—पर वह अपने व्यवहार में अकारण ही कुछ गणितज्ञ तथा मुँहफट होने को नीतिमत्ता समझता था। उसकी इस वृत्ति को तेजीजी रोकती, टोकती रहती थीं और जब मैं उनकी सराहना या समर्थन करता, तब बच्चन हमेशा कहता कि 'मैं उनका पक्ष ले रहा हूँ या अपने पक्ष में कहता कि मैं ही ठीक हूँ, आप केवल वेद ही जानते हैं। मैं लवेद भी जानता हूँ।' इसे पढ़कर भी वह निश्चय ही मन ही मन यही कहेगा, किन्तु जो अन्तरंग रूप से बच्चन को जानता है, उसे बच्चन के कविजीवन में श्रीमती बच्चन की इस देन को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उन्होंने एकाकी विषण्ण कण्ठ से निशा को निमन्त्रण देनेवाली कवि की आत्मा को प्रभात-प्रफुल्ल जीवन-प्रांगण में प्रवेश करने में निष्ठापूर्वक सहायता दी।

बच्चन एक रसमधुर कवि

बाहर से सूखा अनगढ़ दीखनेवाले इस रसमधुर कवि के भीतर अखण्ड आस्था का हृदय उसकी प्राणों की तन्त्री को भाव-संगीत-झंकृत करता रहता है। वह गम्भीर आस्था सम्भवत: बच्चन को अपने अन्य उन्नत संस्कारों के साथ अपने पूज्य पितृपाद से दाय रूप में मिली है। उसके पिता जिस घर में रामायण नहीं होती, वहाँ पानी भी पीना पसन्द नहीं करते थे। बच्चन प्राय: जिस लगन से अकेले ही आसन मारकर अखण्ड रामायण का पाठ कर लेता है, उसके लिए निश्चय ही गहरी श्रद्धा चाहिए, वह प्रत्येक प्रसंग पर 'रामायण' की चौपाई उद्धृत कर सकता है। 'मंगल भवन अमंगल हारी, द्रवउ सो दसरथ अजिर बिहारी'—उसके मुँह से निरन्तर दुहराये गये ये मन्त्रपूत चरण मेरे कानों में जब-तब गूँजते रहते है। अत्यन्त नियमित तथा सुघर-सुचारु रूप से प्रतिदिन कार्य करनेवाला उसका आत्मजयी संकल्पदृढ़ व्यक्तित्व मेरे लिए सदैव एक प्रेरणाप्रद प्रिय उदाहरण रहा है। अपने सुहृद मण्डल के केन्द्रबिन्दु के रूप में उसे पाकर मैं प्रसन्न हूँ।

जिस प्रकार कोई क्षिप्रगामी-यान में बैठकर कलाशिल्प की प्रतीक किसी महानगरी की परिक्रमा करते समय इधर-उधर दृष्टिपात-भर कर लौट आये, कुछ उसी प्रकार मैंने भी संक्षेप में बच्चन के काव्य-जगत की एक सांकेतिक झाँकी प्रस्तुत कर छोड़ दी है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि जो काव्यप्रेमी इस सौन्दर्य, माधुर्य और प्रेम के नन्दन वन में विहार करेंगे, वे कवि के साथ रसमंगल मनाकर अपने को कृतार्थ पायेंगे। बच्चन का अमर यश:काय कवि आनन्दरस-घन है, वह प्रणय के मिलन-विछोह, उल्लास-अवसाद का अनन्य गायक है और है युग प्रबुद्ध उद्बोधक। बच्चन के बिना खड़ी बोली के काव्य का एक बहुत बड़ा अन्तरंग अंग अधूरा ही रहता।

मन के साथी जोशीजी

बहुत पहिले की बात है : एक दुबला-पतला, गोरा-लम्बा, फुरतीला किशोर गम्भीर मुद्रा धारण किये, अपनी पैनी दृष्टि से भीड़ के कोलाहल को चीरता हुआ, अल्मोड़े की पत्थरों से पटे बाजार को लम्बे चंचल डगों से पार करता हुआ साँझ के समय कभी-कभी एकात वनों की ओर वायु-सेवन के लिए जाता हुआ दिखायी पड़ता था। सीधा-साधा लिबास—सम्भवत: पायजामे के ऊपर कमीज और कोट, सिर पर पहाड़ी टोपी, दोनों हाथ कोट की जेब में—बिना किसी की ओर देखे, चुपचाप सड़क के किनारे-किनारे अकेले जाते हुए उस किशोर के व्यक्तित्व में उसके संकोचशील आत्मस्थ एकाकीपन के अतिरिक्त और कोई विशेष आकर्षण नहीं प्रतीत होता था। उसके गोरे-गोरे गालों पर पहाड़ी हवा अपनी स्वास्थ्य की लालिमा अर्पित करने में अलबत्ता नहीं चूकी थी, पर कन्धों पर उन दिनों लम्बे-लम्बे बालों की घुँघराली लटें नहीं झूला करती थीं। झिझक, संकोच आदि सभी स्त्रीसुलभ गुणों के कारण उसमें पार्वती के स्वरूप का ही अधिक प्राधान्य था। शिवजी के फणधर भुजंगों को धारण करने के लिए कन्धे बलिष्ठ तथा चौड़े नहीं बन सके थे।

न जाने किसने एक दिन बतलाया कि यही इलाचन्द्र जोशी है। मैं मन ही मन बड़ा प्रसन्न हुआ। जिसकी प्रशंसा में दिनों से अनेक बातें सुन रखी थीं, यह वही व्यक्ति हैं। चलो बड़ा अच्छा हुआ, उसे पहचान लिया...कुछ इसी प्रकार के सन्तोष की लहर मेरे मन में दौड़ी! इलाचन्द्र अल्मोड़े की उस पीढ़ी के लिए एक नया नाम था। बड़ा होनहार और सौभाग्यशाली है यह युवक...एकदम नया नाम और काम भी बिलकुल नया!...जोशीजी की विद्वत्ता की उन दिनों मित्रमण्डली में बड़ी धाक थी! वे कई भाषाएँ जानते हैं...बंगला के वे प्रकाण्ड पण्डित हैं...सारा रवीन्द्रनाथ कण्ठस्थ है...शरद को घोलकर पी गये हैं...हिन्दी को कौन पूछे, वह तो उनकी अँगुलियों के इशारों पर नाचती है...कहानी, निबन्ध, आलोचनाएँ तो बराबर लिखते ही हैं, साथ ही बिलकुल ही नये ढंग की कविता भी करते हैं।...मेरे मित्र गद्‌गद होकर उच्छ्‌वसित कण्ठ से गाकर सुनाते थे—

'कल कल छल छल
गंगे बहता है तेरा जल
चंचल उज्ज्वल झलमल झलमल!'

हम लोग सुनकर बड़े प्रभावित होते। किशोर विद्वान की कल्पना से मन विस्मयाभिभूत हो उठता था। जोशीजी के बड़े भाई डा० हेमचन्द्रजी बहुत बड़े विद्वान तथा साहित्यिक के रूप में प्रसिद्ध थे ही। हम लोग मन ही मन सोचते थे कि जोशीजी को भी उनके सम्पर्क से अवश्य कोई सिद्धि प्राप्त हो गयी होगी। मेरा मन भी उन्हीं दिनों साहित्य की ओर झुका था। अपने छोटे-से नगर में डा० हेमचन्द्र जोशी, श्री गोविन्दवल्लभ पन्त ('वरमाला' के लेखक), हमारे जोशीजी आदि अनेक साहित्यिकों के होने की बात सुनकर मन को गम्भीरता का अनुभव होने लगा था और

नगर के वातावरण में एक नवीन आशा-उत्साह का संचार···अनेक हस्तलिखित पत्र-पत्रिकाएँ निकलने लगीं—दो-एक का सम्पादन जोशीजी स्वयं करते थे—'शुद्ध साहित्य समिति' के नाम से एक हिन्दी पुस्तकालय की स्थापना हो गयी थी जहाँ पुस्तकों के अतिरिक्त मासिक पत्र-पत्रिकाएँ भी आने लगी थीं।

मुझे तो स्मरण नहीं कि जोशीजी से कभी मेरा व्यक्तिगत परिचय, वार्तालाप अथवा भावविनिमय हुआ हो। हम दोनों ही संकोचशील भावुक नवयुवक या किशोर थे···मन में उत्साह होने पर भी अपरिचय के आवरण को चीरकर एक-दूसरे से मिलने में हिचकते थे। हम केवल मन के मूक साथी थे, बाहर के व्यवधान को हटाने का अवसर हमें नहीं मिलता था। वैसे हस्तलिखित पत्र-पत्रिकाओं द्वारा हमें एक-दूसरे की रचनाओं का परिचय मिलता रहता था। और कुछ प्रयत्नशील मित्रों के कारण आपस में बालोचित साहित्यिक नोंक-झोंक भी चलती रहती थी।···इसके बाद शायद जोशीजी भी अलमोड़े में नहीं रहे, मैं भी बनारस और फिर प्रयाग चला आया।

कई वर्षों के बाद—'पल्लव' प्रकाशित हो चुका था—जोशीजी से एक बार नैनीताल में भेंट हुई थी। तब वे अपने मँझले भाई के साथ रहते थे। जोशीजी ने बड़े ही प्रभावोत्पादक ढंग से 'विजनवती' की रचनाएँ सुनायी थीं।

वैसे एक बार, सन् '३४ के आस-पास, जोशीजी ने कलकत्ते में भोजन के लिए बुलाया था और तब उनके रसालाप से उनके विचारों का यत्किंचित् परिचय मिला था, किन्तु बाल्यकाल की मैत्री पीछे जोशीजी के स्थायी रूप से प्रयाग में रहने के बाद ही परिपक्व हो सकी। तब वे लम्बी घुंघराली लटोंवाले, ओवरकोटधारी जोशीजी बन चुके थे। 'संगम' कार्यालय में उनकी गहन गम्भीर मुद्रा मन को आकर्षित किये बिना नहीं रहती थी। स्वभाव के सारल्य—जो प्रायः प्रत्येक पहाड़ी में मिलता है—तथा अपनी निष्कपट सहृदयता के कारण उनका पाण्डित्य धीरे-धीरे हृदय में स्नेह की रेखाओं में प्रस्फुटित होने लगा। अब भी हम बाहर से बहुत कम मिलते अथवा बोलते हैं, किन्तु उन्मुक्त हृदय, विचार-शारद, स्नेही बन्धु जोशीजी की जो मानवीय मूर्ति अब मेरे भीतर स्थापित हो चुकी है उसका मैं आदर करता हूँ और उसे अपना प्यार देता हूँ। हम बाहर से दूर रहने पर भी भावना की दृष्टि से एक-दूसरे के अत्यन्त निकट हैं।

आज मेरे आशुतोष बाल्य-बन्धु मेरी ही तरह अर्द्धशती पार कर चुके हैं। हमारी सारी पीढ़ी ही काल के मौन पथ पर अपनी आधी भौगोलिक यात्रा समाप्त कर चुकी है। ओह! कैसी बीती यह अर्द्धशती और वह आधी यात्रा···

भगवान् से प्रार्थना है कि मन के इस परिव्राजक हमारे प्रिय सुहृद जोशीजी को अगली अर्द्धशती उत्तरोत्तर अभ्युदय की ओर अग्रसर करती रहे। उनकी कल्पनालटों में उलझी सृजन-जाह्नवी हमारे साहित्य की मनोभूमि में अबाध रूप से अवतीर्ण होकर उसे अपनी ज्योतिर्विचुम्बित शिखरलहरियों से अधिकाधिक उर्वर तथा आप्लावित करने में सफल हो।

अमर गीतों के अपने इस सहयोगी साहित्यपथिक तथा अथक जीवन-संग्राम में रत वीर योद्धा का उसकी स्वर्णजयन्ती के शुभ अवसर पर मैं नितान्त निश्छल प्रेम के साथ अभिवादन एवं अभिनन्दन करता हूँ। उसके पूर्ण स्वास्थ्य तथा दीर्घायु के लिए मंगलकामनाएँ करता हूँ। वह अनेकानेक हेमन्त पार कर अनेकानेक वसन्त देखें और सिगरेट के धुएँ की गन्ध में बसे हुए अपने ओवरकोट से क्षण-भर के लिए विलग न हों।

महात्माजी और मेरा सृजन

संसार का शायद ही कोई प्रबुद्ध व्यक्ति हो जो इस युग में महात्मा गांधी के अद्वितीय व्यक्तित्व की ओर आकर्षित न हुआ हो। हमारे देश में तो आबाल-वृद्ध सभी व्यक्तियों ने, यहाँ तक कि गाँवों में रहनेवाले असंख्य जनसाधारण ने भी महात्माजी के अलौकिक व्यक्तित्व के सम्मुख अपने को सदैव प्रणत अनुभव किया है। उनके व्यक्तित्व के इस महान् आकर्षण का कारण, मेरी दृष्टि में, मुख्यतः उनके हृदय की सच्चाई तथा स्वच्छता थी। वे स्फटिक की तरह स्वच्छ तथा दर्पण की तरह निर्मल थे जिनके भीतर आर-पार देखा जा सकता था, उनके मन में किसी प्रकार के भी भेद तथा दुराव की भावना नहीं आती थी। वे आत्मीय की तरह सभी से सहज उन्मुक्त हृदय से मिल सकते थे। मेरे हृदय को सर्वोपरि गांधीजी के जीवन की स्वच्छता तथा पवित्रता ही ने आकर्षित किया। उनका व्यक्तित्व बाहर-भीतर जैसे खादी के ही स्वच्छ एवं उपयोगी भाव सूत्रों से गुम्फित था।

दूसरी अद्भुत बात गांधीजी के विराट् व्यक्तित्व में यह थी कि उन्होंने प्राचीन सनातन आदर्शों को, जो कि इस युग के जीवन और मन के सम्बन्ध में व्यर्थ तथा निरर्थक-से प्रतीत होने लगे थे तथा जिनके प्रति विचारशील बुद्धिजीवी प्रायः आस्था खो चुके थे, अपनी कर्म-प्राण जीवन-पद्धति से नवीन अर्थ-गौरव प्रदान कर उन्हें युग के अनुरूप ही जीवन्त तथा वरेण्य बना दिया था। यहाँ तक कि बिलकुल ही वैज्ञानिक ढंग से सोचनेवाले पण्डित जवाहरलालजी-जैसे व्यक्ति भी महात्माजी के व्यक्तित्व के गुरुत्व के प्रति निश्छल श्रद्धा से झुके रहते थे। जैसा मैंने लिखा है :

प्राचीन तत्व को तुमने फिर दिया आधुनिक गौरव,
पा रहः स्पर्श, नव जीवित हो उठा सत्य का जड़ शव।
सामूहिक बनी अहिंसा, सक्रिय तज हिंसा का भय,
आत्मा जीवन से खेली रज दुर्बलता पर पा जय।

गांधीजी ने त्याग को त्याग के लिए, खोखले निष्क्रिय रूप में न अपनाकर उसे बहुजन हिताय अपने युग की अनिवार्य आवश्यकता समझकर ही धारण किया। वे अपनी वेशभूषा ही में नहीं रहन-सहन, मितव्ययिता, सादगी आदि में भी भारत के ग्रामवासी दरिद्रनारायण का प्रतिनिधित्व करते थे। उन्होंने अहिंसा को मध्ययुगीन निर्बल, निष्क्रिय, दया-पीड़ित, हिंसा-भीरु वैयक्तिक साधन के रूप में स्वीकार न कर उसे भारतीय

स्वतन्त्रता के संग्राम में जूझने के लिए एक सक्रिय-सामूहिक, सशक्त, उदार मानवीय अस्त्र के रूप में अपनाया और उससे साम्राज्यवादी निर्मम हिंसक शक्तियों का सामना कर मनुष्य को पशुत्व पर विजय पाकर मनुष्यत्व की ओर अग्रसर होने के लिए जीवन-दृष्टि प्रदान की। गांधीजी का सत्य का आदर्श भी किसी रहस्यमय, निगूढ़, अमूर्त सत्य की धारणा न रहकर प्रतिदिन तथा प्रतिक्षण के भीतर से परिस्थितियों तथा देश-काल के संचरणों, संवेदनों एवं परिवर्तनों में अभिव्यक्त हो रहे जीवन-मूल्यों की वास्तविकता का ही तात्विक स्वरूप रहा। इस प्रकार हमें गांधीजी की आस्था में, उनकी विचार-प्रणाली तथा जीवन-कर्मपद्धति में उस सत्य की अखण्डनीयता तथा समग्रता के दर्शन मिलते हैं जो 'सम्भवामि युगे युगे' के अनुरूप ही विभिन्न युगों में विभिन्न परिस्थितियों के भीतर से वैश्व विकास तथा मानवजीवन की प्रगति के रूप में प्रकट एवं उपलब्ध होता है। महात्माजी का ईश्वर भी इसी सत्य का प्रतिनिधि रहा है जो विश्व-जीवन तथा विश्व-मानवता के पथ को विभिन्न युगों तथा सांस्कृतिक वृत्तों के उत्थान-पतन द्वारा उच्चतम सोपानों की ओर निर्देशित करता रहता है। महात्माजी, ज्ञात-अज्ञात रूप से. मानव-आत्मा का अथवा मनुष्य के अन्तस्थ सत्य का स्वरूप वैज्ञानिक युग के अनुरूप ढालकर उसे नये ढंग से निर्धारित तथा रूपान्तरित कर गये है। प्राचीनता की पीठिका से उठाकर वे मानव-जीवन-मूल्यों को नवीन युग की धरती पर नये पाँवों से चलना-फिरना तथा उन्हें नये कर-कौशल से काम करना सिखला गये है।

गांधीवाद से मैं सन् १६२१ से जाने-अनजाने जूझता रहा जब मैंने उनके प्रथम असहयोग-आन्दोलन के आह्वान में कालिज छोड़ा था। इसकी चर्चा मैंने अपनी 'आत्मिका' नामक रचना में इस प्रकार की है:

वह पहिला ही असहयोग था, बापू के शब्दों से प्रेरित
विदा छात्र जीवन को दे मैं करने लगा स्वयं को शिक्षित !

महात्माजी के जीवन-दर्शन का परिपाक मेरे मन में, निरन्तर 'यंग इण्डिया', 'हरिजन' आदि द्वारा उनके विचारों का अध्ययन करते रहने के बाद, सन् १६३५ में हो सका जब मैं हरिजन कॉलोनी, दिल्ली में उनके दर्शन करने गया था। उनके दर्शनों का प्रभाव मेरे भीतर जिस प्रकार पड़ा वह कोई कल्पना नहीं, जीवन्त एवं मूर्त अनुभूति थी। मैंने संक्षेप में उसके बारे में लिखा है:

प्रथम भेंट में मिला हृदय को सूक्ष्म स्पर्श दृग विस्मय प्रेरित,
स्फुरित इन्द्रधनु अर्चि विनिर्मित हुआ मनोमय वपु उद्भासित !

गांधीजी के मानस स्पर्श का प्रभाव मेरी सृजन-प्रक्रिया में तब से एक प्रकार से निरन्तर ही बना रहा। उन पर मेरी सर्वप्रथम लम्बी रचना 'युगान्त' में सन् १६३५ में प्रकाशित हुई थी जिसके कुछ अंश इस प्रकार हैं:

सुख भोग खोजने आते सब, आये तुम करने सत्य खोज
जग की मिट्टी के पुतले जन, तुम आत्मा के मन के मनोज !
जड़ता, हिंसा, स्पर्धा में भर चेतना, अहिंसा, नम्र ओज
पशुता का पंकज बना दिया तुमने मानवता का सरोज !

उर के चरखे में कात सूक्ष्म युग-युग का विषय जनित विषाद
गुंजित कर दिया गगन जग का…हर यन्त्र कला-कौशल प्रवाद !
इत्यादि

आज के जड़वाद से अभिभूत जगत् में गांधीजी का आविर्भाव अपना विशेष अर्थ रखता है। आज के बहिर्भ्रान्त, वस्तुस्थितियों के अधीन मनुष्य को अन्तर्मुखी जीवन का महत्त्व सिखलाकर उसे आत्मस्थित, अन्तःस्थित करने के लिए गांधीजी मनुष्यत्व के एक अग्रदूत-से आये थे। आज के बहिःसम्पन्न जग में अन्तर्जगत् से जूझना मनुष्य के लिए नितान्त आवश्यक हो गया है, जिससे भौतिक विज्ञान की शक्ति मानवता के विनाश का साधन न बनकर—जिसके कि लक्षण दिखायी दे रहे हैं—उसके श्रेयस तथा विकास का साधन बन सके। मनुष्य को सभ्य के साथ ही संस्कृत भी बनना है। वैज्ञानिक कर-कौशल से सँवारे गये इस विश्व में एक उन्नत सुन्दर मनुष्य को भी जन्म लेना है—जो मानव-प्रेम, जीवन-सौन्दर्य, विश्व-शान्ति तथा अपने अन्तःप्रकाश या ज्ञान के आलोक का प्रतिनिधि बन सके। गांधीजी आज के भौतिक वैभव-सम्पन्न युग की इसी महान् कमी की पूर्ति करने के लिए आये थे। उनके इसी स्वरूप की प्रशस्ति में मैंने लिखा है :

अब ज्योतिशेष तुम, दिखता जन युग दर्पण में बिम्बित
गौतम ईसा से उज्ज्वल नर चरित स्वर्ग भू विस्तृत !
इतिहास पीठिका पर तुम सर्वोच्च खड़े वर भूधर
सम्पूर्ण सन्त जो विचरा जन गण सँग जर्जर भू पर।
देखा न चरित्र धरा ने तुम-सा समग्र संयोजित
तुम आत्म ऐक्य का अनुभव कर सके विश्व सँग जीवित !
नव युग के प्रथम पुरुष तुम, गत युग के अन्तिम मानव,
जीवन विकास क्रम तुमसे नव वर से भू पर सम्भव !

मेरी 'बापू' शीर्षक एक अन्य रचना में भी उनके इस व्यक्तित्व को वाणी मिली है—जिसमें आस्था की अधिक गहराई है :

किन तत्वों से गढ़ जाओगे तुम भावी मानव को,
किस प्रकाश से भर जाओगे इस समरोन्मुख भव को,
सत्य अहिंसा से आलोकित होगा मानव का मन ?
मनुज प्रेम का मधुर स्वर्ग बन जावेगा जग जीवन ?
आत्मा की महिमा से मण्डित होगी नव मानवता,
प्रेम शक्ति से चिर निरस्त हो जायेगी पाशवता ?
बापू, तुमसे सुन आत्मा का तेजराशि आह्वान,
हँस उठते हैं रोम हर्ष से, पुलकित होते प्राण !
भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान,
जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान !
नहीं जानता युग विवर्त में होगा कितना जन क्षय,
पर मनुष्य को सत्य-अहिंसा इष्ट रहेंगे निश्चय !
नव संस्कृति के दूत, देवताओं का करने कार्य
आत्मा के उद्धार के लिए आये तुम अनिवार्य !

इस रचना में भूतवाद या भौतिकता को मैंने मानव-आत्मा की प्रगति के

लिए केवल सोपान या पीठिका मात्र माना है। विश्वमानवता के निर्माण के लिए आज के राजनीतिक-आर्थिक जीवन की उपयोगिता पर अटूट विश्वास होने पर भी—जो कि इस वैज्ञानिक जनयुग का सबसे विराट् स्वप्न है—मेरी जीवनदृष्टि सदैव ही इस विराट्ता को भी अतिक्रम कर उस उच्चतम मनुष्यत्व का स्वप्न देखती रही है, जो जनयुग की व्यापक सिद्धि को हिमालय के शिखरों से भी उन्नत सांस्कृतिक गौरव दे सके। अपनी इस कल्पना को मैं धरास्वर्ग की कल्पना कहता आया हूँ। इसी दृष्टि को सामने रखकर मैंने समाजवाद-गांधीवाद को एक-दूसरे की तुलना में देखने का प्रयत्न किया है :

साम्यवाद ने दिया जगत् को सामूहिक जनतन्त्र महान्
भव जीवन के दैन्य दुःख से किया मनुजता का परित्राण !
अन्तर्मुख अद्वैत पड़ा था युग-युग से निष्क्रिय, निष्प्राण !
जग में उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तुविधान !
गांधीवाद जगत् में आया ले मानवता का नव मान,
सत्य अहिंसा से मनुजोचित नव संस्कृति करने निर्माण !
गांधीवाद हमें जीवन पर देता अन्तर्गत विश्वास
मानव की निःसीम शक्ति का मिलता उससे चिर आभास !
व्यक्ति पूर्ण बन जग जीवन में भर सकता है नूतन प्राण,
विकसित मनुष्यत्व कर सकता पशुता से जन का कल्याण !
मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद,
सामूहिक जीवनविकास की साम्य योजना है अविवाद !

इस प्रकार मानवजीवन को समग्र दृष्टि से देखने पर भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद या आत्मवाद—दूसरे शब्दों में जड़ या चेतनवाद—एक-दूसरे के पूरक के रूप में, एक ही मानवसत्य के बाह्य और आभ्यन्तरिक आयाम या पक्ष बनकर सामने आते है। द्वितीय महायुद्ध के संहार से उद्वेलित होकर मैंने बाह्य विश्वपीठ के निर्माण के साथ ही अन्तर्मनुष्य के निर्माण पर अधिक बल देना उचित समझा, जिससे वैज्ञानिक शक्ति के अणु तथा तड़ित् के अश्वों पर आरूढ़ होकर आत्मजयी मनुष्य विश्व-जीवन तथा लोक-मंगल का भी निर्माता बन सके। गांधीवाद की मानव-भविष्य के लिए मांगलिक उपयोगिता को सामने रखकर मैंने लिखा है :

देख रहा हूँ शुभ्र चाँदनी का-सा निर्झर,
गांधीयुग अवतरित हो रहा जनधरणी पर,
विगत युगों के तोरण गुम्बद मीनारों पर
नव प्रकाश रेखाओं का शोभा जादू भर !
संजीवन पा जाग उठा हो राष्ट्र का मरण
छायाएँ-सी आज चल रहीं भू पर चेतन,
जन-मन में जग, दीप शिखा के पग धर नूतन
भावी के नव स्वप्न धरा पर करते विचरण !
सत्य अहिंसा बन अन्तर्राष्ट्रीय जागरण
मानवीय स्पर्शों से भरते धरती के व्रण !
झुका तड़ित् अणु के अश्वों को कर आरोहण
नव मानवता करती गांधी का जय घोषण !

मानव के अन्तरतम शुभ्र प्रकाश के शिखर
नव्य चेतना मण्डित स्वर्णिम उठे अब निखर!

गांधीजी हमारे इतने निकट रहे हैं कि उनके महान् सांस्कृतिक व्यक्तित्व का विश्व-व्यापक महत्त्व अभी हम आँकने में सफल नहीं हो सके हैं। उनकी साध्य के साथ साधन की शुद्धता, मन वचन कर्म की एकता तथा लोकोपयोगी उच्च चारित्रिक ध्येय उनके व्यक्तित्व तथा कृतित्व को जो पूर्णता प्रदान करते हैं, वह भावी मनुष्य के लिए सदैव एक अक्षय उदाहरण तथा अमिट आदर्श के रूप में रहेंगे। उनका कार्यक्षेत्र वर्तमान में होने के कारण तथा उनके भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम का अधिनायक होने के कारण उनके विशद पुरुषोत्तम व्यक्तित्व का प्रकाश राजनीतिक संघर्ष के उत्थान-पतनों तथा खादी और चरखे के ताने-बानों में उलझकर सम्प्रति दृष्टि से ओझल-सा हो गया है। उनके जीवन-आदर्श कर्मप्रधान होने के कारण, देश-काल की परिस्थितियों के कारण सीमित-से प्रतीत होते हैं जो शुद्ध दृष्टि नहीं है। उन्होंने मध्ययुगों से पक्षाघातग्रस्त भारतीय जीवन के सभी पक्षों को अपने अदम्य साहस तथा सहृदय विचारणा से छूकर उनका जीर्णोद्धार किया है। उन्हें श्रद्धांजलि देते हुए मैंने लिखा है:

जय राष्ट्रपिता, जय मानव, जय शुभ्र पुरुष युगसम्भव,
जय आत्मशक्ति के पर्वत, भू स्वर्गदूत, युग नर नव!
तुम छू जन-जीवन के बहुजर्जर पक्षाहत अवयव,
भू-संस्कृति को युग-मन को दे गये ऊर्ध्व नव गौरव!
भूकम्प रहे तुम दुर्जय सोयी भू को कर चेतन
उच्छिन्न न कर उसके अंग, विच्छिन्न कर गये बन्धन!
जन चिरकृतज्ञ, शतियों की दासी भू के उद्धारक
शुभ आत्मशक्ति के वर से अणुमृत जन-भू के तारक!

गांधीजी के संस्मरण

शुभ्र चरण धरो पान्थ, शुभ्र चरण धरो,
अंकित कर ज्योति चिह्न जीवन तम हरो।

मेरे जीवन-मन के सद्यः मुकुलित क्षितिज में, जो सदैव नवीन चैतन्य के गरिमादीप्त सूर्य की तरह, शुभ्र सजीव आलोककिरणें बरसाते रहे, जिन्होंने हमारी पीढ़ी के, समस्त देश की नये जागरण की पीढ़ी के, आशा-उत्फुल्ल आकाश को अपनी अतुल उज्ज्वल कीर्ति की वरद दीप्ति से व्याप्त रखा—आज उन्हें थोड़े-से शब्दों में—संस्मरण के रूप में बाँधकर अंकित करना अत्यन्त कठिन हो रहा है।

महात्मा गांधी के दर्शन सर्वप्रथम मुझे सन् १६२१ में हुए थे। तब तक वह सहज परिचय के घेरे में बँधकर, 'गांधीजी', अथवा हृदय के अधिक समीप आकर—'बापू' नहीं बने थे। वह पहला असहयोग आन्दोलन था, मैं तब इलाहाबाद के म्योर सेंट्रल कालेज में इंटरमीडिएट में पढ़ता था। परीक्षा के दिन निकट ही थे, सम्भवतः वह फरवरी का अन्तिम सप्ताह

था। एक रोज मेरे मँझले भाई सवेरे के समय सहसा मेरे कमरे में घुसकर बोले—'जल्दी करो, ६ बजे महात्माजी का भाषण होनेवाला है। तुरन्त तैयार होकर मेरे साथ आनन्दभवन चलो।'

मैं चारपाई पर लेटा वर्ड्सवर्थ की रचनाएँ पढ़ रहा था, जो इण्टर के पाठ्यक्रम में थीं। भाई की आज्ञा सुनकर मन में बड़ी झुँझलाहट हुई। मैंने बिना उनकी ओर देखे ही उत्तर दिया, 'मैं नहीं जा सकूँगा, मुझे पढ़ना है।' मेरे भाई ने उत्तेजित स्वर में कहा, 'पढ़ना तो लगा ही रहता है, लेकिन महात्माजी का भाषण क्या बार-बार सुनने को मिलेगा?' मैंने दृढ़ स्वर में कहा, 'मुझे किसी का भाषण सुनने की इच्छा नहीं है।' भाई ने इस पर क्रुद्ध होकर तीखे स्वर में कहा, 'तुम इम्तहान पास कर सरकारी नौकरी और जी-हजूरी करना चाहते हो? मैं यह सब नहीं होने दूँगा। उठो, भाषण नहीं सुनना चाहते तो कम से कम महात्माजी के दर्शन तो कर लो।'

दर्शन करने की बात सुनकर मेरा श्रद्धालु मन जाने को तैयार हो गया और मैं तुरन्त कपड़े पहन, भाई के साथ अन्य लड़कों के गिरोह में मिलकर आनन्दभवन की ओर चल पड़ा। मेरे भाई तब बी० ए० में पढ़ते थे और हम दोनों ही बोर्डिंग हाउस में रहते थे। प्रयाग में उन दिनों अनेक राजनीतिक सभाएँ हुआ करती थीं। पुरुषोत्तमदास टण्डन पार्क में अनेकानेक नेताओं के भाषण होते रहते थे। राजनीति की ओर किसी प्रकार की भी अभिरुचि न होने के कारण मैं उन सभाओं में बहुत कम जाता था।

हाँ, तो उस रोज जब हम आनन्दभवन में पहुँचे— वह पुराना आनन्दभवन अब स्वराज्यभवन कहलाता है—तो उसके मैदान में इलाहाबाद के स्कूल-कालेजों के बहुत-से छात्र एकत्रित होकर महात्मा गांधी के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे। मेरे भाई ने विद्यार्थियों की भीड़ को चीरकर, मुझे सबसे आगे, पहिली पंक्ति में खड़ा कर दिया, और आप मेरे पीछे खड़े हो गये। महात्माजी के सभा में प्रवेश करते ही सब छात्रों ने उच्च स्वर से उनका जयजयकार किया। महात्माजी किस दिशा से होकर कब मंच पर सुशोभित हुए यह मैं तब नहीं देख सका था। उनके आगमन के उत्साह में ऐसा स्पन्दन-कम्पन तथा जयघोष चारों ओर हुआ कि मेरा मन क्षणभर को विस्मयविमूढ़ हो गया। कुछ समय के बाद उनकी सौम्य उपस्थिति में वातावरण शान्त हो जाने पर मैंने समस्त आँखों की केन्द्रबिन्दु बनी हुई जिस भव्य आकृति को सामने उच्च मंच पर बैठे हुए देखा, उससे मेरे भीतर एक अज्ञात प्रकार का सन्तोष प्रवाहित हुआ। जैसे अपने देश के किसी चिर परिचित सत्य को या प्राचीन कथाओं में वर्णित उदात्त जीवन-आदर्श को आँखें मूर्तिमान रूप में, अपने सामने, शान्त मौन एकाग्रभाव में प्रतिष्ठित देख रही हों। स्वच्छ खादी से विमण्डित एक दुबली-पतली, दीर्घ, ताम्रवर्ण तपःक्लिष्ट मूर्ति— जैसे शरद ऋतु के शुभ्र मेघों से घिरा हुआ युगसन्ध्या का स्वर्णशुभ्र सूर्य बिम्ब—वह उन समस्त दृष्टियों और हृदय की भावनाओं का लक्ष्य बन गये थे। गांधीजी का व्यक्तित्व तब मुझे विशेष आकर्षक नहीं प्रतीत हुआ। सम्भवतः उसमें तब वह कलात्मक सन्तुलन नहीं आया था जो आगे चलकर पहिली ही दृष्टि में मन को आकर्षित कर लेता था। उन्हें देखकर नेत्रों को तब वैसी तृप्ति नहीं हुई

जैसी कि सन् १९१६ में बनारस में कवीन्द्र रवीन्द्र को देखकर हुई थी। परन्तु मन के किसी अज्ञात कोने में एक शान्त मौन जिज्ञासा का उद्रेक अवश्य हुआ, और यह कि क्या यह कोई महापुरुष हैं ?

महात्माजी ने अपने उस भाषण में विद्यार्थियों को स्कूल तथा कालेज छोड़ने का आदेश देते हुए अपना मन्तव्य समझाया और अन्त में अनुरोध किया कि जो विद्यार्थी उनके कथन से सहमत होकर कालेज छोड़ने को तैयार हों वे अपना हाथ उठाकर अपनी स्वीकृति प्रकट करें। महात्माजी के नपे-तुले वचनों से प्रभावित होकर अनेक विद्यार्थियों ने अपने हाथ उठा दिये। मैं यह सब देख-सुनकर, ऊहापोह में पड़ा, अपने कर्तव्य पर विचार कर ही रहा था कि मेरे भाई ने पीछे से मेरी बाँह पकड़कर जल्दी से मेरा हाथ ऊपर उठा दिया। मैंने जब मुड़कर उनकी ओर देखा तो उन्होंने आँखें तरेरते हुए अपने ओठों के पास उँगली ले जाकर मुझे चुप रहने का आदेश दिया। मैं किंकर्तव्यविमूढ होकर भाई के हाथ के सहारे बलात् अपना हाथ उठाये हुए चुपचाप सब नेताओं की दृष्टि के सामने आगे की पंक्ति में पत्थर की मूर्ति-सा खड़ा रहा। अन्त में जिन लड़कों ने हाथ उठाया था उनके अतिरिक्त शेष सब विद्यार्थियों को वहाँ से चले जाने का आदेश मिला।

जो विद्यार्थी वहाँ तब रह गये थे, अपने भाई को जब मैंने उनमें नहीं पाया तो मुझे बड़ा दुःख हुआ और मन ही मन डर भी लगा कि घरवाले न जाने इस आकस्मिक दुर्घटना के समाचार को सुनकर क्या कहेंगे। खैर, बोर्डिंग हाउस लौटने पर जब मैंने अपने भाई पर सन्देह प्रकट करते हुए उनके आचरण की आलोचना की तो उन्होंने मुझे सान्त्वना देते हुए बड़ी सहानुभूति के साथ मीठे स्वर में समझाया कि मुझे चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं है। उन्होंने जो कुछ किया है वह सब सोच-समझकर किया है। और अगर हम दोनों भाई कालेज छोड़ देते तो पिताजी तब अवश्य ही बहुत नाराज होते। अब चूँकि वह इस वर्ष बी० ए० में प्रथम श्रेणी में पास होने का प्रयत्न करेंगे, घरवाले उसकी खुशी में इस घटना को भूल जायेंगे, इत्यादि...

इस प्रकार, महात्माजी के प्रथम दर्शन का प्रभाव तो तब मेरे मन पर उतना अधिक नहीं पड़ा, पर हाँ, मेरे विद्यार्थी-जीवन को एक प्रकार से समाप्त कर, और मेरे बाह्य जीवन की गति में बहुत बड़ी उथल-पुथल मचाकर, उन्होंने उसकी दिशा को, जैसे अपने पहले ही संस्पर्श से सदा के लिए बदल दिया। घरवालों के संरक्षण में कालेज की शिक्षा पाने का अभिलाषी यह किशोर छात्र अब मुक्त तथा निरवलम्ब होकर अपनी परिस्थितियों से जूझता हुआ मानव-जीवन का एक विनम्र छात्र बन गया।

सन् १९२१ के बाद गांधीयुग अपना सक्रिय स्वरूप धारण कर चुका था और उसके प्रभाव को भुलाना असम्भव हो गया था। मेरा साहित्य-रस-लोलुप मन, अध्ययन-मनन छोड़कर, बीच-बीच में, श्वेत खादी से विभूषित गांधीजी की अर्धनग्न, कर्मठ प्रतिमा को अपलक अन्तर्दृष्टि से देखने तथा उसके सच्चे स्वरूप को समझने के लिए लालायित हो उठता था। किन्तु कवीन्द्र रवीन्द्र की स्वप्नोन्मुखी चेतना के प्रभाव को भुलाना भी उसके लिए सम्भव नहीं था, क्योंकि उसी की सौन्दर्यछाया में वह तब

तक पला था। युगकवि के अन्तर्मुख कल्पना-सौन्दर्य तथा युगनायक या मानव के बहिर्मुख यथार्थ बोध के बीच तब जैसे मेरा मन आँखमिचौनी खेला करता था। उन दिनों विदेशी वस्त्रों की होली जलाने के सम्बन्ध में गांधीजी तथा गुरुदेव में जो वादविवाद छिड़ा था उससे सन्तोष मिलने के बदले मन की जिज्ञासा और भी बढ़ गयी थी। मानव-सत्य के मानदण्ड का अन्वेषण—यह मुझे धीरे-धीरे इस युग की परम आवश्यकता प्रतीत होने लगी। सन् '२१ से सन् '३६ तक का समय गांधीवाद के विकास का समय था जब समस्त देश उसकी प्रयोगशाला बन चुका था।

मैं जब सन् '३६ में महात्माजी से दूसरी बार मिला था तब नमक सत्याग्रह आन्दोलन वैयक्तिक आन्दोलन का रूप धारण कर विराम ग्रहण कर चुका था और गांधीजी ग्रामोद्योग संगठन का कार्य आरम्भ कर चुके थे। भारतीय जीवन की परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में गांधीवाद तब सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा, सत्य, अहिंसा आदि के नामों से गांधी-दर्शन के रूप में पुष्पित-पल्लवित एवं विकसित हो चुका था। एक सक्रिय सामूहिक अस्त्र के रूप में उस पर भारतीय जनता का विश्वास दृढ़ प्रतिष्ठित हो चुका था। गांधीजी उसे ग्रामोद्योग संगठन में तब अधिक निर्माणात्मक रूप देने का प्रयत्न कर रहे थे। इस बार जब मैं उनसे मिला तब वह दिल्ली में हरिजन आश्रम में ठहरे हुए थे। मेरे साथ मेरे वही मँझले भाई थे जिन्होंने मेरा हाथ उठाकर मुझसे कालेज छुड़वाया था।

गांधीजी ने दोपहर को हमें मिलने का समय दिया था, वह उनका भोजन करने का समय था। कुछ लोग उन्हें घेरकर बैठे हुए थे। मैं और मेरे भाई भी उन्हीं में सम्मिलित हो गये। मीरा बेन आकर महात्माजी के खाने की सामग्री रख गयीं। आधी छटाँक के करीब पिसे हुए गेहूँ, आधा गिलास बकरी का दूध, कुछ अंजीर और एक सन्तरा। गांधीजी ने सन्तरा लौटा दिया। और क्षण-भर चुप रहकर, उस स्वल्प खाद्य सामग्री को भगवदर्पित कर, उन्होंने काठ की चम्मच से कच्ची गेहूँ की पीठी को दूध में मिलाया। चम्मच को मुँह तक ले जाने में उनका हाथ बराबर काँपता जाता था।

गांधीजी से तब जो सज्जन बातें कर रहे थे उनका मस्तिष्क लाठी चार्ज के कारण विकृत हो गया था। उनके कान में बराबर आवाजें आया करती थीं। महात्माजी उनकी अटपटी बातें सुनकर मुक्त हृदय से हँसते जाते थे और अन्त में उनसे यह कहकर कि पागल को, तुम पागल हो, समझाना सम्भव नहीं है···वह हम लोगों की ओर मुड़कर कुशल-समाचार पूछने लगे। अन्त में उन्होंने मुझे और भाई को आश्रम में भोजन कराके अपने साथ गाँवों में चलने का आदेश दिया।

उस समस्त वार्तालाप के अवसर पर मैं एकटक गांधीजी की ओर देखता रहा। उनकी आँखों के भीतर जहाँ तक मेरी दृष्टि विचरण कर सकी वह मुझे मुक्त अनन्त आकाश की तरह प्रतीत हुए। निर्लिप्त, निर्मल व्यापक आकाश जो प्रेम की तरह स्निग्ध, सरस तथा अतल था। इस बार मैं उनके व्यक्तित्व से अत्यन्त गहरे तथा आन्तरिक रूप से प्रभावित हुआ। उनके साथ गाँवों में जाकर मैंने जो उनके भाषण सुने तथा गाँव-वालों की दुःखकथा सुनकर उनकी मानसिक प्रतिक्रिया की जो छाप

उनकी मुखाकृति पर देखी उससे मुझे गांधीजी को समझने में बड़ी सहायता मिली। घर लौटने पर मैंने महात्माजी पर अपनी सर्वप्रथम कविता लिखी थी जो 'बापू के प्रति' शीर्षक से सन् '३६ में प्रकाशित हुई थी। उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

जड़वाद जर्जरित जग में तुम अवतरित हुए आत्मा महान्
यन्त्राभिभूत युग में करने मानव जीवन का परित्राण।
बहु छाया बिम्बों में खोया पाने व्यक्तित्व प्रकाशवान
फिर रक्त मांस प्रतिमाओं में फूंकने सत्य से अमर प्राण।

इसके बाद गांधीजी से अनेक बार प्रयाग, बम्बई तथा मद्रास में भेंट हुई। उनके देवोपम व्यक्तित्व से प्रेरणा ग्रहण कर समय-समय पर मैंने जो रचनाएँ लिखीं वह मेरे अनेक काव्य-संग्रहों में प्रकाशित हो चुकी हैं। 'महात्माजी के प्रति' रचना में मैंने मानवता के विकास की वर्तमान पृष्ठभूमि में गांधीवाद का मूल्यांकन इन शब्दों में किया है :

विश्व-सभ्यता का होना था नखशिख नव रूपान्तर
रामराज्य का स्वप्न तुम्हारा हुआ न यों ही निष्फल।
हे भारत के हृदय ! तुम्हारे साथ आज निःसंशय
चूर्ण हो गया विगत सांस्कृतिक हृदय जगत का जर्जर।

गांधीवाद के भविष्य पर आस्था प्रकट करते हुए मैंने लिखा है :

सत्य अहिंसा बन अन्तर्राष्ट्रीय जागरण
मानवीय स्पर्शों से भरते जन-भू के व्रण।

आज सह-अस्तित्व के सिद्धान्त के रूप में गांधीजी का सौम्य समन्वयात्मक सत्य ही जैसे नवीन विश्वशान्ति का शिलान्यास करने का प्रयत्न कर रहा है।

अन्तिम बार गांधीजी के दर्शन मैंने बम्बई में जुहू तट पर किये थे, जब वह 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के बाद आगाखाँ महल में महादेव भाई तथा बा को सदा के लिए समाधि में सुलाकर, अन्तिम कारावास से मुक्त होकर, स्वास्थ्य लाभ करने आये थे। एक अभूतपूर्व, प्रज्वलित पर्वत-शिखर के समान ताम्रवर्ण, देदीप्यमान, वह तब मुझे महत् संकल्प-शक्ति से मूर्तिमान प्रतीत हुए। गांधीजी के संस्मरण मेरे लिए उनके बाह्य सम्पर्क से सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं का चित्रण-मात्र नहीं है, वह उससे भी अधिक, उनके आन्तरिक स्पर्शजनित सूक्ष्म अनुभवों तथा निगूढ़ प्रभावों का महत्त्व मेरे लिए रखते है। उनके सम्पर्क में आकर मेरे भीतर यह बात अपने-आप जैसे स्पष्ट हो गयी कि मानव-जीवन के सत्य का स्वरूप किस प्रकार, महान् ऐतिहासिक युगों में बदलकर पुनर्निर्मित तथा पुनःसंगठित होता रहता है। एक ऐसी महान् आत्मा तथा विश्वविभूति को, जिसने मानवता के विकास के लिए आत्म-बलिदान दिया है, मैं आज फिर से उनकी जयन्ती के अवसर पर अपनी प्रणत श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ :

बापू, तुमसे सुन आत्मा का तेजराशि आह्वान,
हँस उठते हैं रोम हर्ष से, पुलकित होते प्राण।
भूतवाद उस धरा-स्वर्ग के लिए मात्र सोपान,
जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान।
नहीं जानता, युग विवर्त में होगा कितना जन क्षय,

पर मनुष्य को सत्य अहिंसा इष्ट रहेंगे निश्चय।
नव संस्कृति के दूत, देवताओं का करने कार्य,
मानव आत्मा को उबारने आये तुम अनिवार्य।

योगेश्वर श्रीकृष्ण

आज जन्माष्टमी है : हम भगवान श्रीकृष्ण को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं जिनका अलौकिक व्यक्तित्व संसार को मन्त्रमुग्ध तथा चमत्कृत किये हुए है। श्रीकृष्ण कौन हैं, इसका उत्तर देना सम्भव नहीं। वह मन और वाणी से अतीत, स्वयं भगवान होने कारण, अनिर्वचनीय हैं।

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'

श्रीकृष्ण को पूर्णावतार मानते है। 'एते चांश कलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं।' अन्य महापुरुष भगवान् का आंशिक वैभव लेकर अवतीर्ण हुए, किन्तु श्रीकृष्ण सम्पूर्ण भागवत शक्ति तथा ऐश्वर्य के प्रतीक है। श्रीमद्भागवत तथा महाभारत में श्रीकृष्ण का जैसा अद्भुत चरित्र अंकित किया गया है उसे मानते हुए उनके पूर्णावतार होने में सन्देह नहीं रहता, क्योंकि भगवान के सम्बन्ध में उससे विराट् कल्पना सम्भव नहीं।

जब जगत में वैश्व क्रान्ति आती है, ऐसी क्रान्ति जिसका निराकरण जागतिक शक्तियाँ नहीं कर पाती तब भगवान् अपने ही दिव्य नियमों से स्वयं अवतरित होकर विश्वपरिस्थितियों में नवीन समन्व तथा सन्तुलन भरते हैं। गीता के अनुसार जब धर्म की ग्लानि होती है तब भगवान्, साधुओं का परित्राण, दुष्कृतों का विनाश तथा धर्म की संस्थापना करने के लिए युग-युग में अवतार लेते हैं। इसके अतिरिक्त भक्तों के परितोष के लिए भी वह मनुष्य रूप धारण करते है। 'मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधा लीलाः।' भगवान् मनुष्यदेह कैसे ग्रहण करते है। इस शंका का समाधान इस प्रकार किया गया है :

अजोऽपि सन् अव्ययात्मा भूतानां ईश्वरोऽपि सन्
प्रकृति स्वामधिष्ठाय सम्भवामि आत्ममायया।

अर्थात् अज अव्यय और भूतों का ईश्वर होने पर भी अपनी दिव्य प्रकृति का आश्रय लेकर अपनी सर्वशक्तिमयी माया के बल से मै जन्म ग्रहण करता हूँ।

इस सब पर तात्विक दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है पर वह हमारा उद्देश्य नहीं है। हम केवल भगवान् के श्रीचरणों पर श्रद्धा के फूल समर्पित कर रहे है।

भक्त चित्तानुरोधेन धत्ते नाना कृताः स्वयं
अद्वैतानन्दरूपो यस्तस्मै भगवते नमः

जो एक तथा शुद्ध आनन्दस्वरूप होने पर भी भक्तों के स्वभाव एवं चित्तवृत्तियों के अनुसार नाना रूप धारण कर लेते है, उन भगवान् को हम बार-बार नमन करते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से योगेश्वर श्रीकृष्ण शुद्ध आनन्दस्वरूप परमतत्व

के प्रतीक हैं, जिन्हें सत् असत् आदि जागतिक द्वन्द्व स्पर्श नहीं कर पाते। इसलिए महाभारत में वह अर्जुन तथा युधिष्ठिर से ऐसे अनेक कार्य करवाते है जिनका समर्थन हमारी बुद्धि नहीं करती। जैसा कि वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है, 'सन साधुना मर्मणा भूयान नो वा असाधुना कनीयान्।' श्रीकृष्ण सापेक्ष सांसारिक सत्य से ऊपर परम सत्यस्वरूप हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से जागतिक चेतना में दिव्य समन्वय के प्रतीक हैं। उन्होंने गीता में कर्म, भक्ति, ज्ञान, संन्यास आदि सभी प्रकार के साधना-मार्गों में समन्वय स्थापित किया है। गीता के निष्काम कर्म, निःसंग वृत्ति के भीतर यही समत्व एवं समन्वय की भावना मिलती है। 'समत्वं योग उच्ययते' कहकर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने योग को भी बहिरन्तर समत्व तथा समन्वय ही बतलाया है। इसमें सन्देह नहीं कि श्रीकृष्ण की चेतना का चिन्तन करने से, जो आनन्दस्वरूप समत्व की चेतना है, मनुष्य सहज ही सुख-दुःख के द्वन्द्वों में समभाव प्राप्त कर शाश्वत आनन्द का उपभोग करने लगता है। श्रीकृष्णतत्व हमें संसार तथा कर्म की ओर विरक्त नहीं करता, वह हमें परमतत्व से युक्त रखकर परिपूर्णता प्रदान करता है।

'कृष्णात्परं किमपि तत्वमहं न जाने' श्रीकृष्णतत्व से परे कोई नहीं है। वह सम्पूर्णता तथा अन्तः परिपूर्णता के प्रतीक है। जब तक मनुष्य भीतर से पूर्ण नही होता वह जागतिक द्वन्द्वों तथा सुख-दुख के स्पर्शों से मुक्त नहीं हो सकता,वह अपनी इन्द्रियाँ तथा इच्छाओं का स्वामी बनकर संसार का उपभोग नही कर सकता, न वह लोकजीवन का उत्तरदायित्व ही ठीक तरह सँभाल सकता है। श्रीकृष्ण तत्व का चिन्तन करने से वह अन्तः परिपूर्णता स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। एक ओर समस्त साधना जप-तप आदि नियमों की कठोरता है और दूसरी ओर श्रीकृष्णार्पण की भावना, जिससे समस्त साधनाओं का फल स्वयं सुलभ हो जाता है। इसीलिए वह गीता में कहते है : सर्वधर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अथवा,

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मा नमस्कुरु
मामेवैष्यसि सत्यन्ते प्रतिजाने प्रियो सि मे।

निःसन्देह श्रीकृष्णतत्व की ऐसी ही महिमा है। उसके साथ युक्त रहने से साधना में रस का संचार हो जाता है, क्योंकि वह परम प्रेमतत्व भी है।

इस पृथ्वी पर सच्ची मानवता की अवतारणा तथा लोककल्याण की प्रतिष्ठा के लिए हमें सचमुच अपनी क्षुद्र, अहंता-कुण्ठित चेतना से ऊपर उठकर श्रीकृष्ण की समत्वमयी, व्यापक प्रीतिद्रवित चेतना में अवगाहन करना ही होगा, क्योंकि वह मनुष्य के सखा है। मनुष्य का समस्त आध्यात्मिक, मानसिक तथा भौतिक वैभव श्रीकृष्ण-चेतना में पूर्ण सामंजस्य एवं समन्वय प्राप्त करने के लिए इतिहास की पीठिका पर खड़ा न जाने कब से प्रतीक्षा कर रहा है।

श्रीकृष्णः शरणं मम।

योगिराज श्रीअरविन्द

इन दस वर्षों में हमारे देश की चार महान् विभूतियाँ अचानक लुप्त हो गयीं। कवीन्द्र रवीन्द्र के बाद महात्मा गांधी और महर्षि रमण के बाद कल रात्रि को एक बजकर ३० मिनट पर पाण्डिचेरी-आश्रम के प्रकाश श्रीअरविन्द भी महाप्रकाश में विलीन हो गये। ये चारों महान् आत्माएँ एक ही नवीन युगचेतना के चार उच्च शिखरों के समान थे, और ये स्वर्ण-शुभ्र शिखर स्वर्ग की किरणों से मण्डित थे और आज के विश्वव्यापी अन्ध-कार में प्रकाश की किरणें बिखरते रहते थे। इनमें कवीन्द्र रवीन्द्र गीत और सौन्दर्य के प्रतीक थे। महात्मा गांधी कर्म और लोककल्याण के तथा महर्षि रमण और श्रीअरविन्द आध्यात्मिक ज्ञान एवं आलोक के प्रतीक थे। भारतीय पुनर्जागरण में इन महापुरुषों का अनन्त दाय अमर तथा अक्षय रहेगा और नवीन जीवन एवं विश्वसंस्कृति के निर्माण का भी इनके अदृश्य कर अलक्ष्य रूप में संचालन करेंगे, इसमें सन्देह नहीं।

भारत के ऋषियों तथा सत्यद्रष्टाओं में श्रीअरविन्द का स्थान अत्यन्त उच्च तथा चिर स्मरणीय रहेगा। विश्व के आध्यात्मिक क्षितिज पर उनका शुभागमन एक अभूतपूर्व अलौकिक स्वर्णोदय के समान हुआ जिसकी नवीन चेतना के प्रकाश ने मानवजीवन तथा विश्वमन की गहरी से गहरी घाटियों को भी अपने अभूतपूव स्पर्श से उत्फुल्ल तथा आलोकित कर दिया। निश्चय ही श्रीअरविन्द मर्त्यों की इस धरती पर एक अपूर्व ज्योतिवाहक की तरह विचरण करने के लिए आये! वह आजीवन मानवजीवन और मन की उच्च से उच्चतम पर्वतश्रेणियों पर चढ़ते रहे, और मानव भाव-नाओं तथा विचारों की अनेक हरी-भरी रंग-बिरंगी शूल-फूलों की घाटियों तथा उपत्यकाओं को पार करते हुए उन स्वर्गचुम्बी चोटियों पर पहुँचे जहाँ से उन्होंने हमारे युग के ध्वंस, संहार, निराशा और विषाद से भरे हुए वातावरण में नवीन आशाओं और सम्भावनाओं का रुपहला-सुनहला प्रकाश उड़ेला और जाति-वर्गों के भेदों में विदीर्ण मानवता को एक नवीन व्यापक तथा सूक्ष्मतम एकता का सन्देश दिया। उन्होंने मानव-मन की गठन तथा विश्व के अन्तर्विधान का जिस सूक्ष्मता तथा मर्मस्पर्शिता के साथ विश्लेषण तथा संश्लेषण किया और उसे एक महान् दार्शनिक की रहस्य-भेदी दृष्टि तथा कुशल कवि की अद्भुत कला तथा चमत्कार के साथ वाणी दी उसे देखकर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। ज्ञान की सर्वोच्च चोटी पर पहुँच जाने से ही उन्होंने सन्तोष नहीं ग्रहण कर लिया, वह मानवचेतना के सर्वोच्च प्रकाश की ज्योतिजाह्नवी को लोककल्याण के लिए धरती पर अवतरित करने के भगीरथ प्रयत्न में संलग्न रहे। उन्होंने इस लोक और परलोक के भेद को, आध्यात्मिकता और भौतिकता के विरोध को, जगत और परब्रह्म के बीच की अज्ञेय दुर्गम खाई को सदैव के लिए भर दिया। मानव के भूत और भविष्य का, पूर्व और पश्चिम का, व्यक्ति, विश्व और ईश्वर का इतना व्यापक तथा गम्भीर विश्लेषण शायद ही और कोई कर सका है।

श्रीअरविन्द एक महान् प्रतिभा थे। वह एक महान् दार्शनिक, महान् कवि तथा कलाकार थे। मानवचेतना के चरम शिखर पर अवस्थित

होकर उन्होंने जहाँ जीवन के हरित अन्धकार से भरी घाटियों की गहराइयों तथा सतरंगी छाया-भावों में लिपटी मन की ऊँची-नीची उपत्यकाओं की ओर दृष्टिपात किया वहाँ मानवचेतना के उस पार रजत शान्ति के आकाशों तथा ज्योति के असीम प्रसारों को अतिक्रम कर एवं अपलक नेत्रों से शाश्वत मुख के अरूप अवर्णनीय सौन्दर्य तथा आनन्द का पान कर, उसे अपनी वाणी के चेतनापट में बुन कर मानवआत्मा के लिए एक नवीन परिधान की रचना की।

श्रीअरविन्द मानवचेतना के रूपान्तर में विश्वास रखते हैं। श्री माताजी के शब्दों में : "हम चाहते हैं सर्वांग पूर्ण रूपान्तर, शरीर और उसके सभी क्रियाकलापों का रूपान्तर। किन्तु इसका एक प्रथम चरण है, जो पूर्ण रूप से अनिवार्य तथा अन्य सभी चीजों का प्रारम्भ करने से पहिले पूरा करना होगा, और वह है चेतना का रूपान्तर।

"कहा जा सकता है कि चेतना का यह परिवर्तन अकस्मात् होता है। जब यह होता है तब वह एकाएक हो जाता है, मानो बहुत धीरे-धीरे और दीर्घ काल से उसके लिए तैयारी हो रही हो। मैं यहाँ पर मानसिक दृष्टिकोण से होनेवाले किसी सामान्य परिवर्तन की बात नहीं कहती बल्कि स्वयं चेतना के ही परिवर्तन की बात कह रही हूँ। वह एक प्रकार से पूर्ण और विशुद्ध परिवर्तन है : आधारभूत स्थिति में ही होनेवाली एक क्रान्ति है. यह प्राय: ऐसी चीज है जैसे कि गेंद को भीतर से बाहर की ओर उलट देने की बात।···साधारण चेतना में तुम धीरे-धीरे चलते हो, एक के बाद एक प्रयोग करते हुए चलते हो, अज्ञान से किसी सुदूर स्थिति और यहाँ तक कि सन्दिग्ध ज्ञान की ओर जाते हो। पर रूपान्तरित चेतना में तुम ज्ञान से आरम्भ करते हो और ज्ञान से ज्ञान की ओर अग्रसर होते हो। फिर भी यह है आरम्भ ही। क्योंकि बाहरी चेतना, बाहरी क्रियाशील सत्ता के विभिन्न स्तर और अंश एक भीतरी रूपान्तर के फलस्वरूप केवल धीरे-धीरे और क्रमशः ही रूपान्तरित होते है।"

हमारे युग की अविश्वास, सन्देह, संघर्ष तथा हाहाकार से भरी पृथ्वी पर श्रीअरविन्द एक अदम्य विश्वास के जाज्वल्यमान स्वर्ण-स्तम्भ की तरह ऊपर उठे और अपने अलौकिक ऐश्वर्य से अपने युग को मुग्ध कर गये। उन्होने अपने आत्ममधुर मर्मभेदी शब्दों मे हमें सन्देश दिया कि मानवचेतना विकास के पथ में है। मन का बोध ही सम्पूर्ण बोध नहीं। निर्दिष्ट समय में यह मनुष्य देवता और यह पृथ्वी भगवान के सौन्दर्य और मधुरिमा की धाम बन जायेगी। ऐसे महान् और स्वर्गीय स्वप्नो के अन्तर्द्रष्टा रहे है योगिराज श्रीअरविन्द। उनका योग केवल व्यक्तिगत मुक्ति के लिए नहीं था, वह सामूहिक मुक्ति के लिए था। वह मनुष्य के मन के टिमटिमाते हुए प्रकाश को उसकी अन्तर्चेतना के पूर्ण प्रकाश में मुक्त तथा विकसित करने के लिए था।

पूर्व और पश्चिम के महान् विद्वान् तथा विचारक उनकी ओर समान रूप से आकर्षित हुए और उन्होने उन्हें अनेक रूप से श्रद्धांजलि दी। डाक्टर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने उनके बारे में इस प्रकार लिखा है :

"प्रथम ही दृष्टि में मुझे यह प्रतीत हो गया कि वह आत्मा के अनुसन्धान में रत रहे हैं और उन्होने उसे प्राप्त भी कर लिया है। अपनी दीर्घ

तपसाधना से उन्होंने एक ऐसी शक्ति संचित कर ली है। जो दूसरों को प्रभावित कर उनमें दिव्य प्रेरणा भर सकती है। उनका मुख अन्तर्ज्योति से आलोकित था और उनकी उज्ज्वल पवित्र उपस्थिति से मेरे मन में यह बात स्पष्ट हो गयी कि उनकी आत्मा किसी ऐसे निर्मम नैतिक सिद्धान्त के संकीर्ण घेरे में बँधी नहीं हुई है जिसे आत्मपीड़न में आनन्द मिलता है। मुझे लगा कि भारतीय ऋषियों की विराट् साम्य और विश्व की भावना उनके भीतर से फिर से वाणी पा रही है। मैंने उनसे कहा कि आपके पास शब्द हैं, और हम दीक्षा लेने को तैयार हैं। भारतवर्ष आप ही की वाणी में संसार से बोलेगा।"

दूसरे स्थान पर डाक्टर टैगोर उनको सम्बोधन कर लिखते हैं :

"अरविन्द, रवीन्द्रे लहो नमस्कार ! हे बन्धु, हे देशबन्धु,
स्वदेश आत्मार वाणी मूर्ति तुमि !···बन्धन पीड़न दुःख
असम्मान माझे हेरिया तोमार मूर्ति, कर्म मोर बाजे
आत्मार बन्धनहीन, आनन्देर गान महातीर्थ यात्रीर संगीत,
चिर प्राण आशार उल्लास, गम्भीर निर्भय वाणी उदार मृत्युर !
भारतेर वीणापाणि, हे कवि, तोमार मुखे राखि दृष्टि
तार तारे-तारे दियेछेन विपुलझंकार···ऐ उदात्त संगीतेर
तरंग माझार अरविन्द रवीन्द्रेर, लहो नमस्कार !"

रोमा रोला ने 'इण्डिया ऑन द मार्च' में श्रीअरविन्द के सम्बन्ध में लिखा है—"पूर्व और पश्चिम की प्रतिभा का आज तक का सर्वांगपूर्ण संश्लेषण श्रीअरविन्द में मिलता है।" आगे चलकर वह कहते है कि "श्रीअरविन्द वह अन्तिम महान् ऋषि है, जो अपने हाथ के दृढ़ अशिथिल पाश में सृजन-शक्ति का विराट् धनुष पकड़े हुए हैं।"

श्रीअरविन्द का जन्म १५ अगस्त १८७२ में हुआ। उनकी शिक्षा-दीक्षा इंग्लैंड में हुई। सन् १८९३ मे वह भारत लौटकर आये और १३ वर्षों तक बड़ौदा राज्य में कार्य करते रहे। उसके बाद वह बंगाल नेशनल कालेज के प्रिंसिपल के रूप में कलकत्ते गये और बंग भंग के समय वहाँ राजनीतिक आन्दोलन का संचालन करते रहे। सन् १९०८ से १९०९ के बीच वह अलीपुर जेल में रहे जहाँ उन्होंने अध्यात्मज्ञान का मनन किया। वहाँ के एकान्तवास में उन्हे प्रथम बार भगवत् साक्षात्कार हुआ। १९१० में वह पाण्डिचेरी पहुँचकर एकमात्र योगसाधन मे लीन हो गये। और अपनी पूरी शक्ति से आत्मानुसन्धान की ओर प्रवृत्त हुए। वह अन्तः प्रकाश की आध्यात्मिक झाँकी पा चुके थे और उसी को अधिकृत करने में संलग्न रहे। सन् १९१४ में श्रीमाताजी श्रीअरविन्द के दर्शन करने पाण्डिचेरी आयीं और वहाँ उन्होंने अनुभव किया कि श्रीअरविन्द की शक्ति मानव का अज्ञान दूर कर सकेगी और उनके ज्ञान के आलोक से मानव-स्वभाव में रूपान्तर उपस्थित हो सकेगा।

२४ नवम्बर १९२६ में श्रीअरविन्द को सिद्धि मिली है। वह उस ब्राह्मीस्थिति को प्राप्त कर सके जिसे उन्होंने अतिमानस कहा है। जहाँ ब्रह्म के निर्गुण, सगुण, निष्क्रिय, सक्रिय एकत्व और बहुत्व के रूप यथार्थ समन्वय में बंधे है।

श्रीअरविन्द-आश्रम, उनके इसी विशालतम आध्यात्मिक ज्ञान को

योगसाधन द्वारा प्राप्त करने के लिए एक सामूहिक सिद्धि का केन्द्र है। हमें विश्वास है कि श्रीअरविन्द की अमर अकाय आत्मा चिरकाल तक उनके पाठकों तथा अनुयायियों का पथप्रदर्शन करती रहेगी। श्रीअरविन्द निःसन्देह संसार के एक महान् अमर महापुरुष की तरह चिर स्मरणीय तथा वन्दनीय रहेंगे। वह महान् मनीषी, विराट् प्रतिभाशाली सत्यद्रष्टा हुए, जिन्होंने मानव-आत्मा की अस्पृश्य अदृश्य चोटियों को प्रकाश में लाकर मानव के ज्ञानभण्डार की ही अभिवृद्धि नहीं की प्रत्युत मानवजीवन की मान्यताओं को भी अधिक ऊर्ध्व गहन तथा व्यापक बनाकर व्यक्ति विश्व और परमात्मा सम्बन्धी हमारी प्राचीन धारणाओं को एक नवीन अर्थगौरव, नवीन सौन्दर्यबोध तथा एक नवीन एवं अलौकिक आनन्द प्रदान कर दिया।

श्रीअरविन्द नि.सन्देह ही मानवभविष्य के दार्शनिक हैं। ज्यों-ज्यों हमारे युग के वातावरण में सामंजस्य आता जायगा, श्रीअरविन्द की ओर विश्व के विचारक तथा समाज के शिल्पी अधिकाधिक आकर्षित होंगे और उनका महान् दर्शन मानवजाति के लिए एक चिरन्तन प्रेरणा का स्रोत बन जायेगा। अन्त में मै श्रीअरविन्द को इन थोड़े-से शब्दों में श्रद्धांजलि देता हूँ :

श्रद्धांजलि अर्पित करता मन, हे मनुष्यता के उन्नायक,
जगजीवन के महायज्ञ में अति-मानवता के नव पावक !
लोक अभीप्सा की आहुति पा स्वर्ग शिखा से उठे प्रज्वलित
देव, धरा के अन्धकार को स्वर्णप्रात में करने दीपित !
महाकाल औ' महादिशा ज्यों सहम उठे छवि देख अलौकिक,
रूपान्तरित हुए विमुग्ध त्रिभुवन भौतिक, मानस, आध्यात्मिक।
निखिल व्यक्त अव्यक्त, सकल सीमा-असीम लय हुए विमोहित
पुन: देव में स्वयं परम को देख दिव्य आभा में मूर्तित।
जीवनमन के मान गल गये, मिटीं पूर्णताएँ अपूर्ण बन,
अल्प मनुज के स्वप्न राज्य घुल गये कुहासे-से उर के घन !
अतिमानस के ज्वलित स्वर्णदर्पण में सहज विलोक प्रतिफलित
शुभ्र भागवत जीवन का भूस्वर्ग अतीन्द्रिय इन्द्रिय शोभित !
धन्य, अवनि, अवतरित हुए जो तुम अतिमानव लोकविधायक !
जन-मन के चिर कुरुक्षेत्र के युग सारथि क्रम में अतिनायक !

श्रीअरविन्द की देन

श्रीअरविन्द हमारे वैज्ञानिक युग के एक महान् द्रष्टा तथा व्याख्याता हुए हैं। उनकी अद्भुत प्रतिभा के बारे में सोचने पर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। वे एक साथ ही एक महान् राजनीतिक क्रान्तिकारी, समाज-सुधारक, सांस्कृतिक अग्रदूत, महान् दार्शनिक, विराट् प्रतिभा-सम्पन्न कवि तथा अभूतपूर्व योगी और साधक हुए हैं। एक ही व्यक्ति में इतने महान् बहुमुखी आयामों का सन्तुलन मिलना अपने ही में एक महान्

आश्चर्य है।

श्रीअरविन्द की शिक्षा-दीक्षा विलायत में हुई थी, उनके पिता उन्हें आई० सी० एस० के पद पर सुशोभित देखना चाहते थे, पर श्रीअरविन्द ने आई० सी० एस० की परीक्षा में प्रथम उत्तीर्ण होने पर भी घुड़सवारी की परीक्षा देने में आनाकानी कर अंग्रेजी राज्य की नौकरशाही के बन्धन में पड़ना अस्वीकार कर दिया। वे अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि, यूरोप की अनेक भाषाओं के पण्डित तथा ज्ञाता और पश्चिमी सभ्यता के गुण-दोषों में गम्भीर अन्तर्दृष्टि रखनेवाले युवक थे। भौतिकवाद तथा यन्त्र-युग से निर्मित पश्चिमी जीवन की वास्तविकता को सर्वांगीण रूप से समझ लेने पर ही उन्होंने अपनी मातृभूमि भारतवर्ष में पदार्पण किया था। वे लन्दन में भी अनेक प्रकार की साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक गोष्ठियों में अन्तरंग रूप से भाग लेते थे और स्वदेश-प्रेम का बीजारोपण उनके हृदय में तभी से हो गया था। भारत की धरती पर पाँव रखते ही उनके भाव-प्रवण हृदय में अद्भुत अपूर्व प्रेरणाएँ तथा सूक्ष्म-बोध की प्रतिक्रियाएँ जन्म लेने लगी थीं। बड़ौदा महाराज के यहाँ शिक्षा-कार्य स्वीकार कर लेने पर वहाँ उन्होंने वेदों, उपनिषदों, भारतीय-दर्शन-पुराण आदि ग्रन्थों का अध्ययन-मनन कर भारतीय संस्कृति के निगूढ़ मर्म को समझने का प्रयत्न किया। उनकी बुद्धि इतनी प्रखर थी और उनके मन में ऊँचाई के साथ इतना विस्तार था कि पराधीन भारत की तब की दैन्य-जर्जर अवस्था देखकर उन्होंने बंगाल में क्रान्तिकारी दल को जन्म देकर उसका नेतृत्व ग्रहण करना कर्तव्य समझा। आर्या, बन्देमातरम् आदि पत्रों का सम्पादन कर अपने प्रकाशगर्भित अग्नि बरसानेवाले लेखों से भारतीय विचारकों तथा युवा-मनीषा में देश की स्वाधीनता का मन्त्र तथा नवीन जागरण का शंख फूंका। अलीपुर बमकाण्ड के बाद उन्होंने कारावास भोगा, जहाँ सर्वप्रथम उनके उच्च विचारों से पोषित सुसंस्कृत मन में ईश्वरीय-प्रेरणा का बोध उदय हुआ और जैसा कि जेल से छूटने पर उनके उत्तरपाड़ा के प्रवचन से प्रकट होता है कि उन्होंने भारतवर्ष के उद्धार तथा लोक-मंगल के लिए अपना मार्ग निश्चित रूप से निर्धारित कर लिया। तब से भगवत्-शक्ति अथवा प्रेरणा ही उनके जीवन का संचालन करने लगी जैसा कि हमें उनके पाण्डिचेरी पहुँचकर योग-साधनासंलग्न हो जाने से प्रतीत होता है।

श्रीअरविन्द को समझने के लिए उनके जीवन तथा शिक्षा-दीक्षा के सम्बन्ध में संक्षेप में इतना जान लेना आवश्यक होता है। अपनी योग-साधना, अध्ययन-मनन तथा महत् धारणा के कारण वे आज के सन्तप्त, युद्ध-जर्जर तथा रणशंकित संसार को एक नवीन दृष्टिबोध, नवीन मानवीय-चेतना तथा व्यापक जीवन-दर्शन देने में समर्थ हुए हैं। इससे पहले कि हम उनकी योगदृष्टि तथा दर्शन के बारे में कुछ कहें या सोचें, आज के तर्कप्रधान या बौद्धिक युग में हमारे मन में सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि वर्तमान विषमताओं, स्पर्धाओं, आर्थिक संघर्षों, राजनीतिक उत्थान-पतनों, सामाजिक ऊहापोहों तथा ध्वंसास्त्रों के सन्त्रस्त संसार में श्रीअरविन्द के दर्शन का क्या उपयोग या सार्थकता हो सकती है, जिन्होंने चालीस वर्षों तक विश्व-जीवन से तटस्थ रहकर पाण्डिचेरी में एकान्तवास कर योग-

साधना भर की है। इस प्रश्न के उत्तर में हमारे लिए संसार की वर्तमान स्थिति का संक्षेप में निरीक्षण-परीक्षण कर लेना आवश्यक हो जाता है।

आज के भौतिक विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के युग में मानव-जीवन की बाह्य परिस्थितियाँ उत्तरोत्तर विकसितवर्धित होती जा रही हैं। इससे पहले सामन्तयुग में उनका कृषि तथा छोटे-मोटे उद्योगों के रूप में एक सीमा तक विकास होकर परिस्थितियों में स्थायित्व आ गया था और उन पर आधारित जीवन-मूल्यों, नैतिक दृष्टिकोणों, आचार-विचारों तथा सामाजिक सम्बन्धों में भी स्थायित्व आ गया था। वर्तमान युग में बाहर से जीवन की परिस्थितियाँ जिस प्रकार क्रियाशील हुई हैं उसी अनुपात में मानव-मन के मूल्य विकसित तथा परिवर्तित नहीं हो सके हैं। बाहर से हम वैज्ञानिक साधनों से निर्मित सुन्दर स्वच्छ विशाल नगरों, विस्तृत मार्गों, सीमेंट तथा इस्पात की बनी गगनचुम्बी इमारतों में रहते हैं, हम रेलगाड़ी तथा वायुयानों से दूरी को घटाते-मिटाते रहते हैं, रेडियो, रोबोट और कम्प्यूटरों जैसे कार्य-व्यापार के साधनों से सम्पन्न होकर जीवन की सुविधाओं का उपभोग करते हैं किन्तु भीतर से हम अभी पिछले युगों के बौने स्वार्थों, अहंताओं, अन्धविश्वासों तथा संकीर्ण जीवन-परिभाषाओं की कारा में बन्द, एक ओर जाति-पाँति, वर्ण, सम्प्रदाय तथा धर्म सम्बन्धी परिधियों से घिरे हुए है, दूसरी ओर हम नित्य नयी विषमताओं को जन्म देकर परस्पर की स्पर्धा तथा संघर्ष में सने हुए है। इस भौतिक-सभ्यता के युग में व्यक्ति तथा समाज दोनों ही अशान्त, असन्तुष्ट, व्यग्र, अस्थिर तथा अनेक प्रकार की उलझनों के कारण कर्तव्यविमूढ़ है। सम्पन्न देशों के लोग भी उतने ही अशान्त तथा चिन्ताग्रस्त है जितने निर्धन देशों के। वैभव-सम्पन्न शिक्षित युवक पश्चिम में हिप्पी बन रहे है, विश्व-भर की युवा-पीढ़ी असन्तोष से ग्रस्त होकर विद्रोही बन गयी है क्योंकि उन्हें वर्तमान व्यवस्था से सन्तोष नहीं। सामाजिक मूल्य व्यक्ति का संचालन करने में असफल हो गये हैं। इस युग में वस्तुगत मन और आत्मगत मन में सन्तुलन न रहने के कारण परस्पर का सम्बन्ध टूट गया है। बाह्य सम्पन्नता के कारण बहिर्भ्रान्त मानव-मन शान्ति के लिए, आनन्द तथा सन्तोष के लिए तरस रहा है। सम्पन्न देशों में मानसिक रोगियों के उपचार के लिए विश्राम-गृह खुल गये हैं।

ऐसे विषमतर मानसिक तथा भौतिक संघर्षों के वैज्ञानिक युग में श्री अरविन्द नयी जीवन-दृष्टि के व्याख्याता के रूप में आविर्भूत हुए हैं। उनके अनुसार जिस मन से मनुष्य रहता आया है उसका विकास अपनी अन्तिम सीमा तक हो चुका है। दूसरे शब्दों में वह इतना बहिर्भूत तथा वस्तुपरक हो गया है कि मनुष्य को अब केवल उसकी बाहरी परिस्थितियाँ चलाती हैं। उसके भीतर का मनुष्य—जो उसके मनुष्यत्व का प्रतिनिधि है—और 'देवाहुर्मनोमतं' के अनुसार जिससे मन संचालित होता या होना चाहिए वह चैतन्य-बिन्दु उसके भीतर निष्क्रिय या बाह्य कुहासे से घिरकर सम्प्रति दृष्टिहीन हो गया है। आज के युग को वे चेतना के संकट का युग—कॉन्ससनेस के क्राइसिस का युग—बतलाते हैं। उनके अनुसार मन केवल अर्ध-बोध, खण्ड-बोध देता है, वह सत्य के बारे में 'हाँ-ना' कहने में असमर्थ है। मन की चेतना को वे सन्धि-चेतना 'ट्वाइलाइट कॉन्ससनेस'

कहते हैं। वह क्षणिक बोध देती है, स्थायी बोध या शाश्वत ज्ञान नहीं। इस युग-संकट के निदान के रूप में श्रीअरविन्द कहते हैं कि आज के बहिर्भ्रान्त मन को एक अन्तःकेन्द्र, एक भीतरी संसार का भी निर्माण करना है। वह संसार मूल्यों का संसार, - शान्ति, आनन्द, प्रेम, प्रकाश, मांगल्य का संसार होगा जो उसके मनुष्यत्व का, आत्मा का या ईश्वर का संसार होगा। मनुष्य अपने मन के बनाये, मन द्वारा प्रसारित (प्रोजेक्टेड) कृत्रिम संसार में खो गया है, जिसमें ईर्ष्या, द्वेष, कलुष, पाप, ताप, शोषण, पीड़न और संहार की शक्तियों की प्रधानता है। उसका जन्म मातृ-प्रकृति के या ईश्वर के संसार में रहने के लिए हुआ है, वही पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है जिसके हाथ में भगवान् ने जीवन-विकास की बागडोर सौंपी है। भौतिक समृद्धि का वे समर्थन करते हैं और विज्ञान के आधुनिकतम यन्त्रों से जीवन की सुख-सुविधा की वृद्धि करने में विश्वास रखते हैं। पर वर्तमान का जो भौतिकता के प्रति एकांगी अन्ध-झुकाव है जो अपने आन्तरिक, आत्मिक या आध्यात्मिक मूल्यों की उपेक्षा कर उन्हें भूल गया है वे उन मूल्यों की ओर आज के सभ्य मनुष्य का ध्यान खींचते हैं—उसे सभ्य ही नहीं, संस्कृत मानव भी बनना है। वे दोनों निषेधों का निषेध करते हैं। संन्यासी के निषेध का जो भौतिकता एवं ऐहिकता का निषेध करता है और भौतिकवादियों के निषेध का भी निषेध करते हैं जो आध्यात्मिक या चेतनात्मक मूल्यों का निषेध करता है और वस्तुगत मन को ही सम्पूर्ण मन समझकर, माइंड इज़ दि क्वालिटी ऑफ मैटर, मन को पदार्थ का गुण बतलाता है। भागवत और वस्तुगत जगतों का जो केन्द्रीय सत्य है उसकी ओर केवल ध्यान ही न खींचकर वे उसका उपयोग मानव-जीवन में कैसे किया जाय इसके उपाय या साधन भी बतलाते हैं—जिसे मैं श्रीअरविन्द की सबसे बड़ी देन मानता हूँ। स्पिरिट या चेतना के पाँव वे दृढ़तापूर्वक पृथ्वी के जीवन-कमल में ही स्थापित रखना चाहते हैं। 'पदभ्यांपृथ्वी' उन्हें प्रिय है। यदि वैज्ञानिक बिजली का आविष्कार कर ही सन्तुष्ट हो जाते, उसे जीवन के उपयोग के लिए विविध रूप से प्रयुक्त न करते—जैसे विद्युत् प्रकाश, बिजली के पंखे, रेडियो, तार आदि सैकड़ों यन्त्रों का सचालन उससे न कराते तो केवल बिजली का आविष्कार या ज्ञान निरर्थक होता। उसी प्रकार भारतीय द्रष्टाओं ने जिस 'आदित्य वर्णः तमसः परस्तात पुरुष' का बोध दिया जिनकी महिमा उपनिषदों, गीता आदि ग्रन्थों में शतमुख गायी गयी है यदि उसे धरती के जीवन की पीठिका पर स्थापित न किया जा सके तो उसका बोध भी केवल मध्ययुगीन मायावादियों की वैयक्तिक मुक्ति तक ही सीमित रहता। श्रीअरविन्द उस शिखरसत्य को धरती के धरातल पर उतारने के उपाय बतलाते हैं। वे विश्व-जीवन ही में ईश्वर का साक्षात्कार कराना चाहते हैं और इसके लिए मनुष्य को इन सब भौतिक सुविधाओं के बीच एक संस्कृत, प्रबुद्ध, मानवीय गुणसम्पन्न प्रज्ञापुरुष एवं विज्ञान-पुरुष बनने को कहते हैं।

श्रीअरविन्द में तीन सत्य के आयाम स्पष्ट रूप से मिलते हैं—पहला है उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण। पश्चिमी जगत् की सुविधा के लिए श्रीअरविन्द ने चैतन्य के स्वरूप को मन के ही स्तरों पर अभिव्यक्त किया

है, क्योंकि पश्चिमी जगत् बुद्धि-प्रधान होने के कारण मन को नहीं छोड़ सकता। श्रीअरविन्द चेतना को मन, उच्च मन (हायर माइंड), चैत्य मन (साइकिक माइंड), प्रेरणाओं का मन (इंट्युइशनल माइंड), अधिमन (ओवरमाइंड), अतिमन (सुपरमाइंड) आदि के रूप में व्यक्त करते हैं। प्रत्येक प्रकार के मन के स्तरों की विशेषताएँ विस्तारपूर्वक बतलाते हैं। पश्चिमी दार्शनिक बर्गसाँ ने भी इंट्युइशन्स के बारे में प्रकाश डाला है।

दूसरा स्पष्ट आयाम उनके दर्शन का है जिसमें, जैसा मैं कह चुका हूँ, वे दोनों निषेधों का निषेध करते हैं और सबसे विशेष महत्त्वपूर्ण ध्यान देने योग्य बात सुपरमाइंड के मानसिक, प्राणिक, दैहिक धरातल पर अवतरण या उतरने की अवश्यम्भावी सम्भावना की घोषणा करते हैं। उनके अनुसार विश्वमानस की अब ऐसी विकास की स्थिति आ गयी है कि अतिमानसीय सिद्धिवाले मनुष्यों का इस पृथ्वी पर प्रकट होना सृष्टिक्रम में पूर्वनिर्धारित सत्य है और यह अवतरण एक व्यक्ति में न होकर एक क्षेत्र में, व्यक्तियों के समूह में होगा। उनके दर्शन में उनके विकासवाद का सिद्धान्त भी ध्यान देने योग्य है। हमारे यहाँ भू, भुवः, स्वः, मह, जन, तप, सत्यं—ये सात लोक या चेतना के स्तर माने जाते हैं जिनका श्रीअरविन्द ने अपनी योगदृष्टि से अन्न, प्राण, मन (जिसे निम्न त्रिदल कहा है), अतिमानस सत्-चित-आनन्द बतलाया है। जो उच्च त्रिदल हैं उसमें अतिमानस सेतु की तरह है। उनके अनुसार जड़ से प्राण सत्व का, प्राण से मन का विकास हुआ और मन से अतिमन का विकास अवश्यम्भावी प्रक्रिया है। सत्-चित्-आनन्द का निवर्तन ही निम्न त्रिदल में अन्न, मन और प्राण के रूप में प्रकट हुआ है।

श्रीअरविन्द का तीसरा महत्त्वपूर्ण आयाम समग्र योग—या इण्टीग्रल योग—है, उसका भी वे सरल मार्ग बतलाते हैं। साधक में अभीप्सा (एसपिरेशन) होनी चाहिए और विकारों की अस्वीकृति (रिजेक्शन) तथा शरणागति (पूर्ण समर्पण या सरेंडर) का भाव। इसे प्राप्त कर लेने पर साधक का मन भगवत् कार्य का क्षेत्र बन जाता है। पूर्ण समर्पण केवल भगवती माँ की कृपा ही से प्राप्त होता है।

श्रीअरविन्द के योग में मातृशक्ति की सबसे बड़ी महिमा है। माँ के प्रति समर्पित होने पर ही भगवत्-प्राप्ति सम्भव है। माता ही भगवान् की सक्रिय शक्ति है। श्रीअरविन्द-आश्रम की स्थापना श्रीमाताजी के ही प्रयत्न से हुई। उनके आगमन से पहले आश्रम नाम की कोई वस्तु नहीं थी। श्रीमाताजी ही साधकों को योग-मार्ग पर अग्रसर करती हैं। वही उनकी संचालिका शक्ति हैं। श्रीअरविन्द को जो संसार के लोग जानने लगे उसका श्रेय भी श्रीमाताजी ही को है। परम-पुरुष और पराशक्ति की जो व्याख्या श्रीअरविन्द-दर्शन में मिलती है वही उनके योगाश्रम में उनके और श्रीमाताजी के रूप में मूर्तिमती हुई है।

इस सबसे ऊपर श्रीअरविन्द एक विराट् प्रतिभासम्पन्न कवि थे। वे कवि में एक महान् दार्शनिक और दार्शनिक में एक महान् कवि के रूप में पृथ्वी पर अवतरित हुए। उनकी 'सावित्री' उस नवीन उच्च भगवत् चेतना की प्रतीक है जो आज की अणु-मृत संसार की सभ्यता को—जिनके सिर

पर घोर विध्वंसक, अणु-अस्त्र लटका है—आज अपने चेतनाऽमृत से नया जीवन प्रदान करने को अवतरित हुई है। श्रीअरविन्द के समस्त दर्शन का रससिक्त निचोड़ उनके 'सावित्री' महाकाव्य में है। एक छोटी पौराणिक कथा को उन्होंने प्रतीक रूप में प्रयुक्त कर आज के मरणोन्मुख विश्व को नवीन चेतना-दान देने का प्रयत्न किया है। श्रीअरविन्द के अनुसार आज के मनुष्य—स्त्री और पुरुष दोनों—इसलिए आक्रामक हो गये हैं कि उनमें पुरुषत्व का अंश बहुत विकसित हो गया है, उनमें स्त्रीत्व की चेतना को भी अवतरित होना है, जिससे उनके भीतर शान्ति, प्रकाश, आनन्द आदि का उदय हो सकेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीअरविन्द मानव-जीवन के महान् शिल्पी, महान् संयोजक और लोक-मंगल के भविष्य के अप्रतिम द्रष्टा तथा विधायक होकर पृथ्वी पर अवतरित हुए। उनका जीवन-दर्शन आज के अशान्त विश्व-सागर में प्रकाश-स्तम्भ का कार्य कर सके—इस संक्षिप्त लेख में इतना ही कहना सम्भव हो सकता है।

॥ शुभमस्तु ॥

लोक-मंगल के लिए श्रीअरविन्द का योगदान

भारतीय द्रष्टाओं की सत्य की कसौटी सदैव से ही स्वानुभूति रही है, उपनिषद् काल से यह परम्परा सदैव चली आयी है। हमारे देश में जितने भी ऋषि-मुनि, चिन्तक, विचारक तथा द्रष्टा हुए हैं उन सबने स्वानुभूति द्वारा अर्जित सत्य ही को विशेष महत्त्व दिया है। भला जिस सत्य का अनुभव या साक्षात्कार मानव-आत्मा द्वारा नहीं किया जा सके, वह कैसे सत्य हो सकता है? सत्य से अभिप्राय मानवीय सत्य से होता है। ईश्वर या परात्पर का बोध भी हमारा मानवीय दृष्टि ही का बोध या ज्ञान है। इस दृष्टि से श्रीअरविन्द दार्शनिक से भी अधिक सत्य के अन्तर्द्रष्टा रहे हैं और यह अन्तर्दृष्टि उन्होंने योग द्वारा प्राप्त की है। संक्षेप में यदि हम पूछें—योग किसे कहते हैं तो 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' अथवा 'समत्वं योग उच्यते अथवा योगः कर्मसु कौशलम्' आदि के आधार पर मैं कहना चाहूँगा कि योग का अर्थ मन को उस केन्द्रीय सत्य से युक्त करना है जो मनुष्य के अन्न, प्राण, मन, बुद्धि आदि के सभी निश्चेतन, उपचेतन तथा चेतन धरातलों का संचालन करता है। हमारे यहाँ चेतना के सात स्तर या धरातल माने गये हैं, जिन्हें सप्तसिन्धु या सप्तलोक भी कहते हैं, जो भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यं के नामों से अभिव्यक्त किये गये हैं। इनमें भूः भुवः स्वः अर्थात् अन्न (जड़-पदार्थ), प्राण, मन एवं बुद्धि निम्न त्रिदल हैं और श्रीअरविन्द की शब्दावली में चेतना के उच्च धरातल जिन्हें आप उच्चमन, चैत्य मन तथा अधिमन कहिए—और भी अपनी समग्रता में सत्-चित्-आनन्द कहिए—इन्हें उच्च त्रिदल कहते हैं। उच्च त्रिदल तथा निम्न त्रिदल से परस्पर स्थापित करनेवाला महत् अर्थात् श्रीअरविन्द के शब्दों में—अतिमानस कहलाता है, जिसे दिव्य मानस भी कह सकते हैं। श्री अरविन्द अपने अश्रान्त योगबल से चेतना के इन सर्व धरातलों को पार कर

अतिमानस में प्रवेश कर सके हैं। और अतिमानस का बोध प्राप्त करने के बाद ही वे अपने विस्मयकारक महान् क्रान्तिकारी दर्शन की स्थापना कर सके हैं तथा अपने मानव-जीवन तथा मन के अवश्यम्भावी रूपान्तरण के सिद्धान्तों के साथ मानव-भविष्य के सम्बन्ध में आमूल क्रान्तिकारी दृष्टि देकर एक अजेय अपरिमेय आशावाद को जन्म दे सके हैं। पश्चिम के दार्शनिकों की तरह वे कुछ बौद्धिक तथा वस्तुगत सिद्धान्तों के आधार पर तर्क-वितर्क कर अपने दिव्य जीवन-सम्बन्धी दर्शन का प्रतिपादन नहीं करते हैं। वे मानव-चैतन्य के निःसीम सागर का अन्तर्मन्थन कर बोध के एक-से-एक उच्च-उच्चतम दुर्लंघ्य शिखरों को अतिक्रम अथवा लाँघकर सृष्टितत्त्व के उस मूलगत सत्य एवं शक्ति की खोज कर सके हैं जिससे इस विराट् विश्व का संचालन होता है। सृष्टिकर्ता का क्या ध्येय है और सृष्टि क्रमशः किस दिशा की ओर अग्रसर हो रही है, इसकी वे सांगोपांग विवेचना कर उस पर नया प्रकाश डालते हैं। युग-युग में किंकर्तव्यविमूढ़ मनुष्य, जिसके लिए इस विशाल सृष्टिविधान को समझना सम्भव नहीं रहा है, और जो संसार को मिथ्या-माया समझकर जीवन के प्रति नैराश्य तथा वितृष्णा प्रकट करता रहा है उसे श्रीअरविन्द एक अक्षय प्रकाश, आनन्द तथा शान्ति के धरातल पर उठाकर सृष्टि की जटिलप्रणाली में पूर्ण अन्तर्दृष्टि देकर उसके भीतर एक ऐसे अपराजेय आशावाद का संचार कर देते हैं जिसके बल पर वह जीवन सम्बन्धी मध्ययुगीन अपूर्ण धारणाओं के पाश छिन्न-भिन्न कर एक नवीन प्रेरणाओं तथा मूल्यों के विश्व में विचरण कर, नये उत्साह के साथ नवीन जीवन-रचना में संलग्न हो जाता है और जैसे सूर्योदय होने पर कुहासे का क्षितिज तितर-बितर हो जाता है उसी प्रकार एक नये प्रकाश का स्पर्श पाकर सृष्टि तथा मानव-जीवन सम्बन्धी मन की सभी दृढ़मूल शंकाएँ विलीन हो जाती हैं।

श्रीअरविन्द के अनुसार परम सत्य ही सृष्टि में निवर्तित है, जैसे चरम प्रकाश ही, जिसे अन्धकार में खो जाने का डर न हो, निश्चेतन के निस्तल गर्त में कूद पड़ा हो और वहीं से वह क्रमशः ऊपर उठने की लीला कर रहा हो। इस निश्चेतन से, जिसे वेद में 'अप्रकेतं सलिलं' कहा है, अर्थात् तमस की ऐसी द्रवित स्तिथि जिसके बारे में कोई बोध प्राप्त करना सम्भव नहीं, धीरे-धीरे जड़-तत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ है और उसी परम सत्य के निवर्तन के कारण जड़ से जीवन, जीवन से मन का विकास हुआ है। वनस्पति तथा पशु-पक्षी जगत् में जिस जीवन-तत्त्व के दर्शन मिलते हैं, उनके पास विकसित मन नहीं मिलता, पशु-पक्षी जगत् में भले ही कुछ प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ मिलती हों जिसमें उपचेतन (सब-कॉन्शस) मन अज्ञात रूप से कार्य करता हो। किन्तु मनुष्य के धरातल पर पहुँचने पर मन अपनी पूर्ण शक्ति से जाग्रत प्रतीत होता है। मनुष्य मनन, चिन्तन करने लगता है और अपने मानसिक ज्ञान के प्रकाश में अपनी बाह्य परिस्थितियों के अनुरूप अपने जीवन का, समाज का, सभ्यता तथा संस्कृति का निर्माण करने लगता है। उसके पास अब भाषा है, सदसत् के मूल्य हैं; दर्शन, अध्यात्म और ईश्वर पर आस्था है।

मन की चेतना को श्रीअरविन्द सन्धिचेतना कहते हैं। मन को समग्रता का ज्ञान नहीं हो सकता, वह विभाजित कर, विश्लेषण-संश्लेषण कर

ज्ञान प्राप्त करता है। सम्पूर्ण सत्य का बोध प्राप्त करने के लिए उनके अनुसार मन के या चेतना के उच्च धरातलों पर आरोहण करना होता है। व्यक्ति के लिए योग द्वारा ही यह आरोहण सम्भव है, वैसे श्री अरविन्द के अनुसार विश्वप्रकृति का भी यही विधान है कि वह मनुष्य से मन को अतिक्रम कराकर उसे मन के उच्च धरातलों को पार कराते हुए अतिमानस की ओर आरोहण कराये। किन्तु प्रकृति का यह कार्य समय-साध्य है और है अनिवार्य और अवश्यम्भावी। इसलिए श्रीअरविन्द के अनुसार मनुष्य चाहे तो योग द्वारा अतिमानस के अवतरण को यथाशीघ्र ही सम्भव बना सकता है। मनुष्य के स्तर पर प्रकृति ने जीवन-विकास की बागडोर उसी को सौंप दी है।

श्रीअरविन्द का विकासवाद डारविन की तरह केवल शरीर के विकास तक ही सीमित नहीं है। वे उसका उपयोग मन के धरातल पर भी सम्भव मानते हैं और उसे आरोहण, अवरोहण तथा संयोजन— इन तीन अवस्थाओं में क्रियाशील पाते हैं। ऊपर उठने के लिए मनुष्य में अभीप्सा होनी चाहिए, उसको उच्च स्थिति के लिए तत्पर देखकर ऊपर का दिव्य सत्य उस पर अवतरित होकर नयी सिद्धि में संयोजित हो जाता है। श्री अरविन्द के अनुसार सत्-चित्-आनन्दरूपी चैतन्य का उच्च त्रिदल ही क्रमशः अन्न-प्राण-मन के निम्न त्रिदल में अभिव्यक्त हुआ है—सत् अन्न या पदार्थ बन गया है, चित् मन या बुद्धि और आनन्द सुख-दुःख का भावबोध। उच्च त्रिदल ही की अभिव्यक्ति होने के कारण नीचे का त्रिदल ऊपर उठने की पूर्ण सम्भावना रखता है। इस प्रकार भीतर से मनुष्य-मन का रूपान्तर हो जाने के बाद उसके बाह्य जीवन-सम्बन्धी मूल्यों तथा धारणाओं में प्रकारान्तर उपस्थित हो सकता है।

श्रीअरविन्द की आध्यात्मिक उपलब्धि के परिणामस्वरूप ईश्वर को या दिव्य को इसी धरती पर अवतरित होना है, किसी व्यक्ति या अवतार के रूप में ही नहीं, प्रत्युत धरती का समस्त जीवन ही दिव्य जीवन या भगवत् जीवन में परिणत हो सकता है। ऐहिक और पारलौकिक में जो कभी न मिटनेवाला अन्तर या भेद था उसे श्रीअरविन्द की अतिमानस की चेतना मिटा देती है। यह समस्त सृष्टि तथा पृथ्वी का जीवन निरन्तर विकास की स्थिति में है और भगवत् ध्येय और भगवत् जीवन का ही अविच्छिन्न अंग है। एक को सत्य, दूसरे को मिथ्या कहना मानसिक बोध की सीमा तथा अज्ञान है।

इस प्रकार श्रीअरविन्द मानवभविष्य के लिए एक अत्यन्त उज्ज्वल, आशापूर्ण, मानवीय एकता से सम्पन्न, जीवन-समृद्ध दृष्टि दे जाते हैं। उनकी जीवन-दृष्टि का अनुसरण करने से इस धरती का जीवन ही स्वर्ग के जीवन में बदला जा सकता है। अतिमानस में मिथ्या, भ्रान्ति, दुःख, द्वेष, स्पर्धा आदि मानवीय अहंता सम्बन्धी दोष न होने के कारण, भविष्य के सिद्ध पुरुषों का जीवन सत्य से महत्तर सत्य की ओर, प्रकाश से महत्तर प्रकाश की ओर तथा श्रेय से महत्तर श्रेय की ओर अनायास अग्रसर हो सकेगा।

श्रीअरविन्द हमारे विराट् वैज्ञानिक युग के अध्येता तथा व्याख्याता हैं। जो युग अपनी आधिभौतिक सम्पदा में इतना सम्पन्न है वह प्राणों

तथा मन की सम्पदा में तथा सर्वोपरि आध्यात्मिक सम्पदा में भी उसी प्रकार पूर्ण तथा समृद्ध होकर इस देश-काल में बँटी—देशों, जातियों, धर्मों, सम्प्रदायों में विदीर्ण मानवता को एक अटूट-ज्ञान के आलोक-पाश में सदैव के लिए बाँधकर पृथ्वी पर मानवीय एकता का राज्य स्थापित कर सके, यही उनकी लोकमंगलकारी, विश्व-कल्याणकारी दृष्टि का आशय है। शुभमस्तु !

दार्शनिक अरविन्द की साहित्यिक देन

दार्शनिक, द्रष्टा, योगी और उच्च कोटि के कवि,···श्रीअरविन्द एक में अनेक और अनेक में एक हैं। सम्भवतः उन्होंने कहीं कहा है कि वह दार्शनिक और योगी से प्रथम कवि और राजनीतिज्ञ हैं। कवि वह राजनीतिज्ञ से भी पहिले रहे हैं और जब वह लन्दन में विद्याध्ययन करते थे तब से अन्त तक कविर्मनीषी बने रहे।

श्रीअरविन्द मुख्यतः अन्तश्चैतन्य के कवि हैं। उनके साहित्य का स्वर अत्यन्त उच्च, गम्भीर और व्यापक है। उन्हें सदैव और सर्वत्र सरलतापूर्वक समझ लेना सम्भव नहीं,— जब तक कि उनके चैतन्य के आलोक से आप परिचित न हों अथवा वह आपकी सहायता न करें। उन्होंने अपनी गूढ़ अरूप यौगिक अनुभूतियों को अपनी सूक्ष्म काव्यप्रतिभा से अनेक प्रकार की रचनाओं में मूर्त किया है। उनके प्रगीत, सानेट तथा 'सावित्री' के समान बड़ी रचनाएँ भी मुख्यतः भावपरक, प्रतीकात्मक तथा आत्मकथापूर्ण हैं, जिनमें उच्चतम मानसिक, अधिमानसिक स्तरों की प्रेरणाएँ छन्दलयध्वनियों की पूर्णता मे ढाल दी गयी हैं। उनकी आत्मकथा निःसन्देह उनकी उच्च, रहस्यपूर्ण यौगिक अनुभूतियों एवं उपलब्धियों की ही कथा है। श्रीअरविन्द ने अपनी रचनाओं में निराकार प्रकाश के देवों को जैसे वाणी का परिधान पहनाकर साकार कर दिया है। आप उनके साथ अनेक चैतन्यो के लोकों में विचरण कर शान्ति, सौन्दर्य, आनन्द और प्रकाश के सागर में डूब जाते है।

श्रीअरविन्द ने प्रेम और प्रकृति सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त मुख्यतः अन्तर्जगत के उच्च मानसिक स्तरों तथा आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी कविताएँ की हैं। कला-शिल्प में उनकी गहरी अन्तर्दृष्टि रही है। संस्कृत, ग्रीक और लैटिन के प्राचीन साहित्य के साथ ही पश्चिम की अन्य भाषाओं, विशेषतः, अंग्रेजी और फ्रेंच के प्राचीन-अर्वाचीन साहित्य के गहन अध्ययन एवं ज्ञान ने उनकी सौन्दर्यरुचि, कल्पना तथा कलादृष्टि को अत्यन्त मार्जित कर दिया था। उनका अपना आन्तरिक संस्कार भी इस दिशा में अत्यन्त विकसित था। उन्होने संस्कृत और बँगला में सम्भवतः थोड़ा-बहुत लिखा हो पर उनकी आत्माभिव्यक्ति का मुख्य माध्यम अंग्रेजी ही रही है और अंग्रेजी भाषा को उनकी उच्चतम प्रकाश और चैतन्य की रचनाएँ अमर और अनूठी देन हैं।

उनकी इंगलैंड में लिखी गयी छात्रावस्था की रचनाओं में भी भाषा

के निखार के साथ कवित्व एवं कला के प्रचुर उपकरण मिलते हैं, किन्तु कलात्मक पूर्णता ही उनके काव्य का ध्येय नहीं कहा जा सकता। कलात्मक पूर्णता के भीतर जो एक और समग्रपूर्णता—जिसे आत्मिक पूर्णता का ऐश्वर्य कह सकते हैं, जो उन्हें अपनी योगदृष्टि तथा साधना से प्राप्त हुआ—उसी को हम वास्तव में श्रीअरविन्द का काव्य-सौन्दर्य अथवा प्रकाशवैभव कह सकते है।

श्रीअरविन्द के प्रेमकाव्य में सौन्दर्य का पवित्र निखार, भावना की गहराई, सच्चाई और स्वाभाविकता मिलती है, उनमें प्राणों की ऊर्ध्व-मुखी उजली आग का स्पर्श मिलता है। उनकी प्रकृति सम्बन्धी कविताओं में प्रकृति के मातृरूप के दर्शन होते हैं। करुणा, ममता, स्नेहमयी भूतों की जननी, जिसे पाशविक क्रूरता छू तक नहीं गयी है। बाह्य प्रकृति के स्निग्ध मधुर रूप-रंग, श्रीसुषमा एवं गन्ध-ध्वनियों के मार्मिक वैचित्र्य का भी उन्होंने चित्रण किया, पर वे बाह्य निसर्ग को अन्तर्विश्व से पृथक् केवल छायाप्रकाश की चंचल सृष्टि के रूप में न देखकर उसे कवि के मनश्चक्षु से, विश्वविधायिनी शक्ति के रूप में, अपनी समग्रता में ही अधिक देखते हैं। उच्च अधिमानसिक तथा आध्यात्मिक स्तरों की रचनाएँ तो उनकी प्रतिभा का सर्वाधिक प्रतिनिधि कृतित्व है ही। ऊँची से ऊँची अलघ्य आध्यात्मिक उड़ान भरते हुए भी श्रीअरविन्द के पैर पृथ्वी से नहीं उखडते है। वह आध्यात्मिकता के शून्य आकाश में खो जाने में विश्वास नहीं करते थे, प्रत्युत उच्च शिखरों की प्रकाशमान अनुभूतियों को नीचे उतारकर उन्हें पृथ्वी की चेतना का अंग बनाकर मानव-जीवन को सम्पूर्ण, समृद्ध तथा सुन्दर बनाना चाहते थे।

मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त श्रीअरविन्द ने भर्तृहरि के 'नीति शतक' तथा कालिदास की 'विक्रमोर्वशी' का भी भावानुवाद किया है जिनमें मौलिक सौन्दर्य तथा रस मिलता है। 'सांग्ज ऑफ सी' उनका किया हुआ सी० आर० दास के 'सागर संगीत' का भावानुवाद है। ये तीनों अनुवाद Collected Poems and Plays के नाम से दो भागों में प्रकाशित उनकी कविताओं तथा नाटकों के वृहत् संकलन में मिलते हैं। इस संकलन में श्रीअरविन्द की सन् १९४२ में प्रकाशित और भी रचनाएँ सम्मिलित हैं। प्रथम भाग में Songs to Myrtilla के अन्तर्गत उनकी कुछ प्रारम्भिक रचनाएँ है जो उन्होंने केम्ब्रिज और लन्दन में १८९०-९२ के बीच लिखी थीं। इसी में ४-५ और भी रचनाएँ हैं जो उन्होंने १८९३ में भारत लौटने पर लिखी थी। 'उर्वशी' नामक वर्णनात्मक प्रेमकाव्य भी उन्होंने इन्हीं दिनों भारत आने पर लिखा था। Love and Death नामक रचना इसके कुछ ही काल बाद लिखी गयी थी, जो अत्यन्त प्रसिद्ध कविता है। Ahana and Other Poems के अन्तर्गत उनकी कुछ पाण्डिचेरी जाने से पहिले की और बाद को कविताएँ एकत्रित हैं।

दूसरे भाग में १९०२-१९१० तक की रचनाएँ हैं जब श्रीअरविन्द राजनीतिक कार्यों में व्यस्त थे। इनमें से कुछ रचनाएँ पहले Modern Review, Karma Yogin और Standard Bearer में प्रकाशित हो चुकी थीं। इस भाग की कुछ रचनाएँ पाण्डिचेरी में भी लिखी गयी हैं जिनमें 'सागर

संगीत' का अनुवाद भी है जो श्री चितरंजन दास के अनुरोध करने पर किया गया था। बंगाल में लिखी हुई श्रीअरविन्द के राजनीतिक काल की अनेक रचनाएँ उनके अव्यवस्थित जीवन के कारण खो गयी हैं। इनके अतिरिक्त १६२० और '३० के बीच की समस्त रचनाएँ, जो तब तक अप्रकाशित थीं, इस संकलन में नहीं आ सकी हैं।

उपर्युक्त संकलनों के अतिरिक्त अब श्रीअरविन्द की रचनाओं के और भी अनेक संग्रह प्रकाश में आ चुके है जिनमें Poems of the Past and Present, etc. हैं।

श्रीअरविन्द के योग तथा दर्शन ने संसार का ध्यान इतना अधिक आकर्षित कर लिया है कि उनकी महान् काव्यप्रतिभा की ओर ध्यान देने का अभी मनीषियों को अवसर ही नहीं मिल सका है। श्रीअरविन्द दार्शनिक के रूप में तो कवि है ही, उच्च कवि के रूप में भी ऋषि दार्शनिक हैं। उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति उनका 'सावित्री' नाम का महाकाव्य है जिसमें उन्होंने अपने समस्त दर्शन के योगामृत को प्रकाश और सौन्दर्य के कलश में भरकर विश्व को अमर भेंट के रूप में प्रदान किया है। सावित्री और सत्यवान की सामान्य-सी पौराणिक कथा को उन्होंने अपनी भागवत चेतना का अमृत पिलाकर अमृतत्व में परिणत कर दिया। 'सावित्री' श्रीअरविन्द के अन्तश्चैतन्य की स्फटिक शुभ्र वाणी का भागवत प्रासाद अथवा मन्दिर है। वह ज्ञानशक्ति तथा चैतन्य का आनन्दसिन्धु है : निश्चेतन से अतिचेतन तक छहरा हुआ विश्वसत्य की आरपार व्यापी गहनतम अनुभूतियों का अनिर्वचनीय अपार्थिव इन्द्रधनुषी सौन्दर्य सेतु है···जिसके सम्बन्ध में इस छोटी-सी वार्ता में कहना असम्भव है।

अन्त में उनकी रचनाओं के कुछ अंशों का अनुवाद प्रस्तुत कर इस वार्ता को समाप्त कर रहा हूँ। पहला अंश है उनके 'नील विहग' से—

मैं प्रभु के नभ का नील विहग, दिव्योच्च विपलता में जो स्थित,
मैं गाता सत्य मधुर के स्वर देवों के स्वर्दूतों के हित।
मैं मृत्युलोक से ज्वाला-सा उठता अनन्त में शोकरहित,
मैं पीड़ित मर्त्य धरारज पर बरसाता अग्निबीज हर्षित।

दूसरा अंश है 'अग्नि वधू' का—

ऐ अग्निवधू, मुझको कस ले, बाँहों में अग्निवधू उदार,
झर गये फूल के पार्थिव रँग, मैंने ममता को दिया मार!
आभाशोभे, आवृत कर ले, आभाशोभे, मेरा जीवन,
मैं तृष्णात्यागी, शोकमुक्त, कर सकता तेरा हर्ष वहन!
निःसीम नाद, मेरे उर में जग, ए केवल के आमन्त्रण,
अंकित कर उसमें चिर प्रकाश, जो मिटे न फिर जीवित पूषण।

अन्त में 'सावित्री' के तृतीय पर्व के द्वितीय सर्ग—भागवती माता की वन्दना—का एक छोटा-सा अंश सुनिए :

सम्पूर्ण विश्वप्रकृति मूकभाव से उसी को पुकारती है
कि वह अपने पदों से जीवन की दुखती हुई धड़कन का उपचार करे
और मनुष्य की धुँधली आत्मा पर मुद्रित चिह्नों को तोड़े
तथा पदार्थों के रुद्ध हृदय में अपनी आग सुलगाये।

एक दिन यह सबकुछ उसकी मधुरिमा का धाम बन जायेगा।
समस्त विरोध उसके सामंजस्य की तैयारी करते हैं,
हमारा ज्ञान उसी की ओर आरोहण करता है
हमारी कामना उसी को अन्धकार में खोजती है,
उसके अलौकिक आनन्दाधिक्य में हमारा अधिवास होगा,
उसका परिरम्भ हमारे दुःख को परमानन्द में बदल देगा।
हमारी आत्मा उसके द्वारा सबकी आत्मा से एक हो जायेगी
उसमें रूपान्तरित हो जाने के कारण उसी में प्रतिष्ठित होकर
हमारा जीवन अपने पूर्ण-काम उत्तर में
ऊपर, निःसीम मौन अपवर्गों को पायेगा,
नीचे, दैवी परिरम्भ का विस्मय !

पण्डित जवाहरलाल नेहरू

पण्डितजी को सबसे पहले निकट से देखने का अवसर मुझे सन् १९२१ में मिला जब मैंने कुछ अन्य छात्रों के साथ महात्माजी के आह्वान पर कॉलिज छोड़ा था। हममें से कुछ को 'इंडिपेन्डेन्स' नामक दैनिक की हस्तलिखित प्रतियाँ तैयार करने का काम सौंप दिया गया था। 'इंडिपेन्डेन्स', जो तब पण्डित मोतीलाल नेहरू की विचारधारा का प्रचारक मुख-पत्र था, ब्रिटिश सरकार ने जब्त कर लिया था। हम कुछ छात्र कार्बन पेपर की सहायता से उसकी चार-चार प्रतियाँ तैयार कर उसे वितरण के योग्य बनाते थे। सबेरे आठ बजे से बारह बजे तक हम लोग आनन्दभवन के एक बड़े-से हॉल में एकत्रित होकर—अब वह पुराना आनन्दभवन स्वराज्यभवन कहलाता है—गोलाकार मेज-कुर्सी अथवा डेस्कों की पाँति के सहारे उस लोकप्रिय पत्र की पाण्डुलिपि की नकल कर उसकी अनेक प्रतियाँ बनाने में जुटे रहते थे। पण्डितजी हम सबके बीच में मुँह से सिगरेट का धुआँ छोड़ते हुए एक बड़ी-सी मेज पर अपने काम में व्यस्त रहते थे। तब वे एक सुन्दर युवा थे और ओजस्वी व्यक्तित्व के अतिरिक्त उनके मुख से आभिजात्य गरिमा का सौन्दर्य निखरता था। हम लोग क्षण-भर अपना काम छोड़-कर बीच-बीच में उनकी एक झलक पा लेना पसन्द करते थे, जिनसे हमें प्रेरणा तो मिलती ही थी, घण्टों कलम घसीटने की थकान भी दूर हो जाती थी। कभी-कभी वे हमारे काम का निरीक्षण करने हम लोगों के पास भी आ जाते थे। उनके सौम्य मुख पर तब मन्द-मन्द मुस्कान खेलती रहती थी। सफेद खादी में परिधानित उनके छरहरे बदन तथा उनकी मुखाकृति का उज्ज्वल भावपूर्ण चित्र अब भी आँखों के सामने ज्यों-का-त्यों नाच उठता है।

इसके बाद पण्डितजी के सम्पर्क से मैं स्वराज्य मिलने के बाद ही आया। तब वे प्रधानमन्त्री बन चुके थे। उनके लॉन में चायपान के किसी आयोजन में मैं भी अपने भाई देवीदत्त के साथ पहुँच गया था। भाई से यह सुनकर कि मैं भी आजकल दिल्ली में हूँ, पण्डितजी ने सहज भाव से मुझे

भी चाय में सम्मिलित होने को कहला दिया था। भाई देवीदत्त बड़े उन्मुक्त स्वभाव के, पण्डितजी के मुँहलगे लोकसभा के सदस्यों में थे। मैं और वे उस दिन की चाय की एक ही मेज पर बैठे थे। पण्डितजी आमन्त्रित अतिथियों से मिलते हुए जब हमारी मेज के पास आये तो किसी ने उनसे मेरा परिचय कराया। उन्होंने हाथ मिलाते हुए कहा, 'मैं इन्हें जानता हूँ।' उसके बाद उन सज्जन ने देवीदत्त का परिचय देते हुए कहा, 'आप सुमित्रानंदनजी के बड़े भाई हमारी लोकसभा के सदस्य हैं।' मेरे भाई ने माथे पर हाथ लगाते हुए कहा, 'क्या खूब, यह तो खुदा का परिचय यह कहकर देना हुआ कि ये ईसामसीह के बाप हैं।' पण्डितजी अपनी हँसी नहीं रोक सके। ऐसी ही बातों से भाई पण्डितजी का मनोरंजन किया करते थे। एक बार पण्डितजी के उनसे कहने पर कि देवीदत्त, तुम भी अब डिप्टी मिनिस्टरी की कोशिश करो तो भाई तुरन्त बोल उठे—नहीं पण्डितजी, मैं तो अब एम० पी० से पी० एम० ही बनूंगा।

पण्डितजी को प्रधानमन्त्री होने के कारण कुछ विशेष अवसरों पर विशेष रूप से व्यवहार करना पड़ता था, पर उस सबमें भी उनका मानवीय पक्ष सदैव प्रबल रहता था। उनके व्यक्तित्व के दो गुण स्पष्ट झलक उठते थे, उनके हृदय का औदार्य और उनके मन का स्वाभिमान। पर्वतप्रदेश की प्रकृति का सौन्दर्य उन्हें बहुत आकर्षित करता था। मैंने उन्हें घण्टों अलमोड़े के निकट ही खाली नामक पण्डित की स्टेट में हरे-भरे लॉन पर लेटे-लेटे निसर्ग की शोभा का पान करते देखा है। वे एक उच्चकोटि के विचारक तथा महान् नेता तो थे ही, हृदय के किसी कोने में कवि भी थे।

सन् १९४८ में जब मैं लोकायन संस्कृति केन्द्र की योजना लेकर स्व० पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के साथ उनसे लोकसभा-भवन के कक्ष में मिला तब उन्हें यह योजना बहुत पसन्द आयी थी। उन्हें उसकी ओर आकर्षित होते हुए देखकर न जाने क्यों नवीनजी के मुँह से निकल गया—क्यों भई, लोकायन का 'लोकयुद्ध'[1] से तो कोई सम्बन्ध नहीं ? बस, पण्डितजी जैसे चौकन्ने हो गये, उनका उत्साह ठण्डा पड़ गया और उन्होंने विवरण-पत्र उठाकर रख दिया और उस सम्बन्ध में किसी प्रकार की भी सहायता देने की अक्षमता प्रकट की। मैंने उस सम्बन्ध में दुबारा उनसे अनुरोध करना उचित नहीं समझा। जब मैंने यह योजना बनायी थी तब श्रीअरविन्द-आश्रम के पुराणीजी ने मुझसे कहा था कि इसके लिए अभी समय नहीं आया। प्रयाग के अपने सहयोगियों का रुख देखकर मुझे उनकी बात सच्ची लगी।

पण्डितजी से मिलने के और भी अनेक अवसर आये, पर मैंने कभी उनके निकट आने का प्रयत्न नहीं किया। उनका जीवन स्वराज मिलने के बाद की अनेक समस्याओं से जूझने में अत्यन्त व्यस्त रहता था और मुझे भी अपनी मानसिक उलझनों से संघर्ष करते रहने के कारण इतना अवकाश तथा समय नहीं मिला कि मैं पण्डितजी के उदार व्यक्तित्व का सदुपयोग करता। वे तब से मुझे कम्युनिस्ट समझते रहे और पण्डित गोविन्दवल्लभ पंतजी से भी उन्होंने यह बात कही।

१. कम्युनिस्ट पार्टी का दैनिक।

पण्डितजी सन्त नहीं थे, एक संस्कृत-परिष्कृत व्यक्ति थे। वे युगद्रष्टा भी थे। उनके विचारों का धरातल उच्च और व्यापक था। और गांधी जी के व्यक्तित्व से उन्हें आस्था की गहनता का भी स्पर्श मिल चुका था। पण्डितजी के बारे में सोचने में सदैव ही मन में एक सुखद प्रतिक्रिया होती है। जिस रोज उनकी मृत्यु हुई, मैं रानीखेत में था। अचानक ही मेरे सामने एक शुभ्र सूक्ष्म आकृति प्रकट होकर पण्डितजी का स्मरण दिला गयी और मैं आश्चर्य में ही डूबा था कि होटल के मैनेजर ने आकर मुझे तभी रेडियो द्वारा घोषित उनकी मृत्यु का समाचार दिया। मेरा मन स्तब्ध रह गया—यही सम्भवतः उनसे मेरी अन्तिम भेंट थी।

नटराज उदयशंकर

विश्वविख्यात नर्तक श्री उदयशंकर से मेरा परिचय अल्मोड़ा में हुआ। १९४० में मेरे भाई असहयोग-आन्दोलन के कारण अल्मोड़ा जेल मे थे और कुंवर सुरेशसिंह भी अल्मोड़ा में ही एक बँगले में नजरबन्द थे। इन दोनों के समीप रहने की इच्छा से उस वर्ष मुझे भी अल्मोड़ा में प्रायः एक वर्ष तक रहना पड़ा और इसी समय मुझे पहली बार श्री उदयशंकर के संस्कृति-केन्द्र में जाने का शुभ अवसर प्राप्त हो सका। प्रकृति के एकान्त मनोरम क्रोड़ में उन्हें अपना संस्कृति-केन्द्र खोलने की प्रेरणा मिली, यह स्वाभाविक ही था। उदयशंकर, जिन्हें सब लोग दादा कहते हैं, वास्तविक अर्थ में सच्चे एवं महान् कलाकार हैं। सौन्दर्य के लिए उनके पास गम्भीर दृष्टि है और उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम उन्होंने नृत्य चुना। वैसे वे एक उच्चकोटि के चित्रकार भी हैं और चाहते तो अपनी सौन्दर्य-पिपासा को तूलिका के माध्यम से अनेक रंगों की छायाओं में बखेरकर भी तृप्ति प्राप्त कर सकते थे, किन्तु उनके भीतर प्राणतत्त्व इतना सबल रहा है कि अपने अन्तर्जगत के सौन्दर्योल्लास को जीवन-मूर्त करने के लिए उन्हें मानवदेह की शोभा का सजीव माध्यम तथा प्राणों की भंगिमामयी स्वर-संगति में नूपुरों की आवेशपूर्ण झंकार अधिक रुचिकर एवं उपयुक्त प्रतीत हुई। वे मूर्तिमान प्रतिभा हैं और उनका व्यक्तित्व भी तदनुरूप ही आकर्षक है। उनके हृदय में अविराम आनन्द-स्रोत बहता रहता है और वे उसे अपने कुशल, लाघवपूर्ण अवयव-संचालन द्वारा भावमूर्त वाणी देते रहते हैं।

उदयशंकर के पिता श्री श्यामशंकर चौधरी रियासत झालवाड़ (राजस्थान) के दीवान के पद को सुशोभित करते थे। वे स्वयं भी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् और भारतीय संस्कृति तथा संगीत के अनन्य उपासक थे। उदयशंकर की माताजी गाज़ीपुर की थीं। इस प्रकार बालक उदय-शंकर का बचपन बनारस और राजस्थान में ही अधिकतर बीता। झाल-वाड़ में वे धोबियों का नृत्य देखकर विशेष रूप से प्रभावित हुए। राज-स्थान तथा बनारस में उन्हें लोक-नृत्यों तथा संगीत-उत्सवों को देखने-सुनने का छुटपन में अनेक बार अवसर प्राप्त हुआ, जिनसे उनके भीतर

छिपा हुआ भावी नृत्यकार गम्भीर रूप से आन्दोलित होता रहा। उन्होंने मुझे बताया कि उनके भीतर जो अज्ञात आनन्द नृत्य करता रहता था उसे वे पहले अपने अंगों की वाणी में व्यक्त नहीं कर पाते थे, जिससे उनके मन में बड़ा असन्तोष रहता था। एक बार वे अपने कक्ष में लेटे हुए सामने रखी नटराज की मूर्ति को एकाग्र चित्त से देख रहे थे, तभी उन्हें सहसा प्रतीत हुआ कि उनके अंगों के जड़ता के बन्धन अपने-आप ही जैसे खुल गये और उनके अवयव अनेक ललित हावभाव भरी मुद्राओं में थिरक उठे। वे कुछ दिनों तक अपने कमरे में बन्द होकर नटराज की मूर्ति के समक्ष आत्म-विस्मृत एवं आनन्द-विभोर होकर बराबर नाचते रहे। उनके कर-पद्-संचालन में स्वयं ही एक स्वर-लय-संगति आ गयी और कुछ ही दिनों के एकान्त अभ्यास से उनमें आत्म-विश्वास पैदा हो गया।

चित्रकारी की ओर अपनी गहरी अभिरुचि के कारण वे किशोरावस्था में ही बम्बई में जे० जे० स्कूल ऑफ आर्ट्स में भरती हो गये और वहाँ के सम्पूर्ण पाठ्यक्रम को अर्जित करने में उन्होंने अपनी अपूर्व प्रतिभा दिखायी। वहाँ उनकी भेंट प्रसिद्ध कलापारखी सर विलियम रोथन स्टाइन से हुई, जिनसे प्रोत्साहन मिलने के कारण वे लन्दन में 'रायल एकेडेमी ऑफ आर्ट्स' में चित्रकला का विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए चले गये। वे प्रथम भारतीय थे जिन्हें वहाँ का स्वर्णपदक मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। लन्दन में उदयशंकर के पिता तब 'लिकन इंस' में बैरिस्टरी करते थे। वे संस्कृत के महान् पण्डित तो थे ही, धर्म में भी गम्भीर अन्तर्दृष्टि रखते थे। अमरीका में जो पहली धार्मिक सभा हुई थी उसमें स्वामी विवेकानन्द के साथ वे भी सदस्य के रूप में निर्वाचित होकर गये थे। वे भारतीय नृत्य, कला और संगीत के भी मर्मज्ञ थे और लन्दन में समय-समय पर सांस्कृतिक पर्व आयोजित करते रहते थे। एक ऐसे ही उत्सव में उदयशंकर उन दिनों श्रीकृष्ण की भूमिका में उतरे थे। भारतीय वेश में विभूषित, उनकी नृत्यचपल अंग-संगति का दर्शकों पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। सौभाग्यवश उस प्रदर्शन को देखने उस समय वहाँ प्रसिद्ध रूसी नर्तकी अना पावलोवा भी आयी हुई थीं। वे उदयशंकर की भाव-व्यंजना एवं अंग-लाघव देखकर ऐसी मुग्ध हुईं कि उन्होंने उदयशंकर के सहयोग से राधाकृष्ण का नृत्य मंच पर प्रस्तुत किया। और भी कुछ नृत्य उन दोनों ने लन्दन में दिखाकर दर्शकों का प्रभूत रूप से मनोरंजन किया। एक ही रात में उदयशंकर प्रसिद्ध भावी चित्रकार से प्रसिद्ध भावी नर्तक में परिणत हो गये। पावलोवा ने अपनी कला-सूक्ष्म दृष्टि से सहज ही पहचान लिया कि उदयशंकर में चित्रकार से भी महान् नृत्यकार छिपा हुआ है।

लन्दन में नर्तक के रूप में उपस्थित होने के उपरान्त उदयशंकर चित्रकारी छोड़कर पेरिस चले गये और वहाँ उन्होंने मंच-सम्बन्धी अपने ज्ञान की अभिवृद्धि की। वेश-भूषा, रंग-सज्जा, प्रसाधन-विधि, प्रकाश आदि का वितरण सम्बन्धी अनुभव प्राप्त कर वे भारतीय नृत्य के पुनरुत्थान के लिए अपने जीवन को अर्पित करने के लिए भारत लौट आये। यहाँ उन्होंने दक्षिण भारत के गुरु शंकरन नम्बूदरी की सहायता से कथा-

कली नृत्य का अभ्यास कर अपनी एक स्वतन्त्र नृत्य-मण्डली बनायी और कथाकली नृत्य को आधार बनाकर उसमें अपने पश्चिमी नृत्य-बोध, भाव-व्यंजना, प्रदर्शन-कला तथा रंग-प्रतिभा का पुट देकर उदयशंकर-पद्धति के नृत्य को जन्म दिया।

अपनी नृत्य-मण्डली को लेकर उदयशंकर ने यूरोप और अमरीका का भ्रमण किया और अनेक नगरों एवं मंचों पर अपनी नृत्य-कला का प्रदर्शन कर विश्वख्याति प्राप्त की। फिर तो वे भारतीय नृत्य-कला का प्रतिनिधित्व ही करने लगे और अनेक बार यूरोप और अमरीका के रंगमंचों को अपने नृत्य-संगीत से मुखरित कर उन्होंने महान् कीर्ति अर्जित की। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी उनकी नृत्य-कला की बड़ी प्रशंसा की और उन्हें पश्चिम में भारतीय नृत्य का प्रवर्तक माना। सन् १९३६-३८ के आस-पास वे फिर भारत लौट आये। अब उनका शुभ्र यश समस्त संसार में फैल चुका था। भारत लौटने पर उन्होंने अपने प्रशंसकों और विशेष कर कलामर्मज्ञ एल० के एल्महर्स्ट की सहायता से एक ऐसे संस्कृति-केन्द्र की स्थापना करने का निश्चय किया जिसमें भारतीय शास्त्रीय नृत्य के अतिरिक्त लोकनृत्य, संगीत, चित्र तथा चलचित्र-कला के उत्थान तथा शिक्षा-दीक्षा का भी समुचित प्रबन्ध रहे।

अनेक स्थानों में भ्रमण करने के बाद उन्होंने इसके लिए अलमोड़ा को चुना, जहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य की एकान्त पृष्ठभूमि उन्हें कला-मन्दिर के लिए सब प्रकार से उपयुक्त प्रतीत हुई। उन्होंने अपना कला-केन्द्र प्रारम्भ में सिटोली की वनानी में किराये के मकानों तथा नृत्य-कक्षों में बसाया, किन्तु बाद में उत्तरप्रदेश सरकार ने उन्हें सिमतोला की समूची पहाड़ी इसके लिए अनुदान-स्वरूप दे दी। सिमतोला अल्मोड़े के सौन्दर्य-स्थलों में है। अमरीका से उदयशंकर के संस्कृति-केन्द्र को मिलने-वाली आर्थिक सहायता यदि द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण बन्द नहीं हो जाती तो निश्चय ही आज सिमतोला अपनी क्रोड़ में कला-केन्द्र के विशाल प्रासाद एवं रंग-कक्षों के सौन्दर्य को धारण कर अपने को गौरवान्वित अनुभव करता। किन्तु महान् कलाकार का यह स्वप्न काल के एक ही झटके से छिन्न-भिन्न होकर टूट गया। यद्यपि उत्तरप्रदेश सरकार पाँच सहस्र मुद्राओं का मासिक अनुदान कला-केन्द्र को देती थी, तथापि निःशुल्क होने के कारण तथा छात्र-छात्राओं के भोजन-वास का भार भी उसी पर होने के कारण संस्कृति-संस्थान का व्यय मुख्यतः अमरीका की सहायता से ही चलता था और उसके बन्द हो जाने के कारण १९४३ में केन्द्र बन्द कर देना पड़ा।

१९३९ से १९४२ तक के अपने स्वल्प जीवन में इस संस्कृति-केन्द्र ने शान्तिनिकेतन की ही भाँति अनेक कला-प्रेमियों एवं मर्मज्ञों को अपने चतुर्दिक एकत्र कर लिया था। कथाकली के प्रसिद्ध गुरु शंकरन नम्बूदरी, मणिपुरी नृत्य के गुरु अमोबीसिंह तथा भरत नाट्यम् के गुरु कन्दप्प पिल्लई के साथ ही वाद्यसंगीत सिखाने के लिए उस्ताद अलाउद्दीन खाँ तथा संगीतनिर्देशक विष्णुदास शिराली केन्द्र को नवीन जीवन एवं कला वैभव प्रदान करते रहे। इनके अतिरिक्त अनेक प्रसिद्ध वाद्यकार, नृत्य-कार, स्वयं उदयशंकर के भाई राजेन्द्रशंकर, रवीन्द्रशंकर, देवेन्द्रशंकर, जो

सभी प्रतिभासम्पन्न एवं कलामर्मज्ञ वादक तथा नर्तक रहे हैं तथा प्रसिद्ध नर्तकियाँ सिमकी, जोहरा, उजरा, अमलानन्दी आदि अनेक सम्भ्रान्त महिलाएँ भी संस्थान की शोभा बढ़ाती रहीं। अमलाशंकर ने १९४१ में श्री उदयशंकर की पत्नी का स्थान ग्रहण कर लिया। देश-विदेशों के अनेक कला-प्रेमी प्रति वर्ष अल्मोड़ा आकर कला-केन्द्र से प्रेरणा ग्रहण करते थे। यह कलापारखियों का तीर्थ-स्थान ही बन गया था। इन पंक्तियों के लेखक को भी इस केन्द्र के निकट सम्पर्क में आने एवं इसका अंग बनने का सौभाग्य प्राप्त हो सका और अनेक प्रकार के नृत्यों, वाद्यों, वेश-भूषाओं एवं प्रदर्शनों का सौन्दर्यरस पान करने का अमूल्य अवसर प्राप्त कर वह अपनी कला-पिपासा को सांस्कृतिक शोभा के वातावरण में परितृप्त कर सका।

केन्द्र के कार्य के समापन के बाद श्री उदयशंकर ने मद्रास में अपने प्रसिद्ध वाक्-चित्र 'कल्पना' का निर्माण किया जिसमें उन्होंने संगीत और नृत्य के एक अनुपम उत्सव की सृष्टि की है। इस चित्र को विदेशों में बड़ी प्रसिद्धि मिली है। तदनन्तर उदयशंकर पश्चिम बंगाल राज्य की संगीत-नाटक अकादमी में दो-एक वर्ष के लिए नृत्य विभाग के अध्यक्ष के रूप में उसका निर्देशन करते रहे। उसके उपरान्त वे अपनी नवीन नृत्य मण्डली के साथ अनेक बार यूरोप और अमरीका हो आये हैं और सर्वत्र उनको पूर्ववत् स्वागत-सम्मान तथा कीर्ति मिली है। बुद्धशती के अवसर पर 'भगवान बुद्ध' शीर्षक उनका वाद्य-नृत्य (बैले) अत्यन्त सफल रहा। टैगोर शती के अवसर पर गुरुदेव की 'सामान्य खति' कविता पर आधारित उनका 'बैले' बड़ा मनोरंजक है। हाल ही संगीत-नाटक अकादमी ने उन्हें 'फ़ेलो' बनाने का गौरव प्राप्त किया है। इस समय वे अमरीका, कनाडा आदि देशों में नृत्यप्रदर्शन के बाद अब यूरोप को अपनी कला का आनन्द प्रदान कर रहे हैं।

उदयशंकर आधुनिक भारतीय नृत्य के अग्रणी प्रवर्तक हैं। उनके बाद जो भी नृत्य-मंच पर आये हैं उन्होंने उदयशंकर के ही कला-प्रदर्शन का प्रयोग तथा अनुसरण किया है। भारतीय नृत्य में आधुनिक 'बैले' का प्रयोग उन्होंने सर्वप्रथम किया। उनके नृत्यों में किरातार्जुनीयम्, इन्द्र, शिव-ताण्डव, कार्तिकेय, रास आदि सर्वाधिक सफल हुए हैं। उनके 'लेबर एण्ड मशीन' तथा 'रिद्म ऑफ लाइफ' भी प्रगतिशीलता एवं कलाकौशल की दृष्टि से अत्यन्त प्रसिद्ध हुए हैं। रामलीला का छाया-नृत्य एक महान् प्रतिभा की कृति है, जिसे देखकर दर्शक विमुग्ध हो उठता है। श्री उदयशंकर के अनेक लोक-नृत्य, सँपेरा, 'कुमायूँ ग्रास कटर्स' आदि बड़े मनोरंजक सिद्ध हुए हैं।

उदयशंकर भारत की महान् प्रतिभाओं में हैं, अपनी उच्चकोटि की सृजन-शक्ति, अश्रान्त कार्यदक्षता, गम्भीर कला-दृष्टि तथा मौलिक प्रेरणा से उन्होंने भारत के ही नहीं, समस्त विश्व के कलाकारों की श्रेणी में अपने लिए एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। वे अमर-सौन्दर्य-विधायक नृत्यकार हैं, जिन्होंने विश्व-जीवन एवं प्रकृति के विराट् उल्लास के मर्ममधुर छन्द का अनुभव किया है और उसकी अविराम लय-गति

को अपने जीवन में अभिव्यक्ति दी है। उदयशंकर का साहचर्य मेरे लिए अविस्मरणीय रहेगा।

मेरी विदेश-यात्रा

सोवियत भारतीय सांस्कृतिक मैत्री संघ के निमन्त्रण पर मैं अक्टूबर के दूसरे सप्ताह में रूस गया था। १३ तारीख को प्रातः दिल्ली से चलकर हम दिन के प्रायः १२ बजे तासकन्द पहुँच गये थे। तासकन्द में उपर्युक्त समाज की एक शाखा है, जिसके मन्त्री ने हमारा हवाई जहाज के अड्डे पर स्वागत किया। उनके अनुरोध पर हम एक दिन के लिए तासकन्द ही में ठहर गये। विदेशियों के रहने के लिए जो उनका होटल था, उसमें मैं और मेरे साथ श्री ओमप्रकाश (राजकमल प्रकाशन) ठहराये गये। भोजन के उपरान्त तीसरे पहर हमें वहाँ का नगर, पार्क, संग्रहालय और छात्रवास दिखलाये गये। शाम को हमने उनके थियेटर पर लोकनृत्यों का कार्यक्रम भी देखा। तासकन्द विशेषतः अपने रुई के खेतों तथा फलों के लिए प्रसिद्ध है। वहाँ के लोग अपने देश के लोगों से तथा वहाँ की भाषा भारतीय भाषा से, विशेषतः उर्दू से थोड़ी-बहुत मिलती है। लोग स्वस्थ तथा प्रसन्न और भारत के लिए मैत्रीपूर्ण हैं। उनके अधिक दिन ठहरने के अनुरोध को टालकर हम दूसरे ही दिन सबेरे चलकर दिन को मास्को पहुँच गये। मास्को में भी अनेक हिन्दी-प्रेमी मित्रों तथा सोवियत भारतीय सांस्कृतिक संघ के मन्त्री ने हमारा हवाई अड्डे पर अत्यन्त सौहार्द्रपूर्ण अभिनंदन किया। और उसके बाद हमें केन्द्रीय नगर से प्रायः २४-२५ मील दूर विदेशियों के होटल में ठहरा दिया गया। पार्टी-कांग्रेस की तैयारियों के कारण तब केन्द्रीय होटलों में स्थान नहीं रह गया था। दूसरे दिन सबेरे हम मैडम जुयेवा से मिले, जो उपर्युक्त सांस्कृतिक संघ की उपसभानेत्री हैं। सभापति महोदय तब मास्को में नहीं थे। मेडम जुयेवा ने हमारा स्वागत किया और मास्को-भ्रमण का कार्यक्रम भी निर्धारित कर दिया। मास्को में हम दो दिन रहे और हमने वहाँ के मुख्य संग्रहालय, नाटक-नृत्य-केन्द्र, कला भवन, मास्को विश्वविद्यालय आदि देखे। वहाँ के लेखकों के संघ ने भी हमारा अभिवादन किया और सोवियत भारतीय मैत्री के स्थायित्व पर उन्होंने अपना विश्वास प्रकट किया। सोवियत रूस में मेरी कविताओं का अनुवाद हो चुका था, इसलिए लेखकों एवं कवियों की गोष्ठी में कविताएँ पढ़ी गयीं। तीसरे रोज हम लेनिनग्राद देखने चले गये और दो दिन वहाँ के विशेष स्थानों को देखकर तथा वहाँ के लेखकों से मिलकर तीसरे दिन सीधा मास्को होते हुए पश्चिमी जर्मनी चले गये। वहाँ फ्रैंकफर्ट में हम लोग अन्तर्राष्ट्रीय पुस्तक प्रदर्शनी का निरीक्षण करते हुए अनेक देशों के प्रकाशकों तथा लेखकों से मिले। उसी बीच डा० राधाकृष्णन् को प्रकाशक संघ की ओर से जो शान्ति-पुरस्कार मिला, उस उत्सव में भी मैं उपस्थित था। प्रदर्शनी में डा० राधाकृष्णन् से मिलने का भी अवसर मिला, जो वहाँ भारतीय पुस्तकों के कक्ष का निरीक्षण करने

गये थे। चार-पाँच दिन फ्रैंकफर्ट में रहने के उपरान्त हम वहाँ से पेरिस चले गये। पेरिस का नगर बड़ा सुन्दर है। नगर देखने ही में चार-पाँच दिन लग गये। वहाँ प्रोफेसर मेल के साथ विशेष रूप से साहित्यिक चर्चा होती रही। यूनेस्को के भवन में भी कुछ विशिष्ट व्यक्तियों से भेंट हुई। फ्रांस में प्राय: एक सप्ताह रहकर तथा वहाँ के कलाकारों की मैत्री का उपभोग कर हम लोग अक्टूबर अन्तिम सप्ताह में लन्दन पहुँच गये। वहाँ अनेक भारतीय मित्रों से भेंट हुई। बी० बी० सी० से भी मेरी तीन वार्ताएँ एवं भारतीय साहित्य सम्बन्धी इन्टरव्यू प्रसारित हुई। लन्दन नगर मुझे विशेष आकर्षक प्रतीत नहीं हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि पश्चिमी देशों को देखने के लोभ से ही मैंने रूस का सांस्कृतिक निमन्त्रण स्वीकार किया था। पर पश्चिम में सांस्कृतिक ह्रास के चिह्न स्पष्टत: दिखायी दिये। लोगों में आशंका, भय तथा कुण्ठा है, और है राष्ट्रीय दर्प, जो विश्वशान्ति की दृष्टि से घातक प्रतीत हुआ। पश्चिमी देशों का भ्रमण कर मुझे सांख्यकार का स्मरण हो आया, जिन्होंने सत्य को प्रकृति-पुरुष मेंविभाजित कर प्रकृति को अन्धी तथा पुरुष को पंगु बतलाया है। वास्तव में आज प्रकृति और पुरुष के प्रतिनिधि पश्चिम तथा पूर्व (भारत) एक दूसरे से पृथक् रहकर अपूर्ण ही हैं। मानवता के कल्याण के लिए इन दोनों का मिलन नितान्त आवश्यक हो उठा है—जिससे भारतीय अध्यात्म पश्चिमी सभ्यता को लक्ष्य तथा दृष्टि दे सके और पश्चिमी सभ्यता भारतीय अध्यात्म को पृथ्वी पर मूर्त करने के लिए प्राणवत्ता, सुसंगठन तथा वैज्ञानिक साधन दे सके, जिनके बिना पूर्व पंगुवत् है। लन्दन में प्राय: एक सप्ताह रहकर और विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक विषयों पर विचारों का आदान-प्रदान कर हम लोग ४ तारीख को फिर मास्को पहुँच गये, और वहाँ ७ तारीख को रेडस्क्वायर पर क्रान्ति-दिवस का प्रभावशाली उत्सव देखकर ९ तारीख को मैं दिल्ली लौट आया।

रूस में तो मैं अतिथि था, पर यूरोप तथा लन्दन में मुझे भारतीय दूतावासों के कारण बड़ी सुविधा मिली। विदेश-भ्रमण से मेरा ज्ञान-संवर्धन हुआ। आधुनिक सभ्यता के प्रति मेरे जो विचार थे उन्हें दुहराने का अवसर मुझे इस यात्रा में मिल सका!

फूल

फूल मुझे बचपन से ही बहुत अच्छे लगते हैं। वसन्त और शरद ऋतु में जब पहाड़ों की घाटियाँ सहस्रों रंगों के सम्मोहन में चहक उठती थीं, तब मन के उल्लास को रोकना कठिन हो जाता था, और शरद ऋतु में तो हरी-भरी मखमली घाटियों के सुनहले अन्धकार में ये रंग-बिरंगे फूल सैकड़ों दीपों की तरह एकटक जल उठते थे और इनकी चटकीली आभा से पर्वत-उपत्यकाएँ जगमगा उठती थीं। कैसे आनन्द के थे वे क्षण! पहाड़ों की चोटियों से अनेक वर्णों की वेणियों की तरह लटके हुए फूलों के हँसमुख, कोमल, रंग-फेन झरने मन के कानों में अपना नि:स्वर संगीत भरते रहते थे, उनकी बनैली तीव्र भीनी मद-मिश्रित गन्ध से नासारन्ध्र

तिलमिला उठते थे। और ऊँचे-ऊँचे वनदेवी के प्रासाद के स्तम्भों-से खड़े पीले फूलों के वृक्षों की शोभा तो कही ही नहीं जा सकती, जैसे वनानी अपनी चम्पई फूलबाहें उठाये अपने आनन्दपाश में क्षितिज को बांधकर आकाश को छू लेना चाहती हो। मुझे लगता जैसे मेरे किशोर मन को बहलाने के लिए प्रकृति चारों ओर रंगों का उत्सव मना रही हो।

बुरूश जिसे ह्रोडोडंड्रम कहते हैं, वह कुमाऊँ की पहाड़ियों का विशेष शृंगार है। इसका बड़ा मधु के छत्त-सा फूल, जो कई फूलों का बना होता है, अपने तारुण्य के पावक से जैसे पर्वत-शिखरों को प्रेम के आवेश में सुलगाता रहता है। हम लोग छुटपन में घास के खोखले डण्ठलों से बुरूश के तुरहीनुमा फूलों के प्यालों से शहद पीकर हँसी के ठहाके लगाया करते थे। बुरूश का फूल साधारणतः गहरे लाल रंग का होता है पर कहीं-कहीं इसके नीले फूल भी घने जगंलों के भीतर गेंदों की तरह लटके मिलते है। मुकुटधारी बुरूश को मैं पहाड़ी फूलों का राजा कहूँगा, यह एक तरह से हमारा पहाड़ी पलाश है, रंग में उससे अधिक गहरा और सम्भवत: प्रभाव में भी उससे अधिक मादक, यद्यपि पलाश के वर्ग से इसका दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। बुरूश के अतिरिक्त पइयाँ (जंगली चेरी) का फूल भी पहाडियों को अपने फालसई सौन्दर्य से एक परीलोक बना देता है। पइयाँ छोटे-छोटे गुच्छों में फूलता है। इसकी पँखुरियाँ जल्दी ही बिखर जाती हैं और अपने हलके बैंगनी पंख खोलकर हवा में उड़ती हुई ऐसी लगती है जैसे आसमान हलकी-हलकी फूहियों के रूप में धरती पर उतर रहा हो, और लगता जैसे आकाश पहाड़ों की चोटियो पर टँगा नीला रेशमी चँदोवा न होकर कोई बहुत बडा नीला फूल हो— किसी अदृश्य डाल पर लटका, जिसकी पंखड़ियाँ झर-झरकर बचपन की हथेलियों को भर देती थी।

कुंज के सफेद फूल तो कुमाऊँ की पहाड़ियों की कीर्तिपताकाएँ हैं— इन्हें आप सेवती का छोटा भाई समझिए। कुंज के फूलों के जंगल के जंगल फव्वारों की तरह गोलाकार उठकर धरती पर झुक-झुक पड़ते हैं।

ऐसे अनेक अनाम-गोत्रहीन पुष्पों की बीथिकाओं में भटकता तथा उनकी अरूप सौरभ की तीव्रता से छटपटाता हुआ मेरा किशोर मन सहज ही फूलों का प्रेमी बन गया। जब मै बड़ा हुआ तो फूलों के सौन्दर्य की एक गहरी तह मेरे भीतर जमकर जीवनशोभा का एक अंग ही बन चुकी थी और मैं फूलों का तो नहीं फूलो के स्वप्नो का व्यापारी ही बन गया। तब से जहाँ कहीं भी मैं रहा हूँ मेरे पास फूलो की एक छोटी-सी वाटिका अवश्य रही है जिसमे कई स्थायी फूलपौधों तथा लताओं के साथ मौसमी फूलों की भी सुहावनी क्यारियाँ रही है। इन मौसमी फूलों की शोख चटक मन को कभी उदास नही होने देती इनकी पंखुरियो में इस धरती के जीवन के प्रति जो अनुराग की भावना अंकित रहती है वह प्राणो में रस का संचार करती रहती है। इनके बारे मे मैने 'ग्राम्या' में लिखा है—

रंग - रंग के खिले फ्लॉक्स, वरवीना, छपे डियांथस,
नत दृग एंटिह्निनम, तितली-सी पेंजी, पॉपी सालस;
हँसमुख कैंडीटफ्ट, रेशमी चटकीले नैशटरशम,
खिली स्वीट पी,—एवंडस, फिल बास्केट औ ब्लू बॅटम।

दुहरे कार्नेशंस, स्वीट सुलतान सहज रोमांचित,
ऊँचे हॉलीहॉक, लार्कस्पर पुष्प स्तम्भ से शोभित।

मौसमी फूलों के अलावा—जो मेरी 'ज्योत्स्ना' नामक नाटिका में पात्र बनकर आते हैं—इधर मेरे बाग में स्थायी पौधों तथा लताओं में चार प्रकार की रुक्मिणी हैं, जिन्हें इक्ज़ोरा कहते हैं। लाल सिन्दूरी रंग की रुक्मिणी तो बाग की शोभा है ही, पीले और गुलाबी रंग की रुक्मिणी भी अपनी विशेषता रखती है। पीले रंग की रुक्मिणी तो हलकी गहरी अनेक छायाएँ अथवा रंग बदलती है। उसमें लाल रुक्मिणी का-सा आवेश नहीं है पर उसमें एक सन्तुलन और शील है जो उसे बहुत प्यारा बना देता है। सुफेद इक्ज़ोरा भी मन में अपने निर्मल चरित्र की छाप छोडता है। कामिनी, जिसे इन्द्रबेला भी कहते है, सौम्य भद्र महिला की तरह अपनी भीनी महक से अभिजात संस्कृति का परिचय देती है। पीले फूलों की अलमाण्डा—इसे लतिकाओं का शृंगार ही समझिए। इसका फूल जैसे प्रबुद्ध चेतना का प्रतीक है—हृदय खोलकर आपसे मिलता है। यह वर्षा तथा शरद ऋतु में फूलता है। हलके नीले रंग की पेट्रिया—इसकी मंजरी छोटे-छोटे फूलों से भरी बडी सुन्दर लगती है, जैसे वसन्त में धरती को रोमांच हो आया हो—नीला रोमाच, जो स्नेह की व्यापकता का द्योतक है। नीले और पीले पैशनफ्लावर के लता मण्डप--इनका भी विशेष सौन्दर्य है—चौड़े घडीनुमा फूल, बीच में गोल हथेली पर सूइयाँ उगाये हुए। जैसा कि इनके पैसना फ्लोरा नाम से ही विज्ञापित होता है ये प्रणय की उत्कण्ठा के प्रतीक हैं, जो इनके चौडे सबल व्यक्तित्व से खूब झलकता है। क्लोरोडंड्रम की लता भी वाटिका में नवीन प्राणों का संचार करती है। इसके फूलों का तीव्र रक्त-वर्ण अपने भीतर एक आग छिपाये हुए है—इसके रंगों की कर्कशता भी अपनी सुन्दरता रखती है। वधूलता, जिसे ब्राइडल क्रीपर कहते हैं—शरद में फूलती है। दूध के फेन से इसके कोमल सफेद फूलों के गुच्छों मे एक क्वाँरी पवित्रता मिलती है—जैसे ये फूल शरदचाँदनी का शृंगार करने के लिए ही बनाये गये हों।

और भी अनगिनती पौधे तथा लताएँ हैं—जिनमें मालती का शुभ्र भीना हास अविस्मरणीय है। वधूलता की तरह इसके फू ों में भी एक सौकुमार्य होता है। मधुमाधवी जिसके श्वेत पुष्पस्तवक सूर्यकिरणों का स्पर्श करते ही लज्जा मे आरक्त हो उठते हैं—हंसकली (हनीसकल) जिसकी कलियों की भीनी महक तथा अनेक रंगच्छायाएँ अपनी विशेष सुषमा रखती है, ये भी मेरी प्रिय लताओं में हैं। बगनबेलिया तो बहुत साधारण समझी जाती है। पर इसके भी कुछ प्रकार--विशेषत: श्वेत नील और पाटल—उपवन की शोभा ही बढाते हैं। नारंगी लता के फूल समूचे लतामण्डप को ढँककर अपने वैभव बाहुल्य के कारण विशेष महत्व रखते हैं। बिगोनिया ग्रेसिया के पीले फूलों के गुच्छों से लतिका की सुकुमार अंग-भंगिमा कहीं अधिक आकर्षक होती है जो मकान से चिपकी हुई हरे झरने के प्रपात की तरह प्रतीत होती है। इस प्रकार की अनेक गुल्म-लताएँ मुझे विशेष प्रिय हैं। देशी फूलों में सोनजुही तथा सोन चमेली की लताएँ अपने सुनहले आभरणों में आकर्षक प्रतीत होती हैं। बेला, चमेली, जुही, निवारी के स्नेहाक्त गन्ध से भरे रुपहले फूल दृष्टि

के लिए सात्विक प्रीतिभोज उपस्थित करते हैं। और बाग का सर्वाधिक तेजस्वी पुष्प, फूलों का राजकुमार गुलाब—उसके बारे में तो थोड़े में लिखना असम्भव है—उसकी अनेक भंगिमाएँ, अनेक स्वरूप तथा आकृतियाँ हैं…एक से एक सुन्दर। मुझे सबसे अधिक प्रिय पीस तथा परफेक्टा गुलाब हैं। पीस रोज का सौन्दर्य तो अपनी उत्फुल्लता, पवित्रता, के शुभ्रवर्णमैत्री आदि अनेक विशेषताओं के कारण किसी दिव्यांगना के अछूते यौवन-भार के समान मनोमुग्धकर है। यदि शास्त्रीय दृष्टि के कमल को फूलों के जगत् का गौरव-सम्राट् कहा जाय तो गुलाब या पाटल को निःसन्देह, वानस्पतिक प्रणय, सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य का रूमानी बादशाह ही कहना ठीक होगा—जो सिर पर काँटों का ताज धारण किये हुए है।

फूल धरती की प्रार्थना हैं, जिनके द्वारा वह अपने मन के भावों को समर्पित करती है। फूलों का प्रेम शान्ति तो देता ही है, वह आनन्द-मंगल और सृजन-प्रेरणा में भी सहायक होता है। फूलों का साथ मुझे सदैव प्रिय रहेगा।

राजू

उसके आने की कभी कोई बात ही न थी, एक दिन बहन जब विश्वविद्यालय से लौटकर आयी तो उसके एक हाथ में पाठ्य-पुस्तकें और दूसरे हाथ में एक प्लास्टिक की टोकरी थी, जिसमें एक हलका-सा ऊनी शाल साँस ले रहा था, जो उसने मेरे हाथ में थमा दी थी। मैं जब उस साँस लेती हुई टोकरी की ओर ध्यान से देखने लगा तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। बहन कभी युनिवर्सिटी से घर आती बार रास्ते से मिठाई, फल, बिस्कुट, चीज़ या चाय-कॉफी आदि, घर के काम की चीज़ें, खरीद लाती—पर ऐसी फेफड़ों से साँस खींचती टोकरी लाते उसे कभी नहीं देखा था। मैंने सोचा शायद पड़ोस के बच्चों को देने के लिए कोई रबर का गुब्बारा या खिलौना लायी हो जिससे धीरे-धीरे हवा निकलने के कारण टोकरी का कपड़ा प्राणायाम-सा करता प्रतीत हो रहा हो। पर इतने में बहन रिक्शा-वाले के पैसे चुकाकर खुशी से किलकारी मारती हुई-सी बोली—जरा शाल की परत उठाकर तो देखो, क्या लायी हूँ! मैं उसके अप्रकाशित उल्लास को समझने की कोशिश कर ही रहा था कि उसने कहा—क्या बताऊँ, मेरी कलीग मानी ही नहीं, यह खिलौना उसने जबरदस्ती मुझे पकड़ा दिया।

मेरी बहन को सन्देह था कि शायद मैं इस तरह के एक सजीव खिलौने का घर में आना या उसका भार अपने ऊपर लेना पसन्द न करूँ क्योंकि मुझे अपने ही काम से फुर्सत नहीं रहती—ऐसा शौक तो वे करते हैं जिन्हें कुछ करने को नहीं होता और जिनके अवकाश का सूनापन उन्हें खाने दौड़ता है। मैंने कुछ आश्चर्य, कुछ झुंझलाहट के साथ बहन की पहेली को समझने के अभिप्राय से चादर की परत उठाकर देखना चाहा तो बहन ने उसे पुकारना शुरू किया—राजू! राजू! मेरी कलीग की लड़की टप्पी

ने इसे राजू ही नाम दिया है। वह इसे बेहद प्यार करती है और दूसरे-तीसरे इसे देखने भी आयेगी। उसने कहा—तुम्हें भी तो टप्पी अच्छी लगती है—चलो, टप्पी और राजू दोनों तुम्हारा मनोरंजन करेंगे।

राजू एकदम रूई की पूनी-सा सफेद था—उसके माथे पर कत्थई रंग का धब्बा सुन्दर लगता था। पूंछ में भी कत्थई रंग के छल्ले-से बने थे। वह शायद सोया हुआ था, मैंने जैसे ही उसे उठाकर छाती से चिपकाया तो वह बिना आँखें खोले ही मेरी बुशशर्ट की कालर को मुँह में लेकर चूसने लगा। पूछने पर मालूम हुआ कि अभी डेढ़-दो महीने का है। मन ने कहा—उसे जरूर अपनी माँ की याद आती होगी। मेरी समस्त ममता उसमें मूर्तिमान हो उठी और मैं अनजाने ही जैसे उसकी माँ बन गया।

मेरा काफी-सारा वक्त उसे खिलाने-पिलाने और उसकी देख-भाल करने में लगने लगा। मुझे राजू के पीछे पागल देखकर बहन अकसर कहा करती है कि उसने राजू को घर में लाकर बड़ी गलती की—तुम्हारा लिखने-पढ़ने का समय इसी के पीछे नष्ट हो जाता है। राजू अभी बच्चा ही था, वह कभी पलंगपोश खराब कर देता, कभी जाजिम और पायदान। मैं उन्हें धोकर साफ करता रहता—क्योंकि बहन उसकी गन्दगी से घिन खाती थी और आया से वैसा काम लेना ठीक नहीं जँचता था।

साल-भर तक राजू ने अपने खिलाड़ी स्वभाव के कारण जो बाल-लीलाएँ कीं, उनके बारे में यदि विस्तार से लिखा जाये तो एक 'राजू पुराण' ही बन जाये। अपनी पूंछ पकड़ने के लिए चरखी की तरह घूमने का करिश्मा तो वह नृत्य-कलाविशारद की तरह प्रायः नित्य ही दिखाता था। इसके अतिरिक्त भी वह जो-जो तमाशे किया करता उन्हें देखकर देह की थकान तो मिटती ही, मन हलका-फुलका और तन फुर्तीला हो उठता था। राजू का बचपन क्या था, फुर्तीलेपन का पर्याय समझिए। अंग-अंग उसके ऐसे लचीले थे कि जिधर चाहता उधर उन्हें मोड़ लेता। वैसा नागिन-सा बल खानेवाला लचीलापन तो कला-पारखियों को किशोरियों की कमर में भी कभी नहीं मिला होगा। गति और स्पन्दन के प्रति वह विशेष रूप से आकर्षित होता और आस-पास पेड़ का पत्ता भी खड़का नहीं कि दुबककर उसकी ताक में उस पर झपटने को बैठ जाता। उसकी वह मुद्रा विशेष प्यारी लगती। उसके सामने आप छोटी-सी गेंद या कोई कागज़ का टुकड़ा मोड़-कर डाल दीजिए, बस वह रबर की गेंद ही की तरह उछलकर उसे पंजों से दबोचकर उससे खेलता रहता। पीठ के बल लेटना और मेरे हाथ को अपने आगे के पाँवों से पकड़कर मुँह में डालकर अपने छोटे-छोटे आरीनुमा तेज दाँतों से काटना उसे बहुत अच्छा लगता। जब वह चार-पाँच महीने का हुआ उसने रात को बाँसों के सहारे मसहरी की छत पर कूदकर झूलना शुरू किया और अपने चंचल नटखटपने के कारण मसहरी की जाली की छत को दो-चार ही रोज़ में पंजों से नोचकर तार-तार कर दिया। एक दिन वह भद्द से छत के छेद से चारपाई पर गिर पड़ा और मेरे बदन पर ऊपर-नीचे चलकर मेरी छाती के ऊपर सो गया। जाड़ों में वह बहन की रजाई के भीतर घुसकर उसके पैरों या टाँगों पर सिर रखकर बेखबर सो जाता। बहन उसकी गहरी नींद के लिए अकसर कहती—राजू मर गया है।

एक दिन राजू महाशय यकायक घर से गायब हो गये—अभी चार-पाँच ही महीने के होंगे। हम उसे घर से बाहर नहीं जाने देते थे—कि कहीं खो न जाये। उस रोज हम चिन्तित हुए और सारा घर छान डाला पर राजू का कहीं पता नहीं लगा। अन्त में हार मानकर मैं चारपाई पर लेटा-लेटा अनेक तरह की बातें सोचने लगा। शायद वह गुसलखाने की खिड़की से कूदकर बाहर भाग गया हो। पर खिड़की तो काफी ऊँची है, वह शायद ही इतना उछल सकता हो। तो क्या सँडास में भूल से सिर डालकर उसी के छेद में फँसकर मर गया है ? कुछ समझ में नहीं आता था। बड़े बेमन से तीसरे पहर की चाय पी और शाम होते-होते हम सब उससे निराश हो गये। हमारी नौकरानी भी उसके चंचल लड़कपन और उछल-कूद की याद कर अफसोस करने लगी। इतने मे राजू की चिर-परिचित मन्द-मन्द मीठी आवाज़ सुनायी पड़ने लगी। हम लोगो ने उत्सुकतापूर्वक पुनः उसकी खोज प्रारम्भ की। अन्त में अन्दर के कमरे में कपड़ों की आलमारी के भीतर से आवाज का आना-सा प्रतीत हुआ। बहन ने आलमारी खोली तो राजूजी फौरन कपड़ों के बीच से कूदकर बाहर निकल आये। न जाने वे कब छिपकर आलमारी में घुस गये थे और दिनभर चुपचाप कपड़ों की मुलायम तहों में आराम से सोये रहे। मैंने तुरन्त उसे गोद में लेकर चिपका लिया और वह रूँ-रूँ-रूँ-रूँ करके उसी आदिम भाषा में अपना स्नेह प्रकट करने लगा। एक दिन वह इसी प्रकार हमें परेशान करने को आलमारी के ऊपर रखी टोकरी के अन्दर जाकर छिपा रहा, कभी किताबों के पीछे जाकर सो रहता। घर में और बगीचे में ऐसी शायद ही कोई जगह हो जहाँ राजू लेटे हुए नहीं मिलते है। मेरे कमरे का तख्त तो उसका सिंहासन ही बन गया है—छत पर, खिड़की के छज्जे के ऊपर, बाग में लताकुंजों के भीतर सर्वत्र उसी के आरामगाह बन गये है।

राजू बड़ा ही समझदार बिल्ला है, नौकरानी उसे बिना बोली का मूक मानुस कहती हैं। पर वह अपनी 'म्याऊँ' की एक ही आवाज से इतने प्रकार के भाव प्रकट कर सकता है कि उसकी बोली शोध और चिंतन-मनन का विषय बन सकती है। यद्यपि बिल्ली व्यक्ति से परिस्थितियों के प्रति अधिक ममता रखती है—और घर में रहनेवाले घर छोड़ भी दें तो वह अपने परिचित घर को नहीं छोड़ सकती। पर मैने राजू को इतना प्यार दिया है और उसकी इतनी देख-भाल की है कि अब वह मेरे घर में न होने पर मेरे कमरे में जाकर मुझे खोजता है। वह अपने प्रति मेरी मोह-ममता की बात को जानता है और तरह-तरह से मुझसे खुशामद कराता है। सामने के आँगन से छत पर जो मालती की बेल गयी है उसे राजू ने छत पर चढ़ने की अपनी सीढ़ी-सी बना लिया है। मालती की लचीली टहनियों पर उससे भी लचीले अपने पंजों के बल जब वह छत पर चढ़ता है तो एक कुशल नट की कला में पारंगत जान पड़ता है। रात को छत पर सोकर वह आधी रात को सहन की ओर से अपने को नीचे उतारने के लिए आर्त पुकारें लगाया करता है और मैं जाड़ों की रात में अपने को रुई के कोट में लपेटकर अपने दोनों हाथों से बेंत की कुर्सी ऊपर उठाकर उसे नीचे उतारता हूँ, और गैस में दूध और गोश्त गरमकर उसे खिलाता हूँ। एक बार बच्चन भी मेरे यहाँ आया हुआ था—बिल्लू को छत से

उतारने का काम तब उसने अपने ऊपर ले लिया था—तब से राजू उसे चाचा मानने लगा है और उसके जन्मदिवस पर बधाई भिजवाता है।

यह ठीक है कि बिल्ली कुत्ते की तरह अपने स्वामी को आत्मसमर्पण नहीं करती—मेरा राजू तो और भी जिद्दी और हठीला है। वह रात को प्राय: बाहर ही रहता है इसलिए मैं उसे फ्रेंचमैन कहता हूँ।

हमारे घर के पास ही एक बड़ी-सी कोठी है, जहाँ वह बाड़े की टट्टी को लाँघकर रात को प्राय: रहता है। वहाँ उसका खासा बड़ा हरम है।

बिल्लू एक सफाई-पसन्द पशु है—यह बात मुझे उसमें अच्छी लगती है। वह नवीनता का भी प्रेमी होता है। नया गद्दा हो, नयी क्यारी हो—कोई भी नयी चीज घर मे उसे देखने को मिले वह फौरन उस पर जाकर एक नींद लेना पसन्द करता है। बिल्ली के द्वारा गुह्य शक्तियों और प्रेतात्माओं से भी सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है—वे उनके लिए स्वभावत: ही खुले तथा सजग होते हैं। मूक पशुओं का प्रेम नि:सन्देह मुझे मानवों के मुखर प्रेम से अधिक महत्वपूर्ण तथा गहरा लगता है। मनुष्य के भीतर भी एक स्तर पशु-चेतना या उपचेतना का है जो उसे पशुओं के प्रति आकर्षित करता है—इसी से अनेक पशु-पक्षी—हिरन-खरगोश, कुत्ते-बिल्ली, मोर-तोता और मैना आदि उनके लाड़ले पशु बन गये हैं। लोगों ने मुझे डराया कि बिल्ला एक-दो साल का हुआ नहीं कि घर से चला जाता है। राजू को अब छ: साल हो गये, वह उसी अदा से अब भी अपने को छत से उतरवाता है और खाना खाकर मेरे तख्त पर सो जाता है। कितने ढंग से वह सोना जानता है, कोई भी फिल्म स्टार उससे लेटने के सुन्दर पोज सीख सकती है। राजू में एक आत्मजात गरिमा है, वह सचमुच ही शेर का मौसा लगता है।

रोचक संस्मरण-१

कभी जो बहुत रोचक घटनाएँ प्रतीत होती थीं, आज वे साधारण-सी लगने लगी है। जान पड़ता है रोचकता का अपना एक गुह्य मनोविज्ञान होता है या एक विशिष्ट वातावरण होता है जिसे परिस्थितियां, वयस, मनोवृत्ति आदि कई वस्तुएँ मिल-जुलकर गढ़ती हैं—जो दैनन्दिन की छोटी-बड़ी घटनाओं को रोचकता प्रदान करती रहती है। ऐसी ही कुछ घटनाएँ आज मन मे आने लगी है। मैं छोटा ही था—लम्बा, गोरा, छरहरे कद का…मेरे स्कूली सहपाठी मुझे शुगरकेन कहा करते थे और स्कूल को आने-जाने के रास्ते में इधर-उधर पत्थरों, पानी की टंकियों, दीवारों और साइनबोर्डों पर खड़िया से बड़े-बड़े अक्षरों में 'शुगरकेन' लिखकर अपने मनोभावों को विज्ञापित किया करते थे। मेरे स्कूल के एक मास्टर साहब मेरे ही घर के ऊपर रहते थे, वही मुझे अपने साथ स्कूल ले जाते और घर पहुँचा देते थे। एक रोज कुछ बड़ी कक्षाओं के लड़कों ने रास्ते में पण्डितजी को घेरकर पूछा—'मास्टर साहब, आप क्या इसके गार्जियन हैं जो हमेशा इसे अपने ही साथ रखते हैं? आखिर हमारे साथी और

सहपाठी को हमसे छीनकर आपको क्या लाभ ? हम इसके साथ हँस-खेल भी नहीं सकते और बोल भी नहीं पाते।' मास्टर साहब ने गम्भीर स्वर में कहा—'गार्जियन ? क्या मैं तुम्हारा भी गार्जियन नहीं हूँ ?—हँसने, खेलने और बोलने से मैं तुम्हें कब रोकता हूँ ?—बोलो, क्या कहना चाहते हो ?' मैं बहुत ही कम बोलनेवाले भोंदू लड़कों में था—लड़कों के गिरोह को देखकर मैंने मास्टर साहब का हाथ पकड़ लिया। 'घबड़ाते क्यों हो ?'—मास्टर साहब ने स्नेह की झिड़की देकर कहा, 'जाओ, अपने साथियों से खेलो।' मास्टर साहब का यह कहना था कि एक लड़के ने मुझे उठाकर अपने कन्धे पर बिठा लिया। लड़कों में कुछ कानाफूसी हुई और उनमें से कुछ बाजार के रास्ते निकल गये। हम लोग करीब एक फर्लांग चलकर भैरवनाथजी के मन्दिर के अहाते में घुस गये और इतने में बाजार से मिठाइयाँ लेकर और साथी भी आ गये। उस लम्बे-तड़ंगे लड़के ने मुझे कन्धे से उतारा और अपने पास बिठाकर मुझे मिठाइयाँ खिलायीं। सब लड़के मुझे अपने बीच पाकर बड़े खुश लगते थे—उस बड़े लड़के ने, जो उनका लीडर था, मेरी पीठ थपथपाकर कहा—'अब तो हमसे नहीं डरोगे ?' और मुझे घर छोड़ गया। दूसरे रोज मास्टर साहब के साथ स्कूल जाते हुए मैंने देखा कि रास्ते में पत्थरों, साइनबोर्डों तथा दीवारों से खड़िया से लिखे गये शुगरकेन के विज्ञापन सब मिटा दिये गये थे। स्कूल से छुट्टी मिलने पर हम सब साथी हास-परिहास करते साथ ही घर लौटे।

सन् '१४-१५ की बात है। अल्मोड़े में हिन्दी के प्रति अनुराग की ऐसी बाढ़ आयी कि छटी कक्षा से आठवीं कक्षा में पहुँचते-पहुँचते मेरा हिन्दी भाषा का ज्ञान पर्याप्त बढ़ गया। इन्हीं दिनों मैंने एक छोटा-मोटा उपन्यास भी लिख डाला। हमारे हिन्दी के पण्डितजी को पाण्डित्य-प्रदर्शन का बड़ा शौक था। नवीं कक्षा में जब वह निबन्ध लिखवाते तो मैं उनमें चुन-चुनकर क्लिष्ट शब्द रखने का प्रयत्न करता था। क्लास के सहपाठी मुझे 'मशीनरी ऑफ़ वर्ड्स' कहते थे। एक बार क्या देखता हूँ कि पण्डितजी ने लाल स्याही से मेरे शब्दों को बुरी तरह काटकर लहू-लुहान कर डाला है और नीचे लाल स्याही से लिखा है—'सरल भाषा लिखो, तुलसी की भाषा चाहिए, कादम्बरी की नहीं।' हम लोग पण्डितजी के सनकी स्वभाव से परिचित थे। मैंने अगले निबन्ध में हिन्दी-उर्दू शब्दों की सन्धि मिलाकर पण्डितजी के आदेश का पालन करने का प्रमाण दिया। उसमें पत्रोत्तर के स्थान पर ख़तोत्तर, करुणासागर के स्थान पर मेहरबानी के सागर आदि अनेक ऐसे शब्दों का प्रयोग किया। दूसरे रोज पण्डितजी ने भरे क्लास में क्रोध में भरकर कहा—'सुनो जी, मेरी बात याद रखना,—तुम यदि किसी विषय में फेल होगे तो हिन्दी में।... बेचारे पण्डितजी ! जब मुझे हिन्दी में पीछे डिस्टिंशन मिला तो उन्होंने मेरी पीठ ठोंककर कहा—'क्यों न डिस्टिंशन मिलता, मैंने शुरू से ही कूट-कूटकर मजबूत नींव डाली थी !'

लम्बे बाल रखने का शौक मेरे सिर पर कवि बनने से पहिले ही सवार

हो गया था। तब मैं चौथी कक्षा में पढ़ता था। अपने बड़े भाई के पुस्तकालय में—नैपोलियन का घुँघराले बालोंवाला युवावस्था का चित्र देखकर मैं उसकी ओर ऐसा आकर्षित हुआ कि मैंने भी अपने बाल बढ़ाने शुरू कर दिये। बहुत पीछे की बात है, तब मैं ३६ साल का था और अपने चाचाजी के यहाँ गर्मियों में ठहरा हुआ था। शाम को मेरे चाचाजी के एक मित्र उनसे मिलने आये और बरामदे से सीधे सामने के कमरे में घुस आये, जिसमें मैं कुर्सी पर बैठा कुछ पढ़ रहा था। चिक हटाकर अन्दर घुसते ही वह दरवाजे के पास रुक गये और थोड़ा झुककर 'एक्सक्यूज मी' कहते हुए बाहर चले गये। दूसरे रोज चाचाजी से भेंट होने पर उन्होंने सहज भाव से पूछा—'क्यों जी, क्या नीचे की मंजिल किसी एंग्लो इण्डियन महिला को उठा दी है ? कल मैं गलती से उसके कमरे में घुस गया था।' मेरे चाचा ने आश्चर्य प्रकट करते हुए हँसकर कहा—'नहीं तो, वहाँ तो मेरा भतीजा ठहरा हुआ है।' ट्रेन में भी दो-एक बार इसी प्रकार की घटनाएँ हो चुकी हैं। पर इन सब असुविधाजनक तथा परिहासजनक परिस्थितियों के जब-तब उदय हो जाने पर भी लम्बे बाल मेरे व्यक्तित्व के अंग बन ही गये।

कालाकाँकर की बात है। मेरे अनेक साहित्यिक मित्र समय-समय पर मुझसे मिलने वहाँ आते रहते थे और मेरे सुहृद, जिनका मैं वहाँ अतिथि था, मेरे परिचितों एवं मित्रों का बड़े उत्साह से आदर-सत्कार करते थे। वहाँ के एकान्त वातावरण में सब लोग बड़ी जल्दी आपस में घुलमिल जाते थे। हमारे एक साहित्यिक बन्धु, जो प्रायः ही वहाँ आ जाते, अपनी साहित्यिकता तथा अध्ययनशीलता की अतिरंजित चर्चाएँ कर मेरे मित्र पर अपना प्रभाव जमाना चाहते थे। मेरे मित्र मन-ही-मन उनके इस प्रदर्शनप्रिय स्वभाव पर हँसते थे। एक बार जब वह आये तो मेरे मित्र ने उनसे दो-एक रोज और रुक जाने का अनुरोध किया। उन्होंने अपना प्रभाव मानो गहरा करने के लिए व्यस्तता दिखाते हुए सदा की तरह गम्भीर स्वर में कहा, 'नहीं, नहीं, मेरे पास समय ही कहाँ है भाई ! मैं पढ़ने-लिखनेवाला मनुष्य, आप लोगों की तरह मुझे भला कहाँ अवकाश है—मुझे कल अवश्य चला जाना चाहिए।' दूसरे दिन सबेरे ही उन्होंने जाने की तैयारी कर दी। ८ बजे सुबह गाड़ी जाती थी और स्टेशन घर से करीब ५ मील दूर था। हम लोग जल्दी ही चाय पीने बैठ गये : हमारे साहित्यिक मित्र ने मेरे मित्र की हाथ की घड़ी पर नजर डालते हुए कहा, 'ओह, अभी काफ़ी वक़्त है।' घड़ी में उस समय ६॥ बजे थे और स्टेशन कार से २०-२५ मिनट का रास्ता था। मेरे मित्र ने घड़ी को कान से लगाया पर कहा कुछ नहीं, वह बन्द थी। बड़ी देर तक चाय में गपशप होती रहीं। चाय समाप्त होने पर मेरे मित्र जल्दी से उठकर अन्दर गये, उन्होंने घड़ी को कूका और उसमें सवा सात बजा दिये। जल्दी-जल्दी में कार में सामान रखा गया और हम लोग स्टेशन को चल पड़े। चलते समय मेरे साहित्यिक बन्धु ने फिर से घड़ी पर नजर डालकर कहा, 'ठीक, ७ बज के २० मिनट हुआ। पौने आठ से पहिले ही स्टेशन पहुँच जायेंगे।' रेलवे स्टेशन पहुँचने पर मालूम हुआ कि गाड़ी को छूटे आधे

घण्टे से ऊपर हो गया है। अब हमारे साहित्यिक अतिथि बहुत झल्लाये। लेकिन करते क्या, कल सबेरे तक गाड़ी मिलना सम्भव नहीं था। हारकर फिर घर लौट आये। पीछे जब उन्हें ट्रेन छूटने का रहस्य बतलाया गया तो बड़े झेंपे। और हँसी-खुशी दो-तीन दिन और रहकर तब कहीं प्रयाग को गये।

अन्तिम घटना है दिल्ली की। हम कई साहित्यिक मित्रों को एक धनी-मानी व्यक्ति के यहाँ रात को खाना था। भोजन सचमुच ही बड़ा स्वादिष्ट और उत्तम कोटि का था। जाड़े का मौसम था। सब लोगों ने खूब जी भरकर खाया और सुचारु रूप से सजे-सजाये ड्राइंगरूम में बैठ गये। पान-सुपारी के बाद थोड़ी देर आपस में इधर-उधर की गपशप होती रही। हमारे उदार मेजवान और उनके कुछ मित्र मेरे कवि मित्रों से उनकी कविताएँ सुनना चाहते थे। कविता कम सुनना चाहते थे, औपचारिकता-वश एक शिष्टाचार बरतना चाहते थे। किन्तु छककर भोजन करने के बाद वहाँ के औपचारिक वातावरण में उनका कविता सुनाने का दिखावटी प्रस्ताव मेरे कवि मित्रों में किसी को भी नहीं भाया और सब लोग 'हाँ'-'ना' कहकर टालमटोल करते रहे। लेकिन हमारे अतिथिवत्सल धनी मित्र ने अन्त में एक कवि मित्र को राजी कर ही लिया। राजी क्या कर लिया, वह अपने सौजन्य के कारण संकोचवश 'नहीं' नहीं कर सके और एक छोटी-सी चार लाइन की कविता सुनाकर उन्होंने किसी तरह अपना गला छुड़ाया। कविता के चारों चरण कुछ इस प्रकार समाप्त होते थे—मुझे अब ठीक से स्मरण नहीं—कुछ—'मेरे पथ को सरसाती चल, न जाने क्या—हरगाती चल, शोभाकिरणें बरसाती चल' इत्यादि—जैसे ही अन्तिम चरण समाप्त हुआ हमारे एक साहसी तरुण कवि मित्र ने तुरन्त खड़े होकर आदेश के तौर पर सबसे उसी 'बरसाती चल, सरसाती चल' के लहजे में गुजरते हुए कहा—चल। और वे यह कहते ही दरवाजे से बाहर हो गये। हम सब पर न जाने इसका कैसा जादू का-सा प्रभाव पड़ा कि हम सब लोग भी उठकर यन्त्रवत् सामने के दरवाजे से निकलकर कवि मित्र के पीछे-पीछे बरामदे में पहुँच गये और सामने बरसाती के नीचे खड़ी गाड़ी के पास जाकर खड़े हो गये। हमारे पीछे-पीछे हमारे उदार मेजवान सेठजी ने आकर हँसते हुए कहा—'अच्छी बात है, अच्छी बात है, कविता न सही, कवि लोगों की यह भंगिमा तो चिरस्मरणीय रहेगी ही'— सबने हँसते हुए हाथ जोड़कर नमस्कार किया और सेठजी का आदेश पाकर ड्राइवर ने गाड़ी स्टार्ट की। हम लोग अन्तिम ठहाका मारकर शिष्टता का प्रदर्शन करते हुए वहाँ से चल पड़े।

रोचक संस्मरण-२

छुटपन की घटना है। मै तब आठ-नौ साल का रहा हूँगा। घर में मेरे चचेरे भाइयों को मिलाकर हम लोगों की एक खासी अच्छी पलटन थी।

मेरे एक चचेरे भाई हम लोगों में काफी लम्बे, तन्दुरुस्त तथा फुर्तीले थे। और मैं सबसे कमजोर समझा जाता था। मँझले भाई अक्सर हम लोगों से किसी-न-किसी प्रकार की कसरत कराकर सबका मनोरंजन किया करते थे। एक बार उन्होंने हम लोगों से दौड़ने को कहा। मेरे चचेरे भाई जिन्हें हम पौनी कहते थे, वे दौड़ में सबके आगे रहते थे। मैंने पहिले तो दौड़ने से इनकार कर दिया पर अन्त में मुझे एक शैतानी सूझी, और मैंने भाई से कहा—अब आप चाहें तो मेरी और पौनी की दौड़ करवा लें। भाई ने मनोरंजन के ख्याल से अपनी स्वीकृति दे दी। हमें करीब एक फर्लांग दौड़ना था। और जिस मैदान में हम दौड़ रहे थे उसमें करीब आधी फर्लांग के पास हमारे रास्ते से हटकर ५-६ गज पर एक पेड़ था। मेरे चचेरे भाई मुझसे आगे निकल चुके थे। मैंने उन्हें ज़रा धीमी आवाज में, जिससे कि भाई न सुन लें, पुकारते हुए कहा—ए पौनी, उस पेड़ का चक्कर काटकर जाना है, भाई ने कहा है'—पौनी तुरन्त पेड़ की ओर मुड़ गये और मैं अपनी पूरी रफ्तार से दौड़ता हुआ सीधा भाई के पास पहुँच गया। भाई ने मेरी पीठ थपथपाकर मुझे शाबाशी दी। जब पौनी ने मेरी शिकायत की कि मैंने उसे धोखा दिया तो भाई ने उससे कहा, 'मैं केवल तेज दौड़ने की ही परीक्षा नही ले रहा था, तेजबुद्धि की भी परीक्षा ले रहा था। मेरी चालाकी से सबका बड़ा मनोरंजन हुआ।

यह भी बचपन की ही एक घटना है। मेरे मँझले भाई स्कूल में छुट्टियाँ होने के कारण अल्मोड़े से कौसानी जानेवाले थे। जब भी वह अल्मोड़े से आते हम बच्चों के लिए कुछ-न-कुछ अवश्य लाते थे। अल्मोड़े से सबेरे चलकर वह प्रायः शाम तक घर पहुँच जाते थे और हम लोग उन्हें लेने के लिए घर से मील-डेढ़ मील जाकर उनकी प्रतीक्षा किया करते थे। और तीसरे पहर से ही, यह जानने के लिए कि भाई हमारे लिए क्या लाये हैं, उनसे मिलने को उत्कण्ठित रहते थे। लेकिन जब तीसरे पहर का नाश्ता मिले तब घर से निकलने पायें। एक बार जाने की उतावली में मैंने चचेरी बहिन से भूख का बहाना कर नाश्ता देने का आग्रह किया। बहिन किसी काम में व्यस्त थी, उसने बाहर धूप की ओर देखकर कहा, 'अभी से नाश्ता? अभी तो बड़ी जल्दी है।' मैंने तुरन्त अन्दर जाकर पिताजी की कुछ पुरानी चिट्ठियाँ बटोरीं और बरामदे के रास्ते घर में घुसकर बहिन को दिखाते हुए कहा—'डाकिया पिताजी की डाक दे गया है—उनके कमरे में रख दूं।' डाक कौसानी में प्रायः ६-६॥ बजे शाम को जाती थी। बहिन ने पूछा—'डाक? क्या डाक आ गयी? अभी तो दिन भी नहीं ढला।' मैंने जल्दी से कहा—'दिन नहीं ढला? सूरज तो कभी का नीचे उतर गया था पर पहाड़ की चोटी से टकरा जाने के कारण उछलकर फिर ऊपर चढ़ गया है।' मेरी चचेरी बहिन ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—ऐं, ऐसा भी कही होता है? मैंने कहा—कई बार हो चुका है। मेरी बहिन ने विश्वास करने की मुद्रा में कहा—ओह, तब तो तुम्हारा नाश्ता करने का समय हो गया, और आलमारी से नाश्ता निकालकर मुझे दे दिया। मैं जल्दी से नाश्ता कर भाई को लेने चला गया। मेरी बहिन बड़ी सीधी और भोली थी। एक बार मनिहारिन चूड़ियाँ

लायी। मेरी बहिन को हरी चूड़ियाँ पसन्द थीं—पर मनहारिन के पास हरी चूड़ियाँ नहीं थीं। बहिन ने उससे अनुरोध किया, 'चूड़ीवाली, अब की बार मेरे लिए हरी चूड़ियाँ लाना मत भूलना।' चूड़ीवाली ने कहा—'जरूर लाऊँगी बीबीजी। भूलूँगी नहीं।' मेरी बहिन 'जरूर' को कोई दूसरी चीज समझकर बोली—'जरूर चाहे लाओ न लाओ पर हरी चूड़ियाँ लाना मत भूलना।'

मेरे मित्र के यहाँ जब उनके एक परिचित अतिथि आते तो मेज पर रक्खी तेल, क्रीम, युडिकोलीन या दवा आदि की शीशियाँ खोलकर जरूर सूँघते। यह उनकी आदत ही बन गयी थी। मेरे मित्र उनकी इस आदत से परेशान थे, खासकर दवा की शीशी खोलकर सूँघना उन्हें नापसन्द था, पर उनसे कैसे कहें! एक बार जब उनके अतिथि स्नानगृह से निकलकर शृंगार-मेज की ओर लपके तो मित्र ने एमोनिया की शीशी को हिलाकर मेज पर रख दिया। अतिथि महोदय अपनी आदत से लाचार थे। उन्होंने नयी शीशी को पाकर उसकी डॉट खोलकर ज्योंही साँस खींची तो एमोनिया की तेज गन्ध से माथा तिलमिला उठा। साँस ऊपर की ऊपर ही रह गयी। थोड़ी देर बाद जोर से छींकें आनी शुरू हुईं, और आँखों से पानी बहने लगा; तब घबड़ाकर कुर्सी पर बैठ गये। कुछ समय बाद जब जी ठिकाने आया तो सिर हिलाकर बोले—वाह भाई, न जाने कौन-सी दवा पीते हो, हम तो सूँघने से ही बेहोश होने को हो गये!

मेरे मित्र के भाई बड़े परिहासप्रिय थे। एक बार वह अमीनाबाद में धीरे-धीरे गाड़ी हाँकते हुए चले जा रहे थे और सामने से एक आदमी हाथ में मोरछल लिये हुए आ रहा था। उन्होंने तुरन्त गाड़ी रोककर पूछा, क्यों भई, यह मोरछल कितने को दोगे? उस आदमी ने उत्तर दिया कि वह मोरछल उसके बड़े काम का है, वह उसे नहीं देगा। मेरे मित्र के भाई ने कहा, अरे तो मोरछलों की ऐसी क्या कमी है, हमसे दो रुपये ले लो। चार आने के मोरछल के दो रुपये मिलते देखकर वह राजी हो गया और उसने मोरछल मेरे मित्र के भाई की ओर बढ़ाया। मेरे मित्र के भाई ने तुरन्त पूछा, और दूसरा मोरछल? उसने आश्चर्य से कहा, दूसरा मोरछल मेरे पास कहाँ है? मेरे मित्र के भाई ने गाड़ी स्टार्ट करते हुए लपककर एक हाथ में उसकी लम्बी दाढ़ी पकड़ते हुए कहा, यह क्या है दूसरा मोरछल! वह आदमी हतप्रभ-सा सोच भी नहीं पाया था कि मेरे मित्र के भाई गाड़ी बढ़ाकर आगे निकल गये।

मेरे भाई भी कम परिहासप्रिय नहीं हैं। कई साल पहिले की बात है। भाभी के छोटे भाई ने एक बार उन्हें अपनी जन्मपत्री दिखलायी। मेरे भाई ने उनकी जन्मपत्री पर विचारकर गम्भीर मुद्रा बनाकर कहा, 'जन्म पत्री में ग्रह तो आपके सब बड़े अच्छे हैं सिर्फ शुक्र नीच का है। और बहनोइयों के स्थान पर दो ग्रह पड़े हैं बृहस्पति और मंगल। ज्योतिष में राशि के अनुसार ग्रह उच्च तथा नीच के होते है। जैसे मीन राशि में शुक्र उच्च का, कन्या राशि में नीच का होता है। उच्च ग्रह साधारणतः

शुभ फल देते हैं, नीच ग्रह अशुभ फल।' भाभी के भाई ने कहा, इस सबका क्या अर्थ हुआ, मेरी समझ में तो ज्योतिष की भाषा आती नहीं। भाई ने 'शुक्र' शब्द में श्लेष करते हुए कहा, 'अर्थ स्पष्ट है—नीच शुक्र के कारण तुम नीच कुल के हुए और तुम्हारे एक जीजा बृहस्पति के कारण ब्राह्मण हुए—उनका अर्थ अपने से था—और बहनोई के स्थान पर दूसरा ग्रह मंगल होने से तुम्हारा दूसरा जीजा बावर्ची होगा।' मंगल हमारे बावर्ची का नाम था। बावर्ची का नाम सुनकर तब कहीं भाभी के भाई उनका परिहास हृदयंगम कर सके।

मेरे मित्र के यहाँ एक बार एक गणमान्य अतिथि आये। वह उन दिनों अनाज नहीं खाते थे, केवल शाक-भाजी और फल पर रहते थे। मेरे मित्र जब अपने आदरणीय अतिथि के भोजन की व्यवस्था कर रहे थे तो उनके एक कर्मचारी ने, जो बड़े ही मसखरे स्वभाव के थे और उनकी मण्डली के विदूषक समझे जाते थे, हाथ जोड़कर कहा, 'भइया, परेशान न हों, अभी सब प्रबन्ध हुआ जाता है। मुझे तो ऐसे भी अतिथियों की सेवा करने का सौभाग्य हुआ है जो केवल गुलाब, चमेली और बेला के फूल सूँघकर रहते थे। अनाज छूना तो दूर वे शाक-भाजी और फलों की ओर देखते भी न थे।' सब लोग आदरणीय अतिथि का स्वागत कर, उनकी बात अनसुनी कर चुप रह गये।

एक बार मैं उनसे कह रहा था कि पिछली बार अमीनाबाद में मुझसे एक सज्जन को पहचानने में बड़ी भूल हो गयी। नमस्कार करने के बाद जब मैंने उनसे पूछा कि उनके आपरेशन का घाव भर गया या नहीं, तो उन्होंने आश्चर्य के साथ मेरी ओर देखते हुए उत्तर दिया—मेरा तो कोई आपरेशन नहीं हुआ। मैं बड़ा लज्जित हुआ और उनसे क्षमा माँगते हुए कैफियत देनी पड़ी कि मेरे एक परिचित सज्जन का पिछली बार लखनऊ में साइनेस (नासूर) का आपरेशन हुआ था जो उनसे बहुत मिलते-जुलते हैं। और चूँकि साइनेस का घाव कठिनाई से भरता है, इसी से उन्हें देखकर वह प्रश्न मुँह पर आ गया। मेरी बात सुनकर मेरे मित्र के विदूषक तुरन्त बोले—'मेरे साथ तो यह दुर्घटना हमेशा होती रहती है। अभी पिछले ही महीने मैं बनारस में एक गली के नुक्कड़ पर पान खा रहा था कि इतने में पन्द्रह-बीस लोगों का एक गिरोह मेरे पीछे जमा हो गया। पानवाले की दूकान के शीशे में नजर पड़ते ही ऐसा लगा कि गाँव के ताऊजी मेरे चचाजात भाइयों को लेकर आये हैं। बस न आव देखा न ताव, तुरन्त मुड़कर उनके पैर छुए और अपने चचाजात भाइयों के धोखे में एक-एक कर उन पन्द्रह-बीस लोगों के गले मिला। तब जाकर गौर से देखने पर मालूम हुआ कि वहाँ न मेरे ताऊ हैं न चचाजात भाई ही। बड़ी झेंप मालूम दी और मन-ही-मन अपनी बेवकूफी पर पछताया भी। किसी तरह जल्दी-जल्दी उनसे मुआफ़ी माँगकर वहाँ से खिसक गया।'

एक बार कोई सज्जन अपनी साइकिल किसी दूसरी साइकिल से टकरा जाने की बात कर रहे थे कि मेरे मित्र के हाजिरजवाब विदूषक

ने फौरन कहना शुरू किया—'अजी जनाब, यह कहिए कि आप सस्ते छूट गये, मेरे इक्के का पहिया एक बार किसी ताँगे के पहिये से उलझ गया था। मैं तब बनारस के एक होटल में कर्मचारी था और मैनेजर के किसी जरूरी काम से शहर जा रहा था। बस यह समझिए कि एक मील तक लगातार मेरे इक्के का पहिया ताँगे के पहिये के साथ फँसा, बिल्कुल उलटी ही दिशा को खिंचता चला गया। और अन्त में जब ताँगा रुका तो क्या देखता हूँ कि मैं फिर अपने ही होटल में पहुँच गया हूँ। मैनेजर मेरा ही इन्तजार कर रहे थे। मुझे देखते ही फौरन पूछा कि काम बना कि नहीं? मैं क्या उत्तर देता? उन्हें बहुतेरा समझाना चाहा कि मैं एक ऐसी दुर्घटना के भँवर में फँस गया था कि जिसने मुझे घुमा-फिराकर फिर यहीं लाकर पटक दिया—पर उन्हें विश्वास नहीं हुआ और बिना किसी कसूर के मुझे अपनी नौकरी से हाथ धोने पड़े।'

एक अनुभव

१८ ता० को तीसरे पहर इलाहाबाद से चला था—आज प्राय: २८ घण्टों के बाद शाम को अल्मोड़ा पहुँचा हूँ। दूर से अस्ताचलगामी सूर्य की किरणों का मुकुट पहनी हुई पहाड़ की ऊँची-ऊँची चोटियों को देखकर दिन-भर की थकान दूर हो गयी। मन से एक बोझ-सा उठ गया। इधर कई महीनों से भीतर-ही-भीतर जो उधेड़बुन चल रही थी वह जैसे पलक मारते ही कुहासे की तरह फट गयी। और मैं जो जानना चाहता था वह अपने-आप पहाड़ की ऊँची-ऊँची चोटियों की तरह मन मे निखर आया। जैसे किरीटपंक्ति देवताओं की श्रेणी मूर्तिमान हो उठी हो।—पहाड़ों का अपना एक सात्विक सौन्दर्य होता है, जिसका हृदय पर बड़ा स्वच्छ और स्वस्थ प्रभाव पड़ता है: वह मन को ऊपर उठाता है। यह मेरा बार-बार का असन्दिग्ध अनुभव है।—समुद्र के विशाल वक्ष को देखकर ऐसी प्रतिक्रिया मेरे भीतर नहीं हुई थी। समुद्र विराट् अवश्य है, पर मात्र पार्थिव-समतलता लिये हुए; किन्तु ये उच्च पर्वत-शिखर तो आकाश से बातें करते हैं। सम्भवत: तभी इनका ऐसा निर्मल, आह्लादकारक, उन्नयन-शील, शब्दहीन मौन-नील प्रभाव मन के उद्वेग को, आन्दोलित चित्त को शान्त कर देता है—जैसे शान्ति ही इनमें घनीभूत होकर सोयी हुई हो।

यह जो भी हो, पर मन का ऊहापोह मिट जाने से न जाने कैसी गहरी प्रसन्नता का, कैसी स्वच्छ शान्ति और मुक्ति का अनुभव कर रहा हूँ—यह अच्छा ही हुआ। कल मेरा जन्मदिवस है। आज मेरा मन जैसे नये वर्ष का स्वागत करने के लिए—नयी तैयारी करने के लिए निश्चिन्त हो गया। अँधेरा होने लगा है, धीरे-धीरे नीला अँधेरा—जैसे बहुत ही पतला नीला मलमल फहरा रहा हो। या किसी ने अपने घन-नील कुन्तलों का बारीक रेशम खोलकर मेरे चारों ओर बखेर दिया हो। दुलार भरी, वनगन्ध सनी, चीड़ की सूइयों की श्लक्ष्ण आवाज में गाती हुई, ठण्डी पहाड़ी वायु मेरी दुखती रगों में, तप्त शिराओं में प्रवेश कर जैसे लोरियाँ

भरी थपकी देकर मुझे सुला देना चाहती है। कल मैं निदाघ दग्ध प्यासे चातक की तरह प्रयाग की लू में तड़प रहा था।

आज २० मई है, जन्मदिन की खुशी को मैंने मन के बहुत भीतर छिपा लिया है। कौन कहता है दिन और रात पृथ्वी के अपने ध्रुव के चारों ओर किसी यान्त्रिक गति में घूमने के कारण होते हैं? आज का दिवस सचमुच ही पृथ्वी के साथ चक्कर खानेवाला रोज का पिटापिटाया सामान्य दिन नहीं है: यह एक विशेष दिवस है जिसके भाव-मूल मेरी चेतना में अत्यन्त गहरे कहीं घुसे हुए हैं। यह दिवस नहीं अमृतकलश है, जिसे स्वयं जीवनलक्ष्मी मेरे लिए अनन्त के आनन्दसिन्धु से भरकर लायी है, कुछ-कुछ ऐसा ही सम्मोहन भरा लगता है अपना जन्मदिन। किरणहीन कोमल गीली धूप गुलाबी हाला की तरह आकाश की प्याली में भरी छलक रही है। बहुत सबेरे ही उठकर बाहर निकल आया हूँ। समस्त पहाड़ी पर चोटी से लेकर कमर तक—नहीं, कमर पर तो मालरोड, जो अब गांधीमार्ग कहलाती है, करधनी की तरह वह पड़ी हुई है—पहाड़ी की कमर से भी नीचे—बिल्कुल नीचे, पैरों के टखनों तक बसा हुआ अल्मोड़े का घना फैला हुआ नगर सामने सहसा चित्रपट की तरह खुला नज़र आ रहा है!—यह क्या? यह जैसे केवल नगर का मानचित्र हो! या कुम्हार द्वारा मिट्टी से बनाया हुआ अथवा किसी कारीगर द्वारा मोम से ढाला हुआ नगर का नकली ढाँचा या शिल्पचित्र!—और असली नगर केवल किरणों की रेखाओं और ओस की चमकीली धुँधली भापों का बना हुआ इस मिट्टी गारे के नगर से ऊपर अलग से रखा हो!—यह दृष्टिभ्रम तो नहीं है? कभी-कभी आँख को वस्तुओं के दुहरे रूप सूझने लगने लगते है।—मैंने फिर से आँखें मलकर देखा—नहीं, भ्रम नहीं है। यह नगर के देह-पंजर से ऊपर उठकर उसकी चेतना या आत्मा बाहर निकल आयी है। नगर की मनोमय सूक्ष्म देह: करुणा, ममता और शक्ति से भरी हुई। यह जैसे अपनी विस्तृत स्नेहोच्छ्वसित दृष्टि से मुझे देख रही है। और मैं उसकी आँखों में जैसे उसकी समस्त मानसिक वेदना, आशा-आकांक्षा और सुख-दुख की कहानी पढ़ रहा हूँ। उफ, इतने स्पष्ट रूप में तो मैं अल्मोड़े के जीवन को कभी नहीं समझ सका था—इस पहाड़ी नगर की प्रसववेदना को! पार्वती की तपश्चर्या को!—यह कैसा सूक्ष्म दर्शन है? मेरी आँखें न जाने किस अज्ञात सहानुभूति से, मार्मिक अनुभूति से वाष्पाकुल हो उठी हैं!

२१ मई

कल से उस दृष्टि ने अभी मन को नहीं छोड़ा—न जाने सालगिरह के दिन वह कैसा रहस्य भरा उद्घाटन मन की आँखों के सामने हुआ! तब से चित्त व्याकुल, चिन्तन-मग्न और अशान्त है।—ऐसा लगता है कि उसको अधिक प्रकाश चाहिए, अधिक और अधिक प्रकाश।—पर उसे क्या केवल प्रकाश कहना ठीक होगा?—वह सम्भवतः प्रकाश से मिलती-जुलती पर उससे अधिक ठोस और ग्रहणशील वास्तविकता है—जिसे मैं प्रकाश कह रहा हूँ।—लगता है, हम सब जैसे कब से मृत्यु को ओढ़े हुए हैं। युगों के मृत पदार्थ को, निर्जीव संस्कारों को! न जाने कब का हमारा अपर्याप्त बोध, निर्जीव अँधियाले की तरह हमसे चिपटा हुआ—हमें विवश

करके चला रहा है।—हम उसी के घेरे के भीतर हाथ-पाँव मार रहे हैं—और सोच रहे हैं कि हम चल-फिर रहे हैं—हम जीवित हैं और जीवन का उपभोग कर रहे हैं।—यह कैसी विवशता है ? किन युगों के भूत-प्रेत, रूढ़ि-रीति और चलन हमारे मन पर अधिकार जमाये हुए—हमारा रक्त पीकर अब तक स्वयं जी रहे हैं और हम उनके अन्धकार का बोझ ढोनेवाले उनके मूक वाहन बने हुए हैं। हाय रे रूढ़ियों के पथराये हुए ढूह, मनुष्य के मन, तुम्हें नयी दृष्टि, व्यापक जीवनबोध, विकसित मान्यताएँ और अधिक पूर्ण चैतन्य चाहिए कि तुम वास्तविक जीवन व्यतीत कर सको —अधिक पूर्ण बन सको—अन्धकार के कृमियो और पशुओं की योनि से बाहर निकलकर ईश्वर के कन्धे पर हाथ रखकर प्रकाश, सौन्दर्य और आनन्द की दिशा की ओर मुक्त अबाध गति से बढ़ सको—अल्मोड़े की उस छायानगरी की करुण व्यथा भरी दृष्टि तब से रह-रहकर मन को कचोट रही है।

क्या भूलूँ क्या याद करूँ !

जब मैं भावुक किशोर था तब अपने आस-पास की वस्तुएँ—पर्वतप्रान्त का वातावरण तथा अपने चतुर्दिक् का परिवेश इतना वैचित्र्यभरा लगता था कि मेरा मन निरन्तर विस्मयाभिभूत रहता था। पीछे बड़ा होने पर मुझे अनुभव हुआ कि यह विश्व सचमुच ही बड़ा रहस्यमय है और विस्मयाभिभूत होने की किशोरप्रवृत्ति संवेदनशील मनुष्य के हृदय से कभी भी पूर्णत: नहीं मिटती। मेरा व्यक्तिगत जीवन स्वयं ही इतने उतार-चढ़ावों तथा मोड़ों से होकर बीता कि मेरे मानसपटल पर अनेक सुख-दु:ख भरी स्मृतियाँ तथा जीवन के उत्थान-पतनों की गम्भीर रेखाएँ छोड़ गया है। वास्तव में प्रत्येक मनुष्य के जीवन में कुछ ऐसी अविस्मरणीय तथा अघटित घटनाएँ घटती है और वे इतनी व्यक्तिगत एवं निजी होती हैं कि न उन्हें किसी से कहते ही बनता है और न उन्हें चुपचाप भूलते ही बनता है। सम्भवत: प्रत्येक व्यक्ति इस संसार मे अपना एक विशिष्ट स्वभाव, विशेष रुचि तथा भाव-प्रवण दृष्टिबिन्दु लेकर पैदा होता है, उसकी अपनी पैतृक तथा पारिवारिक संस्कारों की भी सीमाएँ होती हैं और बचपन में वह जिन परिस्थितियों या परिवेश में पलकर बड़ा होता है वे भी अपना प्रभाव ज्ञात-अज्ञात रूप से उसके मन में अंकित कर जाते हैं। पर इसके बाद जब उसे साधारण संसार का, व्यापक जीवन तथा निर्मम समाज का सामना करना पड़ता है तब उसके भीतर अत्यन्त अनिवार्य मन्थन चलता है और उसे अपनी अनेक प्रिय धारणाओं को बदलना तथा मन की इच्छाओं को कुचलना पड़ता है और अपने स्वभाव तथा आदर्शों से मेल न खाती हुई अनेक बाहरी परिस्थितियों से समझौता करना पड़ता है। जो सबके लिए सुखद तो किसी प्रकार भी नहीं ही होता है, वह सदैव सरल अथवा अपने बस का भी नहीं होता। ऐसे अवसरों पर व्यक्ति के मन को बड़ा धक्का पहुँचता है और वह अनेक प्रकार

के तर्क-वितर्क तथा ऊहापोह में पड़कर जीवन की सार्थकता खोजने के प्रयास में अपने लिए एक जीवनदर्शन गढ़ने का प्रयत्न करता है, जिसमें वह सदैव ही सफल नहीं होता और ऐसी स्थिति में वह एक विचित्र मानसिक अवस्था में होता है—जिसमें कटुता, मधुरता, साहस, भय, क्रोध, क्षमा, आशा-निराशा तथा हर्ष और विषाद उसके भीतर आँखमिचौनी खेलते रहते है और यदि वह स्वभाव से भावुक तथा उदार है तो वह परिस्थितियों के निर्मम आघातों को सहज भाव से झेलता हुआ अपने को दुःख के बोझ से नहीं दबने देता और किसी प्रकार अपने गुण-वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए संसार के साथ समझौता कर आगे बढ़ने में सफल होता है अन्यथा यदि वह अपनी ही अहंता को अधिक महत्त्व देनेवाला, आत्मपरिवर्तन तथा मनःसंस्कार के प्रति विमुख तथा दूसरों के प्रति असहनशील होता है तो वह कभी न कभी जीवनसंघर्ष में टूटकर संसार के प्रति अत्यन्त कटु, मानव-जीवन के प्रति आस्थाहीन तथा समाज के प्रति सन्दिग्ध होकर अन्त में आत्मपराजय स्वीकार कर विनष्ट हो जाता है। इस प्रकार के अनेकानेक अनुभव छोटी-बड़ी मात्रा मे प्रत्येक व्यक्ति को इस जटिल विश्वजीवन के क्षेत्रसंसार में प्रायः हुआ करते है, और मनुष्य के भीतर अपना मीठा तीता स्वाद छोड़ जाते है। विशेषकर हमारे युग में जो कि महान् परिवर्तनों तथा विश्वक्रान्तियों का अत्यधिक संघर्षशील युग है, जिसमें व्यक्ति की ही नहीं, समस्त समाज, देश तथा जातियों की नियति में भी विराट् परिवर्तन के चिह्न दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उपर्युक्त अनुभूतियों की प्रक्रिया और भी तीव्रतर होकर मनुष्य को विस्मयाभिभूत के साथ कर्तव्यविमूढ़ भी बना देती है।

मैं अपने व्यक्तिगत तथा पारिवारिक जीवन के संघर्षपूर्ण उत्थान-पतनों के सम्बन्ध में कई बार पहले भी संकेत कर चुका हूँ। मेरे भीतर एक स्वस्थ प्रवृत्ति किसी न किसी रूप में निरन्तर काम करती रही है और वह यह कि मैंने अपने व्यक्तिगत जीवन के हर्ष-विषाद को अपने युग के विराट् मानवसंघर्ष को समर्पित कर विश्वजीवन की प्रगति के प्रति अपने मन को सदैव खुला रखा, जिससे मुझे अपने वैयक्तिक विकास में भी बड़ी सहायता मिली। और सबसे अधिक, अपनी अनेक असफलताओं एवं जीवन मन की कटुताओं का बोझ मुझे दुःसह नहीं प्रतीत हुआ क्योंकि मेरे मन का आग्रह सदैव अपनी सीमाओं को अतिक्रम कर युगमानस के वातायन से विश्वजीवन का मुख निरखने-परखने की ओर रहा है। शीघ्र ही मेरे मन में यह बात अच्छी तरह बैठ गयी कि व्यक्ति की नियति—समाज की नियति, और इस युग में, मानवता की नियति के साथ अविच्छिन्न रूप से बँधी हुई है और मानवता के विकास के साथ ही व्यक्ति का विकास होना सम्भव तथा सार्थक है। विश्वजीवन के राजपथ से विमुख होकर वैयक्तिक इच्छा की छोटी-मोटी पगडण्डी का अनुसरण करना मनुष्यत्व के आत्मसम्मान के विरुद्ध होने के साथ ही कालान्तर में अमंगल का भी द्योतक है। अतः अपनी छोटी-सी डोंगी किनारे पर ही छोड़कर मैं—युग-जीवन की उत्ताल तरंगों से संघर्ष करते और उनके थपेड़े सहकर उन्हें चीरते एवं आगे बढ़ते हुए—मानवता के विशाल यान में कूद पड़ा और विश्वजीवन के हर्ष-विषाद, आशा-निराशा भरे महान्

उत्थान-पतनों की चोट में अपने व्यक्तिगत तुच्छ सुख-दुख, सफलता-असफलता तथा यश-अपयश की बात भूल गया। जब अपने विराट् युग-जीवन के तट पर खड़ा मैं अपनी कल्पना के आकाशचुम्बी अन्त:शिखरों पर विचरण करता हुआ, अपनी चेतना के जीवन की यथार्थता तथा उसके रहस्यात्मक अनुभवों के बारे में सोचता हूँ तो मेरा मन विस्मय से अवाक् होकर जैसे विचारमग्न होकर कह उठता है—क्या भूलूँ क्या याद करूँ !

अभिभाषण

माननीय अध्यक्ष महोदय तथा समुपस्थित महानुभावो,

इस सुन्दर साहित्यपर्व के अवसर पर मै सर्वप्रथम भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार के संयोजकों को हार्दिक बधाई देता हूँ, केवल इसलिए नही कि उन्होंने मेरे कृतित्व को पुरस्कार के योग्य समझा बल्कि इसलिए भी कि उन्होंने भारतीय भाषाओं के उपेक्षित साहित्य-साधकों को, जिनकी भाषाओं को उन्ही के देश में यथोचित स्थान एवं सम्मान नही मिल सका है और जो अपने को अपने ही देश में निर्वासित तथा विस्थपित-सा अनुभव करते है, उन्हें इस योजना ने पुनर्वास देकर संस्थापित तथा प्रतिष्ठित करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है।

अपनी कृति 'चिदम्बरा' को पुरस्कार मिलना मै केवल एक संयोग की बात मानता हूँ। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में आज इतने महान् सर्जक तथा प्रतिभाशाली लेखक विद्यमान है कि उनमें अपनी गिनती करने में मुझे संकोच का अनुभव होता है। भारत के प्राय: सभी लेखकों के प्रेरणा-स्रोतों में समानता मिलती है, और उनके साहित्यों में भी सामान्यत: एक ही प्रकार की प्रवृत्तियों का विकास पाया जाता है, इसका अनुभव वर्तमान युग के भारतीय साहित्यों के किसी भी अध्येता को सहज ही मिल सकता है।

हमारे राष्ट्रनायक यदि ऐसा अनुभव करते है कि हमारे देश के मनीषी उनके काम नहीं आये तो यह एक प्रकार से ठीक ही है, क्योंकि उनका सम्बन्ध न कभी अपनी देश की भाषाओं या उनके साहित्य से रहा है और न उनका बौद्धिक सम्पर्क अपने देश के बुद्धिजीवियों या मनीषियों के ही साथ रहा है। सत्य यह है कि अपने देश के मनीषियों से उन्होंने काम ही लेना पसन्द नही किया। वे भाषा तथा शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने की चिन्ता न कर, जो कि राष्ट्रीय एकता तथा लोक-जागृति के लिए अनिवार्य आवश्यक उपादान है, भावनात्मक एकता का झूठा तथा खोखला नारा देकर सन्तुष्ट है। मनुष्य की भावना अपने परिवार के लोगों तक ही प्राय: सीमित रहती है, अधिक-से-अधिक वह अपने गाँव और प्रान्त के जीवन से अविच्छिन्न रूप से जुड़ी रहती है जिसके उदाहरण हमें अपने देश में दिन-रात देखने को मिलते हैं। प्रयत्न होना चाहिए विवेकात्मक एकता—रैशनल इण्टीग्रेशन—का, विवेकबुद्धि जिस कार्य के लिए स्वीकृति दे, उसे दृढ़तापूर्वक स्वस्थ संकल्प के साथ कार्यान्वित करना चाहिए, तभी हमारे मध्ययुगीन पूर्वग्रहों से विदीर्ण देश में प्रगति तथा उन्नति सम्भव हो

सकती है और अपने समय में भावनात्मक एकता की सदिच्छा भी चरितार्थ हो सकती है।

भारतीय पुनर्जागरण तथा स्वाधीनता की भावना से जिन सांस्कृतिक शक्तियों का देश के मानस में प्रादुर्भाव तथा संचार हुआ उसी अरुणोदय के उन्मेष से मुख्यत: भारतीय भाषाओं के साहित्य का मन इस युग में प्रेरित तथा आन्दोलित रहा। आज के राजनीतिक, आर्थिक संघर्ष के भीतर से तथा पिछले युगों के विभिन्न मतों, सम्प्रदायों तथा प्रान्तों से एक नये भारत एवं मनुष्यत्व की रूपरेखा साहित्य के धरातल पर उभर रही है। एक नवीन राष्ट्रीय तथा मानवीय एकता का अनुभव धीरे-धीरे देश के प्रबुद्ध वर्ग की चेतना को होने लगा है। एक ओर उसमें मध्ययुगीन अतीतोन्मुखी मूल्यों, नैतिक दृष्टिकोणों, जात-पाँति में बँधे वर्गों का विघटन तथा ह्रास हो रहा है जिससे जन-सामान्य अत्यधिक चरित्रहीन तथा शील-भ्रष्ट हो गया है। दूसरी ओर देश के बौद्धिक इस वैज्ञानिक युग मे नयी प्रेरणा ग्रहण कर विश्व के समुन्नत देशों के जीवन-मूल्यों को निरखने-परखने का प्रयत्न कर रहे हैं, इस विश्व-प्लावन के प्रथम प्रवाह में प्रारम्भ में, उनके पैर अपनी धरती से उखड़ भी जा रहे हैं और वे उसी भटकाव एवं दिग्भ्रान्ति से नवीन सांस्कृतिक चेतना के स्पर्शों की अनुभूति ग्रहण करने का प्रयत्न कर रहे हैं। किन्तु हमारे नवलेखन से अब शनै:-शनै: विदेशी साहित्य के अन्ध-अनुकरण के चिह्न मिटते जा रहे हैं और उसमें स्वतन्त्रचेता नवीन तरुण साहित्यकार जन्म लेते दिखायी दे रहे हैं।

यदि हम और भी व्यापक दृष्टि से देखना चाहें तो आज अपने ही देश में नहीं, समस्त विश्व ही में ह्रास-विघटन तथा नव-निर्माण की शक्तियों में संघर्ष चल रहा है। प्रथम और द्वितीय विश्व के युद्ध के बाद यूरोप के जीवन तथा साहित्य को भी बुरी तरह से ह्रास-विघटन की अन्धी शक्तियों ने जकड़ लिया है और वहाँ के वर्तमान साहित्य में मुख्यत: जिस अनास्था, सन्त्रास, संशय तथा मृत्यु-भय को अभिव्यक्ति मिल रही है हमारे नवलेखन ने भी उससे प्रभावित होकर आरम्भ में आँख मूँदकर उसी मूल्यहीनता को अपने साहित्य में आरोपित कर उसे अभिव्यक्ति देने में सृजन-सार्थकता का अनुभव किया है।

एक प्रकार से यह स्वाभाविक भी है। आज वैज्ञानिक आवागमनों के साधनों तथा रेडियो-चलचित्रों की सुविधा के कारण समस्त विश्व के देश एक-दूसरे के अत्यन्त घनिष्ठ सम्पर्क में आते जा रहे है—उनके सांस्कृतिक, नैतिक, धार्मिक, राजनीतिक आर्थिक दृष्टिकोण, विचार तथा जीवन-पद्धतियाँ एक-दूसरे से टकराकर उनमें नया स्पन्दन, कम्पन एवं सन्तुलन पैदा करने का प्रयास कर रही है और प्रत्येक देश के निवासी के मन में आज अपने देश की समस्याएँ ही नहीं, विश्व की समस्याएँ भी अँगडाई ले रही हैं और अतीत के संकीर्ण नैतिक तटों, आचार-विचार के घेरों तथा देशों-राष्ट्रों की सीमाओं को लाँघकर वर्तमान भौतिक युग के प्लावन से एक नवीन मानवीय धरती की रूपरेखाएँ उद्बुद्ध मनीषियों तथा युग-चेतनाओं के मन में निखरने लगी हैं, जो संसार के साहित्य में एक नयी सांस्कृतिक प्रेरणा, नये सौन्दर्य-बोध की भावना, व्यापक नैतिकता की धारणा तथा उन्नत मनुष्यत्व की चेतना को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न कर रही हैं। आज

ऐसे द्रष्टाओं तथा चिन्तकों की संसार में कमी नहीं है जो विश्व-जीवन की समस्याओं तथा मानवीय संस्कृति के मूल्यों पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर देश-जाति-वर्गों के बीच खड़ी दीवारों को अतिक्रम करने के प्रयत्न में संलग्न हैं।

भारतीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन ने जहाँ राजनीतिक बन्धन-विमुक्त तथा जीवन-स्वातन्त्र्य की प्रेरणा लोगों के मन में जागृत की वहीं भावों विचारो सम्बन्धी नवीन स्वतन्त्र क्षितिज भी सृजनशील मनीषियों की कल्पना में उद्घाटित किये जिसमें विश्व-जीवन के प्रभावो का भी बहुत अधिक हाथ रहा है। अनेक प्रकार के उत्थान-पतनों तथा आशा-निराश से आन्दोलित वह स्वाधीनता-संग्राम का युग अत्यन्त प्रेरणाप्रद रहा। उसी युग की पृष्ठभूमि में रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द आदि महापुरुष आध्यात्मिक जागरण की आलोक-शिखा लिये हुए मन-श्चक्षुओं में मूर्तिमान रहे। भारतीय मानस रामायण-महाभारत काल की पौराणिक स्वर्णिम शृंखला तथा रूढ़ि रीति-नति की मध्ययुगीन जड़िमा से मुक्त होकर फिर से औपनिषदिक शुद्ध शाश्वत चैतन्य के निःसीम वातावरण में साँस लेने लगा, जिसके उन्मेष में सांस्कृतिक-जागरण के अग्रदूत रवीन्द्रनाथ-से विश्वकवि ने जन्म लिया। अनन्त प्रेरणाओ उन्मेषों, उद्भावनाओं तथा सम्भावनाओं का रहा वह महान् युग, जिसमें हिन्दी में तथाकथित छायावाद-युग ने जन्म लिया।

'चिदम्बरा' में आपको विश्व-जीवन के इन्हीं प्रकाश तथा अन्धकार, ह्रास तथा निर्माण की शक्तियों का संघर्ष तथा उनके भीतर से विश्व-समस्याओं का, मानवीय धरातल पर, नया समाधान खोजने का प्रयत्न मिलेगा। मेरी काव्य-यात्रा की दृष्टि से यह मेरी द्वितीय तथा तृतीय सोपान अथवा उत्थान की रचनाएँ है। 'पल्लव,' 'ज्योत्स्ना' तथा 'गुंजन' काल मुख्यतः मेरा सौन्दर्य-साधना तथा कला-साधना का रचना-काल रहा है। उसमें मैं मुख्यतः भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण की आदर्शवादिता से अनुप्राणित रहा हूँ। प्रकृति की सौन्दर्य-स्थली में पैदा होने के कारण उस काल की रचनाओं में प्रकृति-प्रेम तथा सौन्दर्य की रचनाओ का प्राधान्य रहा है, साथ ही उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के अंग्रेजी कवियों की आशा-वादिता तथा कलाशिल्प का भी हाथ उन्हें सँवारने में रहा है। शैली की उदात्त कल्पना, कीट्स की सूक्ष्म कला-दृष्टि, वर्ड्सवर्थ का गम्भीर प्रकृति-प्रेम तथा टेनिसन और स्विनबर्न के भाषा-बोध तथा लालित्य—इन सबने उस समय मेरे मन को आकर्षित किया। वह एक प्रकार से तब मेरा काव्य-कलाजनित मूल्य-विन्यास का युग था। किन्तु युगान्त तक आते-आते बहिर्जीवन के गुरुत्वाकर्षण के कारण मेरे भावनात्मक दृष्टिकोण में परिवर्तन के चिह्न प्रकट होने लगे और कल्पना के क्षेत्र के अतिरिक्त बाहरी विश्व-जीवन के उत्थान-पतनों के प्रभाव भी मेरे मन में संचित होने लगे। यद्यपि उन्नीस सौ इक्कीस के असहयोग आन्दोलन में मैंने कॉलेज छोड दिया था पर भारतीय स्वाधीनता-संग्राम की गम्भीरता की ओर मेरा ध्यान सन् १९१० के नमक-सत्याग्रह के समय से अधिक केन्द्रित होने लगा। यहाँ से धरती का जीवन मेरी काव्य-चेतना का प्रमुख अंग बनने लगा और मेरा मन कल्पना की भूमि से

वास्तविकता की भूमि पर उतरने लगा। इसी समय संयोगवश मुझे कालाकाँकर में ग्राम-जीवन के अधिक निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिल सका। और मूर्तिमान दारिद्रय-स्वरूप उस ग्राम-जीवन की पृष्ठ-भूमि में मेरे हृदय मे जो संवेदन अंकित होने लगे उन्हें मैंने 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' की रचनाओं में वाणी देने की चेष्टा की। मेरा काव्य यहाँ से युग-जीवन-संघर्ष तथा चेतना के प्रस्फुटन का ही दर्पण रहा है। 'चिदम्बरा' के प्रथम खण्ड में 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' से चुनी हुई रचनाएँ संकलित हैं। इनमें मैं कला तथा कल्पना से प्रेरित न होकर भू-जीवन की चेतना से ही मुख्यत: प्रभावित होता रहा और चेतना के एक पाद को अर्थात् भौतिक जीवन-सम्बन्धी संचरण को इन रचनाओं में रूपायित करता रहा। धरा-जीवन-सम्बन्धी चिन्तन मे इस काल में अधिक आन्दोलित रहने के कारण मैंने, जिस कला की देवी ने मेरी 'पल्लव,' 'गुंजन' युग की रचनाओं को मँजोया था उसे मस्तक पर धारण कर लिया, और मेरा मन बाह्य जीवन के यथार्थ को समेटने तथा सुलझाने में संलग्न रहने लगा। 'युगवाणी', 'ग्राम्या' की गीता है। इसमें मैंने नवीन जीवन वास्तविकता के विकास की दिशा — अर्थात् राशि वाचक ईश्वर का भावी स्वरूप जिसे महात्माजी दरिद्रनारायण कहते थे—निर्देश किया है। 'ग्राम्या' में एक ओर यदि मध्य-युगों के विश्वासों तथा जीवन-पद्धतियों में पथरायी हुई लोक-मानवता का चित्रण है तो दूसरी ओर उस नयी अमूर्त जीवन संवेदना का जो आज मन के स्तर पर उदय होकर विगत जीवन-यथार्थ के ढाँचे को बदलने के लिए सभी देशों में अनेक रूपों में संघर्ष कर रही है। 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में निश्चय ही उस कलात्मकता का अभाव है जिसने 'पल्लव' के पाठकों को आकर्षित किया है और जिसका संकेत मैंने 'युगान्त' की भूमिका मे दे दिया था। 'पल्लव', 'गुंजन'-काल में मैंने परम्परागत कला-बोध ही का नवीनीकरण कर उसे अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया, उसका रूप-जगत पुनर्जागरण-काल का भाव-जगत होने के कारण चिर-परिचित रहा किन्तु 'युगवाणी,' 'ग्राम्या' में और अपनी नवीन-चेतना से प्रेरित आगे की रचनाओं में मेरी कल्पना ने अनुद्घाटित क्षितिजों में प्रवेश कर वहाँ के भाव-वैभव को वाणी में मूर्त करने का प्रयत्न किया। स्वभावत: ही उसमें रूप-कला का स्थान भाव-वैभव ने और विचारों-मान्यताओं का स्थान चेतना के स्पर्श ने ले लिया। शुक्लजी के शब्दों में गुलाब की रूह सूँघनेवाले काव्य-प्रेमी अपने पिछले कला-सम्बन्धी संस्कारों के कारण उनसे भाव-सौन्दर्य की सूक्ष्म गन्ध ग्रहण करने में असमर्थ रहे। यहाँ से मेरी सृजन-चेतना में कला का प्रयोग कला के लिए न रहकर जीवन को सँवारने के लिए होने लगा जो मुझे इस वैज्ञानिक युग की अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत होने लगी। बन गये कलात्मक भाव-जगत के रूपनाम—जैसा कि 'युगवाणी' की इस उक्ति से चरितार्थ होता है।

सन् १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के बाद जो निरंकुश दमन-चक्र देश में चला तथा असहयोग-आन्दोलन ने जो रूप धारण किया उससे मेरा चित्त अत्यन्त विचलित रहा। उसके बाद सन् १९४७ में भारत-विभाजन का प्रभाव भी मेरे मन में अच्छा नहीं पड़ा। इसी मान-

सिक व्यथा तथा दुराशा के अन्धकार की स्थिति में मेरे भीतर यह सत्य दृढ़ रूप से अंकित हो गया कि केवल बाहर से राजनीति की लाठी से ठोंक-पीकर ही मनुष्य मनुष्य नहीं बनाया जा सकता। इस विराट् विश्व-विवर्तन के राजनीतिक-आर्थिक युग में मनुष्य को एक उतने ही व्यापक तथा सशक्त सांस्कृतिक आन्दोलन की भी आवश्यकता है जो बाहरी जीवन-परिस्थितियों के परिवर्तनों के अनुरूप मनुष्य के अन्तर्जगत एवं भीतरी संस्कारों के मन को तथा मनुष्य के अन्तःसत्य के अनुरूप बाहरी जगत के परिवर्तनों को मानवीय जीवन-गरिमा के सन्तुलन में ढाल सके। इस सांस्कृतिक अनुष्ठान की प्रेरणा तब मुझे 'लोकायतन' के रूप में मिली। यदि भौतिक-दर्शन के अनुसार अन्तर्जगत को बाह्य जगत् की परिस्थितियों पर आरोपित अधिरचना या ऊपरी विधान भी मान लिया जाय तब भी इस विज्ञान के युग में, जो विश्वजीवन की युगों से जडीभूत परिस्थितियों को क्रियाशील संजीवन पिलाकर उसका आमूल रूपान्तर करने में संलग्न है, मनुष्य के अन्तर्जगत् का—उसकी जीवन-दृष्टि, सांस्कृतिक मूल्यों का भी—तदनुरूप विकास, उन्नयन तथा रूपान्तर होना इस युग की एक असन्दिग्ध आवश्यकता है। उस रूपान्तर की दिशा क्या होगी इस ओर इंगित करने में मेरी कल्पना ने विशेष अभिरुचि तथा तन्मयता प्रकट की है।

इसी व्यापक और नवीन सांस्कृतिक प्रेरणा से अनुप्राणित होकर मेरा मन 'ग्राम्या' के बहिर्जगत् के धरातल से उठकर मनुष्य की भावनाओं, विचारों, नैतिक दृष्टिकोणों तथा सांस्कृतिक मूल्य के अन्तर्जगत् की ओर आरोहण करने लगा और मानव-चेतना के क्षेत्र के इस यात्रा के चरण-चिह्नों तथा स्वप्न-संवेदनों को मैंने अपने 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि' आदि नामक उत्तर काव्य-संग्रहों में मूर्तित करने का प्रयत्न किया, जो मेरे काव्य के स्वर्ण-युग की रचनाएँ कही जाती है और जिनका चयन 'चिदम्बरा' के द्वितीय खण्ड में संकलित है। इस संचरण की अनुगूँजें आपको 'ज्योत्स्ना,' 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में भी यत्र-तत्र मिलेगी, क्योंकि तभी से मेरी सृजन-प्रेरणा नये क्षितिजों की ओर अभिसरण करने लगी थी, किन्तु मनुष्य के अन्तर्जगत् के सत्य की ओर मेरा ध्यान विशेष रूप से 'चिदम्बरा' के दूसरे खण्ड के ही रचनाकाल में केन्द्रित हुआ।

'ग्राम्या' सन् १९४० में लिखी गयी थी, सन् '४० से सन् '४६ तक का समय मुझे मनुष्य के अमूर्त अन्तर्जगत् के मानचित्र का परिचय प्राप्त करने में एक प्रकार से लगा। इसमें एक वर्ष मेरी अस्वस्थता में भी निकल गया। शेष वर्षों में मुझे अपनी चेतना को बाह्य परिस्थितियों के धक्के से उबारने के लिए मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन-मनन करना पड़ा। इसी बीच संयोगवश मैं श्रीअरविन्द आश्रम के सम्पर्क में भी आया। जो दृष्टि मेरे भीतर स्वतन्त्र चिन्तन-मनन से जन्म ले रही थी उसी के एक पक्ष का समर्थन एक प्रकार से मुझे वहाँ मिला और अनेक दिनों से निष्क्रिय मेरी सृजन-चेतना का स्रोत फिर से उन्मुक्त रूप से मुखरित हो उठा।

ये रचनाएँ मैंने किसी दर्शन-विशेष से प्रभावित होकर नहीं लिखी हैं—शायद दर्शन के बौद्धिक ढाँचे में बँधकर इस प्रकार का सृजन-प्राण

लेखन सम्भव भी नहीं है। ये रचनाएँ मानव-भविष्य के गुरुत्वाकर्षण से खिंचकर—जिसका आभास मुझे आज के महान विपर्यय के वैज्ञानिक युग में मिला—मैंने अपनी ही अन्तर्दृष्टि से प्रेरित होकर लिखीं। इस प्रकार की दृष्टि मुझे 'पल्लव' काल के बाद ही मिल गयी जिसका दिग्दर्शन मैंने संक्षेप में अपने 'पुरुषोत्तम राम' नामक काव्य-खण्ड में उपस्थित करने का प्रयत्न किया है।

मेरी इस काल की रचनाओं में अनेक आलोचकों को कलात्मकता का अभाव मिलता है, वे उन्हें विचार-दर्शन से बोझिल भी लगती हैं। मैं कला ही को काव्य का प्रमुख उपादान नहीं मानता, उसका उपयोग नवीन चेतना के स्वप्न-स्पन्दन तथा भाव-संवेदनों को काव्य में प्रस्तुत करने के लिए ही उचित समझता हूँ। जो अमूर्त स्पन्दन तथा संवेदन आज मनुष्य के मन में नयी जीवन-सम्भावनाओं के रूप में जन्म ले रहे हैं उन्हें सौन्दर्य-मूर्त करना मैं आज के युग का कवि-कर्म मानता हूँ। जो कला का उपयोग केवल कला के लिए ही करने को महत्त्व देते हैं उनका सृजन आज नये कला-उपादानों की खोज में प्रतीक-बिम्बों के ऐसे जंगल में खो गया है जहाँ अधिकांश पाठकों की बुद्धि नहीं पहुँच पाती या वह ऐसी अवास्तविकता, अरूप भावात्मकता या अति वैयक्तिक अनुभूतियों के कुहाशय की सृष्टि करने लगा है जिसका आज के जीवन से दूर का भी सम्बन्ध नहीं देखता। इस युग में मौलिक काव्य की सीमाएँ स्वत: भी स्पष्ट हैं क्योंकि हमारे रस, आनन्द, सौन्दर्य की धारणाएँ नया रूप ग्रहण कर रही हैं और उनकी अनुभूति अधिक सूक्ष्म हो गयी है। यही बात अन्य ललित-कलाओं और विशेषकर चित्रकला के लिए भी कही जा सकती है। नवीन जीवन-सौन्दर्य की भावना एवं संवेदना को—जिसे अभी अन्त: सौन्दर्य नाम देना उचित होगा—कैसे काव्यात्मकता या चित्रात्मकता द्वारा सर्वांगीण अभिव्यक्ति देकर तथा जीवन के निकट लाकर इन्द्रिय-ग्राह्य बनाया जाय यही आधुनिक कला के सामने निगूढ़ समस्या है। जो कवि या कलाकार उसे जितने ही परिपूर्ण रूप से रूपायित करने में सफल होंगे वे अपना कर्तव्य उतना ही अधिक निभाकर कला-कर्म को चरितार्थ कर सकेंगे।

कुछ पाठकों को मेरी 'युगवाणी', 'ग्राम्या' काल की काव्य-चेतना तथा 'स्वर्णकिरण', 'उत्तरा' आदि की काव्य-चेतना में एक अन्तर्विरोध दिखायी देता है, यह इसलिए कि वे उन्हें मतवाद या सिद्धान्तवाद की दृष्टि से देखते हैं। इन दो युगों की रचनाओं में अन्तर्विरोध नहीं, अन्तर्विस्तार मिलता है। मुझे अपने को स्वयं ही शिक्षित करना पड़ा इसलिए मेरा मनोविकास सरल रेखा में न होकर सोपान के अथवा वृत्त-सोपान के रूप में हुआ। 'स्वर्णकिरण'-काल की रचनाओं में 'युगवाणी,' 'ग्राम्या'-काल के सभी अन्न-प्राण-सम्बन्धी जीवन के मूल्य वर्तमान हैं। उनसे भी अधिक उनमें सांस्कृतिक तथा चेतनात्मक मूल्यों के सौन्दर्य को अभिव्यक्ति मिली है, जो उस मनुष्यत्व के उपादान हैं जिसे आधुनिक विज्ञान की पीठिका नयी धरती पर, नये मूल्यों के चरण रखकर विचरण करना है।

मेरी इस काल की रचनाओं में जिनमें मेरे काव्य-रूपक भी सम्मिलित हैं, इस युग की ह्रासोन्मुखी तथा विकासोन्मुखी प्रवृत्तियों के विश्व-व्यापी

संघर्ष के प्रमुख पक्षों को वाणी मिली है। मैंने अपनी रचनाओं में किसी विशेष जीवन-दर्शन को नहीं उभारा है बल्कि आज के युग-जीवन की परिस्थितियों के सम्बन्ध में अपनी ही जीवन-दृष्टि की प्रतिक्रियाओं को कविता के रूप में सँजोया है। मैंने नवलेखन की तरह अमूर्त अति वैयक्तिक भाव-बोध को दुर्बोध कलात्मक प्रतीकों में उपस्थित करने का प्रयत्न नहीं किया है, न क्षण के संवेदन को ही अधिक महत्व दिया है। मैंने उसमें मानवता की विकास-दिशा तथा विश्वजीवन के हृदय-स्पन्दनों को ही ग्रहण करने का प्रयत्न किया।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द तथा स्वामी दयानन्द द्वारा आविर्भूत पुनर्जागरण तथा सुधारवाद की प्रेरणा भारतीय जीवन को कुछ हद तक मानसिक आध्यात्मिक सन्तोष देकर प्रभावहीन हो गयी। जीवन के धरातल पर उससे देश में किसी प्रकार की जागृति तथा उन्नति का संचार नहीं हो सका। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी देश केवल खोखली राजनीतिक मुक्ति का अनुभव कर सका। वह अपने को ठोस जीवन-निर्माण की दिशा की ओर संगठित एवं अग्रसर नहीं कर सका। इसका कारण यह है कि आज के दिगभियान के युग मे जो विश्व-मानव के भीतर नये मनुष्यत्व के अभियान का भी युग है, धरती के मनुष्य को एक अधिक व्यापक, अधिक पूर्ण तथा अधिक महान् मनुष्यत्व की प्रेरणा चाहिए जिसका ध्येय केवल आध्यात्मिक सम्पद या भौतिक वैभव संचय करना ही न हो बल्कि जो इन दोनों के सौष्ठव को आत्मसात् कर मनुष्य के आत्मिक, मानसिक, प्राणिक तथा दैहिक आवश्यकताओं के सम्पूर्ण सत्य को धरती की जीवन-गरिमा में संयोजित कर सके। जो पिछले युगों की खर्व आध्यात्मिक-नैतिक मान्यताओं तथा निषेध-वर्जनाओं की देश-काल-पीड़ित दृष्टि को लाँघकर मनुष्य के इन्द्रिय जीवन का अध्यात्मीकरण तथा आध्यात्मिक जीवन का इन्द्रियीकरण कर सके। मानव-जीवन का सत्य केवल मानव-केन्द्रिक ही नहीं, धरा-केन्द्रिक भी है, धरती की चेतना से मानव-चेतना का सर्वांग संयोजन ही इस युग के द्रष्टा-स्रष्टा, चिन्तक-विचारक, शिल्पी-कर्मी तथा विश्वसभ्यता और संस्कृति के सम्मुख सम्प्रति अनिवार्य मूलगत प्रश्न तथा समस्या है जिसका दायित्व कवि, कलाकार तथा शिल्पी पर आज सर्वोपरि है क्योंकि वह मानवता के अन्तर्जगत् का निर्माता है और संस्कृति के सैनिक की तरह उसे इन गम्भीर अरूप आन्तर समस्याओं एवं शक्तियों से अजस्र संघर्ष कर उन्हे नवीन जीवन-सौन्दर्य का भावनात्मक आयाम तथा मूल्यगत रूप प्रदान करना है। धरती की चेतना की कुछ अपनी मौलिक प्रवृत्तियाँ है, जैसे राग-द्वेष, काम-क्रोध, स्वार्थ-अहंकार आदि जिनका व्यर्थ के उदात्तीकरण में जीवन व्यतीत करने के बदले उनके सत्य को स्वीकृति देकर उनका समाजीकरण एवं मानवीकरण करना है। ये भू-जीवन की आत्म-संरक्षण की सहज प्रवृत्तियाँ है, जिनमें ये प्रवृत्तियाँ क्रियाशील नहीं रह गयी है, वे जीवन के धरातल पर मृत के समान हैं। हमें केवल मन के ही स्तर पर आत्मोन्नयन नहीं करना है, जीवन के धरातल पर भी उसे सँवारना है। मानव-अहंता ही ईश्वर का पार्थिव स्वरूप या मुख है, उसी के मानदण्ड से धरा जीवन में सदसत् का बोध सम्भव है। आध्यात्मिकता के शिखरों पर दीर्घकाल

तक विचरण करने के बाद मुझे उनकी एकांगिता तथा रिक्तता की अनुभूति हुई और भौतिक दर्शन के बहिर्भ्रान्त राजनीतिक-आर्थिक जीवनमरु में भटकने के बाद भी उसी प्रकार उसकी एकागिता, कुरूपता, अनगढ़ता तथा अमानवीय निर्ममता का अनुभव हुआ।

'चिदम्बरा'-काल के बाद 'लोकायतन' में मैंने धरती की चेतना ही को मुख्य तथा सर्वोच्च स्थान दिया है और सीता का रूपक बाँधकर उसे मध्ययुगीन नैतिक संस्कारों तथा रूढ़ि-रीतियों की शृंखलाओं से मुक्त कर धरा-चेतना का नवीन युग के अनुरूप मानवीकरण तथा आधुनिकीरण किया है। वाल्मीकि, व्यास ने जिस सांस्कृतिक संचरण को जन्म दिया था वह कालिदास मे सौन्दर्य-पल्लवित होकर तथा सूर-तुलसी के मध्य-युगीन स्वर्णिम तोरणों मे प्रवेश कर एवं उनसे आगे बढ़कर आज एक सर्वदेशीय अधिक व्यापक, अधिक पूर्ण सांस्कृतिक चेतना के रूप में विकसित होकर, देशों-राष्ट्रों की सीमाओं से मुक्त नयी धरती के दिगन्त-विस्तृत प्रांगण मे जीवन-मूर्त होने जा रहा है, जिसके प्रथम चरण-चिह्न की अस्फुट आहट हमे कवीन्द्र रवीन्द्र की काव्यभूमि में सुनायी पडती है।

'चिदम्बरा' के प्रथम तथा द्वितीय खण्ड की पृष्ठभूमि में जो भौतिक प्रगति तथा आध्यात्मिक विकास की शक्तियाँ मुझे सृजन-प्रेरणा दे रही थी उनकी भविष्य के लिए वैसी उपयोगिता नही रह गयी—उन दोनों विचारधाराओं तथा दर्शन-दृष्टियों का रूपान्तर होना है। जीवन की भौतिक उन्नति के प्रतिनिधि इस युग की राजनीतिक-आर्थिक पद्धति को अधिक मानवीय बनाना है। सम्भव है भविष्य मे कोई गाधीजी-सा दूर-दर्शी भविष्य-द्रष्टा एवं और भी अधिक विकसित व्यक्तित्व आज की निश्चरित्र राजनीति तथा हृदयहीन आर्थिक पद्धति को अपनी व्यापक दृष्टि से मानवीय संस्पर्श प्रदान कर सके। इसी प्रकार हमारा आध्यात्मिक बोध भी जो विश्व-जीवन मे अपना सम्पर्क खोकर अब केवल वैयक्तिक साधना तथा आत्मोन्नति का प्रतीक रह गया है उसे अपनी आत्मिक सात्विकता को धरती के जीवन के अधिक निकट लाना है और अपने ऊर्ध्वगामी चरणो को जीवन के समतल प्रसार पर चलना सिखाना है। दोनों ही दृष्टियों तथा संचरणो के अतिवादों ने युग-मानव को हृदय-हीन बना दिया है और विश्व-सभ्यता को हार्दिकता के मर्मस्पर्शी सौन्दर्य से वंचित कर दिया है। यह कहना अतिशयोक्ति नही होगा कि रामायण-महाभारत की, व्यापक जीवनयथार्थ पर आधारित, कर्मठ चेतना मध्य-युगों से अपनी अतीतोन्मुखी दृष्टि के कारण अपने ही भीतर सिमटकर अब जडीभूत होकर पथरा गयी है। उसी प्रकार इस वैज्ञानिक युग के भौतिकवादी वैभव में पुंजीभूत पश्चिम की सभ्यता भी उच्च श्रद्धा तथा आस्था के अभाव मे अपने ही बोझ से डगमगाकर एवं प्राणिशास्त्रीय मनोविज्ञान तथा अस्तित्ववादी क्षणवाद के अन्धकार में विघटित होकर सांस्कृतिक ह्रास के चिह्न प्रकट कर रही है।

आज के युग-मानव के लिए यह अनिवार्य हो गया कि वह उपर्युक्त दोनों ही दृष्टियों की अतिरंजनाओं से मुक्त होकर दोनों ही के धन, सक्रिय तथा सारभूत सत्यों को संयोजित एवं समन्वित कर इस विश्वव्यापी सांस्कृतिक संचरण को नये जीवन-सौन्दर्य से सम्पन्न करे जिसमें पिछले

युगों के धर्मों, आचारों, नीतियों, जीवन-मूल्यों एवं पद्धतियों के परम्परागत जीवन्त-तत्त्वों का नव-मानवता की बहिरन्तर आवश्यकताओं के अनुरूप समाहार किया जा सके। उपनिषदों के शुद्ध चैतन्य के स्पर्श से मेरे मन में छाये पिछले आदर्शों तथा रीति-नीति-नियमों सम्बन्धी जीवन-पद्धतियों का पर्वताकार विधान कपूर की तरह ही अपने-आप जैसे उड़ गया और अविराम मानसिक संघर्ष के उपरान्त नवीन जीवन वास्तविकता की धरती के कूल तथा नये मानवीय आदर्शों के क्षितिज इस युग में व्याप्त अनेक प्रकार की विचारधाराओं आदि के कुहासे से बाहर निकलकर मेरी कल्पना में, जिसे मैं कवि की योग-माया कहता हूँ, धीरे-धीरे उदय होने लगे। मेरे अनेक वर्षों के अनुभवों ने, दो विश्व-युद्धों, भारतीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन तथा विज्ञान के चरम-विकास, अणु-युग तथा अन्तरिक्षयुग के आगमन ने मेरे भीतर अनेक प्रकार की प्रेरणाओं, नये जीवन-आदर्शों, मनुष्यत्व की विकासशील परिणतियों तथा व्यापक सांस्कृतिक सम्भावनाओं को जन्म दिया है। श्रीअरविन्द आश्रम की योग-साधना के वातावरण का प्रभाव मेरे मन में एक-दूसरे ही रूप में पड़ा। योग के ऊर्ध्व-मुखी अति वैयक्तिक साधना की महत्ताएँ तथा उसकी सीमाएँ मेरे भीतर स्पष्ट हो गयीं। वहाँ विशिष्ट व्यक्तियों ही का प्रवेश हो सकता है और सामान्य प्रकृति-पुत्र मानव के लिए अपनी चित्तवृत्तियों का समाजीकरण करके ही उनका उन्नयन या संस्कार सम्भव हो सकता है, यह समाधान मेरे मन को ठीक लगा। बिना मानवीय समता की प्रतिष्ठा के मानवीय आध्यात्मिक एकता की अनुभूति सम्भव नहीं है, उसे कैसे धरती के जीवन के निकट लाया जाये, आध्यात्मिक-ऐतिहासिक आदर्शों को कैसे संयोजित किया जाये, क्या उनमें कोई अन्तर्जात विरोध है, या वे एक ही मानव सत्य के भीतरी-बाहरी पक्ष है, क्या ईश्वर विश्व-जीवन के संघर्ष को छोड़कर कहीं अन्यत्र निवास करता है, वह सृष्टि को रचता है या स्वयं सृष्टि बनकर अपने अनन्त विकासक्रम में उसी में विकसित एवं प्रकट होता है। क्या स्वर्ग पृथ्वी के आज के नारकीय अविकसित जीवन ही का समग्र उन्नत रूप नहीं है, आदि, अनेक गूढ़ प्रश्नों के उत्तर मुझे अपने भीतर से स्वतः मिलने लगे।

हम पिछले नाम-रूपों में परिणत जिस सत्य से परिचित हैं वह कितना ही महान् हो भविष्य के नाम-रूप का सत्य नहीं हो सकता, भले ही उसके पीछे एक सार्वभौम व्यक्तित्व का प्रकाश-मण्डल चिपका दिया गया हो। अपने नये विकास-क्रम में मानव-चेतना पिछले देश-कालगत आदर्शों के सम्मोहन से मुक्त होकर एक नवीन मानवीय वैश्व व्यक्तित्व के सौष्ठव से मण्डित होने जा रही है और विगत युगों के धर्म-नीति, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, इहलोक-परलोक की धारणाओं को अतिक्रम कर, जीवन-मूल्यों को एक नयी दिशा देकर अपने सम्पूर्ण रचनात्मक ऐश्वर्य में अवतरित हो रही है। आज के संक्रान्ति-युग की जनता एवं मानवता को, जो ह्रास तथा विकास की शक्तियों से जूझकर नवीन चेतना के सौन्दर्य में ढल रही है, अपने लिए नवीन भौतिक प्राणिक जीवन की पीठिका का निर्माण कर कला तथा संस्कृति के पथ से आध्यात्मिकता की ओर, जो कलाओं की कला है, तथा जीवत्व से ईश्वरत्व की ओर बढ़ना तथा विकसित होना है—

वास्तव में ईश्वर ही मनुष्यों का मनुष्य है। विश्व-जीवन के निर्माण के लिए स्थूल-सूक्ष्म, बाह्य-आभ्यन्तर सभी शक्तियों का संयोजन तथा उपयोग कर सकना ही योग है जो आज आत्मोपलब्धि की साधना में खो गया है —वह साक्षात्कार का सत्य भी है और कर्म-कौशल भी।

आज के आध्यात्मिक पुनर्जागरण तथा वैज्ञानिक अवतरण के युग में समस्त ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी सम्पद् से सम्पन्न होते हुए भी मुझे मानव में हार्दिकता का अभाव लगता है जिसके कारण उसके जीवन के निर्माण के प्रयत्न मानवीय न होकर केवल निर्मम यान्त्रिकता के प्रतीक बनते जा रहे हैं। आज के बहिर्भ्रान्त युग में मानव हृदय एकदम नीचे दब गया है, हृदय की चेतना के द्वारा ही हम अन्न, प्राण, मन, बुद्धि तथा आत्मा के समस्त बोध तथा तत्सम्बन्धी शक्तियों को समन्वित कर उनमें मानवीय सौहार्द्र का सौन्दर्य भर सकते हैं। बाहरी-भीतरी सभी प्रकार की साधनाओं के लिए मुझे हृदय का पथ अधिक सुगम-सरल तथा लोक-जीवन के निकट लगता है। 'युगवाणी' में मैंने लिखा था कि अध्यात्म अपनी सूक्ष्म उपलब्धियों को जीवन-मूर्त करने के लिए वैज्ञानिक युग के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है। अब मुझे लगता है कि विज्ञान और अध्यात्म के भौतिक और आत्मिक उपकरणों का मानवीय उपयोग केवल मानव-हृदय के सत्य को ही प्रमुखता देकर सम्भव हो सकता है।

जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ कि समस्त सत्य धरा केन्द्रिक अथच मानव-केन्द्रिक है इसलिए हमें विज्ञान और अध्यात्म दोनों ही धरातलों के दृष्टि-वैभव को नवीन मानव के निर्माण तथा विकास के लिए प्रयुक्त करना चाहिए कि वह भविष्य में इस देशों, राष्ट्रों की सीमाओं से उभरी हुई धरती पर एक नवीन सांस्कृतिक एकता का अनुभव अपने भीतर कर सके—सांस्कृतिक एकता जो उसकी ईश्वरीय अथवा आध्यात्मिक एकता की भी प्रतिनिधि बन सके। कला में रूप और चेतना का संयोजन, दर्शन में गुण और राशि का संयोजन, रचना-कर्म में विज्ञान और अध्यात्म का संयोजन—ये तीनों आज के युग की व्यापक जीवन्त आवश्यकता के प्रमुख तत्व हैं। कवि-कर्म मेरे लिए सृजनात्मक तथा कलात्मक ही न रहकर नयी चेतना की दिशा में चिन्तनात्मक तथा निर्माणात्मक भी रहा। कवि-दृष्टि मानवजीवन को सौन्दर्य तथा रस की सम्पद् से सँजोने एवं सम्पन्न करने के लिए प्रकाश तथा अन्धकार दोनों ही शक्तियों के सत्यों का महत्व समझती है। 'अन्धस्तमं प्रविशन्ति ये विद्यामुपासते ततो भूय इव ते तमो यउ विद्यायां रताः' की आर्षवाणी उनकी सृजन-चेतना के अधिक निकट है।

वास्तव में इस युग में यदि एक ओर जीवन की परिस्थितियों को मानवीय सुविधाओं के अनुरूप ढालने का संघर्ष है तो दूसरी ओर उतना ही आवश्यक सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक मान्यताओं को तदनुरूप बदलने तथा विकसित स्वरूप देने का भी संघर्ष है। आज विज्ञान के प्रादुर्भाव के कारण बाह्य परिस्थितियों का विश्व जितना परिवर्तित तथा विकसित हो गया है उसके अनुपात में मानव का आन्तरिक जगत्, उसके विविध दिशाओं में ज्ञानार्जन के बाद भी, उतना विकसित तथा विस्तृत नहीं हो सका है, मनुष्य अब भी पिछली परिस्थितियों पर आधारित

मान्यताओं का बौना व्यक्तित्व या खर्व प्रतीक ही रह गया है।

आज मानव-प्रकृति को नया मूल्य देना है। भूत-वनस्पति, पशु-पक्षियों के जग की प्रकृति मनुष्य में अधिक सशक्त तथा विकसित रूप में प्रकट हुई है। उस प्रकृति को पिछले युगों की परिस्थिति से बँधी सीमाओं के कारण पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं मिल सकी है। आज के वैज्ञानिक युग में, जब कि मनुष्यों ने भूत शक्तियों पर पर्याप्त आधिपत्य प्राप्त कर लिया है, मानव-प्रकृति अधिक व्यापक, परिपूर्ण तथा समुन्नत अभिव्यक्ति चाहती है। आज उसके नवीन रूप से समाजीकरण एवं संस्कृतीकरण की आवश्यकता है। अभी मनुष्य का मन विगत युगों के आचार-विचार, नैतिक-आध्यात्मिक दृष्टिकोणों ही का प्रतिनिधित्व कर रहा है, जो एक प्रकार से बासी तथा अव्यवहार्य हो गया है। आज जीवन को, जिसकी शक्ति क्रान्ति है, अपने ही आवेगों की क्षमता में प्रकट होकर तथा आगे बढ़कर मन को नवीन उर्वर भावना से भरकर उसे नयी दृष्टि तथा प्रेरणा प्रदान करनी है। जीवन का क्षेत्र मन से कहीं व्यापक है। इस युग का युवकों का विद्रोह भी इसी जीवनी-शक्ति के आलोड़न का एक लक्षण है। युवक, मन से अधिक, जीवन का प्रतिनिधि होता है और उसके रक्त की पिघली आग में नित्य नये जीवन की प्रगाढ़ संवेदना प्रवाहित होती रहती है। अतएव आज मनुष्य के अन्तरतम में अजेय क्षमता के रूप में निहित प्रकृति का आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक तथा स्त्री-पुरुषों से सम्बन्धित सभी दृष्टियों से सभी धरातलों पर नवीनीकरण करना है, जिससे वह अधिक पूर्ण तथा समग्र रूप से धरती के जीवन में प्रस्फुटित होकर चरितार्थ हो सके। यह है संक्षेप में मानव-प्रकृति के पुनर्मूल्यांकन का युग, आज के समस्त आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक संघर्ष जिसके बाह्य लक्षण मात्र है। मानव-प्रकृति के सिन्धु का पुनः युग-मन्थन कर मानव-अहंता के केन्द्रीय मूल्य को बदलना एवं विकसित करना है।

निःसन्देह इस युग में कवि तथा सृजक के कन्धों पर अत्यन्त महान् दायित्व आ पड़ा है। धरनी के जीवन को उसके भाई-बहनों, आलोक-पुंज नक्षत्रों की श्रेणी में उनके समकक्ष बिठाने का भार वैज्ञानिक से भी अधिक आज के सृजन-प्राण द्रष्टा तथा स्रष्टा के ही ऊपर है। अपनी सीमाओं तथा अपने युग की सीमाओं के भीतर से मैं केवल इस सत्य के प्रति जागरूक-भर रह सका हूँ, उस दिशा में यत्किंचित् प्राणों की अंजलि भी दे सका कि नहीं, मैं नहीं जानता। मेरे कृतित्व के पुरस्करणीय होने का कारण मेरा कृतित्व सम्भवतः उतना नहीं, जितना आज के महान् युग के आविर्भाव का सौन्दर्य, चैतन्य, आनन्द तथा सृजन की भावना है। इस विराट् युग के अभिनव वसन्त के स्पर्श से यदि मेरी अकिंचन प्राण लता में भी दो-एक कोंपलें फूट पड़ी हों तो इसमें क्या आश्चर्य है। इन थोड़े-से शब्दों में, इस अवसर पर समागत, आप सब साहित्य-प्रेमी बन्धुओं का मैं अभिनन्दन करता हूँ जो इस महान् निर्माण-विनाश-सृजन-संहार के युग में विनाश-संहार की शक्तियों का साहस के साथ सामना करने में विश्वास रखते हुए सृजन तथा निर्माण के स्वल्प प्रयत्नों को प्रोत्साहन देने को प्रेरित एवं समवेत हुए हैं। आप सबके साथ मैं इस धरती के जीवन को प्रणाम करता हूँ जो अपनी समस्त दुर्बलताओं, अपने राग-द्वेष, कलह-क्रोध-

स्वार्थ-अहंकार तथा संघर्ष-संग्राम के होते हुए भी सब प्रकार से महान्, वरेण्य तथा विकासोन्मुखी चैतन्य से मण्डित है। इसमें सन्देह नहीं कि समस्त आलोकपुंज ग्रहों तथा भुवनों का सार भाग इसी धरती के जीवन में समाहित है। एवमस्तु।

एक अभिभाषण

मुझे अत्यन्त हर्ष है कि प्रयाग में इधर दो साहित्य-परिगोष्ठियों के बाद यह तीसरा साहित्यकार सम्मेलन हो रहा है। प्रयाग एक विशाल साहित्य-मंच है जिसमें अनेक संस्थाओं के तत्वावधान में प्रायः साहित्य सम्मेलन होते रहते हैं : इन संस्थाओं का अपना-अपना व्यक्तित्व, अपनी-अपनी विशेषताएँ है। इनमें अनेक प्रतिभाशाली लेखक तथा विचारक मधुमक्खियों की तरह गुंजन-मुखर रहकर बराबर सृजन, चयन तथा चिन्तन में निरत रहते है, और हिन्दी साहित्य को अपनी बहुमुखी देन से परिपुष्ट तथा कृतार्थ करते है। इधर मैं देख रहा हूँ कि हम साहित्यकारों के दृष्टिकोण में यह बडा स्वस्थ परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा है कि एक ही मंच पर अनेक विचारों, मतों तथा संस्थाओं के बुद्धिजीवी साहित्यिक समवेत होकर अपने विचारों तथा भावों का आदान-प्रदान कर मानसिक भोजन प्राप्त करने लगे है। मुझसे कहा गया है कि प्रस्तुत सम्मेलन भी इसी साहित्यिक प्रवृत्तियों के स्वस्थ आदान-प्रदान के लिए आयोजित किया जा रहा है और मैं इसका हृदय से स्वागत करता हूं, क्योंकि इस प्रकार के विचार-विनिमय से साहित्यिक प्रवृत्तियों के आकलन के साथ ही साहित्यकारों की मनोवृत्तियों पर भी स्वस्थ प्रभाव पड सकता है—यदि ऐसे सम्मेलन पूर्वग्रहरहित उन्मुक्त वातावरण में आयोजित हो सकें। जैसा कि मेरा अनुभव है इधर साहित्यिक प्रवृत्तियों से अधिक साहित्यकारों की मनोवृत्तियाँ ही साहित्यिक वातावरण को संकीर्ण बनाती जा रही है। पर अब हम अपनी संकीर्णताओं से ऊब गये हैं और अधिक खुले मन से, खुली हवा में, स्वस्थ जलवायु की आशा से परस्पर मिलने लगे है, जिसका परिणाम अवश्य ही हमारे साहित्य के लिए अधिक हितकर होगा।

हमारा युग जिज्ञासाओं का युग है और उसकी अपनी अनेकानेक आवश्यकताएँ हैं। आज हम एकदेशीय संस्कृति, कला या साहित्य के मंच से नहीं बोलते है, आज का राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा बौद्धिक जीवन सर्वदेशीय बनने का प्रयत्न कर रहा है। उसके पथ में अनेक प्रकार की भौतिक तथा मानसिक बाधाएँ हैं, जिन्हें विभिन्न देशों के लोग अपनी भीतरी-बाहरी परिस्थितियों तथा क्षमताओं के अनुरूप अतिक्रम करने की चेष्टा में संलग्न हैं। वैज्ञानिक एकता स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील इस युग को आत्मिक एकता भी स्थापित करनी है, जिससे मानव-जीवन का, वैयक्तिक तथा सामाजिक दृष्टि से, सर्वांगीण विकास हो सके।

ऐसे युग की सर्वोपरि अनिवार्य आवश्यकता मेरी दृष्टि में एकता की

आवश्यकता है और हमारे मध्ययुगीन धर्मों, नैतिक दृष्टिकोणों, सम्प्रदायों आदि में विभक्त देश को तो इसकी सबसे अधिक आवश्यकता है। यह एकता केवल आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन के धरातल पर ही स्थापित करना पर्याप्त नहीं है। आज के युग के मनुष्य के मानसिक तथा सांस्कृतिक धरातल भी क्षुब्ध, असन्तुष्ट तथा भूखे हैं, उनकी क्षुधातृप्ति करना भी आवश्यक है। सांस्कृतिक मान्यताओं के अतिरिक्त इस युग की आध्यात्मिक मान्यताओं में भी उलझन पैदा हो गयी है। ऐसे विरोधी विचारधाराओं के अधिदर्शन इस युग में मनुष्य के मन को उलझाये हुए हैं कि मानव-जाति की प्रगति कुछ समय के लिए संकटापन्न-सी प्रतीत होती है। जीवन के सभी धरातलों पर विरोधी शक्तियों का आधिपत्य एक व्यापक एवं सर्वांगीण परिवर्तन अथवा क्रान्ति की अपेक्षा रखता है। अतएव आज की एकता मनुष्य की धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक मान्यताओं तथा देश, जाति, वर्ण, सम्प्रदाय सम्बन्धी पूर्वग्रहों, संकीर्णताओं तथा स्वार्थों को अतिक्रम कर केवल मानवीय धरातल पर ही स्थापित हो सकती है। आज राष्ट्र या देश या धर्म एकता के प्रतीक नहीं रह गये हैं। आज की एकता के प्रतीक स्वभावतः ही धरती, विश्व तथा मानव बन गये है। धरती, विश्व तथा मानव—जिनमें अपार विचित्रताएँ, रुचिभेद, स्वभावभेद, जलवायुभेद, राजतन्त्रभेद तथा आर्थिक-सामाजिक प्रणालियों आदि के विभेद मिलते हैं। तो हमारी नयी एकता इन सब वैचित्र्यों तथा विभेदों को सँजोकर, विभिन्न दलों से युक्त शतदल की तरह, एक बहिरन्तर सन्तुलित एकता होगी। एकता का प्रश्न इससे भी अधिक गहरा, व्यापक और उच्च स्तरों की अपेक्षा रखता है, पर उस पक्ष के लिए यहाँ कहना आवश्यक नहीं। हमारा क्षेत्र आज साहित्य तथा संस्कृति तक ही सीमित है।

मानव-एकता के बारे में, संक्षेप में, इतना कुछ कह लेने के बाद अब मैं उस एकता को प्रतिष्ठित करने के लिए हमारे युग में जो प्रयत्न हो रहे है, उनकी ओर भी आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। आज के एकता के प्रयत्नों को मैं मुख्यतः दो रूपों में पाता हूँ, जिनके द्वारा विश्वजीवन में अनिवार्य परिवर्तन होने सम्भव हैं। आज का युगजीवन दो सशक्त एवं व्यापक विचारधाराओं से शासित है और वे हैं वैयक्तिक तथा सामूहिक विचारधाराएँ। इन्हीं विचारधाराओं के आधार पर आज सास्कृतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक प्रणालियाँ संचालित हो रही हैं और उन दोनों में परस्पर-विरोध भी बढ़ रहा है, यहाँ तक कि इन दो विचार-धाराओं ने आज दो शिविरों का रूप धारण कर लिया है। दोनों की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं और विशेषताएँ भी। ये दोनों विचारधाराएँ विकास के पथ पर हैं, दोनों को बहुत हद तक आपस में कटना-छँटना पड़ेगा और भौतिक स्तर पर जो विकास की द्वन्द्वात्मक प्रणाली कार्य करती है उससे गुजरकर एक व्यापक जीवनसमन्वय में इनके परिणत होने की सम्भावना है।

इन वैयक्तिक तथा सामूहिक संचरणों के आज अनेक रूप पाये जाते हैं और दोनों में अनेक प्रकार के प्रतिगामी तत्व भी मिल गये हैं, जिनसे इनका व्यापार और भी जटिल हो गया है। साहित्य में भी इन दोनों

विचारधाराओं के प्रतिनिधि पाये जाते हैं जो मान्यताओं की दृष्टि से आपस में प्रायः उलझते रहते हैं। हिन्दी के पिछले डेढ़-दो दशकों का इतिहास इसका प्रमाण है।

यह जो मैं कह गया हूँ वह केवल आज के युग की भूमिका के रूप में। किन्तु युग कोई एक निष्क्रिय स्थायी चीज नहीं है। हमारी पीढ़ी अपने साहित्यिक जीवन में—जो एक प्रकार से खड़ी बोली का जीवन है—चार युग देख चुकी है। विगत की ओर देखने का मुझे कम अभ्यास है। हम अपनी अनेक सीमाओं से बाहर निकलकर आगे बढ़ते जाते हैं। सम्भवतः आज साहित्य में भी नये अन्तरिक्ष का युग प्रवेश कर सकता है, यदि इस प्रकार के सम्मेलनों द्वारा हम सहानुभूतिपूर्वक इस विराट् युग की विभिन्न विचारधाराओं तथा भावनाओं का स्वस्थ सन्तुलित दृष्टि से परीक्षण कर तथा उनसे प्राणप्रद पोषक तत्वों को ग्रहणकर अपनी मानसिक परिधि को विस्तृत बना सकें एवं नवीन दीप्त ग्रहों की उपलब्धि से साहित्य का संस्कार कर सकें। साहित्य केवल विचारतत्वों से ही प्रणीत नहीं होता। विचार तो मुख्यतः शास्त्रों के क्षेत्रों में उगते हैं। साहित्य तो उनसे प्रकाश एवं प्रेरणा भर ग्रहण करता है। साहित्य मेरी दृष्टि में प्रधानतः मानव-हृदय का दर्पण है, हृदय मनुष्यत्व के सांस्कृतिक स्वास्थ्य का सूचक है, जिसके द्वारा जीवन में नवीन प्राणों के सौन्दर्य तथा रक्त का संचार होता है। आज के साहित्य में मानव-हृदय के जो सुख-दुःख के उच्छ्वास, स्वप्न, आशा-निराशा का संघर्ष, विकासोन्मुख रुचि का सौन्दर्य, जो अभीप्साएँ, प्रेरणाएँ तथा सम्भावनाएँ मिलती हैं उनका सहृदयपूर्वक मूल्यांकन कर हम अपनी राह आगे खोज सकते हैं। इस महान् युग में मैं मान्यताओं सम्बन्धी किसी ठोस निर्णय पर पहुँचने की कम आशा रखता हूँ। महान् युग की मान्यताएँ भी महान् होती हैं। उनका रूप कई पीढ़ियों के विचार-संघर्ष, आदान-प्रदान, निरीक्षण-परीक्षण के बाद ही निखरकर स्पष्ट हो सकता है, अभी तो वे विकसित होकर रूप ग्रहण कर रही हैं। मान्यताओं सम्बन्धी मतभेद का होना अभी अनिवार्य ही दिखता है। और वह अच्छा भी है, उससे जीवन का विकास एकांगी न होकर बहुमुखी ही होता है। हमें विभिन्न मतों तथा विचार-धाराओं का आदर करना सीखना चाहिए। वे विचारधाराएँ एक-दूसरे को प्रभावित कर विकसित हो सकें, ऐसे सम्मेलनों का यही उद्देश्य होना चाहिए।

मान्यताओं के अतिरिक्त आज साहित्यकारों के सम्मुख नवीन रूप-विधान, कलाशिल्प, विधाओं तथा शैलियों आदि के भी आवश्यक प्रश्न हैं जिन पर एकाग्र चित्त से गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया जा सकता है। और विभिन्न रुचि के साहित्यस्रष्टा शिल्प के नये सौन्दर्य को ग्रहण कर कला के धनी बन सकते हैं।

मैंने आपके सम्मुख जो कुछ भी रखा है वह आज के युग के वाद-विवादों की पृष्ठभूमि में केवल व्यापक साहित्यिक प्रश्नों को सामने रखते हुए। विस्तारपूर्वक विवेचन तो अनेक उपयोगी ज्वलन्त प्रश्नों पर आप लोग यहाँ एकत्रित होकर करेंगे ही। यहाँ आज जो विभिन्न क्षेत्रों तथा प्रान्तों के तरुण कलाकार समवेत हुए हैं उनकी क्षमता पर, उनकी प्रतिभा

तथा उनके सदुद्देश्यों पर मुझे पूर्ण विश्वास है। मैं जानता हूँ उनमें अनेक योग्यतम स्रष्टा तथा उत्कृष्ट विचारक हैं जो अपने युग की समस्याओं के प्रति जाग्रत तथा उनके सम्बन्ध में प्रबुद्ध भी हैं। उनके आत्मदान से हिन्दी साहित्य के अभावों की प्रतिदिन पूर्ति हो रही है और वे उसकी भावी के कुशल निर्माता हैं। मुझे इस सम्मेलन में बोलने का अवसर देकर इसके संयोजकों ने जो स्नेह प्रकट किया है उसके लिए मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। हिन्दी में अनेक संस्थाएँ, अनेक परिषदें, विभिन्न उद्देश्यों से स्थापित होती रहें, और अपने-अपने क्षेत्र में हिन्दी साहित्य को पुष्ट बनाती रहें। उन संस्थाओं के बीच में सौहार्द बढ़े और वे समय-समय पर सम्मिलित रूप से साहित्यपर्वों का आयोजन कर हिन्दी-भाषियों तथा साहित्य-प्रेमियों के साथ घुलमिलकर बैठ तथा बोल सकें—इससे अधिक सार्थकता की कल्पना मैं इन सम्मेलनों के लिए नहीं कर सकता। जिस प्रकार विचार-सम्बन्धी-शिल्प, सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोणों का होना परम आवश्यक है, उसी प्रकार इस जनतन्त्र के युग में उन विभिन्न विचारों तथा दृष्टिकोणों का एक-दूसरे के सम्पर्क में आकर विकसित-वर्धित होना भी उतना ही आवश्यक है। आज हम अपने देश के आदर्शों के अनुसार सहजीवन, सहअस्तित्व तथा पंचशील के युग में रह रहे हैं। साहित्य में भी सहअस्तित्व प्रतिष्ठित हो, यह हिन्दी साहित्यिकों की अनिवार्य आवश्यकता है। वे अपने मानसिक स्वास्थ्य तथा शील की रक्षा के लिए, साहित्य के लिए उपयोगी पंचशीलों को भी जन्म दे सकें तो अच्छा है।

इन थोड़े-से शब्दों में, आपका बार-बार स्वागत करते हुए तथा साहित्यकार सम्मेलन के संयोजकों को धन्यवाद देते हुए मैं अब आपको अधिक विद्वत्तापूर्ण वातावरण के लिए प्रस्तुत कर अवकाश लेता हूँ। धन्यवाद।

अभिभाषण का अंश

हमारा यह विशाल देश अनेक शताब्दियों के दैन्य तथा दासता से मुक्त होकर, सम्प्रति, अपनी सद्य:अर्जित स्वतन्त्रता के नवीन आशा-उल्लासप्रद वातावरण में साँस लेना सीख रहा है। आज उसके मानसक्षितिज में नवीन जागरण, नवीन जीवन-निर्माण के स्वप्न उदय हो रहे हैं। जिस नवीन सार्वभौम चैतन्य से आज नये भारत का अन्त:करण ओतप्रोत हो रहा है हमारी पिछली पीढ़ी के अनेक महापुरुष, जिनमें से अनेक यहाँ भी विद्यमान हैं, उस चेतना-शिखा के वाहक, लोकनायकों के रूप में, हमारे देश के इतिहास में चिरस्मरणीय ज्योतिस्तम्भों की तरह प्रतिष्ठित रहेंगे। ऐसे महान् अवसर पर, जब कि हम अपने युग-जीवन पर दृष्टि डाल रहे हों, युगपुरुष एवं युगनायक महात्मा गांधीजी का राम-नाम अपने अप्रतिम आलोक में सर्वोपरि मानस के दीप्त स्मृतिशृंगों पर उदय हो उठता है। लगता है, जैसे इस युग के सभी श्रेष्ठ नाम उन्हीं के नाम हों, सभी वरिष्ठ व्यक्ति उन्हीं की आत्मा के कण अथवा प्रतिमूर्ति हों। हमारे राष्ट्रपिता

की आत्मा आज निःसन्देह ही परम प्रसन्न होगी कि उन्हीं की महत् युग-पीठिका पर प्रतिष्ठित, तप और त्याग के सात्विक आदर्शों की तप्तकांचन-मूर्ति, वरेण्य राजर्षि टण्डनजी की महान् सेवाओं के लिए आज हमें उनका अभिनन्दन करने का शुभ अवसर मिल सका है।

आज हमारा देश अपनी सद्यःप्राप्त स्वतन्त्रता का निर्माण तथा संगठन करने में व्यस्त है। चारों ओर से नवीन जागरण की शक्तियाँ अनेक आर्थिक, राजनीतिक योजनाओं के रूप में, अजस्र निष्ठा तथा लगन के साथ कार्य कर रही हैं। ऐसे महत्व के युग में जब कि हम अपने देश के बहिर्जीवन के खँडहर का पुनर्निर्माण करने में संलग्न तथा व्यस्त हैं, हमारे लिए अपने अन्तर्जीवन का संगठन, उसके जीर्णोद्धार तथा नव-निर्माण की समस्या भी उतनी ही आवश्यक है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि जहाँ हमने राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्रता अर्जित कर ली है वहाँ हम सांस्कृतिक दृष्टि से अभी पश्चिम की मानसिक दासता से मुक्त नहीं हो सके हैं। शतियों से दूसरो की संस्कृति तथा दूसरों की भाषा ओढ़े हुए, मानसपुत्रों की तरह, दूसरों के विचारों में पलने, और उनके भार से आक्रान्त रहने के कारण हमारे मनोयन्त्र प्रेरणाशून्य, निष्क्रिय, निःस्पन्द तथा मौलिकता से विहीन हो गये है। जो विराट् देश अपनी महान् प्रतिभा से सदैव संसार को चमत्कृत करता रहा है और जो उच्च मौलिक विचारों का जनक तथा सर्जक रहा है, आज वह अपनी मानसिक सम्पत्ति दूसरे देशों से ऋण लेकर अपने जीवन तथा मानवधर्म का निर्वाह करे, यह हमारे महान् राष्ट्र के आत्म-सम्मान के लिए किसी प्रकार भी शोभा-जनक नहीं है। हम आज केवल अन्य देशों के विचारों के भार-वाह मात्र रह गये है, और उसी में, दुर्भाग्यवश, हम गौरव का अनुभव करते हैं। मध्ययुगों से हमारी चेतना इतने सम्प्रदायों, प्रान्तों, जाति-पाँति तथा रूढ़ि-रीतियों में विभक्त होकर विघटित हो गयी है कि हम उन अस्वस्थ परम्पराओं तथा रुग्ण परिपाटियों की दीवारों को छिन्नभिन्न कर नवीन भारतीय चेतना के व्यापक प्रागण में अपने मानसिक जीवन का अन्तः-संगठन करने का साहस नहीं बटोर पा रहे हैं। इसीलिए हमारे मन में अपनी भाषा तथा संस्कृति के प्रति घोर उदासीनता तथा उपेक्षा के भाव भर गये हैं। भाषा, निःसन्देह ही, सामूहिक मन को खोलने की सुनहली कुंजी है, जिसके बिना लोकहृदय के द्वार बन्द ही रह जाते हैं। जिस प्रकार 'स्वदेशी आन्दोलन' से पूर्व बहुमूल्य विदेशी वस्त्रों में सजधजकर अपने को सभ्य समझते रहे है उसी प्रकार हम हम आज विदेशी भाषा के सौन्दर्य में लिपटे, अपने को सभ्य तथा संस्कृत समझने के शुभ्र अन्धकार में डूबे हुए हैं। इसी कारण हम अपने लोक-जीवन से विच्छिन्न हो गये है और हमारा लोक-जीवन भी निष्प्राण, निर्जीव तथा चैतन्यशून्य ही रह गया है। वह हमारे राष्ट्रजीवन का अंग नहीं बन सका है। उसमे नये जागरण तथा नयी प्रेरणा का अभाव है। भाषा के मूल, निश्चय ही, अत्यन्त गहरे, देश या जाति की संस्कृति में या जनता की सामूहिक अन्तश्चेतना में होते है। यदि हमारे अन्तःकरण के चैतन्य का स्रोत सूख जाय और वह अपने को वाणी न दे सकने के अभाव में लोकजीवन का अंग न बन सके और मानसिक जीवन के सौन्दर्य में संगठित न हो सके तो इससे बड़ी क्षति,

बड़ा दुर्भाग्य तथा बड़ा दारिद्र्य किसी देश के लिए और क्या हो सकता है? यह तो ऐसा ही हुआ कि हम अपनी धरती में अन्न न उपजाकर बाहर से खरीदते रहें और किसी प्रकार अपना उदर-पोषण करते रहें।

एक ऐसे अविस्मरणीय अवसर पर, ऐसी सम्भ्रान्त उपस्थिति के सम्मुख, मुझे यह कहने में अत्यन्त दुःख हो रहा है कि हमारे मन की धरती अपनी भाषा के न होने के कारण अभी बंजर ही पड़ी है और जो हम दूसरे देशों के विचारों के अन्न-कणों से अपना भरण-पोषण करने के अभ्यस्त हो गये हैं, यह इस बात का दुःखद प्रमाण है कि हमारे भीतर अभी अपने मनुष्यत्व के प्रति आत्म-गौरव, तथा राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान की भावना जागृत नहीं हो सकी है। राष्ट्रीय एकता, लोकसंगठन तथा मनःशक्ति की दृष्टि से, हम, इलियट के शब्दों में, केवल 'हॉलो मेन' खोखले व्यक्तित्व मात्र हैं। लोकजीवन का संगठन एवं निर्माण कर उसे राष्ट्रजीवन तथा राष्ट्र-शक्ति का रूप देना विदेशी भाषा के बल पर नहीं हो सकता; वह तो केवल हमारे देश के इने-गिने मध्यवर्गीय मस्तिष्कों पर ही आकाशलता की तरह शोभा दे सकती है। अपनी भाषा के न होने से हम अपनी संस्कृति के मूल स्रोतों तथा अपने लोक-सम्बन्धों के मूलों से कटकर एकदम विच्छिन्न हो गये हैं। क्या यह भी कहना आवश्यक है कि राष्ट्र के पोषण तथा सर्वांगीण स्वास्थ्य के लिए अन्न की नालों पर लदी हुई सुनहली बालियों से अधिक अनिवार्य भाषा के वृन्त पर प्रस्फुटित एवं विकसित उस राष्ट्रमानस के शतदल का सौन्दर्य-वैभव है जिसके बिना जीवन के बाह्य उपकरणों से सम्पन्न देश भी अन्धा और कंगाल ही है? विज्ञान को प्रणाम करता हूँ। निःसन्देह, भारत-जैसे शतियों से शोषित देश के बाह्य रूप का निर्माण करने के लिए विज्ञान की शक्ति हमारे लिए वरदान सिद्ध हो सकती है। किन्तु क्या यह महत् प्रश्न आज युग के सामने नहीं है कि भौतिक विज्ञान की शक्ति से निर्मित पृथ्वी के इस विशाल जीवनप्रांगण में कौन और कैसे लोग रहेंगे? अणु-उद्जन के विध्वंसक अस्त्रशस्त्र बनानेवाले दानव अथवा विश्वमंगल की भावना से प्रेरित भू-जीवन-रचना में संलग्न शिष्ट और संस्कृत मानव? विज्ञान के विद्युद्गामी पंखों पर उड़कर क्या आज का मनुष्य चन्द्र, भौम या शुक्र लोकों को अधिकृत कर अपने वर्तमान मन का यही क्षुद्र राग-द्वेष-घृणा-स्पर्द्धा भरा अन्धकार वहाँ भी फैलायेगा?

विद्वज्जनो, आज भारतीय चैतन्य एवं भारतीय मानस और जीवन-दृष्टि की विश्व को सर्वाधिक आवश्यकता है। हम अपने उस विश्वमंगल के द्योतक उच्च चैतन्य के प्रकाश को मन तथा जीवन के स्तर पर नवीन सामाजिकता तथा मानवता के रूप में तभी संगठित एवं मूर्त कर पायेंगे जब हम अपनी भाषाओं की शिराओं द्वारा उस स्वर्ग के रक्त को निर्बाध प्रवाहित कर, घर-घर में और जन-जन में उस स्वर्ग-पावक का वितरण कर सकेंगे।

जिस प्रकार आज के युग में सम्पत्ति की वैज्ञानिक इकाई श्रम है और लोकश्रम का स्रोत सूख जाने पर सारे संसार की सम्पत्ति को दुहकर भी हम वैभवशाली राष्ट्र नहीं बन सकते, और न जनता के जीवन को ही राष्ट्र-कर्म की सामूहिक लय और संगति में बाँधकर उद्बुद्ध कर सकते हैं, उसी

प्रकार किसी देश की मानसिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक सम्पत्ति का स्रोत देश की जीवन्त भाषा में होता है जो नीचे के स्तर से ऊपर के स्तर तक प्राणों का सामूहिक स्पन्दन-कम्पन लिये, देश की आत्मा का प्रकाश तथा प्रबुद्ध मानसों का वैभव लिये, अविराम शब्दसंचरित होती रहती है। और, परमादरणीय सज्जनो, जिस प्रकार श्रम अथवा कर्म की प्रेरणा के अभाव में जन-शक्ति में जंग लग जाता है और वह जागरण का प्रकाश-वाहक न बनकर विघटन तथा ह्रास का अन्धकार बनकर रह जाती है, उसी प्रकार अपनी भाषा के अभाव में किसी भी देश की मानवता इस समाजी-करण, समूहीकरण, संस्कृतीकरण एवं विशेषीकरण के युग में दूसरों के इंगित पर चलनेवाली आत्म-विमुख, जीवन-विमुख, निर्जीव दारुयन्त्र मात्र रह जाती है! यही उसका एकमात्र मूल्यांकन है।

आज महात्मा गांधीजी के महान् सहकर्मियों के सम्मुख करबद्ध होकर, तथा तपःप्राण श्रद्धेय टण्डनजी के अभिनन्दन के इस शुभ अवसर पर महत् हर्ष से प्रणत होकर, बापू की शुभ्र जीवन-दृष्टि मुझे आप लोगों के सामने यह प्रार्थना करने को प्रेरित करती है कि भारत की नयी पीढ़ियाँ देश-कार्य एवं लोक-यज्ञ करने में आप लोगों के तप और त्याग के पथ की अनुयायी बन सकें। हमारे गाँव एवं जनपद, जहाँ हमारे देश का ८० प्रति-शत से ऊपर हृदय-स्पन्दन नये जीवन की प्रतीक्षा तथा आत्म-कल्याण की आशा में साँसों का बोझ ढो रहा है—हमारी उन गाँवों की भूमि हरी-भरी तथा जीवन-उर्वर बन सके। हमरी धरती की पीठ से शतियों के दारिद्र्य, दुःख तथा अशिक्षा के अमानुषी अन्धकार का भार हट सके। हमारे लोकगण नयी जीवन-चेतना, नयी संस्कृति, नयी मानव-एकता के वाहक तथा प्रतीक बन सकें और पश्चिम की ह्रासोन्मुखी कृत्रिम सभ्यता की कोरी प्रतिकृति हमारे भद्दे नगर, हमारे ग्रामजीवन से नये सत्य की प्रेरणा, नये श्रम की साधना, नयी संस्कृति की चेतना तथा नयी लोकएकता का सम्बल प्राप्त कर अपने बहिरन्तर जीवन की नवीन रूप से रचना करने में समर्थ हो सकें। शान्त, सौम्य, संस्कृत लोकमंगल एवं विश्वकल्याणमें रत मानवता के चिरन्तन भारतीय स्वप्न को जीवनमूर्त करनेवाले, अपने देश के अधिनायकों, लोक-शिल्पियों तथा सम्भ्रान्त नागरिकों के सम्मुख श्रद्धेय टण्डनजी को पुनः-पुनः विनम्र प्रणाम निवेदन करते हुए, मैं अपने आदरणीय अतिथियों का अमूल्य समय अपहरण करने के लिए उनसे क्षमायाचना करता हूँ।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न : क्या रचना के प्रति प्रतिबद्ध होना जीवन (समाज, राष्ट्र, इतिहास) के प्रति प्रतिबद्ध होने से अलग हो सकता है? क्या इस तरह का अन्तर रेखांकित किया जा सकता है?

उत्तर : रचना के मूल स्रोत जीवन एवं मन ही में अन्तर्हित होते हैं। जीवन के ही अंग समाज, राष्ट्र, इतिहास-दर्शन आदि भी हैं। इस-

लिए रचना के प्रति प्रतिबद्धता है। कला-शिल्प तथा वैयक्तिक रुचि एवं संस्कारों की दृष्टि से प्रतिबद्धता का जो रूप ग्रहण करती है वह इतनी असम्पृक्त नहीं हो सकती कि रचना तथा व्यापक जीवन पर आधारित उसके उपादानों का अन्तर रेखांकित किया जा सके। वैयक्तिक संस्कार तथा प्रतिभा रचना को विशेषता देते हैं, पर उनके मूल व्यापक मानव-चेतना एवं सामाजिक चेतना ही में होते हैं। विशिष्टता कोई आत्म-स्वतन्त्र विच्छिन्न पदार्थ नहीं, वह साधारणता अथवा सामान्यता की ही उपज है—जीवन की सामान्यता यदि दूध है तो विशिष्टता मक्खन, जिसमें मूलतः दूध के ही सारभूत गुण हैं।

प्रश्न : क्या आधुनिक जीवन की विसंगतियाँ आज के लेखक को रचना के स्तर पर उत्तरदायित्वरहित होने का आग्रह करती है? क्या उत्तरदायित्वहीनता की भी कोई प्रतिबद्धता सम्भव है?

उत्तर : उत्तरदायित्वहीनता मूल्य नहीं हो सकती, इसलिए उसके प्रति प्रतिबद्धता का प्रश्न ही नहीं उठता। आधुनिक जीवन की विसंगतियों के कारण आज के युग में लेखक का दायित्व और भी बढ़ जाता है। लेखक जन-साधारण से अधिक प्रबुद्ध होता है, वह विसंगतियों के कारण छाये हुए धुन्ध और कुहासे को अपनी बोध-दृष्टि से चीरकर उसके पार देखने की क्षमता रखता है। यदि गंगाजी में बाढ़ आ जाने के कारण नगर डूब रहा हो या पावरहाउस के फेल हो जाने के कारण नगर में अन्धकार छा गया हो तो इस विसंगति को स्थायी मानकर नगर में लूट-पाट मचाने को धर्म नहीं माना जा सकता। बाढ़-पीड़ितों की सहायता अथवा नगर के अन्धकार में मोमबत्ती या दीपों की सहायता से यत्किंचित प्रकाश का संचार करना ही तब दायित्व हो जाता है, बाढ़ या अन्धकार से लाभ उठाना या उसके कारण लोगों की असहायता को एकमात्र महत्त्व देना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती। अतः विसंगतियाँ यदि लेखक से रचना के स्तर पर उत्तरदायित्वरहित होने का आग्रह-भर करती हैं तो उस विकृत आग्रह को लेखक को अपने मनोबल से दूर हटाकर अपने दायित्व के प्रति सतर्क रहना चाहिए, अन्यथा वह लेखक की चरित्रहीनता होगी।

प्रश्न : प्रतिबद्ध साहित्य और अप्रतिबद्ध साहित्य का अन्तर क्या सीधे-सीधे प्रगतिशील और प्रतिगामी साहित्य के रूप में लिया जा सकता है? अथवा अप्रतिबद्ध साहित्य भी प्रगतिशील हो सकता है और प्रतिबद्ध साहित्य प्रतिगामी?

उत्तर : प्रतिबद्ध साहित्य सदैव ही प्रगतिशील और अप्रतिबद्ध साहित्य सदैव प्रतिगामी नहीं कहा जा सकता। प्रगतिशीलता और प्रतिगामिता का सम्बन्ध लेखक की प्रतिबद्धता से भी अधिक उसकी बोध-दृष्टि की व्यापकता एवं प्रबुद्धता से होता है। हम एक सम्प्रदाय की विचारधारा के प्रति प्रतिबद्ध होकर प्रतिगामी साहित्य को भी जन्म दे सकते हैं, यदि वह सम्प्रदाय युगीन प्रगति

का पोषक न हो या विकास की शक्तियों का विरोधी हो। ज्ञात रूप से प्रतिबद्ध न होने अथवा अप्रतिबद्ध रहने पर भी लेखक की चेतना को अज्ञात रूप से प्रगति की शक्तियाँ प्रभावित कर सकती है। यों सृजन-प्रेरणा केवल मन के ऊपर छाये हुए चेतन तत्त्वों या प्रभावों से ही परिचालित नहीं होती, वह अवचेतन की शक्तियों तथा अन्तरचेतना की मौन गहराइयों से भी संचालित होती है। अत: प्रगतिशीलता और प्रतिगामिता को प्रतिबद्धता-अप्रतिबद्धता से जोड़ना न्यायसंगत नहीं लगता।

प्रगतिशीलता को भौतिक सामूहिक प्रगति तक ही सीमित करना उसे आंशिक दृष्टि से देखना है। मानव-जीवन एवं लोक-जीवन का सर्वांगीण विकास एवं प्रगति ही पूर्ण एवं समग्र प्रगति की दृष्टि है। जनराशि और मानवीय गुण में संयोजन होना अनिवार्य है। अत: प्रगति के प्रति केवल ऊपरी या बाहरी छिछला दृष्टिबोध भी कभी-कभी प्रतिगामी साहित्य को जन्म दे सकता है। लेखक की अन्त:प्रबुद्धता के साथ युग-प्रबुद्धता ही प्रगतिशील अथवा प्रतिगामी साहित्य की कसौटी हो सकती है।

प्रश्न : सार्त्र ने जिसे 'कमिटेड लिटरेचर' कहा है क्या उस तरह की प्रवृत्ति साहित्य की उन्मुक्त प्रगति और मानव-सम्बन्धों की नूतनतम व्याख्याओं में बाधक नहीं होती ? और इस तरह क्या वह रचना के स्तर पर एक संकीर्णता को बढ़ावा नहीं देती ?

उत्तर : इस प्रश्न का उत्तर तीसरे प्रश्न के उत्तर में आ गया है। पश्चिमी देशों के जीवन तथा मनोजगत् में दो विश्वयुद्धों के बाद आज जो अवसाद, धुन्ध, सन्त्रास, मृत्युभय, विघटन तथा ह्रास का घोर कुहासा छाया हुआ है उसके कारण अधिकांश बुद्धिजीवियों की दृष्टि युगान्ध हो उठी है। वे जीवन की वास्तविकता को वर्तमान की सीमाओं के भीतर एक विच्छिन्न चैतन्य खण्ड के रूप में देखने लगे हैं। विज्ञान के विकास तथा क्रान्ति की शक्तियों मे अभिवृद्धि के कारण यूरोप की मध्यवर्गीय संस्कृति में विघटन पैदा होना स्वाभाविक है। वहाँ का बौद्धिक वर्ग तथा लेखक सामूहिक जन-जागृति की चेतना की बाढ़ से सन्त्रस्त हो, विकासशील भविष्योन्मुखी वास्तविकता के प्रति आँख मूँदे आज एक मध्यवर्गीय रुचि एवं संस्कारों से निर्मित काल्पनिक मनोद्वीप में निवास करने लगा है और संशय, मृत्युभय, त्रास तथा वैयक्तिक संस्कारों से पोषित व्यक्तित्व के समर्थन में सतही तथा खोखले अस्तित्ववादी साहित्य-दर्शन को जन्म दे रहा है, जिसके मूल विघटित हो रहे व्यक्ति की वेदना तथा अमूर्त वास्तविकता की गहराई में अधिकाधिक प्रवेश करते जा रहे हैं और युग-जीवन की प्रगतिशील अथवा विकासोन्मुखी व्यापकता से कटकर विच्छिन्न होते जा रहे है। वे न वास्तविक रूप में अध्यात्म का अथवा समग्र मानवीय चैतन्य का स्पर्श पा सके हैं, न वैज्ञानिक वास्तविकता के आदर्श ही को ग्रहण कर सके हैं। विज्ञान ने जड़ की ग्रन्थि खोलकर जो शक्ति का स्रोत मनुष्य के लिए उन्मुक्त कर

दिया है उसकी सार्थकता ही इसमें है कि सदियों से अभाव में पोषित धरती के ओर-छोरव्यापी लोक-जीवन का पुनर्निर्माण एवं उद्धार हो सके। सभ्यता का इतिहास जो आज तक सम्पन्न नहीं कर पाया था, विज्ञान आज उसे चरितार्थ कर सके। किन्तु मध्यवर्गीय जीवन के संस्कार इसका ज्ञात-अज्ञात रूप से विरोध करते हैं और आज समस्त संसार दो शक्ति-शिविरों में विभक्त है। एक शिविर लोक-जीवन एवं विश्व-जीवन के विकास का अवरोधक है तो दूसरा समर्थक। सार्त्र-जैसे सर्जकों को मैं अवरोधी शिविर में पाता हूँ। इसीलिए उनकी रचनाओं में नूतनतम मानवीय सुनहले सम्बन्धों की कल्पना का एकान्त अभाव तथा टूटते हुए विगत सम्बन्धों की चेतना के अवसाद का आधिक्य पाया जाता है।

प्रश्न : क्या आप मानते है कि आज के भारतीय जीवन में प्रतिबद्धता का सवाल बहुत बड़ा सवाल है, क्योंकि हमारा देश एक अर्द्ध-विकसित स्थिति से पूर्ण विकास की ओर उन्मुख होने के लिए प्रयत्नशील है ?

उत्तर : हमारे देश में आज सदियों के बाद निर्माण के युग ने पदार्पण किया है। आधुनिकतम विश्व-बोध को आत्मसात् कर आज हमें अपने पराधीनता के राहु से मुक्त देश के जीवन का नवीन युग की पीठिका पर पुनर्निर्माण करना है और भारतीय जीवन के उन्नत अन्तर्मुखी आदर्शों की विश्व-जीवन की प्राणशिला पर युग-अनुरूप नवीन रूप में प्रतिष्ठा कर आज के बहिर्भ्रान्त ध्वंसोन्मुख विश्व-जीवन को नवीन चैतन्य के प्रकाश का संजीवन प्रदान करना है। इस दृष्टि के ऐतिहासिक महत्त्व को ध्यान में रखकर नवीन मनुष्यत्व के निर्माण के लिए उत्सुक प्रत्येक भारतीय लेखक, स्रष्टा और द्रष्टा को अपने देश के जीवन को समग्र रूप से सँजोने के लिए प्रतिबद्धता का अनुभव करना चाहिए। एक ओर आज भारत का अन्तर्बोध है तथा दूसरी ओर विश्व का बहिर्मुखी वैज्ञानिक बोध। दोनों का सर्वांगीण संयोजन करना विश्व-जीवन की वर्तमान संकट-स्थिति में अनिवार्य हो उठा है। अतएव इस विकासोन्मुखी भारतीय चेतना के पोषक समर्थ सर्जक के लिए प्रतिबद्धता स्वभावतः ही आज के युग में अपना विशेष महत्त्व रखती है।

हमारे देश में मध्ययुगीन प्रवृत्तियों का विघटन जिस गति से होना चाहिए था उस गति से नहीं हो पा रहा है, अनेक प्रकार की मध्ययुगीन प्रवृत्तियाँ सिर ऊपर उठाये हुए हैं। अधिकांश युवक लेखकों में हीन-भावना व्याप्त है, वे पश्चिम के ह्रासोन्मुखी विचारों से प्रेरित जिस प्रकार के साहित्य को जन्म दे रहे हैं उनका हमारे जीवन से आज दूर का भी सम्बन्ध नहीं। ऐसी अनास्था, संशय, सन्त्रास आदि की भावनाएँ नवयुवकों के लिए घातक सिद्ध हो रही है। नव-लेखन को बहुत हद तक अभी अपना दायित्व सम्हालना है।

प्रश्न : आपकी राय में यदि हिन्दी का आधुनिक साहित्य उत्तरदायित्व-हीनता को बढ़ावा देता है तो क्या वह प्रतिगामी है अथवा उसकी जड़ें आज के भारतीय समाज में हैं ?

उत्तर : ऐसे साहित्य की जड़ें अपने देश में न होकर बाहर के देशों के ह्रासोन्मुखी साहित्य में अधिकतर मिलती हैं। अपने देश की मध्ययुगीन मान्यताओं तथा परिस्थितियों में जो ह्रास तथा विघटन घटित हो रहा है उसका आभास भी इस साहित्य में नहीं मिलता। क्योंकि यह दायित्वबोध से शून्य है। प्रतिगामी न होते हुए भी यह साहित्य की संज्ञा से अभिहित किये जाने योग्य नहीं है क्योंकि यह जीवन्त वैश्व-प्राणवत्ता के शून्य साँझ के अम्बर-डम्बर की तरह युग-सन्ध्या के क्षितिज पर धूमिल वाष्पों के मुख पर बिखरी अस्तोन्मुखी किरणों की लालिमा के समान है जिसका अस्तित्व अगले क्षण मिटने के लिए होना है और जिसकी सार्थकता विस्मृति के गर्भ में विलीन होने ही में है।

प्रश्न : क्या लेखक चेतन-स्तर पर प्रतिबद्ध अथवा अप्रतिबद्ध होता है अथवा यह प्रश्न उसके जीवन, अनुभव, चिन्तन अथवा दृष्टि से जुड़ा है ? क्या यह सम्भव है कि एक तरह का जीवन जीनेवाले समाज के प्रति प्रतिबद्ध होंगे और अन्य अप्रतिबद्ध ?

उत्तर : प्रतिबद्धता अथवा अप्रतिबद्धता निश्चय ही लेखक के जीवन, अनुभव, चिन्तन तथा दृष्टि से जुड़ी होती है। यदि जीवन का धर्म मनोमय जीवन में है तो विशेष प्रकार से जीवन जीनेवाले — अर्थात युग-बोध से सम्पन्न एवं विकासोन्मुखी शक्तियों के प्रति प्रबुद्ध जीवन जीनेवाले समाज, लोक-जीवन तथा विश्व-मंगल के प्रति प्रतिबद्ध होंगे तथा स्थापित स्वार्थों में पोषित, अवसरवादी, निश्चरित्र, अपनी अहंता को विश्वात्मा से अधिक महत्त्व देनेवाले बौद्धिक तथा सर्जक मानवीय मूल्यों तथा सामाजिक चेतना से अप्रतिबद्ध होंगे।

भेंट-वार्ता

अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध में आपकी अपनी क्या धारणा है ? साहित्य में जिस उद्देश्य को लेकर आप चले थे क्या उसे आपने प्राप्त कर लिया ?

मैंने तो अपने व्यक्तित्व के बारे में कभी इस प्रकार सोचा ही नहीं है। मैं यह जानता हूँ कि मनुष्य कुछ संस्कार लेकर आता है और वह उन्हें अपनी परिस्थितियों के अनुरूप विकसित करने का प्रयत्न करता है। परिस्थितियों में कुछ शक्तियाँ सहायक होती है और कुछ विरोधी। मनुष्य को इन दोनों के बीच से अपने को चलाना पड़ता है। अन्त में मनुष्य क्या बन जाता है या क्या उसे बनना चाहिए था, यह बतलाना कठिन है। यह स्वाभाविक है कि विभिन्न व्यक्तियों की मेरे व्यक्तित्व के बारे में विभिन्न धारणाएँ हो सकती है और उनमें आंशिक सत्य भी हो

सकता है। मनुष्य को एक सर्वांगीण दृष्टि से पहचानने की कसौटी उसके प्रति सहानुभूति है क्योंकि मनुष्य की अनेक सीमाएँ होती हैं और जिस युग और जिस परिवेश में वह जन्म लेता है और पलता है उनकी भी अनेक प्रकार की सीमाएँ होती हैं और ऐसी दशा में यह कहना भी बड़ा कठिन हो जाता है कि जिस उद्देश्य को लेकर मैं साहित्य में चला था उसको मैं प्राप्त कर सका हूँ। अगर मुझे अपने प्रयत्नों में आंशिक सिद्धि भी प्राप्त हुई है तो मैं उसे आगे के लिए एक सीढ़ी बनाने का प्रयत्न करता रहता हूँ।

आलोचकों की एक सामान्य धारणा है कि आपकी रचनाओं पर बहुत-से व्यक्तियों का प्रभाव पड़ा है, यह कहाँ तक सत्य है?

प्रभाव की बात इस युग के आलोचक पहले कहा करते हैं। मैं यह तो नहीं कहूँगा कि मुझमें किसी या किन्हीं व्यक्तियों का प्रभाव पड़ा है पर मैं यह अवश्य कहूँगा कि मुझे अपने स्वयं के विकास में अनेक प्रकार के साहित्यकारों, कवियों, चिन्तकों तथा आलोचकों से सहायता मिली है। वाणी मैंने अपने ही भीतर के सत्य को दी है। और ऐसा सदैव होता भी है। उदाहरण के लिए अगर हम कहें कि स्वामी विवेकानन्द में रामकृष्ण परमहंस का विशेष प्रभाव रहा है तो यह कहना मुझे पर्याप्त नही लगता। रामकृष्णजी के व्यक्तित्व से या उनकी दीक्षा से स्वामी विवेकानन्दजी के विकास में सहायता मिली हो पर परमहंसजी और विवेकानन्दजी के व्यक्तित्वों में जितना महान् अन्तर है उसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति बीजरूप में जो होता है उसी का प्रस्फुटन मूलत: उसके व्यक्तित्व के विकास में होता है, भले ही उसे विभिन्न व्यक्तियों अथवा विचारधाराओं से अपने विकास में सहायता मिली हो। यही बात मैं अपने जीवन में भी देखता हूँ। वैसे मैंने विवेकानन्द, गांधी, कार्ल मार्क्स, श्रीअरविन्द आदि चिन्तकों से तथा अनेक पौर्वात्य तथा पाश्चात्य कवियों तथा साहित्यकारों से प्रेरणा ली हो पर इन सबने मेरे अपने व्यक्तित्व के विकास में वही कार्य किया है जैसे किसी बीज या वृक्ष के विकास में उर्वरक या खाद काम करती है।

जो नये-नये आन्दोलन और वादों की प्रवृत्ति हिन्दी साहित्य में आ रही है, क्या वह शुभ है?

नये-नये आन्दोलनों अथवा आधुनिकतम प्रवृत्तियों से यदि आपका अभिप्राय हिन्दी के 'बीटनिक्स' से है जिन्हें भूखी पीढ़ी, विद्रोही पीढ़ी, अन्यथावादी आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है तो मैं इस समस्त संचरण को दिग्भ्रान्त मानता हूँ; जिसमें केवल युग के विघटन, ह्रास तथा नैतिक पतन को ही अतिरंजित अभिव्यक्ति दी जाती है। इस मानवीय एवं सामाजिक मूल्यों से विहीन साहित्यिक आन्दोलन से, जो व्यक्ति-वैशिष्ट्य तथा अचेतन-उपचेतन की दुहाई देकर आत्म-विज्ञान के बल पर बढ रहा है, न व्यक्ति का संस्कार सम्भव है, न सामाजिक कल्याण ही। इस आन्दोलन में न गहराई मिलती है, न ऊँचाई और न व्यापकता ही। यह अत्यन्त ही छिछला, सतही तथा कीचड़ में सना सृजन-आवेग अथवा उद्वेग है। यथार्थ की दुहाई देकर जो लोग इस आन्दोलन का समर्थन करते हैं वे यह नहीं जानते कि यह यथार्थ का कितना नगण्य तथा कुत्सित

रूप है। जो नया व्यापक जीवन-यथार्थ, मानवीय यथार्थ अथवा लोक-यथार्थ इस युग में जन्म ले रहा है उसके हृदयस्पन्दन तथा संवेदन से यह निम्न प्रवृत्तियों के अन्धे कुएँ में भटका यथार्थ बिल्कुल ही वंचित तथा विरहित है। इसलिए मैं इसे युग का प्रतिनिधि यथार्थ न कहकर केवल कुछ आत्म-कुण्ठित तथा खण्डित अधोमुखी प्रवृत्तियों के व्यक्तियों का संकीर्ण तथा साहित्य की दृष्टि से अवांछित यथार्थ कहना ही उचित समझूँगा।

क्या आपका लोकायतन 'लोकायन' के ही विचारों से बना है जिसे आप कभी एक संस्था के रूप में देखना चाहते थे ? इसकी पृष्ठभूमि क्या है ? इसके संक्षिप्तीकरण की ओर आपके क्या विचार हैं ?

एक प्रकार से यह सच है कि 'लोकायतन' की कल्पना मेरे मन में तभी उदय हो गयी थी जबकि मैंने 'लोकायन' नामक अपनी संस्था की रूपरेखा बनायी थी। संस्था को युग-जीवन की वास्तविकता तथा सीमा के भीतर अपना निर्माण करना पड़ता है किन्तु काव्य में मुझको उसके आदर्शगत मूल्य की अभिव्यक्ति के लिए अधिक मुक्त वातावरण मिल सका, यद्यपि मानव-जीवन की पिछली ऐतिहासिक सीमाओं का प्रतिफलन तथा आज के वैज्ञानिक एवं विकासशील युग में कार्य कर रहीं विद्रोही तथा विरोधी शक्तियों एवं आन्दोलनों का प्रभाव भी उस आदर्श को अवतरित करने में मानसिक विचारों तथा भावनाओं के स्तरों पर अपनी बाधाएँ उपस्थित करता रहा है। वैसे 'लोकायतन' काव्य का मुख्य ध्येय भी 'लोकायन' संस्था के समान ही जन-जीवन के धरातल पर उच्च मानवीय आदर्श को प्रतिष्ठित करना ही रहा है।

'लोकायतन' की पृष्ठभूमि इस विराट युग के संघर्ष के भीतर से जन्म ले रही नवीन मानवता की अवतारणा से सम्बन्ध रखती है। इसमे मैंने इस युग की अनेक राजनीतिक, आर्थिक संघर्षों की परिणति विश्व के आनेवाले सांस्कृतिक जीवन के रूप में दिखलायी है। आज के युग की ह्रास तथा विघटन की शक्तियों से किस प्रकार मनुष्य के अन्तर में जन्म ले रहा नया प्रकाश जूझ रहा है उसका भी इसमें प्रतिफलन आपको मिलेगा। मध्ययुगों से भारतीय जीवन में जो अनेक प्रकार की धार्मिक, सांस्कृतिक तथा नैतिक विकृतियाँ आ गयी है और वह जिस प्रकार अन्ध-विश्वासों तथा जर्जर रूढ़ि-रीतियों से परिचालित होकर निःशक्त हो गया है तथा आज के विश्व-जीवन में भौतिकता की प्रधानता के कारण जिस प्रकार मानवीय मूल्यों सम्बन्धी एक असन्तुलन आ गया है और मनुष्य के दैहिक, बौद्धिक संचरणों के विकास के लिए पर्याप्त सुविधाएँ होने पर भी जिस प्रकार हृदय का विकास अवरुद्ध हो गया है; इन सब बाधाओं पर किस प्रकार मनुष्य विजयी हो सकता है और एक स्वस्थ मानवीय धरातल पर नये जीवन का निर्माण कर सकता है उसकी ओर भी मैंने 'लोकायतन' में इंगित किया है। इसके अतिरिक्त मैंने अतीतोन्मुखी मानव-मन को इतिहास की विडम्बना से मुक्त करने की चेष्टा कर उसे एक नवीन सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक स्तर पर उन्नीत करने का प्रयत्न किया है। वैसे 'लोकायतन' का चित्रपट बहुत व्यापक है और उसे समझने के लिए उसका अध्ययन एवं मनन अधिक आवश्यक है। इस प्रकार की संक्षिप्त

व्याख्याएँ उसे समझने के लिए अपर्याप्त सिद्ध होंगी।

मुझे व्यक्तिगत रूप से संक्षिप्तीकरण की ओर कोई विशेष आग्रह नहीं है। मेरे कुछ मित्रों ने करना चाहा था किन्तु उन्होंने उसे सम्भव न मानकर छोड़ दिया।

आपको सोवियत-पुरस्कार मिला। साहित्यकारों एवं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में भी इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। आपके विचार से क्या यह सब उचित रहा?

'लोकायतन' रचनात्मक विश्वशान्ति को अत्यन्त महत्त्व देता है। इसीलिए सम्भवत: उसे सोवियत-भूमि का नेहरू-पुरस्कार मिला है। यदि कुछ पत्रों तथा साहित्यिकों ने इसका विरोध किया है तो वह इसलिए कि वे समाजपरक मानव-मूल्यों पर विश्वास नहीं रखते और आज के ह्रास तथा विघटन के युग की संकीर्ण, क्षणवादी तथा व्यक्तिवादी मान्यताओं को अपने स्थापित स्वार्थों के कारण अधिक महत्त्व देते हैं और इनमें से अधिकतर तो केवल पश्चिमी देशों के ह्रास-विघटन के पोषक अहंतावादी लेखकों एवं विचारकों से ही अधिक प्रभावित है। यह भी सच है कि 'लोकायतन' ने जिस नये जीवन-आदर्श की स्थापना की है, उसे विगत संस्कृति में पले, ज्ञान की जुगाली करनेवाले, तथाकथित बौद्धिक एवं विद्वान भी यथेष्ट रूप में नहीं ग्रहण कर सके हैं।

अपने समीक्षकों के सम्बन्ध में आपकी क्या धारणा है? उनकी समीक्षाओं से आप कहाँ तक सहमत हैं?

अपने समीक्षकों के सम्बन्ध में सामान्यत: मेरी अपनी दृष्टि मे ठीक ही विचार हैं। जहाँ समीक्षाएँ पूर्वग्रह से मुक्त रहती हैं और उसमें कोई मेरे विकास के लिए उपयोगी तत्त्व होते हैं उनको मेरा मन स्वीकार कर लेता है। किन्तु ऐसी गम्भीर दृष्टि बहुत ही कम आलोचकों में नहीं के बराबर मुझे देखने को मिली है। अधिकांश आलोचकों ने मेरी कृतियों के बारे में न कहकर अपने ही साहित्य तथा कला-सम्बन्धी मत को अधिक प्रश्रय दिया है।

आधुनिक समीक्षा की विशेष कमी आपकी दृष्टि में क्या है? आपकी दृष्टि में कोई ऐसा समीक्षक है जो आपके काव्य की सन्तोषजनक समीक्षा कर सके?

मुझे आधुनिक समीक्षा मे समग्र दृष्टि का अभाव मिलता है और जहाँ तक मेरी कृतियों की समीक्षा है, मै जिस भावना या मूल्य के स्तर से लिखता हूँ उसे बहुत कम आलोचक समझ पाते हैं या मैं कहूँ उसे समझने पर भी वे नही समझना चाहते हैं। इसीलिए वे आत्मकुण्ठा के कारण मुझमे कालिदास से लेकर मार्क्स, रवीन्द्रनाथ, गांधीजी तथा श्रीअरविन्द के प्रभाव खोजकर तथा आरोपित कर आत्म-सन्तोष पा लेते है।

अरविन्दवाद से आप कहाँ तक प्रभावित हैं? क्या भोग और योग का समन्वय सम्भव है?

अरविन्दवाद कोई नया वाद नहीं है। उनका दृष्टिकोण हमारे उपनिषदों के दृष्टिकोण से भिन्न नहीं है, न उनकी अतिमानस की कल्पना हमारे ऋतचित् की कल्पना से भिन्न है। भोग-योग का समन्वय उपनिषदों के 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' से लेकर गीता तक में आपको सर्वत्र देखने

को मिलेगा। जीवन का स्वस्थ उपभोग करने के लिए ही योग की आवश्यकता पड़ती है।

आकाशवाणी में आपका इतने दिनों का योगदान रहा है, इस विषय में आपको वहाँ क्या अनुभव हुए ? इस दिशा में आपकी मुख्य देन क्या है ?

आकाशवाणी के मेरे अनुभव तो बहुत अच्छे रहे है। मुझे उन्होंने बहुत प्रतिष्ठा और सुविधाएँ दी है। आकाशवाणी के प्रति मेरी क्या देन रही है यह मुझे अपने मुंह मे कहना शोभा नही देता। यह तो समय-समय पर आकाशवाणी के उच्चाधिकारियो ने मेरे सम्बन्ध में जो कहा है, आप उसी मे अनुमान लगा सकते है।

इस युग की साहित्यिक चेतना किस स्तर की है ? क्या बीसवीं शताब्दी का कोई हिन्दी कवि विश्वकवि की श्रेणी में आ सकता है ?

इस युग की साहित्यक चेतना में अनेक स्तर हैं। उच्च से उच्चतम और साधारण से साधारणतर। विश्वकवि की क्या परिभाषा है यह मुझे मालूम नही। यदि 'नोबुल पुरस्कार' जैसी कोई चीज या अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता जैसी कोई चीज किसी कवि को विश्वकवि बनाती है तो नोबुल पुरस्कार प्राप्त करने का सौभाग्य तो अभी हिन्दी के किसी कवि या लेखक को नहीं प्राप्त हुआ है। सम्भव है आगे किसी को यह सुअवसर प्राप्त हो सके। जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता का सम्बन्ध है, अनेक हिन्दी कवियों तथा लेखकों का अनेक विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। विदेशियो की दृष्टि मे उनको क्या मान्यता मिल सकी है इसे जानने की कसौटी मेरे पास नही है। वैसे मेरी दृष्टि मे विश्वकवि वह है जो विश्व-चेतना से संयुक्त है और समय पर उसे प्रभावित भी करता है। जैसे कवीन्द्र रवीन्द्र हुए।

नवलेखन की ओर आपके क्या विचार हैं ?

नवलेखन को मै एक व्यापक अर्थ में लेता हूँ। उसके अन्दर अनेक स्वस्थ तथा कलात्मक प्रवृत्तियाँ भी कार्य कर रही हैं किन्तु अधिकतर दिग्भ्रष्ट, अहंता-कुण्ठित, अप्रबुद्ध नवयुवकों का ही उसमें बोलबाला मिलता है, जो अपने व्यक्तिगत स्वार्थो, कैशोर सीमाओ तथा सकीर्णताओ से ऊपर न उठ सकने के कारण आज विद्रोह के आवरण मे अपने सकीर्ण मन के द्वेष तथा द्रोह को ही विद्रोह के नाम पर साहित्य मे अभिव्यक्ति दे रहे हैं। इसमे सन्देह नही कि ऐसे लेखकों का न साहित्यिक निर्माण में कोई स्थायी प्रभाव रह सकता है और न आज के युग की गम्भीर समस्याओं को सुलझाने में ही।

मै समझता हूँ कि अपने जन्म-दिवस पर आप अपने पाठकों को कोई सन्देश देना चाहेंगे।

अपने जन्म-दिवस के अवसर पर हिन्दी पाठको को मै कोई विशेष सन्देश देने की आवश्यकता नही समझता, बल्कि मैं ही उनकी इस शुभ-कामना का अभिलाषी हूँ कि मै भविष्य में भी अपनी क्षमता के अनुसार यथाशक्ति हिन्दी की सेवा कर सकूं।

●●

असंकलित रचनाएं

'रघुदिग्विजय'

संस्कृत से अनुवाद

किया इंद्र ने संहृत जब निज वर्षा का सुरधनु अभिराम।
रघु ने विजयी धनुष उठाया—प्रजा मनोरथ कर कृतकाम ॥

उग्र स्कंध, मदमत्त वृषभ जब ढाते उन्नत सरित कगार।
स्मरण दिलाते रघु के शैशव लीला विक्रम का प्रति बार ॥

मंदर मंथित क्षीर फेन हों विष्णु शशि पर रहें विराज।
पुर वृद्धाओं से रघु की जय यात्रा पर बरसाए लाज ॥

प्राची दिशि को चले प्रथम रघु इंद्र तुल्य निज सैन्य संवार।
अनिल विकंपित ध्वज अंगुलियों से ज्यों अरियों को ललकार ॥

रथ चक्रों से उठी धूलि से, गज यूथों से घन श्यामल।
धरा व्योम पर, व्योम धरा पर विचरण-सा करता प्रति पल ॥

सर्वप्रथम रघु का प्रताप, फिर सैन्य नाद, फिर रज बादल।
तब रथ पैदल आदि—चार भागों में चलता था रघु दल ॥

मरु थल में जल धार, गहन नदियों में सेतु बँधे तत्काल।
घने वनों में बने मार्ग—रघु की थी साधन-शक्ति विशाल ॥

कँपा, झुका, उन्मूलित करता ज्यों वृक्षों को मत्त गयंद।
रघु ने बलवत् हरा नृपों को कंटक शून्य बनाया पंथ ॥

दक्षिण में जाकर रवि की भी दीप्ति मंद पड़ जाती आप।
तेजस्वी रघु का न पांड्य नृप किन्तु सह सका प्रबल प्रताप ॥

चलते समय चपल अश्वों के कवचों की ध्वनि उठ सस्पंद ।
वायुवेग-कंपित तालीवन-पत्रों की ध्वनि करती मंद ॥

मत्त गजों के दंत क्षतों से लगता गिरि त्रिकूट शोभित ।
विजय स्तम्भ-सा, रघु की विक्रम गौरव-गाथा से अंकित ॥

अश्वारोही पश्चिम से फिर युद्ध किया रघु ने बलवान् ।
धूलि-अंध दृग धनु टंकारों से करते अरि की पहचान ॥

पृथ्वी का रस शोषण करने प्रखर रश्मिभृत सूर्य समान ।
घूमे रघु उत्तर को अरि का तीक्ष्ण शरों से हरने मान ॥

अश्वों की सेना लेकर फिर चढ़े हिमालय प्रांतर पर ।
गैरिक रेणु ध्वजा फहरा ज्यों गिरि शिखरों को ऊँचा कर ॥

जाग सैनिकों से बलशाली सिंह गुहाओं के भीतर ।
देख रहे थे उन्हें—सैन्य रव से न तनिक भी मन में डर ॥

भारतीय दर्शन और धर्म :
भारतीय दर्शन का परम लक्ष्य

दर्शन को आप धर्म की ऊर्ध्व रीढ कह सकते है। क्योकि दर्शन जीवन एवं सृष्टि के विधान मे दृष्टि देता है और उसी क प्रकाश मे हम मानव कल्याण तथा जीवन के उत्थान के लिए धम क अन्तर्गत अनेक प्रकार क आचरण के नियमो के सवध मे व्यवस्था करते है। इस प्रकार धर्म मे दर्शन की दृष्टि एक प्रकार से आस्था की दृष्टि बन जाती है। भारतीय दर्शन अपनी सर्वोच्च मान्यताओ म बौद्धिक अनुसधान स भी अधिक साधना का विषय रहा है। भारतीय ऋषियो एव द्रष्टाओ ने परम सत्य को बुद्धि-मन से परे को वस्तु या तत्व माना है। हमारे उपनिषद् स्पष्टत: कहते है . यन्मनसा न भरते ये नाहुर्मनो मत तदैव ब्रह्मत्व बिद्धि नेद दिदयुपासते। ब्रह्म सर्वभूतो, सर्वात्माओ मे व्यापक वह सत्य है जो मन से नही जाना जाता वरन् जिसक कारण मन जानता है। भारतीय चिंतन के अनुसार चेतना के सात सोपान हैं— भू, भुव, स्वः, मह, जन, तप, सत्यं अथवा अन्न, प्राण, मन, महत्तत्व, सत्, चित्, आनन्द। इन्हे सप्त सिंधु या सप्त लोक भी कहते है। अन्न अर्थात् पदार्थ को भी हमारे यहाँ ब्रह्म ही का एक स्तर माना है—अन्न ब्रह्म व्यजानात्। अन्न, प्राण, मन को निम्न त्रिदल तथा सत्, चित्, आनन्द को उच्च त्रिदल कहते है। महत्तत्व इन दो त्रिदलो के मध्य का हिरण्यक स्तर है। भारतीय ऋषि पूषन् से, परम प्रकाश केन्द्र से प्रार्थना करता है—हिरण्मयेन पात्रेण सत्य.स्यापिहित मुखम्, तत् त्व पूषन् अपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये। हे परम प्रकाश, मुझे इस हिरण्य गर्भ से भी परे की अपनी झाकी दो—दृष्टि दो, जिससे मैं परम सत्य के दर्शन कर सकूँ जिसके हिरण्मय पात्र से उसका मुख अवगुंठित है। कहने का तात्पर्य यह है कि सत्य का स्पर्श पाने हेतु हमे उच्च से उच्चतम आध्यात्मिक सोपानो पर विचरण करने के लिए एकांत साधना करनी पड़ती है। परमतत्व का स्पर्श पाकर ही हम सत्य का बोध प्राप्त कर सकते है। इहचेदवेदीथ अथ सत्यमस्ति नोचेदिता वेदीथ महती

विनष्टि। सत्य को न जानना महाविनाश को प्राप्त होना है। इस प्रकार आप देखते हैं कि भारतीय दर्शन जड़ तत्व से लेकर परमतत्व तक एक ऐसे सर्वांगीण सत्य पर विश्वास रखता है जिस पर आश्रित धर्म पथ से वैयक्तिक तथा सार्वभौम सब प्रकार के कल्याण तथा लोकमंगल की उपलब्धि हो सकती है।

दर्शन की साधना—सूक्ष्म-दृष्टि—धर्म के अन्तर्गत आस्था की दृष्टि बन जाती है और हम सत्य एवं ईश्वर पर श्रद्धापूर्वक अनन्य आस्था रखकर दर्शन के व्यापक सत्य—दया, प्रेम, परोपकार, सहृदयता, सेवा आदि—को व्यापक भावना के रूप मे ग्रहण कर दर्शन की अद्वैत दृष्टि अथवा दिव्य एकता को तप, व्रत, त्याग आदि के सहारे अर्जित करने का प्रयत्न करते है। सेवा धर्मो परम गहनो योगिनामप्यगम्यः अथवा दया धर्म को मूल है नरकमूल अभिमान आदि मान्यताओं को दृष्टि मे रख कर हम सत्धर्म द्वारा आत्म कल्याण तथा लोकमंगल का अर्जन करने की ओर प्रवृत्त होते है। धार्मिक विधि-विधानो के अन्तर्गत हम निराकार-साकार, निर्गुण-सगुण उपासना द्वारा भागवत महिमा को समझने का प्रयत्न करते है।

द्रष्टाओं की अक्षय वाणी अथवा दर्शन का समर्थन पाकर हम व्यक्ति एवं विश्व जीवन को केवल दुःख-संघर्ष, जन्म-मृत्यु, रोग-दारिद्रय के बाह्य पदार्थ के रूप में सीमित न मान कर उसे एक शाश्वत चिरंतन सत्य के विकास क्षेत्र के रूप मे समझने तथा ईश्वरीय विधान के रूप मे स्वीकार करने के लिए धर्माचरण करने एवं धर्म द्वारा निर्देशित पथ पर चलने का निरन्तर प्रयत्न करते है। हमारे पाप-पुण्य की भावनाएँ भी हमारे धर्मावलंबी तथा धर्मच्युत होने की भावना से सम्बद्ध होती हैं। इस प्रकार धर्म अथवा धार्मिक विधानो का मुख्य अभिप्राय मनुष्य को क्षणभंगुर से विश्व जीवन की अक्षरता की ओर, स्वार्थ से परार्थ, नृशंसता अथवा क्रोध से दया एवं विनय आदि सत्गुणो की ओर प्रेरित कर उसे धैर्य और न्याय के सहारे आत्मिक तथा वैश्व मंगल की ओर अग्रसर करना होता है।

किन्तु कालान्तर में देखा गया है कि धर्म की यम-नियम के कूलों मे बहनेवाली शाश्वत चेतना की धारा तो सूख जाती है और केवल कर्मकांडो की ककाल मात्र सूखी रेती शेष रह जाती है। विविध युगो के अनुरूप सत्य द्रष्टाओ ने जो धार्मिक प्रणालियां निरूपित की थीं, उनमे आपस मे ऐसा विरोध तथा वैमनस्य खड़ा हो जाता है कि वे मानवता का उन्नयन करने के स्थान पर उसकी प्रगति के बाधक बन जाते हैं। विविध विधि-विधानों, आचार-विचारों, पूजा-प्रार्थना की पद्धतियों में बँधे लोग परस्पर एक दूसरे के शत्रु बन कर धर्म के उद्देश्य को विफल कर उसके मूल पर ही कुठाराघात करने लगते हैं।

आज के रूढ़ि जर्जर धार्मिक विधि-विधानों के भीतर यदि हम दार्शनिक आध्यात्मिक तत्वों को खोजने एवं परम श्रेयस् का बोध प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे तो हम बाहरी कर्मकांडों की भूल-भुलैया में ही खो जाएँगे और जनसाधारण के

लिए ही नही, विद्वानों के लिए भी ऐसा कर सकना दुष्कर प्रतीत होगा। इसका कारण यह है कि धर्म के बाह्य आचार का पजर देश-काल सापेक्ष होता है। और जीवन परिस्थितियों के विकास या परिवर्तन के साथ ही धार्मिक विधि-विधानों में भी युग के अनुरूप परिवर्तन एवं मूल्यों का संवर्धन अपेक्षित होता है जो प्राय: बाह्य विधान मे अंधविश्वास के कारण संभव नहीं हो पाता और हम युग-युगों के चार्वत का ही चर्वण करते जाते हैं, जिससे आत्मश्रेय या सत्योपलब्धि की ही नहीं, सामाजिक जीवन के विकास तथा सगठन शक्ति को भी क्षति पहुँचती है।

धर्मों के पिछले इतिहास को सामने रख कर और आज के वैज्ञानिक युग में मानव जीवन एवं विश्व जीवन की परिस्थितियों का जो विकास तथा परिष्कार हो गया है, उस पर विचार करते हुए मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि भविष्य में मानवता के कल्याण तथा आध्यात्मिक श्रेय के लिए यह अधिक उपयोगी होगा कि धर्म के अपरिवर्तनशील जड़ीभूत बाह्याचार के निर्मम दुराग्रही ढांचे से मानव चैतन्य को मुक्त कर तत्संबधी मूल्यों को नवीन विराट् विश्व संस्कृति के रूप में स्वीकृत एवं आचरित किया जाए। परम सत्य एवं ईश्वर की सत्ता एवं सर्वशक्तिमत्ता पर निश्चल एकांत आस्था रखते हुए मनुष्य विधि नियमों के जड़ बंधनों से मुक्ति पाकर, संस्कृति के आधारभूत मूल्यों से परिचालित होकर सहृदयता, संवेदना, करुणा, प्रेम, आत्मत्याग, सृजन-प्रेरणा, विश्व जीवन एवं मानव एकता के प्रति अपने संयुक्त जीवन को समर्पित कर सकेगा। इन अन्तर्मूल्यों की कमी की पूर्ति बाहरी कर्मकांड का ढांचा नहीं ही कर सकता है। आज की अति भौतिकता से आक्रांत, बहिर्भ्रांत युग में जबकि मनुष्य संयोग तथा वस्तु वैभव के पीछे पागल की तरह दौड़ रहा है. अतर्मूल्यों का बोध तथा हृदय के मूल्यों पर आस्था, उसकी एकांगी बुद्धि के भटकाव से उसे बचा कर फिर से मनुष्यत्व का संवर्धन तथा सामाजिकता के उन्नयन का दिशा-बोध देने में सहायक होगी। आज जिस संकट की स्थिति से विश्व सभ्यता गुजर रही है उससे भी वह उसकी सुरक्षा कर उसे व्यापक विश्व कल्याण तथा मानवीय एकता की ओर अग्रसर कर सकेगी।

दूसरी ओर धर्म या दर्शन को भी अपने पिछले मूल्यों तक ही सीमित नहीं रहना है, उसे वैज्ञानिक युग की दृष्टि तथा नई परिस्थितियों की चेतना से भी सम्पर्क स्थापित करना है। आज के आधे से अधिक विश्व संघर्ष के मूल में पिछले युगों एवं अतीत के मूल्यो तथा नवीन युग की मान्यताओ की परस्पर टकराहट तथा संघर्ष है। प्राचीन संस्कारों के प्रति मनुष्य का अंध मोह नवीन युग जीवन में सन्तुलन स्थापित करने के पथ में घोर और कुछ अंशों में अजेय बाधा उपस्थित कर रहा है। आज के राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक आंदोलनों के रूप में हमारा अतीतोन्मुखी मन, जिसके जीवन-मूल्य पिछले युगों की सीमित परिस्थितियों पर आधारित रहे हैं, प्रच्छन्न और प्रकट रूप से अनेक पैंतरे बदल रहा है। मनुष्य

नई परिस्थितियों के अनुरूप नई आस्था को आत्मसात् कर चेतना के नए संचरण को इसलिए जीवनमूर्त नहीं कर पाता है कि विगत धार्मिक रूढ़ियाँ उसकी बुद्धि पर छाई हुई हैं। जब तक इस पथराए हुए जड़, अपरिवर्तनशील अतीत से उसका मनुष्यत्व मुक्त नहीं हो जाता, आज शक्ति शिविरों में बँटी हुई, ध्वंशास्त्रों के बल पर अस्तित्व को बनाए रखने वाली मानवता कभी भी नई विश्व संस्कृति, नई दर्शनदृष्टि तथा नए मानव धर्म की अनुगामिनी बन कर धरती के जीवन में सृजनशील निर्भय शांति की स्थापना नहीं कर सकती।

वैदिक आदर्श : समष्टि भावना

भारतीय मध्ययुगीन जीवन को देख कर आश्चर्य होता है कि जिस देश में वैदिक युग में इतने महान् आदर्श, जीवन के प्रति इतनी विराट् दृष्टि रही है वहाँ मध्ययुगो मे कैसे इतनी रूढ़ि जर्जर, अति वैयक्तिक, संकीर्ण, सांप्रदायिक एवं मत-मतान्तरो मे विकीर्ण विचारधारा लोकमन में आकाशबेलि की तरह छा कर, देश की सामाजिक शक्ति को चूस कर, निःशेष कर गई। हमने विश्व जीवन को माया-मिथ्या कह कर उसकी उपेक्षा की और समस्त लोकशक्ति का अपव्यय झूठे आदर्शों, कृत्रिम कर्मकांडों, खोखले संस्कारो की प्रतिष्ठा करने में किया। जीवन के प्रति लोकमन की आस्था के धन का उपयोग सामाजिक जीवन का निर्माण करने के बदले हमने उसे वैराग्यवाद तथा परलोकवाद की मृगतृष्णा की चमक से भरे मरु-स्थल मे भटका दिया। यह कहना कठिन है कि हमारी ऐसी आत्मघाती प्रवृत्ति हमारी पराधीनता तथा परवशता के कारण पैदा हुई अथवा हमारी इस असामा-जिक जीवन विमुख दृष्टि के कारण हमारी पराधीनता आई और सदियों तक हमारा शोषण करती रही।

यह जो भी हो, वैदिक युग में जीवन के प्रति तथा विश्व के सम्बन्ध में हमारी दृष्टि अधिक यथार्थवादी रही, उस युग के आदर्शो के पैर दृढ़ रूप से पृथ्वी पर स्थित थे जैसाकि पदम्यां पृथ्वी आदि वैदिक सूक्तों से प्रकट होता है। इन्द्र की स्तुति करते हुए वैदिक ऋषि सदैव उससे धनधान्यपूर्ण, समृद्ध जीवन तथा शत्रुओं के विनाश की कामना करते रहते थे। इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवों के लिए ऐसे बीसियो सूक्त है जिनमें लोकजीवन तथा विश्व मंगल की भावना को वाणी मिली है। व्यक्ति, विश्व तथा ईश्वर में तब परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध का अनुभव ऋषि-दृष्टि को होता था। ईश्वर को संसार से ऊपर ही नही मानते थे, इस संसार में भी व्याप्त मानते थे, जैसाकि ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगतादि सूक्तों अथवा ऋचाओं से ध्वनित होता है।

वैदिक युग और विशेषतः उपनिषदों का युग मनुष्य के अंतर्जगत् की एकान्त खोज तथा विश्व एवं सृष्टि के रहस्य के गंभीर अनुसंधान का युग रहा है। इस मर्त्य-लोक में अमर्त्य की प्राप्ति तथा क्षणभंगुर लगने वाले परिवर्तनशील जगत् में अमृत तत्व का स्पर्श पाने की उपलब्धि एक महान् अकल्पनीय उपलब्धि थी जिसके आधार पर सुख-दुःख, राग-द्वेष, रोग-मृत्यु, संकट-अवरोध आदि के द्वन्द्वों को अति-क्रम कर मनुष्य विश्व जीवन क्रम में स्थायित्व का अनुभव करने में समर्थ हुआ तथा सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन मूल्यों की खोज की ओर अग्रसर होने के औचित्य को मान्यता प्रदान कर सका। और न हन्यते हन्यमाने शरीरे आदि जैसे सत्य की अनु-भूति कर मृत्यु सागर को, संसार की क्षणभंगुरता को तिरने या अतिक्रम करने में समर्थ हुआ। इसी दृष्टि का अवलंब ग्रहण कर मनुष्य ने अमरत्व पर आधारित अपने अजेय संकल्प से मनुष्य की एकता अथवा मानवता के सत्य की नींव डाली। व्यक्ति का रज तन भले ही मरणशील हो किन्तु मनुष्य अमर होने के कारण पीढ़ी-दर-पीढ़ी फिर-फिर नवीन रूप धारण कर इस धरती की संपदा संजो कर तथा मन के सोपानों पर आरोहण कर विश्व जीवन का निर्माण करने एवं उसे नवीनता प्रदान कर उसका विकास करने के लिए पुनः-पुनः जन्म ग्रहण करने के अपने उत्साह तथा आकांक्षा को नहीं छोड़ना चाहता। उसे मृत्यु का कैसा भय? वह तो पुनः-पुनः अपना सृजन कर नवीन रूप धारण कर सकता है। पुरुष के सहस्रशीर्ष-सहस्र-बाहु होने की कल्पना का यही अभिप्राय है। पुरुष सूक्त के अनुसार ईश्वर या पुरुष ही हिरण्यगर्भ से विराट् बनकर नाना रूप धर विश्व में साकार होता है। फिर भी ईश्वर अपनी महिमा या सृष्टि से कहीं महान् है। देवता जब मनुष्य के लिए विधान निश्चित करते हैं तो उसे अपनी पशु-इच्छाओं की बलि देने का आदेश देते हैं, पशु-इच्छाओं से ऊपर उठकर ही वह मनुष्य बन सकता है।

अंतर्जगत् के इतने महान् आदित्यवर्णम् तमसः परस्तात् शाश्वत, अक्षय सत्य के दर्शन पाने के बाद वैदिक युग के लिए यह स्वाभाविक था कि वह वसुधैव कुटुम्बकम् की महत् कल्पना एवं आकांक्षा से प्रेरित होता। जैसाकि सर्व भूतेषु-चात्मानम्, या सर्वस्वरतु दुर्गामते सर्वोभद्राणि पश्यतु आदि उद्भावनाओं से प्रतीत होता है। वैदिक ऋषियों तथा विचारकों की दृष्टि सदैव समष्टिमूलक रही है। समष्टि के हित ही में उन्हें जीवन सार्थक जान पड़ा। इस भावना एवं आदर्श को उन्होंने अनेक गूढ़ तथा प्रकट संकेतों एवं प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्ति दी है।

किन्तु वैदिक-आरण्यक युग की इस सीमा एवं विवशता को स्वीकार करना पड़ेगा कि वे अपनी अंतर्दृष्टि से उपलब्ध मानव आत्मा की एकता तथा वैभव को विश्व जीवन में प्रतिष्ठित नहीं कर पाए, भले ही वे बार-बार अनेक रूपों में उसका समर्थन करते रहे हों। उन्होंने यह भी अनुभव कर लिया था कि मात्र परम एकता का बोध ही पर्याप्त नहीं है, बहु का बोध, वस्तु जगत् की विविधता की शक्ति का

बोध भी विश्वश्रेय तथा लोक-मंगल की समग्रता की उपलब्धि के लिए उतना ही आवश्यक है। इसीलिए हमें ईशोपनिषद् में मिलता है—अंधं तमः प्रविशन्ति ये विद्यामुपासते, ततोभूयइव ते तमो दे विद्यायाम् रताः। अथवा विद्यांचाविद्यांच यस्तद् वेदोभयं सह अविद्ययामृत्युं तीर्त्वाविद्यया मृत यश्नुते।

अतः केवल अपने अन्तर में एकत्व के ज्ञान को ही सर्वोपरि मान लेने या वहीं रुक जाने के कारण वे बाह्य जगत् सम्बन्धी विविधता के भौतिक अंधकार को नहीं भेद सके। और वे उन दोनों को मानव जीवन की भूमिका में संयोजित भी नहीं कर सके। आज के युग में हम देखते हैं कि जिस प्रकार वैदिक ऋषियों ने अंतर्जगत् की छानबीन की, उसी प्रकार वैज्ञानिक बहिर्जगत् अर्थात् भौतिक जगत् की छानबीन में निरत हैं। किन्तु ऋषि-दृष्टि के अनुसार वे भी अपने एकांगी ज्ञान के कारण अंधकार में निमग्न होने जा रहे हैं। अर्थात् वैदिक युग की अतर्मुखी दृष्टि के समान ही वैज्ञानिक युग की बहिर्भ्रान्त दृष्टि भी एकांगी है—जिसका प्रमाण हमें आज विश्वध्वंस के शस्त्रास्त्रों में देखने को मिल रहा है। यदि विद्यांचाविद्यांच यस्तद्-भेदोभयं सह के अनुसार इस युग को एकांगी बहिर्मुखी जीवन का मनुष्य के अन्तर्जगत् की संपद् या प्रकाश से समन्वय तथा संयोजन नहीं किया जायगा तो विज्ञान भी अपने लोकमंगल तथा विश्व मानवता के निर्माण के स्वप्नों को चरितार्थ करने में असफल ही रहेगा।

वैदिक युग की आध्यात्मिकता को हम मानव जीवन के धरातल पर प्रतिष्ठित नहीं कर पाए एवं उसे सामाजिक-सामूहिक जीवन का व्यापक अंग नहीं बना पाए क्योंकि उसके लिए हमारे पास भौतिक शक्तियों का यथेष्ट ज्ञान नहीं था। भौतिक आध्यात्मिक तत्व भिन्न रख कर तो जीवन के लिए उपयोगी हो नहीं सकते थे। वे एक ही सत्य के दो रूप थे और उस सत्य को स्थापित करने के लिए हमें दोनों संचरणों के ज्ञान एवं पर्याप्त बोध की आवश्यकता थी। यदि वैज्ञानिक विद्युत्-शक्ति का आविष्कार कर एवं उसके अस्तित्व का बोध प्राप्त कर वहीं रुक जाते और उसके व्यावहारिक रूप के लिए, यथोचित यंत्र आदि बना कर, जीवन में उसे उपयोग में लाने के लिए प्रयास न करते तो वह भी आत्म-ज्ञान की तरह मानव जीवन को सुख-सम्पन्न बनाने के लिए उपादेय नहीं हो सकती। इसी प्रकार आध्यात्मिक मानवीय एकता, उदात्तता, विश्व समवेदना, करुणा, प्रेम, शांति आदि आत्मा के वैभव को जीवन के धरातल पर उतारने के लिए सबसे बड़ी पर्वताकार बाधा था। जड़ की शक्ति से उसकी जड़ता पर विजय पाकर ही हम आध्यात्मिक उन्नयन को संभव बना सकते थे। उसी प्रकार आज भौतिक विज्ञान जिस मानव क्षमता के, धरती पर जीवन का स्वर्ग प्रतिष्ठित करने के स्वप्न देख रहा है वह भी तब तक सफल या संभव नहीं हो सकता जब तक वह मनुष्य के आत्मिक उन्नयन, आध्यात्मिक व्यक्तित्व के अंतर्मूल्यों को भी अपनी भौतिक संपन्नता के साथ ही

संयोजित न करे। अन्तर्ज्योति या अंतर्दृष्टि से हीन बहिर्भ्रांत मनुष्य का जीवन आज अनेक प्रकार के वैषम्यों से पीड़ित है। वह अपने शक्ति-मद में विकास के बदले विनाश की ओर अग्रसर न हो, इसकी बहुत संभावना है। जिस प्रकार आध्यात्मिक वैदिक युग जीवन के एक पक्ष का प्रतिनिधि रहा—जिसे मनुष्य का भीतरी पक्ष कह सकते हैं, उसी प्रकार वैज्ञानिक भौतिक युग भी मानव जीवन के एक ही बाह्य पक्ष का प्रतिनिधित्व कर रहा है। पूर्ण मनुष्यत्व के विकास के लिए इन दोनों का अविच्छिन्न रूप से समन्वित उपयोग ही एकमात्र पथ है—आज यह सत्य सूर्य के प्रकाश की तरह मनुष्य के मन में स्पष्ट होता जा रहा है। निःसंदेह वैदिक आदर्श जनित बहिरंतर शक्तियों में संतुलन भरना परम कल्याण का द्योतक सिद्ध होगा।

•••